आधुनिक

हिन्दी-निबन्ध

प्राक्कथन लेखक
डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

लेखक
भुवनेश्वरीचरण सक्सेना

मूल्य : दस रुपये पचास पैसे (Rs. 10.50) मात्र

प्रकाशन केन्द्र
डालीगंज क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ—226007

* प्रकाशक : प्रकाशन केन्द्र,
डालीगंज क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ—226007
* फोन : 31858

* : 1979
* मूल्य : दस रुपये पचास पैसे (Rs. 10.50) मात्र
* मुद्रक : कैक्सटन प्रेस, इलाहाबाद—3

प्राक्कथन

आचार्यों का अभिमत है कि निबन्ध गद्य की कसौटी है। तात्पर्य यह है कि गद्य की विधाओं में निबन्ध लेखन दुरूह है। निबन्ध की अपनी विशेषतायें होती हैं। उसमें सजीवता, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और संक्षिप्तता की स्थिति आवश्यक है। लेखक के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप निबन्ध में विद्यमान होनी चाहिए। निबन्ध अपनी समस्त पूर्णताओं के साथ बड़ा रोचक और प्रभावशाली प्रतीत होता है। इस दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन निबन्ध पठनीय हैं। सम्भवत: यह निबन्ध साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण विधा है। इसके लेखन की समुचित शिक्षा-प्रणाली होनी चाहिए। सुयोग्य, अभ्यस्त एवं विद्यमान अध्यापकों द्वारा उत्तम निबन्ध-ग्रन्थों की रचना होनी चाहिए। विद्यार्थी समाज के समक्ष सुन्दर एवं प्रामाणिक ग्रन्थ ही निबन्ध का समुचित आदर्श उपस्थित कर सकते हैं। राष्ट्र के भावी निबन्धकारों एवं साहित्यकारों के लिए 'आधुनिक-हिन्दी-निबन्ध' आदर्श ग्रन्थ प्रमाणित होगा। इसके आधार पर उन्हें संकेत सम्प्राप्त होगा कि एक आदर्श निबन्ध का स्वरूप कैसा होता है और कैसी होती है उसकी रचना-प्रक्रिया। प्रस्तुत ग्रन्थ में निबन्ध लेखन प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। इन पृष्ठों को ध्यान से पढ़ जाने पर छात्रों को यह ज्ञात हो जाएगा कि अनेक विषयों में से किस विषय पर छात्र प्रभावशाली रचना प्रस्तुत कर सकते हैं।

'आधुनिक-हिन्दी-निबन्ध' की रचना उन प्रबुद्ध छात्रों के लिए की गई है जो अपने देश की समस्याओं से परिचित हैं। इस ग्रन्थ में प्राय: समस्त साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा अन्य सामान्य विषयों पर आदर्श निबन्ध प्रस्तुत किए गए हैं, जिनकी जानकारी विकास-शील प्रबुद्ध छात्रों को होनी चाहिये। आज का छात्र कल का प्रशासक, अधिकारी, नेता, प्राध्यापक है। कल उसे लोक-सेवा-आयोग की परीक्षाओं

में आगे आना है। ऐसे छात्रों के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी रहेगा। सामग्री (मैटर), शैली, विविधतापूर्ण विषयों और रोचकता के कारण इस ग्रन्थ की उपयोगिता बहुत समय तक रहेगी। 'भारतीय समाजवाद', 'जीवन बीमे का महत्व', 'कर्मचारी और आन्दोलन', आदि जैसी नवीन समस्याओं की ओर भी लेखक का ध्यान गया है। ऐसे विषयों पर निबन्धों को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थ का लेखक प्रबुद्ध एवं सजग साहित्यकार है।

'आधुनिक-हिन्दी-निबन्ध' के लेखक श्री भुवनेश्वरीचरण सक्सेना योग्य अध्यापक, कुशल लेखक और शिक्षाशास्त्र-विशारद हैं। उनकी लेखनी प्रायः सत्रह वर्षों से साहित्य-सृजन में अनुरक्त है। उनकी प्रस्तुत रचना उनके अनवरत परिश्रम, लगन और योग्यता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेगी। सक्सेना जी की लेखनी में शक्ति है, सक्रियता है। मुझे इस बात पर गर्व है कि वे मेरे छात्र रहे हैं और आशा है कि वे भविष्य में परिश्रम के साथ सुन्दर साहित्य का सृजन करेंगे। उनकी संगठन-शक्ति, रचनात्मक क्षमता तथा अनुशासनप्रियता उनके उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करती है।

—त्रिलोकीनारायण दीक्षित

ये निबन्ध

विविध विषयों से सम्बन्धित निबन्धों का यह संग्रह विद्यार्थियों की आवश्यकताओं और उपयोगिता को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है।

यद्यपि आज ऐसे निबन्ध संग्रहों की कमी नहीं है जो सभी विद्यार्थियों के लिए उपयोगी कहे जाते हैं। हजारों की संख्या में ऐसे निबन्ध-संग्रह बाजारों में भरे पड़े हैं। फिर प्रस्तुत संग्रह की आवश्यकता क्यों पड़ी—यह प्रश्न सहज ही किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह उत्तर दिया जा सकता है कि प्रस्तुत संग्रह की विशेषताएँ और उपयोगिता इसके पढ़ने वाले विद्यार्थी ही बता सकते हैं कि यह संग्रह औरों से कहाँ और कितना भिन्न और उपयोगी है। एक वर्ष के भीतर ही इस संग्रह का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया—यही इसकी उपयोगिता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमें तो इसी बात की प्रसन्नता है कि छात्रों ने इसे पढ़ा और इसे उपयोगी पाया और इसे अपनाया।

प्रस्तुत संग्रह में लगभग एक सौ सैंतालीस विषयों पर निबन्ध की रचना की गई है। इन विभिन्न विषयों के चयन में बड़ी सतर्कता बरती गई है। प्रयत्न किया गया है कि छात्रों के लिए आवश्यक सभी विषय ले लिए जाएँ। शैक्षणिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मनोरंजक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, वैज्ञानिक विषयों के अलावा अन्य आधुनिकतम विषयों को भी समेटने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

निबन्ध अधिकतर मन को उबाने वाले और बोझिल होते हैं, इससे छात्रगण उनसे आत्मिक सम्पर्क नहीं जोड़ पाते। यहाँ इस बात से बचने का पूरा प्रयास किया गया है। विषय रोचक हों, भाषा सरल हो, चित्रण लुभावना हो, वाक्य बहुत लम्बे न हों, बेकार का मैटर भरा न हो, शैली सजग हो—तब निबन्ध पढ़ने वाले को रुचते हैं। यहाँ इन्हीं बातों को महत्व दिया गया है। इसी से ये निबन्ध छात्रों को प्रिय और लुभावने लगे हैं।

इन निबन्धों के लेखक स्वयं कर्मठ लेखक तो हैं ही साथ ही अध्यापकीय अनुभव भी उन्हें कम नहीं है। वे छात्रों की आवश्यकताओं और कठिनाइयों से परिचित हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने चिन्तन और मनन किया है और विद्यार्थियों की समस्याओं को इन निबन्धों के माध्यम से हल करने में सफल हुए हैं।

ये निबन्ध हिन्दी के छात्रों के लिए 'आदर्श निबन्ध' माने जा सकते हैं, यह स्वयं-सिद्ध है।

इस नये संस्करण के कई निबन्ध नए जोड़े गए हैं कई निकाले भी गए हैं। जो विषय आज के सन्दर्भ में पुराने पड़ गए हैं उन्हें निकाला गया है और इधर सामने आये अनेक विषयों के नये निबन्धों का समावेश किया गया है। इससे पुस्तक फिर से बिलकुल नई बन गई है।

—ओंकार शरद

प्रथम संस्करण की भूमिका

लेखक की अपनी बात

भाषा-शिक्षण में रचना का विशेष महत्व होता है। रचना के बिना भाषा का ज्ञान अधूरा होता है। भाषा और साहित्य का ज्ञान तभी पूर्ण माना जाता है जब विद्यार्थी सबल और प्रभावशाली भाषा में अपने भावों और विचारों को सफलतापूर्वक व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त कर लें। निबन्ध-लेखन इसका उत्तम साधन है। निबन्ध-लेखन में विद्यार्थी तभी सफल हो सकते हैं जब उनके सामने, उनकी मानसिक अवस्था के अनुरूप विषयों पर, बोधगम्य और अनुकरणीय भाषा में निबन्धों के नमूने प्रस्तुत किये जायँ। इन नमूनों से प्रेरणा ग्रहण कर छात्र अपनी भाषा-लेखन और निबन्ध-लेखन की क्षमता का विकास कर सकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में यही प्रयास किया गया है। इसमें माध्यमिक एवं प्री-यूनीवर्सिटी कक्षाओं के विद्यार्थियों और उनके समकक्ष प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के उम्मीदवारों के लिए इन परीक्षाओं में पूछे गये अथवा पूछे जाने योग्य विविध विषयों पर निबन्ध प्रस्तुत किए गए हैं। निबन्धों के प्रारम्भ में छात्रों की सुविधा के लिए रूप-रेखा भी दे दी गई है। निबन्धों की भाषा विद्यार्थियों और प्रतियोगियों के स्तर के अनुकूल और उपयोगी है। सामग्री अद्यावधि (up-to-date) देने का प्रयास किया गया है। नवीनतम विषयों पर भी निबन्धों का समावेश कर दिया गया है।

पुस्तक कैसी है—इसका निर्णय तो विद्वज्जन ही करेंगे, किन्तु इससे यदि विद्यार्थियों और प्रतियोगियों का कुछ भी हित-साधन हो सका तो लेखक अपना प्रयास सफल मानेगा।

पुस्तक के सुधार और उन्नयन के लिए दिए सुझावों का साभार स्वागत होगा।

भुवनेश्वरीचरण सक्सेना

संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण की भूमिका

हम अध्यापक-समाज, छात्रों, प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के परीक्षार्थियों तथा अन्य साहित्यकारों और विद्वज्जनों के आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक को प्रोत्साहन दिया। प्रायः एक वर्ष के अन्दर ही पुस्तक का संस्करण समाप्त हो गया। यह हमारे लिए बड़े ही सन्तोष की बात है। विद्यार्थियों और विद्वज्जनों के प्रोत्साहन का लाभ उठाकर हमने इस पुस्तक का व्यापक संशोधन और परिवर्धन कर दिया है। नवीनतम विषयों का समावेश पुस्तक में कर दिया गया है और भाषा का यथासम्भव परिष्कार और संस्कार कर दिया गया है। पिछले संस्करण में जो त्रुटियाँ रह गई थीं इनका भी यथासम्भव निवारण अथवा निराकरण कर दिया है। साहित्य के अध्ययन, अध्यापन और परीक्षा सम्बन्धी अन्य प्रवृत्तियों का लाभ उठाकर पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। पुस्तक के रचनाकाल से लेकर अब तक की नवीनतम घटनाओं के अनुरूप पुस्तक के निबन्धों में यथासाध्य परिवर्तन और परिवर्द्धन कर दिया गया है। विश्वास है, पुस्तक अपने इस नवीन रूप में छात्रों के लिए अधिक उपयोगी होगी, तभी हम अपना प्रयास सफल मानेंगे।

—भुवनेश्वरीचरण सक्सेना

विषय-सूची

निबन्ध की परिभाषा और विशेषताएँ

शैक्षिक निबंध

राजनीतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन विषयक निबंध

सामाजिक निबन्ध

आर्थिक एवं वैज्ञानिक निबन्ध

सांस्कृतिक निबन्ध

मनोरंजक एवं वर्णनात्मक निबन्ध

संदेश गर्भित काव्य पंक्तियाँ

आधुनिकतम एवं समसामयिक निबन्ध

निबन्ध की परिभाषा और विशेषताएँ

परिचय

निबन्ध गद्य की एक विशिष्ट विधा है। इसका उद्भव और विकास आधुनिक युग की देन है। वस्तुतः जिस विधा को हम निबन्ध कहते हैं वह अँग्रेजी शब्द (Essay) 'एस्से' का पर्यायवाची है। सुप्रसिद्ध लेखक मान्तेन (Montaigne) 'एस्से' के आदि लेखक माने जाते हैं किन्तु हम तक आते-आते पहले की मान्यताओं में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका है। फलस्वरूप निबन्ध का वर्तमान रूप इतना विकसित और परिष्कृत है कि इसे एक नयी शैली विधा के रूप में ग्रहण किया जाने लगा है। अँग्रेजी के 'एस्से' की तरह हिन्दी निबन्धों ने कई करवटें बदली हैं—दिन-प्रतिदिन संवरता हुआ निबन्ध आज नयी ही सज-धज के साथ हमारे सामने है। उसके मूल्य में साहित्य-सृजन की मूल-प्रवृत्ति साहित्यकार का 'आत्म-प्रकाशन' विद्यमान है। इस आत्म-प्रकाशन में लेखक के विचार और विश्वास, अनुभूतियाँ एवं आस्थाएँ आदि विद्यमान रहती हैं। लेखक इन सबका प्रकाशन समाज को गतिशील बनाने तथा उसे आनन्द प्रदान करने के लिए करता है। इसीलिए निबन्ध की परिभाषा देते हुए निबन्ध के आदि जनक फ्रांसीसी साहित्यकार मान्तेन (Montaigne) ने कहा है :—

"These essays are attempt to communicate a soul."

अर्थात् निबन्ध आत्म-प्रकाशन अथवा आत्माभिव्यक्ति का एक प्रयास है।

'मान्तेन' के समय में निबन्ध का जो स्वरूप था, वह बदल चुका है। आज उसमें वैज्ञानिकता और व्यवस्था का समावेश हो गया है। इसलिए एक प्रसिद्ध अँग्रेज निबन्धकार की भाँति उसे अब तक मस्तिष्क की उड़ान (Loose sally of mind) भी नहीं कहा जा सकता। आधुनिक युग में उसमें संक्षिप्तता का भी समावेश हो गया है। उसमें कम शब्दों में अधिक बात कहने की वृत्ति का प्रवेश हो गया है। विषय की अगाध सीमा भी उसकी है। इसीलिए आज अँग्रेजी समीक्षाकार हड्सन की परिभाषा अधिक समीचीन प्रतीत होती है। उसने कहा है :

"The essay then may be regarded roughly as a composition on any topic, the chief native features of which are comparative brevity and comparative want of exhaustiveness."

अर्थात् निबन्ध किसी विषय पर एक ऐसी रचना है जिसकी प्रमुख विशेषतायें हैं अपेक्षाकृत संक्षेप तथा विस्तार का अभाव।

ए० सी० बेन्सन ने निबन्ध की परिभाषा देते हुए इसके अंतर्गत परिहास का भी तत्व स्वीकार किया है, क्योंकि हास-परिहास निबन्ध की रोचकता बढ़ा देते हैं। बेन्सन ने लिखा है :—

"It must concern itself with something jolly. His (essayist's)

charm depends upon giving the sense of a good humour, gracious and reasonable personality as to establish a sort of pleasant friendship with the readers."

अर्थात् इसका सम्बन्ध किसी विनोदी वस्तु-विषय से होना चाहिए। निबन्धकार का प्रमुख आकर्षण एक ऐसे व्यक्तित्व (वस्तु-विषय) के प्रकाशन में निहित है जिसमें सुरुचिपूर्ण तर्क शक्ति के साथ-साथ विनोद एवं मनोरंजक तत्वों का समावेश इस प्रकार से किया गया हो कि पाठक उल्लिखित बातों को परम आत्मीय एवं घनिष्ठ मित्र की भाँति ग्रहण कर सकें। विषय-वस्तु हृदयंगम करने में उसे तनिक भी असुविधा न हो।

बाबू गुलाबराय ने इस सभी तत्वों को समाहित कर निबन्ध की एक व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की है। उनका मत है "निबन्ध उस रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगीत और सम्वद्धता के साथ किया गया हो।"

वास्तव में निबन्ध निबन्धकार की अनुभूतियों और स्वतन्त्र चिन्तन का सरल सजीव, संक्षिप्त और मर्यादित प्रकाशन है जो समाज को रसमग्न करने के साथ-साथ दिशा-निर्देशन भी प्रदान करता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि निवन्ध आधुनिक युग की विशेष महत्वपूर्ण रचना है जिसमें लेखक के बुद्धि-तत्व और हृदय-तत्व दोनों का समन्वित रूप प्रस्तुत होता है। यह रचना मर्यादित होती है, अर्थात् इसमें संक्षिप्तता के साथ-साथ एक विशेष प्रकार की व्यवस्था होती है।

विशेषताएँ

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर निबन्ध-विधा की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं जिन पर विचार कर लेने के बाद निबन्ध का प्रारूप और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

(१) **विषय-वस्तु का व्यापक क्षेत्र**—निबन्धकार अपनी रचना के लिए विश्व के विशाल प्रांगण के किसी भी कोने से विषय-वस्तु का चयन कर सकता है। ब्रह्म चिंतन से लेकर रज-कण तक पर निबन्ध की रचना की जा सकती है। "सबै भूमि गोपाल की जामे अटुक कहाँ" वाली उक्ति निबन्ध के विषय में भी लागू होती है। सभी विषय पर निबन्ध-रचना की जा सकती है। साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति निबन्ध के विषय में कोई बंधन नहीं है। किसी भी वस्तु, विषय, भाव, कर्म, विचार पर निबन्ध रचना की जा सकती है। वास्तव में महत्व उस व्यक्तित्व अथवा स्वर का होता है जो उस विषय के माध्यम से बोलता रहता है।

(२) **मर्यादित आकार**—निबन्ध का आकार मर्यादित अथवा सीमित होता है। एक ओर तो निबन्धकार अपने विषय के लिए जीवन के विविध विषयों में से किसी को चुन सकता है किन्तु दूसरी ओर उसे अपने विवेचन को एक मर्यादित क्षेत्र में सीमित रखना पड़ता है। वह अपने प्रतिपाद्य पर अधिक से अधिक १२, १५ पृष्ठ ही लिख सकता है। साथ ही साथ न्यूनतम शब्दों में अधिक से अधिक कहने का

प्रयास भी यहाँ होता है। वाक्य कसे हुए और शैली संग्रथित होती है। इस दिशा में अँग्रेजी निबन्धकार **बेकन** और **आचार्य शुक्ल** की शैली उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है।

(३) **वैयक्तिकता**—निबन्ध में निबन्धकार का व्यक्तित्व सर्वत्र झलकता है। वैसे तो साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में साहित्यकार का व्यक्तित्व झलकता है किन्तु निबन्ध में इसका विशिष्ट योगदान होता है। 'अहं' अथवा निजीपन की महत्ता निबन्ध में प्रबल है। इसीलिए समीक्षाकार हड्सन ने कहा है, "The true essay is essentially personal" अर्थात् सच्चा निबन्ध वही है जिसमें वैयक्तिकता मूल रूप से विद्यमान हो। वास्तव में समाज-प्रेरित अपनी निजी अनुभूतियों, भावनाओं और विचारों को निबन्धकार प्रस्तुत करता है। वह यह सब 'अहं' के सन्तोष के लिए अर्थात् आत्म-प्रकाश के लिये करता है, इसीलिए निबन्ध का मूल तत्व वैयक्तिकता अथवा 'व्यक्तित्व का प्राधान्य' है।

(४) **आत्मीयता**—वैयक्तिकता और आत्मीयता का अनिवार्य सम्बन्ध है। इसीलिए निबन्धकार अपने हृदयस्थ भावों एवं अनुभूतियों को अपने पाठकों के सामने निस्संकोच उद्घाटित करता है। कुछ विद्वानों ने इसी आधार पर निबन्ध को आत्म-निवेदन की शैली कहा है। वह अपनी अनुभूतियों और विचारों को पाठक वर्ग के समक्ष पूर्ण तन्मयता से प्रकट करता है। इस निस्संकोच और आत्मीयतापूर्ण उद्घाटन के कारण ही निबन्धकार और वाचक के बीच रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना होती है।

(५) **स्वाधीन विचरण**—निबन्ध में लेखक स्वाधीन विचरण करता है। वह जब चाहता है, जहाँ से चाहता है अपने इच्छित विषय का आरम्भ कर देता है और जहाँ और जब चाहता है समाप्त कर देता है। उसके लिए आवश्यक नहीं कि वह भूमिका बाँधकर विषय का क्रमबद्ध प्रतिपादन करे। यदि उसने विचारों, भावों अथवा अनुभूतियों को यथातथ्य रूप में अंकित कर दिया और पाठकों का मन उसमें रम गया तो वह निबन्ध सफल होगा, भले ही देखने में वह अपूर्ण लगे। तो क्या इसका अर्थ है कि निबन्ध में क्रम और व्यवस्था का अभाव होता है। क्या उसमें तारतम्य नहीं होता? वास्तव में ऐसा सोचना अनुचित होगा। तारतम्य, व्यवस्था और क्रमबद्धता के अभाव में शैली का लोप हो जायगा और तब निबन्ध रस-सिद्धि में असफल होगा। स्वाधीन विचरण अथवा स्वच्छन्दता से तात्पर्य निबन्ध में उस पूर्णता के अभाव से है जो किसी प्रबन्ध अथवा विस्मृत ग्रन्थ से देखने को मिलती है। जिस प्रकार उपन्यास की अपेक्षा कहानी में क्रम, तारतम्य और निश्चित गति से संचालित होने का अभाव होता है वैसे ही निबन्ध में भी निबन्धकार को स्वच्छन्दता की पूरी गुंजाइश रहती है। वैसे इसमें तारतम्य भी होता है और व्यवस्था भी रहती है।

(६) **निबन्धकार का जीवन दर्शन**—आरम्भ में ही निवेदन किया जा चुका है कि निबन्ध में निबन्धकार का व्यक्तित्व प्रमुख रहता है। वैयक्तिकता निबन्ध का अनिवार्य तत्व है। अतः निबन्ध में रचनाकार के जीवन-दर्शन का प्रतिबिम्बित होना कोई अचरज की बात नहीं है। वास्तव में होना भी ऐसा ही चाहिए। लेखक ने जीवन के आघात-प्रत्याघातों को सहकर क्या पाया और उनके विषय में उसने क्या सोचा, इन

सब बातों का समावेश वह निबन्ध में करता है। निबन्धकार का जीवन-दर्शन उसके व्यक्तित्व का अंश है, अतएव उसका समावेश निबन्ध में अपरिहार्य है।

(७) **भाषा और शैली**—निबन्ध के सीमित आकार के सम्बन्ध में चर्चा करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि निबन्ध की रचना-प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कही जा सके, अर्थात् शैली सशक्त हो और भाषा व्यंजनापूर्ण। श्री नलिन के शब्दों में **"संक्षिप्तता, संकोच, सघन गठन, कसे-कसे वाक्य निबन्ध शैली की शान हैं। बड़ी से बड़ी बात कम से कम शब्दों में कहना ही निबन्ध शैली है। और स्पष्ट यों समझें ····निबन्ध की भाषा में नाटक के संवाद की-सी संक्षिप्तता, शक्ति और गति होनी चाहिए।"**

(८) **उदाहरण, लोकोक्तियाँ और मुहावरे**—कुछ विद्वानों का विचार है कि निबन्ध में उद्धरण काफी दिये जाने चाहिए। परन्तु इससे निबन्ध के अनिवार्य तत्व निबन्धकार के व्यक्तित्व के प्रस्फुटन और अभिव्यक्ति में बाधा पड़ेगी। उद्धरण तो दूसरों के व्यक्तित्व का प्रकाशन करते हैं। ऐसी दशा में बहुत अधिक उद्धरण देना निबन्ध के लिए हितकर नहीं होता। किन्तु इसके विपरीत लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग हितकर और उपयोगी होगा। **यदि वह लेखक की बात कहने के ढंग को प्रभावशाली, संक्षिप्त और सार्थक बनाने में सहायक हो।** किन्तु इसके प्रयोग में विशिष्ट सावधानी अपेक्षित है।

निबन्ध में शैली के विभिन्न स्वरूप होते हैं। पहले निबन्ध बुद्धि-विलास की रचना (Loose sally of mind) समझा जाता था। अव्यवस्था और तारतम्य का अभाव (Undigested piece not a regular and orderly performance) इसका गुण माना जाता था। किन्तु आज निबन्ध शैली में इन बातों को अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। आज निबन्ध किसी विषय पर एक क्रम-बद्ध विवेचन माना जाता है। उसमें बौद्धिकता और विचार का महत्व है। भावुकता उसमें होती है। किन्तु वैसी नहीं जैसी पहले होती थी। उनकी रचना निरुद्देश्य न होकर सोद्देश्य होती है। लेखक आत्मतोष तक ही उसकी सीमा स्वीकार नहीं करता किसी विषय विशेष का सम्यक् निरूपण और समाज-संस्कार उनकी उद्देश्य-सीमा में आते हैं। ऐसी स्थिति में निबन्ध की शैली में क्रमबद्धता, व्यवस्था एवं तारतम्य आदि गुणों की उपस्थिति अनिवार्य है। साथ ही उसमें विषम-प्रतिपादन की क्षमता भी होनी चाहिए।

(९) **व्यंग्य**—व्यंग्य से यहाँ दो तात्पर्य हैं, प्रथमतः शब्दों की वह शक्ति जिसके द्वारा भाषा में व्यंजनात्मकता आ जाती है। इस शक्ति के द्वारा निबन्धकार साधारण शाब्दिक अर्थों के अतिरिक्त बहुत कुछ प्रकट कर सकता है जिसे अर्थ-विस्तार भी कह सकते हैं। व्यंग्य में दूसरा तात्पर्य उन मधुर छींटों से है जो हम बातचीत के बीच में एक दूसरे पर डाल देते हैं। इनमें वे विनोदी वाक्य और मीठी चुटकियाँ भी आती हैं जो वार्तालाप और कथन को सरस बना देती हैं। निबन्ध में व्यंग्य का दोनों अर्थों में समावेश ग्राह्य है। पहले अर्थ में इसलिए कि इससे भाषा में संक्षिप्तता आयगी; कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कही जा सकेगी और दूसरे अर्थ में इसलिए वाचक का मन निबन्ध पढ़ने में रहेगा। वह उसमें आनन्द लेगा और गम्भीर बात को सरलता से ग्रहण कर सकेगा।

निबन्ध के प्रकार

पिछले पृष्ठों में हमने निबन्ध के प्रारूप और उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। उस विवेचन के आधार पर हम देखते हैं कि निबन्ध के अनेक प्रकार हो सकते हैं। इन भेद-प्रभेदों के आधार हैं निबन्ध की विषय-सामग्री में प्रस्तुत तत्व तथा निबन्धकार की विवेचन-पद्धति। इन आधारभूत तत्वों के अनुसार निबन्ध के निम्न-लिखित प्रकार निर्धारित किए जा सकते हैं—

व्यक्ति के आधार पर

निबन्ध में लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है। वास्तव में व्यक्ति निबन्ध-रचना में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसलिए विद्वानों ने व्यक्ति को आधार मानकर निबन्ध को दो भागों में विभाजित किया है—(१) निज-परक (Subjective), और (२) वस्तु-परक अथवा विषय-परक (Objective)। यह विभाजन अँग्रेजी साहित्य में अधिक प्रचलित है। निज-परक अथवा वैयक्तिक निबंधों में निबन्धकार की निजी भावनाओं, हर्ष-विषाद, वेदना-सुख, आदि का वर्णन विवेचन होता है तथा वस्तु-परक अथवा विषय-परक निबन्धों में निबन्धकार अपने को अलग रखकर संसार के पदार्थों का विवेचन-विश्लेषण करता है।

मस्तिष्क और हृदय के आधार पर

कुछ विद्वानों ने व्यक्ति के दो अंगों—मस्तिष्क और हृदय के आधार पर भी निबन्धों का वर्गीकरण किया है। जिन निबन्धों में मस्तिष्क-तत्व की प्रधानता होती है अर्थात् विचारों की प्रधानता होती है, उनको विचारात्मक निबन्ध कहते हैं और जिन निबन्धों में हृदय-तत्व की प्रधानता होती है अथवा भावों की प्रधानता होती है, उनको भावात्मक निबन्ध कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्धों के यही दो भेद माने हैं। विचारात्मक निबन्धों को विवेचनात्मक नाम भी दिया जाता है। वास्तव में उपर्युक्त विभाजन बहुत कुछ सम्बद्ध है। निबन्धों को निजपरक अथवा व्यक्ति-प्रधान तथा वस्तुपरक अथवा विषय-प्रधान वर्गों में विभाजन ही समीचीन है। आगे चलकर व्यक्ति-प्रधान अथवा निजपरक निबन्धों को भावात्मक, विचारात्मक, वैयक्तिक तथा आत्मपरक (Personal) उपवर्गों में भी विभाजित किया जा सकता है। इसी प्रकार वस्तु प्रधान अथवा विषय-प्रधान निबन्धों को वर्णनात्मक और विवरणात्मक भेदों से विभाजित किया जा सकता है। इनका वर्गीकरण निम्नलिखित वर्ग खंडों में स्पष्ट किया जा सकता है—

निबन्ध

निज-परक अथवा व्यक्ति-प्रधान (Subjective) | विषय-परक अथवा वस्तु प्रधान (Objective)

विचारात्मक	भावात्मक	आत्म-परक	वर्णनात्मक	विवरणात्मक
(Reflective)	(Emotional)	(Personal)	(Descriptive)	(Narrative)

निबन्धों के वर्गीकरण की रूपरेखा प्रस्तुत करने के पश्चात् आवश्यक कि उनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय भी प्राप्त कर लिया जाय।

विचारात्मक निबन्ध

उस निजपरक अथवा व्यक्ति प्रधान रचना को विचारात्मक निबन्ध का नाम दिया जाता है जिसमें बुद्धि तत्व की प्रधानता हो। निबन्धकार इस प्रकार के निबन्धों में समाज, साहित्य, राजनीति आदि विषयों पर अपने मौलिक विचार व्यक्त करता है। यह विचार निबन्धकार के व्यक्तित्व के अंग होते हैं। उसका चिन्तन और मनन इन निबन्धों में व्यक्त होता है। इन निबन्धों के माध्यम से लेखक समाज को एक नवीन दिशा देने का प्रयत्न करता है। इन निबन्धों का प्रभाव वाचक समुदाय के मानसिक तन्तुओं पर पड़ता है। आचार्य शुक्ल ने इसी प्रकार के निबन्धों को श्रेष्ठ माना है। इस कोटि के निबन्ध लेखक को कल्पना और भावना से अपने को दूर रखना पड़ता है। उसे विचारों को इस विधि से प्रकट करना होता है कि वाचक को वे नीरस उपदेश मात्र न जान पड़ें। उनमें उसे सौन्दर्य, सामंजस्य, संतुलन और रोचकता का भी समावेश करना होता है। विचारों को भी बड़ी ही पटुता से सँजोना होता है। विषयचयन जीवन के विविध क्षेत्रों से किया जाता है। अतएव विषय के क्षेत्र में इन्द्रधनुषी आभा के दर्शन होते हैं। भाषा शैली में कसाव और संगठन रखना होता है। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक विचारों का समावेश करना होता है। तभी तो आचार्य शुक्ल का यह उद्देश्य "शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबाकर कसे गये हैं और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड के लिए हों" प्राप्त हो सकता है।

मनोविकार अथवा मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखे गये निबन्ध इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। कुछ विद्वानों ने इस प्रकार के निबन्धों को 'मनोवैज्ञानिक निबन्ध' शीर्षक के अन्तर्गत पृथक् नाम दिया है किन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो आचार्य शुक्ल के निबन्ध संग्रह 'चिन्तामणि' के अन्तर्गत संकलित श्रद्धा, घृणा, क्रोध आदि विषयों पर लिखे निबन्ध तथा प्रसाद जी के 'चित्राधार' में संगृहीत उनके निबन्ध विचारात्मक ही कहे जायेंगे। विचारात्मक नाम उनको इसलिये दिया जाता है क्योंकि उनमें किसी मनोवैज्ञानिक स्थिति का विवेचन विश्लेषण बुद्धि और तर्क के आधार पर किया गया है। उसमें निबन्धकार के मौलिक विचार भी हैं। विषयवस्तु के विचार से वे अवश्य मनोवैज्ञानिक हैं।

भावात्मक निबन्ध

इस कोटि के निबन्धों में हृदय तत्व का प्राधान्य होता है। इसमें विवेचन-विश्लेषण इस विधि का होता है कि वाचक के रागात्मक जीवन पर उसका प्रभाव पड़े। इसमें भावों की प्रमुखता होती है। इसके पश्चात् कल्पना का स्थान होता है और सबसे अन्त में विचार-तत्व (जो विचारात्मक निबन्ध में सर्वप्रधान होता है) का स्थान होता है। इसमें लेखक की अनुभूतियाँ, उसकी भावनाएँ, उसके अनुभव आदि की अभिव्यक्ति होती है। विषय-वस्तु अर्थात् अनुभूतियाँ तथा भावादि जितने प्रखर, तीव्र और मर्मस्पर्शी होंगे और उनका प्रकाशन जितना प्रभावशाली होगा उतना ही

वे वाचक हृदय को प्रभावित करेंगे और उसी सीमा तक उनको सफल कहा जायेगा। वास्तव में भावात्मक निबन्धों में यह क्षमता होनी चाहिये कि वे वर्णित भावों का स्पष्ट चित्र वाचक के सामने प्रस्तुत कर सकें। ऐसा होने पर ही वाचक का मन प्रभावित होकर स्पंदित होगा। इस कोटि के निबन्धों में लेखक का 'आत्म-निवेदन है। "शिव शम्भु का चिट्ठा" आदि निबन्धों में बड़ा ही प्रबल आत्म-निवेदन है। आत्म-निवेदन सुनने वाले अथवा पढ़ने वाले को, तभी प्रभावित करेगा जबकि उसमें निवेदनकर्ता की आत्मा और हृदय का स्वर बोल रहा हो। बालमुकुन्द गुप्त जी के निबन्धों में यह विशेषता विद्यमान है और इसीलिए इनके भावात्मक निबन्ध सफल बन पड़े हैं।

भावात्मक निबन्ध में यह बन्धन नहीं होता कि किसी अनुभूति विशेष को ही अंकित किया जाय। उसमें सभी अनुभूतियों का समावेश साध्य है। हाँ, इस बात का अवश्य ध्यान रक्खा जाता है कि अनुभूतियाँ क्रमहीन अथवा अव्यवस्थित रूप में एकत्र न हो जायँ। किसी निबन्ध विशेष में किसी भाव विशेष अथवा अनुभूतियाँ विशेष की ही अभिव्यक्ति संभव है किन्तु ऐसी स्थिति में अन्य अनुभूतियाँ उसमें सहायक रूप में ही आ सकती हैं।

निबन्ध की इस विधा विशेष के अन्तर्गत वे भावात्मक गद्य-खण्ड भी आते हैं जिनको हम 'गद्यकाव्य' अथवा 'गद्यगीत' की संज्ञा देते हैं। यदि ध्यान से देखा जाए तो भावात्मक निबन्ध और तथाकथित 'गद्यगीत' अथवा 'गद्यकाव्य' में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों में अभिव्यक्तिगत अन्तर ही प्रतीत होता है। जो 'गद्य-गीत' अथवा 'गद्यकाव्य' नामधारी निबन्ध थोड़े छोटे होते हैं वे भावात्मक निबन्ध ही हैं।

हास्य और व्यंग-प्रधान गद्य-खण्डों अथवा निबन्धों को कुछ विद्वानों ने अलग कोटि में रक्खा है किन्तु यह वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता। यदि हम पं० प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों को ध्यानपूर्वक देखें तो वे हास्य व्यंग्यात्मक होते हुये भी भावात्मक निबन्धों की कोटि में ही आयेंगे। कुछ निबन्ध ऐसे हो सकते हैं जिनमें हास्य और व्यंग्य का प्राधान्य हो किन्तु इस आधार पर उनकी अलग कोटि नहीं बनायी जा सकती। हास्य, व्यंग्य के मूल में या तो व्यक्ति अथवा वैयक्तिकता का प्राधान्य होगा अथवा विषय या वस्तु का और इसके पश्चात् वे इन दोनों भेदों के किसी न किसी उपभेद के अन्तर्गत अवश्य आ जायेंगे। ऐसे निबन्धों में भावों अथवा अनुभूतियों की प्रधानता होती है इसलिए उनकी गणना भावात्मक निबन्धों के ही अन्तर्गत की जाती है। महाराजकुमार डॉ० रघुवीर सिंह के 'ताज', 'फतेहपुर सीकरी', 'तीन कब्रें' आदि भावात्मक निबन्ध के अच्छे नमूने हैं।

हिन्दी निबन्ध का श्रीगणेश बहुत कुछ ऐसे ही निबन्धों से हुआ और आज भी ऐसे निबन्धों की ओर लोगों का झुकाव है। प्रतीकात्मक निबन्ध (Symbolic Essays) इसी वर्ग की विशेषता है।

आत्म-परक निबन्ध

विचारात्मक और भावात्मक निबन्धों से भिन्न यह आत्म-परक निबन्ध अपनी एक विशेष सत्ता रखते हैं। निबन्ध में स्वयं लेखक के व्यक्तित्व की महत्ता रहती है। निबन्ध है भी एक व्यक्तित्व प्रधान रचना। किन्तु भावात्मक अथवा विचारात्मक

निवन्ध में लेखक का व्यक्तित्व समाज में ऐसा घुल-मिल कर आता है कि वह सरलता से पहचाना नहीं जाता किन्तु आत्म-परक (Personal) निवन्ध में लेखक के 'निज' की ऐसी गहरी छाप होती है कि समाज के किसी अन्य सदस्य का नाम उस पर लिखा ही नहीं जा सकता। वह केवल अपनी ही बात निवन्ध में कहता है और अपनी बात कहकर ही पाठक समुदाय की सहानुभूति और समवेदना प्राप्त करता है। निबन्धकार के जीवन के भौतिक अभाव अथवा समृद्धि, विवशता अथवा स्फूर्ति, सन्ताप अथवा सुख आदि के आधार पर आत्म-परक निवन्धों की रचना होती है और इन्हीं की अभिव्यक्ति में लेखक अपने वास्तविक रूप में सामने आता है। मुख्यत: ऐसे निवन्धों की रचना की पृष्ठभूमि में विविध भौतिक स्थितियाँ ही कारण बन कर विद्यमान रहती हैं। भौतिक-अभाव, सम्वन्धियों का विछोह, निजी दुर्भाग्य, सामाजिक प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा, आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिनको लेकर आत्म-परक निवन्धों का जन्म होता है। इस तत्व के कारण ही भावात्मक और आत्म-परक निवन्ध में अन्तर होता है। आत्म-परक निवन्ध में शुद्ध व्यक्तिगत भावों की अभिव्यंजना होती है, जबकि भावात्मक निवन्धों में जिन भावों की अभिव्यक्ति होती है उनका सम्वन्ध सामाजिक जीवन अथवा, विश्व के अन्य लोगों अथवा वस्तुओं से भी हो सकता है। आवश्यक नहीं है कि उनका सम्वन्ध निवन्धकार से व्यक्तिगत रूप से ही हो। आत्म-परक निवन्धकार का विश्व अपना ही होता है किन्तु भावात्मक निबन्धकार विश्व को अपना बना लेता है। इन कोटि के सर्वश्रेष्ठ निवन्ध, अँग्रेजी के प्रसिद्ध निवन्ध-कार चार्ल्स लैम्ब के हैं। हिन्दी में श्रीमती महादेवी वर्मा के निवन्ध संग्रह 'स्मृति की रेखायें' तथा 'अतीत के चलचित्र' में इस कोटि के निवन्धों के सुन्दर उदाहरण हैं।

वर्णनात्मक निबन्ध

ऐसे निवन्ध जिनमें किसी वस्तु अथवा व्यापार, प्राकृतिक दृश्य, मेला, घटना आदि का सजीव वर्णन होता है उनको वर्णनात्मक (Descriptive) कहते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि निबन्धकार वर्ण्य-विश्व का सजीव चित्र सामने लाकर प्रस्तुत कर दे। ऐसा करने में वह कल्पना, विचार, अनुभूति आदि सभी तत्त्वों का सहारा ले सकता है। किन्तु इसके साथ-साथ निवन्ध में लेखक का व्यक्तित्व भी उभर कर सामने आ जाना चाहिए। वर्णन भी ऐसा होना चाहिए कि वर्णित वस्तु अथवा व्यापार के प्रति वाचक की रागात्मक वृत्ति जागृत हो जाए। इसके लिए निबन्धकार को कल्पना का सहारा लेना होता है जिसके द्वारा वह विश्व को सामने लाकर रख सके। इसके पश्चात् भावना का स्थान आता है। इसका प्रयोग निवन्धकार वाचक के रागात्मक तत्त्व को जगाने के लिए करता है। बुद्धि-तत्त्व अथवा विचार का प्रयोग इसमें कम से कम होता है। इसका प्रयोग तभी होता है जबकि किसी वर्णन को बुद्धि-ग्राह्य बनाना हो।

वर्णनात्मक निवन्ध लिखना अत्यन्त सरल भी है और कठिन भी। सरल इसलिए कि किसी भी विषय पर इसकी रचना हो सकती है और उस रचना में निबन्धकार को कुछ विशेष चिन्तन नहीं करना पड़ता। वह जैसा देखता है वैसा ही चित्र उसे प्रस्तुत कर देना होता है। गहन चिन्तन अथवा मौलिक विचार अथवा गहन अनुभूति की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु कठिनाई इसलिए होती है कि

विषयवस्तु बड़ी सरल और सुपरिचित होती है और उस पर लिखे निबन्ध में प्राण-प्रतिष्ठा करना लेखक के लिए दुर्लभ होता है। उसे पाठकों की रागात्मक वृत्ति को कल्पना और भावना के सहारे जगाना होता है और यह कार्य अत्यन्त दुष्कर है। इस प्रकार के निबन्ध के लिए सरल एवं प्रसाद शैली ही अधिक उपयोगी होगी।

विवरणात्मक निबन्ध

इसमें विवरण की प्रधानता होती है। ऐसे निबन्धों में प्राचीन अथवा नवीन सत्य अथवा काल्पनिक घटनाओं, पौराणिक अथवा ऐतिहासिक आख्यानों, संस्मरणों अथवा कथाओं का विवरण होता है। इसमें एक घटना के पश्चात् दूसरी घटना का क्रमबद्ध विवरण होता है और जहाँ दो घटनाओं के बीच कुछ रिक्त स्थान हो उसकी पूर्ति निबन्धकार कल्पना के सहारे कर देता है। इन घटनाओं के प्रस्तुत करने में आवश्यकता इस बात की होती है कि विषय-वस्तु से लेखक की आत्मीयता बनी रहे। इनमें निबन्धकार का व्यक्तित्व सर्वत्र विद्यमान रहता है। इनको 'कथात्मक' अथवा 'ऐतिहासिक' निबन्ध भी कहा जाता है। इस कोटि के निबन्ध के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि उनमें घटनाओं की श्रृंखला न टूटे। इस तारतम्य के निर्वाह के लिए लेखक में चयन-कौशल होना चाहिए। उसमें यह समझ होनी चाहिए कि वह घटनाओं का चुनाव कैसे और किस रूप में करे ताकि तारतम्य बना रहे।

विवरणात्मक निबन्ध के लेखक को कलात्मकता की ओर अधिक ध्यान देना होता है और इसलिए उसका कार्य वर्णनात्मक निबन्ध के लेखक की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। भावों के बिम्ब ग्रहण के लिए सूक्ष्म कल्पना और अनुभूति का सहारा लेना होता है। प्रसाद शैली ही इसके लिए उपयोगी है, किन्तु व्यंजना के लिए इसमें यथेष्ट स्थान है। बीच-बीच में हास्य और व्यंग्य के छींटे रोचकता में चार चाँद लगा देते हैं।

कथा और संस्मरण से सम्बन्धित निबन्ध इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। वासुदेवशरण अग्रवाल, सत्यदेव परिव्राजक, राहुल सांकृत्यायन, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने अनेक सुन्दर विवरणात्मक निबन्ध प्रस्तुत किए हैं।

निबन्ध—संगठन और प्रमुख अंग

व्यवस्था और श्रृंखला

निबन्ध में एक निश्चित व्यवस्था परमावश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि निबन्ध का विकास श्रृंखलाबद्ध एवं क्रमबद्ध होना चाहिए। वह आदि से लेकर अंत तक एक क्रम-बद्ध रूप में विकसित होता रहे और अन्त में जाकर समाप्त हो जाय। यदि निबन्धकार ने अपने निबन्ध की रूपरेखा को (अपने मन में सही) पहले से निर्धारित नहीं कर लिया है तो लिखते समय विषयान्तर हो जाने की आशंका बनी रहती है। यदि रूपरेखा अथवा व्यवस्था पहले ही से निर्धारित होती है तो निबन्ध की यात्रा निश्चित पथ पर निश्चित योजनानुसार होती रहेगी। विषय विकास में

सूत्रबद्धता होगी। विचार, भाव, घटनाएँ इस प्रकार आते जायेंगे जैसे सूत्र में एक के बाद दूसरा मोती पिरोया जा रहा हो। निबन्ध की इसी विशेषता को सहज सूत्र-बद्धता अथवा पूर्वापर सम्बन्ध कहते हैं और जिसके अभाव में वह निबन्ध न होकर पागल का प्रलाप बन जाता है।

विचारों में तर्कसंगत सम्बन्ध

निबन्ध में विचारों की अभिव्यक्ति होती है जिनमें क्रमबद्धता अथवा पूर्वापर सम्बन्ध भी होना चाहिए। यह सम्बन्ध तर्क के आधार पर ही स्थापित हो सकता है। यदि एक विचार का दूसरे से सम्बन्ध न हुआ तो निबन्ध में विशृंखलता आ जायगी और निबन्ध का सौन्दर्य समाप्त हो जायगा।

अनुपात

प्रत्येक निबन्ध में कुछ प्रमुख अथवा प्रधान विचार होते हैं और कुछ गौण। प्रमुख विचारों को अधिक स्थान और विवेचन मिलना चाहिए और गौण विचारों को कम। यदि गौण बातों को अधिक स्थान और तूल दिया गया तो निबन्ध असंतुलित हो जायगा। इसीलिए निबन्धकार को विचारों का अनुपात भली प्रकार निर्धारित कर लेना चाहिए।

पदों अथवा परिच्छेदों में विभाजन

विचारों को व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक है कि सम्पूर्ण निबन्ध को पदों अथवा परिच्छेदों में विभाजित कर दिया जाय। विभाजन क्रम तथा परिच्छेद-संख्या का निर्धारण बहुत कुछ निबन्ध के आकार पर निर्भर करता है। यदि निबन्ध बड़ा होगा तो परिच्छेद अनेक होंगे और छोटा होगा तो अपेक्षाकृत कम। निबन्धकार को अपने प्रत्येक विचार को अलग परिच्छेद में स्पष्ट करना चाहिए।

निबन्ध के प्रमुख अंग

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निबन्ध के प्रमुख अंग निर्धारित किये जा सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से निबन्ध को चार अंगों में विभाजित किया जा सकता है—(१) शीर्षक, (२) प्रस्तावना, (३) प्रसार, (४) उपसंहार या परिणाम। इन पर थोड़ा विस्तार से विचार कर लेना उपयोगी होगा।

शीर्षक

निबन्ध में शीर्षक का स्थान एवं नामांकन बड़ा ही महत्वपूर्ण है। शीर्षक उपयुक्त और आकर्षक होना चाहिए। वास्तव में शीर्षक को देखकर ही निबन्ध के बारे में धारणा बनती है और पढ़ने की रुचि उत्पन्न होती है। शीर्षक उपयुक्त और आकर्षक होने के साथ-साथ विषय से सम्बद्ध भी होना चाहिए। ऐसा न होने पर पाठक की वही दशा होगी जो उस ग्राहक की होती है जो किसी मिठाई की आकर्षक आकृति को देखकर उसे खरीदता है किन्तु खाने पर उसका स्वाद उसकी आकृति के अनुरूप न पाकर खीझ उठता है।

प्रस्तावना

निबन्ध का आरम्भिक अंश प्रस्तावना है। इस सम्बन्ध में आधुनिक विचारकों के दो मत हैं। कुछ विद्वान, इस व्यस्त युग में प्रस्तावना अथवा भूमिका की आवश्यकता

नहीं समझते । उसका विचार है कि निबन्धकार को अपने वर्ण्य-विषय पर सीधा प्रहार करना चाहिए । उनके विचार से प्रस्तावना में अधिक से अधिक कुछ पंक्तियाँ ही लिखी जानी चाहिए । इसके विपरीत अन्य विद्वान प्रस्तावना को विशेष महत्व देते हैं । कुछ भी हो प्रस्तावना होती अश्वय है । चाहे वह कुछ ही पंक्तियों की हो । अतएव उसे उपयुक्त और उपयोगी होना चाहिए । वह ऐसी हो कि निबन्ध को विषय-वस्तु की ओर इंगित करती हो अर्थात् उसको पढ़कर पाठक का मन निबन्ध पढ़ने के लिए लालायित हो उठे । प्रस्तावना में निम्नलिखित बातों का होना अनिवार्य है ।

(१) प्रस्तावना निबन्ध से सम्बन्धित हो । वह उसके अनिवार्य अंग के रूप में प्रस्तुत हो । वह ऐसे सोपान की तरह हो जिस पर चढ़कर पाठक निबन्ध के मुख्य भवन में प्रवेश कर जाए ।

(२) प्रस्तावना का आकर्षक और कौतूहलवर्वक होना जरूरी है जिसे पढ़कर पाठक का मन निबन्ध पढ़ने के लिए ललक उठे ।

(३) प्रस्तावना का आकार छोटा होना चाहिए । निबन्ध के आकार के अनुपात में हो उसका आकार होना चाहिए । अधिक विस्तृत प्रस्तावना में निबन्ध के केन्द्र से उसके पृथक् हो जाने की सम्भावना रहती है ।

(४) प्रस्तावना की भाषा सुरुचिपूर्ण, सरल, सुबोध एवं प्रसाद गुण पूर्ण होनी चाहिए । इससे उसकी प्रभावशीलता में वृद्धि होती है ।

प्रस्तावना लिखने के ढंग

प्रस्तावना लिखने के अनेक ढंग हैं जिनका प्रयोग निबन्ध-लेखक की रुचि पर निर्भर करता है किन्तु निवन्ध का विषय इस मामले में निर्णयकारी होता है । अर्थात् प्रस्तावना का विषयानुरूप होना आवश्यक है । विचारात्मक अथवा भावात्मक निबन्धों की प्रस्तावना का समारम्भ किसी अधिकारी विद्वान की टिप्पणी के साथ होता है तो वर्णनात्मक निबन्धों की प्रस्तावना में प्राकृतिक दृश्य-सौन्दर्य अथवा आकार प्रकार के वर्णन आवश्यक होते हैं । सारांश यह है कि प्रस्तावना-लेखन विषयगत आवश्यकता के अनुरूप तथा निवन्धकार की मौलिक प्रतिभा का प्रस्फुटन होता है ।

प्रसार अथवा मध्य भाग

यह निबन्ध का सबसे महत्वपूर्ण अंश है । इसे निबन्ध का मेरुदण्ड भी कह सकते हैं जिसके दुर्बल होने पर निबन्ध टिक नहीं सकता । इसी अंश में विषय का विवेचन-विश्लेषण होता है । विश्लेषण क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित होना, चाहिए । यह तभी सम्भव है जब कि लेखक ने विषय की जानकारी भली प्रकार प्राप्त कर ली हो और तत्सम्बन्धी विचारों को अपने मस्तिष्क में व्यवस्थित रूप से सँजो लिया हो । प्रधान एवं गौण विचारों के अनुपात के विषय में भी चिन्तन कर लेना चाहिए । इस प्रकार चिन्तन से पुष्ट होकर यदि निवन्धकार निबन्ध रचना करता है तो वह एक निवन्ध की रचना की सम्भावना लेकर चलता है ।

उपसंहार अथवा परिणाम

निबन्ध का यह अन्तिम भाग है जहाँ आकर निवन्ध की यात्रा समाप्त हो जाती है । यात्रा का यह अन्तिम चरण बड़ा ही महत्वपूर्ण है । यहाँ तक निवन्धकार को इस विधि से पहुंचना चाहिए कि पाठक की पढ़ने की प्रवृत्ति यहाँ आकर तृप्त हो

जाय। वह ऐसा अनुभव करे कि उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया है। वास्तव में निबन्धकार को अपने प्रसार को इस प्रकार उपसंहार की ओर से जाना चाहिए कि अन्त स्वाभाविक लगे। विभिन्न विद्वानों ने इसकी विभिन्न विधियाँ निरूपित की हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि अन्त में अथवा उपसंहार में उपदेशात्मकता होनी चाहिए किन्तु हमारे विचार में ऐसा करने से पाठक को निबन्ध अच्छा नहीं लगेगा। उपदेश सुनना साधारणतया लोगों को अच्छा नहीं लगता है। इसके विपरीत कुछ विद्वान उपसंहार में सम्पूर्ण निबन्ध का निचोड़ अथवा निष्कर्ष भर देते हैं। निबन्ध का समापन किसी भी प्रकार क्यों न किया जाय पर उसे ऐसा होना चाहिए कि पाठक यह अनुभव करे कि वह ज्ञान को भली प्रकार हृदयंगम कर चुका है। वह तृप्त हो जाए और इसके पश्चात् यह अनुभव करे कि वह निबन्ध के वर्ण्य-विषय के बारे में सब कुछ न सही फिर भी बहुत कुछ जान गया है।

निबन्ध लिखने की रीति

निबन्ध लिखना सरल होने के साथ-साथ कठिन कार्य भी है। सरल इसलिए कि आत्म-प्रकाशन प्रत्येक प्राणी का अधिकार है और निबन्ध आत्म-प्रकाशन की एक ऐसी विधा है जिसमें किसी विशेष पूर्वाग्रह की आवश्यकता नहीं होती। इसमें स्वस्थ दृष्टिकोण, संतुलित विचार-शक्ति और विधिवत् विवेचन क्षमता से काम चल जाता है। यह कला कठिन इसलिए है कि इन साधारण और सरल लगने वाली विशेषताओं का ग्रहण और निर्वाह सरल कार्य नहीं। साथ ही इनमें रोचकता और आकर्षण की व्याप्ति भी सरल कार्य नहीं। अतएव निबन्ध लिखने के पूर्व निम्नलिखित बातों पर ध्यान अवश्य देना चाहिए—

(१) **विषय चयन**—निबन्ध किसी भी विषय पर लिखा जा सकता है। उसके लिए आवश्यक नहीं है कि किसी विशेष प्रकार के विषय को ही चुना जाय। फिर भी विषय ऐसा होना चाहिए जो पाठकों की रुचि का हो। निबन्ध का अस्तित्व निबन्धकार तक ही सीमित नहीं होता, पाठकों का भी उससे घनिष्ठ और महत्वपूर्ण सम्बन्ध होता है। अतएव उनका भी ध्यान रखना चाहिए।

(२) **मनन**—विषय चयन के पश्चात् उस पर मनन भी करना चाहिए। मनन और चिन्तन के बाद ही उस पर भली प्रकार लिखा जा सकता है। मनन और चिन्तन से विषय-सम्बन्धित ज्ञान स्पष्ट होता है।

(३) **अध्ययन-अनुभव**—प्रत्येक विषय में अथवा चुने गये विषय के सम्बन्ध में आवश्यक नहीं कि लिखने वाले का ज्ञान पूर्ण हो अथवा आवश्यक सामग्री उसके मस्तिष्क में उपलब्ध हो। इसकी पूर्ति के लिए अध्ययन-अनुभव तथा अध्यवसाय का सहारा लेना होता है।

(४) **निरीक्षण**—निबन्ध लिखने में सफलता प्राप्त करने के लिए निरीक्षण परमावश्यक है। अनेक विषय ऐसे होते हैं जिनका ज्ञान कहीं किसी स्थान-विशेष में संचित नहीं मिलता। उसके विषय में निरीक्षण द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है विशेषतया प्रकृति से सम्बन्धित विषयों पर निबन्ध लिखने में निरीक्षण ही सहायक होता है।

(५) **रूपरेखा**—निबन्ध लिखने के पूर्व रूपरेखा तैयार कर लेना अत्यन्त

आवश्यक होता है। यह आवश्यक नहीं कि रूपरेखा कागज पर ही तैयार की जाये। सफल निवन्धकार मस्तिष्क में ही रूपरेखा बना लेते हैं। रूपरेखा निर्धारित हो जाने से निबन्ध में संतुलन बना रहता है तथा प्रमुख और गौण विचारों का अनुपात बना रहता है और जो निबन्ध लिखकर तैयार होता है उसका आकार सर्वथा स्वस्थ और आकर्षक होता है।

(६) **भाषा-शैली**—निवन्ध के लिए भाषा-शैली का तत्व बड़ा ही महत्वपूर्ण है। निबन्ध की भाषा विषयानुरूप होनी चाहिए। यदि निबन्ध का विषय गम्भीर हो तो भाषा भी उसी के अनुरूप हो जायगी। बीच में हास्य और व्यंग्य का पुट निवन्ध को आकर्षक बना देता है। भाषा में व्यंजना होनी आवश्यक है क्योंकि निबन्ध में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव व्यक्त करने होते हैं।

शैली भी निबन्ध के अनुसार ही विभिन्न रूप धारण करती है। शैली के अनेक रूप बताये गये हैं। निवन्ध शैली में प्रसाद, समास, विवेचन आदि विशेषतायें होती है। निबन्ध में शैली का विशेष महत्व होता है।

१. साहित्य का उद्देश्य

१—भूमिका, २—साहित्य की परिभाषाएँ, ३—साहित्य का क्षेत्र, ४—साहित्य का लौकिक उद्देश्य, ५—साहित्य का आध्यात्मिक उद्देश्य, ६—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसमें चेतना का समावेश है। मनुष्य में भावाभिव्यक्ति तथा बोधगम्यता की अपूर्व शक्ति है। विचारों को भाषा देने में इसे सफलता प्राप्त है। 'सबसे दुर्लभ मनुज सरीरा' कहकर गोस्वामीजी ने मानव जीवन की प्रमुखता की घोषणा की है। अपनी सामाजिकता को स्थायित्व प्रदान करने के लिए मनुष्य ने अनेक शास्त्रों का निर्माण किया है। आनन्द की अनुभूति मनुष्य में विकसित हुई है। भाव-भाषा को उसने लिपिबद्ध कर लिया है। उसकी अभिव्यक्तियाँ स्थायित्व प्राप्त कर चुकी हैं; फलतः मनुष्य-समाज की मनोवृत्तियाँ जिस व्यवस्थित कलात्मक भाषा में व्यक्त की गईं, वह अक्षर है और उसके संकलित रूप को ही साहित्य का नाम दिया गया है। मनुष्य ने साहित्य का निर्माण किसी उद्देश्य विशेष से किया है।

साहित्य की परिभाषा—भर्तृहरि ने 'साहित्य, संगीत और कला' की त्रयी में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'काव्य' के अर्थ में किया है। विभिन्न आचार्यों ने काव्य की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। आचार्य राजशेखर का मत है—'शब्दार्थौसहितो काव्यम्।'

अर्थात् शब्द और अर्थ के सहित जो कुछ कहा जाय वह काव्य है यानी सार्थक शब्द मात्र काव्य है।

पण्डितराज जगन्नाथ काव्य में रमणीयता का होना आवश्यक मानते हैं। उनका मत है—"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है।

द्विवेदीजी ने साहित्य को 'समाज का दर्पण' और 'ज्ञान राशि का संचित कोश' कहा है। किसी आचार्य ने साहित्य को 'जीवन से अभिन्न' माना, तो किसी ने साहित्य को 'जीवन की समीक्षा' और किसी ने उसे 'जीवन की अभिव्यक्ति' बतलाया। इस प्रकार साहित्य की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं, किन्तु सभी परिभाषाओं में एक बात अवश्य स्वीकार की गई है और वह उसका मानव-जीवन से सम्बन्ध। सभी परिभाषाओं का उद्देश्य साहित्य को जीवन से अभिन्न बनाना है। इसलिए जीवन के तथ्यों का चित्र उपस्थित करना तथा भावी पीढ़ी के लिए उसे सुरक्षित रखना साहित्य का मुख्य उद्देश्य हुआ।

साहित्य का क्षेत्र—जिस प्रकार जीवन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है तथा मनुष्य अत्यन्त सृष्टि से अपने उपयोग के लिए विभिन्न प्रकार के पदार्थों का संग्रह करता है उसी प्रकार साहित्य भी मानव जीवन से सम्बन्धित तत्वों और पदार्थों की व्याख्या करता रहता है। मनुष्य जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक दो पहलू होते हैं; उसी के अनुसार साहित्य के भी यही दोनों मुख्य अंग हैं। सामान्य वस्तुओं के विवरण से लेकर मानव के उदात्त भावों की अभिव्यक्ति तक के लिखित रूप को साहित्य के अन्तर्गत ले सकते हैं। किन्तु आज साहित्य का अर्थ समाज और व्यक्ति से सम्बन्धित कहानी, नाटक, उपन्यास, कविता, आलोचना, निबन्ध, यात्रा-वर्णन जीवन चरित्र आदि सभी कुछ माना जाता है। इन सभी साहित्य-विधाओं का उद्देश्य है—व्यक्ति और समाज में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक दृष्टियों से घटने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन और संरक्षण।

साहित्य का लौकिक उद्देश्य—जीवन के लौकिक और पारलौकिक दो उद्देश्य हैं। उसी प्रकार साहित्य के भी लौकिक और पारलौकिक दो उद्देश्य हैं। साहित्य देश-काल की भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जाता है। प्राकृतिक और भौगोलिक वातावरण के आधार पर साहित्य का रूप भिन्न होता है। यह भिन्नता देश और प्रांत की बोलियों के अनुसार और भी भिन्नता प्रदर्शित करती रहती है। किन्तु प्रत्येक साहित्य में जो मौलिक एकता है, वह है—व्यक्ति और समाज के जीवन से सम्बन्धित मुख्य घटनाओं का वर्णन तथा संरक्षण। समग्र साहित्य का यही मुख्य उद्देश्य है। लौकिक दृष्टि से व्यक्ति और समाज के जीवन में जो मुख्य घटनाएँ घटित होती हैं उनसे सम्बन्धित अन्तर्चेतना तथा बाह्य कारणों को साहित्य मुखरित कर रहा है तथा अतीत को भी सुरक्षित बनाये हुए है। योरूप के समाज का यदि १३वीं शताब्दी का वास्तविक रूप देखना है तो यहाँ के विभिन्न देशों के १३वीं शताब्दी के साहित्य को देखना पड़ेगा। एलिजावेथ के राज्य-काल में इंग्लैण्ड का समाज तथा व्यक्ति कैसा जीवन व्यतीत करता था, उस समय देश-काल का क्या रूप था आदि वस्तुओं का वास्तविक चित्र शेक्सपीयर के साहित्य में देखा जा सकता है। धाराधिपति भोज के राज्य-काल का वास्तविक चित्र कालिदास की रचनाओं में मिलता है। १३वीं और १४वीं शताब्दी के राजाओं, बादशाहों तथा सामान्य लोगों की भावनाओं का वास्तविक रूप वीरकाव्यों में व्यक्त है। बीसवीं शताब्दी का साहित्य आने वाली पीढ़ी को बतायेगा कि भारत की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक दशा कैसी थी? अतः स्पष्ट है कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य

है लोकपक्ष का समुचित और यथार्थ रूप उपस्थित करना । इसकी पूर्ति के लिए समाज के सभी वर्गों का वर्णन साहित्य में किया जाता है। इससे लाभ यह होता है कि वर्तमान पीढ़ी साहित्य में सुरक्षित अतीत के अनुभवों से लाभ उठाकर अपने वर्तमान जीवन को सुखमय और शांतिपूर्ण बनाने का प्रयास करती है। आज की भौतिक उन्नति का रहस्य साहित्य से प्राप्त किया गया है। जीवन की सुख-सुविधा को बढ़ाने के साधन साहित्य से खोजकर निकाले गये। अतः क्रमिक विकास का मूल मन्त्र साहित्य में सुरक्षित निधियों से ही प्राप्त होता है।

साहित्य का आध्यात्मिक उद्देश्य—मानव-समाज को शान्ति प्रदान करने से आध्यात्मिक उन्नति आवश्यक होती है। इस आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति साहित्य द्वारा ही होती है। साहित्य जीवात्मा, परमात्मा और जगत् के विविध रूपों का विवेचन करता है, उनके पारस्परिक सम्बन्धों की रूप-रेखा बताता है, उस क्षेत्र की अतीत-कालीन उपलब्धियों का इतिहास प्रस्तुत करता है तथा आध्यात्मिक विकास क्रम की सीमा बताता है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य व्यक्तिगत रूप से सांसारिक आकर्षणों को छोड़ना प्रारम्भ करता है और अन्त में जीवन-क्रम सरल बनाकर शाश्वत शान्ति (ब्रह्मानन्द) को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

साहित्य का दूसरा आध्यात्मिक उद्देश्य है नैतिकता का प्रचार करना। साहित्य में नैतिक शक्ति की विजय दिखाई जाती है। दैवी शक्तियों का आसुरी शक्तियों से निरन्तर संघर्ष होता है और उसमें अन्ततोगत्वा दैवी शक्तियों की ही विजय दिखाई जाती है और आसुरी प्रवृत्तियों की पराजय। जीवन का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व इसी प्रकार होता रहता है। इस अन्तर्द्वन्द्व में सफलतापूर्वक निर्णय साहित्य ज्ञान द्वारा सरल होता है। साहित्य का उद्देश्य नैतिकता का विकास तथा अनैतिकता का पतन दिखाना भी है।

इतना ही नहीं साहित्य समाज के सभी पक्षों का प्रतिबिम्बन करता है। देखिए :—

"जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके ऊँच-नीच भावों का, उसके ऐतिहासिक घटनाओं और राजनीतिक स्थितियों, सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता या असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य ही है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उसके प्रत्यक्ष साहित्य रूपी आइने में ही। इस आइने के सामने आते ही हमें तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी-शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी।"

उपसंहार- -मानव-समाज साहित्य-निर्माण के मूलभूत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सदैव सतर्क रहता है। मनुष्य संसार में सुख और दुःख की अनुभूतियों के साथ पैदा होता है। उसका प्रत्येक कार्य सुख प्राप्ति या निवारण में से किसी एक भावना से प्रेरित होकर होता है। प्रत्येक प्राणी सुख प्राप्त करना चाहता है। इच्छानुकूल वातावरण का मिलना ही सुख का कारण बनता है, तथा इच्छा के प्रतिकूल वातावरण में दुखानुभूति होती है। इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ संस्कारगत होती हैं अतः

संस्कार बनाने या सुधारने का कार्य साहित्य द्वारा सम्पन्न होता है। संक्षेप में साहित्य का उद्देश्य है—सुख का साधन जुटाने तथा दुःख दूर करने के उपायों में सहायता देना। इस प्रकार साहित्य का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को उठाने का मार्ग प्रदर्शित करना है।

२. साहित्य और समाज

१—भूमिका, २—साहित्य और समाज का सम्बन्ध, ३—साहित्य और समाज का पारस्परिक विनिमय, ४—समाज का साहित्य पर प्रभाव, ५—साहित्य का समाज पर प्रभाव, ६—साहित्य समाज सुधार का साधन, ७—साहित्य में समाज का जीवन, ८—उपसंहार

भूमिका—मनुष्य की चिन्तनशील प्रवृत्ति का परिणाम ही साहित्य के रूप में विकसित होता है। यह चिन्तन भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही होता है। साहित्य मानव-जीवन से जुड़ा है, कहीं भी वह मानव-जीवन से अलग नहीं है। उसका निर्माण मनुष्य अपने जीवन के लिए करता है। अतः साहित्य सामाजिक विषय है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह अकेला नहीं रह सकता, उसने अपने जीवन में एकाकीपन तथा उदासीनता को मिटाने के लिए ही साहित्य का निर्माण किया है। यानी मनुष्य के समष्टि रूप का नाम ही समाज है जिसमें व्यक्ति अंग रूप में अवस्थित है और साहित्य, मनुष्य के भाषाबद्ध विचार प्रवाह का नाम है अतः साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

स्कॉट जेम्स ने लिखा है :—

"Literature is the comprehensive essence of the intellectual life of a nation."

अर्थात् **'साहित्य किसी राष्ट्र के बौद्धिक जीवन का व्यापक सार है।'** राष्ट्र की कल्पना समाज के विना नहीं की जा सकती। अतः दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि साहित्य किसी समाज के बौद्धिक जीवन का व्यापक सार है। कविवर रवीन्द्र ने लिखा है, "सहित शब्द से साहित्य शब्द में मिलने (अर्थात् एक साथ होने) का भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरंग मिलन भी है जो कि साहित्य के अतिरिक्त अन्य में सम्भव नहीं है।" यही कारण है कि समाज के उत्थान अथवा पतन में साहित्य का बहुत बड़ा योगदान है।

साहित्य और समाज का सम्बन्ध—द्विवेदी जी के शब्दों में 'साहित्य समाज का दर्पण है' अर्थात् समाज का वास्तविक स्वरूप साहित्य में देखा जा सकता है। समाज निर्माण के पश्चात् साहित्य का निर्माण होता है और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। समाज का प्रभाव पहले साहित्य पर पड़ता है, फिर समाज स्वयं साहित्य से प्रभावित होता है।

समाज की विविध प्रकार की गतिविधियों का ही साहित्य में अंकन किया जाता है। देश, जाति, राष्ट्र समाज तथा विश्व की उन्नति में साहित्य महत्वपूर्ण साधन का कार्य करता है। साहित्यकार अपनी सामग्री का चयन समाज के विस्तृत उद्यान से ही करता है। मानव-जीवन (जो समाज का अंग है) से अलग साहित्य की कल्पना असम्भव है। साहित्य समाज के विभिन्न अंगों की प्रवृत्तियों की विवेचना करता है तथा उन्हें सुरक्षित रखता है इसी प्रकार समाज भी यथाशक्ति साहित्य को सुरक्षित रखने के उपाय करता है। अतः साहित्य और समाज का सम्बन्ध अटूट और अमर है। भर्तृहरि ने कहा है—'साहित्य संगीत कलाविहीनः साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः।'' अर्थात् मनुष्य साहित्य, संगीत और कला के ज्ञान के अभाव में एक ऐसे पशु की भाँति होता है जिसके पूँछ और सींग नहीं होते। मनुष्य की मनुष्यता का एक महत्वपूर्ण अंग साहित्य होता है तथा समाज को जीवनदायिनी शक्ति देने का कार्य इसी के द्वारा होता है। ठीक ही कहा है किसी कवि ने :—

अन्धकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं है।
मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है॥

साहित्य को ज्ञान राशि का संचित कोश भी कहा गया है। मनुष्य अपने विभिन्न प्रकार के अनुभवों को मस्तिष्क में संचित रखता है और समाज सम्बन्धी उन सामान्य और विशेष अनुभवों को वह साहित्य में व्यक्त कर देता है। इसी प्रकार साहित्य में संचित ज्ञान राशि से समाज अपनी उन्नति का मार्ग बनाता हुआ आगे बढ़ता है। यही कारण है कि किसी विद्वान ने साहित्य को समाज का मस्तिष्क कहा है। इस प्रकार समाज की सभ्यता, संस्कृति, आचार-विचार, परम्परा आदि का निर्देशक साहित्य है। यदि हमें प्राचीन काल के भारतीय समाज का ज्ञान प्राप्त करना है तो उस समय का साहित्य देखना आवश्यक होगा। वेदों, पुराणों, प्राचीन नाटकों तथा तत्कालीन काव्यों को देखकर ही हम उस काल विशेष के समाज का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। तत्कालीन समाज का सुख-दुख, रहन-सहन, आचार-विचार सभी कुछ साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है। एक वाक्य में समाज की पूरी झाँकी तत्कालीन साहित्य में दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार साहित्य से समाज को अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना है। समाज हरिश्चन्द्र, शिव, दधीचि आदि असंख्य चरितनायकों के जीवन से आज तक सत्य, धर्म, त्याग, परोपकार आदि के निर्वाह और पालन के लिए प्रेरणा ग्रहण करता आ रहा है। साहित्य और समाज का यह पारस्परिक विनिमय निरन्तर चलता रहता है।

समाज का साहित्य का प्रभाव—वैदिक साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि समाज में प्रकृति पूजा चलती थी। भारत कृषि-प्रधान देश है और उस युग में कृषि की उन्नति के लिए प्रकृति की प्रसन्नता अपेक्षित थी। इन्द्र, वरुण, उषा, सविता आदि देवों की कल्पना तथा उनकी विभिन्न प्रकार की अर्चना विधियों आदि का वर्णन स्पष्ट बताता है कि तत्कालीन समाज में बहुदेवोपासना तथा प्रकृति पूजा का प्रचार था। कृषि कार्य में गोवंश को अति उपयोगिता के प्रभाव से ही गाय का महत्व इतने विस्तार से कहा गया है इसी प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था का इतना व्यापक

गुणगान तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था का प्रभाव है। वीरगाथा काल की रचनाओं में शृङ्गार, प्रेम, युद्ध, मारकाट तथा अशांति के वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि भारत का समाज विभिन्न राज्यों में बँटा था। शासकों में पारस्परिक मेल का अभाव था। वे स्वातंत्र्य तथा जीवन के शांत क्षणों में वैभव-विलास में लीन रहते थे। स्वाभिमान तथा राज्य की रक्षा के लिए मरना-मारना आसान समझते थे। उनके लिए राज्य का हित सर्वोपरि था। इसी प्रकार रीतिकाल का साहित्य तत्कालीन समाज प्रवृत्तियों के चित्रण में समर्थ है। जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब के राज्यकाल के उत्तरार्द्ध में जैसा समाज था उसका पूर्ण प्रभाव तत्कालीन कवियों तथा साहित्यकारों की रचनाओं पर पड़ा है। कला का जो विकास उस युग के समाज में हो रहा था उसका प्रभाव बिहारी, देव आदि कवियों की वाणी पर भी स्वाभाविक ढंग से पड़ा। अतः पग-पग पर साहित्य समाज से प्रभावित होता रहता है।

साहित्य का समाज पर प्रभाव—साहित्य मनोवृत्तियों का ही भाषा चित्र होता है तथा पाठक हृदय को उपयुक्त अवसर पर प्रभावित करता है वह प्रभाव प्रवृत्तियों पर पड़ता है और क्रमशः सम्पूर्ण समाज इससे प्रभावित होता जाता ह। वैदिककाल के सरल कर्मकाण्ड ने क्रमशः बढ़ते-बढ़ते जटिलता को प्राप्त कर लिया। यज्ञों के सम्पादन काल में किये जाने वाले कवियों के वर्णन ने समाज पशु-बलि को प्रोत्साहित किया। यहाँ तक कि नर-बलि की प्रथा चल पड़ी। समाज में क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रम चलता ही रहता है। कर्मकाण्ड की गूढ़ता, पशु-बलि की अधिकता तथा जाति-पाँति की कठोरता आदि सामाजिक तथ्यों ने गौतम के विचारों को झकझोरा। उन्हें सत्य, अहिंसा, गुरुजन सेवा आदि से सम्बन्धित साहित्य से प्रेरणा प्राप्त हुई और उन्होंने स्वयं एतद्विषयक साहित्य का निर्माण किया। इस प्रकार समाज क्रमशः उनके विचारों से सम्बन्धित साहित्य से प्रभावित हुआ और कालान्तर में उनके विचारों ने अनाथ समाज को भी प्रभावित किया। भारत में बौद्धधर्म का प्रचार इतना बढ़ा कि इतर धर्मों का नाम भी कम सुनाई पड़ने लगा। यह सब साहित्य का ही प्रभाव था जिसने समाज को प्रभावित किया।

साहित्य का प्रभाव समाज पर विलम्ब से पड़ता है। रूसो, मार्क्स, गाँधी आदि मनीषियों के विचारों पर आधारित साहित्य आज समाज को द्रुतगति से बदल रहा है। स्वतन्त्रता, समानता, आत्मनिर्णय जैसी विचारधारायें समाज को साहित्य ने ही प्रदान की हैं। जिन बातों की कुछ दिन पूर्व कल्पना भी नहीं की जा सकती थी आज वे सामान्य तथा दैनिक उपयोग की वन गई हैं। साहित्य में वह शक्ति है जो समाज को प्रतिक्षण प्रभावित करती रहती है। साहित्य की प्रेरणा से समाज अपना रूप बदलता है और नवीनता प्राप्त करता है।

साहित्य समाज सुधार का साधन है—साहित्य का निर्माण होता है समाज की घटनाओं के आधार पर। उसमें समाज की दशा तथा उसके स्वाभाविक परिणामों का वर्णन होता है। साहित्यकार अपने साहित्य में कल्पना का अपूर्व मिश्रण करके समाज को सुधारने का प्रयत्न करता है। उसकी रचनायें समाज के मस्तिष्क में चिंतन धारा की दिशा में मोड़ उत्पन्न करती हैं तथा समाज उसकी विचारधारा क्रमशः 'मनसा' अर्थात् विचारों से, फिर 'वाचा' अर्थात् वाणी से (भाषण में) तथा कर्मणा

(कार्य रूप में) ग्रहण करने लगता है। इस प्रक्रिया से वह अपनी त्रुटियों का सुधार करता रहता है तथा धीरे-धीरे समाज में फँसे हुए दुर्गुण नष्ट हो जाते हैं। साथ ही अन्य प्रकार के गुणों का विकास भी होता है। मानव स्वभाव अवसर पाकर दुर्गुण को भी ग्रहण कर लेता है या बढ़ा लेता है जिसका सुधार फिर साहित्य के ही माध्यम से होता है। इस प्रकार साहित्य समाज-सुधार का साधन बनता है। उदाहरण के लिये अँग्रेजों के शासन-काल में भारत में जमींदारी प्रथा थी, किसानों, मजदूरों का शोषण होता था, भारतीयों के साथ अनेक दुर्व्यवहार होते थे। समाज का एक बड़ा अंग अभिशापमय जीवन व्यतीत करता था। समाज का रूप विकृत हो गया था। फिर विचारधारा में परिवर्तन हुआ, साहित्य के विभिन्न रूपों में ऐसी रचनायें होने लगीं जिनमें कुरीतियों का नग्न चित्र खींचा गया, उनकी हँसी उड़ाई गई, उनके सुधारों का चित्र खींचा गया तथा समाज की भावी पीढ़ी के लिये भूमिका तैयार की गई। फलस्वरूप समाज के रूप में क्रमशः सुधार होता जा रहा है। इसी प्रकार विदेशियों के अत्याचार से पीड़ित जनता ने साहित्य से भक्ति और अध्यात्मवाद की प्रेरणा पाई तथा उससे संघर्ष करने की शक्ति भी उत्पन्न हुई। इस प्रकार साहित्य युगों से समाज-सुधार का सबल साधन सिद्ध होता चला आ रहा है।

साहित्य में समाज की प्रेरक शक्ति रहती है—साहित्य-निर्माण में कल्पना शक्ति का प्रधान हाथ है। समाज और साहित्य की घनिष्ठता का मूल कारण है मानव प्रवृत्तियाँ। इन्हीं प्रवृत्तियों के संकेत पर दोनों का कार्य आगे बढ़ा है। समाज को प्रेरणा देने वाली शक्ति साहित्य में है। जो कार्य अस्त्र-शस्त्र, बल-पौरुष तथा दबाव आदि से कठिनाई से भी नहीं हो पाता वही कार्य साहित्य से सरलतापूर्वक हो जाता है। किसी भी समाज को बदलने के लिये उसके साहित्य का बदलना आवश्यक है। साहित्य से समाज के नेताओं के मन पर प्रभाव पड़ता है तथा वे क्रमशः अपनी गतिविधि में मोड़ लाते हैं। साधारण लोग जाने-अनजाने में बदलने लगते हैं तथा उनके विचारों को प्रेरणा-शक्ति साहित्य से मिलती है। साहित्य अनेक प्रकार की योजना-निर्माण में सहायक होता है और समाज योजनानुसार अग्रसर होता रहता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी लोग योजना ही बनाते रहते हैं बल्कि जिस प्रकार मस्तिष्क अपनी योजनानुसार शरीर के विभिन्न अंगों से काम लेता है, उसी प्रकार समाज का बुद्धिजीवी वर्ग भी समाज को चलाता है। बिहारी के एक दोहे ने अकर्मण्य तथा विलासिता में लीन महाराजा जयसिंह को कर्त्तव्यपरायण बना दिया। कायरों के हृदय में भी साहित्य वीरता भर देता तथा मनुष्यों की विचारधारा को बदलकर उन्हें नई दिशा प्रदान करता है। रूसो द्वारा निर्मित साहित्य ने संसार को प्रजातंत्र की प्रेरणा दी तथा मनुष्य में समानता और स्वतंत्रता की भावना जगाई। गोस्वामीजी के साहित्य ने समाज में राम को ईश्वर रूप में रमाया और सामाजिक जीवन को व्यवस्थित किया। साहित्य का मुख्य ध्येय होता है आनन्द प्रदान करना तथा समाज का मुख्यतम ध्येय है आनन्द की खोज। अतः दोनों एक दूसरे के पूरक होकर विकास करते हैं तथा परस्पर प्रेरणा-स्रोत बनते रहते हैं। डॉ० गुलाबराय ने ठीक ही कहा है—

"कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक खाद्य मिल जाता है वैसी ही उसकी वृत्ति होती है। वह अपने समय के वायुमण्डल

में घूमते हुए विचारो को मुखरित कर देता है। कवि यह बात कहता है जिसको सब लोग अनुभव करते हैं किन्तु जिसको सब लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव शक्ति औरों से बढ़ी-चढ़ी रहती है।"

उपसंहार—समाज का सांस्कृतिक ढाँचा अनेक कारणों तथा परिस्थितियों के प्रभाव से विकृत हो जाता है। उसके सुधार की अपेक्षा का अनुभव सभी करते हैं। जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक दो पहलू हैं और दोनों के विकास से ही मानव-जीवन सुख, शान्ति और आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। आज जीवन के एकाँगी यानी भौतिकवादी विकास से सम्बद्ध साहित्य का निर्माण अधिक हो रहा है, अतः समाज की उन्नति एकांगी है। आवश्यकता आज आध्यात्मिक विचारधारा की है जिससे जीवन का परमश्रेय (शान्ति) प्राप्त हो सके तथा एतदर्थ आवश्यक है तत्सम्बन्धी साहित्य के प्रचार-प्रसार की अन्यथा मानव जीवन में परम आनन्द को नहीं प्राप्त कर पावेगा।

३. साहित्य समाज का अनुगामी ही नहीं संचालक भी होता है

१—भूमिका, २—साहित्य की परिभाषा और क्षेत्र, ३—साहित्य का समाज पर प्रभाव, ४—ज्ञान के रूप में, आत्मसंस्कार के रूप में तथा प्रेरणा स्रोत के रूप में, ५—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य विवेकशील, बुद्धिमान, सचेत सामाजिक प्राणी है। वह अपने जीवन को समाज के अनुरूप बनाता है। समाज का निर्माण व्यक्तियों के मिलने से होता है। यह भी कहा जा सकता है कि समाज व्यक्तियों की सामूहिक संस्था है। समाज का निर्माण प्रारम्भ में तो स्वाभाविक रूप से आवश्यकतानुसार हुआ, किन्तु आगे चलकर लोगों ने परिस्थितियों का सामना करने के लिये समाज का निर्माण सचेष्ट होकर किया। अतः समाज का सम्बन्ध व्यक्तियों की सामूहिक प्रवृत्तियों से है। अनेक व्यक्तियों की समान प्रवृत्तियाँ समाज की प्रवृत्ति बनती है। साहित्य का सम्बन्ध समाज से है। जब 'स्वान्तः सुखाय' निर्मित साहित्य समाज के लिये होता है तो समाज सम्बन्धी साहित्य का कहना ही क्या है? समाज ने अपनी विचारधारा को दूसरों को समझाने के लिए तथा दूसरों की विचारधारा को समझने के लिये क्रमशः भाषा का निर्माण किया जिसका स्वाभाविक रूप बोली है। बोलियाँ साहित्य का रूप धारण करके समाज में व्यापक और महत्वपूर्ण साहित्यिक भाषा बन जाती हैं। इस प्रकार साहित्य और समाज का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित हो जाता है। यह दोनों, व्यक्तियों की सामूहिक प्रवृत्तियों के प्रतिरूप में स्थित हैं। अतः दोनों का प्रभाव एक दूसरे पर निरंतर पड़ता रहता है। साहित्य को समाज की गतिविधि के साथ चलना पड़ता है और समाज साहित्य से प्रेरणा लेकर विकास करता है। इसीलिये कहा जाता है कि—**'साहित्य समाज का अनुगामी ही नहीं संचालक भी होता है।'**

साहित्य की कतिपय मान्य परिभाषाएँ—'ज्ञान-राशि के संचित कोष को साहित्य कहते हैं' तथा 'साहित्य समाज का दर्पण है।'—आचार्य महावीर प्रसाद

द्विवेदी। प्रथम परिभाषा का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का व्यक्ति तथा समाजगत ज्ञान ही साहित्य में एकत्र रहता है। इसी से मिलती-जुलती दूसरी परिभाषा है कि जिस प्रकार से दर्पण में मनुष्य या किसी वस्तु का वास्तविक प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, उसी प्रकार 'साहित्य में भी तत्कालीन समाज का यथार्थ प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है।' प्रो० रघुपति सहाय 'फिराक' ने **'साहित्य को जीवन और जीवन को साहित्य माना है।'** इनके मत से जीवन का वास्तविक चित्रण साहित्य में होता है और समाज का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से ही होता है, अतः दोनों का अटूट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।' यह परिभापा भी दोनों के अन्योन्याश्रय को प्रमाणित करती है। अपने व्यापक अर्थ में साहित्य मनुष्य के जीवन से सम्बद्ध सभी विषयों पर लिखित बातों के साथ मिला हुआ है किन्तु अपने गूढ़ अर्थ में साहित्य मानव-जीवन की व्याख्या करता दिखाई पड़ता है। साहित्य के विभिन्न अंग हैं और सभी अंग मानव-जीवन के ही विभिन्न पदों की व्यक्तिगत अनुभूतियों को सामूहिक रूप से प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार समाज से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर साहित्य तैयार होता है। उसका रूप समाज की प्रवृत्तियों के साथ परिवर्तित होता रहता है। समाज के प्रवृत्ति विकास में साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस प्रकार इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता।

साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जड़-प्रकृति से लेकर चेतन प्रकृति तक की गतिविधि का चित्रण साहित्य में स्थान पाता है। समाज से सम्बन्ध रखने वाले विषय जो अनुभूतिपूरक होते हैं, वे सभी साहित्य में आते हैं। साहित्य में एक ओर शक्ति तथा समाज की आर्थिक, ऐतिहासिक, धार्मिक और दार्शनिक भावनाओं का चित्रण मिलता है तो दूसरी ओर उससे सम्बन्धित जड़-प्रकृति का विवेचन तथा उसके भावों का वर्णन होता है। मनुष्य के विभिन्न अवयवों में मन ही सबसे प्रधान अवयव है और इसी मन की कहानी साहित्य कहता है। मन का प्रभाव समाज में भी रहता है

समाज का प्रभाव साहित्य पर हर क्षण पड़ा करता है। एक युग था जब मनुष्य का जीवन सरल था। उसमें विश्वास था, उसमें प्रकृति की सत्ता पर श्रद्धा और आसक्ति थी, अतः वह उसकी विभिन्न शक्तियों की पूजा करता था। यही कारण है कि प्रायः सभी प्राचीन धर्मग्रन्थों में प्रकृति पूजा की भरमार है। उस युग का मनुष्य प्रकृति को देवता मानकर पूजता था। जीवन सरल था, सांसारिक संघर्ष मनुष्य को उनके जीवन के तीसरे पहर में थका देता था और वह आत्म-चिन्तन में लीन होने की प्रेरणा ग्रहण करता था। इसे पुनर्जन्म में विश्वास था, ईश्वर की कृपा में विश्वास था और वह उसकी शक्ति को अजेय मानता था। अतः उस युग के साहित्य में इन सभी बातों का विवरण मिलता है। **वैदिक-साहित्य घोषणा करता है** —प्रकृति पूजा की वर्णाश्रम धर्म पालन की देवोपासना की, विराग संन्यास की तथा तत्कालीन समाज से सम्बन्धित अन्य सहस्रों बातों की। क्रमशः समाज की प्रवृत्तियाँ

बदलने लगीं और उसी के अनुरूप साहित्य में भी परिवर्तन आता गया। राष्ट्रों का निर्माण हो चुका था अतः साहित्य ने समाज पर धर्मशास्त्रों तथा नीति-ग्रन्थों द्वारा अनुशासन करना प्रारम्भ कर दिया था। फलतः समाज स्मृतियों का शासन मानने लगा। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के नियमों का अंकुश लग गया और समाज नियमित गति से विकास करने लगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर तो साहित्य समाज का अनुगामी होकर चलता है और दूसरी ओर समाज पर अंकुश भी लगाता है। समाज साहित्य से विभिन्न प्रकार की प्रेरणा भी ग्रहण करता है। अधिक शक्ति, गुण और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों के प्रति पूज्य भावना का विकास साहित्य का फल है। देवताओं की पूजा शक्ति के कारण होती है, अतः उसी के अनुसार शक्तिशाली व्यक्तियों की पूजा होने लगी। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में समाज साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करता है। मनुष्य का दुख-सुख, हर्ष-विषाद, प्रेम-बैर, हानि-लाभ, मान अपमान सभी साहित्य में मिलता है। इस सभी भावनाओं का समाज में सम्मान है। साहित्य ज्ञान का संचित भण्डार माना गया है। समाज के प्रत्येक सदस्य को ज्ञान की आवश्यकता रहती है और वह ज्ञान भी साहित्य से ही प्राप्त होता है। समाज का सम्बन्ध जीवन की वर्तमान परिस्थितियों से ही सीधा रहता है, किन्तु विगत समाज की स्थिति का ज्ञान उसे साहित्य ही से प्राप्त होता है। अब जैसा साहित्य होगा वैसा ही समाज का व्यवहार होगा।

मध्य-काल में राजनीतिक परिवर्तनों के कारण समाज का रूप बदल रहा था। उसका परिवर्तन तो आवश्यक था, पर किस आधार पर हो, यह समस्या थी। उस समाज का पथ-प्रदर्शन साहित्य में व्यक्त भावना ही थी। भक्ति, ज्ञान, दर्शन आदि विषयों का विवेचन पूर्वकालीन साहित्य में हो चुका था। अतः उससे प्रेरणा प्राप्त कर तत्कालीन समाज अपना रूप परिवर्तित करता चला गया। आज भी समाज प्राचीन साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर बढ़ रहा है। यदि ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि आज के तर्क प्रधान, आर्थिक मान्यताओं से व्याप्त युग में भी समाज साहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर रहा है। तुलसीदासजी का 'मानस', सूरदासजी का 'सूरसागर' समाज का संचालन किस प्रकार से कर रहे हैं, यह सर्व विभिन्न है। साहित्य समाज के अनुसार बनता, यह तो निश्चित ही है क्योंकि समाज की ही प्रवृत्तियाँ उसमें चित्रित होती हैं, किन्तु सामाजिक प्रवृत्तियाँ साहित्य द्वारा ही संचालित होती हैं।

कौन नहीं जानता कि बिहारी की दो पंक्तियों ने जयपुर नरेश महाराजा जयसिंह की जीवन दिशा बदल दी—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यह काल।
अली कली ही सौं बँध्यो आगे कौन हवाल॥"

जो कार्य बड़े-बड़े मन्त्री नहीं कर सके वह इस दोहे ने कर डाला।

आधुनिक युग के विषय में भी यही बात चरितार्थ होती है। इस युग की महत्व-पूर्ण घटनाओं के मूल में भी साहित्य की प्रेरणा किसी भी रूप में विद्यमान है।

उपसंहार—साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। साहित्य में जब वीररस की रचनाओं की प्रथा थी तब समाज में वीरों का सम्मान था तथा उसकी उपादेयता थी किन्तु ज्यों-ज्यों वीरों का मान घटने लगा, त्यों-त्यों वीररस की कविताएँ

कम होने लगीं। लेकिन लोगों को वीर बनाने में साहित्य का हाथ रहा है। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि जिस देश का साहित्य उन्नत नहीं वहाँ समाज भी उन्नत नहीं बन सकता। अतः यह सत्य है साहित्य समाज का अनुगामी ही नहीं संचालक भी है।

४. साहित्य और जीवन

१—भूमिका, २—साहित्य प्रकृति की अनुकृति, ३—प्राचीनकाल के साहित्य जो मृत माने जाते हैं, ४—साहित्य का जीवन, ५—उपसंहार।

भूमिका—महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त ने कहा कि **'सरिता में भी जीवन है जिससे सरिता सरिता है।'** जीवन का अर्थ है—'गतिशीलता'। जिस वस्तु में गतिशीलता नहीं, वह निर्जीव है, अचेतन है, जड़ है। प्राणी मात्र को जीवित तभी तक माना जाता है जब तक उसमें आन्तरिक और बाह्य गतियाँ रहती हैं। जब गति रुक जाती है तब प्राणी निर्जीव या मृत माना जाता है। प्रकृति के सभी तत्व, शरीर के सभी अंग ज्यों के त्यों रहते हैं पर गति न रहने से जीवन का अभाव माना जाता है। इसी प्रकार साहित्य में भी जब तक गति रहती है तभी तक वह सजीव माना जाता है। **'साहित्य का जीवन'** कहने का अर्थ हुआ—साहित्य की गतिशीलता या उसकी प्रगति, साहित्य जब से प्रारम्भ होता है और जब तक उसमें विकास होता रहता है तब तक वह जीवित कहा जाता है और जब विकास रुक जाता है तो उसे 'मृत' संज्ञा प्राप्त हो जाती है। विश्व में अब तक न जाने कितने साहित्यों का जीवन समाप्त हो चुका और कितने अभी वर्तमान हैं तथा कितने आने वाले हैं।

साहित्य प्रकृति की अनुकृति है—प्रकृति में गति है, विकास है, परिवर्तनशीलता है अतः वह सजीव है। साहित्य प्रकृति की अनुकृति है। इसमें प्रगति है, विकासशीलता है, परिवर्तन-शक्ति है अतः सजीव साहित्य में जड़ और चेतना का अपूर्व चित्रण है तथा उसके निर्माण का उद्देश्य मानव कल्याण, मानव उपयोग तथा मनोरंजन होता है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य अपने विचारों का संग्रह साहित्य में करता आ रहा है। जब तक साहित्य जनसाधारण के सम्पर्क में रहता है तथा सामान्य लोग उसका प्रयोग अपने दैनिक जीवन में करते रहते हैं। तब तक उसमें निरन्तर नवीन परिवर्तन होते रहते हैं। किन्तु जब विद्वानों की प्रतिभा से बने नियमों से जकड़कर साहित्य रूढ़ि का रूप धारण कर लेता है और सामान्य लोगों से हटकर वह केवल विद्वानों की मण्डली में सीमित हो जाता है तब उसकी गतिशीलता क्रमशः घटने लगती है। कालान्तर में यह गतिशीलता समाप्त हो जाती है और वह साहित्य मृत साहित्य कहा जाने लगता है। उसमें प्रकृति को नवीन रूपों में व्यक्त करने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है। जो साहित्य निर्जीव हो जाता है उसका अध्ययन कर समाज भी निर्जीव हो जाता है।

सृष्टि का क्रम शाश्वत—मानव-जीवन की कल्पना प्रायः सभी धर्मों में सृष्टि के प्रारम्भिक काल से ही मानी जाती है। यही कारण है कि प्रायः सभी धर्मों में उनके धार्मिक ग्रन्थों का साहित्य प्राचीनतम माना जाता है। वैज्ञानिक तथा विकासवादी

सृष्टि का विकास क्रमिक मानते हैं। उनके मतानुसार मानव सृष्टि का क्रमिक विकास हुआ। मानव-सृष्टि विकसित जीवकोटि है तथा मनुष्य की सन्तान है। दोनों सिद्धान्तों के मूल में क्रमशः विश्वास और तर्क ही की सत्ता है। दूसरे विकासवादी सिद्धान्त के मूल की ओर बढ़ने पर क्रमशः प्रकृति की नैसर्गिक शक्ति पर विश्वास करना पड़ता है अतः विश्वास के आधार पर स्थित धार्मिक सिद्धान्तों को बनाने से सुविधापूर्वक मानव सृष्टि तथा उसकी अक्षय कृति—साहित्य के विकास-क्रम तथा जीवन को समझने में सरलता होगी। विश्व का प्राचीनतम साहित्य वैदिक साहित्य है। अरबी, फारसी, रोमन, लैटिन, ग्रीक आदि का निर्माण वेदों के रूप का ही माना जाता है। इसके पूर्व की जितनी संस्कृतियाँ या समाज और साहित्य थे वे अतीत के गर्भ में विलीन हो गये। पूर्व ऐतिहासिक-काल में एक युग था जब साहित्यिक रूप में वैदिक भाषा का प्रयोग होता था। उस युग के ऋषियों ने सब ज्ञान के बल से मन्त्रों का निर्माण किया। उन मन्त्रों की रचना भिन्न-भिन्न कालों में विभिन्न ऋषियों ने की। समाज का वितरण तथा उनके जीवन-क्रम में सम्बन्धित विवरण वेदों में संग्रहीत किये गये। जब तक वैदिक साहित्य तथा वैदिक समाज में क्रमबद्धता और अपरिवर्तनशीलता या दूसरे शब्दों में जड़ता नहीं आई थी तब तक सब जीवित था। उस साहित्य के ह्रास के साथ ही संस्कृत साहित्य का विकास आरम्भ हो गया। कालान्तर में संस्कृत साहित्य ने प्रबल होकर वैदिक साहित्य का रूप ग्रहण कर लिया। यही दशा अन्य प्राचीन साहित्यों अरबी, फारसी, लैटिन, ग्रीक, रोमन आदि की भी हुई। आज उन्हें सजीव साहित्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनमें से कोई भी साहित्य प्रगति की प्रवृत्ति नहीं रखता। इनके स्थान पर अनेक उत्तराधिकारी साहित्यों का निर्माण हो चुका है, जिनमें जीवन है और जो प्रकृति की सजीवता के सहयोग करते हुए विकसित हो रहे हैं।

अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, उर्दू, रूसी, चीनी, जापानी, बर्मी आदि सैकड़ों भाषाओं के जीवित साहित्य विभिन्न समाजों में बढ़ रहे हैं। उनमें जीवन का प्रमाण उनके वातावरण के अनुसार गतिशीलता है। १४ वीं शताब्दी में अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं के साहित्यों का जो रूप था आज उसमें बहुत कुछ नवीनता आ गई है। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य के जीवन-क्रम को देखा जा सकता है। वैदिक संस्कृत के पश्चात् ईसा के पूर्व ८वीं, १०वीं शताब्दी से संस्कृत साहित्य में रचनाएँ होती आ रही हैं। बाद में छठी शताब्दी में पाणिनि के व्याकरण द्वारा इसका रूप दृढ़ कर लिया गया तथा ईसा की ७वीं-८वीं शताब्दी में इसकी गतिशीलता के ह्रास के लक्षण दिखाई देने लगे। इस प्रकार के साहित्य का प्रारम्भ भारवि की रचना किरातार्जुनीयम् से माना जा सकता है तथा इसका चरम विकास श्री हर्ष के 'नैषधीयचरित' तक हो गया था। इस बीच में संस्कृत साहित्य की सजीवता घट रही थी। संस्कृत की निर्बल सजीवता के सामने ही नवीन साहित्यों में जीवन तत्व पुष्ट होने लगा। फलतः हिन्दी, बंगला, पंजाबी तथा दक्षिणी भाषाएँ विकसित होने लगीं। फिर भी संस्कृत में शब्द-निर्माण तथा संस्कार की क्षमता है, अतः वह निर्जीव या मृत भाषा (मृत साहित्य) होने से बच गई।

साहित्य और जीवन—साहित्य मानव-जीवन से अभिन्न है। अतः मानव प्रवृत्तियों का तथा प्रकृति के नित परिवर्तित रूपों का चित्रण ही साहित्य का जीवन

है। प्रकृति साहित्य जब तक सजीव रूप में प्रेरणा लेता है, जब तक उसे पोषक तत्व मिलते रहते हैं। प्रकृति का एक स्थल पर वर्णन करते हुए भारवि ने किरात में इन्द्र धनुष के रंगों को जिस रूप में दिखाया है उसका भाव है कि नीले आकाश में हरे रंग के तोते अपनी लाल चोचों में पीली शक्तियों की बालों को लेकर धनुषाकार पंक्तियों में उड़ रहे हैं तो ऐसा मालूम होता है कि आकाश में इन्द्रधनुष दिखाई पड़ रहा है। अब यह चित्र सजीव कहा ज़ायगा क्योंकि इसमें गति है तथा प्राकृतिक जीवन है। इसी प्रकार का जीवन बिहारी के निम्न दोहे में देखिए—

'अधर-धरत हरि के परत, ओठ, दीठि, पट ज्योति।
हरे बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष रंग होति॥

अर्थात् अरुण अधर पर हरी बाँसुरी रखी गई तथा उसे बजाने के लिए सिर झुकाने पर काली पुतली तथा पीले पीताम्बर की आभा उस पर पड़ी और सबके एकत्र होने पर इन्द्रधनुष के रंगों का निर्माण हो गया। इसे कहते हैं सजीव साहित्य। इस प्रकार साहित्य में नवोन्मेषशाली रूप में ही उसके जीवन को देखा जा सकता है चाहे गद्य हो या पद्य हो, नाटक हो या चम्पू हो।

उपसंहार—जीवन का प्रमाण है प्रवृत्तियों की जागरूकता और साहित्य में प्रवृत्तियों की जागरूकता मिलती है, अतः उसका जीवन भी मिलता है।

५. साहित्य में आदर्श एवं यथार्थ

१—भूमिका, २—साहित्य का क्षेत्र, ३—जीवन की व्याख्या, ४—साहित्य में आदर्श का स्थान, ५—साहित्य का यथार्थ सम्बन्ध, ६—साहित्य में आदर्श और यथार्थ का समन्वय, ७—उपसंहार।

भूमिका—अंग्रेजी के **'आइडियलिज्म'** के पर्याय के रूप में आदर्शवाद शब्द का प्रयोग होता है। आदर्श शब्द से आदर्शवाद बना है। आदर्श का अर्थ है—अनुकरणीय उदाहरण। इसमें मानव-जीवन की उच्च भावनाओं का योग रहता है। यही कारण है कि आदर्शवाद की दृष्टि बौद्धिक है। यह जीवन के सूक्ष्मतर मूल्यों को महत्व देता है अतः इस दृष्टि से वह आध्यात्मिक होता है। साहित्य में किसी रूढ़ अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं होता। साहित्यिक आदर्शवाद में मानव जीवन के आन्तरिक पक्षों पर अधिक बल दिया जाता है। आन्तरिक पक्ष में आते हैं—मानसिक सुख, प्रसन्नता, आत्मतोष आदि। आदर्श में जीवन की महान् प्रवृत्तियों की उच्चता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। जीवन का दूसरा पक्ष बाह्य-पक्ष है। इसमें जीवन की भौतिक आवश्यकताओं पर अधिक बल दिया जाता है। इसमें जगत् में स्थूल रूप से घटित होने वाली घटनाओं का विश्लेषण अधिकतर किया जाता है। इसलिए जीवन के सामान्य भौतिक विषयों का चिंतन और वर्णन यथार्थ के अन्तर्गत आता है। हिन्दी काव्य के प्रगतिवाद और प्रयोगवाद यथार्थवाद के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार साहित्य में आदर्श और यथार्थ दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। दोनों जीवन के आन्तरिक और बाह्य दोनों पक्षों से सम्बन्धित हैं, तथा दोनों ही उसकी व्याख्या करते हैं।

साहित्य का क्षेत्र—साहित्य का क्षेत्र अति व्यापक है। दवाइयों तथा सिनेमा के ब्यौरों से लेकर जीवन और जगत् की सभी वस्तुएँ साहित्य का विषय बन सकती हैं। इस प्रकार कोई ऐसा विषय बचता ही नहीं जिस पर साहित्य न लिखा जा सके। किन्तु साहित्य शब्द का प्रयोग सीमित अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसका प्रयोग प्रायः जीवन से सम्बन्धित काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि विषयों पर लिखी गई रचनाओं के लिए होता है। **साहित्य की व्यापक व्याख्या है—सहित + यत् प्रत्यय = साहित्य यानी शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव यानी साथ होना।** इस प्रकार सार्थक शब्द मात्र साहित्य होता है। इस व्यापक परिभाषा में मनुष्य के विचारों और भावों की समष्टि मुख्य है। फिर शब्द का प्रयोग काव्य के लिए होने लगा। **भर्तृहरि** ने कहा है—'**साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ विषाण हीनः**' इस प्रकार साहित्य, संगीत और कला से खाली व्यक्ति को बिना पूँछ और सींग का पशु माना गया है। अन्य आचार्यों ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है तथा ऐसी ही साहित्य की परिभाषाएँ भी दी हैं। एक विद्वान् ने जीवन को साहित्य कहा है। साहित्य का क्षेत्र व्यापक होने का एक मुख्य कारण यह भी है कि इसमें आदर्श और यथार्थ का अद्‌भुत मिश्रण मिलता है। इसमें बाह्य और अन्तर जगत् दोनों की व्याख्या होती है।

साहित्य जीवन की व्याख्या के रूप में—साहित्यकार अपनी रचना में विश्व की अपेक्षित वस्तुओं का चलन करके उनका चित्रण तथा जीवन से उनके सम्बन्ध की व्याख्या करता है। प्रकृति-वर्णन तक को कवियों ने जीवन के लिए सापेक्ष बताया है। प्रायः सभी साहित्यकार अपनी रचना में आदर्शवादी अथवा मिश्रित दृष्टिकोण अपनाते हैं। हिन्दी में **गोस्वामी तुलसीदास** तथा भक्तिकाल के अन्य कवियों की दृष्टि अधिकांशतः आदर्शवादी ही रही है। उनके सामने जीवन का एक आदर्श था। वे अपने तथा औरों के भी जीवन के लिए एक निश्चित लक्ष्य (मोक्ष प्राप्ति) को ही अपना आदर्श मानते थे, उसी आदर्श पर चलने की वे राय भी देते थे। इसी आदर्श के कारण उनकी रचनाओं में आध्यात्मिक तथ्यों की अधिकता है तथा भगवद्‌भक्ति की प्रधानता है। रीति-काल में सामन्तवादी प्रवृत्तियों की प्रबलता के कारण आदर्शवाद को प्रश्रय नहीं मिला सका। यह युग ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति का था अतः इसे यथार्थवाद भी नहीं कह सकते। वास्तव में **यथार्थवाद का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से माना जा सकता है,** जिसका रूप उत्तर-छायावाद काल की प्रगतिवादी रचनाओं में देखा जा सकता है। वे जीवन के व्यावहारिक और भौतिक पक्ष से ही अधिकांश में सम्बद्ध हैं। प्रयोगवादी कवि जीवन की जटिल समस्याओं से सम्बन्धित विविध प्रयोगों में लगे दिखाये गये हैं। वे अन्वेषणकर्ता हैं। इस प्रकार ये लोग यथार्थवादी कहे जाते है। संक्षेप में, पूरे साहित्य में आदर्श और यथार्थ भरे पड़े हैं। **कबीर** का दृष्टिकोण अधिक यथार्थवादी कहा जाता है परन्तु उनमें भी आदर्श की झलक आध्यात्मिक रूप में मिलती है। इस दृष्टिकोण के कवियों में दोनों का मिश्रित रूप प्राप्त हो सकता है। **मुन्शी प्रेमचन्द** तथा अन्य उपन्यासकारों का साहित्य यथार्थवादी कहा जा सकता है। कारण उन लोगों ने जीवन के स्थूल और भौतिक तत्वों का विश्लेषण किया है। पर उसमें भी जीवनक्रम के प्रति एक आदर्श है ही। इस प्रकार साहित्य कभी भी आदर्श और यथार्थ से खाली नहीं रह सकता। हाँ यह प्रायः देखा जाता है कि किसी युग में आदर्श की

प्रधानता हो जाती है तो उसके बाद उसी की प्रतिक्रिया के रूप में यथार्थ की प्रबलता आ जाती है। इस प्रकार परिवर्तन होता रहता है। यदि आदर्शवाद सूक्ष्म कला को प्रश्रय देता है तो यथार्थवाद स्थूल कला का समर्थक है।

साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद का स्थान—साहित्य को विद्वानों ने चतुर्वर्ग फल प्राप्ति का यानी अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति का साधन माना है। मानव-जीवन के ये ही प्राप्य विषय हैं। इसमें काम और अर्थ का सम्बध भौतिकता से अधिक है तथा धर्म और मोक्ष का आध्यात्मिकता से। आदर्श का उपयोग धर्म और मोक्ष से अधिक सम्बन्धित है। मानव-जीवन में देवी और आसुरी दो प्रकार की प्रवृत्तियों का मिश्रण है। देवी सम्पदा को प्राप्त करने का साधन आदर्श से प्रेरित और अनुप्राणित होता है। हिन्दी साहित्य के पूर्वमध्यकाल तथा छायावादी युग में आदर्श की प्रमुखता रही है। जीवन के लिए कवियों ने अनेक अनुकरणीय और मधुर विधानों की कल्पनायें की हैं। उनके फलस्वरूप जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति भी माना है। भक्तिकाल का भक्त कवि अपने आराध्य देव से सामीप्य आ आत्मीयता की स्थापना करके आनन्द प्राप्त करता था तथा भौतिक जीवन से क्रमशः विरक्त होता जाता था। रीति-काल में आदर्श और यथार्थ दोनों मिलते हैं पर स्पष्ट रूप से किसी भी दृष्टि कोण का समर्थन नहीं किया गया है। फिर द्विवेदी युग में यथार्थवाद ने आदर्शवाद को आच्छादित कर लिया। 'हरिऔध', 'गुप्त जी', 'पाठक जी' आदि की कविताओं में यथार्थ की स्पष्ट झलक हैं। भागवत् में कथा आई है कि इन्द्र ने कोप करके ब्रज पर प्रलयकारी भीषण जल-वृष्टि की तथा कृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत को उठाकर ब्रज-वासियों तथा गोपालों की रक्षा की। इस घटना को उपाध्याय जी ने मोड़कर यों कह दिया कि कृष्ण जी उस भीषण जल-वृष्टि में इतनी तत्परता से सबकी रक्षा कर रहे थे कि लोगों ने कह दिया कि पर्वत को उठाये हुए हैं। यह कथन प्रस्तुत घटना का यथार्थवादी रूप है।

छायावादी युग में 'पन्त', 'प्रसाद', 'निराला' और 'महादेवी जी' ने फिर आदर्शवाद को कल्पनानुप्राणित रूप में अपनाया। इन लोगों की कविताओं में जीवन का एक दृष्टिकोण है, जो आदर्शवादी ही है। इनमें सौन्दर्य, दर्शन, राष्ट्रीयता आदि के तत्वों की प्रमुखता है तथापि इन कवियों को आध्यात्मिक नहीं कहा जा सकता। इसी छायावादी खेवे के कवियों में ''पन्त', निराला' आदि अनेक ने आगे चलकर यथार्थवादी दृष्टिकोण अपना लिया। पन्तजी की 'ग्राम्या', और 'युगवाणी', निराला जी की 'वह तोड़ती पत्थर...' तथा 'भिखारी' आदि कविताएँ यथार्थवादी ही हैं। भगवती चरण वर्मा की 'भैंसा गाड़ी' आदि अनेक कविताएँ इसी कोटि की हैं। संक्षेप में आदर्श और यथार्थ से पूरा साहित्य भरा पड़ा है।

साहित्य में यथार्थ और आदर्श का समन्वय—साहित्य में यथार्थ और आदर्श का मिश्रण अधिक मिलता है। साहित्यकार अपनी रचना में वास्तविक रूप से घटित होने वाली घटनाओं का चित्रण करता है। उस घटना विशेष के लिए जो कारण तथा परिस्थितियाँ होती हैं उनका यथातथ्य वर्णन करता है। इस प्रकार समाज के प्रायः सभी वर्गों की रूपरेखा खड़ी कर देता है। सभी वर्णन नग्न रूप में यथार्थ होते हैं। अब वह किसी पात्र द्वारा या वातावरण निर्माण द्वारा आदर्श को चित्रित करता है तथा

उसका समर्थन करके आदेश पालन का परिणाम आनन्दमय दिखाता है। इस प्रकार आदर्श एवं यथार्थ का मिश्रण साहित्य की अमूल्य निधि है। मुन्शी प्रेमचन्द आदि के उपन्यास तथा अन्य सैकड़ों काव्य-ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं। जब साहित्यकार यथार्थ या आदर्श किसी एक की उपेक्षा कर देता है तो एकांकी हो जाता है और उसे स्थायित्व तथा लोकप्रियता नहीं प्राप्त होती।

उपसंहार—साहित्य जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति है। जीवन में आदर्श और यथार्थ दोनों एक साथ और अलग-अलग दोनों ही रूपों में मिलते हैं जीवन के मानसिक तथा अध्यात्म-विषयक कार्य-कलापों में आदर्श का ही महत्व है तथा उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी होता है। इस दृष्टि से जीवन की उच्च भावनाओं तथा पारलौकिक मान्यताओं का अधिक मूल्य होता है। साथ ही साथ जीवन की स्थूल भौतिक परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं होती। यथार्थ जीवन में विश्व की अनेक समस्याएँ आती हैं जिनसे जीवन बराबर संघर्ष करता रहता है। इस संघर्ष का चित्रण साहित्य का एक मुख्य ध्येय है और होता है।

देवों की विजय, दानवों की हार का युद्ध होता रहा। यहीं देवासुर संग्राम जीवन में क्षण-प्रतिक्षण चलता रहता है। आदर्शवाद के चरम बिन्दु पर पहुँचा हुआ है देव और यथार्थवाद के शिखर पर है दानव और दोनों का मिश्रण है मानव तथा उसके जीवन की व्याख्या है साहित्य। यही साहित्य में आदर्श एवं यथार्थ है।

६. काव्य में अलंकारों की आवश्यकता और उनका स्थान

१—भूमिका और परिभाषा, २—काव्य के अवयव (शब्द और अर्थ), ३—काव्य का स्वरूप सजाने का प्रसाधन, ४—अलंकारों की आवश्यकता—(क) चमत्कार उत्पन्न करने के लिए, (ख) प्रभावोत्कर्ष के लिए, (ग) गूढ़ता को सरलता प्रदान करने के लिए, (घ) उसको प्रभावशाली बनाने के लिए, ५—काव्य में अलंकारों का स्थान, ६—उपसंहार।

भूमिका और परिभाषा—मनुष्य अपने भावों, विचारों और अनुभूतियों को वाणी द्वारा व्यक्त करता है। संसार में ईश्वर ने सभी को वाणी प्रदान की है। परन्तु किसी-किसी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति की ही वाणी काव्य कही जाती है न कि सभी की। काव्य को "**कवि-क्रम**" कहा जाता है। कवि का अर्थ है अपनी कल्पनामय सृष्टि निर्माण में वह किसी का ऋणी नहीं होता। इसलिए उसे सर्वज्ञ और द्रष्टा भी कहा गया है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को भी कवि कहा गया है। इस प्रकार कवि का स्थान बहुत ऊँचा है। अग्नि पुराण में कहा गया है—'**अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।** इस प्रकार कवि-कर्म ही काव्य संसार है। काव्य की अनेक प्रकार की परिभाषायें दी गई हैं, यथा—

(i) **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**'—(काव्यालंकार १ : १६) मामह। इन्होंने शब्द

और अर्थ के समवाय को काव्य माना है। वामन ने काव्य को दोषरहित और अलंकार सहित माना है।

(ii) 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणवलंकृती: पुन: क्वापि'—मम्मटाचार्य।

(iii) 'निर्दोषा लक्षणावती सरीतिगुणभूषिता, सालंकार रसानेकवृत्तिर्वा काव्य-नामभाक्—चन्द्रालोक।

(iv) 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्—साहित्य दर्पण।

(v) 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द काव्यम्,— रसगंगाधर।

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने काव्य की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। एक अंग्रेज विद्वान ने Poetry is the criticism of life' कहा है; किसी ने काव्य को पवित्रीकृत जीवन की अभिव्यक्ति माना है, इस प्रकार की काव्य की अनेक परिभाषायें दी गई हैं। किन्तु सभी परिभाषाएँ चमत्कार और मनोरंजन दोनों तत्त्वों को समेटे हुए हैं।

संस्कृत आचार्यों की दृष्टि में अलंकार—संस्कृत के आचार्यों ने अलंकारों को काव्य का महत्वपूर्ण अंग माना है। उसके अनुसार काव्य पुरुष की शोभा को बढ़ाने वाले साधन अलंकार कहे गये हैं—'काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकरान् प्रचक्षते' तथा 'अलंकृति: अलंकार:' यानी काव्य को सजाने वाले तत्व अलंकार कहे जाते हैं। इसी प्रकार व्यापक अर्थ में काव्य ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलंकार' यहाँ काव्य को अलंकारों के कारण ग्राह्य माना गया है तथा अलंकारों को ही सौन्दर्य कहा गया है। रुद्रट ने कवि प्रतिभा से अभिव्यक्त कथन विशेष को अलंकार माना है। अन्य आचार्यों ने भी इस मत का समर्थन किया है। इस तरह की अनेक परिभाषाओं में सभी ने काव्य के चमत्कारोत्पादक तत्व को अलंकारों की गुण (धर्म) माना है। इसी मत का समर्थन **आचार्य केशवदास** का दोहा भी करता है—

'यद्यपि जाति सुलच्छनी, सुबरन सहित सुवृत्त।
भूषन बिना न सोहई, कविता बनिता मित्त॥'

अत: अलंकारों को कविता का बाह्य धर्म और भाषा का गुण कहा जा सकता है। काव्य में शब्द अर्थ दोनों का समन्वित प्रभाव भावाभिव्यक्ति करता है। अत: इन्हीं दोनों की शोभा वृद्धि करने के कारण अलंकार भी तीन वर्गों में **शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार** के रूप में विभाजित किये गये हैं। कवि अपनी कविता में चमत्कार लाने के लिए अलंकारों का प्रयोग करता है और कथन में विशेषता लाकर उसे अधिक प्रभावशाली और ग्राह्य बना देता है। श्रोता और पाठक अलंकारों की सहायता से कविता में अपने मत को अधिक रमा पाता है।

काव्य के अवयव—शब्द समुदाय (वाक्य) ही भावों को अभिव्यक्त करता है और सीधे ढंग से कहे हुए वाक्यों का कोई विशेष प्रभाव और महत्व नहीं होता। अत: काव्य भाषा में कथन विशिष्टता का बड़ा महत्व है। अरस्तू का कहना है कि अलंकारिक प्रयोग द्वारा कथन में अनेक गुण, सौष्ठव तथा चमत्कार उत्पन्न हो जाते हैं। वैसे तो प्राय: सभी आधुनिक तथा अनेक प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य का मुख्यतम स्थान (आत्मा का) रस को ही दिया है; फिर भी अलंकारों के महत्व को भी सभी ने स्वीकार किया है। काव्य में जिन अलंकारों के प्रयोग से शब्दों में चमत्कार

उत्पन्न होता है उन्हें शब्दालंकार कहते हैं, जिनके प्रयोग से अर्थ में चमत्कार आता वे **अर्थालंकार** हैं तथा जिनके प्रयोग से शब्द और अर्थ दोनों में चमत्कार आते हैं उन्हें उभयालंकार कहा गया है। शब्दावली को सजाने में **अनुप्रास, यमक** आदि बड़े सहायक होते हैं तथा काव्य में **नाद सौन्दर्य** उत्पन्न कर काव्य को कर्णप्रिय बना देते हैं। जैसे—

रनित भृङ्ग घण्टावली, झरित दान मधु नीर।
मन्द-मन्द आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर॥ —बिहारी

इसी भाव को यदि कवि 'मधु' (पराग) बिखेरता हुआ कुंज का समीर आ रहा है', कह देता तो भावाभिव्यक्ति में न तो आकर्षण होता, न चमत्कार आता और न प्रातःकालीन वायु का चित्र ही खिंच पाता। इसी प्रकार से जनक के रम्य-आराम में श्रीसीता जी के आभूषणों की ध्वनि सुनकर लक्ष्मण से वार्तालाप करते हुए राम द्वारा गोस्वामी जी ने किस शब्दावली का प्रयोग कराया है। देखिये—

'कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा विश्व विजय चह कीन्हीं॥'

इसी बात को यदि सीधे शब्दों में कह दिया होता तो काव्य-सौन्दर्य नहीं आ पाता और न तो सीधी शब्दावली हृदय को गुदगुदा ही पाती। अतः शब्द और अर्थ दोनों में सौन्दर्य लाने के लिये कवि अलंकारों का प्रयोग करता है।

अलंकार काव्य का स्वरूप सजाने का प्रसाधन है। काव्य-पुरुष का शरीर है भाषा और आत्मा है रस। जिस प्रकार सुन्दर अवयवों से युक्त, सुन्दर वर्ण वाली तथा सुन्दर आत्मा वाली नायिका आभूषणों के अभाव में आकर्षक नहीं प्रतीत होती उसी प्रकार अलंकार विहीन कविता-कामिनी भी मनोहर नहीं बन पाती, उदाहरणार्थ चैत्र का पूर्ण चन्द्र अपनी शीतल और उज्ज्वल किरणों में चमक रहा है, उसी क्षण नायक ने जाने की चर्चा कर दी। नायिक उसे रोकना चाहती है और कहती है—

'लखि चैत को चाँदनी चाह भरी चरचा चलिबे की चलाइए ना।'

प्रस्तुत वाक्य में अलंकारों के प्रयोग से कितनी मुग्ध भावना द्वारा गमनाक्षेप व्यक्त हो रहा है? इसी भाव को यदि वह यों—'बड़ा सुन्दर चैत का चन्द्र है इससे जाने की बात मत करो' कहती तो इस वाक्य में किसी प्रकार रस नहीं आ पाता और न उसके श्रोता या पाठक के हृदय में आनन्द ही उत्पन्न हो पाता। अब थोड़ी काकु-वक्रोक्ति की महिमा देखिये, जहाँ शब्द उच्चारण की ध्वनियाँ शब्दार्थ से भिन्न भावार्थ व्यक्त कर देती हैं। वन की कठोरता तथा विपरीत वातावरण से सम्भावित दुःखों के कथन द्वारा राम जानकी को वन जाने से रोकना चाहते हैं पर वह साथ जाना चाहती हैं। उनकी बातों को मौन रूप से स्वीकार भी कर लेती हैं फिर भी उन दुःखों को अपने तथा राम के लिए उभयनिष्ठ मानकर कहती हैं—

"हौं सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुमहिं उचित तप हम कहँ भोगू ?"

इस चुभते व्यंग्य में मार्मिक भावना का सागर उमड़ रहा है। सीता राम के लिये सह्य वातावरण को अपने लिये भी सह्य मानती हैं क्योंकि वे भी तो उसी प्रकार की राजकुमारी हैं। जब दोनों में हर प्रकार का साम्य है तो दोनों समान रूप से सुख-दुःख सह सकते हैं। पर यदि राम सीता को सुकुमारी कहकर वन के अयोग्य

बताते हैं तो सुकुमार राम वन जाने के योग्य कैसे हो सकते हैं? उन्हें यदि तप उचित है तो सीता को भी भोग कैसे उचित हो सकता है? इन विपरीत बातों को कहकर वास्तव में यह व्यक्त कर दिया कि यदि आप वन की कठोरता सहन कर सकते हैं तो मैं भी कर सकती हूँ। जो बातें आपके लिये उचित है वही मेरे लिये भी, क्योंकि मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूँ। इस प्रकार की अनेक भावनाएँ व्यक्त हो गईं; यद्यपि—मैं सुकुमारी हूँ और आप वन के योग्य हैं तब आपको तप करना उचित है और मुझे भोग करना है, यह शब्दार्थ महत्वहीन हो गया और अलंकारों ने चमत्कारपूर्ण अर्थ व्यक्त कर दिया। इस प्रकार काव्य अलंकारों द्वारा सजता है तथा रमणीय बनकर रसोत्कर्ष में सहायक होता है। इस प्रकार अलंकारों की आवश्यकता भी सिद्ध हो जाती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कविता को मर्मस्पर्शी, चमत्कारपूर्ण, सहज ग्राह्य तथा मनोहर बनाने के लिए अलंकार आवश्यक हैं। इनकी अन्य उपयोगिता है कि बातें संक्षेप में कही जायँ।

गूढ़ तथा लम्बे-लम्बे प्रसंग अलंकारों द्वारा थोड़े में सरलता से व्यक्त कर दिये जाते हैं। ऊपर के उदहरणों में ये तथ्य देखे जा सकते हैं। कहीं-कहीं चमत्कार वृद्धि के लिए कवि अलंकारों का प्रयोग करता है जिससे सामान्य बात विशेष बन जाती है। जैसे—"धन में मद अधिक होता है" ऐसी सामान्य बात को बिहारी ने यमक द्वारा कितनी ऊँची बना दी है, देखिये—

'कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
इह खाये बौराय जग, उहि पाये बौराय।

यहाँ सोना और धतूरा दोनों का अर्थ एक कनक शब्द मे व्यक्त किया गया है। मादकता का उभयनिष्ठ गुण दोनों में कहा गया किन्तु दूसरी पंक्ति में व्यतिरेक द्वारा धतूरे से सोने को बढ़ा दिया गया क्योंकि धतूरा पास में रखने पर कोई भी पागल नहीं होता। अब यह अलंकार की ही महिमा है जो इस प्रकार का अर्थ निकल पाया।

प्रभावोत्कर्ष के लिए अलंकारों की आवश्यकता होती है। भूषण को शिवाजी के प्रभाव को बढ़ाकर दिखाना था। उन्होंने उनके प्रभावोत्कर्ष में निम्न छंद कहा है—

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअंब पर
रावन सदमभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन वारि वाह पर, शंभु रतिनाह पर
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।
× × ×
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों म्लेच्छ वंश पर सेर सिवराज हैं॥

कवि ने अनेक उपमाएँ दीं पर उसको सन्तोष नहीं हुआ कि शिवाजी का प्रभाव पूर्णता से व्यक्त हुआ; अतः अन्त में 'तेज तम अंस पर' कहकर ही उसे सन्तोष हुआ। अन्य उपमानों—इन्द्र, बाड़व, राम, पवन, शंभु-परशुराम आदि को अपने विरोधियों के दमन में काफी प्रयास करना पड़ा पर प्रकाश अनप्रयास ही अन्धकार का नाश कर देता है। इसी प्रकार गोस्वामीजी ने भी लिखा है—

**"तौरों छत्रक दंड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जो न करौं प्रभु पद सपथ, धनु न गहौं पुनि हाथ ॥"**

लक्ष्मण द्वारा अनेक—'मेरु मूलक', 'काँचे घट' जैसा उदाहरण दिलवाया पर कवि को सन्तोष नहीं हुआ, क्योंकि उक्त सभी वस्तुओं के तोड़ने में कुछ प्रयास आवश्यक होता था पर 'छत्रक दंड' अनप्रयास ही टूट जाता है। अतः इस उदाहरण पर वे शपथ खा गये। अर्थात् लक्ष्मण के वाक्यों से उनकी अलौकिक वीरता व्यक्त हो गई।

अलंकारों से रस का प्रभाव बढ़ता है। ऊपर के उदाहरणों में वीर रस का प्रभाव अलंकारों के प्रयोग से पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच गया है। इसी प्रकार—

'मधु-सरिता-सी यह हँसी तरल अपनी पीते दहते हो क्यों ?'

प्रस्तुत वाक्य में शृंगार भावना को अलंकारों के प्रयोग से प्रोत्साहन मिलता है।

काव्यों में अलंकारों का स्थान—काव्य में अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके द्वारा कविता में अनेक गुण आ जाते हैं और वे रसानुभूति (आनन्दानुभूति) में सहायक होते हैं। किन्तु काव्य की आत्मा रस है। अतः अलंकार जब स्वाभाविक तथा अधिक गूढ़ हो जाते हैं तब उनकी उपस्थिति रस-परिपाक में बाधक होने लगती है। ऐसी दशा में वे कौतूहल तो उत्पन्न कर देते हैं पर उनका प्रभाव अस्थायी हो जाता है और पाठक अलंकारों के बीहड़ वन में भी भटक जाता है और फलतः उसे रसानुभूति नहीं हो पाती। आचार्य केशवदास तथा बिहारी और देव जैसे हिन्दी-कवियों की रचनाओं में ऐसे अनेक छन्द आये हैं जिनमें रसाभास मात्र हो पाता है परन्तु वहाँ अलंकारों की छटा दर्शनीय है। दूसरी बात यह है कि अलंकारों को पाठक के हृदय में रसानुकूल भावना जगाने में समर्थ होना चाहिए न कि बाधक। अलंकारों की स्वाभाविकता अधिक अपेक्षित होती है। उनमें औचित्य की भावना का समावेश रहना चाहिए। प्रवाह में यदि अलंकारों द्वारा व्याघात उत्पन्न होगा तो वे अनावश्यक बोझ बन जायेंगे अतः अलंकार जब तक खिलवाड़ नहीं बनते, तब तक वे आवश्यक रहते हैं अन्यथा नहीं। अलंकारों के अभाव में काव्य कलाहीन बन जाता है तथा शब्द अर्थ की चारुता घट जाती है।

काव्य में अलंकारों का प्रयोग **प्रकट** तथा **व्यंग्य** दो रूपों में किया जाता है। जिस काव्य में अलंकार मात्र ही **व्यंग्य** होता है वह काव्य मध्यम ही कहा जायेगा, किन्तु यदि उसके साथ रस भी **व्यंग्य** हो अथवा वह रस व्यंजना में सहायक बनता है तो वहाँ उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। संस्कृत साहित्य में अलंकारवादियों के प्रभाव में कविता का स्तर ही बदल गया तथा यह प्रभाव हिन्दी कवियों पर भी कम नहीं पड़ा अतः काव्य में अलंकारों का स्थान महत्वपूर्ण होते हुए भी सर्वोपरि नहीं है।

उपसंहार—काव्य के मुख्य अंगों में अलंकार भी है जो उसे कलात्मकता प्रदान करता है। कविता इनके द्वारा चमक उठती है। अलंकृत कविता हृदय को आकर्षित करने में समर्थ होती है। इसकी धारा को अलंकार कहीं मन्थर, कहीं तीव्र, कहीं शिथिल बनाते चलते हैं। अलंकारों के प्रयोग से कविता की शक्ति बढ़ती है। इससे नीरस उपदेश रमणीय बन जाते हैं। आचार्यों ने इन्हें—**'शोभाकरान् धर्मान्'** ठीक ही

कहा है। पर अलंकार को साध्य नहीं बनाना चाहिए। ये काव्य के सहायक साधन हैं, स्वामी नहीं। जो कवि इन्हें ही साधन मान बैठता है, उसकी कविता उत्तम नहीं कही जा सकती।

७. मेरा मनोनीत कवि—'प्रसाद'

१—भूमिका, २—मनोनीत कवि होने की सामान्य क्षमता, ३—उसका संक्षिप्त जीवन-वृत्त, ४—उसकी काव्यगत विशेषताएँ, ५—उसका साहित्य पर प्रभाव, ६—हिन्दी साहित्य में उसका स्थान, ७—उपसंहार।

**भूमिका—"इस पथ का उद्देश्य नहीं है शान्ति भवन में टिक रहना।
किन्तु बढ़े चलना उस पथ तक जिसके आगे राह नहीं।"**—प्रसाद

मानव-जीवन में साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है, और साहित्य का **प्राण है काव्य**। काव्य की परिभाषा में उसे कवि कर्म भी कहा गया है। संस्कृत में कहा गया है 'अपारे काव्य संसार कविरेव प्रजापति; थदस्मै विश्वं तथैव स परिवर्तते अर्थात् काव्य का संसार अपार है, और उसका स्रष्टा कवि विधाता है। ब्रह्मा को भी कवि कहा गया है। इस प्रकार कवि का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य में वह शक्ति होती है जो सहृदय व्यक्तियों के मन को वशीभूत कर लेती है। काव्य का सीधा प्रभाव पाठक के मन और हृदय पर पड़ता है। कवि की सफलता भी इसी में है कि वह किस सीमा तक पाठक हृदय को अपने रस में डुबा लेता है। इस प्रकार काव्य का मुख्य तत्व रस हो जाता है। इसके साथ ही काव्य को कला भी कहा गया है। अतः उसमें कलात्मकता का भी समावेश स्वाभाविक है। वही कवि सफल है जो अपने काव्य में कला के सहयोग से रस-धारा बहाने में सफल होता है यों तो हिन्दी साहित्य में अनेक कवि हो गये हैं और अब भी उपस्थित हैं, फिर भी मेरा मनोनीत कवि होने की क्षमता 'प्रसाद' जी में ही है। मैं उन्हें ही अपना मनोनीत कवि मानता हूँ। कारण?

मनोनीत काव्य की सामान्य क्षमता—कविता जब अपनी स्वर-लहरी से पाठकों की हृदतन्त्री को झंकृत कर देती है और उसकी भावुकता पाठक के हृदय को रमा लेती है तब वह उत्तम कविता कही जाती है। इसके लिए आवश्यक है कि पाठक कवि की भावधारा में बहने लगे और अपना अस्तित्व भूल जाय। यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जबकि भावना साधरणीकरण द्वारा सबकी भावना बन जाती है—उसकी अनुभूतियाँ सार्वजनिक बन जाती हैं। उसकी रचना में रस और कला का मणिकांचन योग उत्तमता से जब प्रस्तुत होता है तभी वह मनोनीत कवि होता है। **'प्रसाद'** जी रचना में ये तत्व मिलते हैं। उनकी कविता की एक-एक पंक्त पाठक हृदय को अपनी भाव धारा में बहा लेती है। कवि एक स्थल पर **प्रथम परिचय** को स्मरण करते हुए कहता है—

**"मधु राका मुस्काती थी, पहले जब देखा तुमको;
परिचित से जाने कबके, तुम लगे उसी क्षण हमको।"**

इस छोटे से छन्द में प्रथम परिचय का कितना सुन्दर चित्र पाठक के सामने

आ जाता है। मधुर, शीतल ज्योत्स्ना की मुस्कान में प्रिय का प्रथम दर्शन तथा उसका अज्ञात पूर्व परिचित सा जान पड़ना, मानों दोनों पूर्व जन्म के मधुर-परिचय को पुनः दोहरा रहे हैं। यह अनुभूति इतना व्यापक बनकर सामने आती है कि मन रम जाता है। ऐसी सैकड़ों पंक्तियों का रचयिता कवि किसका मनोनीत कवि न होगा ? '**कामायनी**' में कवि प्रातःकाल का चित्र खींचते हुए कहता है कि—'धुलने लगी अब कालिमा, धुलने लगा आलोक'। इस एक पंक्ति में ही कवि ने पौ फटने का कितना मधुर चित्र खींचा है। मनों आकाश मण्डल में व्यापक कालिमा धीरे-धीरे किसी कोमल हाथ से धोकर साफ की जा रही है तथा क्रमशः धुले अंश में प्रकाश घुलता जा रहा है यानी उसमें मिलता जा रहा है। ऐसी पक्तियों का प्रसाद जी के काव्य में बाहुल्य है। इसमें कला और रस दोनों का समुचित योग है। ऐसे कवि के संक्षिप्त जीवनवृत्त को जानना आवश्यक है।

संक्षिप्त जीवन परिचय—विश्वनाथ पुरी (काशी) में सेठ 'सुँघनी साहु' का सम्मानित और सम्पन्न परिवार था। सम्पन्नता का कारण था तम्बाकू का व्यवसाय। इसी परिवार में सेठ देवीप्रसाद का जन्म हुआ और इन्हीं के पुत्र रूप में सम्वत् १९४६ वि० में बाबू जयशंकर प्रसाद का जन्म हुआ। **सेठ देवीप्रसाद** और उनकी सहधर्मिणी की रुचि अत्यन्त धार्मिक थी। अतः 'प्रसाद' जी पर माता-पिता की रुचि का समुचित प्रभाव पड़ा। उस समय उनके यहाँ अनेक साहित्यिकों का आना-जाना लगा रहता था। इससे प्रसाद जी बचपन से ही साहित्यिक रुचि के बन गये। सम्पन्न परिवार में जन्म लेने के कारण इनका बचपन बड़े लाड़-प्यार में बीता। इन्होंने अपनी माता के साथ तीर्थयात्रा की और यात्रा के प्रसंग में उनके सामने कुछ ऐसे दृश्य आये जिनका इनके मन पर अमिट प्रभाव पड़ा। लौटने पर इन्होंने अपना अध्ययन क्रम क्वीन्स कालेज में प्रारम्भ किया। परन्तु ये सातवीं कक्षा से आगे नहीं बढ़ पाये थे कि इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। चार वर्ष बाद इनकी माता भी न रहीं। तत्पश्चात् पारिवारिक परिस्थितियों के कारण इन्होंने कालेज की पढ़ाई छोड़ दी फिर भी इनके बड़े भाई ने घर पर ही इनके अध्ययन का प्रबंध कर दिया। इस प्रकार घर पर ही हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत और उर्दू की इन्होंने अपनी योग्यता प्राप्त कर ली।

इनका पारिवारिक जीवन अधिक सुखी न था। सत्रह वर्ष की आयु में इनके ज्येष्ठ भ्राता **बाबू शम्भुरत्न** का भी स्वर्गवास हो गया, इससे गृहस्थी का भार इन्हें ही सम्भालना पड़ा। इन्होंने अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह किया किन्तु अपनी दानशील प्रकृति के कारण इन्हें कभी आर्थिक चिन्ताओं ने मुक्ति नहीं मिली थी। अन्त में इन्होंने अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध किया और जो कुछ कर्ज हो गया था उसे भी चुका दिया।

प्रसाद जी **धार्मिक प्रवृत्ति के विद्वान** व्यक्ति थे। उनके स्वभाव में मितभाषण, विनम्रता और सहनशीलता का अपूर्व योग था। ये कवि होते हुए भी कवि सम्मेलनों में कम ही जाते थे और सभापति होना भी नहीं पसन्द करते थे। वे साहित्यिक व्यवसायी नहीं थे। 'नागरी प्रचारिणी सभा' तथा हिन्दुस्तानी एकेडमी ने उन्हें क्रमशः २००) और ५००) से पुरस्कृत किया था, किन्तु उन्होंने यह धनराशि 'नागरीप्रचारिणी सभा' को दान रूप में दे दी।

रचनाएँ—'प्रसाद' जी की रचनाओं को निम्नलिखित पाँच वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

१. **उपन्यास**—ककाल, तितली और इरावती (अपूर्ण)।

२. **नाटक**—विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, एक घूँट, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना और ध्रुवस्वामिनी।

३. **कहानी-संग्रह**—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल।

४. **निबन्ध**—काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध।

५. **काव्य**—प्रेम-पथिक, चित्राधार, आँसू कानन-कुसुम, लहर, करुणालय, महाराणा का महत्व, झरना एवं कामायनी।

काव्यगत विशेषताएँ—प्रसाद जी मूलतः कवि प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। अतः उनकी कहानी, नाटक, उपन्यास आदि सभी प्रकार की कृतियों में उनका कवि मुखर हो गया है। ब्रजभाषा से क्रमशः वे खड़ी बोली के काव्य क्षेत्र में आये। उनकी कविताओं में उनके अध्ययन और भावुकता ने मणिकाँचन योग उत्पन्न कर दिये। 'प्रसाद' अपने पाठकों को भावधारा में निमग्न कर देते हैं, यद्यपि उनकी गम्भीरता की थाह लगाना सरल नहीं होता। संस्कृत पदावली का इतना प्रसादमय प्रयोग, प्रसाद जी की ही कविता में प्राप्त होता है। शब्द-चयन, भावाभिव्यक्ति, चित्रांकन, काव्य गुणों—प्रसाद ओज और माधुर्य का योग इनकी कविता की विशेषता है। प्रेम का निर्मल रूप, मनोवृत्तियों की सहज गति, भावनाओं का मार्मिक भाव दिखाने में इन्हें जितनी सफलता प्राप्त हुई है उतनी कदाचित् ही किसी दूसरे कवि को प्राप्त हुई हो किन्तु प्रसाद जी का काव्य बुद्धिजीवी वर्ग को ही विशेष आनन्दित करता है। इनकी कविता में **संगीतात्मकता और ध्वन्यात्मकता** दोनों गुण पाये जाते हैं जैसे

कंकण क्वणित रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार।
मुखरित था कलरव गीतों में, स्वर लय का होता अभिसार॥

सौन्दर्य के प्रति अनुराग—उन्होंने प्रकृति, मानव, भावना आदि विभिन्न क्षेत्रों में सौन्दर्य को देखा और अपनी कविताओं में चित्रित किया। प्रसाद जी वास्तव में प्रेम, माधुर्य और मादक सौन्दर्य के कवि थे। **'मदिर माधव यामिनी का धीरे पद विन्यास'** करते प्रकृति को तथा 'मन की मरोड़ बनकर जगने वाली" लज्जा को प्रसाद ने ही देखा। सांसारिक प्रेम को निखार कर और पाप को पुण्य बनाना भी उन्होंने दिखाया है :

"जगती का कलुष अपावन तेरी विदग्धता पावे।
फिर निखर उठे जीवन में, यह पाप पुण्य हो जावे॥

प्रसाद जी ने **प्रकृति के प्रलयकालीन तथा रमणीय दोनों रूपों को देखा** है। 'कामायनी' महाकाव्य का प्रारम्भ करते हुए आप कहते हैं—

नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।

उन्होंने **भावों और कल्पना के योग से** चित्र खींचकर 'बिम्ब ग्रहण' कराने का सफल प्रयास किया है। लज्जा मन की एक वृत्ति है। उसका मानवीकरण करते हुए प्रसाद जी श्रद्धा द्वारा उससे जिज्ञासापूर्ण प्रश्न पुछवा रहे हैं :—

तुम कौन आ रही हो बढ़ती।
कोमल बाँहें फैलाये-सी, आलिंगन का जादू पढ़ती ॥

ऐसे स्थलों में उनकी प्रतिभा पूर्ण रूप से व्यक्त हुई है। मनोवृत्तियों के चित्रण में इन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। उनका छन्द विधान, अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक और भावानुकूल है। 'छायावाद' को अपनी प्रतीकात्मक और गम्भीर शैली द्वारा उन्होंने सजाया। अपनी शैली के वे स्वयं निर्माता और मधुर संगीत के स्रष्टा थे। हिन्दी साहित्य को उनकी महान् देन है।

(साहित्य में प्रसाद जी का प्रभाव अमिट है। उन्होंने काव्य-शैली को प्रोत्साहन दिया है। काव्य-जगत में अनेक कवियों ने उनका अनुकरण किया है। इस प्रकार सरस्वती की सेवा-आराधना करते हुए वे अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे कि राजयक्ष्मा ने उन्हें पीड़ित करना प्रारम्भ किया। उसी रोग के कारण सं० १९९७ वि० में उनका स्वर्गवास हो गया। वे इतने भाग्यवादी तथा धर्मनिष्ठ थे कि अन्त तक काशीपुरी न छोड़ सके।)

उपसंहार—हिन्दी साहित्य में 'छायावादी' युग अमर रहेगा। इसकी सूक्ष्म कलात्मकता, प्रकृति का मनोहर मानवीकरण, भावों की प्रबलता, कल्पना की जागरूकता सदैव स्मरण की जायगी। प्रकृति के साथ मानवीय भावनाओं का समन्वय, शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग, भाषा की शक्ति, अलंकारों का नवीन स्वतन्त्र विधान, छन्दों की स्वतन्त्र गति सदा महत्वपूर्ण बनी रहेगी। छायावाद के साथ ही साथ प्रसाद जी भी अमर रहेंगे। हिन्दी साहित्य सदैव उनका ऋणी रहेगा। आधुनिक कवियों में गीतकारों का अभाव नहीं है। ('छायावादी' गीतों की अपनी विशेषता है उन विशेषताओं की चरम परिणति प्रसाद जी के गीतों में मिलती है। प्रसाद जी सरस्वती के मन्दिर के अमर गायक थे। इनके निधन के अवसर पर राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने कातर हृदय से कहा था—

'जयशंकर' कहते-कहते अब भी काशी में आवेंगे।
किन्तु 'प्रसाद' न विश्व नाथ का मूर्तिमान हम पावेंगे।
तात, भस्म भी तेरे तन की हिन्दी की विभूति होगी।
पर हम जो हँसते आते थे, रोते-रोते जावेंगे ॥'

८. मेरा मनोनीत लेखक—प्रेमचन्द

१—भूमिका, २—मनोनीत लेखक कौन हो सकता है? ३—मुन्शी प्रेमचन्द का संक्षिप्त जीवन—वृत्त, ४—उनकी कतिपय विशेषताएँ, ५—उनका प्रभाव, ६—हिन्दी लेखकों में प्रेमचन्द का स्थान, ७—उपसंहार।

भूमिका—साहित्य के गद्य और पद्य दो रूप होते हैं। हर भाषा में पहले पद्य का ही उद्भव होता है, फिर क्रमशः गद्य रचना होनी प्रारम्भ होती है। हिन्दी भाषा का भी प्रारम्भिक रूप पद्य में ही मिलता। संस्कृत का युग एक ओर जन-सम्पर्क से दूर होता जा रहा था, दूसरी ओर विभिन्न अपभ्रंशों का विकास हो रहा

था। अर्थात् साहित्य में अव्यवस्था आ रही थी। साहित्य बहुत दिनों तक रूप में चल नहीं सकता। अतः थोड़े समय में ब्रजभाषा ने प्रमुखता प्राप्त कर ली। पूरे उत्तर-भारत के काव्य क्षेत्र में ब्रजभाषा का प्रयोग होने लगा। तुलसी और जायसी जैसे कतिपय महात्माओं के हाथों अवधी-भाषा का भी शृङ्गार किया गया, पर उसे व्यापक महत्व नहीं प्राप्त हो सका। यह स्थिति लगभग विक्रम की बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक बनी रही, यद्यपि दिल्ली, आगरा, मेरठ, मुर्शिदाबाद आदि स्थानों में एक नई बोली पनप रही थी। इसमें प्रारम्भ में अपभ्रंश के समान विभिन्न भाषाओं तथा देशज शब्दों का प्रयोग होता रहा। उक्त स्थानों की छावनियों में विभिन्न प्रान्तों के सैनिक एकत्र होते थे और उनके सहयोग से इसका विकास प्रारम्भ हुआ और भारतेन्दु युग में आकर इसमें रचना होने लगी। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रयत्न से गद्य-पद्य दोनों क्षेत्रों में इसका व्यापक प्रयोग होने लगा तथा रूप भी स्थिर हो गया। उस समय गद्य क्षेत्र में अनेक लेखक आये, जिनमें मुन्शी प्रेमचन्द जी सर्वाधिक लोकप्रिय हुए। वही मनोनीत लेखक हैं जिनके विषय में प्रस्तुत निबन्ध लिखा जा रहा है। उनकी लोकप्रियता का कारण है—उनका लेखन क्षेत्र, उपन्यास और कहानी।

मनोनीत लेखक क्यों ? मनोनीत लेखक वही हो सकता है जिसकी रचनाओं का प्रभाव समाज पर अधिक पड़ता है। समाज की मूल-प्रवृत्ति को पहचान कर सर्वजन की भाषा में सबके मनोनुकूल साहित्य का निर्माण करने वाला लेखक ही मनोनीत हो पाता है। समाज का यथार्थ चित्र खींचने वाला कलाकार जब अपनी रचना में आदर्श का मिश्रण कर देता है तो उसका महत्व और भी बढ़ जाता है। साहित्य का सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य है—पाठकों का मनोरंजन करना, किन्तु यदि मनोरंजन के साथ ही आदर्श-स्थापना भी हो जाये और उसकी उपयोगिता व्यावहारिक जीवन में हो सके तो कहना ही क्या ? मुन्शी जी की रचनाओं द्वारा दोनों उद्देश्यों की पूर्ति होती है। इस प्रकार वे सरलतापूर्वक मनोनीत लेखक हो जाते हैं।

मुन्शी प्रेमचन्द का संक्षिप्त जीवन-वृत—श्रावण बदी १० सम्वत् १९३७ वि० में काशी के निकटस्थ लमही ग्राम में मुन्शी अजायबराय की सहधर्मिणी आनन्दी देवी से प्रेमचन्द का जन्म हुआ। मुन्शीजी एक सामान्य कायस्थ परिवार के व्यक्ति थे। इनका नाम पहले मुन्शी धनपतराय था किन्तु साहित्य में प्रेमचन्द के नाम से विख्यात हुए। अपने सांसारिक जीवन में वे सदा ही सामान्य स्थिति में रहे। सरस्वती के वरद पुत्र मुन्शी प्रेमचन्द जी पर लक्ष्मी की कृपा कभी नहीं रही।

बचपन में एक मौलवी साहब के घर पर ही इन्होंने शिक्षा पाई। ७-८ वर्ष की आयु में इनकी माता का स्वर्गवास हो गया और पिता ने दूसरी शादी कर ली। साधारण व्यावहारिक नियम के अनुसार इन्हें भी विमाता से वास्तविक स्नेह नहीं मिल पाया। ये कुशाग्र बुद्धि के प्रतिभावान बालक थे, अतः प्रारम्भिक शिक्षा के बाद क्वीन्स कालेज बनारस में शिक्षा के लिए प्रवेश किया। ट्यूशन करके तथा साधारण जीवन बिताकर अपना काम चलाते रहे। किसी प्रकार इन्ट्रेन्स उत्तीर्ण करके आप एफ० ए० में पहुँचे और अभाग्यवश अनुत्तीर्ण होकर कालेज त्याग दिया। साथ ही वह अर्थाभाव से और अधिक त्रस्त रहने लगे। कभी-कभी भोजन का भी योग नहीं बैठ पाता था। ऐसे ही एक अवसर पर आप अपनी पुस्तकें बेच रहे थे किन्तु एक

दयालु प्रधानाचार्य की कृपा से इन्हें १८ रु० मासिक वेतन पर अध्यापक की नौकरी मिल गई।

इसके पश्चात् स्वतन्त्र रूप से आपने हिन्दी और उर्दू में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। भाग्य ने साथ दिया और प्रशिक्षण प्राप्त करके इन्सपेक्टर हो गये। फिर बाद में उन्होंने एफ़० ए० और बी० ए० की परीक्षाएँ पास कीं। निरीक्षक पद का सुचारु रूप से निर्वाह कर रहे थे कि सन् १९२१ ई० से **असहयोग आन्दोलन** प्रारम्भ हो गया। इस आन्दोलन ने अनेक भारतीयों को राजकीय सेवा-त्याग की प्रेरणा दी थी, इन्हीं में प्रेमचन्द भी थे। इन्होंने सेवा-वृत्ति त्याग दी और स्वतन्त्र साहित्य-सेवा में लगे। इस बीच थोड़े दिनों के लिए कानपुर के मारवाड़ी विद्यालय में इन्होंने नौकरी कर ली, पर वह भी चल नहीं पाई और फिर भविष्य में इन्होंने कहीं नौकरी नहीं की। आप लखनऊ आ गए और '**माधुरी**' पत्रिका का योग्यतापूर्वक सम्पादन करने लगे।

आपका विवाह ११ वर्ष की छोटी अवस्था में ही हो गया था। पत्नी से आपका स्वभाव एकदम विपरीत पड़ता था, अतः पारिवारिक जीवन सुखमय नहीं रहा, फिर भी परम्परा निभती रही। किन्तु कुछ दिनों के बाद इन्होंने अपनी प्रथम पत्नी का त्याग कर दिया किन्तु उनके निर्वाह का व्यय देते रहे। फिर इन्होंने शिव-रानी देवी नाम की एक शिष्ट और सुशील विधवा महिला से विवाह कर लिया। तब से आपके जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। महात्मा गाँधी के बड़े भक्त थे। आपने '**जागरण**' **और** '**हंस**' नामक पत्रिकाओं का प्रकाशन और सम्पादन किया किन्तु सफलता कम ही मिली।

इसके पश्चात् आपने 'अजन्ता' और 'सिनेटोन' फिल्म कम्पनियों में भी काम किया। यद्यपि वहाँ आपको ८००० रु० वार्षिक की आय होती थी। फिर भी 'मजदूर', 'नवजीवन' और 'शेरे दिल औरत' इन तीनों चित्रों के पश्चात् आप सिनेमा संसार से अलग हो गए। बम्बई से लौटने के बाद आप अधिकतर अस्वस्थ रहने लगे और पर्याप्त चिकित्सा होने पर भी सं० १९९३ वि० में काशीपुरी में आपका स्वर्गवास हो गया।

रचनागत विशेषताएँ—मुन्शी प्रेमचन्द्र उच्चकोटि के उपन्यासकार और कहानी-कार थे। उन्होंने ग्रामीण और शहरी दोनों जीवन का अच्छी तरह अनुभव किया था। दोनों प्रकार के जीवन का इन्होंने अत्यन्त स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण अपनी कृतियों में किया है। इनकी कथा का मुख्य उद्देश्य था—ग्रामोत्थान, भेदभाव निवा-रण तथा समाज-सुधार। यही कारण है कि इनका यथार्थवाद आदर्शोन्मुख दिखाई देता है। इन्होंने अपनी सूक्ष्मदर्शिता तथा कलात्मकता के बल पर उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है। उन्होंने उपेक्षित और दीन हीन कृषकों को उपन्यासों के नायक रूप में ग्रहण किया। जातिगत और वर्गगत अच्छाइयों-बुराइयों का यथातथ्य वर्णन करके समाज का सहज रूप उपस्थित किया।

उर्दू के क्षेत्र से हिन्दी में आकर आपने एक नवीन मार्ग दिखाया। आपने गद्य के प्रायः सभी क्षेत्रों में रचनाएँ की हैं। आपकी रचनाएँ सात वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—

१—उपन्यास—'सेवा सदन;' 'कर्म भूमि', 'काया कल्प', 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा', 'प्रेमाश्रम', 'वरदान', 'रंगभूमि', 'गबन', तथा 'गोदान'।

२—**कहानी**—'सप्त सरोज', 'अग्नि-समाधि', नव-निधि', 'प्रेरण', 'प्रेम-पचीसी', 'प्रेम पूर्णिमा' 'प्रेम प्रसून', 'प्रेम तीर्थ', 'प्रेम प्रमोद', प्रेम द्वादशी, प्रेम चतुर्थी', 'पाँच फूल', 'कफन', 'मानसरोवर' ५ भाग तथा 'प्रेम प्रतिज्ञा'।

३—**नाटक**—'कर्बला', 'प्रेम की वेदी', 'संग्राम', तथा 'रूठी रानी'।

४—**निबन्ध**—'कुछ विचार' और 'निबन्ध संग्रह'।

५—**जीवनियाँ**—'कलम', 'त्याग और तलवार',,'दुर्गादास' तथा 'महात्मा शेखसादी'।

६—**बालोपयोगी**—'कुत्ते की कहानी', 'जंगल की कहानियाँ', 'राम चर्चा' तथा 'मन-मोदक'।

७—**अनुवाद**—'सृष्टि का प्रारम्भ' 'टालस्टाय की कहानियाँ', 'सुखदास', 'अहंकार', 'न्याय', 'चाँदी की डिबिया', 'हड़ताल', 'आजाद-कथा' आदि।

भाषा और शैली—मुन्शी जी की भाषा कहानी, उपन्यास आदि के लिए अत्यन्त उपयोगी और समीचीन है। उसमें प्रवाह, सरलता तथा व्यावहारिकता है। प्रारंभिक रचनाओं को भाषा में काफी त्रुटियाँ मिलती थी, जिसका कारण है उर्दू क्षेत्र से हिन्दी में आना। किन्तु धीरे-धीरे उनकी भाषा प्रांजल और शुभ्र होती चली गई। इनकी भाषा में सजीवता तथा अलंकारिकता का स्वाभाविक और सुन्दर योग है। कहीं-कहीं पर इन्होंने उर्दू शैली पर अरबी और फारसी के शब्दों को खूब रखा है। कहीं-कहीं विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते थे। उनकी भाषा से ही पात्र तथा घटना का महत्व प्रगट हो जाता है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग यथावसर सुन्दरता से किया गया है। व्यंग्यमुक्त और चुटीले वाक्यों का प्रयोग आपने खूब किया है. इनकी कहानियाँ और उपन्यास सिनेमा के चित्र की तरह पूरी घटना की अनुभूति कराने में सफल होते हैं। कहीं भावावेश में भी इन्होंने लिखा है। ऐसे स्थालों पर वाक्य छोटे-छोटे तथा गतिशील हैं—'लू चल रही थी, बगुले उड़ रहे थे, भूतल धधक रहा था, जैसे प्रकृति ने वायु में आग घोल दी हो'। विशुद्ध हिन्दी का उदाहरण—"मैंने अमेरिका की चंचल से चंचल और प्रसन्न से प्रसन्न चित्त वाली लावण्यवती स्त्री का आलाप सुना था—सहस्रों बार उनकी जिह्वा से प्रेम और प्यार के शब्द सुने थे, हृदयाकर्षक वचनों का आनन्द उठाया था।" इसी प्रकार उर्दू मिश्रित शैली का नमूना है—'जनाब हमारी कौम की कुछ न कहिए। खुदगरज, खुदफरोस, खुद-मतलव, कज फहम, कजवी जो कहिये थोड़ा है।'

प्रेमचन्द जी हिन्दी के उपन्यास-सम्राट के रूप में माने गये हैं। उपेक्षित, दलित, दीन-हीन किसानों को यदि किसी साहित्यकार ने अपनी रचना का नायक बनाया तो प्रेमचन्द ने। सूक्ष्म दृष्टि और मर्मस्पर्शी यथार्थ चित्रण तथा सर्वजन-प्रिय भाषा, भाव, शैली के कारण मुन्शी जी सदैव आदरपूर्वक स्मरण किये जायेंगे। आपकी रचनाओं से मनोरंजन, ज्ञान और उपदेश एक साथ मिलता है अतः हिन्दी में प्रेमचंद का नाम सदैव अमर रहेगा।

९. हिन्दी की श्रेष्ठतम कवयित्री—महादेवी वर्मा

"आधुनिक कवियों में श्रीमती महादेवी वर्मा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह इसलिए नहीं कि वह स्त्री हैं, वरन् इसलिये कि उन्होंने आधुनिक काव्य की कला और साज-श्रृंगार में सर्वाधिक योग दिया है। छायावाद के प्रवर्तक स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद' और उसके उन्नायक सर्वश्री पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' तथा सुमित्रानन्दन पंत के बाद उन्हीं की गणना होती है। महादेवी जी ने इन कवियों की अपेक्षा छायावादी काव्य को सबसे अधिक देन यही दी है कि काव्य उनके कंठ से विशुद्ध अनुभूतिमय फूटा है और उनकी कल्पना अनुभूति से ऐसी घुल मिल गयी है कि यह धोखा होता कि यह अनुभूति है या कल्पना, असम्भव नहीं है। हृदय की सूक्ष्मतम भावनाओं को जितनी सफलता के साथ महादेवी जी ने व्यक्त किया है, उतनी सफलता के साथ अन्य कोई कवि शायद ही कर सका हो। उनके काव्य में कला का विकास न होकर हृदय की सच्चाई की झलक है।" —डा० इन्द्रनाथ मदान

महादेवी वर्मा और उनका जीवन-परिचय—महादेवी वर्मा आधुनिक युग की ही नहीं, वरन् हिन्दी-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री हैं। उन्हें आधुनिक युग की 'मीरा' कहा जाता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि उनके काव्य में मीरा की अपेक्षा अधिक वेदना है, अधिक पीड़ा है, और है अधिक संवेदनात्मक अनुभूति। उनकी कविता में मधुरिमा के साथ-साथ रहस्यवाद की झलक भी है। आज भी उनकी काव्यधारा अबाध गति से प्रवाहित हो रही है।

हिन्दी-जगत् की श्रेष्ठतम कवयित्री महादेवी वर्मा का जन्म सम्वत् १९४७ में फर्रुखाबाद में एक शिक्षित मध्यम वर्ग के परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा भागलपुर के एक कालेज में हैड-मास्टर थे और एम० ए० तथा एल-एल० बी० की उपाधियों से विभूषित थे। उनकी माता श्रीमती हेमरानी देवी हिन्दी विदुषी थीं और भक्त महिला थीं। कविता के भी प्रति उनका अनुराग था। महादेवी जी की नानी भी ब्रजभाषा की कवि थीं। उनके भाई और बहिन सभी शिक्षित और विद्वान् हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि महादेवी की पारिवारिक पृष्ठ-भूमि शिक्षा और विद्वता में परिपूर्ण थी।

शिक्षा—महादेवी जी की प्रारम्भिक शिक्षा इंदौर में हुई किन्तु तुलसी, सूर और मीरा का साहित्य उनकी माता ही ने उनको पढ़ाया। इस साहित्य का स्थायी प्रभाव उनके साहित्य में देखने को मिलता है। बचपन से ही उनकी साहित्य की ओर अभिरुचि थी और भावुकता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी।

सम्वत् १९७३ में उनका विवाह डा० स्वरूप नारायण वर्मा के साथ हो गया, और पति के परिवार के लोगों का लड़कियों की शिक्षा के विरोध के कारण, उनका शिक्षा का क्रम टूट गया। श्वसुर की मृत्यु के पश्चात् उनकी शिक्षा का क्रम पुनः आरम्भ हो गया और सं० १९७० में महादेवी जी ने प्रयाग से प्रथम श्रेणी में मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। संयुक्त प्रान्त के छात्रों और छात्राओं में उनका स्थान सर्व-प्रथम रहा। इसके पश्चात् सम्वत् १९८१ में उन्होंने इन्ट्रेन्स की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और पुनः प्रान्त भर के छात्रों और छात्राओं में प्रथम स्थान प्राप्त किया। तदुपरान्त सम्वत् १९८३ में इण्टरमीडिएट, सम्वत् १९८५ में बी० ए० और

तत्पश्चात् एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। एम० ए० उन्होंने संस्कृत में किया, किन्तु बी० ए० में भारतीय दर्शन की वह छात्रा रहीं।

साहित्य साधना और साहित्यिक अभिरुचि—बाल्यकाल से ही महादेवी जी का साहित्य के प्रति अनुराग था और वे साहित्यिक साधना करती थीं। स्वतन्त्र रूप से तुकबन्दी भी करती थीं। शिक्षा का विकास होने के साथ-साथ उनकी काव्य रचना भी और अधिक प्रकाश में आयी। उनकी आरम्भिक रचनायें 'चाँद' में प्रकाशित हुईं और उनका अच्छा स्वागत किया गया।

शिक्षा का और साहित्य का महादेवी जी के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विद्याध्ययन समाप्त करने के पश्चात् प्रयाग महिला विद्यापीठ में प्रधानाचार्या का पद ग्रहण किया और अब भी उसी पर सुशोभित हैं। उत्तर प्रदेश विधान परिषद् में उनका मनोनयन उनकी श्रेष्ठ साहित्य साधना के कारण किया गया। यहाँ भी उन्होंने अपनी साहित्य और ज्ञान की सुरभि बिखेर दी।

"चाँद" नामक पत्रिका की वह सम्पादिका भी रह चुकी हैं। "साहित्यिक संसद" नामक एक संस्था की स्थापना उन्होंने कठिनाईग्रस्त साहित्यकारों की सहायता के लिए की है और उस क्षेत्र में कुछ कार्य भी कर रही हैं।

साहित्य जगत् में उनको ऊँचे से ऊँचा सम्मान प्राप्त हो चुका है। "नीरजा" पर उन्हें ५०० रु० का सेकसरिया पुरस्कार और "यामा" पर १२०० रु० का मंगला प्रसाद पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। इस पुरस्कार की राशि को उन्होंने महिला विद्यापीठ को दान कर दिया। इससे उनकी विचारधारा का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

महादेवी जी की साहित्यिक कृतियाँ—महादेवी जी वास्तव में एक सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार हैं। साहित्यकर्त्री होने के साथ-साथ वे चित्रकार भी हैं। संगीत से भी उनका अनुराग है। उनके चित्र असाधारण माने जाते हैं। उनकी साहित्यकारी रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) कविता—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, दीपशिखा, आधुनिक कवि, संधिनी।

(२) निबन्ध—अतीत के चल-चित्र, शृंखला की कड़ियाँ।

(३) आलोचना—हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य।

महादेवी जी का व्यक्तित्व और उन पर पड़े प्रभाव—महादेवी जी एक अध्ययनशील और विचारशील साहित्य-साधिका हैं। उनकी कविता और उनकी विचारधारा में शारीरिक सौंदर्य की अपेक्षा मानसिक सौंदर्य को अधिक स्थान दिया गया है। उनकी साहित्यिक साधना और उनके विचार उनके अदम्य उत्साह और सबल प्राणों के प्रतीक हैं। जब वह बोलती हैं तो उनके शब्दों के साथ-साथ कविता की वर्षा होती है। साधना उनके जीवन का अभिन्न अंग है। दार्शनिक विचारधारा और चिन्तन उनके साहित्य में घुल-मिल गया है।

महादेवी जी की कविता में उनकी चिन्तन और उनकी विचारधारा स्पष्ट रूप में मुखर हुई है। निस्संदेह वह एक लोकप्रिय अमर गायिका हैं। उनके साहित्य को किन-किन तत्वों और तथ्यों ने प्रभावित किया है, इसका अनुमान 'आधुनिक कवि

भाग १ की भूमिका के उद्धरण की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट रूप से हो जाता है :—

"परन्तु एक ओर साधनापूत, आस्तिक भावुक माता और दूसरी ओर सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर, कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने-अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया उसमें भावुकता बुद्धि के कठोर धरातल पर, साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर, आस्तिकता एक सक्रिय पर किसी वर्ग या सम्प्रदाय में न बंधने वाली चेतना पर ही स्थित हो सकती थी। जीवन की ऐसी ही पार्श्वभूमि पर माँ से पूजा-आरती के समय सुने हुये मीरा-तुलसी आदि के साथ उनके स्वरचित पदों के संगीत पर मुग्ध होकर मैंने ब्रजभाषा में पद-रचना आरम्भ की थी। मेरे प्रथम हिन्दी गुरु भी ब्रजभाषा के ही समर्थक निकले, अतः उल्टी-सीधी पद-रचना छोड़कर मैंने समस्यापूर्ति में मन लगाया। बचपन में जब पहले-पहले खड़ी बोली की कविता से मेरा परिचय पत्रिकाओं द्वारा हुआ तब उसमें बोलने की भाषा ही में लिखने की सुविधा देखकर मेरा मन अबोध मन उसी ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा। गुरु उसे कविता ही न मानते थे, अतः छिपा-छिपाकर मैंने रोला और हरिगीतिका में भी लिखने का प्रयत्न आरम्भ किया। माँ से सुनी एक करुण कथा का प्रायः सौ छन्दों में वर्णन कर मैंने मानों खण्डकाव्य लिखने की इच्छा भी पूर्ण कर ली।"

वेदना की अनुभूति की अभिव्यक्ति—उनके काव्य में वेदना की अनुभूति अपने सबसे अधिक प्रखर रूप में मुखर हुई है। वास्तव में उनका हृदय वेदनापूर्ण भावों और अनुभवों से परिपूर्ण है और उसका प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में हुआ है। सम्भवतः इसी कारण उनको आधुनिक मीरा की पदवी से विभूषित किया गया है।

भाषा—महादेवी जी की भाषा मुख्य रूप से खड़ी बोली है और वह सबसे अधिक सुमधुर रूप में व्यक्त होकर सामने आयी है। उन्होंने उस खड़ी बोली को खराद पर चढ़ाकर उसे इतना अधिक सुन्दर और मधुर बना दिया है कि उसमें ब्रजभाषा के सभी गुण आ गये हैं।

महादेवी जी की काव्य-साधना गीतों के रूप में भी प्रकट हुई है। सूर और मीरा को छोड़कर उतने सुन्दर गीत और किसी कवि ने नहीं लिखे हैं।

दार्शनिक भावभूमि और रहस्यवाद—महादेवी जी का दार्शनिक चिन्तन बड़ा गहन और परिपुष्ट है। मुख्य रूप से उनके ऊपर अद्वैतवाद का प्रभाव है और उनकी काव्य साधना में यही विचारधारा मुखर हुई है। इस अद्वैतवाद और ब्रह्मज्ञान के आधार पर उनकी रहस्यवादी विचारधारा भी परिपुष्ट हुई है। वह यह भी मानती थीं कि सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्ममय है और अज्ञान के कारण ही आत्मा में ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर कर पाते। उनकी यह विचारधारा निम्नलिखित पंक्तियों में और मुखर होती है :—

स्वर्णलता सी वह सुकुमार, हुई उसमें इच्छा साकार।
उगले जिसने तिनरंगे तार, बुन लिया अपना ही संसार।

महादेवी जी की प्रकृति भी अपना महत्व रखती है। उसमें अनन्त संगीत विद्यमान है। सारी विशेषतायें उनकी साहित्य साधना में और अधिक मुखर हुई हैं।

महादेवी की साहित्य-साधना—महादेवी जी की साहित्य साधना वास्तव में एक साधिका का अपने साध्य अथवा आराध्य के प्रति आत्मसमर्पण का फल है। इसी कारण उनकी कविता में रहस्यानुभूति के दर्शन होते हैं। उनकी रहस्यानुभूति सर्वत्र एक जैसी है। जहाँ से उसका आरम्भ होता है वहीं पर आकर उसका अन्त होता है। उनके जीवन के सूनेपन को पूरा करने के लिए प्रकृति उनकी सहचरी के रूप में सामने आती है। उनके सम्पूर्ण साहित्य में अद्वैतवाद पर आधारित रहस्यवाद की झलक देखने को मिलती है। उनकी रचनाओं में अनुभूति वेदना का प्राधान्य है। प्रकृति के असीम अनुराग भी उनके साहित्य में देखने को मिलता है। उनके साहित्य के विकास के साथ-साथ उनकी दार्शनिक विचारधारा का विकास होता हुआ दिखाई देता है। उनका सम्पूर्ण साहित्य साधना को मोटे तरीकों से ४ शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है :—

(१) रहस्यवादी रचनायें, (२) वेदना प्रसूत रचनायें, (३) प्रकृति चित्रण सम्बन्धी रचनायें, (४) शुद्ध गीति तत्व रचनायें अथवा गीति-काव्य।

(१) रहस्यवादी रचनायें—महादेवी जी मुख्य रूप से एक उच्च कोटि की रहस्यवादी कवियित्री हैं आधुनिक युग उनका रहस्यवादी काव्य चरमोत्कर्ष पर है। उनके काव्य में आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय निवेदन है। एक नमूना देख लीजिये—"मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला सा है!"

महादेवी जी की रहस्यवादी कविताओं में श्रेष्ठ प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।

(२) वेदना प्रसूत रचनायें—इस बात की चर्चा पहले ही की जा चुकी है कि महादेवी जी की अधिकांश रचनायें वेदना से प्रेरित और प्रभावित हैं। वास्तव में उनकी वेदना ने उनका काव्य का रूप धारण किया। रहस्यवादी कविताओं में हमें यह बात देखने को मिलती है। एक नमूना देख लीजिए :—

"क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव, अरे यह मिटने का अधिकार।

उनकी वेदना कोमल के साथ-साथ मधुर, आकर्षक और प्रिय भी है। इसी कारण महादेवी जी सुख की अपेक्षा वेदना को अधिक ग्राह्य मानती हैं :—

"मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति का कण भर।
रहने दो प्यासी आँखें, भरती आँसू के सागर।"

(३) प्रकृति चित्रण सम्बन्धी रचनायें—प्रकृति मानव जीवन का एक अनिवार्य अंग है। जीवन में उसकी विवशतायें सर्वत्र देखने को मिलती हैं। महादेवी जी ने अपने श्रेष्ठ साहित्य की प्रकृति का सभी प्रकार से समाहित कर लिया है। उनके रहस्यवाद में भी उन्हें प्रकृति ने ही सहारा दिया है। एक उदाहरण देख लीजिये :—

"तू भू के प्राणों के शतदल!
सित क्षीर-फेन हीरक-रज से जो हुए चाँदनी में निर्मित,
पारद की रेखाओं में चिर चाँदी के रंगों से चित्रित,
खुल रहे दलों पर दल झल मल।

(४) गीति तत्वयुक्त काव्य अथवा गीति काव्य—इस बात की चर्चा पहले ही

की जा चुकी है कि महादेवी जी, मुख्य रूप से एक गीतकार हैं। इस क्षेत्र में सूर और मीरा को छोड़कर उनकी समता कोई नहीं कर सकता। उनके गीतों में माधुर्य के साथ-साथ काव्य में एक श्रेष्ठतम सौष्ठ देखने को मिलता है। एक नमूना देख लीजिए :—

"मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर !
सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम सा, घुल रे मृदु तन !
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीव का अणु गल-गल !
पुलक-पुलक मेरे दीपक जल !

महादेवी वर्मा और छायावाद— महादेवीजी छायावाद के श्रेष्ठतम कवियों में से एक हैं। उन्होंने छायावाद में अपने रहस्यवाद को मिश्रित कर उसे एक मोहकता और मादकता प्रदान कर दी है। वह इसलिए छायावादी कवियित्री हैं जिसमें छायावाद के अन्य तत्व के साथ-साथ रहस्यवाद के तत्व भी विद्यमान हैं। प्रकृति के मानवीकरण का एक नमूना देख लीजिए :—

"प्रिय, शांत गगन, मेरा जीवन :
यह क्षितिज बना धुंधला विराग,
नव अरुण-अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधि धीमे स्वप्न रंगीले घन।

महादेवी वर्मा का काव्य सौष्ठव अथवा काव्य कला—इस बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि महादेवी जी ने अपने काव्य में भाषा को बड़ा ही परिमार्जित और सुन्दर रूप दिया है। मुख्य रूप से उन्होंने संस्कृत गर्भित खड़ी बोली के साहित्यिक रूप को अपनाया है। वह वैसे ब्रजभाषा से भलीभाँति परिचित हैं और एक सीमा में उन्होंने उसे भी काव्य का माध्यम बनाया था। ब्रजभाषा से वह खड़ी बोली में आई हैं। खड़ी बोली में उन्होंने ब्रजभाषा का माधुर्य समाविष्ट कर दिया है।

महादेवी जी की भाषा अत्यन्त परिष्कृत, मधुर और कोमल है। उनमें जो स्निग्धता है वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। भाषा में प्रवाह और शक्ति है। भावों की अनुगामिनी तो वह है ही।

महादेवी जी ने मुख्य रूप से गीत शैली को ही अपनाया है। उसमें प्रतीकों, समासोक्तियों तथा लाक्षणिक एवं व्यंगात्मक प्रयोगों की उपस्थिति से भाषा में सुन्दरता आ गई है। उनके प्रतीक सर्वग्राही और परिचित हैं। इस कारण समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा और शैली की दृष्टि से भी महादेवी जी का स्थान अप्रतिम है।

हिन्दी काव्य जगत में स्थान—महादेवीजी ने अपनी काव्य-रचना मीरा और

सूर आदि से प्रभावित होकर की है। पहले ब्रजभाषा को अपनाया और बाद में खड़ी बोली में पदार्पण किया। आज वह हिन्दी साहित्य के अलौकिक गीतों की श्रेष्ठतम गायिका मानी जाती हैं। वेदना उनके गीतों में बड़े ही उदात्त और आकर्षक रूप में प्रस्फुटित हुई है। वेदना का यह रूप अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी कविता में प्रकृति को स्थान दिया गया है और उसके विविध रूपों में अपनाया गया है। छायावाद को गौरव प्रदान करने का श्रेय महादेवीजी को भी है। गीति काव्य के क्षेत्र में उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उनकी भाषा भी निराली है। उनकी साधना बहुमुखी है और हिन्दी साहित्य के लिए शृंगार है। हिन्दी काव्य-जगत् में इनका स्थान अमर है।

१०. मेरी प्रिय लेखिका—शिवानी

१—भूमिका, २—लेखिका-परिचय, ३—लेखिका की रचनाओं में मेरा आकर्षण, ४—लेखिका का साहित्य, ५—शिवानी का कथा-शिल्प, ६—लेखिका से प्रत्यक्ष साक्षात्कार और उसका प्रभाव, ७—उपसंहार।

भूमिका—आधुनिक युग में कला के क्षेत्र में नारी का उच्च स्थान है, परन्तु फिर भी नारी कथाकारों की कमी है। इनमें एक अत्यन्त सफल लेखिका है-शिवानी। इनकी कृतियाँ आजकल पूरे भारत में लोकप्रिय हैं। हिन्दी साहित्य में आपका विशिष्ट स्थान है।

लेखिका का परिचय—शिवानी का जन्म यद्यपि राजकोट में हुआ था परन्तु पर्वतीय समाज से आपकी सम्बद्धता, इनकी कलाकृतियों में स्पष्ट रूप से उजागर हो उठती है। कारण यह है कि इनके माता-पिता पहाड़ी समाज के ही सदस्य थे। परन्तु पिता की नौकरी सदा राजाओं महाराजाओं के दीवान के स्तर की रही। आपने शान्ति-निकेतन में रवीन्द्र नाथ ठाकुर की छत्रछाया में शिक्षा ग्रहण की, फलस्वरूप इनकी कहानियों और उपन्यासों में बंगला कथा-शैली की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है

लेखिका की रचनाओं में मेरा आकर्षण—मैंने इनका उपन्यास 'विषकन्या' (जो कि वास्तव में एक कहानी संग्रह है) तेरह वर्ष की अवस्था में पढ़ा था। पहली बार इतनी क्लिष्ट हिन्दी से सामना होने पर, मैंने हारे हुये योद्धा की भाँति ही, उस उपन्यास को पटक दिया था। एक शब्द भी तो न समझ सका था। पर मुझे क्या पता था कि एक दिन यहाँ भाषा शैली मुझ पर अपनी ऐसी सम्मोहिनी डालेगी कि मैं सहज ही अपने आपको उससे विलग नहीं कर पाऊँगा। फिर मैंने चौदह वर्ष की अवस्था में शिवानी का उपन्यास 'चौदह फेरे' पढ़ा। दो तीन पृष्ठों में अटकने के पश्चात् जैसे अविरल प्रवाह द्रुतिवेग से बह निकला। उस उपन्यास ने मुझे इतना अधिक प्रभावित किया कि तीन-चार बार पढ़ने पर भी मैं उससे ऊबा नहीं। उसके बाद तो फिर जैसे चस्का ही लग गया। शिवानी का बिरला ही कोई ऐसा उपन्यास अथवा संग्रह होगा जिसको देखकर मैं पुलकित न हो उठा था। कैसा सम्मोहन था उनकी लेखनी में और कैसा वाक्यचातुर्य। 'मायापुरी' और 'भैरवी' पढ़ने के बाद मेरा रहा-सहा बाँध भी टूट गया। बावरों के समान मैं शिवानी के उपन्यासों की तलाश में रहता।

लेखिका का साहित्य—शिवानी के प्रकाशित कथा-संग्रह हैं—'विषकन्या', 'पुष्पहार', 'करिये छिमा', 'लाल हवेली', 'अपराधिनी', 'रति-विलाप', 'चार दिन', 'स्वयंसिद्धा' । आपके प्रकाशित उपन्यास निम्न हैं :—'मायापुरी', 'भैरवी', 'चौदह फेरे', 'शमशान', 'चम्पा' और 'कृष्णकली' है—

'लाल हवेली', 'चीलगाड़ी', 'करिये छिमा', 'मधुयामिनी', 'मरण सागर पारे', आपकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं । अब शिवानी सम्प्रति लखनऊ में रह कर, स्वतंत्र लेखन कर रही हैं । दैनिक समाचार-पत्र की रविवार-प्रतियों में आपका साप्ताहिक कालम भी निकलता है ।

शिवानी का कथा-शिल्प—शिवानी की कहानियाँ और उपन्यास अधिकतर घटना-प्रधान होते हैं और उनके निजी अनुभवों पर ही आधारित होते हैं । घटना-प्रधान कथा-शैली को वे कभी चरित्र-प्रधानता का हल्का-सा मोड़ देकर और भी रोचक बना देती हैं । कहानियों में अधिकतर पर्वतीय समाज से सम्बन्धित समस्याओं, प्रथाओं और मनोभावों के कुशल चित्रण से उनकी कहानियों व उपन्यासों में एक अजीब नवीनता आ जाती है । नारी की समस्याओं को बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित करने का तिलिस्म, शायद ही उनकी लेखनी में ही छिपा है । कहीं-कहीं पर बंगाली कथा-शैली का व्यापक प्रभाव उनकी कृतियों का एक अमिट अंश है । तत्सम प्रधान भाषा में स्थिति के अनुरूप आंचलिक शब्दावली में मुहावरों और लोकोक्तियों का सुरुचिपूर्ण प्रयोग, एक दक्ष कलाकार की तूलिका की भाँति आपके कृतित्व को बड़े कौशल से, छींटेकसी करता हुआ, सर्वथा नवीन रंग में ही रंग जाता है ।

शब्द-रचना को कम और मोहक है, और भाषा में क्लिष्ट होते हुये भी विशिष्ट रवानगी है । कवित्वपूर्ण चित्रण को काव्य पंक्तियों से बांधकर, आपने पाठक को ललित सम्मोहन में जकड़ कर ही रख देती है । सामाजिक रूढ़ियों, विडम्बनाओं और बाह्या-डम्बरों पर सटीक उपमाओं के द्वारा व्यंग कर, कहानियों में हास्य एवं विनोद का पुट देना शिवानी की शैली की एक निजी विशेषता है ।

लेखिका से प्रत्यक्ष साक्षात्कार और उसका प्रभाव—सौभाग्य से मुझे इस गुणी लेखिका से मिलने का भी सौभाग्य प्राप्त हो गया । जैसे ही मुझे यह विदित हुआ कि शिवानी जी लखनऊ में गुलिस्तां कालोनी में रहती हैं, मैं फौरन ही, बिना फ्लैट का नम्बर पूछे गुलिस्तां कालोनी की ओर चल पड़ा । काफी भटकने के बाद बालकोनी में खड़े युवक के मुँह से 'जी हाँ, यहीं रहती हैं' सुनकर मैं विद्युत-गति से सीढ़ियाँ चढ़ गया । बड़ी शालीनता से सुसज्जित बैठक में मुझे बिठाकर वह युवा नौकर किसी अज्ञात प्रकोष्ठ में लुप्त हो गया । श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बनाये हुये कलात्मक चित्र की सुन्दरता को मैं निहार ही रहा था कि नौकर ने मौन भंग किया । वह मेरे आने का कारण पूछ रहा था । मैंने अपने बावरेपन से उसे अवगत कराया, और जल्दी से अपना संदेश पहुँचाने को कहा ।

मेरा समूचा वक्ष, मेरी तेज हृदयगति के स्पन्दन से एक जर्जर किले के समान रह कर हिल उठता । अपनी उतावली में मैं ऐसा ध्यान मग्न होकर बैठक के एक रंगीन चित्र की गुत्थियां सुलझाने में खोया, कि कब वह देवी मेरी पास आकर खड़ी हो गई, मुझे पता ही न चला ।

स्वयं उन्होंने ध्यान तोड़ा, पढ़ने का शौक है, ? ममत्व से स्निग्धसिक्त प्रश्न को सुनकर, मैंने अपनी आँखों को उनकी ओर केन्द्रित किया । यह क्या ? मैं अवाक रह गया । मेरे मस्तिष्क में एक सुन्दर युवा लेखिका के बनते-मिटते चित्र एक-साथ भर-भराकर गिर पड़े । एक सौम्य नारी मूर्ति श्वेत साड़ी में, सौन्दर्याविहीना, उज्जवल धवल चांदनी सी पास के सोफे पर बैठी थी । कब यह राजमहिषी सांध्य-पूजन समाप्त कर, मेरे पार्श्व में आ बैठीं, मुझे पता ही न चला । लगता था जैसे उन्हीं के उपन्यासों की एक यात्री, जीवन्ती हो, पुस्तक के पन्नों को चीरती हुई आ कर खड़ी हो गई ।

मैंने उन्हें अपने साहित्य प्रेम का परिचय दे, उनके उपन्यासों की चर्चा करना प्रारम्भ कर दिया । आरम्भ में पूछा गया बाल्योचित सा प्रश्न, हवा में कहीं लहरा कर सो गया । शायद प्रारम्भ में वह यही समझी थीं कि उनकी पूरी कथा 'अलविदा' का कोई नन्हा प्रशंसक ही आया है । परन्तु जब उन्हें पता चला कि मैं उनके उपन्यासों का दास हूँ, तो वह अवाक् रह गई ।

वैधव्य ने असमय ही आकर उनके पहाड़ी सौन्दर्य का गला घोंट दिया था । पति की मृत्यु को एक महीना भी न हुआ था, मेरे अनजाने में पूछे गये प्रश्न का उत्तर उन्होंने अपने समस्त धैर्य को संजोकर ही देना चाहा था, परन्तु पीड़ा को कौन सा बांध रोक सका है ? आँखों में उतर आये अश्रुकण जैसे मेरे हृदय-स्थल को बेधन लगे । औपचारिक सहानुभूति के दो शब्द भी, मुझे उस समय बोलना उचित न लगे । अश्रुओं का अविरल प्रवाह उन्होंने ही रोका-थामा और इस संघर्ष से उनका चेहरा सहस्त्रों दीप शिखाओं सा दीप्त हो उठा । तेज ने जैसे उनके सुन्दर मुख को ही अपना निवास-स्थान बना लिया । उसके बाद भी मैं निरन्तर उनसे मिलता रहा ।

उपसंहार—शिवानी जैसी लेखिका न कहीं हुई है, और न होगी । यह अद्‌भुत नारी रत्न साहित्य संसार में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किये राजकन्या सी, ऐश्वर्य और प्रसिद्धि के सिंहासन पर बैठी है । यह सिंहासन कभी नहीं ध्वंस होगा ।

११ राष्ट्र-भाषा

१—भूमिका, २—राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता, ३—राष्ट्र-भाषा का क्षेत्र और स्वरूप, ४—राष्ट्र-भाषा के आवश्यक गुण, ५—विभिन्न देशों की राष्ट्र-भाषाएँ, ६—राष्ट्र-भाषा की गरिमा, ७—भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी राष्ट्र-भाषा के रूप में, ८—हिन्दी के राष्ट्र-भाषा बनाए जाने के कारण, ९—उपसंहार ।

भूमिका—राष्ट्र शब्द का प्रयोग किसी देश तथा वहाँ बसने वाली जनता दोनों के लिए होता है । प्रत्येक राष्ट्र अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है । उसमें अनेक जातियों और धर्मों को मानने वाले लोग सम्मिलित रहते हैं । विभिन्न प्रान्तों के निवासी विभिन्न प्रकार की भाषा बोलते हैं । इस विभिन्नता के साथ ही साथ उनमें एकता भी रहती है । पूरे राष्ट्र का शासन एक ही केन्द्र से होता है । अतः राष्ट्र की एकता को और भी दृढ़ बनाने के लिए ऐसी भाषा की आवश्यकता होती है जिसका प्रयोग पूरे

राष्ट्र के महत्वपूर्ण कार्यों में किया जाता है। केन्द्रीय सरकारी कार्य भी उसी भाषा में होता रहता है। ऐसी व्यापक भाषा राष्ट्र-भाषा कही जाती है।

राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता—'राष्ट्र' शब्द में एक प्रकार की सामूहिक चेतना की भावना रहती है जो पूरे देश के निवासियों की भावना से सम्बन्धित होती है। ऐसी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए एक सार्वभौम भाषा की अपेक्षा होती है। वही सर्वमान्य भाषा 'राष्ट्र-भाषा' कहलाती है। यदि देश के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित भाषाओं में अलग-अलग काम होता रहे तो केन्द्रीय सरकार के सामने एक कठिन समस्या उत्पन्न हो जायेगी और उसके लिए अनावश्यक कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। शब्दावली की वास्तविक विचारधारा के तात्पर्य और मन्तव्य में एकरूपता नहीं रह पाती। परिणाम यह होता है कि एक ही वाक्य भिन्न-भिन्न भाषाओं में समान तात्पर्य कठिनता से व्यक्त कर पाता है। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए राष्ट्र-भाषा आवश्यक होती है। सभी प्रान्तीय भाषाएँ वैज्ञानिक, आध्यात्मिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक दृष्टियों से समुन्नत नहीं होतीं और इस प्रकार के विषयों के प्रान्तीय भाषाओं में शब्दावली का प्रायः अभाव रहता है। राष्ट्र-भाषा को विविध विषयों के योग्य पारिभाषिक शब्दों से युक्त, उन्नत और सूक्ष्म बनाना पड़ता है। यह काम सभी स्थानीय भाषाओं में सम्भव नहीं होता, अतः राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता होती है। राष्ट्र की एकता को दृढ़ करने के लिए राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता होती है। विदेशी विषयों को व्यक्त करने के लिए तथा विदेशी पत्र-व्यवहार के लिए भी राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार किसी राष्ट्र के लिए राष्ट्र-भाषा अत्यन्त आवश्यक है।

राष्ट्र-भाषा का क्षेत्र और स्वरूप—मनुष्य जिस माध्यम से अपने घरेलू विषयों पर विचार विनिमय करते हैं वह कही जाती है बोली। बोली का क्षेत्र सीमित होता है। इसका प्रयोग भी प्रायः मौखिक ही होता है। बोली के रूप में बीस मील के अन्तर पर सामान्य अन्तर पड़ता जाता है। इस अन्तर का अनुभव हम सुगमता से कर नहीं पाते हैं परन्तु अन्तर होता अवश्य है। दूरी के साथ-साथ अन्तर स्पष्ट होता जाता है। यदि आगरा और कलकत्ता की बोलियों में तुलना करके देखें तो दोनों एकदम भिन्न मालूम पड़ेंगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि बोलियों का क्षेत्र छोटा होता है। जिस बोली का क्षेत्र बढ़ जाता है और उसमें सामान्य साहित्य निर्माण होने लगता है तथा उसका रूप लिखित रूप में स्थिर हो जाता है, वह बोली **विभाषा (प्रांतीय भाषा)** का रूप धारण कर लेती है। इस प्रान्तीय भाषा का क्षेत्र जब और भी बढ़ जाता है, इसमें उन्नत साहित्य का निर्माण होता रहता है और व्याकरण के नियमों द्वारा शासित होकर इसमें एकरूपता आ जाती है तब **भाषा (साहित्य प्रधान भाषा)** बन जाती है। भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है। पराधीन देशों में भी अनेक भाषायें फलती-फूलती रहती हैं। जिस देश की जनता स्वाधीन होती है, उसका अपना अस्तित्व विश्व में मान्य होता है। उसकी अपनी राष्ट्र-भाषा का स्वरूप स्थिर होता है। उसका केन्द्रीय राज-काज उसी राष्ट्र-भाषा में होता है। स्वतन्त्र हो जाने पर राष्ट्र भाषा का प्रश्न सामने आया। अंग्रेजी भाषा को बराबर बनाये रखना उचित नहीं था, अतः भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी घोषित हुई। तब से निरन्तर हिन्दी को प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त बनाने का प्रयास हो रहा है। आज यह राष्ट्र-भाषा के रूप में व्यवहृत होती

है, और आशा है कि दो-चार वर्षों में केन्द्रीय सरकार के सभी कार्य हिन्दी में होने लगेंगे। इसका स्वरूप व्यापक बनाया जा रहा है; सभी प्रान्तों में इसका प्रचार बढ़ रहा है। विज्ञान के विभिन्न विभागों के योग्य पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो चुका है। इसका रूप स्थिर तथा व्यवस्थित हो चुका है। इसका उन्नत रूप प्रायः सभी अहिन्दी भाषी प्रान्तों को भी मान्य हो जायगा।

राष्ट्र-भाषा के आवश्यक गुण—(राष्ट्र-भाषा को देश की अधिकांश जनता की भाषा होना चाहिये उसको लिखने-पढ़ने तथा समझने वाले प्रायः सभी प्रान्तों में होना चाहिए। उसे उन्नत तथा हर प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की बातों को व्यक्त करने में समर्थ होना चाहिए। राष्ट्र-भाषा की लिपि तथा शब्दावली को वैज्ञानिक, सुन्दर तथा सरल होना चाहिए। उसकी वर्णमाला हर प्रकार की ध्वनियों को व्यक्त करने में समर्थ होनी चाहिए। उस भाषा में उन्नत साहित्य, दर्शन, ज्योतिष आदि विषयों की पुस्तकें होनी चाहिए। राष्ट्र-भाषा की सहायक, अनेक भाषाएँ होनी चाहिए। राष्ट्रीय चेतना के अनुकूल राष्ट्र-भाषा को भी होना चाहिए। राष्ट्र-भाषा संस्कृति तथा परम्परा की पोषक होती है। राष्ट्र-भाषा ही राज्य-भाषा बनने योग्य होनी चाहिए।) राजनैतिक संघर्ष में राष्ट्रीय भावनाओं का जोर अधिक रहता है। उस समय का साहित्य जिस भाषा में अधिक प्रकाशित होता है वही भाषा सरलता से राष्ट्र-भाषा बन जाती है। राष्ट्र-भाषा भी राष्ट्रीयता के विकास में सहायक होती है।

विभिन्न देशों की राष्ट्रीय भाषाएँ—आधुनिक संसार में अंग्रेजी का विस्तार सर्वाधिक है। कारण यह है कि एक ऐसा युग था जब कि अंग्रेजों का राज्य विश्व के दोनों गोलार्द्ध में फैला हुआ था। उस समय अंग्रेजों ने सभी देशों में अंग्रेजी भाषा का प्रचार किया। अंग्रेज ज़ाति प्रबल तथा व्यापक हो गई थी। प्रायः सभी देशों में उनके व्यापारी जाते थे और व्यापार करते तथा धीरे-धीरे स्थानीय राजनीतिक परिस्थितियों से लाभ उठाकर अपना राज्य स्थापित कर लेते थे। इस प्रकार एशिया, अफ्रीका, उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि प्रायः सभी महाद्वीपों में इनका प्रभाव बढ़ा तथा साथ ही साथ अंग्रेजी का विकास एवम् प्रसार भी बढ़ता गया। फलतः अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रयुक्त होने लगी। यूरोप के अन्य राष्ट्र फ्रांस, जर्मनी, रूस आदि में यद्यपि स्थानीय भाषाओं का महत्वपूर्ण स्थान था फिर भी अंग्रेजी भाषा का प्रयोग कुछ लोग अवश्य करते थे। यही दशा प्रायः सभी देशों में थी। कालान्तर में प्रजातन्त्रीय भावना की सफलता के साथ-साथ विभिन्न देश स्वतन्त्र होने लगे और वे अपनी-अपनी राष्ट्र-भाषा के रूप में अपने देश की मुख्य भाषा को प्रतिष्ठित करते गये। अमेरिका में अंग्रेजी का रूप थोड़ा बदल दिया गया। केनेडा, आस्ट्रेलिया, भारत तथा अन्य राष्ट्र अपनी-अपनी राष्ट्रभाषा का प्रयोग करते हैं, पर राष्ट्रसंघ की कार्यवाही प्रायः अंग्रेजी में ही होती है। आज हर राष्ट्र की अपनी राष्ट्र-भाषा है।

राष्ट्र-भाषा की गरिमा—प्रत्येक राष्ट्र की प्रकृति में भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भिन्नता होती है। हर जगह का वातावरण एक ही प्रकार की भाषा के विकास की क्षमता नहीं रखता। अतः प्रत्येक देश में विभिन्न प्रकार की भाषाओं का विकास होता है। यह ऐसा स्वाभाविक गुण है कि इसको बदला नहीं जा सकता। अंग्रेजी भाषा को ही यदि दस देशों के लोग बोलते हैं, तो उनके उच्चारण तथा

भावाभिव्यक्ति के ढंग में पर्याप्त अन्तर पड़ता है। ठण्डे देशों के निवासी झटके से बोलते हैं, उनकी प्रकृति में कुछ रूखापन भी रहता है। उसी प्रकार उनकी भाषा के गुण भी होते हैं। मनुष्य अपनी मातृभाषा में ही अपनी वास्तविक भावना को व्यक्त कर सकता है। उसकी स्वाभाविकता भावों के साथ मिलकर एकरसता प्राप्त कर लेती है। अतः सभी स्वतन्त्र देश अपनी राष्ट्रभाषा अवश्य रखते हैं। दूसरी भाषा कितनी ही उन्नत क्यों न हो पर उसे कोई स्वतन्त्र देश अपनी राष्ट्रभाषा नहीं मानेगा। जिस प्रकार महारानी को भी एक गरीब बालक अपनी माँ नहीं मान पाता और अपनी जो हर प्रकार से हीन है, उसी को माता मानकर बालक की मातृ-भावना को सन्तोष होता है। उसी प्रकार एक स्वतन्त्र देश और जाति भी अपनी भाषा को राष्ट्र-भाषा मानकर संतुष्ट होती है।

स्वतन्त्र देशों में कतिपय विशेष प्रकार के भावों का प्रबल योग रहता है। देश के राष्ट्रीय झण्डे के प्रति, राष्ट्रीय गीतों के प्रति, राष्ट्रीय त्यौहारों के प्रति तथा राष्ट्र-भाषा के प्रति जनता की भावना का गहरा सम्बन्ध रहता है। किसी भी देश के निवासी अपनी इन वस्तुओं का अनादर नहीं सहन करता चाहते। जिस प्रकार राष्ट्र के लिये और सभी वस्तुएँ—जैसे मन्त्रि-मण्डल, अस्त्र-शस्त्र आदि ज्ञान-विज्ञान, आवश्यक हे, उसी प्रकार राष्ट्र-भाषा भी आवश्यक है। इसलिये सभी देशों में राष्ट्र-भाषा की उन्नति के लिये सरकार प्रयत्न करती है। भारत स्वतन्त्र देश है और वह भी अपनी राष्ट्र-भाषा की उन्नति का प्रयत्न कर रहा है। आशा है कि हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी निकट भविष्य में विश्व की श्रेष्ठ राष्ट्र-भाषाओं में मानी जायगी। राष्ट्र-भापा के विकास में ही देश की उन्नति निहित है।

राष्ट्र-भाषा के साधारण गुण और हिन्दी—'राष्ट्र' शब्द अंग्रेजी 'नेशन' शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। देश की सामूहिक भावना को व्यक्त करने वाला साहित्य राष्ट्रीय साहित्य कहा जाता है। भारत प्राचीन-काल से एक ऐसा देश रहा है जिसमें विभिन्न राज्य सम्मिलित रहे हैं। सबमें अपने देश के प्रति प्रेम, आदर और उसके प्रति त्याग की भावना रही है। किन्तु सभी राज्यों की सामूहिक भावना की अभिव्यक्ति तत्कालीन संस्कृत भाषा में हुई है। यही कारण है कि संस्कृत भाषा में राष्ट्रीयता की भावना का वह रूप मिलता है जिसे राष्ट्रीय भावना कहते हैं। हिन्द के वीरगाथा काल में बाह्य आक्रमणों के कारण हिन्दू राष्ट्रीयता का विकास हुआ। पर संस्कृत उस काल से पूर्व भारत की भाषा रही। इसी प्रकार यूरोप में लैटिनी, रोमन, आदि भाषाएँ राष्ट्र-भाषा बनी रहीं। समय और परिस्थितियों ने पलटा खाया। राज्यों का विभाजन हुआ। फलस्वरूप उनकी संख्या बढ़ी तथा उनके प्रभाव में प्रान्तीय भाषाएँ राज्य विशेष की राष्ट्र भाषायें बनती चली गईं। फिर भारतेन्दु युग में राष्ट्रीय भावना का उदय नये रूप में हुआ। पुनः राष्ट्रीयता का व्यापक अर्थ लिया जाने लगा तथा हिन्दी में राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हो लगा। सन् १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ और उसे एक राष्ट्र भाषा की आवश्यकता हुई, जिसमें निम्न-लिखित गुण हों—

१—उस भाषा को प्रजातन्त्र भारत की अधिकतम जनता के लिए सुगम, गम्य तथा सरलतापूर्वक पठनीय होना चाहिये।

२—उस भाषा की लिपि तथा शब्दावली भारत के प्रत्येक भाग के लिए उपयोगी तथा अनुकरणीय हो सके ।

३—संस्कृत भाषा के शब्द प्राय: सभी भारतीय भाषाओं में मिलते हैं, अत: उस भाषा की प्रकृति संस्कृत के अधिक समीप हो ।

४—उस भाषा में ज्ञान, विज्ञान, अध्यात्म आदि विषयों को व्यक्त करने की क्षमता बढ़ाई जा सके ।

५—उस भाषा का प्रयोग भारत की अधिकांश जनता करती हो ।

इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हिन्दी ही कर सकती है । इसकी शब्दावली और लिपि इतनी सरल और वैज्ञानिक है कि सभी भारतीय इसको सरलतापूर्वक समझ और सीख सकते हैं । यह देखा गया है कि अन्य सुदूर प्रान्तों के लोग भी हिन्दी बोली जाने वाली भूमि में आकर स्वल्प-काल में ही इसे सीख लेते हैं और बोलने समझने लग जाते हैं, पर अन्य प्रान्तों की भाषाओं के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई पड़ती है । इसी प्रकार यह भाषा अधिक उन्नत भी है । ज्ञान, विज्ञान, अध्यात्म आदि से सम्बद्ध विषयों का प्रतिपादन इसमें सरलतम ढंग से हो सकता है । इसकी व्यापकता भी अन्य प्रान्तीय भाषाओं से अधिक है । मिथिला से लेकर पंजाब तक तथा विन्ध्याचल से उत्तर के पूरे क्षेत्र में इसका प्रयोग होता है । इसकी प्रकृति संस्कृत से अधिक साम्य रखती है । अत: यह राष्ट्र-भाषा के सभी सामान्य गुणों से युक्त है तथा इसकी त्रुटियाँ सरलता से दूर की जा सकती हैं ।

अन्य भारतीय भाषाओं की अवस्था—अन्य सभी भारतीय भाषाओं का क्षेत्र हिन्दी की अपेक्षा बहुत सीमित है । उनकी लिपि तथा शब्दावली कठिन तथा एक-देशीय है । संस्कृत शब्द अन्य भाषाओं में आकर अधिकतर बदले प्रतीत होते हैं । अन्य भाषाओं की प्रकृति भारत की चिर-परिचित संस्कृत भाषा से अधिक भिन्न है । दक्षिण भारत की भाषाओं का परिवार ही भिन्न है । इस प्रकार भारत की अन्य भाषाएँ प्रयत्न करने पर भी सम्भवत: हिन्दी जैसी सर्वग्राही नहीं बन पायेंगी । अन्य भाषाओं में इतनी नमनीयता नहीं है जो भारत की बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार उपयोगी बन सकें । फिर भी प्रान्तीय भाषा के रूप में उनकी उपयोगिता अक्षुण्ण हैं । उनका संरक्षण और संवर्द्धन आवश्यक है ।

हिन्दी का वर्तमान रूप—वर्तमान रूप में हिन्दी इतनी सर्वग्राही तथा लचीली है कि वह प्राय: सभी प्रकार के प्रचलित भावों, ज्ञान-विज्ञान एवं प्रचलित शब्दों को अपनाने में असमर्थ है । संस्कृत की सहायता से तथा विद्वानों के प्रयत्न से इसका शब्द भण्डार अत्यन्त व्यापक तथा बहुउद्देश्यपूरक बनता चला जा रहा है । संस्कृत साहित्य की व्याकरण सम्बन्धी जटिलता हिन्दी में घट गई है । इस भाषा में **'रामचरित मानस'**, **'सूर-सागर'**, **'बिहारी-सतसई'**, **'प्रिय-प्रवास'**, **'कामायनी'** जैसे ग्रन्थ बन चुके हैं । आज हिन्दी के प्रौढ़ विद्वान केवल भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी मिलते हैं । अनेक विदेशी विश्वविद्यालय हिन्दी को अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिये हुए हैं ।

भारत की सबसे बड़ी विशेषता यहाँ की सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता है । यहाँ के तीर्थों में लंका से लेकर काश्मीर तथा पंजाब से बर्मा तक के लोग समान भाव से आते हैं तथा समान रूप से सम्मिलित होते हैं । यहाँ प्रान्तगत विभिन्नता के दर्शन नहीं

होते। उनका कार्य हिन्दीभाषी पण्डों और पुजारियों की टूटी-फूटी शब्दावली से चल जाता है। रामः से उत्तर-भारत को लोग जाते हैं पर उनमें भेदभाव नहीं रहता। इस एकता के मूल में सांस्कृतिक तथा धार्मिक भावना ही काम करती है। हिन्दी भाषा में यह सांस्कृतिक, दार्शनिक तथा धार्मिक तत्व भी अन्य भाषाओं से अधिक हैं। अतः हिन्दी में ही राष्ट्रभाषा की सर्वाधिक क्षमता है।

वैज्ञानिकता—(हिन्दी भाषा स्वयं वैज्ञानिक होने के साथ-साथ इसमें वैज्ञानिक तत्वों को ग्रहण करने की अधिक क्षमता है। विज्ञान में प्रयुक्त शब्दावली का निर्माण हिन्दी में सरलतापूर्वक हो सकता है, कारण यह है कि आधुनिक विज्ञान की शब्दावली हिन्दी में पर्याप्त मात्रा में बन गई है।) साथ ही गणित और ज्योतिष के ऐसे अनेक शब्द हैं जो ज्यों के त्यों विभक्ति हटाकर हिन्दी में ग्रहण कर लिये जाते हैं और अनेक ग्रहण भी कर लिये गये हैं। (हिन्दी में विभक्तियाँ अलग से लगाई जाती हैं अतः ग्रहीत शब्दों में विकार कम आता है और वे अपेक्षित विषय के लिये अभिलषित अर्थ में प्रयुक्त हो जाते हैं।) अंग्रेजी या अन्य भाषाओं के शब्दों को भी अपने व्याकरण के अनुसार शासित करके अपनाने में हिन्दी की क्षमता सर्वाधिक है। आध्यत्मिक ज्ञान सम्बन्धी साहित्य हिन्दी में पर्याप्त मात्रा में है। (संक्षेप में यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी अधिक वैज्ञानिक भाषा है।

हिन्दी की देवनागरी लिपि और उसकी उपयोगिता—देवनागरी लिपि का क्रमिक विकास ध्वनि के उच्चारण में श्वास (साँस) के निकलने से जो क्रम बनता है उसी के आधार पर हुआ। इसका प्रारम्भिक रूप मोटे तौर पर रख दिया गया था। ज्यों-ज्यों विद्वानों ने इस विषय पर सूक्ष्मता से विचार किया त्यों-त्यों उसका रूप सुन्दर और अधिक वैज्ञानिक होता चला गया। अपने वर्तमान रूप में यह लिपि सर्वाधिक प्रभावशाली तथा वैज्ञानिक है। इस लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसी शब्द के उच्चारण में जितनी ध्वनियों का जितना अंश प्रयोग में आता है उतना ही लिखा जाता है। किसी की ध्वनि अनावश्यक नहीं लिखी जाती और न आवश्यक ध्वनि का अभिप्रेत अंश छोड़ा जाता है। इस ध्वनि में प्रत्येक ध्वनि के लिये संकेत बना हुआ है। अतः जो कुछ लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है। उच्चारण काल के अनुसार स्वरों के ह्रास्व, दीर्घ और प्लुत तीन रूपों के लिये अलग संकेत प्रयुक्त होते हैं। इस लिपि में प्रायः सभी ध्वनियों के लिए अलग-अलग संकेत बने हैं। मात्राओं के रूप में स्थिरता तथा वैज्ञानिकता है। व्याकरण प्रायः संस्कृत व्याकरण सूत्रों के आधार पर बना है अतः वहाँ भी स्थिरता तथा एकरूपता बनी रहती है। अंकों के रूपों में सुडौलता अथा वैज्ञानिकता है। यह इस लिपि की सबसे बड़ी विशेषता है। अंग्रेजी तक में अपवादों का राज्य है पर इसके व्याकरण में अपवादों का प्रायः अभाव है। अतः हिन्दी भाषा की लिपि अधिक उपयोगी है। इसी लिपि में संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाएँ लिखी गई हैं। इसी से मिलती-जुलती लिपि में बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाएँ भी लिखी जाती हैं। अतः यह गुण भी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के योग्य बनाता है।

उपसंहार—(ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत जैसे विशाल राष्ट्र के लिये, जिसमें अनेक जाति, धर्म और परम्परा को मानने वाले लोग बसते हैं

और जहाँ अनेक प्रान्तीय भाषाएँ बोली और लिखी-पढ़ी जाती हैं, हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा बन सकती है।) भारतीय समाज (राष्ट्र) की सबसे बड़ी विशेषता—अनेकता में एकता, विषमता में समता, विभिन्नता में सहयोग। भारतीय संस्कृति की ही यह विशेषता है कि विभिन्न प्रकार के लोगों को उनकी जातिगत विशेषता के साथ उन्हें अपने में आत्मसात् कर लेती है।(इसी प्रकार हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो भारत की राष्ट्रीयता को अविकल रखते हुए पूरे देश की राष्ट्र-भाषा बन सकती है।

१२. देवनागरी लिपि और उसकी वैज्ञानिकता

१—भूमिका, २—देवनागरी लिपि का क्रमिक विकास, ३—इसकी वैज्ञानिकता, ४—इसका स्वरूप. ५—देवनागरी लिपि के गुण, ६—देवनागरी लिपि के कतिपय दोष, ७—उपसंहार।

भूमिका—भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत को देववाणी तथा उसमें प्रयुक्त लिपि को देवनागरी लिपि कहा जाता है। जिस प्रकार अन्य लिपियाँ—अरबी, रोमन, चीनी, जापानी, द्रविड़ आदि हैं, उसी प्रकार देवनागरी लिपि भी है। इस लिपि का प्रयोग कब से हो रहा है यह निश्चित नहीं है। वेदों की रचना इसी लिपि में की गई है। वेदों की व्यवस्थित तथा उत्कृष्ट रचना को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि वैदिक युग के पूर्व से ही इसका प्रयोग होता आ रहा है। लिपियों का प्रयोग ध्वनियों को व्यक्त करने के संकेत के रूप में होता है। मनुष्य के मुख से जो ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं उनको किस रूप में रखा जाय या उनको व्यक्त करने के लिए कैसा संकेत रखा जाय यही लिपियों के आविष्कार का कारण है। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया त्यों-त्यों मनुष्य को अपनी भावनाओं को व्यक्त करने तथा स्थायी रखने के लिए साधन आवश्यक होने लगे। इस क्रम में मनुष्य ने ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए संकेतों का निर्माण किया और इन संकेतों की रूप-रेखा और आकार-प्रकार ध्वनि विशेष के उच्चारण में श्वास के घुमाव के अनुसार बनाया गया। देवनागरी लिपि इसी आधार पर बनाई गई है। इसका प्रारम्भिक रूप सीध-सादा था परन्तु धीरे-धीरे इसे सुन्दर और व्यवस्थित करके वर्तमान रूप में लाया गया।

देवनागरी लिपि का क्रमिक विकास—महर्षि पाणिनि के मतानुसार शंकर भगवान जब ताण्डव नृत्य कर रहे थे, तो उसके अन्त में उन्होंने अपने डमरू को चौदह बार बजाया और उससे देवनागरी ध्वनियों का विकास हुआ। उसी के आधार पर पाणिनि ऋषि ने अपने व्याकरण ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' की रचना की। उन्होंने चार सहस्र से अधिक सूत्रों का निर्माण किया। इन्हीं सूत्रों के आधार पर सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र की रचना हुई। इसमें स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, ऋ, ॠ, ऌ आदि तेरह और क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, ह्, क्ष्, त्र्, ज्ञ्, अः आदि अड़तीस व्यंजनों का समावेश हुआ। यही देवनागरी लिपि का परिवार है। इनका वर्तमान रूप अनेक परिवर्तनों और संशोधनों के बाद बन पाया है। वर्तमान सरकार ने

भी टंकण-सुविधा के लिए इसमें कुछ सुधार करने का प्रयास किया पर इनका रूप और आकार इतना वैज्ञानिक और सुन्दर है कि सुधार में विकृति आ जाती है और लाभ भी नहीं होता। इनकी वर्णमाला में सभी सम्भव ध्वनियों के लिए संकेत बने हुए हैं। स्वर व्यंजनों से मिलकर उन्हें उच्चारण सुलभ बनाते हैं। इनके व्यंजनों में स्वराभाव दिखाने के लिए हलन्त लगाना पड़ता है या संयुक्ताक्षर बनाना पड़ता है।

देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता—देवनागरी लिपि में हर ध्वनि के लिए निश्चित संकेत के कारण जो कुछ लिखा जाता है वही पढ़ा भी जा सकता है। पाठक को अपनी ओर से कुछ भी मिलाना नहीं पड़ता; और न किसी ध्वन्यांश को छोड़ने की आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण यह लिपि सर्वाधिक वैज्ञानिक मानी जाती है: वैज्ञानिक वही वस्तु कही जाती है जिसमें सविकल्पक ज्ञान हो यानी जहाँ स्पष्ट और ठोस ज्ञान हो। इन लिपियों में स्पष्ट और ठोस ज्ञान भरा हुआ है। व्याकरण शास्त्र ने इन सभी वर्गों के उच्चारण-स्थान तथा उच्चारण में श्वास गति और जिह्वा की स्थितियों का बराबर ध्यान रखा है, अतः प्रत्येक वर्ग का स्वतन्त्र स्पष्ट अस्तित्व माना जाता है। कोई भी लिपि ऐसी नहीं है जिसमें इतनी वैज्ञानिकता हो। रोमन, अंग्रेजी, अरबी, चीनी, जापानी आदि विभिन्न लिपियों के लिखने और पढ़ने में अनेक विकल्पों की शंका हो जाती है। कहीं संयोग में वर्ण का रूप ही लुप्त हो जाता है तो कहीं उनके उच्चारण में भेद हो जाता है। कहीं व्याकरण के नियम से अधिक महत्त्वपूर्ण अपवाद ही बन जाते हैं। अंग्रेज़ी में 'बी-यू-टी' का उच्चारण 'बट' हो जाता है तथा 'पी-यू-टी' का उच्चारण 'पुट' होता है। एक ही स्वर 'यू' जो प्रथम स्थान में 'अ' का काम करता है वही दूसरे स्थान पर 'उ' का काम करता है। इस प्रकार की अनेक अव्यवस्थाएँ दीखती हैं। 'एच ओ यू एस इ' से 'हाउस' शब्द बनता है। इसमें 'इ' का वर्ण उच्चारण में स्पष्ट नहीं होता। यही स्थिति अनेक शब्दों में देखी जाती है। अरबी लिपि में तीन ही स्वरों से काम लिया जाता है, अतः विकल्प ज्ञान उच्चारण में सम्भावित रहता है। यही दशा और भाषाओं की लिपियों की भी है, देवनागरी लिपि के उच्चारण में सदा निर्विकल्प ज्ञान रहता है, अतः लिखने-पढ़ने और समझने में कठिनाई नहीं पड़ती। इन कारणों से इनकी वैज्ञानिकता पूर्णरूपेण प्रमाणित हो जाती है।

इसका स्वरूप व्याकरण के अनुकूल है। 'क' वर्ग के सभी वर्ण प्रायः समान से लगते हैं क्योंकि उनके उच्चारण-स्थान समीप ही होते हैं। उसमें ध्वन्यात्मक समानता जान पड़ती है। किन्तु श्वास की उनके उच्चारण में पृथक विकारगति होती है इसलिए उनके आकार में भिन्नता है। इसी प्रकार की स्थिति 'च वर्ग', 'ट वर्ग', 'त वर्ग' और 'प वर्ग' के वर्णों की भी है। य, र, ल, व आदि वर्ण अपना-अपना स्वतन्त्र उच्चारण स्थान रखते हैं अतः उनके आकार में समता का अभाव है और वे वर्गीकृत भी नहीं हैं। स्वरों के आकार-निर्धारण में उनके उच्चारण काल का ध्यान रखा गया है और वे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इस प्रकार विभाजित किये गये हैं कि उनसे सम्बन्धित मात्राएँ उच्चारण-प्रकार के अनुसार पास की है। 'अ इ' आदि स्वर व्यंजनों में मिलकर हलन्त की तिरछी लकीर को, जो व्यंजनों के नीचे लगाई जाती है, लुप्त कर देते हैं। अन्य मात्राओं का रूप भी इसी प्रकार निर्धारित हुआ है। इनके रूपों में भी सन्देह के लिए स्थान नहीं रहता।

देवनागरी लिपि में एक वर्ग 'ख' है जो 'र' और 'व' का मिला हुआ रूप है। यदि लिखने में सतर्कता बरती जाय, वर्णों के ऊपर दी जाने वाली रेखा पर ध्यान दिया जाय तो यह सन्देह भी मिट जाता है। 'ख' को मिलाकर रेखा खींचते हैं तथा र, व की शिरोरेखा अलग-अलग खींची जाती है। कुछ लोग श और स तथा ष, ख को **सदोष** मानते हैं। पर इन ध्वनियों में भारतीय विद्वानों ने उचित अन्तर और भेद दिखाया है तथा इनके उच्चारण स्थान में विभिन्नता प्रमाणित की है, अतः ये भी निर्दोष ही हैं। इस प्रकार देवनागरी लिपि के प्रत्येक वर्ण प्रायः निर्दोष हैं।

देवनागरी लिपि के गुण-दोष—ध्वनि को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के कारण लिपियों का महत्व है। ध्वनि के आकार-प्रकार पर स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत प्रभाव पड़ता है। भारतवर्ष एक ऐसा देश है जहाँ की प्रकृति और वायुमण्डल प्रायः स्पष्ट और सम रहता है, अतः मुँह खोलकर श्वास लेने में या ध्वनियों के उच्चारण में कठिनाई नहीं पड़ती। इसलिए ये संकेत ध्वनियों को ठीक-ठीक व्यक्त करने में समर्थ हैं। इसका परिणाम, शुद्धता के रूप में पहले बताया गया है। इनमें दोष यह है कि टंकण-क्रिया में कठिनाई पड़ती है। यह कठिनाई संयुक्त अक्षरों तथा वर्णों की अधिकता और मात्राओं के लिए भिन्न-भिन्न संकटों के कारण होती है। विराम चिन्हों का प्रयोग भी आवश्यक होता है। इन कारणों से मशीन का आकार बढ़ जाता है। फिर भी प्रयास करके इनको टंकित किया जाने लगा है।

देवनागरी लिपि में सुधार—देवनागरी लिपि इतनी पूर्ण और वैज्ञानिक है कि इसमें आगे सुधार की कोई गुंजाइश ही नहीं है। इस बीच में जो सुधार किये गये वे भी उपयुक्त नहीं सिद्ध हो सके बल्कि वे भ्रम पैदा करने वाले ही अधिक हुए। 'इ' और 'ई' (ि, ी) की मात्राओं का क्रमशः 'ी, ी' रूप दिया गया था। इसमें कठिनाई यह है कि यदि लेखकों की असावधानी से खड़ी रेखा तनिक बढ़ गई तो गलती स्वाभाविक हो जायेगी। इस प्रकार इतनी पूर्ण लिपि में सुधार के स्थान पर व्याकरण सम्बन्धी नियमों का स्पष्ट अध्ययन अधिक आवश्यक है। नागरी लिपि अपने वर्तमान रूप में निर्दोष है।

भारत सरकार और कुछ राज्य सरकारों ने देवनागरी लिपि में सुधार के लिए कुछ समितियों की नियुक्ति की और कुछ सुधार भी किये गये। इन सुधारों का कोई विशेष महत्व देवनागरी लिपि के क्षेत्र में है नहीं। इससे उसकी वैज्ञानिकता में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई।

१३. हिन्दी और उर्दू विरोध मिटाने की आवश्यकता और उपाय

१—भूमिका, २—हिन्दी और उर्दू की समानता, ३—हिन्दी और उर्दू की भिन्नता, ४—दोनों की प्रकृति, ५—विरोध मिटाने के उपाय, ६—उपसंहार।

भूमिका—११९२ ई० जब मुहम्मद गोरी ने दिल्ली पर अधिकार जमा लिया और शासनाधिकार कुतुबुद्दीन ऐबक को सौंपकर स्वयं गजनी चला गया तो फारसी और पंजाबी के शब्द लाहौर और दिल्ली के समीपवर्ती स्थानों में प्रचलित थे, वे वहाँ की खड़ी बोली में मिल-जुल गये। इस प्रकार ब्रजभाषा, राजधानी, हरियानी, अवधी

आदि से मिलकर एक नई भाषा बन गई जिसे **अमीर खुसरो** ने **'हिन्दवी'** नाम दिया। उन्होंने "खालिकबारी" नाम से एक शब्द-कोष बनाया जिसमें इस मिश्रित देशी भाषा को 'हिन्दवी' कहा गया। इधर सूफियों ने अपना धर्म-प्रचार कार्य इसी 'हिन्दवी' में प्रारम्भ कर दिया था। आगे चलकर यह भाषा रेखता (मिश्रित) भाषा कही गई। अमीर खुसरो फारसी के मशहूर शायर थे तथा देशी भाषा के अच्छे कवि और ज्ञाता थे। उन्होंने तथा इसी वर्ग के कतिपय अन्य विद्वानों ने १३वीं—१४वीं शताब्दी में इस भाषा को 'हिन्दवी', 'हिन्दुई' या 'हिन्दी' नाम दिया। फारसी के कुछ शायरों ने इसमें अरबी, फारसी तुर्की शब्दों की अधिकता कर दी और शाहजहाँ के शासन-काल में इसका नाम बदल कर 'हिन्दवी', रेखता हो गया जो कालान्तर में बदलकर उर्दू कर दिया गया। फिर भी इस भाषा के लिए बहुत समय तक 'रेखता' शब्द का प्रयोग होता रहा। औरंगजेब की दक्षिण विजय के बाद उर्दू की दकनी और गूजरी शैलियों पर फारसी का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। तब से इन भाषाओं का रूप दो धाराओं में बढ़ने लगा। संस्कृत के विद्वानों ने संस्कृत शब्दों का मिश्रण किया तथा फारसी वालों ने अरबी-फारसी का और तदनुसार हिन्दी और उर्दू दो नामों का प्रयोग चल पड़ा। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हिन्दी और उर्दू में खींचा-तानी प्रारम्भ हो गई। **भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी** के समय तक राजा **लक्ष्मणसिंह** आदि विद्वानों के प्रयत्न से हिन्दी का शुद्ध रूप अपनाया जाने लगा। **राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'** आदि अनेक विद्वानों ने **'आम-ओ-फहम'** जुबान यानी हिन्दुस्तानी को प्रश्रय दिया।

हिन्दी और उर्दू की समानता और भिन्नता—हिन्दी और उर्दू में पर्याप्त समानता है। दोनों के क्रियापदों में एकता है। विभक्तियाँ भी प्रायः एक-सी ही हैं। **हिन्दी में कहते हैं, 'बातचीत करते हैं' और उर्दू में कहते हैं 'गुफ्तगू करते हैं'** उर्दू में क्रिया हिन्दी की है पर उसमें 'गुफ्तगू' फारसी का शब्द मिलाकर उसे उर्दू बना दिया गया है। 'आपने मेरे गरीबखाने पर तशरीफ लाकर बड़ी इनायत फरमाई' (उर्दू) तथा 'आपने मेरी कुटी पर पधार कर बड़ी कृपा की' (हिन्दी)। इन दोनों वाक्यों की भाषा की प्रकृति तो एक ही है पर उसमें शब्दों के संयोग के अनुसार अन्तर पड़ गया है और दोनों का झुकाव दो दिशाओं में स्पष्ट दीखता है। हिन्दी का झुकाव संस्कृत की ओर हो गया, तथा उर्दू का रुख फारसी की ओर। आगे चलकर दोनों भाषाएँ स्पष्टतया दो दिशाओं में विकसित होने लगीं। यों तो सभी सजीव भाषाएँ अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों को अपना बना कर मिला लेती हैं पर उनकी प्रकृति में अन्तर नहीं आने पाता। उर्दू को मोड़ देकर हिन्दी से भिन्न किया गया तथा फारसी की प्रकृति लाने का प्रयास किया गया। अरबी और फारसी के शब्दों को उनकी मूल प्रकृति (यानी मुक्ता आदि) के साथ अपनाना उर्दू में प्रारम्भ किया गया तथा 'संस्कृत' को 'संसकिरत; 'ब्राह्मणा' को 'बराहमन' कहना प्रारम्भ किया गया अतः स्वभावतया दोनों में विरोध बढ़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के मुसलमानों ने उर्दू को अपनाया और हिन्दुओं ने हिन्दी को। काँग्रेस ने हिन्दी-मुसलमानों को मिलाने का प्रयास किया और उसी की एक कड़ी हिन्दुस्तानी (मिश्रित भाषा) प्रकाश में आई। सन् १९४६ ई० में जातीय आधार पर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बँटवारा हो गया फलतः भारत ने हिन्दी को अपनी राष्ट्र-भाषा माना तथा पाकिस्तान ने उर्दू को। फिर भी भारत में दोनों भाषाएँ अभी चल रही हैं।

लिपि की विविधता—हिन्दी और उर्दू की भिन्नता का एक मुख्य कारण है—उर्दू का अरबी लिपि में तथा हिन्दी का देवनागरी लिपि में लिखा जाना। दोनों लिपियों की मूल-प्रकृति में भेद है। देवनागरी लिपि बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती है तथा अरबी लिपि दाहिनी ओर से बाईं ओर। जहाँ तक दोनों लिपियों की वैज्ञानिकता का प्रश्न है, निर्विवाद रूप से नागरी लिपि अधिक वैज्ञानिक है। इसकी प्रत्येक लिपि अपनी स्वतन्त्र ध्वनि को व्यक्त करने में समर्थ है। जो कुछ लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है। इसी वर्णमाला में स्वरों की संख्या आवश्यकता के अनुसार सूक्ष्म है, किन्तु अरबी लिपि में सभी ध्वनियों के लिए लिपियाँ नहीं हैं। उनकी लिपियों में इतनी समानता है कि एक नुक्ते (बिन्दु) की गलती से 'खुदा' को सरलता में 'जुदा' पढ़ा जा सकता है। उनके यहाँ केवल 'जेर'' 'पेश' तीन ही स्वर हैं जिसके उच्चारण के समय अन्दाजा लगाना पड़ता है। संक्षेप में वर्तमान दशा में हिन्दी-उर्दू दोनों समानान्तर मार्ग पर बढ़ रही हैं, तथा दोनों की प्रकृतियों में काफी अन्तर आ गया है।

दोनों की प्रकृति—हिन्दी की क्रियाएँ, प्रत्यय, उपसर्ग तथा विभक्तियाँ आदि संस्कृत से आई हैं। संस्कृत व्याकरण के सूत्रों के आधार पर हिन्दी-व्याकरण बना है। संस्कृत के समान शब्द के अनेक रूप होते हैं जिनमें सूक्ष्म अन्तर है। उनमें से समानांतर रूप से क्रिया रूप को ले लिया गया है तथा बहुतों को छोड़ दिया गया है, पर जिनको ग्रहण किया गया है वे नियमित हैं तथा उनका विकास-क्रम स्वाभाविक है। 'गम्' धातु का अर्थ है जाना। संस्कृत के वर्तमान काल में इसका रूप निम्न प्रकार है—प्र०पु० के एक व०, द्वि० व०, बहुवचन में क्रमशः गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति होता है। हिन्दी में साधारण लोगों की बोली में क्रमशः जाता है, जाते हैं—हो जाता है। द्विवचन और बहुवचन में हिन्दी में अन्तर नहीं है, अतः द्विवचन को हटाकर केवल एक वचन, बहुवचन, दो ही रखे गये हैं। इस प्रकार से अन्य परिवर्तनों के कारण हिन्दी में संस्कृत भाषा की जटिलता नहीं रह गई फिर भी अनियमितता नहीं आई है। यही क्रम अन्य विभक्तियों में भी चला है। संस्कृत के पद विभक्तियों के साथ मिलाकर लिखे जाते हैं तथा हिन्दी में विभक्तियाँ अलग से लगती हैं। इसका एक प्रभाव यह होता है कि हिन्दी के वाक्य में कर्त्ता, कर्म, क्रिया आदि का निश्चित स्थान बन गया है। उन शब्दों का यदि स्थान परिवर्तन कर दिया जाय तो अर्थ में अन्तर पड़ जाता है पर संस्कृत में यह बात नहीं होती। इस प्रकार हिन्दी की प्रकृति संस्कृत के साथ चलती है। उर्दू की प्रकृति किसी निर्धारित मार्ग का संकेत नहीं करती यद्यपि उसे फारसी की ओर माना जाता है।

विरोध मिटाने का उपाय—भाषा-सम्बधी विरोध का प्रश्न तो तब उठता है जब उन्हें मिलाने का अस्वाभाविक प्रयत्न किया जाता है। कोई आपत्ति नहीं है यदि दोनों भाषाएँ स्वाभाविक रूप में उन्नति करती जाएँ। लेकिन यदि विरोध मिटाकर एकता का प्रयास करना है तो उनके लिए संकीर्णता और दुराग्रह छोड़कर कुछ उपाय अपनाये जा सकते हैं। यह स्पष्ट हो गया है कि हिन्दी और उर्दू की मूल प्रकृति भारतीय है। भारतीय देशी भाषाओं से ही दोनों का प्रारम्भ हुआ है। अतः प्रथम उपाय यह है कि दोनों की मूल भारतीय प्रकृति को स्वीकार किया जाये और उनके

विकास को स्वाभाविक क्रम से बढ़ाया जाय। नागरी लिपि में दोनों को लिखा जाय तथा उनमें एकरूपता ले आने का प्रयत्न किया जाय। दूसरा उपाय यह है कि अरबी, फारसी तथा संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग हिन्दी के रूप में किया जाय तथा भावाभिव्यक्ति के योग्य प्रचलित शब्दों को हिन्दी की प्रकृति के अनुसार ग्रहण किया जाय। यदि 'चाकू' का प्रयोग करना है तो उसे 'चाकू' या 'छुरिका' ना लिखकर 'चाकू' या 'छुरी' लिखा जाय। यदि 'गनीमत' का प्रयोग करना है तो उसे 'गनीमत' लिखा जाय। यदि गाड़ी का प्रयोग करना है तो कोई आवश्यकता नहीं है कि 'शकट' को खोजा जाय। इस प्रकार से यदि उपाय किया जाय तो सम्भव है कि एकता आ जाय। इस कार्य के लिए सबसे अधिक ावश्यकता है संकीर्ण मनोवृत्ति तथा दुराग्रह के त्याग की। 'प्रिय-प्रयास', 'कामायनी' 'रामचन्द्रिका', 'स्वर्ण-किरण' आदि ग्रन्थों की भाषा को और निम्न स्तर पर लाना पड़ेगा। इसके लिए भाषा को सर्वाधिक सामान्य भाषा बनाना पड़ेगा। इसके लिए 'दीघाटी' या 'भैंसा भाड़ी' या मेरे नगपति मेरे विशाल' शीर्षक कविताओं की भाषा अपनानी पड़ेगी। इससे स्वाभाविक गौरव तो नहीं आ पायेगा पर हिन्दी सर्व-साधारण की भाषा बन जायेगी और हिन्दी उर्दू का विरोध प्रायः मिट जायेगा।

उपसंहार—आज के युग में जो हिन्दी उर्दू का विरोध खड़ा करके अपने स्वार्थ-साधन में रत हैं वह दोनों ही भाषाओं के सबसे बड़े शत्रु हैं। धर्म-निरपेक्ष भारतीय जनता से यह आशा की जाती है कि वह ऐसे लोगों से सचेत रहेगी और हिन्दी और उर्दू को और अधिक निकट लाने का प्रयास करेगी।

इसी दिशा में हिन्दी और उर्दू के कुछ प्रगतिशील लेखक निरन्तर प्रयत्नशील हैं। इस दिशा में लखनऊ, इलाहाबाद और बम्बई में कुछ सम्मेलन भी हो चुके हैं और हिन्दी-उर्दू समझौते पर हस्ताक्षर भी किये जा चुके हैं। वास्तव में दोनों को विरोधी मानना ही अनुचित है। दोनों ही इसी देश की भाषाएँ हैं और उनका सहअस्तित्व उचित ही नहीं आवश्यक भी है।

१४. हिन्दी काव्य का स्वर्ण युग (भक्तिकाल)

१—भूमिका, २—हिन्दी के स्वर्ण युग की पृष्ठभूमि, ३—स्वर्ण-युग (भक्तिकाल) की रूपरेखा, ४—स्वर्ण युग का लोक-पक्ष, ५—स्वर्ण-युग का आध्यात्मिक पक्ष, ६—उपसंहार।

भूमिका—स्वर्ण संसार का सर्वाधिक मूल्यवान पदार्थ है। किसी वस्तु का अधिकतम मूल्य व्यक्त करने के लिए प्रायः स्वर्ण विशेषण लगाया जाता है। हिन्दी काव्य का जीवन लगभग एक सहस्र वर्षों का हो चुका है। इस अवधि में हिन्दी काव्य-धारा के प्रवाह में अनेक मोड़, चढ़ाव तथा क्रिया-प्रतिक्रिया का समय आया और गया। यह कह सकना कठिन है कि हिन्दी काव्य का सर्वोत्तम काल अथवा स्वर्ण-युग कौन-सा है? प्रत्येक युग का अपना महत्व है, उसकी अपनी विशेषता है, उसका अपना स्थान है। इस समस्या के समाधान के लिए सिद्धान्त बनाना आवश्यक है जिसके आधार पर यह

निश्चय किया जाय कि कौन-सा युग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है ? **भारतीय आचार्यों ने काव्य के चार उद्देश्य बताये हैं—यश प्राप्ति, अर्थ-प्राप्ति, व्यवहार-कुशलता तथा अनिष्ट से रक्षा। इन उद्देश्यों की पूर्ति जिस युग का काव्य करता है वही स्वर्ण युग कहा जा सकता है।** इसी बात को सुविधा के लिए कह सकते हैं कि लौकिक और पार-लौकिक दोनों प्रकार के हित की भावना जिस युग के काव्य में अधिक है और जिस युग के काव्य में रस की सुरसरि प्रवाहित होती है, उस युग को स्वर्ण-युग माना जायगा। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल एक ऐसा काल है जिसमें भारतीय समाज की अन्तश्चेतना का पूर्ण विकास हुआ तथा लोक-परलोक दोनों को सुखमय बनाने की भावना को काव्य में व्यक्त किया गया। हिन्दी काव्य का चरम-विकास उस युग में हर दृष्टि से हुआ। अतः निर्विवाद रूप से भक्ति काल ही हिन्दी का स्वर्ण-युग कहा जायगा।

स्वर्ण-युग की पृष्ठभूमि—विदेशी शासकों को राजनैतिक प्रभुता प्राप्त करने में हिन्दुओं की हर प्रकार की भावनाओं को कुचलना पड़ा। हिन्दुओं पर भाँति-भाँति के अत्याचार किये गये। धन प्राप्ति तथा धर्म प्रचार की भावना से मन्दिरों को भ्रष्ट करना, लूट-मार कर धन लेना, पुजारियों और धर्मगुरुओं की हत्या करना भी उनका महत्वपूर्ण कार्य था। इस प्रकार राजनीतिक और धार्मिक दृष्टि से हिन्दू जनता को त्रस्त करके उन लोगों ने अपना शासन बढ़ाया और जमाया। समाज की स्थिति को अस्त-व्यस्त करने के लिए सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों ढंग से धर्म-परिवर्तन का कार्य होता था। युद्ध की व्यापकता के कारण कृषि, व्यवसाय आदि सभी नष्ट-भ्रष्ट हो रहे थे। फिर १३वीं—१४वीं शताब्दी से वे व्यवस्थित शासक बनकर राज्य करने लगे। दोनों जातियाँ संघर्ष से ऊब चुकी थीं, और एक साथ रहने के कारण उनमें कुछ सद्भावना उत्पन्न होने लग गई थी। फलतः कुछ परिस्थितियों ने ऐसा वातावरण पैदा कर दिया कि मुसलमानों का एकेश्वरवाद भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद से समन्वित होने लगा। ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्तों (कबीर आदि) की वाणियों का आदर जनता में होने लगा। सूफियों का प्रेम-मार्ग भारतीय समाज से समन्वित किया गया तथा 'प्रेम-मार्गी' कवियों का प्रचार बढ़ने लगा। सामाजिक अव्यवस्था को हटाकर जब व्यवस्थित जीवन-क्रम की आवश्यकता पड़ी तभी तुलसी जैसे रामभक्तों का उद्भव हुआ तथा ईश्वर-प्रेम की अन्यतम धारा कृष्ण भक्त सूर आदि महात्माओं ने बहाई। इस प्रकार इन महात्माओं ने समाज के सभी वर्गों तथा सभी सम्प्रदायों के लिए भगवद्भक्ति का मार्ग सुलभ बनाया।

हिन्दी काव्य का स्वर्ण-युग—जो युग हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के नाम से माना जाता है उसे 'स्वर्ण-युग' भी कहा जाता है। यह युग संवत् १३७५ से लेकर संवत् १७०० तक चलता रहा।

काव्य के उद्देश्यों की पूर्ति इस युग में पूर्णतया हुई। इस युग के कवि और महात्मा प्रायः त्यागी तथा निर्भीक भगवद्भक्त थे। कबीर, नानक, रैदास, दादू, सहजोबाई, दयाबाई आदि ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही ईश्वर के प्रेम में उत्सर्ग कर दिया। उन्होंने अपने सिद्धान्त-प्रसार, जन-कल्याण, सामाजिक-व्यवस्था, ईश्वर-प्राप्ति, लौकिक उन्नति तथा जीवन की सार्थकता को प्रतिपादित करने के लिए काव्य-रचना की।

हिन्दुओं और मुसलमानों की पारस्परिक कटुता को मिटाना तथा समाज को व्यवस्थित करना और दोनों वर्गों की संकीर्णता हटाना इन लोगों का लक्ष्य रहा।

इस काल में काव्यगत तत्वों का चरम उत्कर्ष हुआ और भाषा की शक्ति में अपार वृद्धि हुई। 'मानस' की काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है, मानव प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य देखते हैं, उतना अधिक हिन्दी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं।"

रस का विकास—भक्ति काल में रस का वह सागर उद्वेलित हुआ जिसने सभी रसिकों को अपने में निमज्जित कर लिया। इसके कुछ चित्र देखिए—

संयोग श्रृंगार का चित्रण—

बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी। पियतन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंचु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥—तुलसी

विप्रलम्भ श्रृंगार—

पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धन विरहे जर मुई, तेन्हिक धुआं हम लाग॥
यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परे, कन्त धरे जहँ पाव॥ —जायसी

वात्सल्य रस का चित्रण—

मैया कबहि बढ़ेगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी
तू तो कहति बलि की बेनी ज्यों, होहि है लांबो मोटी।
काढ़त गुहत न्हावत पोंछत, नागिन सी भुँइ लोटी। —सूरदास

भाषा की उन्नति—इस काल में अवधी और ब्रज दोनों ही भाषाओं में कविताएँ हुईं। अवधी भाषा में 'मानस' तथा 'पद्मावत' महाकाव्यों की रचना हुई। गीत शैली तथा अन्य छंदों की रचनाएँ ब्रजभाषा में की गईं। ब्रजभाषा की रचनाओं में तुलसी, सूर, नन्ददास की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। भाषा साहित्यिक थी। विशेष रूप में श्रृंगार रस की प्रधानता होते हुए भी मर्यादा का उल्लंघन कहीं पर नहीं किया गया। जीवन से उदासीन भक्त कवियों ने भक्ति के भाव की चरमावस्था का दर्शन कराया। परन्तु ये कवि कभी भी लोक-पक्ष से उदासीन नहीं थे। शुक्ल जी के कथनानुसार "आत्म-पक्ष और लोक-पक्ष दोनों का समन्वय रामचरित का लक्ष्य है।" मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया गया। छन्द, अलंकार, रस-भाव, चरित्र-चित्रण आदि सभी काव्यांगों का पूर्ण विकास हुआ। अवधी और ब्रज भाषा की मुख्यता प्रतिपादित हो गई।

स्वर्ण-युग का लोक-पक्ष—स्वर्णयुग (भक्तिकाल) के कवियों ने लोक-पक्ष के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों ही रूप जनता के समक्ष रखे। उन लोगों ने समाज में व्याप्त बुराइयों की निन्दा की तथा उपयोगी मत व्यक्त किया। कबीर ने अपने स्वानुभूत ज्ञान की शिक्षा दी जब कि लोग संकीर्ण मान्यताओं पर दृढ़ थे। वे ईश्वर के विषय में अनेक भ्रम उत्पन्न कर रहे थे। मुसलमानों में यदि कुर्बानी, नमाज, रोजा,

कुरान आदि को कट्टरता से माना जाता था तो हिन्दुओं में वेद, पुराण, मूर्ति-पूजा, ब्राह्मण आदि को कट्टरता से माना जाता था तथा वर्णाश्रम का सिद्धान्त आडम्बरमय बना दिया गया था। कबीर ने साधारण जनता के व्यवहार योग्य सिद्धान्तों का प्रचार किया तथा मानव मात्र को एकता का पाठ पढ़ाया—'पढ़ै वे वेद और वे खुतबा वे मुलना वे पांडे। विगत-विगत के नाम धराये एक मांटी के भांड़े।' जीवात्मा को इन्होंने ईश्वर अंश मानकर अवतारवाद को भी मानने से इन्कार कर दिया और कहा —'घट-घट व्यापी राम।' फिर उन्होंने राम की व्याख्या की—'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम के मरम हैं आना।' पर इस 'आना मरम' को उन्होंने रहस्यपूर्ण ही रख छोड़ा। फिर भी ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश उन्होंने अपने ढंग से दिया। उन्होंने ईश्वर की शक्ति को सर्वव्यापी सिद्ध किया—'लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल। लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।' परन्तु कबीर तथा अन्य संत कवि फक्कड़ साधु थे तथा उन पर नाथपंथी योगियों का और तन्त्र-मन्त्र करने वाले रहस्यवादियों का अधिक प्रभाव था। अतः इन लोगों के उपदेशों में लोक-पक्ष की स्पष्ट उपेक्षा थी।

प्रेममार्गी सूफियों ने लोक-प्रचलित कथाओं द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया अतः उनको कथात्मक कविताएँ लोक-पक्ष को व्यावहारिक रूप में सामने रखती थीं। जायसी, कुतबन, मंझन, उसमान आदि की रचनाओं में लोक-व्यवहारों का सुन्दर चित्र खींचा गया है। जायसी के 'पदमावत की कथा' का प्रसंग देखिए—राजा रतनसेन हीरामन तोते के मुख से पद्मावती की अपूर्व सुन्दरता की कथा सुनकर अपने साथियों के साथ योगी होकर चलने लगता है। उस समय उसकी माता का विलाप, उसकी रानी नागमती का रो-रो कर रोकना फिर भी राजा का गमन, तथा उनके वियोग में नागमती का रो-रो कर बारहों महीनों को बिताने आदि के वर्णन में कवि ने लोक-पक्ष का सुन्दर चित्र सामने रख दिया है। पुनः पद्मावती और नागमती सपत्नीक ईर्ष्या से झगड़ जाती हैं तो उस समय राजा किस विदग्धता से उनमें मेल कराता है, आदि सैकड़ों प्रसंग लोक-पक्ष को पाठकों के सामने रखते हैं।

तुलसी के 'मानस' में तो मानों लोक-पक्ष में ही स्वर्ग-निर्माण कर दिया गया है। समाज के हर वर्ग को गोस्वामी जी पाठक के सामने सुन्दरता से उपस्थित करते हैं। नगर की चतुर जनता यदि कहीं अपनी कलात्मकता के साथ राम का अनुसरण कर रही है तो कहीं भोले-भोले शब्दों में ग्रामीण युवतियाँ स्वाभाविक ढंग से कहती हैं—'विलग न मानव जानि गँवारी। कहीं केवट अपनी सीधी-सादी भावुकता का परिचय देते हुए कहता है—'बिन पग धोये नाथ नाव न चढ़ाइहौं' तो कहीं ऋषि-मुनियों की दार्शनिक बातें सुनी जाती हैं और वाल्मीकि जी कहते हैं—'जेहँ न होहु तहँ देहु बताई।' राम ने प्रश्न किया था और उत्तर में प्रश्न ही मिला। इस प्रकार गोस्वामी जी ने अपने काव्य में वास्तविक विश्व को चित्रित कर दिया है।

सूर की भावुक भक्ति धारा में यद्यपि लोक-पक्ष का विवेचन कम है फिर भी वात्सल्य, प्रेम श्रृंगार आदि मानव-प्रकृतिगत भावनाओं का स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण है। माता-पुत्र का सम्बन्ध, प्रेममय बाल-मण्डली के कार्यकलाप तथा खेल, प्रेमियों की आकुलता, विरहियों का उद्वेग और उपालम्भ आदि में लोक-पक्ष की

अनुभूतियाँ भरी पड़ी हैं। संक्षेप में भक्ति काल में लोक-पक्ष का सुन्दर चित्र सामने आता है।

स्वर्ण-युग का आध्यात्मिक पक्ष—आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टि से यह काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वेद, पुराण, दर्शन, मीमांसा, भक्ति आदि सभी सिद्धान्तों का इस युग में किसी न किसी रूप में विवेचन किया गया है। धार्मिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन भी खूब किया गया। लौकिक दृष्टि से दार्शनिक सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप चित्रित किया गया है। मानव-जीवन में सांसारिक रीतियों का निर्वाह करते हुए मोक्ष प्राप्ति के साधन बताये गये। समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए स्वर्ग प्राप्ति, मोक्ष-प्राप्ति आदि को सुलभ कर दिया गया है।

उपसंहार—भक्ति काल की सबसे बड़ी देन यह है कि इस काल में तुलसीदास तथा जायसी ऐसे महाकाव्यकार हुए। तुलसी ने अपनी कृतियों से हिन्दी साहित्य की अपार कमी को पूरा किया और आज भी उनका 'मानस' मानव का पथ-प्रदर्शक है। सूर के वात्सल्य की समानता करने वाला संसार में दूसरा कवि नहीं हुआ। सूर ने अपनी बन्द आँखों से जो कुछ लिखा उसका आभारी हिन्दी जगत् सदा ही रहेगा। **मीरा के गीत** आज भी उसी भावना को जगाने में सफल हैं। नन्ददास की प्रेमाभिव्यक्ति भुलाई नहीं जा सकती। जायसी का 'पद्मावत' अपनी समानता नहीं रखता। कबीर की वाणी की सच्चाई अपना मूल्य कभी खो नहीं सकती। ऐसा महान् भक्त तथा कवियों को जन्म देने वाला काल ही हिन्दी का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से यह सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है।

१५. सूर-सूर तुलसी ससी

१—भूमिका, २—तुलसी और सूर की समानता, ३—भक्त के रूप में सूर और तुलसी, ४—सूर और तुलसी का काव्य-क्षेत्र, ५—काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से सूर और तुलसी, ६—उपसंहार।

भूमिका—भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग है। इस युग में ऐसे महान् साहित्यकारों का जन्म हुआ जिसके साहित्य ने हिन्दी को एक गौरवशाली भाषा बनाने में महान् योगदान दिया। यद्यपि इस काल के साहित्यकारों का उद्देश्य भक्ति था, परन्तु इस भक्ति के प्रतिपादन के लिए जो शब्द उनके मुख से निसृत हुए वह चिरन्तन, चिरकालीन और साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। यों तो इस काल में कबीर, नानक, जायसी, उसमान, नन्ददास आदि अनेक महान् विभूतियों का जन्म हुआ, परन्तु हिन्दी साहित्य में जो स्थान सूर और तुलसी को प्राप्त हुआ है वह किसी दूसरे को नहीं। यही कारण है कि उनकी प्रशंसा करते हुए किसी कवि ने लिखा है-

सूर-सूर, तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करत प्रकास॥

अर्थात् सूर सूर्य हैं, तुलसी चन्द्रमा हैं और केशवदास नक्षत्र हैं और आधुनिक कवि जुगनुओं के समान जहाँ-तहाँ प्रकाश फैलाते हैं।

उपर्युक्त कथन से यही ध्वनि निकलती है कि सूर, तुलसी और केशव का साहित्य में जो मान है वह किसी दूसरे कवि का नहीं है। एक अन्य कवि ने इसी प्रकार के भाव व्यक्त करते हुए लिखा है—

कविता करते तीन हैं, तुलसी, केशव, सूर।
कविता खेती इन लुनी, शीला बिनत मजूर॥

तुलसी और सूर की समानता—अब प्रश्न उठता है कि तुलसी और सूर का नाम साथ-साथ क्यों लिया जाता है? उनके साहित्य में क्या समानताएँ हैं? दोनो का नाम इतने गौरव के साथ साहित्य में इसलिए लिया जाता है कि दोनों ने विशाल साहित्य का निर्माण किया है। एक लेखक ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि यदि सूर और तुलसी के साहित्य को हिन्दी साहित्य से निकाल दिया जाय तो हिन्दी साहित्य में कुछ बचेगा ही नहीं, और यदि कुछ बचेगा तो वह इतना थोथा होगा कि उसे उन्नत साहित्य के अन्तर्गत नहीं रख सकते।

तुलसी और सूर दोनों ही भक्त पहले हैं, कवि बाद में। दोनों का उद्देश्य साहित्य-सृजन नहीं वरन् भक्ति है। यह दूसरी बात है कि भक्त हृदय के उद्‌गारों को व्यक्त करने में उनके मुख से निसृत वाणी विश्व साहित्य की अमूल्य निधि बन गयी हैं।

भक्त के रूप में सूर और तुलसी—भक्त के रूप में सूर और तुलसी की तुलना करना एक दुष्कर कार्य है। दोनों ही उच्च कोटि के भक्ति हैं। इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है, कहा नहीं जा सकता। तुलसी राम के उपासक हैं और सूर कृष्ण के। तुलसी की भक्ति दास्य भाव की है और सूर की अधिकतर सख्य भाव की।

सूर और तुलसी का काव्य-क्षेत्र—सूर और तुलसी का काव्य-क्षेत्र-भिन्न है। तुलसी ने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को अपनी पैनी आँखों से परखा है। दानवीय शक्तियों का दमन करने वाले युग पुरुष राम के वर्णन में उन्होंने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण किया है। उनके सामने राम का लोक-रक्षक रूप अधिक महत्व रखता है। राम का महत्व इसलिए है कि वह खलों के संहारक और भक्तों के उद्धारक हैं। सूर कृष्ण के लोकरक्षक रूप से उतना अधिक प्रभावित नहीं हुआ जितना लोक-रंजक रूप से। वंशी वादक, रसिक बिहारी गोपाल की लीलाओं का वर्णन करने में सूर ने कुछ उठा नहीं रखा।

काव्य सौंदर्य की दृष्टि से सूर और तुलसी—तुलसी और सूर दोनों के काव्य में सौन्दर्य व्याप्त है। किसका काव्य उत्तम है यह बताना सामर्थ्य से परे है। तुलसी ने प्रत्येक मानव स्थिति एवं मानव व्यापार को अपने काव्य में स्थान दिया है। यही कारण है कि तुलसी के काव्य में सभी रसों का वर्णन हुआ है। सूर ने केवल वात्सल्य और श्रृंगार का ही वर्णन किया है परन्तु उनका यह वर्णन इतना सजीव है कि तुलसी उनकी बराबरी नहीं कर सकते। बालक कृष्ण की लीलाओं के वर्णन में जो सफलता सूर को मिली है, वह बालक राम के वर्णन में तुलसी को नहीं। श्रृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग को सूर ने अपने बन्द नेत्रों से जितना परखा है, तुलसी अपने खुले नेत्रों से उतना नहीं परख पाये हैं। यद्यपि तुलसी के वर्णन में स्वाभाविकता और सौन्दर्य है परन्तु सूर के वर्णन में तो श्रृंगार छलकता सा दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि सूर वात्सल्य और शृंगार का कोना-कोना झाँक आये हैं। बाल हृदय की स्पर्द्धा का एक चित्र देखिये—

मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी॥

बाल हृदय की जितनी परख सूर को है उतनी अन्य किसी कवि को नहीं। सूर के वात्सल्य पर मुग्ध होकर तानसेन ने कहा था—

'किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत शरीर॥

वात्सल्य के साथ ही शृंगार के दोनों पक्षों का वर्णन सूर ने बड़ी सजीवता से किया है। संयोग शृंगार का एक सजीव चित्र देखिये—

'खेलन हरि निकसे ब्रज होरी।
औचक ही देखी तहँ राधा नैन विशाल भाल दिये रोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन बिच परी ठगोरी॥

वियोग वर्णन में तो सूर ने कलम ही तोड़ दी है। वियोग की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन सूर ने किया है। सूर का वियोग वर्णन कैसा है, यह उद्धव द्वारा कृष्ण से कही गई निम्न पंक्तियों से प्रगट हो जायेगा—

'कहाँ लौं कहिए ब्रज की बात।
सुनहु श्याम तुम बिन उन लोगन जैसे दिवस विहात।

....

सूर श्याम संदेसन के डर पथिक न उहि मग जात।

हम और आप भी यदि सूर के वियोग के मार्ग से निकलेंगे तो वहीं रुक जायेंगे। उनके वियोग में इतना आकर्षण है कि वह हमें बाँध लेगा।

तुलसी का रसनिरूपण—तुलसी ने भी वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र में लेखनी चलाई है, परन्तु अधिक नहीं। उनके वात्सल्य में स्वाभाविकता तो है परन्तु लीनता नहीं। शृंगार वर्णन में तुलसी सदैव मर्यादा के अन्दर रहे हैं। उनका संयोग अत्यन्त पवित्र है और वियोग अत्यन्त मर्यादित। मर्यादा की सीमा ने तुलसी को शृंगार के क्षेत्र में उस कोटि में नहीं पहुँचने दिया अन्यथा तुलसी की वर्णन प्रतिभा सूर से किन्हीं भी मानों में कम नहीं है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि तुलसी के सामने जीवन का प्रत्येक क्षेत्र खुला था। यदि वात्सल्य और शृंगार में ही लिप्त हो जाते तो 'रसिक शिरोमणि' तो भले ही बन जाते, परन्तु 'कवि-कुल कमल दिवाकर' नहीं।

सूर और तुलसी का कला पक्ष—कला के क्षेत्र में तुलसी और सूर के साहित्य की चर्चा कर देना आवश्यक होगा। सूर ने माधुर्य के लिए ब्रजभाषा को अपनाया है परन्तु तुलसी ने अवधी और ब्रज दोनों का ही प्रयोग किया है। सूर के काव्य में ब्रजभाषा की मिठास सर्वत्र टपकती है जब कि तुलसी को ब्रजभाषा और अवधी दोनों पर ही अधिकार है। अलंकार के क्षेत्र में सूर तुलसी की बराबरी नहीं कर सकते हैं। सूर के सामने रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा आदि ही कुछ अलंकार थे

परन्तु तुलसी का काव्य सभी अलंकारों से परिपूर्ण है। शृंगार वर्णन में व्यतिरेक का प्रयोग तुलसी ने जिस सुन्दरता से किया है, सूर ने नहीं किया। सूर ने केवल पद लिखे हैं जब कि तुलसी ने सभी प्रचलित शैलियों, सोरठा, बरवै, कवित्त, सवैया, दोहा चौपाई और पद आदि को सफलतापूर्वक अपनाया है।

उपसंहार—संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सूर और तुलसी दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। सूर हमारे सम्मुख भक्त, कवि और दार्शनिक के रूप में आते हैं परन्तु तुलसी भक्त, कवि, दार्शनिक, सुधारक और धार्मिक नेता आदि सभी रूपों में आते हैं। सूर का भावपक्ष तुलसी की अपेक्षा सीमित है, परन्तु उसकी ससीमता में असीमता के दर्शन होते हैं। कला पक्ष के दोनों ही पारखी हैं और दोनों के काव्य में भावपक्ष और कला पक्ष का सुन्दर समन्वय हुआ है। इनमें कौन बढ़कर है, यह बताना एक दुष्कर कार्य है किन्तु एक कवि ने सूर के काव्य पर अधिक रीझकर सूर को अधिक महत्व प्रदान करते हुए लिख दिया—'सूर-सूर तुलसी ससी'। कदाचित् इसके थोड़े समय के बाद ही तुलसी के एक भक्त से न रहा गया और उसने उसको उलट कर यों कह दिया—'सूर ससी तुलसी रबि।' अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों ही 'सूर' हैं और दोनों ही 'ससी'। दोनों ही महान हैं और दोनों की श्रेष्ठता की तुलना नहीं की जा सकती।

१६. आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रगति

१—भूमिका, २—द्विवेदी युग, ३—छायावादी युग, ४—प्रगतिवादी युग, ५—प्रयोगवादी युग, ६—नई कविता, ७—उपसंहार।

भूमिका आधुनिक युग का सूत्रपात—आधुनिक हिन्दी साहित्य का जन्म भारतेन्दु के जन्म-काल सन् १८५० के लगभग से माना जाता है। भारतेन्दुजी का आविर्भाव रीति-काल और आधुनिक-काल के मध्य की कड़ी के रूप में हुआ। इस समय तक हिन्दी कविता में ब्रजभाषा की प्रधानता रही। रीति-काल की सभी रचनाएँ ब्रज-भाषा में तथा शास्त्रीय पद्धति पर लिखी गईं। भारतेन्दु जी के प्रयास तथा देश-काल की परिवर्तित परिस्थितियों से हिन्दी कविता के क्षेत्र में भी क्रान्ति उत्पन्न हुई। कवियों का ध्यान रीति-बद्ध परम्परागत रूढ़ियों से हटकर सामान्य विषयों की ओर जाने लगा। शृङ्गारिक भावना इतनी पुरानी तथा जड़ हो चुकी थी कि उसका रूप परिवर्तन अनिवार्य हो गया था। आर्य-समाज की सुधार भावना, अंग्रेज शासन की दृढ़ व्यापकता तथा प्रचार और खड़ी बोली की कर्कशता कवियों और पाठकों को अधिक आकर्षित करने लगी। गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली स्वयं लड़-खड़ाती हुई खड़ी होने लगी थी। पद्य में भी एक आध कविताएँ निकलने लगी थीं। पत्र-पत्रिकाओं की प्रचुरता ने इसमें पूर्ण सहयोग दिया और खड़ी बोली में कविता प्रारम्भ हो गई। फलस्वरूप ब्रजभाषा का कलेवर झकझोर उठा। ऐसे अवसर पर सन् १९०३ ई० में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का सम्पादन प्रारम्भ किया। उन्होंने खड़ी बोली को प्रोत्साहन दिया। फलस्वरूप पं०

श्रीधर पाठक, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू मैथिलीकरण गुप्त आदि कवियों ने खड़ी बोली में रचना आरम्भ कर दी। यहीं से आधुनिक कविता का विकास प्रारम्भ होता है।

द्विवेदी युग—इस काल में खड़ी बोली की फुटकर कविताएँ रची जा रही थीं। इस युग में कविता की नई प्रवृत्ति विकसित होने लगी। अँग्रेजों के कवि गोल्ड स्मिथ के 'Traveller' and 'Deserted Village' का 'एकान्तवामी योगी' एवं 'उजड़ा ग्राम' नाम से **श्रीधर पाठक** ने अनुवाद किया। 'श्रान्त पथिक' नाम से दूसरी पुस्तक उन्होंने रची। और भी अनेक फुटकर पदों की पाठक जी ने रचना की तथा ये सभी कविताएँ खड़ी बोली में लिखी गईं। 'हरिऔध' जी ने नवीन से संस्कृत गुम्फित पदावली में अपना अनूठा काव्य 'प्रियप्रवास' प्रस्तुत किया। उपाध्याय जी ने कृष्ण के परम्परागत रूप को लोक-कल्याणकारी महामानव के रूप में उपस्थित किया। **गुप्त जी** ने 'जयद्रथ वध', 'भारत-भारती', 'साकेत' आदि काव्यों को खड़ी बोली में रचा। रामचरित उपाध्याय, **नाथूराम शंकर शर्मा** आदि विभिन्न कवियों के प्रयास से प्रबल विरोध के बावजूद खड़ी बोली को काव्य में स्थान मिल ही गया। भाषा के परिवर्तन के साथ ही साथ चिन्तन-धारा में भी स्वतन्त्र पद्धति अपनाई गई। परम्परा को उत्साहपूर्वक तिरस्कृत किया गया। छन्द-वृत्त, भावाभिव्यंजन, अलंकार-योजना, काव्य-दृष्टिकोण आदि सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्र मनोवृत्ति कार्य कर रही थी।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उस युग में प्राचीन परम्परा का अन्त हो गया था। **'रत्नाकर'** जी जैसे अनेक कवि ब्रजभाषा में काव्य की मधुर-रस-धारा बहाते आ रहे थे। खड़ी बोली के कवियों ने भी ब्रजभाषा की रचनायें की थीं। **श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० रामनरेश त्रिपाठी** आदि अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं से काव्य का भंडार भरा। इस प्रकार इस युग की कविता में उपयोगिता को महत्व-पूर्ण स्थान दिया गया। सुधार-भावना का प्रयास सभी कविताओं पर पड़ा। भाषा के परिमार्जन और परिष्कार पर बल दिया गया। इस युग में प्रबन्ध-काव्यों की सुन्दर रचनाएँ सामने आईं। साथ ही मुक्तकों का प्रचार भी बढ़ रहा था। भाषा में विभक्तियों के प्रयोग पर बल दिया गया। व्याकरण का महत्व और अनुशासन नियमतः स्वीकार किया गया। इस युग में स्थूल इतिवृत्त का बोल-बाला रहा। इस युग की कविता के दो एक उदाहरणों से ही अनुमान हो जायेगा कि इन कवियों की रचना का क्या रूप था :—

(i, **'निसर्ग ने सौरभ ने, पराग ने, प्रदान की थी अति कान्त भाव से,**
वसुन्धरा को, पिक को, मलिंद को, मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता।'

—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

(ii) **र आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे।**
वही उड़े थे, बड़े-बड़े अश्रु के कण थे।'

—मैथिलीशरण गुप्त

(iii) **बैरन तू भली बनी।**
पाई मैंने आज तुम्हीं में अपनी चाह घनी।
अरी वियोग समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को, देखूँ खिची तनी।

—मैथिलीशरण गुप्त

छायावादी युग—द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक प्रबन्ध-काव्य परम्परा से कवियों को अरुचि होने लगी। स्थूल उपयोगितावादी कवियों के स्थान पर सूक्ष्म, भावावेश तथा कल्पनामयी शैली, अपने भावुकरूप में सामने आई। छन्द-वृत्ति, चिन्तन-पद्धति, शब्द-योजना, अलंकार-योजना आदि सभी क्षेत्रों में कवियों ने स्वतंत्र पथ को प्रशस्त किया। इस युग के मुख्य कवि हैं—**'पन्त', 'प्रसाद' 'निराला'** तथा **महादेवी वर्मा**। इन कवियों की विचार-धारा अँग्रेजी, बंगला आदि के अध्ययन के प्रभाव से अनन्त की ओर प्रेरित हुई। इन कवियों की कविताएँ आत्मपरक तथा अभिव्यंजना प्रधान रहीं। कविताओं की विशेषता है—आध्यात्मिक सौन्दर्य तथा वेदना की प्रखर पर कल्पनामय अनुभूति, पदों के प्रयोग में लाक्षणिकता, तथा सूक्ष्मकलात्मक चित्रमयता। इसी युग में महादेवी तथा छायावादी कवियों ने आध्यात्मिक प्रेम को व्यक्त करने का प्रयास किया। इस युग में मुक्तक गीतों की रचना अधिक हुई। 'बच्चन' की 'हालावादी', 'निराशावादी' तथा कुछ भिन्न प्रकार की कवितायें भी सामने आईं। 'कामायनी', 'तुलसीदास', 'कुरुक्षेत्र', और अनेक गीत संग्रह जैसे 'गुंजन', 'वीणा', आदि रचनाएँ इस युग की मुख्य कृतियाँ हैं। इन कवियों ने देश की आर्थिक, सामाजिक, रूढ़ियों का खुलकर विरोध किया। कवियों में कल्पना की भावुक अभिव्यक्ति अधिक मुखर है। प्रकृति का मानवीकरण तथा उससे तादात्म्य स्थापित करने में इन्हें सफलता प्राप्त हुई। पन्त जी ने छाया के प्रति कहा—

'हाँ सखि ! आओ बाँह खोल कर, मिल कर गले जुड़ा लें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जावें द्रुत अन्तर्धान॥'

प्रसाद जी ने लज्जा के लिए कहा—

'जीवन निशीथ में लतिका-सी, तुम कौन आ रही हो बढ़ती।
कोमल बाँहें फैलाये सी आलिगन का जादू पढ़ती।'

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद—छायावादी युग के बाद **प्रगतिवाद** और प्रयोगवाद के युग आये और गये तथा हिन्दी काव्य के क्षेत्र में अपनी क्षीण छाया छोड़ गये। रूसी साम्यवाद, भौतिक अर्थव्यवस्था, वर्ग-संघर्ष, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, शोषितों की करुण कहानी और शोषक के अत्याचार की पूरी कथा लेकर प्रगतिवाद आया था। उसके फूलने-फलने योग्य भूमि भारतीय साहित्य में न मिल सकी। परिणामस्वरूप अब उसका प्रभाव अत्यन्त क्षीण हो गया है।

प्रयोगवाद का भविष्य तथा उसकी कहानी भी बहुत कुछ प्रगतिवाद जैसी ही है। छायावाद के समष्टि-परक रूप का जहाँ प्रगतिवाद में विकास हुआ, उसके व्यक्तिवादी मनोविश्लेषणात्मक तत्वों का अतिवादी रूप लेकर प्रयोगवाद आया। प्रयोगवाद की अत्यन्त व्यक्तिवादिता, प्रतीकात्मक प्रयोग, बुद्धि की अजीर्णता

और साधना के अभाव ने समाज की पृष्ठिभूमि से दूर रखा। फलतः 'तार सप्तक' के तीसरे स्वर के समीप आते-आते प्रयोगवाद को नई कविता के रूप में बदलना पड़ा।

नवीन कविता—यह नई कविता मान्य काव्य-सिद्धान्तों के भाषा, भाव-शैली अभिव्यंजना पद्धति, छन्द-वृत्ति आदि किसी भी तत्व से सहमत नहीं होती। इन कवियों का विचार है कि स्वच्छन्द-जीवन-धारा की मधुर एवं उज्ज्वल लड़ियों में काव्य को ग्रथित होना चाहिए। अतः रूढ़िवादी प्रस्तुत-विधान, अभिव्यंजना शैली, एवं प्रतीक के स्थान पर वैज्ञानिक युग से नवीन अप्रस्तुत विधान आदि का प्रयोग होना चाहिए।

अकविता—आज गीतों के साथ-साथ कविता का एक नया स्वरूप सामने आ रहा है जिसे 'अकविता' अथवा 'अगीत' कहा जाता है। आधुनिक काव्य की यह एक नई देन।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतेन्दु कालीन व्यस्थित हिन्दी काव्य रचना, कालान्तर में द्विवेदी जी के पुष्ट हाथों में पड़कर तथा 'हरिऔध' जी एवं 'गुप्त' जी के द्वारा उपयोगी और परिष्कृत होकर, **छायावाद की 'अविदित भावाकुल'** भाषा से परिष्कृत होती हुई प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के स्थूल क्षेत्र में आकर नवीन कविता की नई धारा के रूप में विकसित हो रही है। आशा है कि यह भविष्य में जीवन के विविध क्षेत्रों को सन्तुलित करती हुई विश्व के उन्नत साहित्यों के सम्मान योग्य बनेगी।

१७. हिन्दी भाषा एवं साहित्य पर विदेशी प्रभाव

१—भूमिका, हिन्दी भाषा और साहित्य का संक्षिप्त विकास-क्रम, ३—हिंदी की सजीवता, ४—भाषा पर बाह्य प्रभाव, ५—साहित्य पर बाह्य प्रभाव, ६—बाह्य प्रभाव से लाभ-हानि। ७—उपसंहार।

भूमिका—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास विक्रम की आठवीं शताब्दी के लगभग से माना जाता है। इसी के आस-पास से विधर्मियों का सम्पर्क भी होना प्रारम्भ होता है। फिर उनके आक्रमण शुरू हो गये तथा १३ वीं शताब्दी के कुछ वर्ष से ही दिल्ली पर उनका अधिकार भी हो गया। इसी समय से हिन्दी भाषा पर बाह्य प्रभाव पड़ना आरम्भ भी हो गया। अतः हिन्दी भाषा और साहित्य अपने शैशव-काल से ही बाह्य प्रभावों को ग्रहण करता जा रहा है। इस प्रकार अब तक अनेक प्रकार के विदेशी प्रभाव इस भाषा पर पड़े हैं :

भारतीय भाषाओं पर विदेशी प्रभाव का आरम्भ—ईरानियों का सम्पर्क पहले हुआ और उन्होंने सिन्धु प्रदेश को देखा। उनकी भाषा में 'स' का उच्चारण 'ह' के रूप में होता है। अतः वे इस देश को हिन्द कहने लगे और यहाँ से सम्बन्धित सभी वस्तुओं के लिए प्रारम्भ में हिन्दी का प्रयोग करने लगे थे। किन्तु बाद में यहाँ की भाषा को हिन्दी भाषा कहा जाने लगा। पहले भाषा या 'भाण'

शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा के लिए होता था। इसका संक्षिप्त विकास-क्रम इस प्रकार है—महर्षि पाणिनि के व्याकरण से बद्ध होकर तथा उच्च साहित्यिक स्तर पर पहुंचकर संस्कृत भाषा जनसाधारण के समझने योग्य नहीं रह गई। उस समय साधारण जनता प्राकृत और पाली तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं का प्रयोग करती थी। संस्कृत नाटकों में देखा जाता है कि निम्न वर्ग के साधारण लोग तथा स्त्रियाँ प्राकृत में बातचीत करती हैं तथा उच्च वर्ग के पुरुष मात्र संस्कृत में। फिर एक मिली-जुली भाषा का विकास हुआ जिसमें संस्कृत के साथ अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों की बहुलता थी। इसे विद्वानों ने अपभ्रंश या बिगड़ी हुई भाषा कहना आरम्भ किया। इस अपभ्रंश में ब्रजभाषा प्रमुख हो गई तथा काव्य के लिये अपनी कोमलता के कारण उपयोगी मानी जाने लगी और कवियों ने ब्रजभाषा में कविताएँ करना प्रारम्भ कर दिया। वीरगाथा काल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल में यही **ब्रजभाषा काव्य भाषा के** रूप में स्वीकृत थी। दिल्ली, आगरा, मेरठ, मुर्शिदाबाद आदि स्थानों की फौजी छावनियों में एक नई बोली का आविर्भाव हुआ जो खड़ी बोली कही गई। चूँकि इन स्थानों में विभिन्न प्रान्तों के सैनिक एक साथ रहते थे और वे विभिन्न प्रकार की भाषाएँ बोलते थे अतः स्वभावतया उनके पारस्परिक सम्पर्क तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार स्थानीय भाषाओं के सहयोग से खड़ी बोली (वर्तमान हिन्दी) खड़ी हो गई। इसके साथ ही उसी प्रकृति की अरबी, फारसी शब्दों से भरी एक और भाषा बनी जिसे उर्दू नाम दिया गया। इस प्रकार हिन्दी भाषा ने अपने लगभग एक हजार वर्षों के जीवन में अनेक भाषाओं के प्रभावों को ग्रहण किया। विदेशी प्रभाव हिन्दी भाषा पर लगभग १२ वीं शताब्दी से ही पड़ने लगे और अब तक पड़ते जा रहे हैं।

हिंदी भाषा की सजीवता और बाह्य प्रभाव—प्रत्येक जीवित भाषा प्रचलित विदेशी शब्दों को आत्मसात् करके उन्हें अभिन्न बना लेती है। कारण यह है कि जीवित भाषा दूसरे प्रचलित शब्दों की व्यापकता तथा उपयोगिता का अनुभव करती है। यवनों और तुर्कों का शासन दृढ़ होने के साथ उनकी भाषा का भी महत्व बढ़ने लगा, फलतः उनकी भाषा के अनेक शब्द व्यवहार में आने लगे और फिर वे हिन्दी भाषा की शब्दावली में मिल गये। जैसे 'देर', 'चाकू' 'फिहरिस्त', 'कसीदा', 'तकलीफ' आदि सहस्रों शब्द हिन्दी में हैं जो विदेशी भाषा के हैं। उनकी विदेशी प्रकृति यानी वर्णों के नीचे लगने वाले बिन्दु आदि के हट जाने से हिन्दीपन,आ गया है और वे हिन्दी में घुल-मिल गये हैं। क्रियओं की धातुएँ तो प्रायः संस्कृत से ली गईं पर उनके रूप हिन्दी के बनते गये। इन परिवर्तनों में सामान्य प्रयोग तथा व्याकरण के नियमों का सामान्य हाथ रहा है। मुगलों के संपर्क से इसी प्रकार अरबी-फारसी के शब्दों का मिश्रण हुआ।

हिन्दी पर योरोपीय भाषाओं का प्रभाव—फिर अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच और पुर्तगाल निवासी भारत में व्यापार करने आये। क्रमशः उन लोगों ने अपनी बस्तियाँ बनाईं और फिर राज्य स्थापित किये। अंग्रेजों का राज्य लगभग १५० वर्षों तक भारत में रहा। उनका सम्पर्क जनता से बढ़ता गया। फलतः उनकी भाषा के अनेक शब्द—स्टेशन, पोस्टमैन, डाक, रेल, सिनेमा, रेडियो आदि का प्रचार हो गया। वे सभी हिन्दी

भाषा के अपने बन गये। इस प्रकार विदेशी प्रभाव से हिन्दी भाषा की शब्दावली में वृद्धि हुई तथा भाषा का भण्डार बढ़ा। भाषा की वर्णन शैली पर भी प्रभाव पड़ा। अरबी, फारसी के प्रभाव में भाषा में रवानी और मुहावरेदानी आई। भाषा की गति में चंचलता आई और लोकोक्तियों का प्रयोग बढ़ा। कथात्मक शैली का विकास हुआ। अंग्रेजी के प्रभाव से वैज्ञानिक शब्दों की प्राप्ति हुई तथा नये पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में सहायता मिली।

भाव की दृष्टि से भी कम लाभ नहीं हुआ। भक्तिकाल तथा रीतिकाल में विदेशी प्रभाव अधिक रहा। प्रेम गाथाओं का प्रचार नवीन ढंग से हुआ। सूफी दरवेशों की भक्ति पद्धति की रचनाएँ हिन्दी में हुईं। प्रेम-वर्णन की तीव्रता में मुसलमानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। बिहारी के दोहों में, घनानन्द की कविताओं में तथा अन्य कवियों की रचनाओं में भी विदेशी प्रभाव स्पष्ट है। 'कटाक्ष से अंगुली कटना', 'विरह में जलकर राख होना', 'छाले पड़ने के डर से हाथ को छाती पर न छुआ सकना' आदि विदेशी प्रभाव से प्रभावित पद हैं। इस प्रकार सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं। फिर अंग्रेजी का प्रभाव आगे चल कर छायावादी कवियों पर अधिक पड़ा। अंग्रेजी पढ़े लोगों की कविताओं में, गद्य में पर्याप्त विदेशी प्रभाव पड़ता है। आलोचना, नाटक, कहानी आदि विविध साहित्य प्रकारों पर अंग्रेजी साहित्य की छाया यदा-कदा दिखाई पड़ती है। यह प्रभाव शब्दावली पर अधिक पड़ा। 'कानों से मिले अजान नयन' यहाँ 'अजान नयन' इन्नोसेन्ट लुक' का अनुवाद है। 'बादल', 'छाया' आदि अनेक कविताएँ अंग्रेजी से प्रभावित हैं। हिन्दी नाटकों में कथा को दुखांत बनाना, पात्रों का रंगमंच पर बिना पूर्व विवरण के यथावसर उपस्थित होना, सूत्रधार आदि का प्रयोग न होना आदि बातें अंग्रेजी के प्रभाव को स्पष्ट करती हैं। हिन्दी की व्यावहारिक तथा विश्लेषणात्मक आलोचना पद्धति पर भी अंग्रेजी आलोचना का स्पष्ट प्रभाव है। कहानी, यात्रा, वर्णन, आत्मकथा आदि सभी अंग्रेजी से प्रभावित हैं। अंग्रजी के 'ब्लैंक सोनेट' तथा 'वर्स' आदि के ढंग पर हिन्दी में भी कविताएँ लिखी जाने लगीं। इस प्रकार अंग्रेजी साहित्य तथा पश्चिमी विचारधारा ने हिन्दी को पर्याप्त प्रभावित किया है।

बाह्य प्रभाव के लाभ—विदेशी प्रभाव पड़ने के कारण हिन्दी साहित्य की मनोवृत्तियों में व्यापकता आ गई। साहित्य के क्षेत्र में विस्तार हुआ, वर्ण्य विषयों की अधिकता हुई। भाषा में समन्वय की शक्ति बढ़ी, शब्द भण्डार में वृद्धि हुई। शब्दों की लाक्षणिक शक्ति में विकास हुआ। शब्दों के प्रयोग, अलंकार की योजना, छन्दों का चयन नवीन ढंग से होने लगा। निबन्ध के क्षेत्र में व्यापकता आ गई, निबन्ध की शैली आत्मप्रधान हो गई। संक्षेप में विदेशी प्रभावा ने कवियों और लेखकों के 'स्व' का विस्तार किया। कवि ने अपनी अभिलाषाओं तथा सुख-दुख की अनुभूतियों को खुलकर व्यक्त किया। प्रकृति को सचेतन मानने का क्रम भी अंग्रेजी ढंग का हो गया। प्रकृति वर्णन नये दृष्टिकोण से किया जाने लगा। वैज्ञानिक लेख, एकांकी नाटक आदि सभी विषयों पर बाह्य प्रभाव पूर्णतया लक्षित हो रहा है। जीवन-दर्शन में भौतिकता की प्रधानता आ गई। अध्यात्मवाद के क्षेत्र में कवियों ने कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रभाव को ग्रहण किया।

बाह्य प्रभाव से हानियाँ—इस प्रभाव से कतिपय हानियाँ भी हुईं। भाषा की स्वच्छता में मिश्रण हो गया। प्रचलित विदेशी शब्दों के प्रयोग से काम चलाने के कारण हिन्दी में नये शब्दों का निर्माण कम होने लगा। भारतीय संस्कृति की बारीकियों को देखने के स्थान पर पाश्चात्य संस्कृति की नकल चल पड़ी। साहित्य निरंतर समाज को प्रभावित करता रहता है अतः समाज पर पाश्चात्य प्रभाव अधिक पड़ा। भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक मान्यताओं में लोगों की आस्था कम होने लगी। साम्यवादी विचारधारा, वर्ग संघर्ष तथा स्वच्छन्दता को प्रश्रय मिला। इस प्रकार विदेशी प्रभाव से लाभ के साथ हानियाँ भी हुईं।

उपसंहार—पारस्परिक सम्पर्क में भाव और विचार के विनिमय की संभावना बनी रहती है। हिन्दी साहित्य भी ज्यों-त्यों विदेशी सम्पर्क में आया, उससे प्रभावित होता गया। मुसलमानों के एकेश्वरवाद तथा भक्ति भावना का प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य पड़ा। उनकी ऐय्याशी का भी प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार अंग्रेजी साहित्य का भी प्रभाव रहा। पर यदि हिन्दी साहित्य में भौतिकता तथा आत्माभिव्यक्ति का प्रचार बढ़ा तो साथ ही प्राचीन वस्तुओं की खोज और उन पर चिन्तन मनन भी बढ़ा। आलोचना द्वारा अनेक ऐसे कवि और कलाकार प्रकाश में आये जो अज्ञात थे, जिन्हें समाज ने भुला दिया था। इस प्रकार बाह्य प्रभाव से हिन्दी साहित्य को अनेक देनें दीं और इससे साहित्य की सम्पन्नता बढ़ी।

१८. हिन्दी कविता में राष्ट्रीय विचारधारा

१—भूमिका, २—हिन्दी कविता राष्ट्रीयता का स्वरूप, ३—हिन्दी कविता में व्यक्त राष्ट्रीय भावनाएँ, ४—उनका वर्तमान स्वरूप, ५—कविता में राष्ट्रीय-विचारधारा से लाभ, ६—उपसंहार।

भूमिका—कविता विचारों और भावों की अभिव्यक्ति का साधन है। कविता में कवि अपनी भावाविभूति तथा विचारों को सामान्य बनाकर व्यक्त करता है और इसी साधना से वह अपनी वस्तु को सबकी बनाने में सफल होता है। राष्ट्रीय भावनाएँ शान्त तथा वैभवमय वातावरण अधिक प्रबल नहीं हो पातीं। उनके लिए वातावरण का क्षुब्ध होना तथा समाज का बाह्य संघर्ष-रत होना अपेक्षित होता है। हिन्दी कविता के जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ प्रारम्भ से ही आती हैं तथा तदनुसार राष्ट्रीय भावनाओं का विकास होता रहा है। चूँकि भावाभिव्यक्ति का सरल माध्यम कविता ही है, अतः कविता में राष्ट्रीय भावना प्रारम्भ से ही व्यक्त की गई।

हिन्दी कविता में राष्ट्रीय विचारधारा वीरगाथा काल—हिन्दी-कविता में राष्ट्रीय विचारों का क्या स्वरूप रहा है? इसको निम्न रूप से देखा जा सकता है—हिन्दी के प्रारम्भिक काल में देश अनेक राज्यों में विभाजित था। हर राज्य अपने में स्वतन्त्र था, उसकी राष्ट्रीयता भी हिन्दू-धर्म, क्षात्र-शौर्य, व्यक्तिगत मानापमान, स्वराज्य-रक्षा तक सीमित रही। उस युग के कवियों ने इस प्रकार की भाव-

नाएँ और विचार अपनी कविताओं में व्यक्त किये। 'रासो' ग्रन्थों में राष्ट्रीयता का यही रूप था। उस समय कवियों को राजाश्रय प्राप्त था। अतः उन लोगों ने वीर-गाथाएँ लिखीं। व्यक्तिगत वीरता, स्वदेश रक्षा, स्वाभिमान रक्षा आदि विषयों पर अनेक कविताएँ रची गईं। पृथ्वीराज रासो', 'हमीर देव रासो' आदि अनेक ग्रन्थों में राष्ट्रीय विचारधाराएँ इस रूप में व्यक्त की गई हैं। चन्दबरदाई का लिखा 'पृथ्वी-राज रासो', नरपतिनाल्ह का लिखा 'बीसलदेव रासो', जगनिक-रचित 'आल्हखण्ड' आदि ग्रन्थों में राष्ट्रीय विचारधाराएँ इसी रूप में व्यक्त हुई हैं। ये सब रचनाएँ डिंगल भाषा में हैं।

भक्ति काल में वीर भावना—आगे चलकर मुसलमानों का शासन देश में जम गया। राजन्म शक्तियाँ बराबर संघर्ष रत रहीं फिर भी उनकी भावना में राष्ट्रीयता का अभाव नहीं था। राजनीतिक और सामाजिक पराजय ने भारतीय जन साधारण की भावना में एक मोड़ ला दिया। फलतः लोगों की भावना अशरणशरण भगवान की ओर झुकने लगी। भगवान के मन्दिर, मूर्तियाँ, देवालय, तीर्थस्थानों आदि को मुसलमानों ने भ्रष्ट किया फलतः अब जनता को सहारा देने के लिए निरा-कार ब्रह्म की जिज्ञासा होने लगी। समाज में विघटनकारी प्रवृत्तियों का प्रभाव बढ़ने लगा, जिससे असंख्य महात्माओं की आत्माएँ कराह उठीं। फिर गोस्वामी-जी ने अपने रामचरित मानस में भारतीय राष्ट्रीयता को आध्यात्मिक ढंग से व्यक्त किया। देश तथा हिन्दू समाज में इससे नवजीवन का संचार हुआ। भक्तिकाल के अन्य कवियों ने भी अपने विचारों को आध्यात्मिक रूप में व्यक्त किया जिनमें राष्ट्रीयता की गन्ध तो है परन्तु उनके काव्य को राष्ट्रीय काव्य नहीं कहा जा सकता। उनका स्वर सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वभौमिक है। इस युग में वीर भावना की अभिव्यक्ति का एक नमूना देखिए—

आजु जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।
तो लाजों गंगा जननी कौं, सांतनु सुत न कहाऊँ।
स्यंदन खंडि महारथ खंडौं कपि, ध्वज सहित उड़ाऊँ।
सूरदास रणभूमि विजय बिन, जियत न पीठ दिखाऊँ।

मुगल शासन में अकबर के समय में महाराणा प्रताप ने अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया। उनकी वीरता, देश-भक्ति, जाति-प्रेम आदि उच्च भावनाओं को राष्ट्रीय अवश्य कहा जायगा किन्तु राष्ट्रीय भावना का कवि तो आगे चलकर महाराज शिवाजी के समय में भूषण ही हुआ। मुगल-शासन के वैभव विलासमय दरबारों में रहने वाले कवियों से राष्ट्रीय कविताओं की आशा ही नहीं की जा सकती।

रीतिकाल में राष्ट्रीय विचारधारा—औरंगजेब की कट्टरता ने हिन्दुओं के सम्मान, वीर तेज को झकझोर कर जगाया। फलतः महाराज शिवाजी ने हिन्दुत्व की रक्षा का, देश की स्वतन्त्रता का प्रयास किया। उनके दरबारी कवि भूषण ने उनकी वीरता तथा यश का गान किया। उनकी (भूषण) राष्ट्रीय भावना में भी एक देशीयता तथा एक जातीयता का महत्वपूर्ण स्थान था। उन्होंने शिवाजी के शौर्य, उनकी युद्ध-यात्रा, हिन्दू-रक्षण, मराठा-राज्य-विस्तार, उनका दान-दर्शन आदि को अधिकांश में कविता का विषय बनाया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि शिवाजी ने

की शिखा, जनेऊ, मन्दिर आदि हिन्दू-धर्म के चिन्हों को सुरक्षित रखा।" राष्ट्रीयता में भारतीयों के एकीकरण की भावना भी मिलती है। उनके काव्य का एक रूप देखिये :—

युद्ध-यात्रा—

ता दिन अखिल खलभलैं खल खलक मैं,
जा दिन शिवाजी गाजी नेक करखत हैं।
सुनत नगारन अगार तजि अरिन की,
दारगन भाजत न बार परखत हैं।
छूटे बार-बार छूटे बारन ले लाल देखि,
भूषन सुकवि बरनत हरखत हैं।
क्यों न उतपात होंहि बैरिन के झुण्डन में,
कारे घन उमड़ि अंगारे बरखत हैं॥

ऐसे समय में जब कि उनके समकालीन अन्य कवि राजाओं की चाटुकारिता में अपनी शक्ति नष्ट कर रहे थे, भूषण ने शिवाजी तथा छत्रसाल, ऐसे राजाओं का शौर्य वर्णन का रीति परम्परा में राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत किया। भूषण के अतिरिक्त लाल, सूदन और गंग कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु भूषण आदि के विषय में यह बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिए कि उनकी राष्ट्रीयता अत्यन्त संकुचित है।

आधुनिक युग में राष्ट्रीय भावना—१९ वीं शताब्दी में राष्ट्रीय भावना का विकास तेजी से होने लगा। सन् १८५७ ई० में देश की राजन्य शक्तियों ने सामूहिक रूप से स्वतन्त्रता का प्रथम संग्राम लड़ा। विद्रोह असफल रहा फिर भी सामूहिक राष्ट्रीयता का विकास प्रारम्भ हुआ। आगे चलकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय साहित्य में ऐसी कविताएँ लिखी जाने लगीं जिनमें राष्ट्रीय-भावना का पुट था।

अंग्रेजों की दमन नीति के रहते हुए भी कवियों ने जागरण गीत गाना प्रारंभ किया। अनेक राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना और सुधार आन्दोलनों के प्रचार से भी राष्ट्रीय-भावना के प्रसार में योग मिला।

एक नमूना देखिए :—

आवहु ! सब मिलि रोवहु भाई।
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई। —'भारतेन्दु'

प्रजातन्त्र की भावना ने राष्ट्रीयता को सार्वजनिक स्तर पर ला दिया। कवियों ने अपनी कविताओं में राष्ट्रीय विचारों को व्यक्त किया। बीसवीं सदी आई और सरस्वती के सम्पादन द्वारा द्विवेदी जी ने राष्ट्रगीतों का समर्थन किया। 'बन्दे मातरम्' 'जन गण मन अधिनायक', 'भारतवर्ष' आदि शीर्षक कविताएँ लोकप्रिय हुईं। गुप्त जी ने जहाँ 'साकेत' में गाँधीवादी राष्ट्रीयता का समर्थन किया वहीं अनेक क्रांतिकारी कविताएं भी लिखीं। राष्ट्रीय काँग्रेस का नेतृत्व महात्मा गाँधी के हाथों आया। महात्मा गाँधी ने देश की परिस्थिति तथा अपने सिद्धान्त के अनुसार सत्य, अहिंसा, सविनय अवज्ञा, असहोग आन्दोलन का राजनीति में प्रयोग किया। इस

विचारधारा ने कविता में स्थान पाया । 'गुप्तजी', श्यामनारायण पाण्डे, 'दिनकर', पंत जी, 'निराला' आदि प्रायः सभी कवियों ने राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित कविताएँ लिखीं । इन कविताओं का समाज ने आदर किया । प्राचीन गौरव गान के रूप में भी राष्ट्रीय भावना का प्रचार होने लगा । देश की आवश्यकता के अनुसार चर्खे का प्रसार हुआ और उसने राष्ट्रीयता का प्रतीक बनकर राष्ट्रीय पताका में स्थान पाया । इस प्रकार अब राष्ट्रीयता का क्षेत्र व्यापक होकर मानव मात्र को एक इकाई में मानने का प्रयत्न कर रहा है । हिन्दी कविता में राष्ट्रीयता की भावना उसी क्रम से बढ़ रही है ।

राष्ट्रीय विचारधारा से लाभ—राष्ट्रीय विचारधारा साहित्य को स्थायित्व देने में समर्थ होती है । चारण कवियों के प्रबन्धकाव्य से लेकर वर्तमान कविताओं तक का महत्व राष्ट्रीय विचारों के कारण स्थायी हो गया है । इस विचारधारा से देश की जनता की भावना में व्यापकता आती है । ऐसी कविताओं से उसमें एकता के विचार पुष्ट होते चले जाते हैं । लोगों की संकीर्ण भावनाओं का ह्रास होता है । आत्म-गौरव के लिए त्याग के भाव उत्पन्न होते हैं, अपने गौरव का ज्ञान होता है तथा अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा की भावना का जागरण होता है । जनता में उत्साह जगाने का काम राष्ट्रीय कविताएं सफलतापूर्वक करती हैं । देश की स्वतन्त्रता के लिए बलिदान का पाठ ये कवितायें पढ़ाती हैं । देश की स्वाधीनता के लिए इन कविताओं ने अनेक नर-नारियों को बलिदान होने की प्रेरणा दी । इन कवियों से देश-प्रेम की भावना बढ़ती रहती है—जैसे श्यामनारायण पांडे ने कहा है—

> **'ब्राह्मण हो तो आंसू भर ले, क्षत्री हो तो नत मस्तक कर ले ।**
> **हो वैश्य-शूद्र तो बार-बार, अपनी सेवा पर शक कर ले ॥'**

इन कतिपय शब्दों में विगत गौरव को जानने की, वर्णाश्रम धर्म के परित्याग से उत्पन्न अवस्था का दिग्दर्शन कराने की तथा हिन्दू जाति को जानने की अपूर्व शक्ति है । आल्हखण्ड के गीतों में कितना जोश भरा रहता है वह सभी जानते हैं । किन्तु जो युद्ध गीत उत्साह दिलाने के लिए गाये जाते हैं, उनमें स्थायित्व नहीं होता क्योंकि युद्ध का अवसर बीत जाने पर उनका महत्व घट जाता है ।

उपसंहार—साहित्य समाज का दर्पण कहा गया है । समाज में व्याप्त विचार-धारा को साहित्य व्यक्त करता है । कविता में प्रभावात्मक तथा भावप्रवणता की प्रचुरता रहती है । अतः कविता में हर प्रकार के विचारों और भावों के लिए समुचित स्थान रहता है । हिन्दी कविता में यह शक्ति रही है कि देश-काल के अनुसार वह सदैव जन-भावना को व्यक्त करती है । इसलिए जिस समय राष्ट्रीयता का जो रूप जनता में मान्य था, उसी को हिन्दी कविता ने सफलतापूर्वक व्यक्त किया । जीवन में राष्ट्रीय भावनाओं का महान् सामाजिक महत्व है । इसलिए वह मानवजीवन की उदात्त भावना कही जाती है । हिन्दी कविता ने इस विचार धारा का पूरा शोषण किया है तथा बराबर देश को जगाया है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावनाएँ पर्याप्त मात्रा में व्यक्त की गई हैं ।

१६. हिन्दी साहित्य में प्रकृति (प्रकृति-चित्रण)

१—भूमिका, २—हिन्दी साहित्य में प्रकृति-चित्रण के ढंग, ३—आलम्बन, उद्दीपन तथा अलंकार रूप में, ४—प्रकृति उपदेशक रूप में, ५—प्रकृति साहित्य की पूरक, ६—उपसंहार।

भूमिका—संसार में हर देश के साहित्य में प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। साहित्य मात्र को प्रकृति से निरन्तर प्ररणा मिला करती है। साहित्य वास्तव में प्रकृति की अनुकृति के रूप में मिलता है। ईश्वर की इच्छा की अनुकृति सृष्टि मानी गई है जिसका प्रमाण वैदिक मन्त्रों में मिलता है। "**एकोऽहं बहूभविष्याम में मन न रोचते इति श्रुतिः** (भगवान की इच्छा होती है कि मैं एक से अनेक होऊँगा अकेला मेरा मन प्रसन्न नहीं है।) तदनुसार सृष्टि का क्रमिक विकास प्रारम्भ हो जाता है। अतः सृष्टि भगवदेच्छा की अनुकृति हुई। साहित्यकार अपनी सृष्टि को नैसर्गिक सृष्टि की अनुकृति के रूप में उपस्थित करता है अतः उसकी सृष्टि (साहित्य) अनुकृति (सृष्टि) की अनुकृति होती है। स्वाभाविक रूप से अनुकृति में बनावट या कलात्मकता का समावेश हो जाता है। सृष्टि में भी दो अन्यतम कलाकार की अपूर्व कला का चमत्कार हर जगह दृष्टिगत होता है। साहित्य में प्रकृति-वर्णन का बड़ा महत्व है। यदि साहित्यकार प्रकृति की समीक्षा नहीं करेगा तो वर्ण्य-विषय कहाँ से मिलेगा ? इस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रकृति का व्यापक अर्थ हुआ हिन्दी साहित्य का वर्ण्य विषय। पर प्रकृति अपने संकीर्ण अर्थ में जड़ प्रकृति की बोधक होती है और यहाँ सीमित अर्थ ही लिया जायेगा।

हिन्दी साहित्य में प्रकृति वर्णन के रूप—प्रकृति (जड़ प्रकृति) में नदी, पर्वत, वन, उद्यान, कुंज, प्रातः सायं बेला का स्वर्णिम आकाश, पर्वतों से कल-कल ध्वनि में गिरने वाले जल-प्रपात, खेती में लहर हरी-हरी फसल, ग्रीष्म की जलती हुई दोपहरी, शीत का कड़ाके का जाड़ा, शरद्, बसन्त की नैसर्गिक शोभा, चन्द्र किरणों का नृत्य आदि सहस्रों वस्तुएँ आती हैं। साहित्यकार अपनी परिस्थिति के अनुसार उपर्युक्त वस्तुओं का यथा अवसर चयन करता है तथा साहित्य में उनका चित्रण करता है। इसी वर्णन में प्रकृति की कला को निखरने का अवसर प्राप्त होता है। साहित्यकार की प्रकृति में भावात्मकता का योग होने से सजीवता आ जाती है।

हिन्दी साहित्यकारों ने प्रकृति को अनेक रूपों में देखा है—(१) आलम्बन रूप में, (२) उद्दीपन रूप में (३) अलंकार योजना के रूप में (४) मानवीय रूप में। इन्हीं दोनों रूपों का क्रमशः विवेचन आगे किया जायेगा—

आलम्बन रूप में प्रकृति वर्णन—कवि और साहित्यकार जब प्रकृति को देखकर उसमें लीन होकर, उसका सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं, तथा उसकी विभिन्न गतिविधियों का अंकन करते हैं, उसके हर परिवर्तन पर आनन्दानुभव करते हैं तो वह वर्णन आलम्बन रूप वर्णन कहा जाता है। उस वर्णन का आधार प्रकृति को ही

बनाया जाता है। उसका उद्देश्य प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रांकन होता है। ऐसा वर्णन प्रबन्ध-काव्यों तथा नाटकों, उपन्यासों और कहानियों में पृष्ठभूमि या रंगमंच के रूप में किया जाता है। उस प्रकृति-वर्णन में प्रकृति का वही रूप ग्रहण किया जाता है जो भावी कथा-प्रसंग के अनुकूल होता है। '**प्रियप्रवास**' के प्रथम सर्ग को 'हरिऔध' जी ने संध्या काल के अस्त होते सूर्य के वर्णन से प्रारम्भ किया है—

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती, कमलिनी कुल-बल्लभ की प्रभा।

इस प्रकार का वर्णन कर कवि ने प्रकृति का ऐसा वातावरण बनाया है कि प्रिय प्रवास से उत्पन्न वेदना की पृष्ठभूमि सुन्दरता से बन गई है। इसी प्रकार कवि ने वर्षा का वर्णन किया है—

हिलने लगे मृदु मन्द समीर के, सलिल बिन्दु गिरा सुठि अंक में।
मह्हि न थे किसका मन मोहते, जल धुले दल पादप पुञ्ज के॥

वर्षा के जल से सद्यः धुले वृक्ष समूह के पत्तों की नोक से टपकते जल बिन्दुओं की सुन्दरता को कवि ने कितनी सूक्ष्मता से चित्रित किया है, उन जल बिन्दुओं के शीघ्रपात में समीर का लगना कितनी स्वाभाविकता के साथ दिखाया गया है। इस प्रकार के चित्र संस्कृत साहित्य में अत्यन्त संश्लिष्ट रूप से खींचे गये हैं। महर्षि बाल्मकि ने किष्किन्धा काण्ड में शरद् चन्द्रिका चित्रित रात्रि को कितनी सुन्दरता से शुक्लाम्बर-धारिणी नारी के समान चित्रित किया है। प्राकृतिक सौन्दर्य में नारी की उत्प्रेक्षा दर्शनीय है—

'रात्रिः शशाकोदित सौम्यवस्त्रा तारागणोन्मीलित चारु नेत्रा
ज्योत्स्नांशुक प्रावरणा विभाति नारीव शुक्लांशुक संवृत्तांगी॥

अर्थात् 'सौम्य उदित चन्द्र मुख वाली, तारागणों के रूप में सुन्दर नेत्रों को खोलने वाली, चन्द्र-ज्योत्सना के सुन्दर वस्त्र में शरीर को सजाये हुए, रात्रि श्वेत रेशमी वस्त्र-धारिणी नारी के समान सुशोभित हो रही है।' कवि ने प्रकृति में नारी की उत्प्रेक्षा की है और साम्य बैठाया है। प्रकृति मानव हृदय पर प्रभाव डालती है, अतः ऐसी शुक्लांशुक धारिणी सुन्दर रात्रि तत्सम नारी (सीता) की स्मृति को राम के हृदय में जगा रही है।

उद्दीपन रूप में प्रकृति वर्णन—प्रकृति वर्णन का दूसरा रूप उद्दीपन रूप होता है। इस वर्णन-प्रणाली में प्रकृति मानव हृदय की भावनाओं को उत्तेजित करती दिखाई जाती है। मानव-हृदय की सुखात्मक भावना प्रकृति के योग से अधिक आनन्ददायिनी बन जाती है तथा वियोग और दुःख की भावना अधिक तीव्र हो जाती है। 'लखि चैत की चाँदनी चाह भरी चर्चा चलिबे की चलाइए ना' इस एक ही पंक्ति में कवि ने प्रकृति में मानव-हृदय के अनुकूल 'चाह' की कल्पना की है। मानो प्रेम मिलन की चाह जो प्रेमी हृदय में बढ़ रही है, उसी का समर्थन चाँदनी रात भी कर रही है। प्रकृति के मनोहर क्रीड़ास्थली हृदय में प्रेम की भावना को उद्दीप्त करती दिखाई जाती है। उदाहरण के लिए पद्मावत में जायसी का 'षटऋतु वर्णन', 'राम-चरित मानस' में 'पुष्प वाटिका का वर्णन', सूरदास जी का 'रास वर्णन' तथा 'कामायनी' के वासना सर्ग का प्रकृति वर्णन आदि सभी स्थानों में प्रकृति मानव-

हृदय की सुखात्मक भावना को उत्तेजित करती दिखाई गई है। ऐसे प्रसंगों में प्रकृति का सौन्दर्य हृदय में गुदगुदी पैदा करता है और हृदय का उन्माद बढ़ाता है। इसी प्रकार दुःखात्मक भावना का उद्दीपन प्रकृति वर्णन द्वारा कराया गया है। मेघाच्छन्न आकाश है, कभी-कभी चन्द्रमा बादलों में झाँक भी लेता है, प्रकृति का अपूर्व रूप है किन्तु 'सूर' की गोपियों के लिए वह रात्रि काली नागिन सी बन जाती है। इतना ही नहीं बल्कि उसका पूरा प्रभाव भी कवि ने दिखाया है—

पिया बिनु नागिन कारी रात।
कबहुँक नागिनी उगत जुन्हैया डसि उलटी होय जात।

इन दो पंक्तियों में रात्रि इतनी विषैली बना दी गई है कि वह काली नागिन बनकर काटती है तथा कभी क्षण भर के लिए चन्द्र-प्रकाश के रूप में उलट कर अपने पेट के सफेद भाग को दिखा देती है तथा पूरा विष वियोगिनियों पर चढ़ जाता है। कभी विरह-व्यथा मिटाने के लिए बीणा बजाने लगती है तो चन्द्रमा का रथ और भी रुक जाता है क्योंकि उसे खींचने वाले मृग मोहित हो जाते हैं। जायसी के बारहमासा वर्णन में प्रकृति का उद्दीपन रूप बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है। तुलसी के राम का मन भी वर्षा काल में प्रिया के वियोग में डरने लगता है। रीतिकालीन कवियों के लिए तो प्रकृति का एक ही काम था—संयोग या वियोग (दुःख) को बढ़ाना। प्रकृति को देखकर विगत संयोग-कालीन घटनाएँ स्मृति रूप में हृदय-पटल पर अंकित हुआ करती हैं। उन स्मृतियों में विरह दुःख और भी बढ़ जाता है। सम्भवतः इसी से खीझकर बाबा केशवदास ने वर्षा को कालिका के समान कह दिया है। द्विवेदी युग में प्रकृति को आलम्बन रूप में देखा गया, किन्तु रीति-कालीन छाया हट न सकी। गुप्त जी के 'साकेत' तथा पाठक जी की कविताओं और 'प्रिय प्रवास' प्रायः सभी काव्यों में दोनों रूपों में प्रकृति चित्रण किया गया। वर्तमान युग में प्रकृति को चेतन तथा भावमय रूप में चित्रित किया गया है। पंत की 'छाया' 'किरण', 'बादल' आदि कविताएँ इसी प्रकार की हैं। 'प्रसाद' जी ने मदिर-माधव, यामिनी' का 'धीर पदविन्यास' देखा तो महादेवी जी ने 'मैं नीर भरी दुःख की बदरी' कहा। 'परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली' कह कर उन्होंने जीवन की एक झलक भी दिखायी। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रकृति का उद्दीपन रूप में बहुत अधिक चित्रण हुआ है।

उपमान रूप में तो प्रकृति अनन्त काल से प्रयुक्त होती रही है। वैज्ञानिक जगत में चन्द्रमा चाहे सुन्दर माना जाय या कुरूप पर साहित्य में तो चिरकाल से वह सुन्दर मुख का उपमान बनता चला आ रहा है। प्रकृति के आधार पर उपमान चुने जाते हैं। मानव-शरीर के विभिन्न अंगों की समता में प्रकृति को टटोला जाता है।

हिन्दी साहित्यकारों ने भी अन्य साहित्यकारों की भाँति प्रकृति से सहायता लेकर अपने अलंकारिक वर्णनों को सजाया है। वास्तव में यदि प्रकृति से उपकरण नहीं लिये जाते तो साहित्य में कलात्मकता आ ही नहीं पाती। एक रूप देखिये—

'सघन-कुंज, छाया सुखद, सीतल-सुरभि समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वहि जमुना के तीर॥ —बिहारी

इस दोहे में कवि ने प्रकृति के वर्णन में चार चाँद लगा दिये हैं। प्रकृति की सुन्दरता में मन उस जमुना के किनारे वहीं हो जाता है। यहाँ 'उस' और 'वहीं' दोनों शब्दों में अनेक भावनाएं भरी हुई हैं—स्मृति का भण्डार है तथा मनोवृत्तियों की निधि है।

विविध युगों में प्रकृति चित्रण—हिन्दी साहित्य के विविध युगों में प्रकृति चित्रण के विविध रूप देखने को मिलते हैं। हिन्दी के आदिकाल (वीरगाथा काल) से लेकर, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल तक यह प्रकृति चित्रण विविध रूपों में होता चला आ रहा है। आधुनिक युग में उसमें विवधता के और अधिक दर्शन होते हैं।

उपसंहार—साहित्य सृष्टि की अनुकृति कहा गया है। चेतन और जड़ प्रकृतियाँ सृष्टि में अलग-अलग रहती हैं। हर प्राणी अपने पोषण के लिए प्रकृति से ही विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करता है। जड़ प्रकृति का पोषण और वर्द्धन प्रकृति से ही होता है। **साहित्य जड़ और चेतन** प्रकृतियों में समन्वय कर देता है। यह दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों को भावात्मक बना देता है। हिन्दी साहित्य ने प्रकृति को उपदेशक रूप में भी अपनाया है। उसे प्रकृति से ज्ञान भी मिलता है। कबीरदास का प्रकृति वर्णन, गोसाईं तुलसीदास की वर्षा ऋतु ऐसे ही वर्णन हैं। अतः हिन्दी साहित्य में प्रारम्भ से ही प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान है।

२०. हिन्दी के प्रमुख वाद

१—**भूमिका**, २—**रहस्यवाद**, ३—**छायावाद**, ४—**प्रगतिवाद**, ५—**प्रयोगवाद**।

भूमिका—हिन्दी साहित्य एक सजीव साहित्य है। इसमें प्रकृति के परिवर्तनशील रूपों को चित्रित करने की क्षमता है। यह प्रकृति (जड़ और चेतन प्रकृति) को विभिन्न दृष्टिकोणों से यथावसर देखता आ रहा है। दृष्टिकोण की इन्हीं विभिन्नताओं के कारण ही इसमें विभिन्न प्रकार की रचनाएँ सम्भव हो रही हैं। हर प्रकार की रचना के मूल में एक प्रकार का दर्शन रहता है। इन दर्शनों से ही हिन्दी साहित्य में अनेक वादों का जन्म हुआ। साहित्य मानव अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का साधन है तथा परिस्थिति, देश युग आदि प्रभाव से अनुभूतियों के रूप में अन्तर पड़ता है, जिससे रचनाओं के दृष्टिकोण में भी अन्तर पड़ जाता है। साहित्यिक वादों का यह दूसरा कारण है। मानव-समाज की आवश्यकताएँ समयानुसार नया रूप धारण कर लेती हैं अतः उनकी अभिव्यक्ति का ढंग भी नया हो जाता है। हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम में इन्हीं मुख्य कारणों ने अनेक वादों को जन्म दिया जिनमें रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद मुख्य हैं।

रहस्यवाद—अपनी अन्तःस्फुरित अपरोक्ष अवभूति द्वारा सत्य परम तत्व अथवा ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति रहस्यवाद है (हिन्दी साहित्य कोश पृ० ६३५)। मनुष्य मात्र में जिज्ञासा की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है; इस जिज्ञासा के कारण ही वह रहस्य (छिपे भेद) को जानने को उत्सुक रहता है।

प्रकृति के अनन्त व्यापार किस अपरोक्ष सत्ता द्वारा संचालित होते रहते हैं, प्रकृति में स्वयं कौन सा रहस्य है, ईश्वर की सत्ता किस रूप में है इन विषयों की जिज्ञासा जिसे खोजती है, वही रहस्य है। इस सत्य की खोज में मानव प्रकृति उसी प्रकार जाती है जैसे वृक्ष की जड़ पृथ्वी के गर्भ की ओर जाती है। इस प्रकार अपने अंशी (परमात्मा) की ओर अंश (जीवात्मा) प्रवृत्त होता है। फलतः वह सामान्य जीवन के सामान्य स्तर के ऊपर उठ जाता है तथा उसमें स्वाभाविक रूप से उदात्त और पवित्र गुणों का विकास हो जाता है। उस समय बुद्धि का तामस भाग-दौड़ संसार के समस्त जंजाल (माया) की नश्वरता का ज्ञान होता है। ज्यों-ज्यों साधक इस सत्य की ओर बढ़ता है, त्यो-त्यों उसे अपना सांसारिक जीवन व्यर्थ जान पड़ता है यथा **'मोसम कौन कुटिल खल कामी' 'मैं पतितन को टीका'** आदि कहकर अपनी निंदा करता है और निश्चय करता है कि 'अब लो नसानी अब न नसैहों' और इच्छा करता है कि 'कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो।' उस समय उसके हृदय की अन्तःप्रेरणा से यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि बुद्धि की सीमा के बाहर एक सत्य है जो केवल अनुभव किया जा सकता है तथा वह तर्क और दर्शन से अगम्य है। इस रहस्य की अनुभूति अन्तःस्फुरित ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। इसी से कबीर ने कह दिया—'दशरथ सुत तिहु लोक बखाना, राम नाम कर मर्म है आना।' इसी तत्व को वेदों में नेति-नेति (न इति न इति) कहकर व्यक्त किया है। कबीर ने 'राम' का प्रयोग इसी सत्य के लिये किया है, जिसे वे घट-घट व्यापी मानते थे तथा प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने का उपदेश देते थे। उन्होंने इसके लिये योगमार्ग का निर्देश किया तथा सगुणोपासक भक्तों ने भक्ति द्वारा भगवान से तादात्म्य करने की शिक्षा दी। हिन्दी साहित्य में जिन रचनाओं में इन प्रवृत्तियों का अधिक प्रभाव है, उन्हें रहस्यवादी कविताएँ कहते हैं। रहस्यवाद में जिज्ञासा की शान्ति जिस अनुभूति की दशा में होती है, उसी को ब्रह्मानन्द या रहस्यानुभूति या परमानन्द कहा जाता है। रहस्यवादी साधना की भावना भारत में मिलती है। विशेष रूप से सूफी कवियों के प्रभाव से रहस्यवाद की भावना हिन्दी साहित्य में विकसिक होती गई। सूफी सन्त ईश्वर की उपासना प्रियतम के रूप में करते थे। जायसी रचित 'पद्मावत' की कथा इसी भावना पर आधारित है। पूरी कथा ही एक रूपक है जिसमें आत्मा और परमात्मा के पवित्र एकीकरण का रूप चित्रित किया गया है। भावना की दृष्टि से प्रेम की चरमावस्था का चित्रण इस काव्यों में मिलता है। सूफी कवियों के प्रभाव से ही कबीर में भी इस रहस्य का भाव मिलता है। **कबीर ने रहस्य का अनुभव** जड़-प्रकृति की संचालन-शक्ति में किया तथा उसकी अनुभूति के बाद सांसारिक अस्तित्व को नगण्य माना—

'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।'

हिन्दी साहित्य में इसको भक्ति काल में देखा जा सकता है। सन्तों की वाणियों तथा सूफियों की प्रेम-पीर में रहस्यवाद का स्पष्ट रूप मिलता है। सगुणोपासक भक्तों की भावना में भी वही अनुभूति है पर रूप और साधन मार्ग भिन्न हैं।

आधुनिक काल में महादेवी वर्मा ऐसी कवयित्री हैं जिनमें रहस्यवादी भावना के दर्शन होते हैं। परन्तु महादेवी का रहस्यवाद जायसी और कबीर के रहस्यवाद से भिन्न है। महादेवी का रहस्यवाद छायावाद से अनुप्राणित है।

छायावाद—द्विवेदी युग की उपदेशात्मक, इतिवृत्तिमय काव्यधारा तथा रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में जो काव्यधारा बही, उसको छायावाद कहा गया। इसमें पूर्व युग की स्थूल आदर्शवादिता के प्रति विद्रोह की भावना थी। इस काव्य-धारा का प्रारम्भ सन् १९१८ के आस-पास माना जा सकता है। इस पर अंग्रेजी के रोमान्टिक कवियों की तथा बंगाल के रवीन्द्रनाथ की कविताओं का प्रभाव है। प्रारम्भ में छायावाद का रहस्यवाद से अर्थ में प्रयोग किया गया। शुक्ल जी ने छायावाद को दो अर्थों में—रहस्यवाद के सीमित अर्थ और प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद की अभिव्यंजना शैली के रूप में देखा है किन्तु छायावाद रहस्यवाद का पर्याय नहीं माना जा सकता। हाँ, छायावाद का एक भाग रहस्यवाद भी है। इस प्रकार न तो सभी रहस्यवादी कविताएं छायावादी होती हैं और न सभी छायावादी कविताएँ रहस्यवादी हैं। छायावाद के स्तम्भ रूप में 'प्रसाद', 'निराला' 'पन्त' और 'महादेवी' वर्मा का नाम आता है।

छायावाद की विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं—'छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत कथन' (शुक्ल जी)। प्रसाद जी के अनुसार छायावाद की तीन विशेषताएँ- 'स्वानुभूति की निवृत्ति या आत्म-व्यंजकता, सौन्दर्य-प्रेम और अभिव्यक्ति की भंगिमा या सांकेतिकता हैं।' सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इस परिभाषा में अति व्याप्ति दोष आ गया। डा० नगेन्द्र के मत से छायावाद 'स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह, है। पं० नन्ददुलारे बाजपेयी के मतानुसार 'नयी छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है किन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की मानवीय प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।.... उसकी एक नवीन और स्वतन्त्र काव्य शैली बन चुकी है........नवीन कविता (छायावाद) में समस्त मानव अनुभूतियों की व्यापकता स्थान पा सकी।' इसी प्रकार और भी अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं, इन परिभाषाओं के आधार पर छायावाद में सांसारिक कुत्साओं से ऊबकर प्रकृति के रमणीय और रहस्यमय सौन्दर्य में रमने की प्रवृत्ति (पलायन) आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति; कल्पना की अतिशयता, सौन्दर्याकर्षण; विस्मय भावना; एक सूक्ष्म सर्वचेतना का विश्व में दर्शन; बन्धन रूढ़ियों से विद्रोह, स्वच्छन्द प्रेम, भारतीय दर्शन की आध्यात्मिक चिन्तन की बहुविध परम्पराओं का वर्णन, नवीन जागरण सम्बन्धी विचारधारा जैसे गाँधीवाद, भक्ति-साधना, विश्व-बन्धुत्व आदि तत्व दिखाई पड़ते हैं।

इस प्रकार इस काव्य-धारा (छायावाद) को पूर्व-काल और उत्तर-काल के रूप में बाँट सकते हैं। प्रथम चरण में छायावाद विकासोन्मुख रहा और कल्पना का संसार अधिकतर सजाया गया, किन्तु उत्तरार्द्ध में छायावादी कवियों की कल्पना जब कठोर यथार्थ से भरे भू-भाग में आई तो उसे चारों ओर निराशा का जाल दीखा। निराशावाद, हालावाद, अहंवाद आदि का प्रभाव बढ़ गया। इसे हम छायावादी आदर्श की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। 'कुछ शोक भुलाने को पीते कुछ शोक मिटाने को पीते' कहकर श्री बच्चन ने इसका समर्थन किया। दिनकर, भगवती चरण वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रभाकर माचवे आदि इस युग के मुख्य कवि हैं।

प्रगतिवाद—समाज में यथार्थवाद के नाम पर चलाया गया साहित्यिक आन्दोलन प्रगतिवाद कहा गया। ह्रासोन्मुख, उत्तर-कालीन छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में वर्ग-संघर्ष, मार्क्सवाद, साम्यवादी विचारधारा से प्रेरित होकर साम्यवादी संदर्भ में नवीन मानव 'नये हीरो' का निर्माण कराने के लिए साहित्य में प्रगतिवाद को विकसित किया गया। इसका मुख्य लक्ष्य था—बिखरी जन-शक्तियों को एकत्र कर मार्क्सवाद तथा भौतिक यथार्थवाद के अनुसार बनी मान्यताओं को स्थापित करना। इसकी दृष्टि तथा प्रेरणा स्रोत रूसी राज्यक्रांति तथा लाल सेना थी। इसकी मूल चेतना सिद्धांत जग में प्रगतिशील थी अतः इसे प्रगतिवादी की संज्ञा मिली। साहित्य के सभी क्षेत्रों में इस शैली का विकास हुआ। प्रगतिवाद ने सामयिक यथार्थ की अवहेलना की। फलतः वह अनुभूति के निकट नहीं पहुँचा और उसमें आत्मशक्ति नही आ सकी। उसकी भावभूमि मरीचिकामय मरुभूमि बन कर रह गई।

इन कविताओं में किसान, मजदूर, शोषक आदि का वर्णन तो किया गया, पर केवल विघटनकारी ही रहा। उसका विदेशीपन भारतीय भूमि के लिए हितकारी न हो सका। इस विचारधारा ने साहित्य को उसी रूप में प्रभावित करना चाहा जिस रूप में मार्क्सवाद ने राजनीति को प्रभावित किया। वास्तव में प्रगतिवाद एक यथार्थवादी भावधारा मात्र प्रतीत होता है। इसमें संकीर्णता और अनुदारता है। प्रगतिवाद के लिए देश-काल से अधिक महत्व वाद का है : उसमें संकीर्ण मन्तव्य को अनुशासित अनुभूति है। हाँ, इसने साहित्यिक चेतना जगाने का कार्य अवश्य किया और इसका यही साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्व है। अनेक छायावादी कवि पन्त, निराला आदि तथा भगवतीचरण वर्मा, रामधारीसिंह 'दिनकर', प्रभाकर माचवे, रामेश्वर प्रसाद अंचल आदि इस धारा के कवि हुए।

प्रयोगवाद—प्रयोगवाद की प्रवृत्ति है—अन्वेषण। वह निरन्तर उस अभेद्य के अन्वेषण में लीन रहता है, जिसे अगम्य मानकर छोड़ दिया गया है। प्रयोगवाद में अज्ञात की ओर बढ़ने को प्रवृत्ति है। यह व्यक्ति की अनुभूति की प्रमुखता मानते हुए उसे समष्टि की पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयास करता है। एक ओर यह रूढ़िविरोधी हैं और दूसरी ओर व्यक्ति को और समष्टि की अनुभूति को एक ही सत्य का तत्व मानता है। इस वाद का प्रारम्भ श्री अज्ञेय के 'तार सप्तक' प्रकाशन से माना जाता है। अज्ञेय जी के अनुसार प्रयोगवादी हर विषय पर मतभेद रखने वाला होता है। वह सत्य को अपने ढंग से देखता है। वह सभी मार्ग के अन्वेषक होते हैं अतः एक मार्ग के राही भी वह नहीं हैं। फिर भी प्रयोगवाद अनुभूति की पृष्ठभूमि को बौद्धिक तथा काव्यात्मक मानकर चलता है। प्रयोगवाद यह भी मानता है कि नये विषयों की अभिव्यक्ति का माध्यम भी नया ही होना चाहिये। प्रयोगवाद को कदाचित् इसी कारण कुछ समालोचक शिल्प का नवीन चमत्कार मानते हैं। प्रयोगवादी शिल्प को व्यक्ति का एक अंग मानते हैं। प्रयोगवाद की सजीवता में ही इसका वास्तविक ऐतिहासिक महत्व निहित है। इसमें साहित्यिक चेतना का जीवन है। इसने वर्तमान हिंदी साहित्य में प्रेषणीयता को विकसित किया है। हिंदी कविता में प्रयोगवादी युग १९४३ से प्रारम्भ होता है। प्रयोगवादी कवियों में 'अज्ञेय', 'अंचल' आदि मुख्य हैं।

उपसंहार—हिन्दी साहित्य में वाद-परम्परा निश्चित जाने-माने रूप में तो बीसवीं शताब्दी से प्रचलित हुई है, किन्तु वैसे यह इसके पूर्व भी अनजाने रूपों में विद्यमान थी। कविता का क्षेत्र इतना विशाल है तथा इसकी भाव-भूमि इतनी उर्वर है कि इसमें अनन्त अनुभूतियों की स्थिति रहती है। कवि की प्रतिभा नवोन्मेषशालिनी मानी जाती है और उसकी रचना में उसका 'स्व' भी स्वाभाविक रूप से व्यंजित होता रहता है। प्राचीन कवियों ने उस 'स्व' को साधारणीकृत करके समष्टि की भावभूमि तक पहुँचाने का प्रयास किया है अत: उनकी रचनाओं में आदर्श तथा समाज-कल्याण की भावना अधिक प्रखर हो सकी है। उनकी अनुभूतियाँ सब की बन गई हैं। अँग्रेजी साहित्य के प्रभाव रूप में यहाँ वादों की प्रचुरता हुई। संस्कृत साहित्य में अनेक वाद स्थापित हुए पर हिन्दी में वाद का प्रचार इसी शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। वाद तो अनेक प्रचलित हैं पर उनमें मुख्य हैं—रहस्यवाद, छायावाद, प्रयोग-वाद, और प्रगतिवाद जो काव्य की विभिन्न अन्त: चेतनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

२१. हिन्दी कविता का विकास

१—भूमिका, २—प्रारम्भिक रूप : अपभ्रंश और वीर-काव्य, ३—भक्ति-काव्य, ४—रीति-काव्य, ५—आधुनिक काव्य : द्विवेदीयुगीन, छायावादी तथा वर्तमान नई कविता, ६—उपसंहार।

भूमिका—कविता का जन्म भाषा की प्रारम्भिक अवस्था से ही हो जाता है। हिन्दी भाषा का प्रारम्भ भी कविता से ही शुरू हुआ। ७वीं शताब्दी में हर्ष का शासन-काल समाप्त होने के बाद भारत में केन्द्रीय राजसत्ता का अभाव हो गया। देश में अनेक छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो गई जो स्वतन्त्र शासन में चल पड़े। उनमें आपस में भी अनेक कारणों से संघर्ष होता रहता था तथा बाहर से भी आक्रमण प्रारम्भ हो गये। इन आक्रमणों ने देश की शान्ति को भंग कर दिया था। देश का वातावरण हर प्रकार से क्षुब्ध हो गया था। १३वीं शताब्दी में मुसलमानों को अन्तत: विजय प्राप्त हुई और उनकी सत्ता दिल्ली में जम गई। फिर भी स्थान-स्थान पर अपनी स्वतन्त्रता के लिए अनेक नरेश संघर्ष-रत रहे। यह संघर्ष किसी न किसी रूप में १६वीं शताब्दी तक चलता रहा। जब अकबर का शासन जम गया तब देश में शान्ति का वातावरण प्रारम्भ हुआ। हिन्दू नरेशों का उत्साह सदियों के संघर्ष के कारण क्षीण हो गया। मुसलमान लगभग १३वीं शताब्दी से ही केवल विदेशी लुटेरे न रहकर भारत के स्थायी निवासी बनकर रहने लगे। उनमें परस्पर का व्यवहार बढ़ता चला गया और मुगलों के समय (१७वीं, १८वीं शताब्दी) में उनमें घनिष्ठता हो गई। यद्यपि मुसलमान शासक थे, फिर भी उनको शासन हिन्दुओं की सहायता से करना पड़ता था। अत: समन्वय की भावना मेल-मिलाप में बदल गई। फिर अँग्रेजों का शासन-काल आया और अपना प्रभाव छोड़कर गया। इसी ऐतिहासिक क्रम से हिन्दी कविता का विकास हुआ।

हिन्दी कविता का प्रारम्भिक रूप (वीरगाथा काल)—प्रारम्भ की अपभ्रंश कविताएँ बहुत थोड़ी प्राप्त हैं और वह भी खण्डित रूप में। इससे प्रारम्भिक कविता का रूप स्थिर करने में कठिनाई है। फिर भी उस समय प्रबन्ध रूप में रचनाएँ हुई थीं, जिनमें वीर और श्रृंगार की भावना मुख्य थी। जैन और बौद्ध श्रमणों ने भी कुछ रचनाएँ कीं जिनमें तन्त्र-मन्त्र का प्रभाव अधिक था। उस युग के कवि प्राय: राजदरबारों में रहा करते थे। वे यदि अपनी कविताओं से सेना का उत्साह बढ़ाते थे तो तलवार लेकर रण-क्षेत्र से लड़ते भी थे। शान्ति-काल में राजाओं को प्रसन्न करने के लिए मनोहर श्रृंगारिक वर्णनों की झड़ी लगाते थे। नारी सौन्दर्य का चित्र खींचते थे, राज-वंशों का इतिहास भी लगे हाथ लिखते जाते थे। यह क्रम वीरगाथा काल में चलता रहा। कुछ फुटकर रचनाएँ भी होती रहीं किन्तु प्रधानता चरितकाव्यों की ही रही। प्रबन्धों में युद्धों की भरमार है। **'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो', 'हमीर देव रासो'** आदि अनेक महाकाव्य रचे गये। युद्ध के कारणों में सुन्दरियों का मुख्य स्थान रहता था। स्वाभिमान, व्यक्तिगत वीरता, स्वामिभक्ति, प्रतिशोध आदि भावों का स्वाभविक वर्णन किया गया। ऐसी कविता की भाषा गतिशील तथा वर्णन सचित्र हैं। प्रकृति चित्रण पृष्ठभूमि रूप में या उद्दीपन रूप में किया गया। हाथी, घोड़े आदि पशुओं की प्रकृति और जाति का वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में किया गया। इन दो-तीन शताब्दियों में हिन्दी कविता का विकास इसी रूप में हुआ। **विद्यापति, अमीर खुसरो** आदि कवियों ने फुटकर पदों और सूक्तियों की रचना की। इन कवियों की भाषा में व्यावहारिकता तथा प्रचलित शब्दों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग है। १४वीं शताब्दी तक आते-आते अलाउद्दीन के शासन-काल तक हिन्दुओं की शक्ति प्राय: शिथिल पड़ने लगी। फलत: वीर-गाथाओं का ह्रास प्रारम्भ हो गया।

पूर्व मध्य युग (भक्ति-काल : सन्तकाव्य)—निराश्रित और पराजित हिन्दू जाति को अब कोई सहारा न रहा। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों और समाजों में संकीर्णता, अहमन्यता तथा आडम्बर आदि का बोल-बाला था। हिन्दू समाज के हृदय में साकार भगवान में अब कोई आशा नहीं दिखाई पड़ रही थी। धार्मिक, राजनीतिक आदि सभी दृष्टियों से समाज में निराश्रयता तथा हीनता की भावना व्याप्त हो गई थी। राजाओं की राजधानियाँ छिन्न-भिन्न हो गई थीं; अत: ललित कलाएँ और उनके निर्माता भी निरावलम्ब हो गये थे। हिन्दू मुसलमानों के मध्य पार्थकता की दीवार और ऊँची होती गयी। समाज, जाति, धर्म और व्यवहार की संकीर्णता ऐसी बढ़ी कि समाज के कतिपय लोगों को असह्य हो गया। कबीर ऐसे ही जीव थे, जो अदम्य और अलौकिक प्रतिभा से समाज में प्रकट हुए और व्याप्त बुराइयों की कटु आलोचना की। इस समय तक भारत ऐसा देश बन गया था जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायों के लाखों साधु और फकीर जनता की दशा देख रहे थे, और उन्हीं में ऐसे सन्त निकले जिन्होंने धर्मप्राण भारतीय जनता को निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान सिखाया। चूँकि उस समय हिन्दी का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो चुका था अत: अपने ज्ञानोपदेशों तथा अनुभूतियों को कबीरदास तथा उनके ही समान अन्य सन्तों ने जनता को हिन्दी में ही सुनाया। योगियों का प्रभाव भी व्यापक था, अत: रहस्यमयी अटपटी वाणी का प्रभाव खूब बड़ा। यह सन्त फक्कड़ होते थे और निर्भीकतापूर्वक जाती-पाँति, वेद, ब्राह्मण, मुल्ला, कुरान, रोजा-नमाज, पूजा-पाठ आदि का विरोध करते थे। इनमें कबीर, नानक, दादू आदि मुख्य थे।

उपनिषदों का अद्वैतवाद तथा इस्लाम धर्म का एकेश्वरवाद उनकी वाणियों में कतिपय परिवर्तनों के साथ स्फुटित हुआ। इन सन्तों की वाणी में स्पष्टता तथा सत्यता थी, यद्यपि उनमें भाषा का परिष्कार तथा शास्त्रीय ज्ञान कम था। फलस्वरूप साधारण जनता पर इनका अच्छा प्रभाव पड़ा। हिन्दी कविता में इन सन्तों ने योग और दार्शनिकता का पुट दिया। यह पढ़े-लिखे कम होते थे अतः मनमाना प्रयोग अपने अनुभव द्वारा करते थे। इन लोगों ने मूर्ति-पूजा का भी विरोध किया तथा कुर्बानी का भी। ईश्वर की व्यापकता का पाठ पढ़ाया, गुरु महिमा का ज्ञान कराया, तथा अनेक सम्प्रदायों की भूमिका बनाई। संक्षेप में सन्तों ने हिन्दी कविता से आत्मबल जगाया।

सूफी काव्य—रहस्यवाद का दूसरा रूप फारसी शैली में सूफियों ने अपनाया उन्होंने 'इश्क मजाजी' के माध्यम से 'इश्क हकीकी' को प्राप्त करने का साधन बताया ये गरीब व सीधे-सादे किसान होते थे जो प्रेमगाथाओं को गाया करते थे। इनकी कथाएँ हिन्दुओं के घर की होती थीं, शैली मसनवी और लिपि फारसी होती थी। ये थे तो इस्लाम धर्म के प्रचारक पर हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के समर्थक थे। जायसी, कुतबन, मंझन, उसमान आदि इस परम्परा के मुख्य कवि थे। इनकी रचनाओं में लोक पक्षी यथार्थ रूप में चित्रित किया गया। व्यावहारिक विषयों पर बल दिया गया। प्रेम की अनन्य साधना द्वारा ईश्वर प्राप्ति को सूफियों ने सरल बनाया। इन सूफी कवियों पर भी योगियों की अनेक परम्पराओं का प्रभाव पड़ा। सिद्धियों का, गेरुआ वस्त्र धारण कर योगी होने का, योग की विभिन्न क्रियाओं का वर्णन हिन्ही कविता में इन्हीं लोगों के द्वारा आया। इन्होंने भी गुरु को अधिक महत्व प्रदान किया। सृष्टि, माया, जगत् आदि का वर्णन अधिकांश में इस्लाम धर्म के अनुसार ही इन लोगों ने भी किया। इन लोगों का ढंग यह था कि लौकिक रूप से कहकर अन्त में उसे प्रतीकात्मक बना देते थे और पूरी कहानी आत्मा परमात्मा के विषय में बैठ जाती थी। निर्गुण सन्तों की वाणी मुक्तक में कही गई तथा सूफियों की सरस प्रेम कथाएँ प्रबन्ध रूप में लिखी गईं।

राम-काव्य-धारा—निर्गुणवादियों के प्रभाव से जनता को कोई सबल आश्रय नहीं मिल पाया। हिन्दी कविता के इस रूप में कोई ऐसा आदर्श नहीं बताया गया, जिसके अनुसार जनता अपनी उदात्त वृत्तियों को सबल बनाती और जिसका वह अपने लौकिक तथा आध्यात्मिक जीवन में प्रयोग करती तथा जिससे वह अपने दुःख-निवारण की आशा करती। कबीर ने राम की भक्ति का मार्ग नहीं प्रतिपादित किया। उनकी निर्गुण-उपासना साधारण जनता की समझ से परे थी अतः वह जनता को निश्चित मार्ग का दर्शन नहीं करा सकी, इस अभाव की पूर्ति गोस्वामी तुलसीदास तथा अन्य भक्तों ने की। इन भक्तों ने सामाजिक व्यवस्था दी, लौकिक तथा आध्यात्मिक जीवन के लिए अनुकरणीय आदर्श दिया और विपत्तियों से उबारने वाले भगवान की कल्पना प्रदान की। ईश्वर में अटूट विश्वास की प्रेरणा दी। हिन्दुओं को अपने धार्मिक ग्रन्थों के प्रति गौरव और श्रद्धा अनुभव होने लगी। वे अपने जीवन को सार्थक समझने लगे। हिंदी कविता की धार इस युग में मंथर, गम्भीर, निर्मल तथा कलात्मक रूप में बहने लगी। इस युग में सुव्यवस्थित प्रबन्ध तथा लालित्यपूर्ण गेय मुक्तकों की रचनाएँ हुईं। सर्वाङ्गीण कविता का विकास हुआ, अवधी और ब्रजभाषा दोनों का संस्कृत रूप

सामने आया। भाषा, भाव और शैली हर क्षेत्र में हिन्दी कविता का विकास हुआ। भगवान की अपार शक्ति को कह कर मानव रूप में उनको अवतरित बताया। भक्ति की महिमा गायी गई है। सौन्दर्य, शील और शक्ति का अपूर्व वर्णन किया गया। भक्तिकालीन कविताएँ साहित्यिक दृष्टि से अपूर्व बनीं। चूँकि भक्त कवि प्राय: परोपकारी साधु थे अत: उन्होंने आदर्श तथा दर्शन का सूक्ष्म विवेचन किया। रामोपासक कवियों ने जनता के सम्मुख वह आदर्श रखा जिस पर चलकर वह अपने लोक और परलोक दोनों को बना सकें। तुलसी इनमें सबके अगुआ थे।

कृष्ण काव्य-धारा—कृष्णोपासक कवियों ने अपनी रागात्मक वृत्ति के द्वारा जन-साधारण का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। पदों में तन्मयता तथा संगीतात्मकता का अलौकिक मिश्रण करने में सूरदास तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवि पूर्ण सफल हुए। कृष्ण, राधिका, गोपियाँ जन-जन के हृदय में रम गये। हिन्दी कविता में भाव-प्रवणता, अनुभूति, की व्यापकता, वर्णन की सूक्ष्मता तथा ईश्वर प्रेम का अलौकिक-प्रभाव कृष्ण-भक्त कवियों ने सरलतापूर्वक व्यक्त किया। इस युग परम्परा की हिन्दी कविता में प्रबन्धकाव्यों की रचना का अभाव है। श्रृंगार, वात्सल्य तथा करुण रस का वर्णन इस काल में अधिक हुआ। दार्शनिक विवेचन द्वारा भक्ति का निरूपण किया गया। कृष्ण भक्ति ने हिन्दी कविता को तन्मयता की उन्नत भावभूमि पर पहुँचा दिया। **इसमें सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवि मुख्य हैं।**

रीतिकाल—कृष्ण भक्ति परम्परा की कविताओं का प्रवाह इतना प्रबल रहा कि उस धारा में कृष्ण का ईश्वरत्व भक्तों के मनुष्यत्व से मिल गया। कृष्ण भक्तों के अभिन्न सखा बन गये तथा वे अपने हृदय की भावनाओं को कृष्ण के सामने उन्मुक्त रूप से व्यक्त करने लगे। हिन्दी कविता में सामान्यतया कृष्णचरित्र से सम्बद्ध छन्द रचे जाने लगे। मुगल शासन के शान्त सम्पन्न वातावरण में केन्द्र तथा अन्य दरबारों में कवियों को आश्रय मिलने लगा। श्रृंगारिक और काव्यशास्त्रीय, रीति ग्रन्थों की रचनाएँ हुईं। कवियों ने मुक्तक छन्दों में आचार्यत्व और कवित्व का मिश्रण किया। नायिका-भेद, अलंकार-निरूपण, सौन्दर्य-चित्रण, श्रृंगार की संयोग-वियोग-सम्बन्धी असंख्य भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई। 'भूषण' जैसे एक-दो कवियों ने वीर रस की दुन्दुभी भी बजाई। मुगलकालीन विलासिता का प्रभाव कविताओं पर पड़ा। काव्य में कलात्मकता का सूक्ष्मता से प्रयोग किया गया। श्रृंगारिता इसकी चरम सीमा पर पहुँच गई कि उसमें अश्लीलता के दर्शन भी होने लगे। भक्ति-काल के राधा और कृष्ण रीति-काल में साधारण नायक और नायिका बन गये।

रीति-काल के काव्य में रसिकों को निमज्जित करने की असीम क्षमता है। इस काल की ब्रज-भाषा के माधुर्य ने सहृदयों को इतना अधिक मोहित कर लिया कि उसके सम्मुख तुलसी और जायसी की अवधी फीकी पड़ गई।

वर्तमान युग—मुगल शासन के पतन तथा अँग्रेजी शासन के विकास ने देश में नये वातावरण का निर्माण किया। हिन्दी कविता में नवीन परिवर्तन होने लगे। कविता ने ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को अपनाया। व्याकरण के अनुसार विभक्तियों और संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बढ़ा। संस्कृत गर्भित पदावली तथा संस्कृत छन्दों को खड़ी बोली में स्थान मिला। उपदेश, उपयोगिता, आदर्श व्यावहारिकता

आदि को कविता में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया तथा प्रबन्ध-काव्यों का निर्माण हुआ। खड़ी बोली का निखरा रूप काव्य में प्रयुक्त हुआ। इस युग की कविता में राष्ट्रीयता की भावना को व्यक्त किया। इस युग में स्थूल वर्णन की प्रवृत्ति प्रमुख थी। भिन्न तुकान्त वर्णिक वृत्तों का प्रयोग बढ़ा। यह द्विवेदी युग की देन थी।

राष्ट्रीयता की धारा को असहयोग तथा विद्रोह ने बढ़ाया। हिन्दी कविता में छायावादी युग आया। आत्माभिव्यक्ति, कल्पना की अधिकता, भावुकता की प्रमुखता 'स्व' की प्रचुरता, प्रकृति का भावमय-चेतन-चित्र अधिक खींचा गया। प्रवृत्तियों का मानवी-करण, प्रकृति से तादात्म्य इन कवियों ने अधिक दिखाया। संक्षेप में छायावाद द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। इसके बाद भौतिकता तथा मार्क्सवादी वर्ग संघर्ष और साम्यवादी विचारधारा से अनुप्राणित प्रगतिवाद आया। छायावाद की निराशामयी तथा हालावाद कविताओं के बाद इसका आना स्वाभाविक था। इसके बाद प्रयोगवादी और नई कविताएँ लिखी जाने लगीं।

उपसंहार—हिन्दी कविता आज अँग्रेजी, बंगला, संस्कृत आदि से प्रभावित होकर बढ़ रही है। इसका विकास-क्रम भारतीय समाज के अनुकूल ही हुआ है। स्वतन्त्र भारत के बढ़ते चरण हिन्दी कविता में नवीन विचारों का समावेश कर रहे हैं और शनैः-शनैः हिन्दी काव्य की गरिमा बढ़ती जा रही है।

२२. हिन्दी गद्य का विकास

१—भूमिका, २—प्रारम्भिक अवस्था, ३—भारतेन्दु युग का गद्य, ४—द्विवेदी युग ५—छायावादी युग का गद्य, ६—गद्य का वर्तमान रूप, ७—उपसंहार।

भूमिका—गद्य और पद्य साहित्य के दो विशिष्ट रूप हैं। दोनों ही समाज के लिए उपयोगी हैं और दोनों का अपना अलग-अलग महत्व है। संसार की समस्त प्रमुख भाषाओं में पहले पद्य में रचना हुई और फिर गद्य में। अतएव गद्य साहित्य का विकसित रूप है। दैनिक जीवन में गद्य पद्य की अपेक्षा अधिक निकट है। हम अपने विचारों को अधिकतर गद्य के माध्यम से ही व्यक्त करते हैं। हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ अपभ्रंश-काल में पद्य के रूप में हुआ। उस समय भी लोग पारस्परिक पत्र-व्यवहार या धार्मिक उपदेश आदि गद्य के माध्यम से चलाते थे। उसी युग से ब्रजभाषा का प्रयोग बढ़ने लगा। प्रारम्भिक गद्य भी ब्रजभाषा में ही लिखा गया। आगे चलकर गद्य की आवश्यकता बढ़ने लगी तदनुसार उसका विकास भी प्रारम्भ हो गया।

हिन्दी गद्य की प्रारम्भिक अवस्था—आधुनिक युग को गद्य युग कहा जाता है। इसका प्रारम्भ १९वीं शताब्दी से माना जाता है। इसके पूर्व गद्य को कोई निश्चित रूप नहीं प्राप्त हो सका था। गद्य साहित्य रूप में भारतेन्दु युग में आने लगा। इसके पूर्व का गद्य अव्यवस्थित तथा अस्त-व्यस्त रूप में मिलता है। भक्तिकाल की **'चौरासी वैष्णवों की वार्ता'** और **'दो सौ बावन वैष्णओं की वार्ता'** ब्रजभाषा में लिखी हुई दो गद्य रचनाएँ अवश्य प्राप्त होती हैं परन्तु उनका गद्य बड़ा अव्यवस्थित है।

१८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से अँग्रेजी राज्य जमने लगा तथा अंग्रेज शासक

जनता से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मिशनरियों के माध्यम से साधारण भाषा में बाइबिल की कहानियों का प्रचार कराने लगे। फोर्ट विलियम कालेज के माध्यम से गिलक्राइस्ट और पिनकाट महोदय ने हिन्दी गद्य के विकास में योग दिया। आर्य-समाज के उपदेशकों ने भी अपना प्रचार सरल गद्य में किया। इस गद्य का प्रारम्भिक रूप सामान्य तथा सरल रहा।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लल्लूलाल, इंशाअल्लाखाँ, सदल मिश्र और सदासुखलाल ने गद्य में रचनाएँ कीं। गिलक्राइस्ट महोदय ने तत्कालीन हिन्दी भाषा को 'हिन्दुस्तानी' नाम दिया, जिसका अभिप्राय—हिन्दी, अरबी, फारसी का मिश्रण है। इसी हिन्दुस्तानी के ग्रामीण रूप को हिन्दी कहा गया। संक्षेप में हिन्दी गद्य की दो शैलियाँ सामने आईं। फारसी से प्रभावित शैली में **इंशाअल्लाखाँ ने 'रानी केतकी'** की 'कहानी' लिखी। दूसरी शैली में पंडिताऊपन तथा ग्रामीण प्रभाव रहता था किन्तु संस्कृत के शब्दों का प्रयोग खुलकर किया जाता था। इस शैली में **'प्रेम-सागर'** की रचना **लालूलालजी** ने तथा 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना सदल मिश्र ने की। यही हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक रूप है। इसके बाद **राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'** ने आम-ओ-फहम की जुबान का समर्थन किया तथा राजा लक्ष्मणसिंह ने शुद्ध हिन्दी या 'संस्कृत गर्भित' रूप का प्रयोग किया। इस प्रकार इस काल में हिन्दी भाषा की स्पष्ट शैलियों का अस्तित्व सामने आ गया, जिसे हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी कहा गया है।

भारतेन्दु युग का गद्य—१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु-युग कहा जाता है। इस युग में हिन्दी गद्य को पौराणिक वातावरण से निकालकर सामान्य जीवन से सम्बन्धित विषयों पर साहित्य लिखा जाने लगा। इस समय हिन्दी को सामान्य रूप से सरल संस्कृत तथा देशी शब्दों में लिखा जाने लगा। गद्य का क्षेत्र व्यापक बनाया गया। नाटक, कहानी, निबन्ध, उपन्यास आदि सभी कुछ लिखा जाने लगा। भाषा की गतिशीलता तथा अभिव्यंजना शक्ति में विकास हुआ। उपन्यासों को लिखने वाले भी तैयार हो गये और जासूसी तथा तिलस्मी उपन्यासों का खूब प्रचार हुआ। 'चन्द्रकांता संतति', 'भूतनाथ' आदि अनेक उपन्यास लिखे गये। **देवकीनन्दन खत्री** के इन उपन्यासों ने हिन्दी साहित्य के घटना-भण्डार को भर दिया। **पं० प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवासदास** आदि लेखकों ने गद्य रचनाएँ कीं। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि सभी लेखक स्वतंत्र विचार के थे। सबने सामाजिक विषयों पर विभिन्न शैलियों में रचनाएँ कीं। इस युग में गद्य रूप निश्चित नहीं हो पाया था। भारत में अस्त-व्यस्तता थी, व्याकरण का व्यवस्थित रूप से प्रयोग नहीं होता था। प्रायः सभी लेखक स्वच्छन्द और अपनी धुन के पक्के थे। किसी ने संस्कृत के तद्भव और तत्सम शब्दों की भरमार के साथ कथावाचक और पंडिताऊ शैली को अपनाया तो किसी ने ग्रामीण शब्दों से ओत-प्रोत, छोटे-छोटे वाक्यों में फारसी की चुलबुलाती शैली का प्रयोग किया। किसी ने यदि लोकोक्तियों और मुहावरों का कम प्रयोग किया तो किसी ने उनकी भरमार कर दी। इस प्रकार भारतेन्दु युग में गद्य का प्रसार तो खूब हुआ पर उसमें स्थिरता न आ सकी।

द्विवेदी युग का गद्य—१९०३ ई० में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती'

पत्रिका का सम्पादन-भार सम्भाला। उन्होंने भारतेन्दु काल की भाषा विषयक स्वच्छन्दता तथा अस्त-व्यस्तता को मिटाकर हिन्दी भाषा का रूप स्थिर किया। पं० कामता प्रसाद गुरु ने हिन्दी में व्याकरण का निर्माण किया। इस युग में व्याकरण के नियमों के अनुसार हिन्दी गद्य का परिष्कार हुआ। विभक्तियों का उचित प्रयोग होने लगा तथा भाषा का रूप स्थिर और व्यवस्थित हो गया। गद्य का क्षेत्र और भी व्यापक हुआ तथा द्विवेदी जी ने नये विषयों पर लिखने की प्रेरणा दी। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध समालोचना आदि के अतिरिक्त यात्रा, सामयिक, सामाजिक और राजनीतिक विषय, संस्मरण, आत्म-कथा, जीवन-चरित्र, वैज्ञानिक विषय आदि सभी विषयों पर लेखकों ने अपनी लेखनी चलाई। इस युग में हिन्दी गद्य में अनुवाद का काम खूब हुआ। इस प्रकार द्विवेदी युग में गद्य साहित्य सर्वांगीण तथा बहुमुखी बन गया। उसका कलेवर (भाषा) स्थिर तथा एकरूप और प्रायः शुद्ध हो गया। पत्रकारिता, कविशिक्षा जैसे विषयों पर लेखकों ने निबन्ध लिखे। विश्लेषणात्मक, गवेषणात्मक तथा निर्णयात्मक शैलियों की स्थापना द्विवेदी युग में ही की गई। इस युग में उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि को कलात्मक रूप दिया गया। द्विवेदी युग में गद्यकारों में **मुन्शी प्रेमचन्द, डॉ० श्यामसुदरदास, गुलेरी, पद्मसिंह शर्मा, हरिऔध** आदि प्रमुख हैं। नवीन प्रतिभाएँ भी इस युग में, **'प्रसाद', पंत, निराला, पूर्णसिंह, रामचन्द्र शुक्ल** आदि अनेक लेखक के रूप में उदय हो रही थीं। इस युग ने हिन्दी गद्य में महान् परिवर्तन करके अपना ऐतिहासिक महत्व बना लिया।

छायावादी युग का गद्य—पद्य के क्षेत्र में छायावादी कविताओं ने क्रांतिकारी परिवर्तन किया। हिन्दी गद्य पर भी छायावादी कविताओं का प्रभाव पड़ा। छायावाद को मध्यवर्गीय चेतना का विद्रोह कहा गया है। गद्य लेखकों ने भाषा में दृढ़ता, भावों में गाम्भीर्य, शैली में प्रौढ़ता का परिचय दिया। द्विवेदी जी ने जिन असंख्य विषयों पर गद्य रचना की प्रेरणा दी थी उनमें सूक्ष्मता तथा भावात्मकता का गहरा रंग छायावादी गद्यकारों ने भरा। इस युग का गद्य सबल और परिष्कृत है। उपन्यासों के नायक और कथानक सामान्य जनता से चुने गये। सामाजिक विषयों को नवीन दृष्टिकोण से देखा गया। भाषा में लाक्षणिक तथा कलात्मक शब्दावली को प्रश्रय मिला। गद्य साहित्य पर वर्तमान युग के भौतिकवाद का गहरा प्रभाव पड़ा। निबन्ध, कहानी, नाटक, प्रहसन आलोचना आदि लघु कलेवर के साहित्य का प्रचलन अधिक हुआ। छायावादी गद्य में भी एक उदात्त आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। आलोचना के क्षेत्र में इस युग ने बहुत महत्वपूर्ण काम किया। समालोचना में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों का सुन्दर मिश्रण किया गया जिससे रचनाओं के मूल्यांकन में सरलता हुई तथा रचना का वास्तविक महत्व व्यक्त हुआ। विश्लेषण द्वारा रचनाओं में निहित तथ्यों की छानबीन की गई। कवि के दृष्टिकोण तथा वातावरण को ध्यान में रखा गया। इस का समीक्षा साहित्य बड़ा ही उन्नत है। डायरी तथा पत्र में उपन्यास और कहानी की नई शैली चली। महादेवी वर्मा, प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, उग्र जी, **डॉ० रामकुमार वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी** आदि इस युग के श्रेष्ठ कलाकार हैं। रेडियो-नाटकों तथा भावचित्रों का अधिक विकास हुआ। छायावादी युग में गद्य साहित्य पर अंग्रेजी प्रभाव भी कम नहीं पड़ा। शिकार यात्रा, वैज्ञानिक विषय आदि बहुतायत से प्रचलित हो गये हैं। इसमें गद्यकाव्य की रचनाएँ भी की गई हैं। वियोगी हरि, बाबू राय कृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी आदि इस क्षेत्र के मुख्य लेखक हैं।

वर्तमान युग में गद्य का स्वरूप—छायावादी गद्य में क्रमशः कलात्मकता को बढ़ाने का प्रयोग किया जा रहा है। हिन्दी भाषा में शब्द की स्थिति और स्थान बदल देने पर वाक्य के तात्पर्य तथा प्रभाव में अन्तर पड़ जाता है। प्रगतिवादियों का हिन्दी गद्य पर कम असर पड़ा, किन्तु प्रयोगवादी अपना प्रयोग गद्य के क्षेत्र में भी कर रहे प्रायः वे अपनी रचनाओं में क्रान्ति की साधना, रूढ़िगत संस्कारों का विरोध व्यक्त करते हैं। गद्य पर भी साम्यवादी विचार का प्रभाव पड़ता जा रहा है। फलतः वर्तमान गद्य में भावों तथा संवेदनात्मक विचारों का ह्रास होता जा रहा है। अज्ञेय, अंचल, गिरिजाकुमार माथुर, पं० रामविलास शर्मा तथा डॉ० नगेन्द्र आदि इस युग के मुख्य लेखक हैं। वर्तमान युग में गद्य क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया तथा सैकड़ों रचनाएँ प्रति वर्ष निकल रही हैं। अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रचलन हो रहा है और विभिन्न विषयों पर लेखनी चलाई जा रही है।

उपसंहार—विकास का क्रम प्रारम्भ में सरल तथा मन्दगामी होता है पर कालान्तर में वातावरण के अनुसार उसकी गति में तीव्रता तथा क्रम में जटिलता आ जाती है। हिन्दी साहित्य में गद्य का प्रारम्भ जिस प्रकार हुआ वह सरल तथा मन्दगामी और संघर्षमय रहा है। आगे चलकर देश की सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के कारण उसके विकास-क्रम में तीव्रता आई। प्रारम्भ के अस्त-व्यस्त, अव्यवस्थित तथा सामान्य रूप से बढ़कर व्यापकता, प्रौढ़ता और लाक्षणिकता प्राप्त करता हुआ आज हिन्दी गद्य सर्वांगीण विकास कर रहा है। सम्पूर्ण साहित्य हिन्दी में हो रहा है। अतएव हम कह सकते हैं कि हिन्दी गद्य का भविष्य उज्ज्वज है।

२३. हिन्दी नाटक का विकास

-भूमिका, २—नाटक का प्रारम्भ, ३—हिन्दी में नाटक की प्रारम्भिक स्थिति, ४—भारतेन्दु युग, ५—द्विवेदी युग, ६—पूव-प्रसाद युग, ७—उत्तर-प्रसाद युग।

भूमि -शास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत के अनुसार सतयुग के अन्त में संसार में अनेक प्रकार की आसुरी प्रवृत्तियों का प्रचार बढ़ जाने से लोगों को बहुत कष्ट हुआ; अतः इस दुःख-निवारण के लिए देवताओं ने ब्रह्मा जी से कोई खिलौना माँगा। ब्रह्मा जी ने चारों वेदों से चार तत्व कथोपकथन, संगीत, अभिनय और रस लेकर पंचम वेद के रूप में नाट्य वेद का उपदेश दिया तभी नाट्य वेद का जन्म हुआ। संस्कृत साहित्य में नाटकों का प्रारम्भ ईसा पू० ३ शताब्दी से पूर्व हुआ। तब से निरन्तर नाटक-रचना होती आ रही है। संस्कृत में काव्य के दो भेद माने गये—रूपक और उपरूपक। रूपक के दस भेदों में नाटक एक मुख्य भेद है, जिसकी कथा पौराणिक या ऐतिहासिक होती है और जिसमें लगभग ५ अंक होते हैं। हिन्दी में नाटक प्रायः दृश्य-काव्य के पर्याय के अर्थ में प्रयुक्त होता है। हिन्दी को उत्तराधिकार रूप में अनेक वस्तुएँ संस्कृत से प्राप्त हुई हैं, उन्हीं में नाटक भी हैं। हिन्दी में गद्य के अन्य अंगों की तरह नाटक का भी वास्तविक विकास भारतेन्दु युग से ही प्रारम्भ हुआ है। भारतेन्दु-युग के पूर्व भी कतिपय नाटक—'रुक्मिणी हरण', 'हनुमन्नाटक', 'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि लिखे

गये, जिन पर संस्कृत के नाटकों का प्रभाव है तथा उन्हें काव्यनाटक कहना ही अधिक उचित है। इन नाटकों में नाटकीय तत्वों का विकास बहुत कम हो पाया है।

हिन्दी नाटक का प्रारम्भ—१९वीं शताब्दी में **'आनन्द रघुनंदन' तथा 'प्रबोध चंद्रोदय'** नाम के दो नाटक लिखे गये। इसके सिवाय लोकरंजन के अनेक नाटक—'रासलीला', 'रामलीला', 'पूरनभक्त' आदि लिखे गये। 'इन्द्र सभा' शीर्षक नाटक ऐसे नाटकों में प्रसिद्ध रहा। बाबू गोपालचन्द्र जी को हिन्दी का सर्वप्रथम नाटककर होने का गौरव प्राप्त है। तत्पश्चात् भारतेन्दु युग का प्रारम्भ होता है। तब से नाटक-क्षेत्र निरन्तर विकास करता चला जा रहा है।

हिन्दी नाटक का विकास-क्रम समझने की सुविधा के लिये इसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) भारतेन्दु युग, (२) पूर्वप्रसाद युग तथा (३) उत्तर-प्रसाद युग।

भारतेन्दु युग के नाटक—भारतेन्दु जी की प्रतिभा बहुमुखी थी, उन्होंने साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति का प्रयत्न स्वयं किया तथा अन्य लेखकों को इस कार्य के लिये प्रोत्साहित किया। उन्होंने स्वयं कई संस्कृत नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया तथा दर्जनों नाटकों और प्रहसनों की रचना की। इनके समय में बंगला और अँग्रेजी से भी नाटकों का अनुवाद हिन्दी में किया गया। भारतेन्दु जी ने नाटकों को नया रूप देकर लेखकों का पथ-प्रदर्शन किया। इनके नाटकों में अभिनेता तथा पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग आदि गुणों के कारण स्वाभाविकता आयी। इनके नाटकों को कई भागों में बाँटा जा सकता है—श्रृंगार-प्रधान—जैसे 'चन्द्रावली', प्रेम योगिनी', तथा 'सतीप्रताप' आदि; राष्ट्रीयता प्रधान—जैसे 'नील देवी', 'भारतदुर्दशा' आदि तथा हास्य व्यंग्य प्रधान जैसे 'विषस्य विषमौषधम', 'अंधेर नगरी' आदि उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी युग और नाटक युग—इस युग के अन्य नाटककारों ने प्रायः इन्हीं के अनुकरण पर नाटक रचना की है। इनमें पं० प्रतापनारायण मिश्र, बा० रायकृष्ण दास, लाला श्री निवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी प्रमुख हैं। बाबू रायकृष्णदास ने 'महा-राणा प्रताप' तथा लाला जी ने 'संयोगिता-स्वयंवर' लिखकर अपनी नाट्य कला का परिचय दिया। इस युग में नाटकों के विषय पौराणिक, राजनीतिक तथा सामाजिक रहे हैं। सामाजिक कुरीतियों पर तीखा व्यंग्य किया गया। 'बड़े मुँह मुहासे' तथा 'चोखे-चौपटे' जैसे प्रहसन लिखे गये।

संस्कृत नाटकों के अनुवाद किये गये। इन अनुवादों में भारतेन्दु जी के अनुवाद बड़े सफल रहे। संस्कृत के 'मुद्राराक्षस', 'मालती माधव', 'उत्तर-राम-चरित' 'नागा-नन्द', मृच्छकटिक' आदि नाटकों के सुन्दर अनुवाद किये गये। राजा लक्ष्मण सिंह ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अनुवाद किया।

अँग्रेजी के कई नाटकों के भी अनुवाद किये गये। इसी युग में शेक्सपीयर के कई नाटकों का हिन्दी अनुवाद निकला। ये अनुवाद साधारण कोटि के माने जाते हैं। इन अनुवादों के बाद नाटक विकास का दूसरा युग प्रारम्भ हो जाता है।

इस युग में **नाटक मण्डलियों का प्रचार** अधिक हो गया था। अतः नाटक मण्डलियों के लिये अनेक नाटक लिखे गये जो अभिनय की दृष्टि से अधिक सफल रहे हैं, यद्यपि उनमें साहित्यिकता का अभाव ही है। इस युग के नाटककारों को अधिक

लोकप्रियता प्राप्त हुई। नारायण प्रसाद 'बेताब' तथा राधेश्याम कथावाचक सर्वाधिक लोकप्रिय हुए। इन नाटकों का मुख्य उद्देश्य था—दर्शकों को मनोरंजन प्रदान कर पैसा कमाना। यह इन लोगों का व्यावसायिक दृष्टिकोण था, फलतः साहित्यिक सुरुचि की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इन नाटकों में नृत्य तथा पद्यों की भरमार रहती थी। कथोपकथन भी प्रायः पद्यों में ही कराया जाता था। इन कारणों से नाटकों में अस्वाभाविकता आ जाती थी। इसी युग में 'चन्द्रहास' और तिलोत्तमा' शीर्षक से नाटकों की रचना गुप्त जी ने की जो अच्छे कहे जाते हैं। नाटक के क्षेत्र में अनेक नये-नये प्रयोग भी हो रहे थे। कतिपय नवीन नाटककारों के भी दर्शन इस युग में हुए। 'कृष्णार्जुन युद्ध' तथा अंजना' को लेकर क्रमशः पं० माखनलाल चतुर्वेदी तथा सुदर्शन जी क्षेत्र में आये और 'उग्र' जी ने 'ईसा' तथा पं० गोविन्दवल्लभ पंत ने 'वरमाला' नामक नाटकों की रचना की। अन्तिम चरण में प्रसाद जी ने भी नाटक रचना प्रारम्भ कर दी थी। प्रसाद जी के नाटकों में नए दृष्टिकोण का श्रीगणेश था; इसी से आने वाला युग प्रसाद-युग से सम्बोधित किया गया।

प्रसाद युग और नाटक—प्रसाद जी का युग नाटक के क्षेत्र में संक्रान्ति-युग कहा जा सकता है। नाटक रचना के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो रहा था। प्रसाद जी स्वयं भारतीय-गौरव की विगत घटनाओं से प्रेम रखते थे और उन्होंने खोजपूर्ण दृष्टि से अनेक ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'राज्यश्री' आदि नाटकों में प्राचीन भारत के वैभव तथा वातावरण का चित्र खींचा गया। इनमें ऐतिहासिक कथानक को साहित्यिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कुछ पौराणिक कथाओं को भी नाटक का विषय बनाया। इनमें 'सज्जन', 'विशाख', 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि मुख्य हैं। इन नाटकों की कथावस्तु पौराणिक है किन्तु नाटककार प्रसाद ने इन्हें मौलिक रूप दिया है। इन्होंने प्रतीकात्मक शैली पर 'कामना' नाटक लिखा। प्रसाद जी के नाटकों में नाटकीय तत्वों का सुन्दर विकास है। उनमें साहित्यिक सौष्ठव है, फिर भी वे अभिनय की दृष्टि से काफी कठिन हैं। उनमें दार्शनिक विचारधारा है और वे दृष्टि से पूर्ण हैं। प्रसाद जी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में नवीन तथा खोजपूर्ण दृष्टिकोण का परिचय दिया। उनके नाटक दुखान्त नहीं हैं पर उनमें दुखद घटनाओं का अभाव नहीं है। उन्होंने नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान दिया उनके नाटकों में कल्पना और इतिहास का मधुर समन्वय है। 'एक घूंट' नामक सुन्दर एकांकी नाटक भी उन्होंने लिखा है।

आलोच्य युग में पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों की रचना का क्रम चलता रहा। मैथिलीशरण गुप्त ने 'तिलोत्तमा' तथा 'अनघ' की रचना की। मिश्रबन्धुओं के 'पूर्व भारत' तथा 'उत्तर भारत' और बद्रीनाथ का 'बेनु चरित्र' पौराणिक नाटक सामने आये। जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' ने 'प्रताप-प्रतिज्ञा', वियोगी हरि ने 'प्रबुद्ध यामुन' तथा उदयशंकर भट्ट ने 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नामक सुन्दर ऐतिहासिक नाटक लिखे। इस प्रकार के नाटकों में अतीत के गौरव की झाँकी है। इस युग में समस्यामूलक नाटक भी लिखे गये, जिनमें समाज में प्रचलित अनेक समस्याओं पर विचार किया गया है। दूसरे सामाजिक नाटक भी रचे गये। इस प्रकार के नाटक जगन्नाथप्रसाद, द्विवेदी, लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा प्रेमचन्द आदि ने लिखे।

इस युग में पुरानी परम्परा के अनुसार प्रहसनों की भी रचना की गई। राधेश्याम ने 'कौंसिल की मेम्बरी', जालान ने 'घर-कट-सूम', पं० गोविन्द वल्लभ पंत ने 'कंजूस की खोपड़ी' तथा भट्ट जी ने विवाह का विज्ञापन' आदि प्रहसन लिखे। मौलिक नाटकों के सिवाय अनेक अनुवाद भी संस्कृत और अँग्रेजी से हिन्दी में किये गये। गाल्सवर्दी के 'सिलवर बाक्स' का 'चाँदी की डिबिया' नाम से अनुवाद किया गया और भी अनेक नाटकों का अनुवाद किया गया। संक्षेप में प्रसाद युग हिन्दी नाटक का स्वर्ण युग है। इस युग में नाटकों की भाषा, भाव, शैली आदि सभी तत्वों का पूर्ण विकास हुआ।

प्रसादोत्तर युग और नाटक—प्रसाद युग के बाद भारतीय समाज की विभिन्न समस्याओं और परिस्थितियों का साहित्य पर अधिक प्रभाव पड़ने लगा। नाटककारों ने अपने नाटकों में इन समस्याओं का चित्रण करना प्रारम्भ किया। इस युग के नाटक-कारों में चतुरसेन शास्त्री, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, राजकुमार वर्मा, विष्णुप्रभाकर आदि प्रमुख हैं। इस युग में नाटकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। 'सिन्दूर की होली' 'अंगूर की वेटी', 'छाया और बन्धन' आदि इस युग के अच्छे नाटक हैं। इन नाटकों में नाटकीय तत्वों की व्यवस्था उपयुक्त तथा सुन्दर हो सकी है। कथावस्तु का विकास संगठित रूप में किया गया है। उसमें अभिनेयता का अभाव नहीं है।

नाटकों का वर्तमान युग—प्रस्तुत युग में छाया नाटक तथा रेडियो नाटक भी लिखे जा रहे हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा के एकांकी अधिक प्रसिद्ध हो रहे हैं। 'रेशमी टाई', 'पृथ्वीराज की आँखें' आदि ऐसे ही नाटक हैं। इस युग में नाटकों का अभिनय कम होता है। अतः नाटकों का साहित्यिक महत्व ही अधिक ध्यान में रखा जाता है। इससे उनमें रंगमंच की योग्यता गौण हो जाती है। नाटकों में रस-निष्पत्ति पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है, पर आज इनका भी अभाव-सा है क्योंकि आज नाटक रचना दर्शक के लिए न होकर पाठकों के लिए हो रही है।

दृश्य काव्य का लक्ष्य होता है प्रेक्षकों में भावना का विकास करना तथा उन्हें मनोरंजन प्रदान करना। साथ ही साथ उनमें सुरुचि को बढ़ाना। आज के नाटकों का विकास सर्वाङ्गीण नहीं कहा जा सकता। हिन्दी में नाटक साहित्य का विकास-क्रम कुछ रुक-रुक कर हुआ है। आशा है, भविष्य में निरन्तर नाटकों का विकास होता जायगा तथा नाटक-रचना अपने सभी उद्देश्यों की पूर्ति में सफल होगी।

२४. हिन्दी समालोचना का विकास

१—भूमिका, २—समालोचना का प्रारम्भिक रूप, ३—द्विवेदी युग में समालोचना का रूप, ४—शुक्ल युग की समालोचना, ५—समालोचना की वर्तमान स्थिति, ६—समालोचना पर बाह्य प्रभाव, ७—उपसंहार।

भूमिका—प्रतिभा दो प्रकार की होती है कारयित्री और भावायत्री। कारयित्री प्रतिभा के बल से कवि और गद्यकार मौलिक रचना करने में सफल होते हैं। इस

प्रतिभा में नवोन्मेषशालिनी बुद्धि का योग तथा कल्पना का पुट रहता है, जिसके बल पर रचनाओं का सफल निर्माण होता है। दूसरी भावयित्री प्रतिभा है जिसमें अनुभूति-प्रधान बुद्धि तथा तज्जनित कल्पना का समन्वय होता है। इसी प्रतिभा के सहारे भावुक किसी रचना को पढ़कर उसका वास्तविक आनन्द लेता है तथा अपनी कल्पना के सहारे उसको व्यक्त करता है। यह संक्रामक कार्य होता है, जो पाठकों की रचना-विशेष के रहस्यों को समझाने का प्रयास करता है। समालोचक के लिए यही (भावयित्री) प्रतिभा आवश्यक होती है। समालोचक किसी रचना को पढ़कर उसको स्वयं समझता है तथा उसके रहस्यों का अनुभव करता है। फिर अन्य पाठकों के लिए अपने अनुभवों को लिख देता है। संस्कृत साहित्य में समालोचना का कार्य ईसा की चौथी पाँचवीं शताब्दियों से ही होता आ रहा था। फलतः वहाँ काव्य के क्षेत्र में अनेक मतों की स्थापना हुई तथा अलंकार सम्प्रदाय प्रबल पड़ गया। फिर आगे चलकर ध्वनि-सम्प्रदाय तथा रस-सम्प्रदाय आदि अनेक मत प्रचलित हुए। हिन्दी साहित्य में प्राचीनकाल से इसी के अनुकरण पर समालोचना होती रही। **बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ तथा १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से हिन्दी में समालोचना का विकास होने लगा।**

समालोचना का प्रारम्भिक रूप—हिन्दी के कवियों पर संस्कृत के कवियों और साहित्यकारों का प्रभाव पूर्ण रूप से रहता था। दरबारों में रहने के कारण फारसी से भी थोड़ा बहुत प्रभावित होते ही थे क्योंकि उस युग में देश में मुसलमानों की राजनीतिक प्रभुता स्थापित हो गई थी। अतः प्रारम्भिक अवस्था में हिन्दी समालोचना भी संस्कृत के समान ही पद्यों में लिखी जाती थी। उस युग में समालोचना का सामान्य अर्थ माना जाता था—काव्यांशों की व्याख्या तथा निरूपण। जैसे संस्कृत में—'उपमा-कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्, दण्डिनः पदलालित्यम् माघे सन्ति त्रयो गुणः' अर्थात् कालिदास की उपमाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं, भारवि की रचना (किरातार्जुनीय में अर्थ गौरव यानी अर्थ और भाव की गम्भीरता है; महाकवि दण्डी की रचना में पद लालित्य है तथा माघ की रचना 'शिशुपाल वध' में तीनों गुण मिलते हैं। ऐसे ही हिन्दी में भी—'सूर-सूर, तुलसी ससी, उडगन केशवदास, अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ कर प्रकास' कहकर सूर, तुलसी एवं केशव की सराहना की गई है। इसी प्रकार 'तुलसी गंग दोऊ भये सुकविन के सरदार' आदि कहकर कवियों की आलोचना की जाती थी।

उस समय गद्य का विकास तो हुआ नहीं था, अतः आलोचक रचना विशेष को पढ़कर अपना मत दोहे या किसी अन्य छन्द में व्यक्त कर देते थे। हिन्दी में समालोचना का प्रारम्भिक रूप यही था। रीति-काल में यद्यपि काव्यांगों तथा अलंकारों पर प्रायः सभी कवियों ने लेखनी उठाई पर वे कविता ही अधिक लिखते थे; सूक्ष्म विवेचन कम करते थे। अतः आलोचना का स्वस्थ विकास नहीं हो सका। हिन्दी साहित्य में जिस प्रकार गद्य-क्षेत्र का पूर्ण विकास भारतेन्दु युग में हुआ उसी प्रकार वर्तमान समालोचना का भी विकास उसी युग में माना जाता है।

भारतेन्दु की प्रतिभा बहुमुखी थी, उन्होंने साहित्य के प्रायः सभी अंगों का विकास प्रारम्भ किया और दूसरे लेखकों से कराया। उन्होंने आलोचना का भी प्रारम्भ नये ढंग से किया। 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में लाला श्री निवासदास रचित 'संयोगिता स्वयंवर' का नाट्य-दोष दिखाकर हिन्दी समालोचना का वास्तविक

प्रारम्भ बदरीनारायन चौधरी 'प्रेमघन' ने किया। तभी से आलोचना का क्षेत्र विकसित होता जा रहा है। उस समय समालोचना का अर्थ गुण-दोष कथन तक ही सीमित था। इस युग में पत्र-पत्रिकाओं की प्रचुरता होने लगी तथा उनमें विविध प्रकार के लेख छपने लगे। अतः समालोचनात्मक लेख भी निकलने प्रारम्भ हो गये। किन्तु समालोचना एक साहित्यिक कला के रूप में तो द्विवेदी जी की 'सरस्वती' पत्रिका में ही दिखाई पड़ी।

द्विवेदी युग और समालोचना—भाषा-परिष्कार तथा समालोचना का कार्य **द्विवेदी जी** ने अपनी 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से व्यवस्थित रूप से प्रारम्भ किया। गुण-दोष विवेचन के रूप में समालोचना का वास्तविक रूप 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' शीर्षक निबन्ध में ही मिलता है। आगे चलकर रचनाओं के दोष-निदर्शन की परिपाटी प्रबल हो गई। इसी समय 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से समालोचना साहित्य को बल मिलने लगा। इसी युग में समालोचना के क्षेत्र में सुधार होना प्रारम्भ हुआ। अनेक आलोचनात्मक लेख लिखे जाने लगे जिनमें गुण-दोष निदर्शन के साथ निष्पक्ष भाव से रचनाओं का अवलोकन भी होने लगा। इस प्रकार हिन्दी में द्वेषहीन और विद्वत्तापूर्ण समालोचना प्रकाश में आने लगी। अंग्रेजी के लब्धप्रतिष्ठ समालोचकों के आदर्श पर समालोचना का कार्य होने लगा। द्विवेदीजी ने स्वयं 'विक्रमांक चरित-चर्चा' तथा 'नैषध चरित चर्चा' जैसे अनेक निबन्ध लिखे। इस युग में मिश्रबन्धुओं के भी अनेक आलोचनात्मक निबन्ध तथा 'मिश्रबन्धु-विनोद', 'हिन्दी नवरत्न' जैसे आलोचनात्मक ग्रन्थ रचे गये। पं० पद्मसिंह शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों ने समालोचना के क्षेत्र में ठोस कार्य आरम्भ किया। अब वह युग आ गया था जबकि समालोचना का आधार सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक बनाया जाता। इन विद्वानों ने इस कार्य को करना प्रारम्भ किया।

शुक्ल जी का युग—समालोचना के क्षेत्र में द्विवेदी जी ने तीन प्रणालियों—परिचयात्मक, गवेषणात्मक, सिद्धान्त-प्रधान का प्रारम्भ किया था। उनमें गम्भीरता, प्रौढ़ता और भावात्मकता का योग देखकर शुक्ल जी ने एक महान कार्य किया। शुक्ल जी के समय में आलोचना की शैलियाँ स्पष्ट रूप से चलने लगी थीं। शास्त्रीय आलोचना का प्रारम्भ द्विवेदी जी ने ही किया और मिश्रबन्धुओं ने इसको बढ़ाया। प्रभाव-प्रधान आलोचना **पं० पद्मसिंह शर्मा** तथा और कई विद्वानों द्वारा प्रयोग में लाई गई। तुलनात्मक आलोचनाएँ भी देव और बिहारी को लेकर लिखी गईं। सूर, तुलसी की कई विद्वानों ने तुलनात्मक समालोचना लिखी। चिन्तन-प्रधान या विश्लेषणात्मक समालोचना का सूत्रपात शुक्ल जी ने किया। इसमें वैज्ञानिक पद्धति पर लेखक की परिस्थिति, देश काल, जीवन-चरित्र, वातावरण आदि को दृष्टि में रखकर आलोचना की जाती है, इसमें यह भी देखना पड़ता है कि किन परिस्थितियों का रचना-विशेष पर प्रभाव पड़ा है? साथ ही यह भी देखना होता है कि उस रचना ने किस सीमा तक समाज और देश-काल को प्रभावित किया है। 'जायसी-ग्रन्थावली', 'तुलसीदास', 'सूरदास', 'कबीर' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। **संक्षेप में शुक्ल जी ने भारतीय शास्त्रीय समालोचना (सैद्धान्तिक समीक्षा) प्रणाली को पाश्चात्य व्यावहारिक समीक्षा प्रणाली**

के साथ सुन्दरता से मिलाकर अपनी नवीन समीक्षा प्रणाली को पुष्ट किया। इस तरह समीक्षा का क्षेत्र पूर्ण रूप से विकसित और उन्नत हो गया है।

समालोचना का वर्तमान रूप—वर्तमान युग में समालोचना की कई पद्धतियाँ चल रही हैं। एक तो शुक्ल जी की पद्धति है जिसमें आलोच्य के वातावरण, जीवन चरित्र तथा देश-काल को दृष्टि में रखकर समीक्षा की जाती है। इस पद्धति में आलोचक का निर्णय लोक-संग्रह; रस-निष्पत्ति, जीवनादर्श आदि विषयों के आधार पर होता है। वह मनमाना निर्णय नहीं देता तथा हर पक्ष का विश्लेषण करके आलोचक अपना मत निर्धारित करता है। रामकुमार वर्मा का 'कबीर का रहस्यवाद', हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'सूर साहित्य' आदि अनेक ग्रन्थ इस प्रकार की आलोचना के उदाहरण हैं।

तीसरी प्रकार की समालोचना विश्वविद्यालयों के शोध-निबन्धों में मिलती है। इस प्रकार की आलोचना में तटस्थ बुद्धि से, गम्भीर अध्ययन के बल पर, तथ्यों का विश्लेषण किया जाता है, तथा गवेषणात्मक बुद्धि से विवेचन होता है। इस प्रकार की आलोचना में भाषा-विज्ञान, काव्य-धारा सम्बन्धी तथ्यों आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

तीसरी पद्धति में रचना विशेष का सूक्ष्म अध्ययन करके ध्वनि, प्रभाव, कलात्मकता, विचार-धारा आदि पर विशेष ध्यान देकर समालोचना की जाती है। भगवतशरण उपाध्याय की 'नूरजहाँ', शीर्षक रचना इसी प्रकार की है।

चौथी पद्धति में आलोच्य विषय के पात्रों द्वारा ही उसके दोषों पर प्रकाश डाला जाता है। नरोत्तमप्रसाद नागर का 'शतुर्मुग चुराया' इसी प्रकार की रचना है।

मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर जो समालोचना की जाती है उसे प्रगतिवादी समालोचना कहते हैं। इस आलोचना का भी निरन्तर विकास हो रहा है।

उपसंहार—संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आज समीक्षा साहित्य का सर्वाङ्गीण विकास हो रहा है। इसके प्रभाव से रचनाएँ भी परिष्कृत रूप में सामने आ रही हैं।

२५. हिन्दी उपन्यास का विकास

१—उपन्यास का रूप, २—हिन्दी में उपन्यास का प्रारम्भ, ३—प्रेमचन्द युग, ४—उपन्यास का वर्तमान रूप, ५—उपन्यासों पर बाह्य प्रभाव, ६—उपसंहार।

उपन्यास का रूप—गद्य साहित्य की विभिन्न विधाओं में उपन्यास मुख्य है। उपन्यास मानव-जीवन तथा समाज पर आधारित पूर्ण कथानक होता है। यह कहानी से भिन्न है। कहानी में जीवन के किसी एक ही पक्ष का चित्रण होता है परन्तु उपन्यास में जीवन की विस्तृत झाँकी होती है। उपन्यास मानव-जीवन तथा समाज की विभिन्न घटनाओं का संग्रहीत रूप होता है। इसमें कथावस्तु का व्यवस्थित संगठन होता है। चरित्र-चित्रण, देशकाल और उद्देश्य पर पूर्ण ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार उपन्यास का क्षेत्र जीवन से पूर्णतया सम्बद्ध है।

हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ—बहुत से विद्वान **इंशाअल्लाखाँ** की '**रानी केतकी की कहानी**' को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं परन्तु अन्य उसे उपन्यास स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं हैं। वह उसे केवल कहानी ही मानते हैं। अतः हम कह सकते हैं हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से ही हुआ।

हिन्दी साहित्य में उपन्यास के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में मनोरंजन पर ही विशेष ध्यान दिया गया। प्रारम्भिक उपन्यासकारों में **पं० किशोरीलाल गोस्वामी** तथा **देवकीनन्दन खत्री** का नाम महत्वपूर्ण है। इन लेखकों ने ऐय्यारी, जासूसी तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। इन लोगों ने कतिपय सामाजिक उपन्यासों की रचना भी की है। इन लेखकों ने विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है। गोस्वामीजी ने लगभग ६५ उपन्यासों की रचना की है। आपके उपन्यासों में शृंगार का नग्न चित्रण किया गया है। 'चपला' शीर्षक उपन्यास सर्वाधिक शृंगारिक उपन्यास है।

गोस्वामी जी के बाद **देवकीनन्दन खत्री** का प्रमुख स्थान है। आपने उपन्यास के लिए क्षेत्र तैयार करने का कार्य किया। इनके प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकान्ता संतति', 'भूतनाथ', 'गढ़-कुण्डार' आदि हैं। इन उपन्यासों के घटना-चक्र के जंजाल में पाठक उलझकर शेष संसार को भूल जाते हैं तथा तन्मय होकर उसी में रमे रहते हैं। विचित्र रूप से घटनाओं का क्रम बढ़ता चलता है तथा उसमें अद्भुत-अद्भुत घटनाएँ घटती जाती हैं। तिलिस्म और ऐय्यारी की विचित्र करामतें दिखाई जाती हैं। इन उपन्यासों ने अत्यधिक पाठकों को हिन्दी उपन्यास की ओर आकर्षित किया। इनका सामयिक प्रचार खूब हुआ। 'भूतनाथ' और 'गुप्त गोदान' देवकीनन्दन जी पूरा न कर सके थे; जिन्हें क्रमशः दुर्गाप्रसाद खत्री तथा किशोरीलाल जी ने पूर्ण किया। इनके अतिरिक्त 'वीरेन्द्र वीर', 'नरेन्द्र मोहनी' 'कुसुम कुमारी' आदि उपन्यासों को देवकीनन्दन जी ने लिखा है। इन उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन था। इसीलिए इनमें मन रमाने के लिये उपयुक्त सामग्री दी गई है। इनकी भाषा सरल है तथा कथानकों का विस्तार इस प्रकार से किया है कि पाठक की उत्सुकता अन्त तक बनी रहती है। उपन्यास के विकास-क्रम में बाबू गोपालराम गहमरी का स्थान भी महत्वपूर्ण है। इन्होंने लगभग ५०-६० उपन्यासों की रचना की है। इनके उपन्यासों में ऐय्यारी तथा जासूसी तत्वों की अधिकता है। भाषा सरल तथा व्यावहारिक है, शैली सुगम तथा उद्देश्य मनोरंजन है। इस प्रकार जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों का पूरा विकास हुआ। इन उपन्यासों में लेखकों ने सुरुचि तथा सामाजिक-कल्याण पर ध्यान कम दिया, अतः उपन्यास-क्षेत्र में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ।

प्रेमचन्द-युग—हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में परिवर्तन लेकर '**हरिऔध**' जी का आगमन हुआ। उन्होंने अपने दोनों उपन्यासों—'**ठेठ हिन्दी का ठाट**' और '**अधखिला फूल**' में भाषा पर विशेष ध्यान दिया। संस्कृत-गर्भित, पुष्ट और सबल भाषा का प्रयोग उपाध्याय जी ने अपने उपन्यासों में किया। कथावस्तु और कलात्मकता की दृष्टि से ये उपन्यास कहे जायेंगे। इनका कथानक सामाजिक है तथा वर्णन में स्वाभाविकता है। **श्री लज्जाराम मेहता** तथा **ब्रजनन्दनसहाय** इस युग के प्रारम्भिक उपन्यासकार हैं। **किंतु उपन्यास-क्षेत्र में क्रान्तिकारी युग परिवर्तन प्रेमचन्द जी के उपन्यास से होता है।** उन्होंने अपने पाठकों के सामने एक विस्तृत और ठोस दृष्टिकोण रखा। 'सेवा-सदन"

ने मुन्शी जी की औपन्यासिक कला की उपयोगिता सिद्ध कर दी। इनके उपन्यासों में सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। समाज के विभिन्न वर्गों का यथार्थ चित्र खींचा गया है; अपने समय के परिवर्तनों को इन्होंने अपने उपन्यासों में महत्वपूर्ण स्थान दिया। गाँधीवादी विचारधारा, असहयोग आन्दोलन आदि का स्पष्ट प्रभाव इनके उपन्यासों पर पड़ा है। फिर भी मुन्शी जी का दृष्टिकोण आदर्शवादी ही माना जायेगा। इनके यथार्थ चित्रण के पीछे एक सुन्दर आदर्श रहा करता था। सुधार की भावना से ये प्रेरणा प्राप्त करते थे। **'सेवा-सदन'** में वेश्या-सुधार का प्रभाव इसी भावना का परिणाम है। उपन्यास-क्षेत्र में इनकी देन अमर रहेगी।

प्रेमचन्द जी का जीवन कठिन परिस्थितियों में बीता, आर्थिक अभाव उनके जीवन का अंग बनकर आया और रहा। स्वयं वे देहात के मध्यम वर्ग में उत्पन्न हुये थे तथा उससे उनका बराबर सम्बन्ध रहा। शहर में उन्हें शिक्षा मिली तथा अपने जीवन का उत्तरार्द्ध उन्होंने शहर में ही व्यतीत किया, अतः उन्हें ग्रामीण और शहरी जीवन के अनुभवों को चित्रित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने बी० ए० तक येन-केन प्रकारेण शिक्षा प्राप्त की। बचपन से ही उन्हें लिखने का शौक था। पहले वे उर्दू में लिखा करते थे किन्तु बाद में हिन्दी लिखना आरम्भ कर दिया। तब से अन्त अन्त तक वे लिखते रहे। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं पर आर्यसमाजी विचारधारा का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'निर्मला' में अनमेल विवाह, दहेज प्रथा आदि प्रकाश डाला गया है। इसमें भी एक प्रकार के आदर्श और सुधार की भावना है। **'कर्मभूमि'** और **'रंगभूमि'** पर गाँधी जी के विचारों का स्पष्ट प्रभाव है। 'गबन' में आधुनिक समाज की एक समस्या का बड़ा सुन्दर निरूपण है। 'कायाकल्प' एक बोझिल कथानक वाला उपन्यास माना जाता है। 'गोदान' इनका अन्तिम उपन्यास है। इनकी कथावस्तु सामान्य किसान परिवार के यहाँ से ली गई है। प्रेमचन्द जी ने सामाजिक [illegible] को पूरी निन्दा की है तथा उनके सुधार की आशा भी व्यक्त की है। उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने सैकड़ों कहानियाँ भी लिखी हैं।

उपन्यास के विकास में प्रसादजी ने नया दृष्टिकोण रखा। उन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बल पर उपन्यास लिखना प्रारंभ किया। इसके उपन्यास 'तितली,' 'कंकाल' और 'इरावती' हैं। इनमें 'इरावती' अपूर्ण है। प्रसादजी का दृष्टिकोण यथार्थवादी था। उन्हें उपन्यास लिखने में काफी सफलता मिली तथा भावी उपन्यासकारों के लिए मार्गदर्शन का कार्य भी उन्होंने किया। समाज के विभिन्न वर्गों के चित्रांकन में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। भाषा की दृष्टि से सरलता का अभाव होने पर भी उनमें आकर्षण है. तथा कथा-संगठन और चरित्र-विकास की क्षमता है।

पारिवारिक जीवन पर आधारित उपन्यास लिखने वालों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' का नाम महत्वपूर्ण है। 'भिखारिणी' और 'माँ' इनके सफल उपन्यास हैं। पारिवारिक जीवन की विविध समस्याओं का सुन्दर चित्रण और समाधान इन उपन्यासों में किया गया है। छुआछूत जैसे सामाजिक विषयों पर भी इन्होंने प्रकाश डाला है।

वर्तमान युग—श्री वृन्दावनलाल वर्मा वर्तमान युग के प्रतिष्ठित उपन्यासकार रहे हैं। आपने ऐतिहासिक विषयों पर अधिक ध्यान दिया है। 'झाँसी की रानी,'

'गढ़-कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'मृगनयनी' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इन उपन्यासों के कथानक प्रायः राजघरानों से ही सम्बन्धित हैं। इनके उपन्यासों में आदर्श, यथार्थ प्रेम, ऐतिहासिक तत्व आदि विभिन्न विषयों का सुन्दर समन्वय बन पड़ा है। वर्मा जी कुशल तथा स्वाभाविक कलाकार थे।

बेचन शर्मा 'उग्र', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री गोविन्दवल्लभ पंत आदि अनेक उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं से इस क्षेत्र की सेवा की है। निराला ने 'निरुपमा', 'अलका', 'प्रभावती' आदि तथा 'उग्र' जी ने 'चन्द हसीनों के खतूत', 'बुधुवा की बेटी', 'दिल्ली का दलाल' तथा 'शराबी' आदि अच्छे उपन्यास लिखे हैं। इन उपन्यासों में वर्तमान सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। बाबू भगवतीचरण वर्मा के दो उपन्यास 'दो बहनें' तथा 'चित्रलेखा' प्रसिद्ध हैं।

वर्तमान युग के प्रसिद्ध लेखकों में जैनेन्द्र, नागर, यशपाल, अज्ञेय, इलाचन्द जोशी, उपेन्द्रनाथ अश्क, रामचन्द्र तिवारी आदि हैं। अज्ञेय जी तथा अन्य वर्तमान लेखकों ने इस क्षेत्र में नई कला का प्रारम्भ किया है। 'नदी के द्वीप' और 'शेखर' एक जीवनी' तथा 'अपने-अपने अजनवी' इनके अच्छे उपन्यास हैं। वर्तमान समय के लेखकों के अलग-अलग दृष्टिकोण हैं और उनकी विचारधाराएँ विभिन्न दिशाओं की ओर संकेत करती हैं। समाज में व्याप्त विभिन्न समस्याओं का उन पर प्रभाव है। कुछ उपन्यास-कारों में विद्रोह तथा स्वच्छन्दता की भावना प्रमुख है।

गद्य साहित्य के प्रायः सभी अंगों का विकास तेजी से हो रहा है। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का पूर्ण प्रभाव उपन्यासों के ऊपर भी पड़ रहा है। आज उपन्यास लिखने का दृष्टिकोण काफी बदल गया है। नये उपन्यास-कार—उदयशंकर भट्ट, मोहनसिंह सेंगर, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे आदि ने नया प्रयोग इस क्षेत्र में प्रारम्भ किया है। उपन्यास साहित्य का विकास सुन्दरता से हो रहा है और आगे भी होता रहेगा। भावी युग के लिए वर्तमान युग अच्छी पृष्ठभूमि बना रहा है।

२६. हिन्दी कहानी का विकास

१—भूमिका, २—हिन्दी कहानी का प्रारम्भ, ३—प्रेमचन्द-प्रसाद-युग, ४—कहानी का वर्तमान रूप, ५—कहानी पर बाह्य प्रभाव, ६—उपसंहार।

भूमिका—मानव-जीवन के विकास के साथ ही कहानी का भी विकास मानना पड़ता है। मानव-स्वभाव की विशेषता है कि वह अपने अनुभवों को दूसरों को सुनाना तथा दूसरों के अनुभवों को सुनना चाहता है। इसमें उसकी अपूर्व उत्सुकता रहती है। अतः वह अनादि काल से इस प्रकार की घटनाओं की कथा कहता-सुनता आ रहा है। यहीं से कहानी का प्रारम्भ माना जा सकता है। प्रारम्भिक अवस्था में कहानी का रूप मौखिक रहा। फिर संस्कृत साहित्य के गद्य युग से इसका लिखित विकास होता चला आ रहा है। संस्कृत साहित्य में 'पंचशील', 'हितोपदेश', 'बेताल पंचविंशति, 'कथा-सरित सागर' आदि कहानी-संग्रहों का सृजन हुआ। जैन और बौद्ध युगों में जातक तथा

अन्य धर्मकथाएँ प्रचलित हुईं। इन कहानियों की शैली तथा इनके उद्देश्य भिन्न थे। अतः उनमें कहानी की कलात्मकता का अभाव है।

हिन्दी कहानी का प्रारम्भ—हिन्दी में **इंशाअल्लाखाँ** की **'रानी केतकी की कहानी'**—प्रथम कहानी मानी जाती है और इस पर फारसी का स्पष्ट प्रभाव है। कहानी कला की दृष्टि से यह सफल कहानी नहीं कही जा सकती है। **राजा भोज का सपना**' आज की कहानी के अधिक समीप है। **'इन्दुमती'** कहानी को लाला किशोरीलाल ने १९०० ई० में प्रकाशित किया। इस पर अंग्रेजी के **'टेम्पस्ट'** का प्रभाव अधिक है। इसके बाद अनेक कहानियों की रचना हुई।

कहानी के पाँच तत्त्व—(१) कथावस्तु, (२) पात्र और चरित्र-चित्रण, (३) देशकाल, (४) उद्देश्य और (५) शैली मुख्य हैं। कुछ लोग कथोपकथन को भी मानते हैं। इन तत्वों के समुचित योग से लिखी गई साहित्यिक कहानी ही आज की वास्तविक कहानी कही जाती है। ऐसी कहानियों का विकास बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही माना जाता है। शुक्ल जी का 'ग्यारह वर्ष का समय', किसी बंगाली महिला का **'दुलाईवाली'**, गुप्त जी की 'निन्यानवे का फेर' आदि प्रारम्भिक कहानियाँ हैं।

प्रसाद जी ने **'इन्दु'** पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया, जिससे कहानी के स्वस्थ विकास में बड़ा योग मिला। एक ओर तो अनेक नवीन कहानीकारों को प्रोत्साहन मिला, दूसरी ओर कहानी की कलात्मकता में सुधार हुआ। साथ ही साथ कहानी के उद्देश्य को निश्चित करने में सरलता हुई। कहानी लिखने के कई उद्देश्य सामने आये। कहानी के उद्देश्य हैं—मनोरंजन, सिद्धान्त प्रचार, भाषा का परिष्कार, शिक्षा देना तथा सामाजिक और व्यक्तिगत नुभाव आदि। इन उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए कहानी रचना होने लगी।

प्रसाद-प्रेमचन्द-युग—अध्ययन की सुविधा के लिए कहानी के विकास-क्रम को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—**प्रथम उत्थान** तथा **द्वितीय उत्थान। कहानी के प्रथम उत्थान** से प्रेमचन्द जी का सहयोग अधिक महत्वपूर्ण है। इस युग की कहानियों में जीवन के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है तथा कथानक समाज के मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग के जीवन से लिया गया। इस युग के कहानीकारों ने जीवन की विविध समस्याओं को कहानी में स्थान दिया है। इन कहानियों में अनेक अनुभवों की अच्छी अभिव्यक्ति हो सकी है। मुन्शी प्रेमचन्द जी कहानियों की अपेक्षा उपन्यासों में अधिक सफल रहे। उनकी मुख्य कहानियाँ हैं—'आत्माराम', 'सुजान भगत', 'नशा', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'नमक का दारोगा' आदि। 'आकाश दीप', 'ममता', 'परीक्षा' आदि प्रसाद जी की प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। प्रसाद जी की कवित्व-शक्ति इन कहानियों में भी आ गई है। इस प्रकार कहानी साहित्य का प्रथम उत्पादन प्रायः सामाजिक तथा आदर्शवादी दृष्टिकोण को लेकर चला है।

कौशिक जी ने सामाजिक विषयों पर सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। आपने लगभग २५० कहानियाँ लिखीं। इनमें 'ताई' 'मनुष्यता का दण्ड' आदि मुख्य हैं। आपने कई उपन्यासों की रचना भी की है पर कहानी में ही आपको अधिक सफलता प्राप्त हुई है। राजनीतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक विषयों से सम्बन्धित बहुत-सी कहानियों की रचना सुदर्शन जी ने की। आपने अपनी कहानियों में स्वाभाविक और यथार्थ चित्र खींचा

है। 'गुरुमंत्र', 'न्याय मन्त्री' आदि कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। इन लेखकों ने कथोपकथन पर अधिक ध्यान दिया है। किसी-किसी कहानी में प्रेमचन्दयुग का आदर्शवादी दृष्टिकोण भी दिखाई पड़ता है। घटना-चक्र व्यवस्थित तथा पात्रों के चरित्र प्रतिनिधि रूप मे आये हैं। अधिकांश पात्र अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते दीखते हैं। इन लेखकों ने भाषा की स्वाभाविकता तथा गतिशीलता का अच्छा निर्वाह किया है।

कहानी का वर्तमान युग—आदर्शवादी भावनाएँ वर्तमान युग में निर्बल पड़ गई हैं। इस आदर्शवाद की प्रतिक्रिया हो रही है। कविता, उपन्यास, निबन्ध आदि की तरह कहानियों में भी यथार्थ दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है। इन कहानीकारों ने समाज के नग्न चित्र को सजीव रूप में उपस्थित किया है किन्तु जीवन और समाज का आदर्श गिर गया है। इन कहानियों में आकर्षण तो है, पर अनुकरण करने योग्य चित्र कम ही मिलते हैं। इन कहानियों ने आदर्शवादी तथ्यों को स्वीकार ही नहीं किया है, अत: इनकी रचनाओं में सुरुचि का अभाव खटकता है। इस परम्परा के कहानीकारों में चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उग्र' ऋषभचरण जैन आदि प्रसिद्ध हैं। इन कलाकारों ने कहानी को कलात्मक बनाया, भाषा-भाव का सुन्दर सामंजस्य बैठाया तथा घटनाओं की व्यवस्थित अवतारणा की। इसलिए मनोरंजन के साथ-साथ आवश्यक भावुकता का भार भी इन लेखकों की अनेक कहानियों में बढ़ा दिया गया है।

इस युग से बहुत-सी प्रेम प्रधान तथा ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी गई हैं। इन कहानियों में बड़ी ही सुन्दरता तथा कलात्मकता के साथ ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रण किया गया है। 'ममता', 'आकाश दीप', 'पुरस्कार' आदि प्रसाद जी की कहानियाँ इसी कोटि में आती हैं। इस प्रकार की प्रेम-प्रधान कहानियों में प्रेम और साहस का आकर्षक समन्वय किया गया है। ऐतिहासिक उपन्यासों के सफल लेखक बाबू वृन्दावनलाल वर्मा ने भी बहुत-सी ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। इन ऐतिहासिक कहानियों में घटनाओं की अवतारणा में कल्पना का सुन्दर पुट दिया गया है। अतीत की घटनाएँ कल्पना के सहयोग से मौलिक बना दी गई हैं फिर भी कहानीकारों ने पात्रों के चरित्र-चित्रण में नवीन और भी कहीं-नहीं अपनाया है

वर्तमान युग में कौतूहल तथा हास्य-प्रधान कहानियों की भी रचनाएँ हुई हैं। ये कहानीकर पात्रों के चरित्र-चित्रण के स्थान पर घटना-चक्र पर ध्यान देते हैं। घटनाओं का क्रमिक विकास ही पात्रों में चरित्रों को मोड़ता चलता है। जे० पी० श्रीवास्तव तथा बेढब बनारसी ने अनेक हास्य-प्रधान कहानियों की रचना की है।

वर्तमान युग में मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कहानियों की रचना अधिक हो रही है। जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि कहानीकार इसी कोटि में आते हैं। इन लेखकों की कहानियों में बौद्धिकता का प्रभाव अधिक रहता है। अज्ञेय जी ने बौद्धिकता में सरसता भरने का सफल प्रयास किया है। इन कहानीकारों की बहुत सी कहानियों पर फ्रायड का प्रभाव पड़ा है। इससे अनेक लेखकों को प्रेम-प्रधान कहानियों में सुरुचि का समन्वय करने में सफल नहीं कहा जा सकता। इलाचन्द्र जोशी इसी वर्ग के कहानीकार हैं।

वर्तमान युग में समाजवादी और गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित कहानियों की रचना भी हो रही है। इस प्रकार की कहानी विचार-प्रचार का साधन बनाई जा रही हैं। अंचल आदि अनेक लेखक ऐसी कहानियों की रचना कर रहे हैं। भगवतीचरण

वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेंगर, नागर, यशपाल, सियारामशरण गुप्त, कमलेश्वर, पहाड़ी आदि अनेक कहानीकार इस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं।

समाज के विकास के अनुसार ही साहित्य का विकास हो रहा है। देश काल की परिस्थिति के अनुसार गद्य साहित्य के विभिन्न क्षेत्र विकसित होते जा रहे हैं। किन्तु मानव-जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति कहानी के रूप में ही हो रही है। कहानी का विकास मुद्रण कला की सुविधा के कारण बड़ी तेजी से हो रहा है। आज के युग का पाठक इतना व्यस्त रहता है कि वह बड़े-बड़े उपन्यासों को पढ़ने का अवसर नहीं पाता, न वह लम्बी कहानियों को ही पूरा पढ़ पाता है अतः छोटी कहानियों की माँग बढ़ रही है। इसी कारण वर्तमान युग में कहानी साहित्य का व्यापक प्रचार तथा विकास होता जा रहा है।

२७. हिन्दी निबन्ध का विकास

१—भूमिका, २—निबन्ध के विभिन्न रूप, ३—हिन्दी के प्रारम्भिक निबन्ध, ४—द्विवेदी युग के निबन्ध, ५—शुक्ल युग के निबन्ध, ६—वर्तमान युग के निबन्ध, ७—उपसंहार।

भूमिका—'निबन्ध' शब्द का प्रयोग अतीत काल में प्रबन्ध के लिए किया जाता था। अंग्रेजी का शब्द **'कम्पोजीशन'** भी इसी अर्थ को व्यक्त करता है अतः किसी विषय या वस्तु पर उसके रूप, गुण, दोष प्रकृति की दृष्टि से गद्यात्मक अभिव्यक्ति को निबन्ध कहा जाता था, किन्तु आज निबन्ध अपने मूल या रूढ़ अर्थ में नहीं लिया जाता। प्राचीनकाल में दार्शनिक विषय पर तथा और भी अनेक प्रकार के विषयों पर लेख लिखे जाते थे, उन्हें निबन्ध की संज्ञा प्राप्त थी। पाश्चात्य विद्वानों ने निबन्ध की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। **डॉ० जॉनसन ने** 'मुक्त मन की मौज', अनियमित अथवा रचना, न कि नियमबद्ध और व्यवस्थित कृति को निबन्ध कहा है। इसी से कहा गया है कि निबन्ध में कलात्मक परिष्कार का अभाव रहता है। निबन्धकार अपने विचारों को सरल स्वाभाविक ढंग से व्यक्त करके पाठकों का मन रमाता है तथा उसकी ज्ञान वृद्धि में सहायक होता है। अंग्रेजी के लेखक मांतेन के आदर्श पर निबन्ध के विषय गम्भीर तथा सामान्य से सामान्य तक हो सकते हैं। वर्तमान युग में निबन्धों का यही आदर्श चल रहा है। हिन्दी साहित्य में गद्य विकास के साथ ही निबन्ध का विकास भी प्रारम्भ हो गया है।

निबन्ध के विभिन्न रूप—निबन्ध में लेखक अपने विचारों तथा अनुभवों को स्वतन्त्रता से व्यक्त करता है, अतः उसका व्यक्तित्व, उसकी अपनी मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया, उसके सुखात्मक और दुःखात्मक अनुभव आदि सभी कुछ उसके निबन्ध में आ जाते हैं। इससे यह निश्चित है कि निबन्धकार का व्यक्तित्व किसी न किसी रूप में उसके निबन्धों को अवश्य प्रभावित करता है यह प्रभाव चाहे विशेष हो, चाहे सामान्य।

साहित्यिक रूप में निबन्ध आधुनिक युग की देन है। वर्तमान युग गद्य का युग

है, अतः निबन्ध रचना का बहुत अधिक महत्व है। निबन्ध सामान्यतया तीन प्रकार के माने जाते हैं—वर्णनात्मक, कथात्मक तथा चिन्तनात्मक (भावात्मक)। वर्णनात्मक निबन्धों में प्राकृतिक दृश्यों का या मानव जीवन से सम्बन्धित किसी घटना विशेष या वस्तु विशेष का वर्णन किया जाता है। कथात्मक निबन्धों में किसी काल्पनिक, ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथा का उपयोग किया जाता है। आत्मचरितात्मक वृतान्त तथा काल्पनिक इतिवृत्त इसमें दिया जाता है। चिन्तन-प्रधान निबन्धों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, इसमें मानव-जीवन के अनन्त कार्यों और व्यापारों का वर्णन हो सकता है। इस वर्ग के निबन्धों का लेखक अपनी प्रवृत्ति, स्वभाव, परिस्थिति के अनुसार भावना को आधार बनाकर निबन्ध रचना करता है। वह पाठक के हृदय को अपने विचारों तथा भावनाओं से द्रवीभूत करता हुआ प्रभावित करता चलता है।

हिन्दी के प्रारम्भिक निबन्ध—हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक युग (भारतेन्दु युग) से ही निबन्ध साहित्य का विकास मानना समीचीन होगा। मुद्रण-कला का प्रचार, राष्ट्रीय जागरण की उत्साहपूर्ण भावना, सामाजिक अंधविश्वास, व्यक्ति स्वातन्त्र्य, देश-प्रेम तथा समाचार-पत्रों के प्रकाशन आदि से निबन्ध साहित्य का विकास सम्भवतः हुआ। हिन्दी निबन्धों के प्रारम्भिक विकास में 'कवि-वचन सुधा', 'हिन्दी-प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'आनन्द कादम्बिनी', 'हिन्दुस्तान' आदि पत्रों ने बहुत अधिक योगदान दिया। इन पत्रिकाओं में भारतेन्दुजी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी आदि लेखकों के निबन्ध छपते रहे। इन निबन्धों का मूल उद्देश्य था मनोविनोद तथा तत्कालीन सामाजिक जीवन स्तर की उन्नति की भावना। इन निबन्धों में मधुर आक्रोश तथा चुभते हुए व्यंग्य रहा करते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से पण्डित बालकृष्ण भट्ट वर्तमान निबन्धों के प्रथम लेखक माने जा सकते हैं। इनके पूर्व के निबन्धों में न तो भाषा की स्थिरता थी, न भावों की गम्भीरता और न प्रौढ़ता। उस समय निबन्धों का रूप ही नहीं निर्धारित हो सका था।

द्विवेदी युग—हिन्दी गद्य के सभी क्षेत्रों का विकास तथा परिमार्जन **द्विवेदी** जी ने ही किया। निबन्ध का क्षेत्र भी उनके संरक्षण में सुधारा गया तथा उसमें व्यवस्था लायी गई। **द्विवेदी** जी स्वयं सफल निबन्धकार थे। इसलिए भाषा, भाव, शैली आदि सभी दृष्टियों से उन्होंने निबन्धों का परिमार्जन किया। उनका युग, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी दृष्टियों से परिष्कार का युग था। लोगों में हास्य और विनोद की भावना का अभाव हो गया था। गम्भीर चिन्तन का युग यही था। इस युग के निबन्धों में गद्यगीत तथा चरितात्मक कहानी के रूप का भी मिश्रण हो गया था। उस समय के लेखक अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि भाषाओं के प्रचलित शब्दों को सहज भाव से ग्रहण कर लिया करते थे। इस उत्थान में विभिन्न विषयों पर निबन्धों की रचना हुई। बेकन के निबन्धों का अनुवाद भी किया गया। निबन्ध के क्षेत्र में अनेक लेखकों ने लिखना प्रारम्भ किया। इस युग के मुख्य निबन्धकार हैं—माधवप्रसाद मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह, गणेश-शंकर विद्यार्थी, जगन्नाथ चतुर्वेदी, आदि। रामकृष्णदास तथा वियोगी हरि ने भी निबन्ध रचना कार्य प्रारम्भ कर दिया था। द्विवेदी जी द्वारा प्रारम्भ किया कार्य बाबू श्यामसुन्दरदास, बाबू गुलाबराय, पंडित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा आगे बढ़ाया गया।

द्विवेदी युग के निबन्धों में जिन तत्वों का अभाव रह गया था, उसकी पूर्ति इन विद्वानों ने की तथा निबन्धों को प्रौढ़ तथा गम्भीर बनाया।

शुक्ल जी का युग—अब तक विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिखे जाने लगे थे। प्राय: सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक, आर्थिक, मनोविकार आदि सैकड़ों विषयों पर निबन्ध रचना हो रही थी। द्विवेदी युग के निबन्धों में मनोवैज्ञानिक विषयों का सूक्ष्म निरीक्षण नहीं था तथा मनोवृत्तियों का स्वाभाविक विश्लेषण भी कम था। इस प्रकार की और भी अनेक बारीकियों का अभाव था, जिसे शुक्ल जी तथा **डॉ० श्यामसुन्दरदास** आदि विद्वानों ने पूर्ण किया। इस युग में सांस्कृतिक निबन्धों की रचना **पं० माधवप्रसाद** मिश्र तथा गुलेरी जी ने की है। 'होली', 'ऋषि', पंचमी', 'रामलीला', 'व्यास पूजा', 'संगीत' आदि निबन्ध सांस्कृतिक निबन्धों के उदाहरण हैं। मनोवैज्ञानिक निबन्धों को शुक्ल जी ने ही अधिक लिखा है। 'करुणा', 'उत्साह', 'क्रोध', 'प्रीति', 'लोभ' और 'ग्लानि' आदि इस प्रकार के निबन्धों के उदाहरण है। समीक्षात्मक निबन्धों की रचना भी इस युग में खूब हुई है। द्विवेदी जी का 'कवि और कविता', शुक्ल जी का **'साधारणीकरण', 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद'** आदि तथा गुलाबराय के 'सर्वोत्तम काव्य' तथा 'हास्यरस' आदि निबन्ध इसी श्रेणी में आते हैं इस प्रकार के और भी अनेक निबन्ध लिखे गये। विचार प्रधान निबन्धों के लेखकों में शुक्ल जी, मिश्र-बन्धु, अध्यापक पूर्णसिंह, गुलेरी जी आदि प्रसिद्ध हैं। 'आदर्श जीवन', 'पवित्रता', आदि इस कोटि के प्रमुख निबन्ध हैं। वर्णन-प्रधान आत्म-चरितात्मक तथा स्वप्न कथात्मक आदि अनेक प्रकार के निबन्ध भी इस युग में लिखे गये।

निबन्धों का वर्तमान रूप—वर्तमान निबन्ध में साहित्य के अनेक रूपों का समावेश हो गया है। इस युग के निबन्धों में कहानी की संवेदना और जिज्ञासा, नाटक की अभिनेयता तथा महाकाव्य की गरिमा और संगठन आदि सभी कुछ एक साथ समन्वित रूप में प्राप्त होते हैं। इस युग के अधिकांश लेखक निबन्ध लिख रहे हैं। किन्तु साहित्यिक निबन्ध कम ही निकल रहे हैं। इस युग के निबन्धकारों में कल्पना और अनुभूतियों का अपूर्व मिश्रण मिलता है। शिक्षा के स्तर का प्रभाव वर्तमान निबन्धों पर कम नहीं है। इस उत्थान के प्रमुख निबन्धकार हैं—प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा, वीरेन्द्र वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, नगेन्द्र, गुलाबराय, रामकुमार वर्मा, डॉ० सम्पूर्णानन्द, उमेशचन्द मिश्र, रामदास गौड़, सद्गुरुशरण अवस्थी आदि। इन निबन्धकारों की कृतियों में व्यक्तिगत आत्मीयता की झलक है। आज के निबन्ध व्यक्ति प्रधानता की ओर बढ़ रहे हैं। इधर साहित्य समीक्षा सम्बन्धी निबन्धों की रचना बढ़ रही है। बाबू रायकृष्णदास, वियोगी हरि, माखनलाल चतुर्वेदी आदि अनेक निबन्धकारों ने गद्य काव्य का सृजन किया है।

उपसंहार—इस प्रकार हिन्दी साहित्य के विकास में निबन्धों का स्थान प्रमुख हो गया है। थोड़े ही समय में जिस प्रगति से निबन्धों का विकास हो रहा है, वह सराहनीय है। आज निबन्ध साहित्य का बहुमुखी विकास हो रहा है। आशा है, निबन्ध का क्षेत्र और भी प्रौढ़ तथा उपयोगी होता जायगा।

२८. हिन्दी को मुसलमानों की देन

१—भूमिका, २—हिन्दी का नामकरण, ३—प्रारम्भिक समन्वय का युग, ४—कृष्ण काव्य तथा मुसलमान कवि, ५—गद्य काल के मुसलमान साहित्यकार, ६—उपसंहार ।

भूमिका—संसार के प्रायः सभी देशों की एक भाषा होती है। भाषा जब साहित्य के साथ चलती है तब उसका महत्त्व स्थायी तथा व्यापक हो जाता है। हिन्दी भारत की प्रमुख भाषा है। इसका विकास कतिपय वर्षों के परिश्रम का परिणाम नहीं है, बल्कि सदियों के अनवरत संघर्ष का परिणाम है। इस भाषा को वर्तमान रूप देने में असंख्य विद्वानों का हाथ रहा है। इन लोगों में अधिकांश तो भारत के हिन्दू ही थे, किन्तु जब से मुसलमानों का शासन देश में जम गया तब से वे लोग भी हिन्दी के प्रति आकर्षित हुए। भारत में हिन्दू-मुसलमान दोनों भिन्न धर्मों को मानते हुए साथ-साथ रहने लगे। उनमें अनेक दृष्टियों से समानता भी है। उनमें परस्पर विचारों का आदान-प्रदान होता है, उनकी दैनिक प्रयोग की भाषाएँ भी प्रायः समान ही हैं। देशकाल के अनुसार अनेक मुसलमान कवियों ने हिन्दी भाषा को अपनाया तथा अपनी रचनाएँ इसी भाषा में कीं। इन मुसलमानों की महत्त्वपूर्ण देनें हिन्दी साहित्य की शोभा बढ़ा रही हैं।

हिन्दी का नामकरण—प्रारम्भ में मुसलमान यहाँ आये तो उनके समाने भारत में कई प्रकार की भाषाएँ आईं। उनमें **'देववाणी'** (संस्कृत) मुख्य थी। अन्य अनेक भाषाओं का प्रयोग विभिन्न स्थानों में होता था। उन विभिन्न भाषाओं को 'भाषा' शब्द से सम्बोधित किया जाता था। उन लोगों ने भारत को 'हिन्द' कहना प्रारम्भ किया; क्योंकि फारसी में 'स' वर्ण का अभाव था, और उनके सामने सिन्धुदेश ही सर्वप्रथम आया। सिन्ध को उन्होंने 'हिन्द' कहना प्रारम्भ कर दिया तथा कालांतर में पूरे भारत-वर्ष को वे हिन्दुस्तान कहने लगे। यहाँ के निवासियों को सामान्य रूप में हिन्दू कहने लगे तथा यहाँ की भाषा को 'हिन्दुई' नाम दिया। फिर दिल्ली, आगरा, मेरठ आदि की बोली को 'हिन्दवी' कहा जाने लगा। तत्कालीन काव्य-भाषा 'ब्रजभाषा' को भी 'भाखा' या 'हिन्दुई' के नाम से ही पुकारा जाने लगा। यही भाषा हिन्दी हुई। इस प्रकार 'हिन्दी भाषा' का नाम भी मुसलमानों ने दिया जो आज सर्वत्र व्यापक रूप में प्रयुक्त होता है।

प्रारम्भिक समन्वय का युग—तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी समन्वय का युग था। इस युग में अनेक कवियों ने समन्वय की भावना से रचना की। इस कार्य में उर्दू का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। **'हिन्दवी या 'हिन्दुई'** नाम से जो खड़ी बोली चल रही थी, उसकी एक बोली उर्दू कही गई जिसमें अरबी-फारसी शब्दों की प्रचुरता रहती थी, आगे चलकर हिन्दी का झुकाव संस्कृत की ओर तथा उर्दू का फारसी की ओर हो गया। मुसलमानों में भी कुछ लोग ऐसे अवश्य थे जिन्होंने हिन्दी भाषा में लिखा। इन लोगों ने देशकाल को दृष्टि में रखते हुए साहित्य का निर्माण किया जो साधारण जनता में प्रचलित हुआ तथा उन साहित्यकार और कवियों को पूरा सम्मान मिला। जब हम हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि इन मुसलमान कवियों ने समय-समय पर हिन्दी की उन्नति में कितना योग दिया है। सर्वप्रथम अमीर खुसरो का नाम आता है। जिस समय ये अपनी मुकरियाँ और पहेलियाँ लिख रहे थे,

उस समय देश में व्यापक संघर्ष चल रहा था। फिर भी इन पर कोई प्रभाव न पड़ा। इन्होंने 'खालिकबारी' नाम से एक शब्द-कोष भी तैयार किया, जिससे समन्वय का कार्य सरल बना। इस प्रसंग में महात्मा कबीर का नाम आदर के साथ लिया जाता है। उन्होंने हिन्दू-मुसलमान के भेद-भाव को मिटाने का अथक प्रत्यन किया। अपने अनुभव के आधार पर जीवन के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टि डाली तथा जनता को भेद-भाव और संकीर्णता से बचने की शिक्षा दी। कबीर के प्रति हिन्दू और मुसलमान दोनों ही आदर का भाव रखते थे। उन्होंने 'संत मत' या 'कबीर पंथ की नींव डाली जिसमें हिन्दू मुसलमान दोनों सम्मिलित हुए। कबीर का प्रभाव अशिक्षितों पर अधिक पड़ा पर शिक्षितों का भी वर्ग कबीर को गुरु मानता है।

कबीर के बाद मलिक मुहम्मद जायसी, कुतबन, मंझन, उसमान आदि सूफी कवि आते हैं। इन कवियों ने अपनी प्रेम-गाथाओं द्वारा हिन्दू और मुसलान दोनों को समान रूप से प्रभावित किया। इनकी भावना वास्तव में समन्वय की अधिक रही। इन कवियों ने प्रेम-मार्ग की लौकिक साधना से आध्यात्मिक प्रेम की प्राप्ति को सुलभ बताया। इन कवियों ने अपनी रचनाओं के लिये लोक-प्रचलित गाथाओं को अपनाया। हिन्दू घरों की कथाओं को, मसनवी शैली पर अवधी भाषा में फारसी लिपि में लिखा। इस प्रकार इन लोगों की रचनाओं को हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों ने अपनाया। दोनों के लिये ये लोग मान्य हुए। सामान्य जीवन की सार्वजनिक परिस्थितियों पर इन लोगों ने स्वाभाविक रीति से दृष्टिपात किया तथा इससे भी इनकी सर्वप्रियता बढ़ी।

कृष्ण-काव्य तथा मुसलमान कवि—अनेक मुसलमान महिलाओं ने भी हिन्दी साहित्य की सेवा की है। '**ताज**' नाम की बेगम इनमें प्रसिद्ध है, इन्होंने नये-नये भावों की अभिव्यक्ति हिन्दी में की है। वे कृष्ण भगवान की भक्ति में लीन रहती थीं, और उनका मन कृष्ण को सुन्दर श्यामल मूर्ति में इस प्रकार रम गया कि वे हिन्दुवानी होकर रहना चाहती हैं—

'सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी, तब रस की बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।
मैं देव-पूजा ठानी, और निमाज हूँ भुलानी, तजि कमला कुरानी, सारे गुणन गहूँगी मैं॥
मेरा साँवरा सलोना, धरे ताज सिर कुल्लेदार, तेरे नेह-दाघ में, निदाघ ह्वै जलूँगी मैं।
नन्द के कुमार, कुरबान तोरी सूरत पे, हौं तो मुगलानी हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं॥

इसका स्पष्ट अर्थ है कि कृष्ण-प्रेम ने मुसलमान महिलाओं तक को पूर्ण रूप से आकर्षित कर लिया था।

मुगलकालीन वैभव-विलास की लहर ने हिन्दू-मुसलमान का भेद-भाव बहुत कम कर दिया। मुसलमान तथा हिन्दू दोनों ही दरबारों में दोनों जातियों के कवियों को आश्रय और संरक्षण मिलता था। कृष्ण-भक्ति की धारा ने प्रेम के व्यापक रूप को धारण कर लिया था। अकबर के सेनापति **रहीम खानखाना** को कौन नहीं जानता। उनकी नीतिपूर्ण सूक्तियाँ तथा व्यावहारिक पदावलियाँ आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। उन्होंने समाज के जीवन को गहराई से देखा था तथा अपनी रचनाओं में अपने अनुभवों को स्थान दिया। याचकता में लघुता का स्वाभाविक स्थान बताते हुए आप कहते हैं:—

रहिमन याचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात।
नारायण हू को भयो, बावन आँगुर गात॥

इसी प्रकार '**रसखान**' जी की सरल पदावली से सभी हिन्दी जानने वाले परिचित हैं। कृष्ण-प्रेम पर वे सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर थे। उनके कवित्त और सवैये अत्यन्त सरल तथा मधुर हैं। प्रेम और विराग की भावना को इन्होंने सुन्दर रूप दिया है, यथा—

मानुष हौं तो वही 'रसखान' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
जो खग हौं तो बसेरौ करौं नित कालिंदी कूल कदम्ब की डारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरंदर धारन॥

इस छन्द में कवि की भावना किसी भी दशा में कृष्ण की लीला-भूमि को छोड़ना नहीं चाहती।

आलम, शेख नबी आदि अनेक मुसलमान कवियों ने हिन्दी साहित्य, के विकास में योग दिया है। इन कवियों की सुन्दर रचनाएं आज भी चाव के साथ पढ़ी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य मुसलमान साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी की सेवा की है।

गद्य-काल के मुसलमान साहित्यकार—गद्य के प्रारम्भिक विकास में भी मुसलमान लेखकों का नाम आता है। **इंशाअल्ला खाँ ने रानी केतकी की कहानी** लिखकर हिन्दी-गद्य के शैशव-काल में महत्वपूर्ण कार्य किया। कहानी और उपन्यास दोनों क्षेत्रों का मार्ग इसी कहानी से खुला। कहानी साहित्य को इस कहानी से प्रेरणा प्राप्त हुई तथा आगे चलकर अनेक कहानियाँ लिखी गई। उपन्यास के लिए भी इसने पथ-प्रदर्शक का कार्य किया।

आधुनिक काल में मुसलमानों ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य के विकास में योग दिया है। **सैयद अमीर और जहूरबख्श** का नाम इस दृष्टि से स्मरणीय रहेगा। इन लोगों ने अपनी रचनाओं से हिन्दी की वृद्धि में महान् योगदान दिया है।

उपसंहार—अनेक मुसलमान साहित्यकारों ने हिन्दी भाषा में रचना करके अपनी उदारता का परिचय दिया है, वे बराबर हिन्दू साहित्यकारों के साथ चले हैं तथा भारतीय परम्परा को अपनाया है। हिन्दी साहित्य इन साहित्यकारों का सदैव आभारी रहेगा। खड़ी बोली, ब्रजभाषा और अवधी सभी भाषाओं में इन लोगों की सफल रचनाएँ सराहनीय हैं। इन लोगों की साहित्य-रचना से भारतीय संस्कृति को प्रोत्साहन मिला है। फारसी साहित्य की अनेक अच्छाइयाँ हिन्दी में आ गई हैं। मुहावरों का प्रयोग, भाषा की सरलता आदि इन लोगों के सम्पर्क से बढ़ी हैं। इन मुसलमान साहित्यकारों ने हिन्दी का शब्द भण्डार भी बढ़ाया है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य इनका अत्यन्त ऋणी है।

२९. हिन्दी को महिलाओं की देन

१—भूमिका, २—महिलाएँ और लोक-गीत, ३—भक्ति-कालीन महिलाओं की देन, ४—वर्तमान युग में महिलाओं की देन, ५—उपसंहार।

भूमिका—किसी भी साहित्य का इतिहास देखने से यह ज्ञात होता है कि साहित्य के विकास में पुरुषों के समान ही स्त्रियों का भी योग रहा है। संस्कृत साहित्य के विकास में अनेक महिलाओं ने योगदान किया है। इसी प्रकार उर्दू, अंग्रेजी आदि सभी साहित्यों के विकासों में उन्होंने यथोचित हाथ बँटाया है। अनेक महिलाएँ ऋषियों की कोटि को प्राप्त कर सकीं तथा उन लोगों ने मंत्रों की रचना भी की। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक विकास में तो स्त्रियों का योग उतना नहीं ज्ञात होता पर भक्ति-साहित्य में वे बराबर साहित्य की श्री-वृद्धि में योग देती रही हैं। इस दृष्टि से **मीरा, सहजोबाई, ताज, सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा** आदि अनेक महिलाओं का नाम लिया जा सकता है। अतः हिन्दी को महिलाओं की देन पर विचार करने के पूर्व हिन्दी-साहित्य की प्रकृति पर विचार कर लेना उपयोगी होगा।

महिलाएँ और लोक-गीत—भारतीय समाज में महिलाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। श्रद्धा, करुणा, दया, ममता, स्नेह आदि सभी ऊँचे गुणों का निवास महिलाओं में अधिक रहता है। महिलाओं में हृदय की रागात्मक वृत्तियों की प्रबलता रहती है। हिन्दी-साहित्य का एक क्षेत्र लोक-साहित्य है, जिसमें लोक-गीतों की प्रधानता है। वे लोकगीत अनन्त काल से चले आ रहे हैं। अधिकांश में वे मौखिक हैं। उनको सर्वप्रथम पं० रामनरेश त्रिपाठी ने पुस्तकाकार संग्रहीत किया। इन लोक गीतों के रचयिता कौन थे, यह ज्ञात नहीं है। इनसे नारी जीवन की जो तन्मयता की झाँकी प्राप्त होती है, उनसे ऐसा जान पड़ता हैं कि इनमें से अधिकांश नारी हृदय से निकले हुए भाव-कण हैं। उन लोक गीतों में भारतीय संस्कृति सामाजिक भावना तथा स्त्रियों के विचार और सम्मान की धारणा व्यक्त होती है। उनका साहित्य वास्तव में जीवन के अधिक समीप है। एक कन्या कहती है—

'लाल रंग घोड़वा, सबुज रंग हो, उनके सोने कै लागलो लगाम हो।
उहै घोड़वा बाबा ससुरू को दीहअ, ससुर नित लीहैं नाँव तुम्हार हो॥

उसके इस उद्गार में कितने प्रकार के भाव हैं? यह देखते ही बनता है। पहले तो कन्या अपनी ससुराल को अपना घर मानती है; वह घर ऐसा है जहाँ उसकी जन्म-भूमि, उनके माता-पिता तथा उनसे दी गई वस्तुओं के आधार पर ही प्रथम सम्मान प्राप्त होगा, और उसके पिता का नाम भी स्मरण किया जायेगा। दूसरी बात यह है कि जाने वाली वस्तु सुन्दर तथा सर्वांग सजी होनी चाहिए ताकि पाने वाला उसका ससुर देने वाले का नाम ले, आदि भावनाओं का उद्रेक स्त्री हृदय ही जान पड़ता है। इन गीतकारों का विवरण नहीं मिलता फिर भी स्त्रियाँ ऐसे सैकड़ों गीत गाया करती हैं।

इस क्षेत्र में महिलाओं की देन अभूतपूर्व है।

हिन्दी-साहित्य की महिला कवयित्रियाँ—हिन्दी-साहित्य के भक्ति-युग में देश का वातावरण शांत होने लग गया था। निराश हिन्दू जनता का ध्यान भक्ति-धारा में बहने लगा। उस समय **मीरा** ने अपने पदों से हिन्दी कविता का शृंगार किया। उसकी गूँज राजस्थान से लेकर सारे उत्तर भारत में पहुँची। भक्तों में मीरा के पद आदर से गाये जाने लगे। मीरा ने कृष्ण को अपना सर्वस्व माना और कहा कि—
'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई। जाके सिर-मोरमुकुट मेरो पति सोई॥'

कृष्ण प्रेम में इतनी तन्मयता से सम्भवतः सूर के सिवाय दूसरा कोई कवि नहीं रम सका। वह कहती हैं—

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
साँवरी सूरति मोहिनी मूरति, नैना बने विसाल।
छुद्र घंटिका कटितट सोभित उर बैजन्ती माल॥
× × × ×
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर भगत-बछल गोपाल।'

भक्ति की इस तन्मयता ने अनेक भक्तों को भगवद्भक्ति की राह पर चलाया। मीरा के बाद 'राय प्रवीन' एक ऐसी कवियित्री हुई, जिसने अकबर बादशाह के बुलाने पर लिखा था कि—**'विनती राय प्रवीन की, सुनिये साहि सुजान।**
जूठी पतरी भखत है, बारी बायस स्वान॥'

इस प्रकार की अनेक स्त्रियाँ रहीं जिन्होंने साहित्य रचना स्वयं की या साहित्य रचना को प्रेरणा दी। भक्ति-भावना में श्रद्धा तथा आत्मसमर्पण आवश्यक होता है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ स्त्रियों में ही अधिक होती है, अतः भक्ति के क्षेत्र में इन्हें अधिक सफलता मिली है। स्त्रियों में आज भी धार्मिक भावना अधिक देखी जाती है। इस धार्मिक भावना से प्रेरित हो कर अनेक स्त्रियों ने पदों तथा गीतों की रचना की है।

इसके अतिरिक्त 'ताज' जैसी अनेक मुसलमान महिलाओं ने भी हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि की। गिरिधर कविराय की पत्नी ने भी अनेक कुण्डलियों की रचना कर नीति और आदर्श की स्थापना की।

इन महिला कवयित्रियों के अतिरिक्त प्रताप कुँवर बाई, सुन्दर कुँवर बाई, रत्न कुँवर बीबी, चन्द्रकला बाई, जुगुल प्रिया आदि महिलाओं ने ब्रजभाषा और राजस्थानी में कविताएँ कीं।

आधुनिक युग में महिलाओं की देन—आधुनिक युग में पाश्चात्य सभ्यता के प्रकाश में नई सभ्यता का विकास हुआ। नारी-शिक्षा, नारी-स्वतन्त्रता, समानता आदि की भावनाएँ बढ़ रही हैं, परिणामस्वरूप जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ आगे बढ़ रही हैं। भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग में महिला साहित्यकारों का प्रभाव क्षीण था। सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा आदि महिलाओं ने पर्याप्त रचना की है।

सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताएँ जीवन की दैनिक दिनचर्या से अधिक सम्बन्धित हैं। उनका पारिवारिक जीवन सुखी था, उनकी भावनाएँ देश की तत्कालीन परिस्थितियों से विशेष रूप से प्रभावित थीं। उनकी **'झांसी की रानी'** शीर्षक कविता अधिक लोकप्रिय हुई है। **'वीरों का कैसा हो बसन्त?'** **'बचपन'** आदि उनकी प्रसिद्ध कविताएँ हैं। उनकी कविताओं में राष्ट्रीय भावनाओं की अधिकता है। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में काम किया। उनकी अनेक कृतियाँ हिन्दी में अमर रहेंगी। पारिवारिक जीवन में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने जो कार्य साहित्यिक दृष्टि से किया वह सराहनीय है।

इसके बाद छायावादी कविताओं में रहस्यवाद का पुट देने वाली महादेवी वर्मा का नाम आता है। महादेवी जी उच्च शिक्षा प्राप्त महिला हैं। उन्होंने अपने जीवन के द्वितीय चरण के आरम्भ में काव्य-रचना प्रारम्भ की है। छायावादी कविताओं में मधुर

पीड़ा की वेदना को व्यक्त किया गया है। उनका काव्यगत प्रियतम भी प्रायः आध्यात्मिक रूप में ही चित्रित किया गया है। उनके हृदय में वास्तविक पीड़ा है, विरह की मार्मिक वेदना है तथा प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गई हैं, जिससे उनकी कविता में रहस्यवादी विचारधारा से मिल जाती है। उनकी अनुभूतियाँ प्रायः कल्पना से अनुप्राणित हैं। वह कहती हैं—

मैं नीर भरी दुख की बदली।
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली ॥

इस कविता में महादेवी जी ने अपनी हार्दिक भावनाओं को इतनी व्यापकता प्रदान की है कि उनकी संवेदना बादलों तक से हो गई है। इस प्रकार—**मधुर-मधुर मेरे दीपक जल**' शीर्षक कविता में कवयित्री ने अपने जीवन-दीप को जलाया तथा उसके 'प्रकाश से प्रियतम का पथ आलोकित' किया है। वह प्रियतम भी ऐसा है कि जिसके आने-जाने का कोई 'पद-चिन्ह' शेष नहीं रह पाता। इस साधिका की भावनाएँ अन्तर्मुखी होकर स्मृतियों का जाल बुनती-सी दीखती है। उनकी कल्पना में आध्यत्मिकता की प्रवृत्ति है, यद्यपि वे व्यावहारिक दृष्टि से कट्टर धार्मिक नहीं जान पड़तीं। महादेवी जी की अनेक रचनाएँ हैं जिनमें—'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत', 'दीपशिखा', 'अतीत के चलचित्र' आदि मुख्य हैं। उनका कहना है कि दुःख मेरे निकट जीवन का एक ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है: इनकी कविताओं में सीमित क्षेत्रों में बँधी हुई असीम चेतनाओं का करुण क्रन्दन है। इससे स्पष्ट है कि इनकी देन हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

वर्तमान हिन्दी साहित्य की सेवा में **सुमित्राकुमारी सिन्हा, विद्यावती कोकिल,** विद्यावती मिश्र, तारा पाण्डेय, शकुन्तला आदि अनेक महिलाएँ लगी हुई हैं। इन देवियों के लेखन-कला तथा कविताओं में हिन्दी साहित्य का कोश निरन्तर भर रहा है। वर्तमान युग में यह सामान्य धारणा बनती जा रही है कि स्त्रियाँ पठन-पाठन में पुरुषों से अधिक सफल हो रही हैं।

उपसंहार—हिन्दी साहित्य का क्षेत्र व्यापक है। इसका सम्बन्ध जीवन के विभिन्न अंगों से है। आज जब स्त्रियों का समाज जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने की क्षमता बटोर रहा है तो साहित्य के क्षेत्र में उनका आना अच्छा ही है। साहित्य-क्षेत्र में आने से वे अपने को ठीक ढंग से समझेंगी तथा उनके द्वारा जिस साहित्य का निर्माण होगा वह अधिक व्यावहारिक तथा उपयोगी होगा। स्त्रियों का अनुभव मानव-जीवन का कर्तव्य-परायण बनाने में सहायक सिद्ध होगी। इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य के विकास में महिलाओं का योग पहले तो कम रहा है, पर अब उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है और यह साहित्य-निर्माण की दिशा में शुभ-संकेत है।

३०. हिन्दी गीति-काव्य

१—भूमिका, २—हिन्दी में गीति काव्य का प्रारम्भ, ३—भक्ति युग का गीति काव्य ४—आधुनिक युग में गीति, काव्य ५—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य जीवन में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। स्वभाव से ही मानव का आकर्षण गीतों की ओर होता है। संसार की सभी भाषाओं में गीति परम्परा प्राचीन काल से चलती आ रही है। अंग्रेजी में भी 'गीतों' (Lynes) की परम्परा प्राचीन है। संस्कृत साहित्य में गीत परम्परा का प्रारम्भ सामवेद के मन्त्रों से होता है। यज्ञ के अवसरों पर मन्त्र स्वर लय के साथ गाये जाते थे। तत्पश्चात् लौकिक संस्कृत का विकास हुआ तथा नाटकों और काव्यों में गीतिकाव्य का प्रयोग किया गया। जयदेव का **'गीतगोविन्द'** गीतकाव्य का सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार के छन्दों की रचना संस्कृत साहित्य में अधिक हुई। **१०वीं** शताब्दी से हिन्दी साहित्य का विकास प्रारम्भ हुआ। हिन्दी में पहले पद्यों की रचना हुई तथा महाकाव्यों में गीतों का रूप नहीं निखरा। रासो ग्रन्थों में प्रयुक्त गेय पदों को भी गीति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्य-युग (भक्ति-काल) में भक्तों के गेय पदों में गीति काव्य के अधिकांश तत्व प्राप्त होते हैं।

हिन्दी में गीति-काव्य का प्रारम्भ—रासो ग्रंथ के कई भाग माने जाते हैं, जैसे 'पृथ्वीराज रासो' का 'कनवज्ज समयो', 'बड़ी लड़ाई' आदि तथा जगनिक का 'आल्ह खण्ड'। इन कविताओं में लोकगाथा का रूप सुरक्षित है। डिंगल साहित्य में पृथ्वीराजकृत 'किसन रुक्मिणी री वेलि' कुशल लाभ के 'ढोला मारू रा दूहा' तथा नरोत्तम स्वामी के 'राजस्थान रा दूहा' में भी गीतिकाव्य के तत्व मिलते हैं। इसके अतिरिक्त लोक गीत अतीत काल से गाये जाते हैं। इस प्रकार गीतिकाव्य की परम्परा हिन्दी की प्रारम्भिक अवस्था से चलती आ रही है। किन्तु गीतिकाव्य का वास्तविक रूप मैथिल कोकिल विद्यापति के पदों में ही सर्वप्रथम दिखाई पड़ता है। उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम को अपने पदों में गाया। इनके पदों की लोक-प्रियता बढ़ी। इन्होंने जयदेव की गीति शैली को अपनाया तथा भाव और भाषा का सुन्दर समन्वय किया। यथा—

एक सखी कृष्ण प्रेम का संदेश राधा को दे रही है—

ललित लवंग लता परिशीलन, कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल, कूजित कुञ्ज कुटीरे॥

आगे चलकर भक्ति-युग में गेय पदों की भरमार हुई।

भक्ति-काल में गीतकाव्य का स्वरूप—निर्गुण-धारा के सन्तों ने अपने अनुभवों को गेय पदों में व्यक्त किया। **कबीर, दादू, नानक,** सुन्दरदास, मलूकदास आदि सन्तों ने अपने पदों में गेय तत्वों का समावेश किया। इन लोगों ने उपदेश की भावना से सामाजिक उन्नति, संगठन, ऐक्य, दार्शनिक-विचार, आदि विषयों से सम्बन्धित पदों की रचना की। कबीर ने रहस्यवादी भावनाओं की जटिल गुत्थियों को सुलझाने का मार्ग, योग की विभिन्न प्रक्रिया, आत्मा-परमात्मा माया, जगत आदि सूक्ष्म तथ्यों का निरूपण अपने पदों में किया है। साधनों के अनेक सिद्धान्त का निरूपण भी उन्होंने अपने गेय पदों में किया है। मिथ्याडम्बर, कर्मकाण्ड की जटिलता आदि विभिन्न विषयों पर भी पदों की रचना की। सन्तों के पदों को आज भी भक्तजन

प्रेम से गाते हैं। हृदय की कोमल भावनाओं, कल्पना तथा अनुभव आदि मानसिक तत्वों का इन पदों में समावेश है। इनमें स्पष्टवादिता, तीखा व्यंग, आध्यात्मिक प्रेम आदि सभी कुछ है। इनमें आन्तरिक अवस्थाओं का स्वच्छ, मधुर और मर्मस्पर्शी चित्रण आत्मविश्वास तथा मानसिक आवेश पूर्ण रूप से मिलता है।

सन्त कवियों के बाद वैष्णव कवियों ने राम और कृष्ण की भक्ति के आवेश में सहस्रों पदों की रचना की जो सभी गेय हैं। इन भक्तों के पदों में संगीतात्मकता है, भक्त हृदय का नम्र-निवेदन है, आकुल मन की विह्वलता है तथा भावातिरेक है। इन भक्तों ने राम सीता के आदर्श प्रेम, भक्त-वत्सलता का, दीनता-निवारण, दुष्ट-दलन, शील-भक्ति और सौन्दर्य का आदर्श चित्र अपने पदों में खींचा है। इनके पदों में दूसरे देवताओं का भी गुणगान किया गया है। महाराज रामचन्द्र जी के सामने कवि ने आत्म-निन्दा, आत्म-निवेदन तथा अपने उद्धार के लिए प्रार्थना की है।

कृष्ण भक्तों ने राधा-कृष्ण के पारस्परिक प्रेम, अनन्त प्रेम-क्रीड़ाओं तथा लीलाओं का वर्णन अपने गेय पदों में किया है। राधा-कृष्ण के अलौकिक और अपरिमित सौंदर्य का सरस और हृदय-ग्राही चित्रण कृष्ण भक्तों ने किया। इन कवियों में संवेदन-शीलता और भावुकता का चरम विकास हुआ है। अपने आराध्य देव की दिनचर्या तथा उनकी पूजा-अर्चना आदि का वर्णन इन पदों में किया गया है। प्रेम का संवेदनशील रूप उसकी विभिन्न दशाओं का चित्रण, हास-विलास, प्रकृति के विविध रूपों का प्रभाव आदि सभी कुछ इन पदों में मिलता है। सूरदास, **नन्ददास, मीरा** आदि सैकड़ों भक्त कवि हो गये हैं जिनके गेय पद बाह्य-साजों के साथ गाये जाते हैं। विरह की विभिन्न दशाओं को इन पदों में चित्रित किया गया है। सैकड़ों उपालम्भ दिलाये गये हैं। इन पदों में शास्त्रीय राग रागिनियों का सुन्दर समन्वय किया गया है। ये पद प्रायः मुक्तक हैं पर उनमें एक-एक प्रसंग अवश्य है। इन पदों में पूर्ण और स्वाभाविक चित्र खींचे गये हैं। उदाहरण के लिए **सूरदास** का एक पद देखिए :—

मैया मैं नहिं माखन खायो।
भोर भये गैयन के पीछे मधुबन मोहि पठायो।
चारि पहर वंशी वन भटक्यों साँझ परे घर आयो।

× × ×

'सूरदास' तब विहँसि जसोदा लै उठि कण्ठ लगायो॥

इसी प्रकार कवि भगवान से निवेदन करता है :

प्रभु मेरो अवगुन चित न धरो।
समदर्शी प्रभु नाम तिहारो चाहो तो पार करो।
एक लोह पूजा में राख्यो एक घर बधिक परो।
सो दुविधा पारस नहिं मानत कंचन करत खरो॥
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
दोऊ मिलिकै एक वरन भयो सुरसरि नाम परो॥

इस प्रकार के गेय पदों के रूप में गीति काव्य का विकास होता रहा।

आधुनिक युग में गीत-काव्य—रीति-काल में अलंकारप्रियता, श्रृंगार की अधिकता तथा उक्ति वैचित्य के आकर्षण के कारण मुक्तक रचनाओं का जोर

अधिक रहा। उस युग में गीतिकाव्य के लिए समय ही नहीं मिलता था। इसलिए उस समय गीति काव्य की रचना नहीं हुई। फिर **भारतेन्दु युग** से गीति-काव्य की रचना होने लगी। **'चन्द्रावली'** में भारतेन्दु जी ने जिन गीतों की रचना की है वे विद्यापति, चण्डीदास आदि कवियों के गीतों के अनुसार लिखे गये हैं। आगे चलकर राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार बढ़ने लगा और अनेक कवियों ने राष्ट्रीय पदों की रचना की। किन्तु राष्ट्रीय गीतों का वास्तविक प्रारम्भ श्रीधर पाठक ने ही किया।

द्विवेदी युग में सुधार-भावना का प्रचार खूब बढ़ा, और नीति-परक आचार-शीलता तथा इतिवृत्तात्मकता का प्रभाव जोर पर रहा। उस समय भाषा-परिष्कार का काम लगन से किया जा रहा था। उस युग में स्फुट पदों की रचना **नाथूराम शंकर शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित** उपाध्याय आदि कवियों ने की। इस युग की प्रतिक्रिया रूप में छायावाद तथा आधुनिक रहस्यवाद का युग आया। इस युग में नवीन कलात्मकता के साथ गीतों की रचना होने लगी। इन गीतों में आध्यात्मिक प्रेम विरह, भावावेश, स्वच्छन्द-भावाभिव्यक्ति प्रकृति का भावमय चित्र आदि व्यक्त किये गये। इन गीतों में राष्ट्रीयता, व्यक्तिगत आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, लौकिक प्रेम आदि विभिन्न विषयों की अभिव्यक्ति की गई। **पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा, दिनकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, हर वंशराय बच्चन, रामकुमार वर्मा** आदि प्रायः सभी कवियों ने गीति-काव्य की रचना की। वर्तमान युग में सैकड़ों गीत संग्रह प्रकाशित हो रहे हैं। **'झरना,' 'लहर', 'गुञ्जन', 'रश्मि', 'नीरजा', 'अनामिका', 'गीतिका' 'चित्ररेखा', 'दूरागत गान', 'एकांत संगीत', 'रसवन्ती'**, 'भूखों नंगों का गान' आदि सैकड़ों गीत संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वर्तमान काल में शोक गीत, व्यंग्य गीत, अभियान गीत, राष्ट्र गीत, प्रभाती, उद्‌बोधन गीत आदि अनेक प्रकार के गीत रचे जा रहे हैं। प्रयोगवादी तथा प्रगतिवादी कवियों ने भी असंख्य गीतों की रचना की है। इनके गीतों में वर्ग-संघर्ष, साम्यवादी विचारधारा, मजदूर-किसानों की समस्या, शोषित और शोषक का संघर्ष आदि भानवाएँ व्यक्त की गई हैं। **नई कविता** अधिकांश में गीतों में ही हो रही है। इस प्रकार गीति-काव्य का विकास होता जा रहा है। इस प्रसंग में **'अज्ञेय'** जी के 'तार सप्तकों' की चर्चा भी आवश्यक है। उन्होंने इन संग्रहों में सैकड़ों प्रयोगवादी गीतों को स्थान दिया है।

उपसंहार—गीतों की सम्बन्ध मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति से है। ज्यों-ज्यों स्वतन्त्रता, समानता तथा आत्माभिव्यक्ति की भावना बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों मनुष्य अपनी अनुभूतियों को स्पष्ट रूप में व्यक्त करने लगा है। इस भावना के परिणामस्वरूप कविता में भावात्मक गीतों की रचना प्रचुरता से होती जा रही है। काव्य के दो भेद—प्रबन्ध और मुक्तक हैं। मुक्तकों में गेय पदों को 'गीत' नाम से सम्बोधित किया जाता है। वर्तमान गीतों में कवि की भावुकता, हृदय का आवेग, मानसिक उच्छ्वास, व्यक्तिगत हर्ष-विषाद, प्रकृति के विभिन्न रूप आदि सभी कुछ व्यक्त किया जा रहा है। इस प्रकार गीति-काव्य का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है। इसका एक परिणाम यह भी हो रहा है कि सुन्दर प्रबन्ध-काव्यों की रचना कम हो रही है।

३१. लोक गीत

१—भूमिका, २—लोक गीतों का स्वरूप, ३—लोक गीतों की व्यापकता, ४—लोक-गीतों की भाषा, ५—लोक गीतों का प्रभाव, ३—उपसंहार।

भूमिका—'लोक' शब्द साधारण लोगों के लिए प्रयुक्त होता है। इस शब्द में कृत्रिमता और सभ्यता के आडम्बर को कोई स्थान नहीं होता। इन लोगों के साहित्य को लोक-साहित्य की संज्ञा प्राप्त है। लोक साहित्य अंग्रेजी के **'फॉक लिटरेचर** (Folk Literature) का पर्याय है। लोक-साहित्य उस समाज का साहित्य होता है जो अधिकांश में सभ्य नहीं कहे जाते। इसे कभी-कभी जंगली जातियों का साहित्य या ग्राम्य-साहित्य भी कहा जाता है। पर ग्राम्य-साहित्य लोक साहित्य से कई अर्थों में भिन्न है। इस **लोक साहित्य** को **'ग्राम्य-साहित्य'** केवल इसी अर्थ में कह सकते हैं कि इसमे मौखिक रूप से युग-युगान्तर का साहित्य सुरक्षित रहता है। इस लोक-साहित्य को कई रूपों में देखा जाता है। लोकगीत, लोककथा, कहानी, चुटकुले और कहावत, पहेलियाँ और मन्त्र इसके विभिन्न रूप हैं। इनमें से लोकगीतों का महत्व सर्वाधिक है, और ये लोकगीत प्रत्येक देश और जाति में प्रचलित हैं।

लोक गीतों का स्वपरूप—लोक गीतों को हम **चार रूपों** में देखते हैं, वे हैं—**बड़े गीत, स्वाँग गीत, भगल या नौटंकी, आनुष्ठानिक गीत** (जो पूजा, जागरण, व्रत, त्यौहार, संस्कार आदि अवसरों पर गाये जाते हैं) इसके अतिरिक्त लोक गीतों के और भी भेद हो सकते हैं। कुछ ऐसे गीत हैं जो केवल पुरुषों द्वारा गाये जाते हैं तथा कुछ ऐसे गीत हैं जो केवल स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। कतिपय ऐसे गीत भी हैं जो पुरुषों और स्त्रियों दोनों द्वारा समान रूप से गाये जाते हैं। विभिन्न जातियों में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के गीत प्रचलित हैं। लोकगीतों के अनेक वर्ग हैं—जिसमें बड़े गीतों के रूप में आल्हा का प्रचार अधिक है, सोरठी, वृजाभार, भरथरी के गीत गोपीचन्द्र के गीत आदि पुरुषों द्वारा अधिक गाये जाते हैं। स्त्रियों में विभिन्न सामाजिक त्यौहारों, संस्कारों तथा व्रत आदि से सम्बद्ध अनेक प्रकार के गीतों का प्रचार है। विभिन्न देशों में वहाँ की भाषा में ये गीत गाये जाते हैं। सभी स्थानों के गीतों में एक प्रकार की मौलिक समानता रहती है।

लोक-गीतों की व्यापकता—भारतीय-संस्कृति में मानव-जीवन से सम्बन्धित सोलह संस्कारों का वर्णन कया गया है। उनमें अधिकांश का तो लोप हो गया है पर कतिपय संस्कार अब भी पूरे भारत में किये जाते हैं—जैसे जात-संस्कार (बच्चा पैदा होने के समय जो संस्कार किया जाता है)। इस अवसर पर जहाँ शास्त्रीय विधि से कोई संस्कार नहीं होता वहाँ भी स्त्रियाँ सोहर अवश्य गाती हैं। उन सोहरों के भाव और लय अवसर के अनुकूल होते हैं। प्रायः सभी जातियों में पुत्र-जन्मोत्सव के अवसर पर यह गीत गाया जाता है, जिसमें प्रेम, प्रसन्नता, उत्साह, दान, नेग आदि का सुन्दर वर्णन किया जाता है। हर प्रान्त के सोहरों के भाव प्रायः समान ही होते हैं। इसके साथ और भी कई प्रकार के गीत गाये जाते हैं। इसके बाद के कई संस्कारों को अब लोग भूलते जा रहे हैं। फिर **'उपनयन'** संस्कार के अवसर पर अनेक गीत गाये जाते हैं। उनका भाव आशीर्वादात्मक तथा उत्साह-वर्द्धक होता है। सबसे महत्वपूर्ण सर्वव्यापक संस्कार 'विवाह-संस्कार' होता है। विवाह के अवसर पर

अनेक प्रकार के गीत गाये जाते हैं। उन गीतों में सांस्कृतिक परम्पराओं की अपूर्व झाँकी रहती है। संक्षेप में यह देखा जाता है कि इन अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों में भावुकता, सरलता तथा मानव-हृदय की सहानुभूतियों की सहज अभिव्यंजना रहती है।

व्रतों और त्यौहारों के अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं, उनमें प्रकृति-चित्रण, तत्कालीन हृदयगत भावनाएँ तथा हृदय की अभिलाषाएँ आदि रहती हैं। **कजरी, झूलना** आदि इसी प्रकार के गीत हैं। इन गीतों में कभी-कभी मनोरंजक कथानक भी मिलता है। कभी-कभी एक लघु कथा भी कह दी जाती है। इस तरह प्रायः सभी त्यौहारों पर गीत गाये जाते हैं। होली और चैत सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रायः सभी प्रान्तों में ये गीत प्रचलित हैं। इसके बाद वैदिक जीवन के विभिन्न कार्यों के अवसर पर स्त्रियाँ गीत गाया करती हैं। सावन के महीने में जब वर्षा की फुहारें पड़ रही होती हैं, उस समय धान के खेतों में निराई (सोहनी) करती हुई, या बेठबनी (धान गाड़ती हुई) स्त्रियाँ अपनी मधुर लय के अनेक प्रकार के गीत गाया करती हैं। उन गीतों में प्रेम की प्रधानता रहती है। किसी-किसी में विरह की वेदना रहती है तो किसी में तीखा व्यंग्य या उपालम्भ होता है। प्रातःकाल गाँवों में आटा पीसती हुई रमणियाँ भाँति-भाँति के मधुर गीत गाती हैं। इस प्रकार लोक-गीतों की व्यापकता अत्यधिक है। ये गीत सभी देशों की बोलियों में गाये जाते हैं।

लोग-गीतों के चरित्र-नायक और पात्र भी साधारण भोले-भाले और सीधे-सादे ग्रामीण होते हैं जिनमें शिक्षा-जनित चतुराई, बनावट, शिष्टाचार, तथा नागरिक चंचलता का अभाव रहता है। उनके भावों का सम्मान भी ऐसे स्थानों पर अधिक होता है जहाँ श्रोता भी प्रायः उसी वर्ग के होते हैं। उनके गीतों में हृदय का स्वाभाविक प्रेम स्वाभाविक और सरल ढंग से व्यक्त कर दिया जाता है। नायक-नायिका के हाव-भाव, कटाक्ष, चितवन आदि का वर्णन सीधी भाषा में किया जाता है। संयोग-शृङ्गार की विभिन्न दशाओं का चित्रण उन गीतों में मिलता है। वियोग की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण रहता है। एक नायिका अपने पति को पूर्व की यात्रा से रोकने के लिए कहती है—

'जौ तुहीं जइबअ राजा पूरबै के देसवां, हमहुँ जोगनियाँ बनि आइब ना।"

इतने ही में उसके प्रेम की प्रबलता व भाव की आकुलता व्यक्त हो जाती है। इसी प्रकार बहुत दिनों से अपने भाई से न मिलने वाली भगिनी गाती है—**'अब के बरस मोरे भइया को बाबुल, सावन लीजो बुलाय रे।"** इस प्रकार से लोक-गीतों में पवित्र प्रेम की उद्दाम सरिता बहती हुई दिखाई पड़ती है।

पुरुषों द्वारा गाये जाने वाले लोक-गीतों में बिरहा, सोरठा, आल्हा आदि प्रसिद्ध । बिरहा में साधारणतया कृष्ण-राधिका तथा गोपियों का प्रेम वर्णन किया जाता है कभी-कभी गायक पौराणिक कथाओं को भी बिरहा में गाते हैं। कृष्ण-लीला से ही उनका अधिक सम्बन्ध है। आल्हा के रूप में देश काल के अनुसार काफी परिवर्तन हो गया है। फिर भी नैनागढ़, महोबा, हरदीगढ़, सिरसा आदि की लड़ाइयाँ गायी जाती हैं। आल्हा, ऊदल, मलखान, ताल्हन, आदि अनेक वीरों के विवाहों का वर्णन रहता है। सोनवा, पनवा, बेलधा, चनवाँ आदि के विवाहों के अवसर पर जो युद्ध हुए हैं,

उन्हीं का सांगोपांग वर्णन किया जाता है। बेन्दुला घोड़ा, कबूतरी घोड़ी, भौंरा हाथी आदि की खूब प्रशंसा की गई है। ये वर्णन अनेक स्थानों पर असम्भव से जान पड़ते हैं। भरथरी, वृजाभार तथा गोपीचन्द की कहानी भी लोक-गीतों में गाई जाती हैं। इस प्रकार लोक-गीत अलिखित होते हुए भी व्यापकता से प्रसिद्ध हैं। प्रकृति का स्वाभाविक तथा परिस्थिति के अनुकूल चित्रण इन गीतों में किया गया है।

लोक गीतों की भाषा—लोक-गीतों में स्थानीय बोलियों का प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा दैनिक जीवन के प्रयोग में आने वाली स्थानीय भाषा होती है, किन्तु गायकों, रचयिताओं की रुचि के अनुसार अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्द भी कहीं-कहीं मिल जाते हैं। उनमें प्रवाह, संगीतात्मक प्रवाह तथा अभिव्यंजना शक्ति खूब होती है। कहीं-कहीं मुहावरों का स्वाभाविक प्रयोग भी मिल जाता है। भावों के अनुसार शब्दयोजना होती है। स्वाभाविकता खूब रहती है, पर प्रौढ़ता तथा स्थिरता का अभाव रहता है। संक्षेप में लोक-गीतों की भाषा हृदयग्राही होती है।

प्रभाव—प्रभाव की दृष्टि से लोक-गीतों का स्थान कुछ सामान्य ही होता है चूंकि ये मौखिक होते हैं अतः इनका प्रभाव भी सामयिक सुख-दुःख की अनुभूतियों को प्रभावित करता है। ये गीत मनोरंजक प्रभाव छोड़ते हैं। लोक-गीतों में मानव हृद्तन्त्री के तारों को झकझोर देने की असीम क्षमता होती है।

उपसंहार—लोक-गीतों का वर्तमान साहित्य में महत्व बढ़ता जा रहा है। लोक-गीतों के संग्रह भी प्रकाशित होने लग गये हैं। इन गीतों के अन्तर्गत भारतीय समाज की प्रवृत्तियों का विकार स्वाभाविक रूप से देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की अनेक परम्पराओं का ज्ञान इन लोक-गीतों से हो सकता है। अतः लोक-गीतों का अध्ययन आवश्यक है।

३२. उपन्यास पढ़ने से लाभ तथा हानि

१—भूमिका, २—उपन्यास की परिभाषा तथा उसका रूप, ३—उपन्यास का उद्देश्य, ४—उपन्यास पढ़ने से लाभ, ५—उपन्यास पढ़ने से हानि, ६—उपसंहार।

भूमिका—साहित्य का सम्बन्ध मानव-जीवन की रागात्मक वृत्तियों से है। मनुष्य की प्राकृतिक भूख भौतिक वस्तुओं से पूरी हो जाती है परन्तु मानसिक भूख मिटाने के लिए कुछ और वस्तुएँ आवश्यक होती हैं। इन वस्तुतों की प्राप्ति से मनुष्य को आत्मिक-शान्ति प्राप्त होती है। मनुष्य ऐसा प्राणी है जिसे आत्मिक-शान्ति, सुख और आनन्द प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार की वस्तुएँ आवश्यक होती हैं। अतः मनुष्य अपने जीवन-सुधार के लिए तथा सामाजिक तत्वों के लिए साहित्य का निर्माण और अध्ययन करता है। साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग कथा और उपन्यास है जिसमें मनोरंजन की पर्याप्त क्षमता होती है। अतः उपन्यास पढ़ने से जो लाभ-हानि होती है वे भी मानव-जीवन के लिए प्रभावकारी है।

उपन्यास की परिभाषा तथा उसका रूप—उप = समीप और न्यास = थाती, के योग से 'उपन्यास' शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है मनुष्य के समीप रखी हुई

वस्तु अर्थात् वह वस्तु या कृति जिसे पढ़ कर ऐसा लगे कि यह हमारी ही वस्तु है, (हिन्दी सा० कोश, पृ० १३१) इसका अभिप्राय यह है कि उपन्यास को पढ़कर हम यह समझते हैं कि हमारे ही जीवन की झांकी इसमें है। इसे पढ़कर पाठक यह समझता है कि हम जो कुछ पढ़ रहे हैं, वह वास्तव में हमारे जैसे लोगों के जीवन में घटने वाली घटनाओं का ही वर्णन है। इस पठनकाल में पाठक अपने जीवन-सम्बन्धी अनुभवों का साम्य पाता है अतः उनका मन पूर्णतया उस कहानी में रम जाता है। इस तरह समय का बीतना उसे मालूम नहीं होता। उपन्यास के पात्र सामान्य जीवन में आने वाले व्यवहारों को करते हुए देखे जाते हैं। उनके व्यवहारों में सामान्यता रहती है तथा उनकी गति-विधियाँ व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को लेकर चलती हैं। आज के युग में व्यक्ति समष्टि को दबाकर ऊपर उठ आया है, और इन्हीं परिस्थितियों का प्रतिफल उपन्यास-साहित्य के रूप में सामने आया है। उपन्यास अपने वर्तमान कलात्मक रूप में आधुनिक युग की देन है। समाज के हर वर्ग के व्यक्ति उपन्यास के पात्र बनते हैं, तथा उसकी कार्य-विधि पाठक के कौतूहल को उकसाती रहती है उपन्यास में घटनाओं और दृश्यों का संगठन व्यवस्थित रूप से किया जाता है। इस प्रकार उपन्यास वास्तविक के जीवन के अधिक निकट होता है।

उपन्यास के उद्देश्य—उपन्यास के **मुख्य उद्देश्य हैं—मनोरंजन, जीवन-सुधार, समाज का चित्रण, सामाजिक बुराइयों का निराकरण,** समाज में सुन्दर और व्यावहारिक बातों का प्रचार आदि। **इन उद्देश्यों** की पूर्ति उपन्यासों के अध्ययन और प्रचार से होती है। वर्तमान युग के उपन्यास केवल कहानी भर नहीं कहते बल्कि परिस्थिति के अनुसार पात्रों पर प्रभावों का मनोवैज्ञानिक चित्रण भी करते हैं। आज के उपन्यास कला की दृष्टि से लिखे जाते हैं। उपन्यांस पढ़ने के कतिपय व्यक्तिगत उद्देश्य होते हैं। उपन्यासकार अपनी कल्पना के सहारे ऐसा चित्र खींचता है जिसमें व्यक्तिगत अनुभवों का इतनी सुन्दरता से साधारणीकरण हो जाता है कि पाठक उससे अभिन्नता प्राप्त कर लेता है तथा उसके अनुसार अपनी प्रवृत्तियों का गठन करने का प्रयास करता है। उपन्यास वास्तव में व्यक्ति को समाज के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न करते हैं तथा समाज को व्यक्ति के अनुसार ढालने का मार्ग बताते हैं। उपन्यासों के पठन-पाठन व्यक्ति के मन को संस्कृत बनाने का साधन बन सकता है।

उपन्यास पढ़ने से लाभ—शिक्षा मानव-जीवन को साधक बनाने का कार्य करती है। शिक्षा सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दो प्रकार की होती है। साहित्यिक ग्रंथों के अध्ययन से मनुष्य में मानवीय भावनाओं की जागृति होती है। इस दिशा में उपन्यास महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। उनके अध्ययन से **मनोरंजन के साथ समय का सदुपयोग होता है**। जीवन के विभिन्न कार्यों से जब शरीर और मन थक जाता है तब विश्राम की आवश्यकता पड़ती है। उस समय विश्राम के खाली समय को व्यतीत करने का एक अच्छा साधन उपन्यास पढ़ना है। इस अध्ययन का दबाव पाठक के मस्तिष्क पर कम पड़ता है। उसका आनन्द से बीतता चला जाता है। उसके शरीर के स्थूल अवयव शांतिपूर्वक विश्राम करते रहते हैं और उपन्यास पढ़ने से उसकी मानसिक तृप्ति होती है। उनके मन की उत्सुकता से रोचकता बढ़ती जाती है। जब वह पढ़ना बन्द कर देता है तब भी पढ़ी कहानी की घटनाओं का प्रभाव उसके मन पर पड़ता रहता है अतः वह सांसारिक क्लेशों से मुक्त रहता है।

दूसरा लाभ यह है कि उपन्यासों में वर्णित घटनाएँ विविध प्रकार होती हैं। उनका सामना पात्रों से तदनुकूल स्थिति में कराया जाता है। इससे पाठक को अपनी समस्याओं का समाधान करने के उपाय मालूम हो जाते हैं।

तीसरा लाभ उपन्यास पढ़ने से यह होता है कि पाठक अपनी अनेक बुराइयों को दूर करने में सफल होता है। उसके सामने समाज और व्यक्ति के मधुर सम्बन्धों के चित्र आते हैं जिससे वह अपने समाज में अपने सम्बन्ध **मधुर** बनाने का मार्ग पा जाता है और उसका जीवन सुखमय होता है। यह समाज की कतिपय बुराइयों को दूर करने का उपाय करता है। अपने जीवन को सुधार कर वह लौकिक और आध्यात्मिक सफलता प्राप्त करने का उपाय करता है। उपन्यास पढ़ने से मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि होती है तथा उसकी रुचि का संस्कार होता है। संसार में अर्थोपार्जन के अनेक उपाय हैं जिनका चित्रण उपन्यासों में होता है और पाठक अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार कुछ उपायों को अपनाकर अर्थोपार्जन में भी सफल हो सकता है। इस प्रकार उपन्यास पढ़ने में अनेक लाभ हैं।

उपन्यास पढ़ने से हानि—गुण-दोषमयी सृष्टि में सभी वस्तुओं में कुछ न कुछ दोष भी होते हैं। दोषों से हानि और गुणों से लाभ होता है, और फलस्वरूप दुःख और सुख की प्राप्ति होती है। उपन्यासों के कथानक काल्पनिक होते हैं। इससे औपन्यासिक सत्य को जब मनुष्य अपने व्यवहार में लाने का प्रयास करता है तो उसे सफलता नहीं मिल पाती। इससे उपन्यास पाठकों को हानि होती है क्योंकि वे यथार्थ को कल्पना से अलग नहीं कर पाते। दूसरी हानि यह है कि उसका मन और प्रवृत्तियाँ अनावश्यक रूप से भावुक हो जाती हैं। भावुकता मन को कभी खिन्न, कभी विह्वल और कभी उदासीन बना देती है। वर्तमान युग में समय का मूल्य बढ़ गया है। जीवन की आवश्यकताएँ बढ़ी हुई हैं। अतः उपन्यास पढ़ने वालों का मन उसमें इतना लीन हो जाता है कि उनके अनेक काम बिगड़ जाते हैं और उनकी हानि होती है। उपन्यासों में वर्णित काल्पनिक जीवन के वे अभ्यस्त बनने लगते हैं तथा स्वयं भी कल्पना प्रधान हो जाते हैं। संक्षेप में उपन्यास पढ़ने में समय का अपव्यय होता है। यदि चरित्र दृढ़ नहीं होता तो उपन्यास पढ़ने से यह अनेक दोष आ जाते हैं। अतः कभी-कभी वे ऐसे कार्य कर बैठते हैं जो हानिकारक होते हैं। चूँकि उपन्यास व्यक्तिगत रूप से पढ़े जाते हैं अतः उनका सामूहिक प्रभाव कम होता है।

उपसंहार—शिक्षित मनुष्य को संसार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने, समाज की यथार्थ स्थिति को समझने, जीवन को आनन्दमय बनाने, सांसारिक परिस्थितियों के साथ सफल संघर्ष करने तथा व्यक्तिगत और सामूहिक उत्थान के लिए विवेकपूर्ण उपन्यास पढ़ना आवश्यक है, जिससे लाभ हो तथा हानियों से बचाव हो सके। वास्तव में लाभ और हानि मानव के स्वयं के चरित्र और कार्यों पर निर्भर करते हैं। एक वस्तु यदि किसी व्यक्ति के लिए लाभदायक है तो दूसरे के लिए हानिकारक। किसी वस्तु का मूल्यांकन इस दृष्टि से किया जाता है कि उससे बहुसंख्यक व्यक्ति लाभान्वित होते हैं अथवा हानि उठाते हैं। इस दृष्टि से उपन्यासों का विशेष महत्व है। हम उपन्यास पढ़कर जो कुछ प्राप्त करते हैं उससे कम ही खाते हैं।

३३. हिन्दी गद्य के विभिन्न रूप

भूमिका—हिन्दी साहित्य का विकास विक्रम की दशवीं शताब्दी से माना जाता है। हिन्दी का प्रारम्भिक विकास पद्य में ही हुआ। किन्तु १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से गद्य का विकास प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भिक रूप में गद्य का रूप अव्यवस्थित तथा अनियमित रूप में था। आगे चलकर २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही गद्य का बहुमुखी विकास प्रारम्भ हो गया। हिन्दी गद्य का वास्तविक विकास भारतेन्दु युग से ही मानना समीचीन होगा। हिन्दी साहित्य के भी अन्य उन्नत साहित्यों की भाँति तीन रूप—गद्य, पद्य और चम्पू होते हैं। व्याकरण के नियमों से अनुशासित शब्द रचना को गद्य कहते हैं। गद्य में शब्दों का स्थान और विभक्तियाँ नियम से रखी जाती हैं। पद्य में छन्द शास्त्र के नियम के अनुसार गुणों का विचार करके, वृत्तों के नियम के अनुसार संगीतात्मक शब्द रचना की जाती है। पद्य में स्वर लय का विचार आवश्यक होता है। पद्य और गद्य से मिली जुली रचना चम्पू कही जाती है। जिस प्रकार से पद्य के अनेक रूप होते हैं, उसी प्रकार से गद्य के भी अनेक रूप होते हैं, हिन्दी गद्य के विविध रूपों पर, विषयों और शैली पर विचार करना आवश्यक है।

गद्य के विभिन्न स्वरूप—गद्य के अनेक रूप हैं। यह रूप अभिव्यक्ति की विधा और शैली पर निर्भर करते हैं। सामान्यतः गद्य के निम्नलिखित रूप माने जाते हैं।

(१) उपन्यास, (२) कहानी, (३) नाटक, (४) एकांकी, (५) निबन्ध, (६) गद्यगीत अथवा गद्यकाव्य, (७) समालोचना, (८) रेखाचित्र, (९) रिपोर्ताज इत्यादि।

जब समाज का तथा जीवन का पूर्ण चित्र गद्य में उपस्थित किया जाता है तब वह उपन्यास की संज्ञा प्राप्त करता है अतः गद्य का प्रथम तथा सबसे महत्वपूर्ण रूप उपन्यास है। जब जीवन की एक ही मुख्य घटना से सम्बन्धित अन्य घटनाओं के संयोजन से कथा-वस्तु का विकास तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण किया जाता है तो वह गद्य रचना कहानी या आख्यायिका या गल्प कही जाती है। गद्य-रचना जब किसी विषय या वस्तु के बाह्य और आन्तरिक गुणों और प्रवृत्तियों के वर्णन से सम्बन्धित होती है तो उसे निबन्ध कहते हैं। निबन्ध का लेखक किसी वस्तु या विषय के सम्बन्ध में अपने विचारों और अनुभूतियों को गद्य में व्यक्त करता है। गद्य काव्य में लेखक की गद्य रचना में काव्यत्व प्रधान हो जाता है तथा उसकी रचना काव्य की तरह सरस और अलंकृत हो जाती है। आलोचना में आलोचक किसी दूसरे साहित्यकार की रचना की समीक्षा करता है। वह आलोच्य विषय को इस प्रकार से रखता है कि पाठक आलोचना पढ़कर उस विषय का वास्तविक परिचय प्राप्त कर ले। आत्मकथा में लेखक अपने जीवन में घटने वाली घटनाओं का यथार्थ चित्रांकन गद्य में करता है। इसी प्रकार डायरी के रूप में लेखक गद्य में ही अपने या किसी अन्य व्यक्ति के अनुभवों को लिख देता है। यात्रा वर्णन भी लिखने की परिपाटी चल पड़ी है अतः संक्षेप में गद्य के मुख्य रूप हैं—**उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना,** गद्य काव्य, आत्मकथा, यात्रा वर्णन आदि।

उपन्यास—उपन्यासकार अपनी रचना में समाज का चित्र खींचता है और हर वर्ग का सामान्य वर्णन करके पूरे समाज के जीवन को तथा पात्रों के पूरे जीवन को

अपने ग्रन्थ में विकसित दिखाता है। इसके तत्व सामान्यतया पाँच माने जाते हैं—कथावस्तु, पात्र, देशकाल, उद्देश्य और शैली। कथावस्तु उन घटनाओं के संग्रहीत और व्यवस्थित रूप को कहते हैं जो विभिन्न समयों और परिस्थितियों में बँटी रहती है। इस प्रकार पूरे उपन्यास में जिस कहानी का विकास किया जाता है वही कथावस्तु होती है। पात्र और चरित्र-चित्रण में वे व्यक्ति आते हैं, जिनके सम्बन्ध में घटनाएँ हुआ करती हैं तथा घटनाओं से सम्बन्धित व्यक्तियों पर जो प्रभाव पड़ता है जिसमें उनके चरित्र का विकास सम्बन्धित होता है आदि विषयों का वर्णन पात्र और चरित्र-चित्रण में आता है। देशकाल में वे परिस्थितियाँ और वातावरण आते हैं जिनमें घटनाओं और पात्रों का विकास दिखाया जाता है। यदि ऐतिहासिक उपन्यास होता है तो घटना के समय का ध्यान रखना अपेक्षित होता है। देशकाल में वर्तमान समय के वातावरण का भी थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ता ही है। अतः देशकाल का समुचित ध्यान रखना उपन्यासकार के लिए आवश्यक होता है। उद्देश्य में यह भी देखना पड़ता है कि रचना का समाज में क्या महत्व होगा तथा उपन्यास को कितनी व्यापकता तथा स्थिरता प्राप्त होगी। इसी में ग्रन्थ की लोकप्रियता का भी ध्यान रखना पड़ता है। शैली में रचना का ढंग तथा लेखक की भाषा, भावाभिव्यक्ति की रीति आदि सम्मिलित होती है। इन्हीं तत्वों को दृष्टि में रखकर उपन्यास रचना की जाती है। उपन्यास के अनेक प्रकार के और भेद होते हैं—जैसे चरित्र-प्रधान, घटना-प्रधान, सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी, अय्यारी और जासूसी समस्यामूलक, पौराणिक और भाव प्रधान आदि।

कहानी—कहानी का मौलिक रूप मनुष्य की भाषण क्षमता के प्रारम्भ से ही चलता आ रहा है। फिर कहानी मनोरंजन का साधन बनने लगी। आगे चलकर वह शिक्षा का साधन बनी—जैसे **'पंचतन्त्र'** और **'हितोपदेश'** की कहानियाँ। तत्पश्चात् वह 'रानी केतकी की कहानी' या 'रानी सारंगा की कहानी' आदि के रूप में आई। फिर इसका कलात्मक विकास हुआ और इसे वर्तमान मनोवैज्ञानिक कहानियों का रूप मिला। कहानी के पाँच तत्व हैं—कथावस्तु, पात्र और चत्रिण-चित्रण, देशकाल, उद्देश्य और शैली। कुछ लोग कथोपकथन को भी इसका छठवाँ तत्व मानते हैं। कहानी उपन्यास की तरह अनेक प्रकार की होती है। इसका क्षेत्र वर्तमान युग में खूब विकसित हो रहा है।

निबन्ध—इनमें लघु कलेवर में किसी विषय पर लेखक के विचारों का लिखित और पूर्ण विवरण होता है। स्वाभाविक रूप से यह लम्बा नहीं हो सकता। वर्तमान निबन्ध मान्तेन के निबन्धों के आदर्श पर विकसित हुए हैं। इनका वर्तमान रूप वर्तमान युग की देन है। निबन्धकार अपने विशेष प्रकार की मनोदशा में किसी भी विषय पर चाहे वह गम्भीर हो या सामान्य, अपने विचारों को व्यक्त करता है। उनके विचार उसके व्यक्तित्व के प्रकाश में व्यक्त किये जाते हैं, जिसकी छाया उसके निबन्धों में किसी न किसी रूप में रहती है। अतः निबन्ध व्यक्तित्व प्रधान हुआ करते हैं। वह पाठक के मन को अपनी रचना में रमाये रखता है और एक विशेष प्रभाव के साथ अपना निबन्ध समाप्त करता है। अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति इसके अनेक भेद होते हैं। फिर भी सामान्य रूप से निबन्ध तीन प्रकार के होते हैं—वर्णनात्मक जिनमें लेखक किसी वस्तु या विषय पर अपने विचारों को व्यक्त करता है दूसरा कथात्मक जिनमें काल्पनिक

कहानियों, पौराणिक आख्यान, ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक आदि कहानियों का प्रयोग किया जाता है। तीसरा चिन्तनात्मक निबन्ध होता है। इस प्रकार के निबन्ध में लेखक अपनी भावना के अनुसार भावात्मक विषयों पर अपना विचार व्यक्त करता है। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक अपनी मनोदशा के आधार पर विचार और भावना का समन्वय करके पाठक के हृदय को द्रवीभूत करते हुए उसकी बुद्धि को प्रेरणा देता है या प्रेरित कर सकता है।

गद्य-काव्य—काव्यात्मक भाषा में गद्य-रचना को गद्य-काव्य कहा जाता है। इसमें भावों की प्रधानता होती है तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। गद्य-काव्य भी गीतों के समान छोटी और अपने में पूर्ण रचना होती है। लेखक के हृदय की भाव-धारा उसकी रचना में आद्योपांत प्रवाहित मिलती है।

आलोचना—यह भी गद्य का एक विशेष रूप है। आलोचक अपने विचारों को आलोच्य विषय की परीक्षा के परिणामस्वरूप व्यक्त करता है। वह आलोच्य रचना का विश्लेषणात्मक बुद्धि द्वारा निरीक्षण करता है तथा उसके सम्बन्ध में उसी के प्रकाश में अपने विचारों को अपनी आलोचना में रख देता है। आलोचना के भी कई प्रकार से पाठक और रचयिता के बीच में द्विभाषिया-जैसा कार्य करता तथा रचना का रहस्य समझने में पाठक की सहायता करता है।

इसी प्रकार के गद्य के अन्य रूप भी होते हैं जिनका परिचय पहले आ चुका है।

उपसंहार—आधुनिक युग गद्य का युग माना जाता है। जब तक साहित्य का सम्बन्ध शिक्षित वर्ग से ही विशेष रूप से रहा, तब तक पद्य का प्रचार-प्रसार खूब हुआ। उस युग में गद्य भी पद्य (कविता) के समान ही संवेदनशील तथा लययुक्त अलंकृत भाषा में लिखा जाता रहा। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने गद्य को गद्य-काव्य के नाम से सम्बोधित किया। सामान्य युग में भी गद्य-काव्य ही माना गया किन्तु यूरोपीय लोगों के औद्योगिक विकास के साथ गद्य का विकास बढ़ने लगा। सर्वसाधारण के उपयोग के लिए साधारण गद्य ही उपयुक्त होता है। भारत में यूरोप-निवासियों के आगमन के साथ ही गद्य का विकास प्रारम्भ हो गया। पहले तो साधारण रूप से यह प्रचारित हुआ, फिर साहित्यकारों की लेखनी से सँवारा जाने लगा। फलतः इसका क्षेत्र बढ़ने लगा। इस विकास के साथ ही उसमें कथा का संयोग भी होता गया। इस प्रकार से आज गद्य अपने विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है। आधुनिक युग में साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण रूप गद्य ही है। इसके विविध रूपों का विकास द्रुत गति से होता जा रहा है।

३४. अकविता अथवा नई कविता

हिन्दी साहित्य विविधताओं और नवीनताओं का भंडार है। उसमें अनेक वाद और कविता के अनेक रूप सामने आये हैं और आते चले जा रहे हैं। वर्तमान युग नई कविता का युग है। इसे कुछ लोगों ने अकविता के नाम से भी संबोधित किया है। अकविता के नाम देने का इसका मुख्य उद्देश्य सम्भवतः यह है कि वे किसी खेवे

के परम्परागत गुणों के दर्शन नहीं कर पाते। वास्तव में यह कोई उचित तरीका नहीं प्रतीत होता। जीवन की परिस्थितियों के बदलने के साथ जीवन से सम्बन्धित सभी बातें बदल जाती हैं। साहित्य अथवा काव्य जीवन का प्रतिबिम्ब है और इस कारण जीवन की परिस्थितियों में परिवर्तन होने के साथ-साथ उसके स्वरूप और उसकी विशेषताओं में भी परिवर्तन हो जाता है।

नई कविता और उसकी विशेषतायें—नई कविता में परम्परा और विद्रोह दोनों के स्वर सुनाई देते हैं। परम्परागत स्वरों में तो लोग कविता को अकविता की संज्ञा नहीं दे सकते, परन्तु जहाँ विद्रोह के स्वर सुनाई देते हैं वहाँ उसे अकविता की संज्ञा अवश्य दी जाती है। इस समय अधिकांश कवि छायावादी कविता के प्रति विद्रोह की पताका लहराये हुये हैं। वे काव्य की प्रचलित मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार प्रगतिवादियों से भी पृथक होकर प्रयोगवादियों ने नई कविता का विकास किया।

वर्तमान समय में प्रगतिवादी और प्रयोगवादी और इन दोनों विशेषताओं की परिधियों में न बँध जाने वाली कवितायें हो रही हैं और उनकी समीक्षा भी हो रही है। लक्ष्य यह है कि नई कविता अथवा अकविता विकास के पथ पर है। वह नये-नये रूपों में, नये-नये प्रतीकों और नये-नये उपमानों को लेकर सामने आ रही है। उसका स्वरूप भी स्थिर नहीं है। इसी कारण उसके सम्बन्ध में कोई निहित बात कह पाना सम्भव नहीं हो सका।

परम्पराओं के प्रति विद्रोह—आज सम्पूर्ण जीवन में परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का स्वर सुनाई देता है। यही बात साहित्य के क्षेत्र में भी देखने को मिलती है। नई कविता में प्राचीन परम्पराओं के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस कविता में केवल नकारात्मक तत्व ही विद्यमान है। इसमें निश्चित चेतना के भी दर्शन होते हैं। इसी चेतना से प्रेरित होकर अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कवियों ने कुछ नये साहित्य का सृजन किया है। इस साहित्य में नवीन परम्पराओं और भविष्य के प्रति अटल विश्वास के भी दर्शन होते हैं। इसी कारण इस कविता को यहाँ विरोध मिला है। वास्तव में इस कविता को तिरस्कार की भावनाओं से देखना सर्वथा अनुचित है और रूढ़िवादिता का परिचायक है वैसे हिन्दी साहित्य की यह परम्परा रही है कि जब कोई नई धारा सामने आयी है तो पहले उसे विरोध का सामना करना पड़ा। सबसे पहले जब छायावादी युग में कवियों ने अपनी रचनायें आरम्भ कीं तो इनका विरोध किया गया, वैसे ही आज देखने को मिल रहा है।

नई कविता में प्राचीन साहित्यिक मान्यताओं, नई धारणाओं और सामाजिक परम्पराओं के प्रति विद्रोह के भाव प्रबल रूप से दिखाई देते हैं। यह स्वाभाविक भी है। नई कविता के क्षेत्र में अधिकांश कवि नई पीढ़ी के हैं। उन्होंने परम्पराओं की गिरती हुई दीवारों को देखा है और वे एक नई सृष्टि की रचना की लालसा से प्रेरित हैं और इस कारण उनका विद्रोही होना स्वाभाविक है।

नई कविता नई राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की उपज है। आज केवल भारत की सीमा के अन्दर हम बँधे नहीं रह गये हैं। हमारे सारे

क्रियाकलाप अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष में होते हैं। ऐसी स्थिति में हमारी दृष्टि व्यापक हो गई है। सामाजिक उत्तरदायित्व भी हमारे ऊपर आ गये है। समाज कल्याण के विषय में नया दृष्टिकोण भी हमें देखने को मिलता है। इसके साथ ही साथ वर्ग संघर्ष की भावनाओं के दर्शन होते हैं। युवकों की आशाओं की परिपूर्ति के कारण कुंठाओं की निराशा (Frustration) के दर्शन होते हैं। मनोविज्ञान, समाजवादी विचार दर्शन और ऐसी ही अनेक बातों का प्रभाव मध्यम वर्ग के शिक्षित युवकों पर देखने को मिलता है। विदेशी साहित्य के अध्ययन का प्रभाव भी इस युग के नवयुवकों पर है। दूसरी ओर मध्यम वर्ग की अपनी स्थिति बड़ी ही डाँवाडोल है। एक ओर तो वह नई-नई उन्नति कर रहा है, दूसरी ओर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती। इन सबका परिणाम कुण्ठाओं के रूप में उत्पन्न होता है। इसलिए समाज और प्रकृति के प्रति भी लोगों का दृष्टिकोण बदल रहा है। अन्तरिक्ष में मानव की विजय ने मानव सभ्यता का एक नया अध्याय खोल दिया है। भावुकता का ह्रास हो रहा है और बौद्धिकता का विकास हो रहा है। देश में एक नये वर्ण का उदय हो रहा है। इस सबका प्रभाव साहित्य और कला के क्षेत्र में भी है। जहाँ कला और साहित्य एक ओर धरती के अधिक समीप आ गई है वहाँ उसमें मध्यम वर्ग की कुण्ठाओं के भी दर्शन होते हैं।

नई कविता जहाँ एक ओर इन सभी बातों और भावनाओं से प्रेरित और प्रभावित है, वहाँ उसमें मौलिकता भी विद्यमान है।

नई कविता का स्वरूप—आज, सच बात तो यह है कि नई कविता का स्वरूप पूरी तरह से स्थिर नहीं हो पाया है! उसकी विषयवस्तु और आत्मबल निश्चित नहीं हैं। किन्तु इतना अवश्य है कि यह कविता संघर्ष करके ही आगे बढ़ सकती है। इसके विषय में निम्नलिखित बातें दृष्टव्य हैं :—

(१) नई कविता की विषय-वस्तु, उसकी आत्मा और उसकी सामग्री यह मान कर आगे चलती है कि हमारा युग संघर्ष का युग है और वह अत्यधिक आधुनिक है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें आधुनिकता का भाव बोध है।

(२) नई कविता ने अपनी आत्मा अथवा विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए ऐसे प्रतीकों और उपमानों, बिम्बों और सिद्धान्तों को अपनाया है जो यथार्थ जीवन की उपज हैं और उनका सीधा सम्बन्ध सम्पूर्ण वैयक्तिक जीवन और भाव स्तर से है। इसी कारण वह सर्वथा नई प्रतीत होती है और कभी-कभी उनके समझने में दुरूहता आ जाती है।

(३) इस नई कविता अथवा अकविता का पूर्ण विश्वास मानव के प्रति है। मानव को ही वह केन्द्र मानकर चलती है।

(४) इस कविता में मनोवैज्ञानिक स्थिति को स्वीकार किया गया है, जिसमें होकर पिछले २० वर्ष में मानव ने विकास किया।

(५) इस कविता में छोटे को महत्व दिया जाता है जिसको हम सामान्य रूप से अनाश्वयक और महत्वहीन समझकर त्याग दिया करते हैं।

(६) इस कविता में कला अथवा बाह्य श्रृंगार की अपेक्षा सत्य को अधिक महत्व दिया जाता है।

अकविता को साहित्यिक पृष्ठभूमि और परिप्रेक्ष की नवीनता—अकविता जहाँ एक ओर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को साथ लिये हुए है वहाँ दूसरी ओर वह परिप्रेक्ष की नवीनता को भी हमारे सामने लाकर रख देती है। वास्तव में, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, नवीन कविता नवीन संस्कृति, चेतना, सामाजिक मान्यताओं और नवीन भावनाओं की देन है। उसमें यथार्थ की परिधि को स्वीकार तो किया गया है किन्तु उसमें अतिवादिता का अभाव है। इसके साथ ही साथ उसमें सौन्दर्यबोध की गहराई भी है। दृष्टि से निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :—

"सारांश यह है कि नई कविता सौन्दर्यबोध को उस गहराई की अभिव्यक्ति है, जिसमें वस्तु, भाव, सत्य और अनुभव सत्य की लय (tune) में सम्पर्कात्मिक स्वाभाविकता एवम् सहजता है। आज जीवन का नया अनुभव उन दिशाओं को स्थापित करता है जिनके बदलते हुये संदर्भ के साथ नये मूल्यों की स्थापना की जा सके।"

—नई कविता के प्रतिमान, लक्ष्मीकान्त वर्मा

मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि—नई कविता अथवा अकविता का सही मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक है कि हम उसकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को भी समझ लें। आज का मानव जीवन की विषम परिस्थितियों के आघात से जर्जर है। उसका जीवन अनेक कुण्ठाओं और दुर्बलताओं का शिकार है। इन सबका प्रभाव हमें नई कविता में देखने को मिलता है। इसके साथ ही वह अहम् को भी सँजोये हुए है। इस बात की अभिव्यक्ति अज्ञेय जी की निम्नलिखित पंक्तियों में बहुत ही सुन्दर ढंग से होती है :—

संसृतियों की संस्कृतियों की
तोड़ सभ्यता की चट्टानें,
नई व्यंजना का सोता बस
इसी तरह से बह सकता है। **—अज्ञेय 'नई व्यंजना'**

वह आगे भी कुछ ऐसी बात कहते हैं—

रहने दो वह नहीं तुम्हारा
केवल अपना हो सकता जो
मानव के प्रति अहम् में
सामाजिक अभिव्यक्ति पा चुका।

नवीन मानव में जहाँ अहम् का स्वरूप देखने को मिला है वहीं दूसरी ओर आत्म-विश्वास और निष्ठा के भी दर्शन होते हैं। वह जानता है कि आज का युग वास्तव में एक टूटती हुई व्यवस्था का युग है। उसकी अनेक सीमाएँ हैं। इन सीमाओं को जानते हुए वह कह उठता है—

मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय
बड़े-बड़े महारथी

अपने-अपने पक्ष को असत्य जानते हुये भी
निहत्थी अकेली आवाज को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं रथ का टूटा पहिया
उसके हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ।— 'भारती'

भावदोष के स्तर और सौंदर्य-बोध के नए तत्व—परिप्रेक्ष में नवीनता के साथ नई कविता अथवा अकविता में भावबोध और सौन्दर्य-बोध के नये तत्व का समावेश हो रहा है। इस नये भावबोध के अन्तर्गत जीवन के कटु और यथार्थ सत्य और उसके साथ-साथ शिव का भी समावेश किया गया है। इसी के कारण इस कविता में नये विषयों का समावेश हुआ है। इन विषयों के अन्तर्गत जीवन संघर्ष, जीवन की नई मान्यतायें, जीवन के नये तत्व आदि समाविष्ट हुये हैं। अत: यह कहा जाय कि भाव-तत्व के नवीनताओं के जनक महाकवि 'निराला' हैं तो यह अत्युक्ति न होगी। उन्होंने कुकुरमुत्ता शीर्षक के अन्तर्गत जिस कविता की अर्चना की है सम्भवतः यह आगे चलकर नई कविता अथवा अकविता के रूप में विकसित और प्रफुल्लित हुई, इसी बात को कुछ लोग प्रयोगवाद अथवा नया प्रयोग कहते हैं। इसमें कुछ तथ्य भी है। इस नये भावबोध में वर्जनाओं को स्वीकार नहीं किया गया है और स्पष्टवादिता को विशेषरूप से स्थान दिया गया है। इस खेवे के कवियों ने इस प्रकाश में अन्य को देखने का प्रयास किया है। इस सत्य दर्शन में मनोवैज्ञानिक दृष्टि के साथ-साथ बौद्धिकता भी है।

आज यथार्थवाद और मानवीय स्तर हमें नई कविता के भावबोध के अन्तर्गत देखने को मिलता है। उसी के दर्शन हमें इस कविता के सौन्दर्यबोध के संदर्भ में भी होते हैं। इस खेवे के कवियों ने जीवन को केवल सुन्दर ही नहीं देखा है उसके खोखलेपन और उसकी दुर्बलताओं का चित्रण भी उन्होंने अपनी कविता में किया है। इन कवियों ने सौन्दर्य को जीवन के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। वास्तव में इस नई कविता में सौन्दर्य सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर हुआ है।

यथार्थ के नए धरातल—इस नई कविता अथवा अकविता में हमें यथार्थ के नये धरातल के भी दर्शन होते हैं। ये कवि इस बात को स्वीकार नहीं करते कि यथार्थ के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण प्रगतिवादी कवियों का चला आ रहा है, वही सच्चा दृष्टिकोण है। वह यह भी मानते हैं कि उसमें भी परिवर्तन होना चाहिए। इसका एक नमूना देख लीजिए :—

शायद कल
टूटी बैसाखी पर चलकर
फिर मेरा खोया प्यार
वापस लौट आये
शायद कल
प्रकाश-स्तम्भों से टकराकर

फिर मेरी अन्धी आस्था
कोई गीत गाये
किसी के कन्धों पर या चढ़कर
फिर मेरा बौना अहम्
विवश हाथ फैलाये।
तजो
इस सूखी रागों में तजो,
ओ काठ की घंटियां तजो।

नई कविता के प्रतिमान—इस नई कविता में हमें नये प्रतिमानों के दर्शन होते हैं और उनमें सबसे महत्वपूर्ण है मानव विशिष्टता एवं आत्मविश्वास का आधार इस क्षेत्र के कवि मानव को एक विशेष महत्व देते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि उसके नये रूप के साथ ही सभ्यता का नया रूप भी निखरेगा। इन कवियों में आत्म-विश्वास के स्वर बड़े ही प्रबल रूप में मुखर हुये हैं। एक उदाहरण देख लीजिए :—

मेरे अहम् की मीनार की ही नींव में
एक पत्थर हिचकियाँ ले रहा
एक हिचकी
प्रतिध्वनित हो चाहती इतिहास होना
आह, ऊँचा गगन
औ, नीच का पाताल, आँसू की नदी में।

नई कविता और नये गीत काव्य अथवा अगीत—नई कविता परम्परागत प्राचीन छन्दों का परित्याग कर चुकी है। अब जो गीत सामने आ रहे हैं उनमें तुक का अभाव है। इन गीतों में भाव प्राधान्य है। अतुकान्त छन्दों के माध्यम से अथवा मुक्त छन्दों के द्वारा भावधारा का प्रवेश किया गया है। कोमल कामिनी और रम्य कल्पनायें उनमें अधिक मुखर हैं। प्राचीन तुकान्त शब्दों में न होने के कारण ही सम्भवतः इस युग की कविता को अकविता अथवा अगीत का नाम दिया जाता है।

प्राचीन छन्दों के परित्याग के साथ-साथ इन कवियों ने प्रेम के नये दृष्टिकोण को भी अपनाया है। नई भावभूमि और नये दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए इन लोगों ने नये प्रतीकों और बिम्बों को ग्रहण किया है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सत्य ने जो नया स्वरूप धारण किया वही आगे चलकर विकसित होता चला आ रहा है। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, हंसकुमार तिवारी, नागार्जुन, गजानन माधव मुक्ति-बोध, भारतभूषण अग्रवाल, नरेन्द्रकुमार मेहता, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, अजितकुमार, कुँवरनारायण आदि इस नये खेवे अथवा कविता के प्रमुख कवि हैं। इन कवियों ने हमारी कविता को नई दिशा दी है। यह नई दिशा नये जीवन दर्शन से प्रेरित। इसका वास्तविक स्वरूप क्या होगा, यह भविष्य ही बता सकता है। भवानी प्रसाद मिश्र की निम्नलिखित कविता इसके भविष्य की ओर संकेत करती है—

बूंद टपकी एक नभ से
किसी ने झुक कर झरोखों से
कि जैसे हँस दिया हो,
हँस रही सी आँख ने जैसे
किसी को कस दिया हो,
ठगा सा कोई किसी की आँख
देखे रह गया हो,
इस बहुत से रूप को, रोमांच रोके
सह गया हो ।

३५. हिन्दी रेखाचित्र का विकास

१—भूमिका और परिभाषा, २—उद्भव और विकास, ३—हिन्दी रेखाचित्र का विकास, ५—हिन्दी रेखाचित्र साहित्य का उत्कर्ष, ६—रेखाचित्रों का वर्गीकरण ७—उपसंहार ।

भूमिका और परिभाषा—हिन्दी गद्य की नवीनतम विधाओं में रेखाचित्र-लेखन का महत्वपूर्ण स्थान बन गया है । आधुनिक जीवन की परिस्थिति एवं व्यस्तता ने साहित्यकारों को इस नवीन विधा को अपनाने की प्रेरणा दी ।

रेखाचित्र को कथा-साहित्य का ही अंग माना जाएगा । परन्तु रेखाचित्र कहानी की अपेक्षा एक ठोस और यथार्थवादी भूमि पर निर्मित होता है । उसमें कल्पना का आश्रय कम लिया जाता है ।

रेखाचित्र, शब्द का प्रयोग हिन्दी में रेखाओं से बनाए हुए चित्र के लिए होता है । गुजराती में रेखाचित्र को 'नख-चित्र' और मलयालम में 'तूलिका-चित्र' कहते हैं ।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने रेखाचित्र के स्वरूप की व्याख्या इन शब्दों में की है—"रेखाचित्र शब्द का जन्म और अर्थ विस्तार चित्रकला के क्षेत्र में हुआ है, जहाँ कुछ रेखाओं में अंकित चित्र द्वारा हमें रंग और छायालोक से रहित किसी वस्तु या व्यक्ति की, उसे दूसरों से भिन्न करने वाली विशेषताओं का प्रत्यभिज्ञान प्राप्त होता है ।"

'लेखन में जब यह विधा अपनाई गई तब संक्षिप्तता में विशिष्ट चित्रण शब्दों के माध्यम से प्राप्त होने लगा । वस्तुतः काव्य, कथा साहित्य की अन्य विधाओं में रूप, प्रकृति, परिवेश आदि के वर्णन में रेखांकन का उपयोग होता ही रहा है, किन्तु रेखाचित्र के स्वतन्त्र अस्तित्व विधान का श्रेय आधुनिक युग को ही दिया जायगा ।....

"बाह्य जगत की संघटक सभी जड़ चेतन आकृतियों में कुछ ऐसी मूलभूत

रेखाएँ हैं जिनके कारण एक रूपवर्ग अन्य रूपवर्गों ने भिन्न है और कुछ ऐसी हैं, जो एक रूपवर्ग की वस्तुओं या व्यक्तियों को भी परस्पर भिन्न कर देती हैं। जैसे मनुष्य, वृक्ष, पक्षी आदि को भिन्न करने वाली रेखाएं भी हैं और व्यक्ति विशेष को अन्य मनुष्यों से, वट को अन्य वृक्षों से, कोकिल को अन्य पक्षियों से भिन्न करने वाली। भी रंग, आलोक-छाया से युक्त चित्र में यह रेखांकन उसके मूलाधार की स्थिति रखता है, किन्तु रेखाचित्र में वह व्यक्ति या वस्तु विशेष की, अन्य व्यक्तियों या वस्तुओं से भिन्न करने वाली विशेष रेखाओं से आकृतिबद्ध करके स्वतन्त्र-रूप से उपस्थित करता है,

"रेखाचित्र इस अतीत को भी आँक सकते हैं और वर्तमान में उपस्थित किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना को भी। यदि हमारे ज्ञात मन में भविष्य का कोई स्वप्न बहुत स्पष्ट हो तो उसका रेखाँकन भी संभव है।"

पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने रेखाचित्र की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। चार्ल्स डिकेन्स ने प्रथम बार आधुनिक रेखाचित्रों की रचना की थी। एक अंग्रेजी विद्वान ने रेखाचित्र की परिभाषा इस प्रकार की है—"रेखाचित्र कहानी, नाटक या निबन्ध आदि विधाओं का अल्प विकसित रूप है, जिसमें इन विधाओं की विशेषताएँ नहीं होतीं। इसके अत्यन्त सामान्य प्रकारों में चरित्र प्रधान रेखाचित्र, किसी आकर्षक व्यक्तित्व का लघु विवरण, सामयिक घटनाओं के विद्रूपात्मक चित्रण से विश्रृंखल, नाटक के लिए रचित रेखाचित्र प्रवृत्ति या घटना विद्रूपात्मक चित्रण करने वाली सामान्य नाटिका गृहीत है।"

एक अन्य आलोचक विद्वान ने कहा है—"किसी एक दृश्य, चरित्र या घटना को प्रस्तुत करने वाली सरल और सुगठित लघु रचना को रेखाचित्र माना गया है। इसकी सरलता के कारण इसमें कथानक अथवा चरित्र-चित्रण विस्तुत नहीं होता। रेखाचित्र से किसी ऐसी रचना का आशय होता है, जिसमें चरित्र अथवा वर्णन का प्राधान्य हो।

उद्भव और विकास—रेखाचित्र की विधा का आरम्भ सत्रहवीं शती में माना जाता है। वस्तुतः यह विधा योरुप में जन्म लेकर वहीं विकसित हुई और अब हिन्दी में भी प्रचलित हो गई है। प्रारंभ में योरप में जिन लेखकों ने रेखाचित्र का सृजन किया, उनमें उल्लेखनीय हैं थियोफ्रेस्टस, जोसेफ हाल, ओवरवरी-जान अर्थ, टामसफुलर, जार्ज हर्बर्ट, चार्ल्स डिकेन्स, प्रिंस क्रोपाटकिन, आदि। आधुनिक युग के विदेशी रेखाचित्रकारों में ए० जी० गार्डिनर का नाम महत्वपूर्ण है। गार्डिनर के रेखाचित्र एक नई प्रणाली के द्योतक हैं। अपने क्षेत्र के वे अद्वितीय कलाकार हैं।

हिन्दी रेखाचित्र का विकास—बीसवीं शताब्दी के गद्य में लिखे जाने वाले रेखाचित्रों पर पश्चिमी प्रभाव स्पष्ट रूप से है।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में 'सरस्वती' के प्रकाशन के पश्चात् हिन्दी की लगभग सभी विधाओं ने समुचित उन्नति की। प्रारम्भ में रेखाचित्रों के प्रकाशन का श्रेय भी सरस्वती को ही है। द्विवेदी युग में प्रमुख रेखाचित्रकार पं० पद्मसिंह शर्मा का नाम आता है। आपके रेखाचित्रों का संग्रह 'पद्म पराग' नाम से प्रकाशित हुआ था जिसमें संस्मरणात्मक निबन्धों, रेखाचित्रों और व्यक्तिगत निबन्धों का संग्रह है।

हिन्दी के प्रारम्भिक रेखाचित्रकारों में दूसरा नाम श्री श्रीराम शर्मा का आता है। आप के रेखाचित्रों का पहला संग्रह 'बोलती प्रतिमा' नाम से सन् १९२७ में प्रकाशित हुआ था। शर्मा जी के रचनाकाल के साथ-साथ पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने रेखाचित्रों का सृजन करके इस विधा को बहुत प्रचलित किया। लेकिन इसी काल में रेखाचित्रों की रचना करके रेखाचित्रों को साहित्य में पूर्णतया उचित स्थान दिलाने **का श्रेय श्री रामवृक्ष बेनीपुरी को** है। **'माटी की मूरतें'** आप का सर्वश्रेष्ठ और बहुचर्चित तथा बहुप्रशंसित रेखाचित्रों का संग्रह है। बेनीपुरी जी शब्दशिल्पी थे और चमत्कारी शैली के जादूगर लेखक थे। आप के शब्दचित्र साहित्य में अमर हो गये हैं। हिन्दी में रेखाचित्र को प्रतिष्ठित करने का श्रेय बेनीपुरी जी को ही है।

रेखाचित्रों के क्षेत्र में अपनी अनोखी भाषा व शैली तथा तरुण पात्रों के लिए **कवियित्री महादेवी वर्मा** का उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण स्थान है। आप के प्रसिद्ध रेखाचित्रों को आपकी दो प्रसिद्ध कृतियों—अतीत के चलचित्र और स्मृति की रेखाओं में देखा जा सकता है। आप के संस्मरणात्मक रेखाचित्रों का संग्रह 'पथ के साथी' को अपनी रोचकता, अनूठेपन और सप्रमाणता के लिए आदर्श माना गया है।

रेखाचित्रों की महत्ता को बढ़ाने में १९३९ में प्रकाशित 'हंस' का रेखाचित्रांक अपने आप में एक महान् कृति सिद्ध हुआ है। इस विशेषांक में भारत की सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रेखाचित्र प्रकाशित हुए हैं। इसी परम्परा में सन् १९४६ में 'मधुकर' का रेखाचित्रांक भी प्रकाशित हुआ और अनेक सशक्त रेखाचित्रों के प्रकाशन में सफल हुआ।

शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, सियारामशरण गुप्त आदि ने भी अच्छे रेखाचित्रों से हिन्दी का भण्डार भरा है।

हिन्दी रेखाचित्र-साहित्य का उत्कर्ष—रेखाचित्र साहित्य के उत्कर्ष काल में सर्वप्रथम नाम श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का आता है।

रेखाचित्र जो कहानी के आकार-प्रकार के कारण कहानी के निकट माने जाते थे उन्हें उपन्यास के आकार में ढालने का श्रेय **महाकवि पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'** को है। 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' नामक आप के दो लम्बे रेखाचित्र उपन्यास के आकार के हैं जिन्हें हिन्दी के आलोचक उपन्यास की श्रेणी में ही रखते हैं पर वस्तुतः वे बड़े आकार के श्रेष्ठ रेखाचित्र ही हैं। यों निराला जी ने 'चतुरी-चमार' जैसे अनूठे रेखाचित्र भी लिखे हैं जो अपनी भाषा, चित्रण और सजीवता के लिए उदाहरण बन गए हैं।

श्रीमती सत्यवती मलिक, आचार्य शिवपूजनसहाय, विनोदशंकर व्यास, रायकृष्ण दास, भदन्त आनन्द कौशल्यायन, विष्णु प्रभाकर, जगदीशचन्द्र माथुर, अमृतराय, **ओंकार शरद,** यशपाल जैन, आदि लेखकों ने नवीनतम दृष्टिकोण से रोचक रेखाचित्रों का सृजन किया। इधर के प्रमुख रेखाचित्रकारों में **श्री ओंकार शरद** का नाम उल्लेखनीय है जिनके रेखाचित्रों के प्रसिद्ध दो संग्रह 'लंका महराजिन' और

'खाँ साहब' नाम से प्रकाशित होकर अत्यधिक प्रशंसा के अधिकारी बने हैं। **शरद जी के रेखाचित्रों की तुलना बेनीपुरी जी के रेखाचित्रों से की जा सकती है।**

रेखाचित्रों का वर्गीकरण—इधर रेखाचित्रों की लोकप्रियता बढ़ने के कारण हिन्दी के आलोचकों का ध्यान इस ओर गया है तथा रेखाचित्रों को अभिव्यक्ति की गद्य-रूप में प्रमुख विधा माना जाने लगा है। आधुनिक आलोचकों ने अब रेखाचित्रों की विधा में वर्गीकरण भी किया है, जिनमें निम्न वर्गीकरण प्रचलित हो रहे हैं—

१—ऐतिहासिक, २—मनोवैज्ञानिक ३—तथ्य या घटना-प्रधान, ४—वातावरण प्रधान, ५—प्रभाववादी, प्रतीकवादी, ६—हास्य-व्यंग्य प्रधान, ७—व्यक्ति प्रधान और ८—आत्मपरक।

उपसंहार—हिन्दी में रेखाचित्र को स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। जो किसी अन्य विधा के मुकाबले अधिक ठोस और यथार्थवादी भूमि पर निर्मित होता है। आज हिन्दी में एक सौ से अधिक लेखक इस विधा में सशक्त रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं। और यह सहज ही माना जा सकता है कि हिन्दी में रेखाचित्र-लेखन का भविष्य उज्ज्वल है।

३६. हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास

१—हिन्दी पत्रकारिता का विकास, २—प्रारम्भिक पत्र-पत्रिकाएँ, ३—उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी-पत्र, ४—भारतेन्दु का योगदान, ५—सरस्वती का प्रकाशन, आजकल की पत्र-पत्रिकाएँ।

हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। हिन्दी समाचार-पत्र 'उदन्त मार्त्तण्ड' ३० मई १८२६ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार लगभग डेढ़-सौ वर्षों की यह प्रगति है। यद्यपि आज की हिन्दी पत्रकारिता काफी विकसित है और भारत के राजनीतिक उत्थान के साथ ही इसका भी उत्थान हुआ है फिर भी आज की स्थिति तक पहुँचने में हिन्दी पत्रकारिता को बहुत दुर्गम पथ पार करना पड़ा है।

हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्त मार्त्तण्ड' हर मंगलवार को कलकत्ते के कोल्हूटोला की अमढ़ातला गली की ३७ नम्बर हवेली में स्थित मार्त्तण्ड प्रेस से निकलता था। वस्तुतः वह साप्ताहिक पत्र था। इस पत्र का आकार लगभग २० अंगुल लम्बा और १३ अंगुल चौड़ा था इसके संपादक थे श्री युगुलकिशोर सुकुल। यह पत्र केवल एक वर्ष सात महीने तक निकलकर बन्द हो गया।

इस पत्र के प्रकाशन का भी अपना एक इतिहास है। ११ मार्च १९२६ की बंगला-पत्रिका 'समाचार-चन्द्रिका' में 'नागरी नूतन समाचार-पत्र' शीर्षक से इस पत्र के प्रकाशन की सूचना विज्ञापित हुई थी। इस पत्र का प्रकाशन यद्यपि अल्पकालीन रहा फिर भी इसका ऐतिहासिक महत्व तो है ही। 'उदन्त मार्त्तण्ड' के अंक का मूल्य आठ आना था। उस समय कलकत्ता से ही प्रकाशित फारसी भाषा में 'जामे जहाँमा' और बँगला भाषा में 'समाचार-दर्पण' का प्रकाशन होता था और इन दोनों को ही

सरकारी सहायता मिलती थी। परन्तु हिन्दी भाषा और नागरी लिपि में प्रकाशित प्रथम साप्ताहिक-समाचार पत्र के प्रकाशन का सरकार ने स्वागत न किया अत: सहायता देने का प्रश्न ही कहाँ उठता था। सरकारी सहायता के अभाव और कलकत्ता की हिन्दी भाषी जनता की उदासीनता ने 'उदन्त मार्त्तण्ड' को बाल-मृत्यु के लिये विवश किया। न किसी लक्ष्मीपति ने उसे सहारा दिया न कलकत्ते की हिन्दी भाषा जनता ही उसे दो रुपया महीना देने को तत्पर हुई। अत: ११ दिसम्बर १९२७ को 'उदन्त मार्त्तण्ड' का प्रकाशन समाप्त हो गया। अन्तिम अंक में एक दोहा भी प्रकाशित हुआ था जो इस प्रकार है—

आज दिवस लौं उग चुक्यौ मार्त्तण्ड उद्दन्त,
अस्ताचल को जात है दिनकर दिन अब अन्त।

इसी अंतिम अंक में सम्पादक की ओर से पाठकों के लिए लिखा गया था—इस उदंत मार्त्तण्ड के नाम पड़ने के पहिले पछाहियों के चित्त का कागज न होने से हमारे मनोर्थ सफल होने में बड़ा उतसाह था। इसलिए लोग हमारे बिन कहे भी इस कागज की सही की बही पर सही करते गये पै हमें पूछिये तो इनकी मायावी दया से सरकार अँग्रेज कम्पनी महा प्रतापी की कृपा कटाक्ष जैसे औरों पर पड़ी, वैसे पड़ जाने की बढ़ी आशा थी और मैंने इस विषय में उपाय यथोचित किया पै करम की रेख कौन मेटै ? तिसपर भी सही की बही देख जी सुखी होता रहा।....अपने व्यवसायी भाइयों से मन की बात बताय विदा होते हैं। हमारे कुछ कहे सुने का मन में न लाइयो। जो देव और भूधर मेरी अन्तर व्यथा और इस गुण का विचार सुधि करेंगे वे मेरे ही हैं। शुभमिति।'

इस प्रकार आर्थिक कठिनाइयों के कारण 'उदन्त मार्त्तण्ड' बन्द हो गया। यद्यपि आज भी हिन्दी पत्रों की आर्थिक स्थिति बहुत सुदृढ़ नहीं है, फिर भी पहले से जन-सहयोग तो अधिक मिल ही जाता है।

'उदन्त मार्त्तण्ड' के समाप्त होने के बाद राजा राममोहन राय ने चार भाषाओं में पत्र निकालने का प्रयत्न किया। अँग्रेजी में 'हिन्दू हेरल्ड' नाम का पत्र निकला और बँगला, फारसी तथा हिन्दी के पेजों का नाम हुआ बंगदूत। हिन्दी बंगदूत आठ पृष्ठों का अठपेजी साइज का पत्र था इसके प्रथम सम्पादक श्री नील रतन हालदार और इसका पहला अंक १० मई १८३२ को कलकत्ता के बाँसतल्ला गली स्थित हिन्दू-हेरल्ड प्रेस से प्रकाशित हुआ था। यह हर रविवार को प्रकाशित होता था। इस पत्र का उद्देश्य था—

'भारतखण्ड को ठकुरई और राजनीति और बनज बैपार और विद्या-अभ्यास के प्रकार और सब देश के समाचार और देशान्तरनि की विद्या और मुधरता के प्रसंगनि के शस्त्रार्थयुक्त यह समाचार-पत्र बंगला और काम पड़े तो फारसी और हिन्दी भाषा में भी प्रति सतबारे छपेगा जिस करके बहुत भान्ति के प्रयोजन के मूल संजीव होने की सम्भावना है। अधिक कर के इस देश की अरघौती, इस देश और पछाहीं बैपारी का उपकार विचार नगर कलकत्ते की बड़ी बजार के आवते बानों की अरघौती बाजार भाव बंगले और देवनागर अक्षरों में छपेगी, जिस उपलक्ष में बैपारी लोग अपने

गौं के बाने का भाव समय पर जान सुचित हो लेने-बेचने का जाँच-विचार कर अपने-अपने धंधे की घटी से बच कर बढ़ी के भागी हुआ करें।'

'बंगदूत' में प्रकाशित हिन्दी भाषा का एक नमूना इस प्रकार है—

'जो सब ब्राह्मण साङ्‌वेद अध्ययन नहीं करने से सब ब्रात्य हैं यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण-धर्म-परायण श्री सुब्रह्मणय शास्त्री ने जो पत्र (प्रश्न १) सांगवेदाध्ययनहीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप उठाया (पठाया ?) है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययनहीन मनुष्यों के स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।'

बंगदेश से प्रकाशित बंगला भाषा से प्रभावित समाचार-पत्र 'बंगदूत' का भी हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में विकास का बड़ा सहयोग रहा है।

१८४५ में काशी से 'बनारस अखबार' नामक समाचार-पत्र प्रकाशित हुआ जो हिन्दी क्षेत्र से प्रकाशित हिन्दी का प्रथम अखबार था।

'बनारस अखबार' के सम्पादक थे मराठी भाषा-भाषी श्रीमान गोविन्द रघुनाथ थत्ते और इसके संचालक थे सुप्रसिद्ध राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'। वे 'हिन्दुस्तानी' के प्रबल पक्षपाती थे और इसी भाषा का प्रयोग 'बनारस अखबार' में होता था—लिपि देवनागरी थी। उसका आदर्श वाक्य था—

सुबनारस अखबार यह शिवप्रसाद आधार,
बुधि विवेकजन रिपुन को चितहित बारम्बार।
गिरजापति नगरी जहाँ गंग अमल जलधार,
नेत शुभाशुभ मुकुर को, लखो विचार विचार।

'बनारस अखबार' की भाषा का एक नमूना यह है—'यहाँ जो पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है। अब वह मकान एक आलीशान बनने का निशान तैयार हर चेहार तरफ से हो गया बल्कि नकशे का बयान पहिले मुन्दर्ज है, सो परमेश्वर की दया से साहब बहादुर ने बड़ी तन्देही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है।'

'बनारस अखबार' के प्रकाशन के एक वर्ष बाद ११ जून १८४६ को इण्डियन सन प्रेस कलकत्ता से 'मार्त्तण्ड' नामक एक दूसरा साप्ताहिक पत्र पाँच भाषाओं में प्रकाशित हुआ। पाँच भाषाओं में यह पत्र दस पृष्ठों पर निकलता था। प्रत्येक पृष्ठ में पाँच कालम होते थे। बायीं ओर हिन्दी और फारसी तथा दाहिनी ओर बंगला और उर्दू तथा बीच के कालम में अंग्रेजी की छपाई होती थी। इस प्रकार इस पत्र के एक पृष्ठ पर पाँच-पाँच लिपियाँ होती थीं। अंग्रेजी में इसका नाम था—'इंडियन सन' और हिन्दी में 'मार्त्तण्ड'। इसके सम्पादक थे मौलाना नासिरुद्दीन।

इसी वर्ष में 'ज्ञानद्वीप' नाम का एक और पत्र निकला था। इसके सम्पादक का ठीक-ठीक नाम नहीं मालूम।

१८४८ में इन्दौर से पं० प्रेमनारायण ने एक पत्र का प्रकाशन शुरू किया जिसका नाम था—'मालवा अखबार'। यह भी आठ पृष्ठों का साप्ताहिक समाचार-

पत्र था और इसका आकार डबलक्राउन की अठपेजी से थोड़ा बड़ा था। इसका वार्षिक मूल्य सिर्फ बारह था।

सन् १८४६ में कलकत्ता से 'जगद्दीपक भास्कर' नाम का एक पत्र प्रकाशित हुआ था। इस पत्र की भाषा हिन्दी और बंगला दोनों थी।

१८५० में 'उदंत मार्त्तण्ड' के सम्पादक पं० युगुल किशोर सुकुल ने २३ वर्ष के विराग के बाद एक और पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया। इसका नाम था 'सामदंड मार्त्तण्ड'।

१८५० में काशी से 'सुधाकर' नामक पत्र का प्रकाशन शुरू हुआ। इसको श्री तारामोहन मित्र एक बंगाली सज्जन ने प्रकाशित किया था। पहले यह पत्र हिन्दी और बंगला दोनों ही भाषाओं में छपता था पर तीन वर्ष बाद बँगला में इसका प्रकाशन बन्द हो गया और केवल हिन्दी में प्रकाशित होता रहा।

१८५२ में आगरा से लाला सदासुखलाल के सम्पादन में 'बुद्धि प्रकाश' नाम का एक पत्र प्रकाशित हुआ। इस पत्र में जो हिन्दी भाषा लिखी जाती थी वह पहले के पत्रों की भाषा से बहुत उन्नत और सरल होती थी। एक उदाहरण यह है—

'इस पश्चिमी देश में बहुतों को प्रकट है कि बँगाले की रीत अनुसार उस देश के लोग आसन्न मृत्यु रोगी को गंगातट पर ले आते हैं और यह तो नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिए उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा में रखें वरन् उसके विपरीत रोगी को जल के तट पर पानी में गोते देते हैं और 'हरी बोल' 'हरी बोल' कह कर उसका जीव लेते हैं।'

इसी १८५२ में भरतपुर दरबार की ओर से हिन्दी और उर्दू में एक मासिक पत्र निकाला गया जिसका नाम था 'मजहरुल सरूर'। पत्र उर्दू जबान में तथा नागरी लिपि में था।

१८५३ में ग्वालियर राज्य से, 'ग्वालियर गजट' का प्रकाशन हुआ। इस पत्र के संबंध में प्रसिद्ध लेखक श्री बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है—

'यह पत्र जन्म-काल से एक कालम हिन्दी और एक कालम उर्दू में बराबर निकलता आया है·················भारतवर्ष में उस समय नई रोशनी फैलने लगी थी। अखबारों की भी चर्चा फैली। दिल्ली भाषा के जो दो एक पत्र निकलते थे उनका बड़ा आदर था·······हिन्दी भाषा में अखबार निकालने वालों की उस समय बड़ी कमी थी। पत्र सम्पादन के लिए योग्य सम्पादक की जरूरत पड़ी। एक अँगरेज सज्जन को योग्य सम्पादक भी मिल गया। नाम था मुंशी लछमनदास।····················जब 'ग्वालियर गजट' निकला था, उसका आकार २० × २६ था भाषा उर्दू ही थी जो फारसी अक्षरों में छापी जाती थी।···········जुलाई १८५६ में 'ग्वालियर गजट' उर्दू में अलग और हिन्दी में अलग छपने लगा। हिन्दी वाले की भाषा फिर भी उर्दू ही रही।···················अब जनवरी १९०५ में उसमें एक नया फेर बदल हुआ है। 'ग्वालियर गजट' की जगह उक्त पत्र का नाम 'ग्वालियर-स्टेट' होकर वह रियासत का सरकारी अखबार हो गया।'

इस वर्ष के जनवरी मास से ही 'जयाजी प्रताप' नामक एक और रियासती

पत्र हिन्दी में निकला। इसके सम्पादक थे बाबू श्रीलाल बी० ए०। 'जयासी प्रताप' का वार्षिक मूल्य केवल २ रुपया था।

१८५५ में आगरा से एक साप्ताहिक पत्र 'सर्वहितकारक' प्रकाशित हुआ। इसे श्री शिवनारायण ने प्रकाशित किया था। इसमें भी हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाएँ रहती थीं।

१८५५ में ही प्रसिद्ध लेखक राजा लक्ष्मण सिंह ने 'प्रजा हितैषी' नाम का एक पत्र निकाला। इसके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है।

१८५७ में तत्कालीन स्वतन्त्रता-संघर्ष के प्रसिद्ध नेता अजीमुल्लाखाँ ने 'पयामे आजादी' नाम का एक राष्ट्रीय भावना का पत्र प्रकाशित किया। यह पत्र दिल्ली से निकलता था। अजीमुल्ला खाँ इसका झाँसी से मराठी संस्करण भी निकालना चाहते थे। लेकिन सन् ५७ का विद्रोह तथा स्वाधीनता संग्राम विफल होने के कारण यह पत्र भी असमय ही बन्द हो गया था।

कलकत्ता से ही १८५४ में हिन्दी का पहला दैनिक पत्र निकला। इसे श्याम-सेन नामक एक बंगाली सज्जन ने प्रकाशित किया था।

१८५९ में अहमदाबाद (गुजरात) से श्री मनसुखराम के सम्पादकत्व में एक पत्र निकाला जिसका नाम था—'धर्मप्रकाश'।

१८६७ में यह पत्र आगरे से हिन्दी व संस्कृत में निकलने लगा। तब तक इसके सम्पादक श्री ज्वालाप्रसाद थे। सन् १८९० से यह पत्र हिन्दी, उर्दू और संस्कृत में रुड़की से निकला। १९१३ में यह पत्र जालौन जिले के कौंच से निकाला और १९२१ में यह पत्र कानपुर से प्रकाशित हुआ।

१८५७ के संघर्ष के युग में ही आगरे से एक पत्र निकला जिसका नाम था—'सूरज प्रकाश'। इसके सम्पादक का नाम गनेशीलाल था।

आगरे से ही उर्दू में श्री शिवनारायण के सम्पादकत्व में एक पत्र 'मुफीद-उल-खलाइक' निकलता था। इसका हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित होता था और इस हिन्दी संस्करण का नाम था—'सर्वोपकारक'।

सन् १८६५ में यह 'सर्वोपकारक' स्वतन्त्र रूप से निकलने लगा।

इस सन् के आस-पास अजमेर से 'जगलाभ चिन्तक' प्रकाशित हुआ। इसी समय इटावा के हकीम जवाहरलाल ने 'प्रजाहित' नाम का पाक्षिक पत्र प्रकाशित करना शुरू किया। १ जनवरी १८६६ से आगरा के निकटवर्ती सिकन्दरा नामक स्थान से ईसाइयों का पहला धर्म-प्रचारक पत्र 'लोकमित्र' भी प्रकाशित हुआ।

१८६४ में आगरा से 'भारत-खण्ड' नाम का पत्र निकला।

१८६० में बरेली से 'तत्व बोधिनी' पत्रिका निकली। यह पत्रिका साप्ताहिक थी और इसके सम्पादक थे श्री गुलाबशंकर।

मिर्जापुर में डा० आर० सी० माथुर ने हिन्दी व उर्दू से 'खैरख्वाहे हिन्द' नाम का पत्र भी उसी जमाने में निकाला।

१८६६ में लाहौर से बाबू नवीनचन्द्र राय ने एक मासिक पत्रिका निकाली जिसका नाम था 'ज्ञान-प्रदायिनी पत्रिका'। दो वर्षों तक यह पत्रिका हिन्दी व उर्दू

में बराबर निकलती रही। बाद में तो यह पत्रिका केवल शुद्ध हिन्दी में ही निकलने लगी।

१८६४ में 'जोधपुर गवर्नमेंट गजट' निकला। यह गजट भी साप्ताहिक था। इसका आकार १३×९ तथा भाषा हिन्दी-अंग्रेजी होती थी।

१८६६ में ही 'मारवाड़ गजट' छपना शुरू हुआ। इसी वर्ष बम्बई से 'सत्य दीपक' नामक एक पत्र प्रकाशित हुआ।

१८६७ में जम्मू नगर से 'वृतान्त विलास' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष आगरा से 'सर्वजनोपकारक', रतलाम से 'रतन प्रकाश' प्रकाशित हुए। 'रतन प्रकाश' साप्ताहिक पत्र था और पं० किशोरीलाल नागर इसके सम्पादक थे। यह पत्र भी हिन्दी व उर्दू दोनों ही भाषाओं में एक साथ निकलता था।

'सर्वजनोपकारक' के सम्पादक पं० कृष्णचन्द्र थे। इसी वर्ष जम्मूनगर से पं० वेंकटराम शास्त्री ने 'विद्याविलास' नामक मासिक पत्रिका को हिन्दी और उर्दू दोनों में प्रकाशित किया था।

१८६८ का वर्ष हिन्दी पत्रकारिता के लिए विशेष महत्व का माना जायगा। इसी वर्ष हिन्दी भाषा के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कवि-वचन-सुधा' नामक मासिक पत्रिका का बनारस का प्रकाशन प्रारम्भ किया। कुछ समय बाद ही इसका प्रकाशन पाक्षिक हो गया। सन् १८७५ में 'कवि-वचन-सुधा' साप्ताहिक हो गई। १८८५ तक यह 'कवि वचन सुधा' साप्ताहिक हिन्दी और अंग्रेजी दोनों प्रकाशित होती रही। इसी पत्रिका के सिद्धान्त वाक्य में यह कामना की गई थी कि "स्वत्व निज भारत गहै।"

१८६८ में ही प्रयाग से मुन्शी सदासुखलाल के सम्पादकत्व में वृतान्त-दर्पण' नामक एक पत्र निकला। परन्तु दो ही वर्ष बाद यह कानून का एक पत्र बना दिया गया। १८६९ में प्रायः दस पत्र विभिन्न स्थानों से निकले १८७० में हिन्दी में चार नए पत्र प्रकाशित हुए। इसी जमाने में शाहजहाँपुर से मुंशी बख्तावर सिंह के सम्पादकत्व में 'आर्य दर्पण' नाम का पत्र प्रकाशित हुआ। शायद यह पत्र मासिक था। १८७१ में अनेक पत्र प्रकाशित हुए। पहला पत्र 'अल्मोड़ा समाचार' था। मारवाड़ और ललितपुर से 'मुहब्बे-मारवाड़' और 'बुन्देलखण्ड अखबार' प्रकाशित हुए।

मेरठ से 'म्योर गजट' और सहारनपुर से 'सान्डर्स गजट' प्रकाशित होता था। इसकी भाषा शुद्ध हिन्दी थी। १८७२ में 'हिन्दी-दीप्ति-प्रकाश' कलकत्ते से बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने प्रकाशित किया। इसी वर्ष पं० केशवराम भट्ट ने माणिकतल्ला स्ट्रीट से 'बिहार बंग प्रकाशित किया। बाद में १८७४ में यह पत्र पटना से प्रकाशित होने लगा। इसी वर्ष से 'बोधा-समाचार' और 'होल्कर सरकार गजट' प्रकाशित हुआ।

आगरे से एक पत्र 'प्रेम-पत्र' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक थे पं० रुद्रदत्त शर्मा। १८७३ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' निकाली। १८७४ में इसका नाम 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' रखा गया। इसका पहला अंक १५ अक्तूबर १८७३ को निकाला था। १८७३ की पहली अक्तूबर को अमृतसर से 'हिन्दी-प्रकाश' नाम का साप्ताहिक पत्र निकला। जबलपुर से १ मार्च, १८७३ को 'जबलपुर-समाचार' प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष लखनऊ से 'भारत-पत्रिका' और आगरे

से 'मर्यादा परिपाटी-समाचार' निकला । १८७४ में 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के साथ ही 'बाल-बोधिनी' पत्रिका प्रकाशित की गई । १ जून १८७४ को इसका पहला अंक निकला । इसी वर्ष प्रयाग के 'नाटक-प्रकाश', मेरठ से 'नागरी-प्रकाश', अलीगढ़ से 'भारत-बन्धु' और दिल्ली से 'सदादर्श' पत्र निकले ।

१८७५ में प्रयाग से 'धर्म-प्रकाश' और 'धर्म-पत्रिका', अमृतसर से 'सकल-सम्बोधिनी पत्रिका', लुधियाने से 'नीति प्रकाश', और बनारस से 'आनन्द-लहरी', प्रयाग से 'सुदर्शन समाचार', बम्बई से 'सत्यमित्र' अथवा सत्यामृत', अलीगढ़ से 'मंगल समाचार', मिर्जापुर से 'आर्य-पत्रिका' आदि पत्र निकले ।

१८७६ में भारतेन्दु की प्रेरणा से 'काशी-पत्रिका' निकली । इस वर्ष लाहौर से 'हिन्दू-बान्धव' तथा शहाजहाँपुर से 'आर्य-भूषण' प्रकाशित हुआ । १८७७ में लाहौर से पं० मुकुन्दराम ने 'मित्र-विलास' प्रकाशित किया । १८७८ में प्रयाग से 'कायस्थ समाचार का प्रकाशन आरम्भ हुआ । इसी वर्ष प्रयाग से 'ज्ञानचन्द्र' नाम का एक पत्र निकला । इसी वर्ष काशी से 'आर्य-मित्र', और कलकत्ता से 'भारत-मित्र' प्रकाशित हुआ । १८७८ में ही 'जयपुर गजट' प्रकाशित हुआ । १८७९ में पं० दुर्गाप्रसाद से 'सार-सुधा-निधि' निकाला । इसी वर्ष कलकत्ते से 'जगत्-मित्र' निकला । इसी समय कानपुर से 'शुभचिन्तक' प्रकाशित हुआ । उदयपुर से 'सज्जन-कीर्ति सुधारक' प्रकाशित हुआ । १८७९ में फर्रूखाबाद ने 'भारत-सुदशा प्रवर्तक' नामक पत्र निकला । १८८० में कलकत्ते से 'उचित-वक्ता' नाम का पत्र प्रकाशित हुआ ! यह पत्र अपनी निर्भीकता के कारण बहुत ही प्रसिद्ध हुआ । १८८१ में गोंडे से 'नवीन वाचक', लखनऊ से 'सारत-दीपिका', प्रयाग से 'आरोग्य-दर्पण', मिर्जापुर से आनन्द-कादम्बिनी' आदि प्रकाशित हुए । १८८२ में पं० देवकीनन्दन तिवारी के सम्पादकत्व में 'प्रयाग-समाचार' प्रकाशित हुआ । इसका दाम १ पैसा था । स्वयं सम्पादक इस पत्र को अपने कन्धे पर रखकर बेचा करते थे । पं० देवकीनन्दन तिवारी स्वतंत्र विचारों के पत्रकार थे । बाद में पं० जगन्नाथ शर्मा राजवैद्य के हाथ में यह पत्र आ गया । इस पत्र में पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल और गोपालराम गहमरी ने भी बाद में काम किया । इसी जमाने में प्रयाग से एक दूसरा पत्र 'बाल-दर्पण', अजमेर से 'देश-हितैषी', मेरठ से 'देवनागरी प्रचारक' आदि निकले । १८८३ में दो साप्ताहिक और पाँच मासिक पत्र प्रकाशित हुए । दिल्ली से 'इन्द्रप्रस्थ प्रकाश', बरेली से 'सत्यप्रकाश' और लखनऊ से 'दिनकर-प्रकाश' प्रकाशित होते थे । कलकत्ते से 'धर्म-दिवाकर' और कानपुर से 'ब्राह्मण' भी इसी वर्ष प्रकाशित हुए । 'ब्राह्मण' के सम्पादक पं० प्रताप-नारायण मिश्र बड़े तेजस्वी व्यक्ति थे । इसी वर्ष कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह पत्र निकला । बाद में कालाकांकर से निकलने लगा । इस

समय जो अन्य पत्र निकले उनकी संख्या एक दर्जन से ऊपर है । १८८५ में काशी से 'धर्म-प्रचारक' नामक मासिक पत्र निकला । काशी से ही एक पत्र 'भारत-जीवन' भी प्रकाशित हुआ और कानपुर से 'वेद-प्रकाश' नामक एक पत्र निकला । १८८५ में 'हिन्दुस्तान' का प्रकाशन आरम्भ । कानपुर से इसी समय 'भारतोदय' निकला और काशी के गुजरातियों ने एक गुजराती पत्रिका निकाली जिसमें हिन्दी को भी काफी बड़ा स्थान प्राप्त था । इस वर्ष लगभग एक दर्जन पत्र निकले । १८८६ में

प्रयाग से 'रसिक-पंच' निकला और लखनऊ से 'सुख-संवाद'। १८८७ में पाँच साप्ताहिक, एक पाक्षिक और चार मासिक पत्र निकले। १८८९ में पाँच साप्ताहिक, दो पाक्षिक और पाँच मासिक पत्र निकले। १८९० में हिन्दी में ६ साप्ताहिक, ३ पाक्षिक और प्राय: बीस-बीस मासिक प्रकाशित हुए।

१८९० में 'हिन्दी बंगबासी' प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादन पं० अमृतलाल चक्रवर्ती थे। यह अपने ढंग का एक नया ही अखबार था। इसमें चित्र भी छपते थे। इस वर्ष 'बूँदी से 'सर्वहित' नाम का पत्र निकला। १८९१ में अनेक मासिक पत्र निकले। परन्तु सबसे मजेदार था मिर्जापुर का 'खिचड़ी समाचार'। इसी वर्ष ११ मासिक पत्र निकले। १८९२ में १५ पत्र प्रकाशित हुए। उनमें साप्ताहिक दो ही थे। १८९३ में ११ पत्र निकले जिनमें से दो साप्ताहिक पत्र थे। १८९४ में कई मासिक और साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुए। १८९५ में पाँच साप्ताहिक और ११ मासिक पत्र प्रकाशित हुए। १८९६ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका प्रकाशित हुई। साइज ८॥ × ५॥ था। वार्षिक मूल्य १॥ रु० था। इसके सम्पादक बाबू श्यामसुन्दरदास, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, श्री कालीदास और श्रीराधाकृष्णदास थे। १९०७ में यह पत्रिका मासिक हो गई। उस समय इसके सम्पादक सर्वश्री श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, रामचन्द्र वर्मा और बेनीप्रसाद बनाये गये। १९२० में यह पत्रिका फिर त्रैमासिक हुई। उस समय सम्पादक थे सर्वश्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, श्यामसुन्दरदास, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और मुँशी देवीप्रसाद।

१८९६ में ही बम्बई में 'वेंकटेश्वर समाचार' नामक एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ। १८९७ में कानपुर से दो पत्र निकले। मुरादाबाद, बलिया, बम्बई, मथुरा, फर्रुखाबाद, मेरठ, अजमेर, लखनऊ, प्रयाग आदि से कई पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। इसी वर्ष खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना से एक पत्र निकला जिसका नाम 'शिक्षा' था।

१८९८ और १८९९ में अनेक पत्र निकले। परन्तु इनमें से अधिक का सम्बन्ध किसी न किसी जाति या उपजाति से था।

१९०० में मिर्जापुर से मासिक 'काव्य-कला-निधि', बम्बई से 'जैन-मित्र', नरसिंहपुर से 'आर्य सेवक', काशी से 'सुदर्शन', बिलासपुर से 'छत्तीसगढ़ मित्र' और कलकत्ता से 'बड़ा बाजार गजट' प्रकाशित हुए।

इसी वर्ष जो सबसे महत्वपूर्ण और युगांतरकारी एवं लोकप्रिय पत्रिका प्रयाग से प्रकाशित हुई उसका नाम था—सरस्वती। इस पत्रिका का प्रकाशन काशी की नागरी प्रचारिणी सभा और प्रयाग के इंडियन प्रेस के सहयोग से हुआ था। इसके सम्पादक मण्डल में बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्तिकाप्रसाद खत्री, श्री जगन्नाथदास रत्नाकर, श्री किशोरीदास गोस्वामी और बाबू श्यामसुन्दरदास थे। १९०३ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी सरस्वती' के सम्पादक हुए। 'सरस्वती' ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की गतिविधि से जिस प्रकार प्रभावित किया, उससे सभी लोग परिचित हैं। सम्पादकाचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक पूरे युग का निर्माण किया। इस युग को आज 'द्विवेदी युग' के नाम से स्मरण किया जाता है।

'सरस्वती' के प्रकाशन के बाद बीसवीं शताब्दी के बढ़ते चरण के साथ-साथ हिन्दी पत्रकारिता जगत् में बड़ी तेज प्रगति होती रही है। एकाएक जैसे सारा देश पत्र-पत्रिका मय हो गया।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चौथाई-काल में कलकत्ता से 'विशाल भारत', लखनऊ से सुधा', गोरखपुर से 'कल्याण', लखनऊ से 'माधुरी', इलाहाबाद से 'चाँद', बनारस से 'हंस' कलकत्ता से 'विश्वमित्र' और लाहौर से 'शान्ति' पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। इन सभी पत्रिकाओं के प्रकाशन से हिन्दी भाषा के उत्थान में बहुत सहयोग मिला।

साप्ताहिक पत्रों में कानपुर से 'प्रताप', लाहौर से 'मिलाप', 'विश्वबन्धु', कलकत्ता से 'विश्वमित्र', दिल्ली से 'अर्जुन', आगरा से 'आर्यमित्र' और 'दिवाकर', झाँसी से 'स्वतन्त्र', दिल्ली से नवयुग आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

आज तो अनेक पत्र-पत्रिकाओं के पुष्पों से हिन्दी की वाटिका खिली हुई है। गूढ़-साहित्य, राजनीति, इतिहास, कथा-कहानी, सिनेमा तथा जासूसी पत्र-पत्रिकाएँ अनगिनत संख्या में निकल रही हैं। सरकारी पत्र-पत्रिकाएँ भी बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित हो रही हैं। आज की प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की पूरी सूची भी बना पाना सम्भव नहीं है। जो पत्र-पत्रिकाएँ आज उदाहरण रूप में उल्लेखनीय हैं। उनकी सूची (संक्षिप्त) यह है—

दैनिक—हिन्दुस्तान, नवभारत टाइम्स, नई दुनिया, सैनिक, भारत, स्वतन्त्र भारत, नवजीवन, आज, प्रदीप, विश्वमित्र, सन्मार्ग आदि।

साप्ताहिक—धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिनमान आदि।

पाक्षिक—माधुरी, सरिता आदि।

मासिक—सरस्वती, कल्पना, माया, नईधारा, ज्ञानोदय, कादम्बिनी, नवनीत, सारिका, नई कहानियाँ, सम्मेलन पत्रिका और अनेक सिनेमा तथा व्यवसायी पत्रिकाएँ।

आज के हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन तथा उनके प्रचार को देखकर उनके उज्ज्वल भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है।

३७. कालेज जीवन की प्रथम झलक

१—भूमिका, २—उच्च शिक्षा के प्रति उत्सुकता, ३—कालेज में प्रवेश और उसके वातावरण का चित्रण, ४—वातावरण का प्रभाव, ५—वास्तविकता और कल्याण, ६—बाद का चिन्तन।

भूमिका—प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह लालसा होती है कि वह उन्नति करे और जीवन में कुछ कर दिखाये। यही बात शिक्षा के विषय में भी लागू होती है।

शिक्षा एक ओर जीवन है तो दूसरी और वह भावी जीवन की तैयारी। सामान्य रूप से शिक्षा एक लम्बी शृंखला है जो एक इकाई की भाँति कार्य करती है। किन्तु इस शृंखला को विविध कड़ियों में बाँट दिया गया है। जब कोई बालक मध्यमा परीक्षा अथवा हाई स्कूल परीक्षा पास कर लेता है तो वह उच्च शिक्षा की कल्पना करने लगता है। वास्तव में उच्च शिक्षा की कल्पना में एक विशेष रस होता है। सच बात तो यह है कि उच्च शिक्षा में प्रवेश के साथ-साथ किशोर के लिए अनेक द्वार खुल जाते हैं। जैसे-जैसे उसके जीवन में परिवर्तन आता है, वैसे-वैसे जीवन की संभावनाओं में भी परिवर्तन आता है। किशोरावस्था के आगमन के साथ जैसे वह नये सपने देखने लगता है, वैसे कालेज जीवन के प्रवेश के साथ ही वह जीवन के नये स्वरूप के सपने भी देखने लगता है। इस प्रकार की कल्पना प्रत्येक युवक के मन में आती है। मेरे मन में भी वैसी ही एक कल्पना का संचार हुआ है।

कालेज जीवन में प्रवेश की तैयारी—हाई स्कूल परीक्षा समाप्त होने के साथ ही साथ यह निश्चित हो चुका था कि मैं आगे पढ़ूँगा। आगे बढ़ने के विषय में मैं मन ही मन नाना प्रकार की कल्पना करता था और घर वाले उसकी तैयारी की अनेक योजनायें बनाते थे। गमिमों की छुट्टियों भर यह क्रम चलता रहा। यह क्रम और तेज हो गया जब हाई स्कूल परीक्षा का परिणाम आ गया। परीक्षा में प्रथम श्रेणी मिलने के कारण मेरे और परिवार वालों के मन में यह धारणा और दृढ़ हो गई कि मेरी उच्च शिक्षा की व्यवस्था प्रत्येक दशा में होनी चाहिए। इसके बाद मैं व्यग्रता से कालेज खुलने और कालेज जाने की प्रतीक्षा करने लगा। इस बीच में मैंने अनेक कालेजों से विवरण पत्रिकाएँ मँगाईं और वहाँ के विषय में जानकारी प्राप्त की। अन्ततोगत्वा यह निश्चय किया गया कि मुझे सेंट बरनार्ड महाविद्यालय में अपने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश लेना है।

कालेज में प्रवेश—बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा करते तीन सप्ताह बीते और ८ जुलाई आ गई। यही वह दिन था जिसकी मैं प्रतीक्षा कर रहा था। सेंट बरनार्ड कालेज में प्रवेश करने के लिए मैं प्रायः ३०० मील की यात्रा करके उत्तर प्रदेश की राजधानी में आया। बड़ा नाम सुना था उस नगरी का और सबसे अधिक नाम सुना था उस संस्था का जिसमें मैं प्रवेश लेने जा रहा था। जीवन में प्रवेश करने के लिए मेरे परिवार के लोगों ने मुझे अकेला ही छोड़ दिया था और इस कारण मुझे अकेले ही रेल की यात्रा करनी पड़ी थी और कालेज में प्रवेश की व्यवस्था का उत्तरदायित्व भी मुझको सौंपा गया था। वैसे प्रवेश पत्र मैं इसके पूर्व ही भर चुका था और मैं आया था इण्टरव्यू देने ताकि अपने को इस योग्य सिद्ध कर सकूँ कि मुझे भी इस कालेज में प्रवेश पाने का अधिकार है।

कालेज का वातावरण—मैं स्टेशन से सीधे कालेज आया। यहाँ का वातावरण व्यस्ततापूर्ण था। असंख्य विद्यार्थियों की भीड़ चारों ओर हिलोरें ले रही थी। ऐसा प्रतीत होता था कि मानों युवकों का सागर उमड़ पड़ा हो। प्रधानाचार्य के द्वार पर अभिभावकों की एक भीड़ थी, कालेज कार्यालय के समक्ष छात्रों का एक जनसमूह था और कालेज के प्रांगण में इधर-उधर खड़े युवक झुण्डों में बात कर रहे थे। इनमें से कुछ पुराने युवक थे जो गर्मियाँ समाप्त कर कालेज में पुनः आये थे। उन्हें अभी अन्तिम

परीक्षा पास करनी थी। वे मित्रों से मिल रहे थे। कुछ लोग हाथ मिलाकर एक दूसरे का स्वागत कर रहे थे, कुछ गले मिल रहे थे और कुछ आपस में अनेक प्रकार की हास्य-व्यंगता का आचरण करके अपने मैत्री भाव द्वारा स्नेह प्रदर्शित कर रहे थे। कार्यालय के लिपिकों के पास इतना भी अवकाश न था कि वे अभिभावकों और विद्यार्थियों के प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे सकें। कार्यालय के दूर किनारे एक पूछ-ताँछ गृह बना हुआ था जहाँ बैठे हुए एक नवयुवक शिक्षक अभिभावकों और छात्रों की उत्सुकता का यथासम्भव समाधान करने का प्रयास कर रहे थे। निस्संदेह उनका मुस्कराता हुआ चेहरा और मधुर स्वर में दिये गये उत्तर सभी को सन्तुष्ट करते थे और कार्यालय के लिपिकों द्वारा फेंकी गई अभद्रता की धूल को झाड़ देते थे।

पूछ-ताँछ की बनी खिड़की के साथ एक दूसरी खिड़की थी जहाँ एक नाटे कद के स्थूलकाय सज्जन गम्भीर मुद्रा में बैठे हुए अभिभावकों और छात्रों को प्रवेश पत्र और विवरण पत्रिकाएँ बेच रहे थे। प्रत्येक व्यक्ति से वह निर्धारित मूल्य लेकर पत्रिकाएँ दे रहे थे। यदि कोई व्यक्ति बड़ा नोट दिखा देता तो उनके गम्भीर चेहरे पर बेचैनी के आसार साफ नजर आ जाते थे। ऐसा लगता था जैसे उनको इस नोट के भुनाने में जो असुविधा होगी उसको वह अपने कर्तव्य का अंग नहीं मानते थे।

प्रधानाचार्य महोदय अभिभावकों को और छात्रों को क्रम से एक-एक करके बुला रहे थे और उनकी जिज्ञासा का यथासम्भव समाधान करने का प्रयास कर रहे थे। जो विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुये थे, पूछ-ताँछ की खिड़की के पास उनको यह स्पष्ट निर्देश था कि वे प्रधानाचार्य से मिल लें। मैंने सबसे पहले पूछ-ताँछ की खिड़की पर अपने प्रवेश के विषय में जानकारी प्राप्त की और उसके बाद प्रधानाचार्य महोदय के कार्यालय के बाहर उनसे भेंट करने के लिये खड़ा हो गया। वहाँ बैठे चपरासी ने मुझे एक टोकन दिया जिस पर ४४ संख्या लिखी हुई थी। इसके साथ ही मेरा रजिस्टर पर नाम भी लिखवा लिया और उसके आगे संख्या लिखवा ली। मैं समझ गया कि मुझे अभी मिलने में समय लगेगा, इस कारण उससे यह कह कर कि मैं अभी आता हूँ, विद्यालय के प्रांगण में चला आया।

विद्यालय के प्रांगण में कार्यालय के बाहर साइकिलों की एक लम्बी कतार लगी हुई थी। साइकिल रखने के लिए उत्तरदायी चौकीदार वहाँ साइकिल रखने की व्यवस्था करता था। साइकिल की उस लम्बी कतार को देखकर थोड़ा हर्ष हुआ। मन में यह भाव उठा कि केवल सिनेमाघर की ही नहीं, विद्यालय की पूछ भी इस देश में है। अन्यथा इतनी साइकिलों की भीड़ यहाँ दिखाई न देती। वैसे भी सामान्य जीवन में साइकिलों की भीड़ या तो दफ्तरों के सामने दिखाई देती है जहाँ लोग रोटी कमाने आते हैं, अथवा सिनेमा-गृहों अथवा मनोरंजन-गृहों के सामने जहाँ लोग स्वेच्छा से अपना धन व्यय करके कुछ मन बहलाने के लिये आते हैं।

मैं प्रांगण में इधर-उधर घूम ही रहा था कि मेरी नजर विद्यालय भवन की घड़ी पर पड़ी। उस घड़ी के ४ चेहरे थे और चारों की सुईयाँ अलग-अलग समय का निर्देश कर रही थीं। यह देखकर ऐसा लगा कि यह घड़ी भी इस देश की जनता का प्रतिनिधित्व करती है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी दिशा अपने ढंग से निर्धारित किये हुये है। आगे चला तो देखा कि छात्र फूल की एक क्यारी रौंदते हुये आगे चले जा रहे हैं।

शायद वह किसी ऐसी जगह से आये हैं जहाँ फूलों का कोई महत्व नहीं है। क्यारी के बगल में एक तख्ती पर लिखा था कि "कृपया फूल न तोड़ें और क्यारी से दूर चलें ताकि पौधे नष्ट न हों।" इस निर्देश की अवहेलना को देखकर ऐसा लगा कि इस पीढ़ी का नौजवान बरबस हर मान्यताओं को रौंदता चला जा रहा है। छात्रों की इस अवहेलना की भावना से कुछ ऐसा भी आभास हुआ कि शिक्षा संस्थाएँ भी उनके निर्माण में असफल रही हैं। इसी प्रकार सोचता और इधर-उधर देखता हुआ मैं घूम ही रहा था कि सहसा मेरा एक मित्र भी मिल गया। वह मेरा हाईस्कूल में सहपाठी था और द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ था। इसी विद्यालय में वह प्रवेश लेने आया था। साथ में एक लिफाफा था जिसमें किसी अधिकारी ने प्रिन्सिसल महोदय के नाम एक पत्र लिख रखा था। मेरा सहपाठी उस पत्र को लिये हुये बड़े गर्व के साथ इधर-उधर टहल रहा था। मैंने पूछा तुमने प्रवेश फार्म भर दिया। उसने बताया कि उसे प्रवेश तो मिल ही जायगा, इसलिये अभी उसे कोई चिन्ता नहीं है।

इसके पश्चात् घूमता-फिरता मैं लौट-फिर कर पुनः प्रिन्सिपल के कार्यालय में आ गया। तब तक मेरे पहले के काफी लोग प्रिन्सिपल महोदय से भेंट कर चुके थे। प्रायः १५ मिनट प्रतीक्षा करने के बाद मेरा नम्बर आ गया। प्रिन्सिपल महोदय ने बड़े ही स्नेहपूर्ण ढंग के साथ मुझसे बात की, मेरा परिचय पूछा, मेरी पारवारिक और शैक्षिक पृष्ठभूमि का ज्ञान प्राप्त किया, तदुपरान्त मुझे सूचित कर दिया कि मैं अपना शुल्क कार्यालय में जमा कर सकता हूँ। वास्तव में उन्होंने मुझे प्रवेश प्रदान कर दिया था। मैंने उन्हें यह भी बताया कि मैं छात्रावास में रहूँगा। उसके लिये भी उन्होंने एक चिट लिख दी और छात्रावास के अधीक्षक महोदय से मिलने को कहा। वहाँ जाने पर भी मुझे थोड़ी देर प्रतीक्षा करनी पड़ी। प्रतीक्षा के पश्चात् अधीक्षक महोदय ने बताया कि मुझे कल आना होगा। उनके मिलने का समय समाप्त हो गया है। मैंने उनके समक्ष अपनी विवशता रखनी चाही किन्तु उन्होंने उसे समझने से सर्वथा इन्कार कर दिया। यह देखकर मेरे मन में यह भाव समाया कि आज भी इस स्वतन्त्र भारत में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो मनुष्य की अपेक्षा यन्त्र अधिक हैं। अनुभव कटु था किन्तु मन मारकर मैं चला आया। जानता था अधीक्षक से विवाद करने से सम्भव है छात्रावास में प्रवेश न मिले और सारी पढ़ाई सदा-सर्वदा के लिये चौपट हो जाय।

इस समय तक एक बज चुका था, मुझे क्षुधा पीड़ित कर रही थी। छात्रावास अधीक्षक महोदय के व्यवहार ने शारीरिक क्षुधा के साथ-साथ मानसिक क्षुधा की ज्वाला को भी तीव्र कर दिया था। मैं लौट पड़ा स्टेशन की ओर जहाँ मेरा सामान पड़ा हुआ मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। कालेज की प्रथम झलक सुखद भी थी और दुखद भी थी। जहाँ मेरे लिये उच्च शिक्षा और जीवन-निर्माण का द्वार उन्मुक्त हो गया था वहाँ यह तथ्य भी सामने आ गया था कि जीवन उतना सरल नहीं है जितना मैं मान बैठा हूँ। जीवन में प्रतिस्पर्द्धा और कटुता भी है। उच्च शिक्षा और कालेज जीवन एक सुखद कल्पना नहीं हैं, उसमें यथार्थ का कठोर तथ्य भी है और इसके बिना जीवन सुखद नहीं बनाया जा सकता

३८. विद्यार्थी के कर्त्तव्य

१—भूमिका, २—आयु और उसकी गति-विधि, ३—अभिभावकों का दायित्व, ४—विद्यार्थियों के कर्त्तव्य, पठन-पाठन, शारीरिक स्वास्थ्य, व्यावहारिकता, ५—भावी जीवन की तैयारी, ६—विद्यार्थी और प्रमाद, ७—विद्यार्थी और जीवन का दृष्टिकोण, ८—विद्यार्थी और राजनीति, ९—विद्यार्थी और अनुशासन, १०—उपसंहार।

भूमिका—प्रत्येक देश की सबसे मूल्यवान पूँजी उसके युवक होते हैं। भारत में इस तथ्य को युगों से मान्यता प्राप्त है। इसी कारण ऋषियों ने युवाकाल को अपने सामाजिक संस्थान में इतना महत्व दिया है। मानव-जीवन को प्राचीन आचार्यों ने चार भागों में विभाजित किया है। यही विभाजन किसी न किसी रूप में चलता चला आ रहा है। आयु के क्रमिक विकास के साथ मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है और साथ ही साथ उसकी भौतिक और मानसिक आवश्यकताएँ भी बढ़ती हैं। बचपन में वह माता-पिता के भरोसे जीवन बिताता है तथा माता-पिता उसका पालन-पोषण करते हैं और चाहते हैं कि वह अपने भावी जीवन-क्रम के योग्य बन जाय। बचपन के समान ही वृद्धावस्था का जीवन भी परावलम्बन की ओर बढ़ता है। बच्चे जो अब सयाने हो गये हैं, उनका दायित्व बढ़ जाता है, तथा माता-पिता के पालन-पोषण का दायित्व भी उन पर आ जाता है। ये चारों विभाग क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास कहे जाते हैं। इनमें प्रथम आश्रम (ब्रह्मचर्य) विद्यार्थी जीवन है। इस जीवन में हर विद्यार्थी के कुछ कर्त्तव्य होते हैं जिनका समुचित पालन करने पर मनुष्य अपने भावी (गृहस्थ) जीवन के योग्य बनता है। इस जीवन के क्रियाकलापों द्वारा ही भावी जीवन का निर्माण होता है।

विद्यार्थी जीवन की गति-विधि—पाँच वर्ष तक की आयु तक बच्चा अबोध रहता है, किन्तु पाँच वर्ष की आयु से वह क्रमशः समझना प्रारम्भ करता है। लगभग २१ वर्ष की आयु तक उसके अध्ययन का समय रहता है। यानी इस बीच में उसे बीस वर्ष का समय मिलता है, जिसमें वह ज्ञानार्जन कर गृहस्थाश्रम को सफल बनाने के योग्य बन सके। इसके प्रारम्भ के पाँच वर्षों से उसका मन क्रीड़ाप्रिय तथा चंचल रहता है। उसमें विवेक का अभाव रहता है। अतः प्रलोभन तथा मधुर ताड़ना द्वारा उसे अध्ययन में लगाना पड़ता है। इस अवस्था का सुधारना माता-पिता पर अधिक निर्भर करता है। इसके बाद १०-१२ वर्ष की अवस्था तथा पहुँचते-पहुँचते वह जिस क्रम को पकड़ लेता है वही क्रम क्रमशः आगे बढ़ने लगता है। उसकी बुद्धि भी काम करने लगती है तथा थोड़ा-बहुत विवेक से भी काम लेना प्रारम्भ कर लेता है। १५-१६ वर्ष की आयु तक उसका विवेक कार्यशील हो जाता है, उसकी बुद्धि स्वतन्त्रता-पूर्वक सोचने लगती है। इसी अवस्था में वह अपना मार्ग भी निर्धारित करता है। इसके बाद वाली अवस्था में उसका जीवन-क्रम एक निर्धारित मार्ग पर चलना चाहिए। अब उसका क्रम सामान्य से विशेष पथगामी बन जाता है।

विद्यार्थी और समाज—विद्यार्थी के जीवन को ठीक मार्ग पर चलाने का प्रारम्भिक दायित्व अभिभावकों और समाज का है। विद्यार्थियों के प्रारम्भिक जीवन में उन्हें हर प्रकार से नियमित और अध्ययनशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। रहन-

सहन तथा संगति पर प्रारम्भ से ही ध्यान रखना चाहिये। आवश्यकतानुसार उन्हें पूरी सुविधा तथा कभी-कभी साधारण दण्ड भी देना चाहिये ताकि वे अपने कर्तव्य को समझने लगें। उनकी अवस्था इतनी कोमल और संस्कारग्राही होती है कि उन पर जो भी संस्कार इस अवस्था में पड़ जाते हैं, वे सरलता से बदलते नहीं। इसीलिये कहा भी गया है—

लालयेत पञ्च वर्षाणि, दश वर्षाणि ताड़येत्।
प्राप्ते षोड्शे वर्षे पुत्रो मित्रवत् समाचरेत॥

इसके अनुसार जो अभिभावक विद्यार्थियों के निर्माण में सहायक होते हैं, उनके लड़के अपने गृहस्थ जीवन के योग्य बनते हैं अन्यथा उनका जीवन बिना कर्णधार के नाव की तरह संसार-सागर में भटकता रहता है संक्षेप में प्रारम्भ में अभिभावक को अपनी बुद्धि तथा अनुभव के अनुसार लड़कों को सिखाना चाहिये तथा उन्हें सामान्य रूप में विभिन्न विषयों का क्रमशः परिचय करना चाहिए। उनकी रुचि पर भी अभिभावकों को ध्यान देना चाहिए। १६ वर्ष की अवस्था से जब वे हाई स्कूल पास कर लें तब से उनकी राय के अनुसार अभिभावकों को सहायता करनी चाहिये ताकि वे अपनी स्वाभाविक प्रतिभा का विकास कर सकें।

विद्यार्थियों के कर्तव्य—विद्यार्थी का मुख्यतम कर्तव्य है—अध्ययन। उन्हें दत्त-चित्त होकर एकाग्र भाव से पढ़ना चाहिये। उन्हें क्रमशः पाठ्य-क्रम को तैयार करने के बाद यथोचित बाह्य ज्ञान की वृद्धि पर भी ध्यान देना चाहिये। विद्वानों द्वारा कथित—

काक चेष्टा वको ध्यानम्, श्वान निद्रा, तथैव च।
अल्पहारी गृह-त्यागी विद्यार्थी पंच लक्षणम्॥

को ध्यान में बराबर रखना चाहिये। सारांश यह कि ज्ञानोत्कण्ठा, एकाग्र-चिन्तन, मनन, स्वल्प निद्रा, आवश्यकतानुसार सामान्य भोजन तथा गृह जंजाल का त्याग कर उन्हें अध्ययन करना चाहिए। अवस्थानुसार उन्हें हर प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रहना चाहिये। भौतिक, व्यावहारिक, आध्यात्मिक, सामाजिक राजनैतिक आदि हर प्रकार का ज्ञान अर्जन करना अपेक्षित है। किन्तु उन्हें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि विद्यार्थी जीवन ज्ञान को प्राप्त करने के लिए है न कि उनको कार्यान्वित करने के लिये। ज्ञान को कार्यान्वित करने का अवसर गृहस्थ जीवन में आता है। विद्यार्थी जीवन का ध्येय होना चाहिये एकाग्र अध्ययन और मनन-चिन्तन।

स्वास्थ्य-निर्माण—विद्यार्थी को अध्ययन के सामन ही अपने स्वास्थ्य पर ध्यान रखना चाहिये। उन्हें स्वस्थ मन में रहना चाहिए तथा नित्य कुछ न कुछ व्यायाम करना चाहिये ताकि उनके मन की क्लान्ति दूर हो जाय और मन प्रसन्न हो जाय। व्यायाम द्वारा उनके शरीर के अवयवों का समुचित विकास होता है तथा उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है। क्रीड़ाकाल में एकाग्र मन से खेलने चाहिये तथा निर्द्वन्द्व भाव से रहना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने समय का अधिकांश भाग स्वास्थ्य बनाने में लगा दें और पठन-पाठन से विराग ले लें। कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं जो अपने मानसिक जगत् में निरन्तर ही खेलते रहते हैं तथा उनका अध्ययन कार्य अधूरा रह जाता है और परिणाम अंधकारमय हो जाता है। ऐसा नहीं होना चाहिये। उनका

जीवन संतुलित और समय उचित रीति से विभाजित होना चाहिये। समयानुसार कार्य करना आवश्यक होता है।

व्यावहारिकता का ज्ञान—पुस्तकीय ज्ञान के साथ ही साथ विद्यार्थी को सामान्य व्यवहार का भी ज्ञान होना चाहिये। उसे सदैव अपने कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति जागरूक रहना चाहिये। उसे ध्यान रखना चाहिए कि उसका व्यवहार छोटों को दबाने वाला तथा बड़ों को चिढ़ाने वाला न हो उसे अनावश्यक हठ नहीं करना चाहिये। व्यवहार में विनीत तथा उदार होना चाहिये पर दब्बू और झेंपू स्वभाव नहीं होना चाहिये। उसकी विद्या केवल विवाद के लिये नहीं बल्कि ज्ञान विस्तार के लिये होनी चाहिये। उसमें मिथ्या घमण्ड और आडम्बर नहीं होना चाहिये पर सहज स्वाभिमान बुरा नहीं होता। विद्यार्थी को आदेश के स्थान पर विवेक से अधिक काम लेना चाहिये। गुरुजन की आज्ञा के पालन से उसे अधिक लाभ हो सकता है। उसमें मिलनसारिता तथा सहयोग की भावना आवश्यक है। उसका रहन-सहन आकर्षक तथा काल के अनुसार होना चाहिये। उसे अपनी संस्कृति का भी ध्यान रखना चाहिये तथा आस्तिकता पर भी ध्यान रखना चाहिये।

भावी जीवन की तैयारी—विद्यार्थी जीवन ही एक ऐसा जीवन है जिसमें शेष तीनों (गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) प्रकार के जीवनों के लिये ज्ञान प्राप्त किया जाता है। ज्ञानार्जन का यही काल है। जो विद्यार्थी जीवन में सीखा-पढ़ा जाता है, वही गृहस्थ जीवन में सांसारिक जीवन को सुखमय बनाने का सम्बल बनता है। जिसने विद्यार्थी जीवन में जिस प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया है, उसी के सहारे उसका गृहस्थ जीवन बीतता है। जिसने डटकर अध्ययन किया, प्रथम श्रेणी में परीक्षाएँ पास कीं वह निश्चय ही ऊँचे पद पर जायेगा, बुद्धिजीवी बनकर सुख-शान्तिपूर्वक जीवन बितायेगा। जिसने खेती सीखी है वह कृषक होगा। उसका जीवन श्रमजीवी बनेगा। जिसने चोरी सीखी है उसे चोरी के पेशे में दिन बिताने पड़ेंगे—तथा तज्जनित हर प्रकार का सुख-दुःख उसे प्राप्त होगा। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ जीवन की सफलता विद्यार्थी जीवन पर अवलम्बित है। यही आधारशिला है जिस पर भावी-जीवन की इमारत खड़ी होती है तथा उसी नींव के अनुसार उसमें दृढ़ता आती है। जीवन का लक्ष्य विद्यार्थी जीवन में ही बनता है, भावी-जीवन में पूरा होता है।

विद्यार्थी और प्रमाद—विद्यार्थी को अपने जीवन को संतुलित रखना चाहिये। उसे प्रमाद से दूर रहना चाहिए। आवश्यक कार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए। ज्ञान और स्वास्थ्य के बढ़ाने में भी प्रमाद न करना चाहिए। अनावश्यक कार्यों को भरसक टालना चाहिए। यदि प्रमाद करना ही है तो दुर्गुणों में प्रमाद लाना चाहिए। उसे मन में चंचलता उत्पन्न करने वाले वातावरण से बचने का प्रयास करना चाहिए। उसके जीवन में संयम रहना चाहिए। उसे आलस्य नहीं करना चाहिए।

विद्यार्थी और जीवन के प्रति दृष्टिकोण—विद्यार्थी को जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण रखना चाहिये। उसे जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए प्रयास करना चाहिये। उसे संग्रह और त्याग पर विशेष ध्यान देना चाहिए। भावी-जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं, विचारों तथा रीतियों का संग्रह करना चाहिए तथा अनुपयोगी तत्वों का त्याग; यह संग्रह और त्याग का कार्य ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। जीवन के

प्रति जो दृष्टिकोण बन जाता है फिर उसका त्याग परिस्थिति विशेष में ही होता है। बाल्मीकि जैसे कोई-कोई ही डाकू ऋषि बनते हैं अधिकाँश नहीं। अतः दृष्टिकोण का स्वस्थ होना आवश्यक है।

विद्यार्थी और राजनीति—आजकल प्रजातन्त्र का युग है। राजनीति जीवन के व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करती है। विद्यार्थी राजनीति का अध्ययन करते हैं। उन्हें अनेक संस्थाओं से सम्बन्ध भी रखना पड़ता है। विद्यार्थी को राजनीति का पूर्ण सैद्धान्तिक ज्ञान रखना चाहिये। उन्हें घटनाओं का विश्लेषण करके राजनैतिक तत्वों की गतिविधि तथा परिणामों का ज्ञान अवश्य रखना चाहिए। किन्तु उन्हें सक्रिय राजनीति से दूर ही रहना चाहिये। जब तक ज्ञान पूर्ण न हो तब तक उन्हें राजनीति में नहीं कूदना चाहिए, नहीं तो जीवन का क्रम नष्ट हो जाता है। विद्यार्थी चुनाव लड़े तथा चुनाव करे पर उसी के पीछे पढ़ना छोड़कर जेल का प्रमाण-पत्र पाने की कोशिश न करें। उन्हें अपने भविष्य और उत्तरदायित्व पर भी ध्यान देना चाहिए।

विद्यार्थी और संयम तथा अनुशासन—विथार्थियों के लिए सबसे आवश्यक वस्तु अनुशासन है, जो विद्यार्थी अनुशासनहीन होते हैं वे अपने गृहस्थ जीवन में भी व्यस्थित नहीं हो पाते। उनका जीवनक्रम अनेक प्रकार की उच्छृङ्खलता तथा उद्दण्डताओं का केन्द्र बन जाता है। वे अपने व्यवहार से सम्पर्क में आने वाले सभी प्राणियों के लिए कण्टक के समान रहते हैं। जो व्यक्ति अपने विद्यालय का अनुशासन मानकर अपने अध्ययन को नहीं पूर्ण कर सकता, वह परिवार का अनुशासन मानकर परिवार की शान्ति को कैसे बनाये रख सकता है। अनुशासित विद्यार्थी का जीवन भविष्य में उचित मार्ग पर चलने वाला बनता है। वैसे विद्यार्थी गुरुओं के स्नेहभाजन होते हैं तथा उनके परिणाम लाभकर होते हैं। जो छात्र अनुशासनहीन हो जाते हैं उनके जीवन में अनेक प्रकार की कुरीतियाँ आ जाती हैं। वे अनेक प्रकार के अनैतिक कार्यों में रुचि बढ़ाने लगते हैं। एक अनुशासनहीनता ही ऐसा दुर्गुण है जो सभी दुर्गुणों का जनक है अतः यही विद्यार्थी का महानतम अभिशाप है जो स्वाभाविक स्नेह रखने वाले और शिक्षा द्वारा मानवता सीखने वाले, तथा हर प्रकार जीवन बनाने में सहायक गुरुओं के मधुर शासन को नहीं मानता वह कटु सत्य तथा स्वार्थमय विश्व में कैसे सफल हो सकता है? अनुशासन छात्र का जीवन कटुताओं का केन्द्र बना रहता है। यह समाज के लिए भी घातक है।

उपसंहार—विद्यार्थी जीवन मानव-जीवन का मुख्यतम अंग है। इसी पर मनुष्य का पूरा जीवन आधारित रहता है। इसके कर्तव्य सरल, उपयोगी, आनन्ददायक, लाभकर तथा उत्तम हैं, हमें विवेकपूर्ण विचार करके उनका पालन करना चाहिए। विद्यार्थी के मुख्य कर्तव्य हैं—अध्ययन, मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक उन्नति, कर्तव्य और अधिकार का समुचित प्रयोग, विविध प्रकार का ज्ञानार्जन, सक्रिय राजनीति से दूर रहना, सांसारिकता से न्यूनतम सम्बन्ध रखना तथा समुचित व्यवहार आदि। हर विद्यार्थी को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। इसी से जीवन सुखी, शान्तिपूर्ण और आनन्दमय बनता है।

३९. चित्रपट (सिनेमा) और उसका महत्व

१—भूमिका, २—चित्रपट की रूपरेखा, ३—विज्ञान का अपूर्व आविष्कार, ४—प्रचार, ५—मनोरंजन का साधन, ६—सिद्धान्त प्रचार का साधन, ७—शिक्षा का साधन, ८—ज्ञानवृद्धि का साधन, ९—चित्रपट द्वारा कतिपय हानियाँ, १०—उपसंहार।

भूमिका और रूपरेखा—सिनेमा अथवा चित्रपट आदि मनोरंजन, प्रचार, शिक्षा और विचार-निर्माण का एक प्रबल यन्त्र और साधन माना जाता है। आज यह हमारे जीवन का अनिवार्य अंग है।

संसार में ज्यों-ज्यों ज्ञान की वृद्धि होती गई त्यों-त्यों मनुष्य अपनी सुख-सुविधा के लिए नये-नये साधनों का आविष्कार करता गया। प्राचीनकाल में मनुष्य का जीवन सरल था। उसके मनोरंजन के साधन सरल थे। मनुष्य प्रकृति से अपने मन की क्लान्ति मिटाता रहा। बुद्धि का विकास बढ़ता गया, उत्सुक विज्ञान ने नये-नये आविष्कार प्रारम्भ किये। क्रमशः सभ्यता आगे बढ़ गई। कहानियों का अभिनय प्रारम्भ हो गया। भौतिक-शास्त्र की उन्नति से अनेक नई-नई सिद्धियाँ प्राप्त की गई। कैमरे के आविष्कार से चित्र खिंचने लगे। पहले स्थिर चित्र सामने आये, फिर उन चित्रों में गतिविधि भी उत्पन्न कर दी गई। फिर इस कला का आगे विकास हुआ। मूक चित्र पर्दों पर चलते-फिरते एवं बोलते दिखाये जाने लगे। इस प्रकार से विज्ञान ने अनेक अपूर्व आविष्कार किए। उसमें चित्रपट का आविष्कार महत्वपूर्ण है। आज के वैज्ञानिक युग में यह शहरी जीवन का मुख्य अंग बन गया है।

चित्रपट पर तो चलते-फिरते चित्र लगभग ३०-३५ वर्ष पूर्व ही दिखाये जाते थे पर शब्दों का प्रयोग कुछ दिन बाद से प्रारम्भ हुआ। ग्रामोफोन में संगीत का प्रसार होता था। उसी सिद्धान्त के अनुसार चित्रपट के साथ उसका संयोग किया गया। हाव-भावों के साथ वार्तालाप को रिकार्डों में भरा गया और उनको यथास्थान सजाकर चित्रपट की गतिविधियों को पूर्ण किया गया। अर्थवादी संसार में प्रत्येक वस्तु का मूल्य, उससे प्राप्त आर्थिक आय से लगाया जाता है। चित्रपट भी तैयार होकर जनता में आया। पहले उत्सुकता के कारण, फिर आदत के कारण, जनता ने इसे अपनाया। आज शहरों में मनोरंजन का यह मुख्य साधन बन गया है।

विज्ञान का अपूर्व आविष्कार—विज्ञान ने प्रकाश और ध्वनि की सहायता से असंख्य आविष्कारों को पूर्ण किया है। इन्हीं तत्वों के सहयोग से चित्रपट का निर्माण भी किया गया है। अभ्यासकाल में पात्र सहज रूप में अपने कार्य करते जाते हैं और विशेष प्रकार के कैमरों की सहायता से चित्रों की रीलें तैयार की जाती हैं। वे रीलें काफी लम्बी होती हैं तथा पूरी कहानी को प्रदर्शित करने वाली होती हैं। जिन शब्दों का वे उच्चारण करते हैं, उनकी ध्वनियाँ एक विशेष प्रकार के रिकार्डों में भरी जाती हैं और उनको रीलों के अनुसार सजाया जाता है। इस प्रकार से उनका पूरा सेट तैयार हो जाता है। चित्र मन्दिर (सिनेमाघर) के मालिक उसके भवन का विशेष प्रकार से निर्माण करवाते हैं और चित्रपट पर चित्र दिखाने का कार्य किया जाता है। इस पूरी क्रिया में विद्युत शक्ति से अधिक काम लिया जाता है। इन भवनों में लोगों के बैठने का तथा चित्र दिखाने के समय अन्धेरा बनाये रखने का पूरा प्रबन्ध रहता है। इस

प्रकार यह आविष्कार जन-साधारण के मनोरंजन का साधन बनता है। वास्तव में यह अपूर्व आविष्कार है।

प्रचार—प्रारम्भ में जनता ने कौतूहल के साथ इसका रसास्वादन किया और फिर इसमें कहानी, नाटक, प्रहसन आदि अनेक वस्तुओं का आनन्द एक साथ मिलने लगा। परिणाम यह हुआ कि इसके अवलोकन से मन की क्लान्ति मिटाई जाने लगी। यह मनोरंजन का अच्छा साधन बन गया है। इन चित्रपटों में दर्शनार्थियों की संख्या क्रमशः प्रबल वेग से बढ़ने लगी। जनता का हर वर्ग इससे आनन्द उठाने लगा। इन चित्रपटों का बड़े-बड़े शहरों में बहुत अधिक प्रचार हुआ। धीरे-धीरे छोटे-छोटे शहरों और कस्बों में भी इनका प्रचार बढ़ने लगा। साधारण जनता ऊँची कला से अधिक आनन्द ले नहीं पाती। मनुष्य स्वभाव से गन्दी बातों को जल्दी ग्रहण करता है। अतः उन व्यवसायों के मालिक अपनी आर्थिक पिपासा को पूर्ण करने के लिए बाजारू चित्रपट अधिक एकत्रित करने लगे तथा शहरों में उनके दर्शकों की भीड़ भी अधिक एकत्रित होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि मालिकों की तिजोरियों में धन भी भर गया तथा सरकार को मनोरंजन कर के रूप में सरलतापूर्वक अधिक पैसे पा जाना स्वाभाविक बन गया है। अन्य प्रकार के करों के उगाहने में अमीनों तथा चपरासियों की जरूरत पड़ती है पर इस कर को उदार प्रेक्षक वर्ग स्वयंमेव जाकर टिकट के साथ ही जमा कर देता है। चूँकि चित्रपट जनता की भावनाओं को अनेक प्रकार से दुलराया करते हैं अतः इसमें दर्शकों की न्यूनता कभी होती ही नहीं, फिर लाभ की आशा से पूँजीपति अपनी पूँजी का सिनेमा-भवन चलाने में सदुपयोग क्यों न करें। इस प्रकार से इसका प्रचार क्रमशः बढ़ता जा रहा है।

उपयोगिता—सिनेमा अथवा चित्रपट की उपयोगिता बहुत अधिक है। उसका प्रयोग और उपयोग अनेक प्रकार से हो सकता है। इसी कारण उसका महत्व है। इसकी उपयोगिता के कुछ पक्षों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

(अ) **मनोरंजन का साधन**—दिन भर विभिन्न प्रकार के कार्यों में लगे रहने के कारण लोगों का मन श्रान्त क्लान्त रहता है। शरीर के अवयव थक जाते हैं। पारिवारिक जीवन की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के कारण अपने परिवार से भी कुछ लोग उदासीन रहते हैं तथा कुछ लोग परिवार वालों को भी प्रसन्न करने के लिए दल-बल सहित इन स्थानों में जाते हैं तथा पैसा खर्च करके आनन्द खरीदने का प्रयास करते हैं। यह सत्य है कि उन्हें सामयिक आनन्द की उस धारा में बहाने का प्रयास करते हैं। दर्शकों का मन वास्तविक जीवन से ऊपर उठकर चित्रित जीवन से मानसिक आनन्द लेने लगता है। कुछ लोग नौकरी अथवा व्यवसाय के लिए देहातों से आकर शहरों में रहते ही हैं। वे चाहे अकेले हों या सपरिवार। उसके लिए मनोरंजन के सस्ते तथा कल्पनामय जीवन का आनन्द लेते हैं। इस प्रकार से मनोरंजन का अच्छा साधन है चित्रपट।

(ब) **सिद्धान्त-प्रचार का साधन**—कुछ चित्रपटों का सरकार द्वारा तथा कतिपय बड़े पूँजीपतियों द्वारा अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए उपयोग किया जाता है। भारत की वर्तमान सरकार अपनी योजनाओं का, विकासों का तथा सैनिक कार्यवाहियों का प्रचार चित्रपटों से कराती है। अनेक व्यवसायी अपने माल का प्रचार

इनमें विज्ञापन देकर करते हैं। रूस की सरकार साम्यवादी विचारों से ओतप्रोत चित्रों के प्रदर्शन से साम्यवादी भावनाओं की जड़ दृढ़ करती है। हर देश की सरकार अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए चित्रपटों को काम में लाती है। चूँकि इसके निर्माण तथा प्रचलन पर सरकारी नियन्त्रण रहता है अतः ऐसे चित्रपट जनता के सामने नहीं जाने पाते जिनसे सरकारी नीति को हानि हो। अच्छे कलाकरों की कला का भी इसके द्वारा प्रचार होता है, परन्तु अधिक लाभ की आशा रखने वाले मालिकों की दृष्टि में उच्च कला का महत्व पैसों की अपेक्षा बहुत कम होता है। अतः वे बाजारू चित्रपट अधिक तैयार करते हैं जिनमें सामान्य लोगों की दूषित-भावनाओं को उभाड़ने की शक्ति अधिक रहती है, अतः ऊँची कला को प्रदर्शित करने वाले चित्र कम ही बनते हैं। बाजारों में गन्दे गानों और विलासिता के भद्दे ढंग का प्रचार इसमें अधिक होता है। नवयुवकों और युवतियों के रहन-सहन, वेश-भूषा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कितनों का तो जीवनक्रम ही नष्ट हो जाता है।

(स) **शिक्षा का साधन**—चित्रपट द्वारा अनेक प्रकार की शिक्षा भी मिलती है। यदि अच्छे चित्रपट को मनोयोगपूर्वक देखा जाता है तो कार्य, कारण और परिणाम तीनों सामने आते हैं तथा दर्शक उन्हें देखकर अपनी विवेक-शक्ति द्वारा अपने जीवन की अनेक बुराइयों को मिटा सकता है। अनेक गूढ़ विषयों को चित्रपट पर देख कर समझ सकता है। अनेक प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त कर सकता है, उसमें मान्य पुरुषों के चरित्रों को देखकर अपना जीवन उसी मार्ग पर चला कर सुधार सकता है। और यदि चाहे तो अपने जीवन में अनेक बुराइयाँ भी ला सकता है अतः अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की शिक्षाएँ चित्रपटों से प्राप्त होती हैं। ग्राहक जैसी शिक्षा चाहे ग्रहण कर सकता है।

(द) **ज्ञान-वृद्धि का साधन**—चित्रपटों में दर्शकों को विभिन्न प्रकार के दृश्यों को देखने का अवसर मिलता है तथा इन पर विचार करके वे अनेक प्रकार की शिक्षा ग्रहण करते हैं। चलते-फिरते चित्रों को देखकर वह अपने जीवन-क्रम में अनेक प्रकार के सुधार कर सकते हैं। प्राचीन सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक चित्रों द्वारा वे प्राचीन परम्पराओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं। राजनीति तथा उद्योगों का चित्र देखकर प्रेक्षकों में कार्य के प्रति उत्सुकता उत्पन्न होती है तथा वे दैनिक प्रयोग वाले व्यवसायों में उन्नति कर सकते हैं। योजनाओं से सम्बन्धित चित्रों का उन पर यह प्रभाव पड़ता है कि वे उनको सरलता से समझ जाते हैं तथा उससे सहयोग करने लग जाते हैं। देश-विदेश के चित्रों को देखकर व विभिन्न प्रकार की कार्य शैलियों से परिचित होते हैं। सैनिक-चित्रों को देखने से नवयुवकों में सैनिक सेवा के प्रति आकर्षण जगता है तथा लोग सेना में भर्ती होने को तैयार हो जाते हैं। साधारण जनता आक्रमणों से बचने का उपाय सीखती है। इस प्रकार से विभिन्न प्रकार का ज्ञान इससे प्राप्त होता है।

चित्रपट से हानियाँ—सभी वस्तुएँ गुण-दोषमयी होती हैं। जहाँ चित्रपट से अनेक लाभ हैं वहाँ हानियाँ भी कम नहीं हैं। **सर्वप्रथम** जनता का नैतिक स्तर गिरता है। चित्रपट में गन्दे, भद्दे और नग्न विलासिता के प्रदर्शन का प्रेक्षकों के सदाचार पर सामान्यतया बुरा प्रभाव पड़ता है। लोग बुराइयों से अधिक प्रभावित होते हैं और अच्छाइयों से कम, यही कारण है कि सिनेमा के गन्दे गीतों का प्रचार

बनता चला जा रहा है। लोगों में बनाव शृंगार और फैशन के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। **दूसरी बुराई** यह है कि लोगों की चित्रपट देखने की आदत पड़ जाती है तथा वे इस कार्य में अपव्यय करते रहते हैं। इससे उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती चली जाती है। इसके परिणाम को चित्रपटों की टिकट देने वाली खिड़कियों पर देखा जा सकता है। साथ ही साथ जन-स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। संक्रामक रोगों के बढ़ने की सम्भावना कम नहीं रहती है। विद्युत प्रकाश को एकटक तीन घण्टे तक देखते रहने के कारण आँख की ज्योति कुण्ठित हो जाती है। अनेक दर्शकों में इसके कारण अनेक कुटेवें बढ़ जाती हैं। **साधारण रूप से चित्रपट अनेक प्रकार की बुराइयाँ फैलाते हैं।** सामाजिक तथा पारिवारिक सम्बन्धों में शिथिलता आ जाती है। मन की चंचलता बढ़ जाती है। इनका परिणाम यह भी होता है कि परिश्रम से कमाये धन का एक भाग साधारण मनोविनोद के नाम पर पूँजीपतियों के हाथों में एकत्रित होने लगता है।

उपसंहार—मनुष्य अपनी प्रवृत्ति के अनुसार गुण और दोष को ग्रहण और त्याग करता है। किन्तु सामान्यतया गुणों का ग्राहक कम ही होता है, अधिकांश में अवगुण ही अनायास मन में घर कर लेते हैं, तथा जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। अवगुणों के त्याग की घटना भी अपवाद रूप में कभी-कभी घट जाया करती है पर अधिक नहीं। चित्रपट यों तो सैद्धान्तिक रूप से लाभकर रहे हैं पर इनका व्यावहारिक उपयोग हानिकारक ही अधिक हो रहा है। कारण यह है कि इनके स्वामी बाजारू चित्रों को अधिक मँगाते और तैयार कराते हैं जिन पर खर्चा कम पड़ता है तथा आय अधिक होती है। अतः सरकार का यह कर्तव्य है कि कला की वास्तविक उन्नति के लिये उच्च स्तर के चित्रों को ही प्रश्रय दे। चित्रपटों में कला की आत्मा का हनन हो जाता है, वहाँ कला निर्जीव तथा कृत्रिम बना दी जाती है। अतः चित्रपटों पर सम्यक् नियन्त्रण आवश्यक है।

४०. अनिवार्य सैनिक शिक्षा

१—भूमिका, २—सैनिक शिक्षा का रूप, ३—सैनिक शिक्षा की अनिवार्यता, ४—सुरक्षा का साधन, (अ) व्यक्तिगत, (ब) सामाजिक, ५—जीवन में उपयोग और लाभ, ६—उपसंहार।

भूमिका—मानव-जीवन में दो प्रकार की प्रवृत्तियों का प्राधान्य होता है—प्रथम आत्मनिर्वाह तथा दूसरी आत्म-रक्षा की। प्रारम्भिक जीवन में आत्म-रक्षा का क्षेत्र सीमित तथा व्यक्तिगत था। ज्यों-ज्यों मनुष्य का विकास होता गया, समाज बनता गया और व्यक्ति की आवश्यकताएँ बढ़ती गई त्यों-त्यों जीवन क्रमशः परावलम्बी होता चला गया। राज्यों का निर्माण हो जाने पर सामूहिक रक्षा का कार्य राज्य का मुख्य उत्तरदायित्व बन गया। राज्य ने शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने के लिए तथा बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने के लिये और कभी-कभी राज्य-सीमा विस्तार के लिये सेना का संगठन करना अपना मुख्य ध्येय बनाया। आगे चलकर सरकार की शक्ति उसकी सेना तथा सैनिक दक्षता से ही आँकी जाने लगी। क्रमशः बीसवीं शताब्दी का वैज्ञानिक

युग आया। प्रजातन्त्र की विचारधारा ने विश्व पर शासन करना प्रारम्भ कर दिया। सरकार ने अपनी सेना को अधिकाधिक विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित करना प्रारम्भ कर दिया। द्वितीय महायुद्ध के समय जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, आदि सभी देशों ने सैनिक शिक्षा को अनिवार्य बना दिया था। अतः अब अधिक आक्रमणों का रूप व्यापक तथा सब पर प्रभाव डालने वाला बन गया है तो निश्चय ही सैनिक शिक्षा व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अनिवार्य हो गई है।

सेना में तीन प्रकार की शिक्षा आवश्यक होती है—आक्रमण कला, बचाव करने की कला तथा गुप्तचर कार्य। ये सैनिक शिक्षा के मुख्य अंग हैं। शरीर को फुर्तीला तथा कार्यशील रखने के लिए परेड और व्यायाम आवश्यक होता है। विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग तथा उससे बचाव का ढंग तथा कठिन परिस्थितियों में उपयुक्त उपाय आदि के विषय में शिक्षा दी जाती है। ऐसी शिक्षा के बिना शिक्षा का कार्य अधूरा ही रह जाता है। इस प्रकार की शारीरिक-शिक्षा प्रायः सबके लिए अपेक्षित है। सामान्य रूप से सैनिक शिक्षा को अनिवार्य होना चाहिए, जिससे नागरिकों में स्वावलम्बन तथा आत्मविश्वास की भावना का विकास हो सके।

राष्ट्र की रक्षा के अवसर—जनता राष्ट्र की सम्पत्ति है, उनकी रक्षा करना राष्ट्र का मूल कर्तव्य है। साथ ही साथ उसे शक्ति भी जनता से ही प्राप्त होती है। अनिवार्य सैनिक शिक्षा से समाज और राष्ट्र के लिए दो लाभ स्पष्ट है—राज्य को युद्ध की स्थिति में पर्याप्त मात्रा में शिक्षित सैनिक मिल जाते है, जिन्हें स्वल्पकाल में ही मैदान के योग्य बनाया जा सकता है। इस प्रकार संकट का सामना सरलतापूर्वक किया जा सकता है। दूसरा लाभ है अनुशासित नागरिकों की वृद्धि। सैनिक शिक्षा में अनुशासन पर अधिक बल दिया जाता है अतः राष्ट्र में अनिवार्य सैनिक शिक्षा के प्रभाव से अनुशासित नागरिक बढ़ते जाते हैं। अनुशासन के लिए सैनिक शिक्षा अत्यधिक आवश्यक है। समाज में आततायी कम नहीं होते, उनका प्रभाव मिटाने के लिए सैनिक शिक्षा प्राप्त नागरिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। चोरी, डकैती, गुण्डागर्दी आदि को रोकने के लिए इन लोगों के सहयोग से रक्षा दल बनाया जा सकता है जो स्थानीय उपद्रवों से समाज की रक्षा कर सकता है।

परिश्रमशीलता—अनिवार्य सैनिक शिक्षा होने से प्रत्येक युवक में सैनिक भावना का महत्वपूर्ण स्थान हो जाता है। अतः व्यक्तिगत रूप से वह परिश्रमी, न्याय-प्रिय तथा सेवापरायण होता है। वह अपना सब काम निर्द्वन्द्व भाव से करता है। उसमें सहयोग की भावना का विकास होता है। अपनी बुद्धि और प्रतिभा का वह समुचित प्रयोग करता है। उसमें स्फूर्ति का विकास होता है जिससे वह अपनी व्यक्तिगत उन्नति में सफल होता है। स्कूल और कालेजों में सैनिक शिक्षा प्राप्त युवक समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं। अतः सैनिक शिक्षा सभी छात्रों को ग्रहण करनी चाहिए। इससे उनका व्यक्तित्व विकसित होता है और निर्भीकता आ जाती है।

कठिनाइयों का सामना करने की प्रवृत्ति—सैनिक शिक्षा से युवकों में कठि-नाइयों का सामना करने का साहस आ जाता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए बाढ़ का समय आ गया। पानी बढ़ता चला जा रहा है। उसको रोकने के उपाय सफल नहीं हो रहे हैं। ऐसी दशा में साधारण आदमी घबराहट में किंकर्त्तव्यविमूढ़

हो जायगा। उसे यह नहीं सूझ पड़ेगा कि क्या किया जाये ? पर जो व्यक्ति सैनिक शिक्षा प्राप्त किये रहेगा वह तत्काल परिस्थिति का अनुमान लगा लेगा। यदि पानी पर काबू पाना संभव दीखेगा तो अधिक शक्ति के साथ उसे रोकने का प्रयास करेगा। यदि रुक गया तो ठीक है और यदि रुकने की सम्भावना नहीं रहेगी तो वह बचाव का उपाय करेगा। यथासम्भव सम्पत्ति को भी बचावेगा। अपनी रक्षा के साथ ही साथ ही सबकी रक्षा का मार्ग साफ करेगा। उसे सोचने-विचारने या नष्ट करने की आदत नहीं रहेगी। उसकी देखा-देखी दूसरे भी अपना बचाव सरलता से कर लेंगे। ऐसी अनेक परिस्थितियाँ आती हैं जिनमें सैनिक शिक्षा उपयोगी प्रमाणित होती है।

स्वालम्बन की भावना का विकास—सैनिक शिक्षा से स्वावलम्बन की भावना का पूर्ण विकास होता है। इस शिक्षा से मनुष्य में काम की लगन आती है। वह अपना सब काम यथासम्भव स्वयं करता है। अपने कार्य के लिए वह दूसरों पर निर्भर नहीं रहता। जो काम वह दूसरों से कराता है उसमें भी सहयोग देने को तैयार रहता है जिससे काम करने वाले मजदूरों में हीनता की भावना नहीं जग पाती। वह अपने मालिक के अनुकरण पर काम करने में पूरी सतर्कता बर्तता है। फल यह होता है कि सारा काम बड़ी सुन्दरता से पूर्ण हो जाता है और लाभ के साथ ही साथ प्रसन्नता भी आती है। अधिक काम में मन लगाने के कारण बेकार की बातों के लिए उसके पास समय कम बचता है। इस प्रकार वह बहुत सी अनावश्यक बातों के बवाल से बचा रहता है। यदि उसके पास समय बचता है तो अपनी सुख-सुविधा के कामों में लगाया करता है जिससे उसके सभी काम समयानुसार पूरे होते रहते हैं। उसके जीवन में एक प्रकार का समन्वय रहता है। इसी से वह पूर्णतया आत्मनिर्भर होता है। किसी राष्ट्र की उन्नति के लिए वहाँ के निवासियों का स्वावलम्बी होना अत्यन्त आवश्यक है। सैनिक शिक्षा व्यक्ति को स्वावलम्बी बनाती है और इसीलिए इसकी अनिवार्यता राष्ट्र के लिए उपयोगी है।

मानसिक स्वास्थ्य का विकास—सैनिक शिक्षा का प्रभाव मनुष्य के मन पर पड़ता है। जीवन में आमोद-प्रमोद का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अभाव में मानव-जीवन अधूरा तथा मन्द बना रहता है जिससे किसी काम में उत्साहमय प्रवृत्ति के अभाव में कोई कार्य ठीक ढंग से नहीं हो पाता। मन की उदासीनता तथा निरन्तर चिंतन से अनेक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे जीवन भारस्वरूप बन जाता है। अनिवार्य सैनिक शिक्षा में खेल-कूद तथा आमोद-प्रमोद का विशेष स्थान रहता है, अतः इस शिक्षा को प्राप्त कर लेने पर लोगों के मन का सुधार हो जाता है। सैनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अनावश्यक चिंतन में समय बर्बाद नहीं करता, वह तो केवल काम करते रहना चाहता है या मन और शरीर की थकावट मिटाने के लिए विश्राम करता है। अतः वह गहरी नींद सोता है। इस प्रकार उसका स्वास्थ्य बराबर अच्छा रहता है।

अनिवार्य सैनिक शिक्षा का प्रभाव यह होता है कि मानसिक प्रवृत्तियों से सरलता आती है। इस सरलता का परिणाम यह होता कि वह अपने परिवार में रहता है। उसमें आत्मशान्ति बराबर बनी रहती है। शान्त मन से रहने के कारण वह दूसरों के लिए यथाशक्ति न तो कष्टदायक बनना चाहता और न किसी

अन्य को बनने देना चाहता है। अतः उसके आस-पास का वातावरण आनन्दमय तथा शान्तिपूर्ण बना रहता है।

मानव-जीवन में सैनिक शिक्षा का उपयोग बहुत अधिक है। इसके बिना जीवन अधूरा रहता है। इस अधूरेपन को हटाने के लिए अनिवार्य सैनिक शिक्षा आवश्यक है। कहा जाता है कि सैनिक शिक्षा यदि ठीक ढंग से प्राप्त की जाती है तो उससे अनेक लाभ होते हैं। यदि सैनिक शिक्षा में उद्दण्डता और अनियमितता आ जाती है तो वह हानिकारक होती है। अतः अनिवार्य सैनिक शिक्षा में सहनशीलता तथा उदारता पर बल देना चाहिए, तभी वह लाभकर हो सकती है।

४१. स्वतन्त्र भारत की शिक्षा पद्धति में हिन्दी का स्थान

१—भूमिका, २—हिन्दी की सार्वजनिक उपयोगिता, ३—शिक्षा क्रम में हिन्दी का स्थान, ४—कतिपय अड़चनें और उसके दूर करने के साधन, ५—एकता का माध्यम, ६—उपसंहार।

भूमिका—प्रत्येक देश में राष्ट्रभाषा का महत्व शिक्षा में अत्यधिक होता है। शिक्षाविदों का विचार है कि राष्ट्रभाषा अथवा मातृभाषा के माध्यम से दी गई शिक्षा का प्रभाव स्थायी होता है। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है और उसके विषय में भी यही बात लागू होती है।

सदियों की पराधीनता के बाद भारत स्वतन्त्र हुआ। प्रत्येक स्वतन्त्र देश के लिए राष्ट्रभाषा आवश्यक होती है। प्राचीन काल में जब हिन्दू राजाओं का शासन-काल था तो संस्कृत भाषा को देश की राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त था। मौर्या ने मागधी और पालि को प्रोत्साहन दिया और अशोक ने अपने शिला लेखों में इसकों प्रयोग किया। इससे ऐसा जान पड़ता है कि जनता में प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग चलता था, पर अन्तर्देशीय महत्व और व्यापकता संस्कृत को प्राप्त थी। गुप्तवंशीय तथा वर्द्धनवंशीय राजाओं ने पुनः संस्कृत को प्रोत्साहन और संरक्षण दिया। आगे चलकर राजपूतकाल में प्रान्तीय भाषाओं का विकास तो हो रहा था पर संस्कृत भाषा एक प्रकार से पूरे देश में पढ़ी और समझी जाती थी। फिर तुर्कों और मुगलों के युद्ध में अरबी, फारसी का प्रभाव बढ़ गया, फिर भी संस्कृत की धारा रुकी नहीं। किन्तु उस समय राज-काज की भाषा शासक की ही भाषा थी। अंग्रेजों के शासन काल में अंग्रेजी भाषा का प्रचार बढ़ता गया। शिक्षा पद्धति में अंग्रेजी को प्रमुखता दी जाने लगी। जब स्वतन्त्रता के पश्चात् देश की परिस्थिति बदल रही है। भाषा की व्यापकता तथा उपयोगिता की दृष्टि से हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हो रहा है। अतः शिक्षा-पद्धति में इसका महत्वपूर्ण स्थान होना अनिवार्य है। हिन्दी अनिवार्यतः पूरे देश में पढ़ी जानी चाहिये।

हिन्दी की सार्वजनिक अथवा व्यापक उपयोगिता—स्वतन्त्र भारत के विभिन्न राज्यों में उन्हीं राज्यों की भाषाओं का प्रचार है। किन्तु देश भर के लिये एक भाषा अवश्य होनी चाहिये जिसमें केन्द्रीय सरकार का कार्य हो। आज पूरा देश राज्यों का

संघ होते हुए भी एक केन्द्र द्वारा शासित उत्तर-प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, पंजाब प्रान्तों में महत्वपूर्ण कार्य तथा सभी अन्तर्देशीय महत्व के कार्य हिन्दी भाषा में होते हैं। कतिपय भाषाएँ ऐसी हैं जिनका प्रयोग एक-एक राज्य में ही सीमित है। बंगाल में बंगला, आसाम में आसामी, दक्षिण भारत में तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम आदि तथा उड़ीसा में उड़िया का प्रयोग होता है। अतः व्यापकता की दृष्टि से हिन्दी भाषा का प्रयोग देश की लगभग दो तिहाई से अधिक जनता करती है। थोड़ा सा प्रयास करने पर सभी प्रान्तों में उसका प्रचार सरलता से हो सकता है। चूँकि केन्द्र की राष्ट्रभाषा की योग्यता हिन्दी को ही प्राप्त है इसलिए सभी शिक्षित भारतीयों को राष्ट्रभाषा का ज्ञान होना आवश्यक है। यही एक ऐसी भाषा है जिसकी सार्वजनिक उपयोगिता है। राजभाषा बनाकर अंग्रेजों ने अंग्रेजी को अनिवार्य स्थान प्राप्त था क्योंकि उसकी उपयोगिता थी। उसी प्रकार से एक ही केन्द्र से शासित होने वाले सभी प्रान्तों के लिये अब एक भाषा हिन्दी की उपयोगिता हो गई। अखिल भारतीय सेवाओं के लिये हिन्दी का महत्व अत्यधिक हो गया है। हिन्दी के ज्ञान के बिना देश में होने वाली गतिविधियों का ज्ञान ठीक-ठीक नहीं हो पायेगा। यही एक ऐसी भाषा है जिसको पढ़कर सम्पूर्ण भारत की नाड़ी को परखा जा सकता है। हिन्दी का विकास प्रायः सभी दृष्टियों से हो चुका है और आगे भी होता जा रहा है, इस कारण से भी इस भाषा की आवश्यकता सभी को है। ऐसी भाषा की शिक्षा का भी प्रवन्ध शिक्षा-क्रम के अनिवार्य रूप से होना चाहिये ताकि सभी शिक्षित लोग इससे पूर्ण परिचित रहे।

शिक्षा-क्रम में हिन्दी का स्थान—शिक्षा-क्रम में विभिन्न विषयों के पठन-पाठन के लिये दो प्रकार का नियम है— कुछ विषय अनिवार्य होते हैं जिन्हें प्रत्येक विद्यार्थी को पढ़ना ही पड़ता है, तथा कुछ विषय ऐच्छिक होते हैं जिनका पढ़ना छात्रों की इच्छा पर निर्भर रहता है। ऐच्छिक विषयों के अन्तर्गत ही वैकल्पिक विषयों को भी रखा जा सकता है जिनमें छात्रों को एक विषय के स्थान पर दूसरा विषय पढ़ने का अधिकार रहता है। फिर विषयों के अनुसार विभिन्न स्तरों के लिए भी विषयों को निर्धारित किया जाता है जैसे प्राइमरी कक्षाओं के लिए प्रान्तीय भाषाओं का महत्व अधिक है। अतः हर प्रान्त में प्राइमरी स्कूलों के पाठ्य-क्रम में वहाँ की भाषा, सामान्य गणित, जिले और प्रान्त का भूगोल आदि सामान्य विषयों का अध्ययन आवश्यक होना चाहिए। मिडिल स्कूलों में हर प्रान्त में हिन्दी को अनिवार्य होना चाहिए तथा क्रमशः उसकी स्थिति दृढ़ बनना चाहिए। यदि प्राइमरी कक्षाओं से हिन्दी प्रारम्भ करा दी जाय तो अधिक लाभ हो सकता है। हाई स्कूल तथा इससे ऊँची कक्षाओं में हिन्दी की अनिवार्य रूप में पढ़ाया जाना चाहिए। पर यह आवश्यक नहीं है कि हिन्दी काव्य और उच्च साहित्य को अनिवार्य कर दें बल्कि सामान्य रूप से हिन्दी भाषा का ज्ञान कराना चाहिए। हमारे दैनिक जीवन में हिन्दी-साहित्य का महत्व उतना अधिक नहीं है जितना कि हिन्दी भापा का। अतः भाषा के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। सामान्य हिन्दी को उच्चतम कक्षाओं तक अनिवार्यतः चलाना चाहिए। ऊँची कक्षाओं में अन्य वियषों का माध्यम भी हिन्दी को बनाना चाहिए। इससे लाभ यह होगा कि थोड़े ही समय में जिन प्रान्तों में हिन्दी प्रचार कम है वहाँ भी अधिक हो जायगा। इसकी कृपा से उत्तर भारत और दक्षिण भारत के लोग एक दूसरे को सफलतापूर्वक

समझेंगे तथा पारस्परिक सहानुभूति बढ़ेगी। एकता को दृढ़ बनाने में हिन्दी सहायक होगी। हिन्दी भाषा का जब शिक्षाक्रम में महत्वपूर्ण स्थान हो जायगा तो अन्य भाषाओं के अच्छे ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद होगा तथा हिन्दी के उत्कृष्ट ग्रन्थों का अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद होगा। इससे साहित्यिक विकास होता चला जाएगा।

हिन्दी भाषा की प्रकृति संस्कृत भाषा से अधिक मिलती है और संस्कृत भाषा के अनेक शब्दों को विभिन्न भारतीय भाषाओं ने अपनाया है। प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाएँ धार्मिक और संस्कृत सम्बन्धी असंख्य ग्रन्थों के अनुवादों से भरी हुई हैं, और हिन्दी को तो मूल निधि संस्कृत से उत्तराधिकार के रूप में मिली है। काव्य-शास्त्र, दर्शन, अर्थशास्त्र आदि असंख्य विषय ऐसे हैं जिनकी मूल कथावस्तु और विचारधारा संस्कृत से सीधी ली गई है। इससे हिन्दी का सर्वदेशीय रूप भारत की अन्य भाषाओं से अधिक सरल तथा सुगम है।

हिन्दी के व्यापक प्रचार में कतिपय बाधाएँ—लगभग डेढ शताब्दी से राजकाज में अंग्रेजी और उर्दू का प्रयोग होता चला आ रहा था। कचहरियों के हर स्तर के कर्मचारी इन्हीं भाषाओं में अभ्यस्त हो गये थे। उनके सामने हिन्दी सीखने में कठिनाई थी, अतः कुछ लोगों ने विरोध किया किन्तु जिन प्रान्तों में हिन्दी को उचित स्थान मिला, वहाँ की बाधाएँ भी दूर हो गईं। अब इसका विरोध दक्षिण भारत तथा बँगला के कतिपय नेताओं द्वारा किया जाता है। इसके मुख्यतया दो कारण हैं—पहला यह कि अँग्रेजी के हटने के बाद संकीर्ण राष्ट्रीयता का भी सिर उठने लगा। सभी भाषाओं के समर्थकों में स्पर्द्धा की भावना जगी, अतः सब लोग प्रान्तीय शासन में प्रान्तीय भाषाओं को मुख्यता देना चाहते हैं। एक सीमा तक स्थानीय महत्व के कार्यों में इन भाषाओं का प्रयोग बुरा नहीं है परन्तु व्यापक स्तर पर हिन्दी में कार्य होना चाहिए। दूसरा कारण यह है कि प्रजातन्त्र के युग में जनमत प्राप्त करने के इच्छुक नेता भाषा के आधार पर लोकमत को उभारना चाहते हैं तथा लोगों से अपना मत मनवाने का साधन हिन्दी-विरोध को बनाते हैं। मद्रास में हिन्दी के प्रश्न को लेकर एक बहुत बड़ा आन्दोलन हुआ और अनेक कट्टर-पंथी हिन्दी-विरोधी उसको जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए तत्पर हो गये। इस हठधर्मी को रोकना ही होगा और हिन्दी का प्रसार करना होगा। यह बाधा तब दूर हो सकती है जब नेता वर्ग स्वार्थ को छोड़कर व्यापक दृष्टिकोण अपनायें और पूरे भारत को एक संगठित इकाई के रूप में मानें। यह भावना धीरे-धीरे प्रगति कर रही है।

एकता की भावना का विकास—जैसे-जैसे राष्ट्रीयता का व्यापक विकास होता जाएगा, वैसे-वैसे एकता की भावना भी बढ़ती जावेगी। इस भावना के विकास का माध्यम हिन्दी ही बन सकती है। भारतीय समाज की एकता का प्रतीक यहाँ के हिन्दुओं के तीर्थ-स्थान हैं जो उत्तर में काश्मीर से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी अन्तरीप तथा पूरब में गंगासागर से लेकर पश्चिम में काठियावाढ़ तक फैले हुए हैं। देश के विभिन्न प्रान्तों के करोड़ों यात्री इन तीर्थ-स्थानों का दर्शन करने जाते हैं और उन तीर्थों के माहात्म्य को जानने की जिज्ञासा रखते हैं। इन स्थानों से सम्बन्धित देवताओं के सम्बन्ध में हिन्दी में पर्याप्त साहित्य है। उनका प्रचार हिन्दी के माध्यम द्वारा अहिन्दी भाषी प्रान्तों में होना चाहिए, इस सम्बन्ध में नये साहित्य का निर्माण भी होना चाहिए।

अखिल भारतीय स्तर की संस्था—जैसे 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' तथा अन्य संस्थाओं की मान्यता सभी विश्वविद्यालयों को स्वीकार करनी चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि इन संस्थाओं की परीक्षाओं का प्रचार बढ़ेगा और स्वतः हिन्दी का विकास पूरे भारतवर्ष में हो जायगा।

उपसंहार—इस प्रकार से वर्तमान युग में जबकि विज्ञान ने हर प्रकार की सुविधायें सुलभ कर दी हैं तो और स्वाभाविक रूप से एक प्रान्त के आदमी अति दूर के प्रान्तों में जाया करते हैं। प्रचार के साधन द्रुतगामी तथा सरल हो गये हैं। सारा देश एक ही केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित हो रहा है। पूरे देश में एक प्रकार की शिक्षा-नीति चल रही है। ऐसी स्थिति में हिन्दी को शिक्षा के क्रम में उचित स्थान मिल जाने पर उसका प्रचार सारे देश में स्वल्प काल में ही हो जायेगा। हिन्दी को चूँकि विधान द्वारा भारत की राष्ट्रभाषा का स्थान प्राप्त हो गया है अतः इसको शिक्षाक्रम में अनिवार्य स्थान मिलना चाहिए। इसी से देश की वास्तविक एकता दृढ़ होगी।

४२. विद्यार्थी और अनुशासन

१—भूमिका, २—विद्यार्थी का कर्त्तव्य, अनुशासन की रूपरेखा, ४—विद्यार्थियों को अनुशासन से लाभ, ५—अनुशासन मानने में बाधाएँ, ६—उपसंहार।

भूमिका—अनुशासन का जीवन में अत्यधिक महत्व होता है। निर्माण काल में तो इसका और भी अधिक महत्व होता है। जीवन के सभी तत्व अनुशासन से प्रेरित होते हैं। यही बात महाकवि 'प्रसाद' ने कामायनी में 'मनु' से कहलाई है—**'सिर नीचा कर किसकी सत्ता, सब करते स्वीकार यहाँ। मौन भाव से प्रवचन करते, जिसका वह अस्तित्व कहाँ'**। यहाँ अस्तितव अनुशासन में ही है।

जीवन में विद्यार्थी जीवन का सर्वाधिक महत्व है। इसी जीवन की सफलता पर भावी जीवन की सफलता निर्भर रहती है। जिसका जीवन सुन्दर तथा उचित ढंग से बीतता है, उसका शेष जीवन स्वतः सफल बनता चला जाता है। इस जीवन को सुयोग्य बनाने में अनुशासन का महत्वपूर्ण स्थान है। अनुशासन ही वह धन है जो व्यक्ति को सुखी बनाता है। जो विद्यार्थी जीवन में उचित अनुशासन में रह कर समय व्यतीत करता है, उसका जीवन-क्रम एक ऐसे व्यवस्थित तथा सफल मार्ग पर चलने का अभ्यासी हो जाता है कि वह विद्यार्थी जीवन में तो सफलता और सम्मान पाता ही है, भविष्य के लिए मार्ग निर्धारण में भी सफल होता है। उसका जीवन उचित अनुशासन में विवेक-पूर्ण निर्णय करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। वह उचित ढंग से कार्य करने का, सम्मानित जीवन बिताने का तथा अनेक प्रकार की बुराइयों से बचने का मार्ग अपना लेता है। अतः विद्यार्थी का अनुशासन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनुशासन का विद्यार्थी जीवन में अत्यधिक महत्व है।

विद्यार्थी का कर्तव्य—विद्यार्थी जीवन की अवस्था है—पाँच वर्ष से लेकर ३५ वर्ष तक की। यही आयु है जब मनुष्य अपने जीवन के लिए उपयोगी शिक्षा ग्रहण करता है। विविध प्रकार का ज्ञान इसी जीवन में प्राप्त किया जाता है। यह ज्ञान मुख्यतया

दो प्रकार से प्राप्त होते हैं—प्रथम अपने आस-पास के वातावरण के अध्ययन और अनुकरण से, दूसरे पुस्तकों के अध्ययन और मनन चिन्तन से। पुस्तक ज्ञान की परीक्षाएँ समयानुसार लिखित रूप से ली जाती हैं तथा अन्य प्रकार के ज्ञान की हमें दैनिक जीवन में निरन्तर आवश्यकता पड़ती रहती है। विद्यार्थी को उसके अभिभावक बारम्बार पढ़ने को कहते हैं; परन्तु उसका चंचल मन तथा क्रीड़ाप्रिय प्रवृत्तियाँ उसे दूसरी ओर खींचती हैं। ऐसी दशा में अनुशासन ही वह अस्त्र है जो उसे उचित रूप में शिक्षा ग्रहण करने का अवसर देता है। अनुशासन भावना के निर्बल होने पर विद्यार्थी का मन विभिन्न प्रकार की विपथगामी प्रवृत्तियों का शिकार बन जाता है। परिणाम यह होता है कि वह कर्तव्यों उचित रूप में नहीं कर पाता, उसके प्रथम कर्तव्य, ज्ञानार्जन में अनुशासनहीनता सबसे बड़ी बाधा सिद्ध होती है। उसके दूसरा कर्तव्य है—स्वास्थ्य बनाना। अनुशासन-हीनता के कारण स्वास्थ्य भी ठीक ढंग से नहीं बन पाता। फलतः विद्यार्थी का कोई भी कर्तव्य बिना अनुशासन के पूरा नहीं हो पाता।

अनुशासन की रूपरेखा—सम्बन्धित नियमों का पालन करना ही अनुशासन है। विद्यार्थियों को पाठशाला के नियमों का पालन, गुरुजनों की आवश्यक तथा उपयोगी आज्ञाओं का मानना तथा अपने से छोटों और बड़ों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना आदि अनुशासन में आते हैं। जीवन का वास्तविक निर्माण विद्यार्थी जीवन में ही होता है। यह ऐसी अवस्था होती है, जब मन में संस्कार ग्रहण की क्षमता अधिक होती है। साथ ही साथ भावुकता भी अधिक रहती है। इस विद्यार्थी जीवन में विवेक-शक्ति स्वल्प कार्य करती है। अतः दूरदर्शिता का अभाव स्वाभाविक होता है। ऐसी दशा में अनुशासन उसे ठीक मार्ग पर ले जाने में सहायक होता है। अनेक बातों को उसे अनुशासन के कारण मानना पड़ता है, जिनका उनके मन के अनुसार कोई ठोस लाभ नहीं दीखता, पर भविष्य का परिणाम तो लाभकारी होता है। यह जीवन ऐसी अवस्था में चलता है जब दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाने का पूरा अवसर रहता है। यह लाभ अनुशासन में रह कर उठाया जा सकता है। परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करना अनुशासन के कारण सरल हो जाता है। अनुशासित लड़के अपने मन को अध्ययन में लगाने के अभ्यस्त हो जाते हैं जिससे उनका अध्ययन ठोस और अच्छा होता है तथा परीक्षा में अच्छी सफलता मिलती है कक्षा तथा खेल के मैदान या घर, हर स्थान पर यथोचित अनुशासन रहता है, तथा विद्यार्थी का कर्तव्य होता है कि अनुशासन में रहकर कार्य करे।

अनुशासन से लाभ—अनुशासन मानने से जीवन में **व्यवस्था का वातावरण** बनता है। जो लोग अनुशासन नहीं मानते उनको अपने मन की चंचलता को दबाने में सफलता नहीं मिल पाती तथा उसी के कारण वे अपने अध्ययन को सुचारु रूप से नहीं पूर्ण कर पाते। पहले तो मन पढ़ने में स्वयं लगेगा नहीं और यदि दिखावे के लिए बैठेंगे भी, तो मन कहीं दूसरी जगह घूमता रहेगा और विषय का ज्ञान नहीं होगा। फलतः बुद्धि पाठ्य-विषयों में प्रवेश ही नहीं करेगी और फिर मन धीरे-धीरे बढ़ने से भागने लगेगा। ऐसी दशा में मन को प्रयासपूर्वक लगाना पड़ता है और कालान्तर में वह पाठ्य विषयों को ग्रहण करने लगता है। फिर उसे पठन-पाठन में आनन्द आने लगता है। आगे चलकर विषयों का अच्छा ज्ञान होने लगता है और परीक्षाओं में अच्छी

सफलता मिलती है। यह कार्य अनुशासन के बिना दुस्साध्य होता है। अनुशासन से दैनिक जीवन में व्यवस्था आ जाती है। इसके द्वारा अनेक गुणों का विकास होता है। नियमित रूप से कार्य करने की क्षमता का विकास होता है। अनुशासन द्वारा कर्तव्य और अधिकार का समुचित ज्ञान होता है। यह एक ऐसा गुण है जिससे मनुष्य सर्वप्रिय बन जाता है। अनुशासित विद्यार्थी के लिये सबकी सद्भावनाएँ स्वभावतया बनी रहती हैं। अनुशासन सांसारिक जीवन को सुन्दरता से चलाने में सहायक होता है। संक्षेप में अनुशासन जीवन में रस उत्पन्न करके उसका उचित विकास करता है। परिवार में अनुशासन मानने की एक परम्परा बन जाती है, जिससे व्यक्ति गृह-कलह से बच जाता है। इस प्रकार से विद्यार्थियों को अनुशासन से अनेक लाभ होते हैं। ठीक ही कहा गया है कि अनुशासन ही जीवन है।

अनुशासन मानने में बाधाएँ—विद्यार्थी जीवन में कुछ ऐसी बाधाएँ आ जाती हैं जो विद्यार्थियों को अनुशासित नहीं रहने देतीं। जैसा कि कहा जा चुका है प्रथम् बाधा मन की चंचलता के कारण आती है। विद्यार्थी समुदाय का मन अनुभवी नहीं होता। अतः गुरुजनों की आज्ञाएँ उसे दबाव जैसी ज्ञात होती हैं और विद्यालयों के नियम कारागार के जैसे। वह उन सभी बन्धनों से मुक्ति अवश्य चाहता है, चाहे परिणाम कुछ भी हो। इसके लिये अनुशासनहीन बनना पड़ता है। **वर्तमान युग में प्रजातन्त्र की भावना** के विकास के साथ अनेक संगठनों की स्थापना हुई और स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में यूनियनों का संगठन बना। अध्यापकों में भी कुछ ऐसे लोग हैं जो अनेक प्रकार के अनुशासन के कार्य में बाधक बन जाते हैं। मजदूरों और मालिकों जैसा सम्बन्ध छात्रों और अधिकारियों तथा अध्यापकों में मन लिया जाता है। अतः अनुशासन के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। छात्रों की अनुशासनहीनता इतनी बढ़ जाती है कि वे अपना तथा संस्था दोनों का अहित करते हैं। धीरे-धीरे कतिपय छात्रों में भी नेतागीरी की लालसा प्रबल हो जाती है और वे अनुशासनहीनता बढ़ाते हैं। छात्रों को राजनीति का ज्ञान रखना आवश्यक है पर राजनीतिक दाँव-पेंच को पेशा बनाकर अपने मूल कर्तव्य को भूल जाना हानिकर होता है। ऐसी स्थिति अनुशासन-हीनता में ही उत्पन्न होती है।

सिनेमा तथा अन्य मनोरंजन के साधनों से ज्यों-ज्यों छात्रों का परिचय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उनमें अनेक प्रकार की अनुशासनहीनता भी बढ़ती जाती है। अनुशासन के मार्ग सहशिक्षा से भी कुछ बाधाएँ उत्पन्न होती हैं क्योंकि मनोवृत्तियों की धारा अनेक परिस्थितियों के कारण संयत नहीं रह पाती। पाश्चात्य सभ्यता का विकास और प्रसार अनुशासन को बिगाड़ने में सहायक हो रहा है। स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की भावना अच्छी होते हुए भी विद्यार्थियों के लिए घातक सिद्ध हो रही है। आज का विद्यार्थी मानता है कि छात्र और अध्यापक का सम्बन्ध सामान्यतया कुछ समता जैसा है। अतः उस पर गुरुओं के गौरव का अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ पाता। इन सिद्धान्तों के कारण भी अनुशासन में बाधा पड़ती । पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली जिस रूप में आज विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में चल रही है उसमें छात्रों को पर्याप्त खाली समय मिलता है जब वे स्वच्छन्द रहते हैं तथा मनमाने ढंग से घूमते हैं। यह भी अनुशासन के मार्ग की एक बाधा है।

उपसंहार—आजकल विद्यार्थियों के जीवन का ज्यों-ज्यो विकास होता है, त्यों-त्यों उनके सामने दो प्रकार के आदर्श आने लगते हैं। एक आदर्श उन छात्रों का होता है जो निरन्तर परिश्रम करते हैं, नियमित रूप से रहते हैं; ज्ञान के लिए प्रायः सभी सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करते हैं और उद्दण्डताओं तथा अनेक प्रकार की स्वच्छन्दताओं से दूर रहते हैं। फलस्वरूप कभी-कभी उपवास के पात्र भी बनते पर परीक्षा में अच्छी श्रेणी में होते हैं। दूसरा वर्ग उन विद्यार्थियों का होता है जो बाजारू व्यवहार को अच्छा मानकर कार्यान्वित करते हैं। मनमाने ढंग के अपना रहन-सहन रखते हैं। प्रायः सभी गति विधियों में सक्रिय भाग लेते हैं, खेलते तो कम हैं 'प्लेयर के मूड' में अधिक रहते हैं, गुरुओं को भी मुँहतोड़ उत्तर देते हैं। नेता भी कहे जाते हैं पर परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना आवश्यक नहीं मानते। इनमें ही अनुशासन का अभाव अधिकतर देखा जाता है। प्रायः छात्र दूसरे वर्ग की ही अधकचरी नकल करते हैं तथा जाने-अनजाने में जीवन को अनुशासनहीन बनाकर पश्चाताप करते हैं। अपने भावी जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए विद्यार्थियों के लिए यह अति आवश्यक है कि वे अनुशासन में रहें। अनुशासन और सफलता का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ अनुशासन है, वहीं सफलता है और जहाँ अनुशासनहीनता है, वहाँ असफलता है।

४३. विद्यार्थी और राजनीति

१—भूमिका, २—विद्यार्थी के कर्तव्य, ३—राजनीति का अभिप्राय, ३—विद्यार्थी का राजनीति से सम्बन्ध, ५—राजनीति के लाभ-हानि, ६—उपसंहार।

भूमिका—विद्यार्थी जीवन में प्रायः सभी प्रकार की बातों का अध्ययन अनिवार्य होता है। साहित्य, कला, इतिहास, मनोविज्ञान चिकित्सा-विज्ञान आदि सभी प्रकार के विषय पढ़ाये जाते हैं, उन्हीं में राजनीति भी एक विषय है। कतिपय छात्र राजनीति का विषय अपनी बी० ए० तथा तत्समकक्ष कक्षाओं में लेते हैं। इस अध्ययन का ध्येय परीक्षा में उत्तीर्ण होना होता है। पर आज के युग में राजनीति एक ऐसा विषय बन गया है कि खेत में काम करने वाले मजदूर से लेकर कालेज के विद्यार्थी तक तथा गाँवों की अशिक्षित जनता से लेकर बड़े-बड़े अधिकारियों तक का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध इससे हो गया है। किसी न किसी रूप में सभी लोग राजनीति की बातें करते रहते हैं। विद्यार्थी का समाज बहुत बड़ा तथा व्यापक है, जो क्रमशः सभी क्षेत्रों में जाता रहता है। अतः विद्यार्थी और राजनीति का सम्बन्ध कैसा रहना चाहिए यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। विद्यार्थी को राजनीति में कितना क्रियात्मक भाग लेना चाहिए तथा किस सीमा तक उससे अलग रहना चाहिए यह एक ऐसा प्रश्न है जो आज भी विवादग्रस्त बना हुआ है।

विद्यार्थी के कर्तव्य—विद्यार्थी का मुख्य कर्तव्य है विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करना तथा ज्ञान भण्डार से अपने योग्य काव्य-रत्नों का अध्ययन करके संग्रहित करना। सामान्यतया विद्यार्थी को प्रायः सभी विषयों से सामान्य परिचय प्राप्त करना चाहिये तथा अपनी बौद्धिक शक्ति के योग्य विषयों को क्रमशः ऊँची शिक्षा के लिये

चुनना चाहिये । इस चुनाव में किसी भी कारण से जो छात्र गलती कर जाते हैं उनका जीवन सफल नहीं हो पाता । जिस विद्यार्थी की प्रवृत्ति विज्ञान में लगती है उसे विज्ञान ही पढ़ना चाहिए, परन्तु जिसकी बुद्धि साहित्य में लगे उसे साहित्य सम्बन्धी विषयों का अध्ययन करना चाहिए । राजनीति में जिस छात्र की रुचि हो उसे राजनीति का अध्ययन अवश्य करना चाहिए । सामान्य ज्ञान के लिये थोड़ी-बहुत राजनीति सब विद्यार्थी को जाननी चाहिये । विद्यार्थी जीवन अर्जित ज्ञान को व्यवहार में लाने के लिये कम होता है और ज्ञान की पुष्टि के लिये अधिक होता है । अतः सामान्यतः विद्यार्थियों को क्रियात्मक राजनीति से दूर ही रहना चाहिये अन्यथा राजनैतिक आन्दोलन उनके जीवन-क्रम को अस्त-व्यस्त कर देते हैं । ज्ञान के समान ही विद्यार्थी का अनुशासन से भी सम्बन्ध है जो सक्रिय राजनीति में भाग लेने के कारण नष्ट हो जाता है । राजनीति एक ऐसा भूत है कि वह जब किसी विद्यार्थी को लग जाता है तो वह उसको किसी भी अन्य कार्य को नहीं करने देता ।

विद्यार्थियों का अपने माता-पिता तथा सारे परिवार के प्रति महान् उत्तरदायित्व होता है, उसका भी उसे ध्यान रखना चाहिये । इसके बाद अपने समाज जाति, धर्म, देश तथा संस्कृति के प्रति भी उसका दायित्व कम नहीं है । इन सभी उत्तरदायित्वों पर विवेकपूर्वक विचार करके उसे ज्ञानार्थ ही राजनीति में भाग लेना चाहिये न कि नेता बनने के लालच में अपने सभी दायित्वों को बलि देकर सक्रिय राजनीति में भाग ले ।

राजनीति का अभिप्राय—उन सामाजिक तथा सरकारी नियमों का ज्ञान जिनके आधार पर राजकीय कार्य चला करता है, राजनीति ज्ञान कहा जाता है । व्यापक अर्थ में इन कार्यों से सम्बन्धित इतर ज्ञान भी राजनीति की सीमा में आते हैं । प्रजातन्त्र के युग में तो राजनीति का क्षेत्र और भी बढ़ गया है । आज हर व्यक्ति का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में शासन से हो गया है । हर व्यस्क को अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है । हर एक प्रत्याशी अपना प्रचार करता है । जनता सबकी बातें सुनती है तथा उन्हीं में से अपना प्रतिनिधि चुनती है । विद्यार्थी अपनी शिक्षा के लिए बड़े नगरों तथा कस्बों में जाते हैं । यहाँ आये दिन किसी न किसी पार्टी के नेता आते हैं तथा उनके भाषण भी होते हैं । इन भाषणों में विद्यार्थियों की संख्या कम नहीं रहती । भाषणों का उनकी अल्प-बुद्धि पर प्रभाव पड़ता है । उनकी भावुकता के कारण इन भाषणों का रंग गहरा हो जाता है । परिणाम यह होता है कि उनमें से कुछ बाहरी बातों में ही अधिक रुचि रखने लगते हैं तथा परीक्षा को उचित ढंग से उत्तीर्ण नहीं कर पाते । कुछ लोगों का ध्येय नेता बनना हो जाता है । वे अपने विद्यालयों में भी पढ़ने के स्थान पर राजनैतिक कही जाने वाली बातों पर वाद-विवाद अधिक करते हैं । कहीं भाषण सुनने जाते हैं, तो कहीं जुलूस में भाग लेते हैं तो कहीं हड़ताल का समर्थन करते हैं—इन सब गतिविधियों का प्रभाव यह पड़ता है कि उनका अध्ययन अव्यवस्थित हो जाता है तथा राजनीति का अर्थ हुल्लड़बाजी मान बैठते हैं । विषयों के समुचित ज्ञान के अभाव में ये सुनी-सुनाई बातों को लेकर विवाद ही करते रह जाते हैं । इस प्रकार से राजनीति के क्रियात्मक पक्ष से विद्यार्थियों को विवेकपूर्वक बचना चाहिये ।

विद्यार्थी का राजनीति से सम्बन्ध—ज्ञान के लिए विद्यार्थियों को राजनीति

का सामान्य मनन-चिन्तन करना चाहिये। अपनी अवस्था के अनुसार देश-विदेश में घटने वाली घटनाओं का विश्लेषण करना चाहिये। जिज्ञासु भाव से तर्क-वितर्क भी करना चाहिये ताकि उसका ज्ञान विस्तृत हो। उन्हें अनेक प्रकार के आन्दोलनों पर विचार करना चाहिये तथा पाठ्य-क्रम के अध्ययन से बचे समय का उपयोग सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये करना चाहिये। विश्व में प्रचलित विभिन्न विचारधाराओं का विश्लेषणपूर्वक अध्ययन करना चाहिये तथा अपने और समाज के लिये उपयोगी विचार-धारा का परीक्षण और चुनाव करना चाहिये। उनका यह भी कर्त्तव्य है कि वे राजनीति के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों को ठीक ढंग से जानें। इनको जाने बिना उनके जीवन में पूर्णता नहीं आ सकती। उनका ज्ञान ठोस तथा परिस्थिति के अनुकूल चलने वाला हो। उन्हें राजनीति से अपने कर्त्तव्य और अधिकारों का समुचित ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, जिसे वे भावी जीवन में कार्यान्वित कर सकें न कि क्रियात्मक राजनीति में पथ-भ्रष्ट हों।

राजनीति में भाग लेने से लाभ—वर्तमान काल में मनुष्य का जीवन अधिकांश में राजनीति से सम्बद्ध हो गया है। प्रजातन्त्र के युग में जनता और सरकार के बीच की खाई अधिक संकीर्ण हो गई है। हर व्यक्ति का जीवन सरकार के लिये बनता चला जा रहा है। साम्यवादी तथा अधिनायकतन्त्र से शासित देशों में तो व्यक्ति पूर्णतया सरकार के ही लिये है। उसका अस्तित्व केवल कहने के लिये है। उसकी शिक्षा और दीक्षा भी ऐसे वातावरण में होती है कि वह स्वतन्त्र चिन्तन में प्राय: असमर्थ हो जाता है। इस तरह की और भी अनेक व्यवस्थाएँ विभिन्न देशों में चल रही हैं। कहीं-कहीं उद्योग, अर्थवाद, भौतिकवाद ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। अत: राजनीति का ज्ञान रखने वाला विद्यार्थी अपने जीवन के लिये सुयोग्य मार्ग चुन सकता है। वह देश, समाज के लिये उचित व्यवस्था का समर्थन कर सकता है। देश की औद्योगिक, आर्थिक और सामाजिक उन्नति में सहायक हो सकता है। विवेकपूर्वक ढंग से अध्ययन करने वाला विद्यार्थी राजनीति से पूरा लाभ उठा सकता है। अपने देश में विद्यार्थियों के ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाएँगे जिन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में राजनीति का गहन अध्ययन कर जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझा है और अपने जीवन को उज्ज्वल बनाया है।

राजनीति में भाग लेने से हानियाँ—जब विद्यार्थी राजनीतिक कार्यों में भाग लेना अपना मुख्य कर्तव्य मान लेता है तब उसका मन पाठ्यक्रम पढ़ने से हट जाता है। उसका जीवन अत्यधिक व्यस्त हो जाता है और उसे पढ़ने-लिखने के लिये समय कम मिल पाता है। अत: अधकचरे ज्ञान के कारण भावी गृहस्थ जीवन का उत्तरदायित्व सुचारु रूप से निभाने में असमर्थ हो जाता है। अखबारों को पढ़ने में तथा विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद में वह बराबर उलझा रहता है। उसका एक विद्यार्थी के रूप में सम्मान घट जाता है और तथाकथित नेता बनकर अन्धकारमय भविष्य में बढ़ता रहता है। इन कार्यों से उसमें अनुशासन-हीनता आ जाती है। इससे उसकी अपने समाज की परम्परागत अच्छाइयाँ भी बुराई के रूप में सामने आने लगती हैं अत: अपनी संस्कृति से उसमें अनिच्छा तथा विदेशी संस्कृति से प्रेम होने लगता है। उसमें अहंकार की भावना प्रमुख हो जाती है। एक प्रकार से उसकी कथनी और करनी में

साम्य नहीं हो पाता है। इस प्रकार से विद्यार्थी जब राजनीति में भाग लेने लगता है तो उसका जीवन-क्रम पथ-भ्रष्ट होकर प्रायः नष्ट हो जाता है। उसे किसी भी विषय का ठोस और पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। ऐसे विद्यार्थी चौराहों पर खड़े होकर राजनीतिक विषयों पर गरमागरम बहस करने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानते हैं और अपने कर्तव्य-पथ से च्युत हो जाते हैं।

उपसंहार—विद्यार्थियों को अनेक महत्वाकांक्षाओं तथा अभिलाषाओं से प्रेरित होकर उनके अभिभावक विद्यालयों में भेजते हैं। उनको आशा रहती है कि लड़का पढ़-लिखकर आदर्श जीवन बितायेगा तथा परिवार, देश, जाति का कल्याण करेगा। किन्तु वही लड़का जब सक्रिय राजनीति का खिलाड़ी बनकर हड़ताल का नेता बनता है और रेल यात्रा करता है तो उसकी क्या दशा होती है, इसे कोई भुक्त-भोगी ही जान सकता है। यदि कहीं राजनैतिक कैदी बना तो वर्तमान में उसका घर-बार भी चौपट हो जाता है। इस प्रकार उन अभिभावकों को लेने के देने पड़ जाते हैं। विद्यार्थी की शिक्षा प्रायः समाप्त हो जाती है। दूसरी बात यह है कि विद्यार्थी जीवन में राजनीति में पड़ने वाला व्यक्ति सफल राजनीतिज्ञ भी नहीं बन पाता, कारण उसमें समुचित ज्ञान का अभाव रहता है। राजनीति की उपयोगिता का उसे ज्ञान ही नहीं रहता। अतः वह निर्माण तथा उपयोगी कार्यों को कम कर पाता है। उसमें सहयोग की भावना का पूर्ण विकास भी नहीं हो पाता और विवेकपूर्ण निर्णय वह शीघ्रता से नहीं कर पाता। यही कारण है कि सभी पार्टियों में से ऐसे कथित राजनीतिज्ञों की अधिकता है जो अपनी स्वार्थपरता तथा लोलुपता के कारण उपद्रव बढ़ाया करते हैं तथा उत्तरदायित्व पूर्ण नेतृत्व नहीं कर पाते। अतः विद्यार्थी को सक्रिय राजनीति से दूर ही रहना चाहिये।

४४. आदर्श विद्यार्थी

१—भूमिका, २—विद्यार्थी का जीवन-क्रम, ३—उसकी अवस्था का स्वाभाविक क्रम, ४—सरलता तथा स्वाभाविकता, ५—उसका आदर्श, ६—विद्यार्थी का ध्येय, ७—उपसंहार।

भूमिका—सभी अभिभावक अपने बच्चों को स्कूलों में भेजते हैं। वर्तमान युग में सरकार भी प्रयत्न कर रही है कि देश के सभी बच्चे पढ़ें। इसका यह अर्थ है कि सभी नवयुवकों और नवयुवतियों को शिक्षा के समान अवसर मिले। इसका व्यावहारिक अर्थ यही है कि सामान्य रूप से सभी कामचलाऊ शिक्षा मिलनी चाहिए। जिसमें बौद्धिक संस्कार जितना ऊँचा हो, उसे उतनी उच्च स्तर की शिक्षा के लिए सुविधा दी जावे। बाकी देश में हर काम को उत्तरदायित्वपूर्वक पूर्ण करने वाले लोग तैयार हों और देश का बहुमुखी विकास हो तथा जनता का सामान्य जीवन सुखमय बन सके। प्रारम्भिक शिक्षा तो सभी के लिए आवश्यक है। विद्यार्थी को प्रारम्भ में यदि उचित संरक्षण तथा शिक्षण मिलता है, तभी वह आदर्श विद्यार्थी बन पाता है। किसी के जीवन को सुधारने के लिए यह अति आवश्यक है कि प्रारम्भ से ही उस पर उचित ध्यान

दिया जाय। जो लोग अपने बच्चों को सफल तथा योग्य नागरिक बनाना चाहते हैं उन्हें निरन्तर ध्यान रखना चाहिए कि लड़का आदर्श विद्यार्थी बनने की दिशा में अग्रसर होवे। यदि वह आदर्श विद्यार्थी नहीं बना तो भावी क्रम में भी आदर्श नहीं हो पायेगा।

विद्यार्थी का जीवन-क्रम—जो विद्यार्थी नियमित रूप से अपना पाठ्यक्रम तैयार करता रहता है, उसका यह क्रम दूसरों के लिये आदर्श हो जाता है। अध्ययन ही विद्यार्थी का मुख्य कार्य है। दूसरा क्रम है हर वस्तु को स्वच्छता तथा सुन्दरता से रखना तथा स्वयं स्वच्छ तथा व्यवस्थित रूप में रहना। आदर्श विद्यार्थी को इस बात पर अधिक ध्यान देना चाहिये। उसकी पुस्तकें, कापियाँ, कपड़े, शरीर आदि सभी वस्तुएँ स्वच्छ तथा व्यवस्थित रहनी चाहिये। उसका तीसरा महत्वपूर्ण कार्यक्रम है खेलने का। उसे नियमित रूप से खेलना चाहिए तथा अपने स्वास्थ्य को ठीक रखना चाहिए। स्वास्थ्य पर ही जीवन के सारे सुख आधारित रहते हैं। इसके लिए उसे खान-पान पर भी ध्यान देना चाहिए। उसे सड़ी-गली चीजें नहीं खानी चाहिए। हर जगह उसे खाने की आदत नहीं डालनी चाहिए। उचित भोजन उचित स्थान पर करने की आदत आदर्श विद्यार्थी को बनाना चाहिए। बचपन से ही उसे क्रमशः अपने कर्तव्यों का पालन करना सीखना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि उसे अपने उत्तर-दायित्व का ध्यान रहता है। जब विद्यार्थी अपने कर्तव्यों का पालन करता रहता है तो उसे झूठ बोलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, वह सदा प्रसन्न रहता है। विद्यार्थी को प्रसन्नचित्त रहना अनिवार्य है। उसे अपनी संगति पर विशेष ध्यान देना चाहिए। आदर्श विद्यार्थी का कर्तव्य है कि वह अच्छे लोगों से सम्पर्क रखे तथा बुरे लोगों से यथाशक्ति बचकर रहे। मनुष्य के जीवन पर संगति का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है यदि विद्यार्थी चोर, लफंगे तथा दुराचारी लड़कों की संगति में पड़ जायेगा तो निश्चय ही उस पर भी बुरे प्रभाव पड़ने लगेंगे अतः आदर्श विद्यार्थी को ऐसी संगति से बचना चाहिए। आदर्श विद्यार्थी को ज्ञान के प्रति निरन्तर जिज्ञासा रखनी चाहिए। नम्र भाव से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसमें बड़ों के प्रति श्रद्धा तथा छोटों के प्रति स्नेह भाव रहना चाहिए। आदर्श विद्यार्थी को अनुशासित रहना चाहिए तथा अनावश्यक कुतर्क और हठ नहीं करना चाहिए। उसे विद्यालय के नियमों को मानना चाहिए तथा गुरुओं के प्रति आज्ञाकारी होना चाहिए। उसे सिनेमा आदि व्यसनों में कम फँसना चाहिए तथा अपने समय को उपयोगी कार्यों में व्यस्त रखना चाहिए। उसे स्पर्द्धा की भावना से पढ़ना तथा ज्ञानार्जन करना चाहिए। उसे न तो उद्दण्ड होना चाहिए न दब्बू और न झेंपू। इस प्रकार आदर्श विद्यार्थी को अपने कार्यक्रम को सुन्दर बनाकर चलना चाहिए। विद्यार्थी जीवन में अनेक सामूहिक कार्यक्रम भी होते रहते हैं; अतः आदर्श विद्यार्थी को चाहिए कि उनमें समुचित भाग अवश्य ले और अपने दायित्व को सफलता-पूर्वक निबाहे, पर उसी के पीछे अपना मुख्य ध्येय नहीं भूलना चाहिए। आदर्श विद्यार्थी को घर पर भी अपने व्यवहार को ठीक तथा सर्वप्रिय बनाना चाहिए।

सरलता तथा स्वाभाविकता—आदर्श विद्यार्थी को समय और अवसर के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। जीवन-क्रम को सरल रखने वाले विद्यार्थी को मानसिक तथा आर्थिक परेशानियाँ कम होती हैं। उसे बनाव शृंगार की ओर कम ध्यान देना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि उसकी प्रवृत्तियाँ सुलझी हुई रहती हैं और वह जिस विषय को सीखना चाहता है, उसी में मन रमा लेता है, तथा तद्विषयक उसका

ज्ञान स्पष्ट और साधिकार होता है। इसके विपरीत यदि वह बनावट-प्रिय बन जाता है तो उसकी मनोवृत्तियाँ एकाग्र नहीं रह पातीं। कभी उसको बालों को बिगड़ने से बचाने की चिन्ता हो जाती है, कभी किसी के लुभावने कपड़े उसके आकर्षण के विषय बन जाते हैं, तथा कभी कोई अन्य वस्तु। बनावट-प्रिय व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ प्रायः स्थिर नहीं बन पातीं। सरलता से मन में भोलापन आता है तथा विषयों को ग्रहण करने की शक्ति बढ़ती है। साथ ही बुद्धि में चिन्तन मनन की क्षमता का विकास होता है।

स्वाभाविकता की उपयोगिता आदर्श विद्यार्थी के लिए सर्वाधिक है। स्वाभाविक प्रवृत्ति बनाये रखने का परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी अपने स्तर की वस्तुओं को सरलता से समझता है तथा उसके मन में श्रद्धा की भावना जागती है। 'श्रद्धावान लभते ज्ञानम्' के अनुसार उसे हर जगह ज्ञान प्राप्त हुआ करता है। इसके साथ ही उसकी स्वाभाविक वस्त्रों तथा आवश्यक वस्तुओं के सिवाय अधिक के लिए परेशानी नहीं होती। स्वाभाविक प्रवृत्ति वाला विद्यार्थी अपने सामर्थ्य के अनुसार विषयों का चयन करके सफलतापूर्वक उत्तरोत्तर आगे बढ़ता चला जाता है।

इसके विपरीत जो विद्यार्थी दिखावे पर ध्यान देता है वह अनेक प्रकार की भूलें करता है तथा उन्हें चालाकी से छिपाता है अतः उसका सुधार नहीं हो पाता। सरल और स्वाभाविक प्रवृत्ति का विद्यार्थी पहले तो अपराधों से डरता है। यदि कभी कोई अपराध हो तो उसे स्वीकार भी कर लेता है तथा उसका सुधार भी सरलता से हो जाता है। अतः आदर्श विद्यार्थी के लिए दोनों आवश्यक गुण हैं।

विद्यार्थी का आदर्श—अच्छा विद्यार्थी अपने सम्मुख सदैव एक आदर्श रखता है। आदर्श स्थिर रखने वाला विद्यार्थी सदा उसके अनुसार अपने जीवन क्रम को बनाने का प्रयत्न करता है। निष्ठापूर्वक उस आदर्श के अनुसार कार्य करता रहता है। क्रमशः उसकी प्रवृत्ति भी वैसी बनती चली जाती है। महात्मा गाँधी ने 'श्रवण कुमार' तथा 'हरिश्चन्द्र' की मातृ-पितृ-भक्ति तथा सत्य-प्रियता को नाटकों में देखा तथा पुस्तकों में पढ़ा, परिणामतः वे ही उनके आदर्श बन गये। इस आदर्श पर चलने का उन्होंने प्रयत्न किया। अन्त में ये गुण उनकी आत्मा के अविभाज्य अंग बन गये। इसी प्रकार से जो विद्यार्थी आदर्श के अनुसार चलता है उसका जीवन-क्रम निश्चित मार्ग पर आगे बढ़ता है तथा वह अपने लक्ष्य पर समयानुसार अवश्य पहुँचता है। जिनके सामने कोई आदर्श नहीं रहता, उनका जीवन बिना कर्णधार के नाव की तरह भटकता रहता है।

विद्यार्थी का ध्येय—बिना ध्येय निर्धारित किये जो विद्यार्थी आगे बढ़ता है, उसे अपने जीवन में यथेष्ट सफलता नहीं मिल पाती। यदि विद्यार्थी को यही नहीं मालूम होगा कि उसे क्या करना है, तो वह किस प्रकार अपने जीवन को सफल बना सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर हाई स्कूल की परीक्षा के साथ ही मस्तिष्क में बैठ जाना चाहिए। जब विद्यार्थी इसका निश्चय कर लिया करता है तो उसके सामने साध्य वस्तु स्थिर रहती है तथा तदनुकूल साधन जुटाने में उसे सरलता होती है। मान लीजिये किसी विद्यार्थी ने यह तय कर लिया कि मुझे वकील होना है। अतः वह इण्टर कक्षा में कानून सम्बन्धी विषयों का इतिहास, नागरिक शास्त्र, मनोविज्ञान, को

साहित्य विशेषतया अँग्रेजी आदि में से चुनाव करेगा। अपनी बुद्धि को इन्हीं में लगायेगा तथा तर्क-वितर्क द्वारा अपना पक्ष सुदृढ़ करने का अभ्यास करेगा। आगे चलकर इसी राह पर बढ़ता जायेगा तथा बी० ए० उत्तीर्ण करने पर बी० टी०, एल० टी० या बी० एड० जैसी परीक्षाओं की ओर नहीं दौड़ना पड़ेगा। वह सीधे कानून की परीक्षा उत्तीर्ण करके कचहरी में जायेगा। चूँकि उसकी रुचि उस विषय में रम चुकी है अतः वह स्वल्प काल में ही एक सफल वकील बन जायेगा। इसलिए आदर्श विद्यार्थी के सम्मुख एक निश्चित लक्ष्य अवश्य रहना चाहिए।

उपसंहार—आदर्श विद्यार्थी ही अपने गृहस्थ जीवन को सफल बनाने के योग्य बना पाता है। उसका विद्यार्थी जीवन एक अच्छे मार्ग पर चलता हुआ उसके ज्ञान, स्वास्थ्य की अभिवृद्धि करता है। उसे असंख्य लोगों की सद्भावनाएँ तथा शुभकांक्षाएँ प्राप्त रहती हैं। वह प्रभावशाली, विनम्र तथा उत्तरदायी व्यक्ति बन जाता है। उसका परीक्षाफल प्रायः उत्तम रहा करता है। उसका जीवन व्यवस्थित, स्वाभाविक और सरल होता है। परिवार में वह सुख-संतोष और शांति को स्थिर रखने में सफल होता है। उसे अपने कर्त्तव्य और अधिकार का समुचित ज्ञान रहता है। वह एक सफल नागरिक बनता है। उसके जीवन का क्रम निश्चित मार्ग पर चलता जाता है। वह प्रायः किसी को भी शत्रु नहीं बनाता। उसे लोकप्रियता प्राप्त होती है। वह एक ऐसी परम्परा बना देता है जो उसके सम्पर्क में आने वालों को आदर्श प्रदान करती है।

४५. पुस्तकें और उनका महत्व

१—भूमिका, २—पुस्तकों के प्रकार, ३—उनकी भाषा, ४—उनका महत्व, (अ) सामाजिक, (ब) व्यक्तिगत, ५—हानि, ६—उपसंहार।

भूमिका—प्राचीन काल में कागज का आविष्कार नहीं हुआ था। फिर भी जब से मनुष्य ने ध्वनियों के लिए संकेत बना लिया तब से वह अपने विचारों को लिपिबद्ध करता चला आ रहा है। जब से लेखन क्रिया प्रचलित हुई तभी से पुस्तकों का अस्तित्व भी मानना पड़ेगा। प्राचीन काल में पुस्तकें, भोजपत्र तथा ताम्र-पत्रों पर लिखी जाती रहीं। आगे चलकर लेखन-कला का विकास होता गया और कागज के निर्माण ने इस कार्य को खूब प्रोत्साहन दिया। फिर भी पुस्तकें हाथ से ही लिखी जाती थीं और उनकी संख्या कम होती थी। छात्र अपनी आवश्यकतानुसार पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ बना लेते थे, परन्तु अधिकतर कण्ठस्थ करके पढ़ने की प्रणाली प्रचलित थी। पुस्तकों के मूल पाठ को सुरक्षित रखने के लिए पद-पाठ तथा उनके उच्चारण-शैली पर अधिक बल दिया जाता था, यही कारण है कि वेदों के अध्ययन के लिए पद-पाठ तथा उनके उच्चारण के ढंग का अब भी पूर्ण अभ्यास करना पड़ता है। फिर छापे की मशीनों का आविष्कार हो गया और पुस्तकों की अनेक प्रतियाँ तैयार करना सरल हो गया। पुस्तकों के विषय की स्थिरता को सुरक्षित रखना भी सरल हो गया। लेखक और पाठक की भिन्नता तथा असावधानी से अब पाठान्तर की सम्भावना नहीं रह गई

है। तात्पर्य यह है कि आज पुस्तकों की बहुलता हो गई है और उनका महत्व भी बढ़ गया है। पुस्तकों का महत्व उस बाह्य रूप रंग, कागज, जिल्द, चित्र आदि से भी बढ़ता है जिसे लोग देखते हैं। किन्तु पुस्तक का वास्तविक महत्व आज उस विषय की उपयोगिता से आँका जाता है जिसका उसमें विवेचन किया जाता है। अतः पुस्तकों का महत्व आज के युग में बहुत अधिक है।

पुस्तकों के प्रकार—प्रभाव के अनुसार पुस्तकें दो प्रकार की होती हैं—**क्षणिक प्रभाव वाली और स्थायी प्रभाव वाली।** क्षणिक प्रभाव वाली पुस्तकों का महत्व अस्थायी रहता है और स्थायी प्रभाव वाली पुस्तकों का महत्व सदैव बना रहता है। समाचार-पत्र, पत्रिकाओं तथा सामयिक विषयों पर लिखी पुस्तकों का महत्व प्रायः सामयिक होता है। **महाकाव्य, खण्डकाव्य, उपन्यास, नाटक** आदि साहित्यिक पुस्तकों का स्थायी महत्व होता है। गणित, विज्ञान, ज्योतिष, भूगोल इतिहास, धर्मशास्त्र, आदि असंख्य विषयों पर लिखी गई पुस्तकें अपना स्थायी महत्व रखती हैं। सामयिक पुस्तकों और समाचार-पत्रों को एक बार पढ़ कर पाठक फेंक देता है। उनका महत्व केवल कुछ उत्सुकता और मन की शान्ति के सिवाय अधिक नहीं होता।

पुस्तकों का विषय और उनकी भाषा—विभिन्न प्रकार की पुस्तकों के विभिन्न विषय होते हैं तथा उनकी भाषायें भी भिन्न होती हैं। जो विषय स्थानीय महत्व के होते हैं, उनकी भाषा भी सम्बन्धित प्रान्त या देश की भाषा होती है। जो विषय व्यापक महत्व के होते हैं उनकी भाषा भी तदनुकूल होनी चाहिए। सामान्यतया व्यापक महत्व के विषयों पर लिखी गई पुस्तकें ऐसी भाषा में मिलती हैं जिसके जानने वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है। परन्तु सामान्यतया लेखक अपनी मातृ-भाषा में ही अपने विचारों को व्यक्त करता है तथा विचारों के महत्व के अनुसार उसकी रचना का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हो जाता है। इस प्रकार मौलिक और अनूदित दो प्रकार की पुस्तकें होती हैं। आज के संसार में पुस्तकों की बाढ़ सी हर स्थान पर दिखाई पड़ती है, उनमें यह निर्धारित करना कि किसका कितना महत्व है कठिन कार्य है।

पुस्तकों का महत्व—जिज्ञासा, शान्ति तथा ज्ञान-वृद्धि के अनेक साधन हैं, जिनमें पुस्तकें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों ने राज्यों को इतनी सुविधायें प्रदान की हैं कि ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि असंख्य विषयों पर असंख्य पुस्तकें मिलती हैं। लोग प्राचीन तथा अर्वाचीन पुस्तकों का अध्ययन करते हैं, और अपने विचारों को एक नई पुस्तक में व्यक्त कर देते हैं। चूँकि पुस्तकों में व्यक्त विगत अनुभवों की राशि होती है अतः उनके पठन-पाठन से सहज में ही लोग विभिन्न प्रकार के ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। एक साधारण जानकारी को वैज्ञानिक प्राचीन पुस्तक में पढ़ता है और उसके आधार पर अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है तथा तत्सम्बन्धी अनेक प्रयोग करके नवीन आविष्कार करने में सफल होता है।

वेदों में पुष्पक विमान तथा अन्य प्रकार के उड़ने वाले यानों का वर्णन विद्वानों ने पढ़ा। आकाश में उड़ने वाले पक्षियों का निरीक्षण किया। अपनी बुद्धि से दोनों तथ्यों में साम्य बैठाया तथा उस दिशा में अनेक प्रयोग किये, फलतः वायुयान का

आविष्कार हो गया। आज वायुयान दिन-प्रतिदिन सामान्य वस्तु बनता जा रहा है। इस प्रकार से पुस्तकों के सहारे मनुष्य के ज्ञान में क्रमशः वृद्धि होती चली जा रही है।

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह दुःख से बचना और सुख को प्राप्त करना चाहता है। पुस्तकें इस कार्य में उसको बहुत अधिक सहायता प्रदान करती हैं। पुस्तकों से उसे अपार मनोरंजन प्राप्त होता है। पुस्तक पढ़ते समय वह उसमें इस प्रकार तन्मय हो जाता है कि संसार की अनेक कुत्साओं और कठिनाइयों को भूल जाता है तथा आनन्द प्राप्त करता है, उसका वह समय जो पुस्तकों की लीनता में व्यतीत होता है, अत्यधिक आनन्दमय होता है। इस क्षेत्र में उपन्यास, कहानियाँ और अन्य साहित्यिक पुस्तकें बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। पुस्तकों के अध्ययन के पश्चात् मनुष्य अपनी जिज्ञासु बुद्धि द्वारा और भी सूक्ष्मता से विचार करने लगता है और अपने विचारों को दूसरों के लिये अन्य पुस्तकों में छोड़ जाता है। पुस्तकीय ज्ञान को प्रयोग में लाकर हम अनेक प्रकार के दुःखों से बचाव का साधन प्राप्त कर लेते हैं तथा अनेक प्रकार से सहानुभूति के मार्ग खोज लेते हैं।

पुस्तकों का सामाजिक महत्व भी कम नहीं है। पुस्तकों को पढ़कर हम समाज में रहने का ढंग सीखते हैं तथा समाज के विभिन्न वर्गों का समुचित ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसका सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि मनुष्य समाज के व्यापक क्षेत्र में अपना योग्य स्थान बनाने में सफल होता है। समाज में सुन्दरता से रहने का नियम जाना जाता है। पुस्तकों की सहायता से मनुष्य में पारस्परिक सद्भावना तथा सहानुभूति का जागरण होता है जिससे समाज का संगठन व्यापक और ठोस होता है। पुस्तकों के द्वारा मानवीय भावनाओं का विकास होता है और समाज में प्रचलित बुराइयों का सुधार भी पुस्तकों द्वारा सरल होता है। अतः पुस्तकों का सामाजिक महत्व कम नहीं है।

पुस्तकों का व्यक्तिगत रूप से भी बहुत अधिक महत्व है। पुस्तकों को पढ़कर मनुष्य अपना विकास करने की क्षमता प्राप्त करता है। वह अपनी अनेक त्रुटियों को दूर करने में सफल होता है। वह लोक और परलोक दोनों को सुधारने का प्रयास करता है। पारिवारिक तथा व्यक्तिगत जीवन सुखमय बनाने के वह अनेक उपाय सोच निकालता है। वह अपनी आवश्यकतानुसार पुस्तकों को पढ़कर अपनी दशा को सुधारता है। आर्थिक दृष्टि से भी उन्नति करने का उपाय तत्सम्बन्धी पुस्तकों से प्राप्त करता है। भौतिक उन्नति के लिये पुस्तकों का पढ़ना उतना ही आवश्यक है जितना आध्यात्मिक उन्नति के लिए। जीवन का चरम लक्ष्य है—मोक्ष को प्राप्त करना। इसके साधन भी पुस्तकों में ही मिलते हैं। मोक्ष प्राप्ति के अनेक साधन विभिन्न धर्म-ग्रन्थों तथा दर्शन-ग्रन्थों में दिये गये हैं। इनका अध्ययन मनन करके मनुष्य अपने योग्य मार्ग की खोज कर अभ्यास करता है।

क्या पुस्तकों से कुछ हानियाँ भी होती हैं ?—पुस्तकों से लाभ तो असंख्य होते हैं, परन्तु यदि पुस्तकों के विषय अच्छे नहीं होते तो उनसे हानि भी हो जाती है। जिस प्रकार से सहवास और मित्रता का अच्छा बुरा दोनों प्रकार का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार पुस्तकों का भी अच्छा और बुरा दोनों प्रकार का प्रभाव होता है। यदि पुस्तकों में अश्लील और गन्दी बातें लिखी होती हैं तो उनका प्रभाव बुरा

पड़ता है। सिनेमा के गन्दे गाने, शृंगारी कविताएँ तथा अनेक उपन्यास अपना बुरा प्रभाव अवश्य डालते विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार भी तो पुस्तकों की सहायता से हो रहा जिससे मानव-जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया इसी प्रकार और भी अनेक हानियाँ हो सकती हैं। यदि पुस्तकों का सृजन व्यक्ति की मानसिक उन्नति और समाज-सुधार की भावना को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता है तो उससे अत्यधिक हानि होगी। जैसे कीचड़ में जाने से शरीर पर कीचड़ लगता है उसी प्रकार गन्दे और अश्लील साहित्य के अध्ययन से बुद्धि कलुषित हो जाती है।

उपसंहार—आज के युग में पुस्तकों का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। विद्यार्थियों को पाठ्य-पुस्तकों द्वारा पढ़ाया जाता है। प्रारम्भ से अन्त तक पुस्तकों का साथ रहता है। आज पुस्तकें सभ्य समाज का अविभाज्य अंग बन गई हैं। पाक-शास्त्र से लेकर धर्म-शास्त्र तक तथा अर्थ-शास्त्र से दर्शन-शास्त्र तक की असंख्य पुस्तकें हैं जिनका अपना-अपना महत्व है। इनसे पाठक अपनी रुचि के अनुसार लाभ उठा सकता है।

४६. वर्तमान शिक्षा प्रणाली (गुण और दोष)

१—भूमिका, २—वर्तमान शिक्षा प्रणाली, ३—शिक्षा का लक्ष्य, ४—व्यावहारिकता, ५—एकांगीपन, ६—वैज्ञानिकता, ७—प्राचीन प्रणाली से तुलना, ८—उपसंहार।

भूमिका—मानव जीवन में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा ही मानव को यथार्थ मानव बनाती है। शिक्षा के बिना उसका जीवन पशु-तुल्य है। मानव और पशु में यही अन्तर है कि मानव स्वयं शिक्षा ग्रहण करता है और दूसरों को शिक्षा देता है, जबकि पशुओं में इन गुणों का अभाव रहता है। मनुष्य का स्वभाव है कि ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों वह अनुकरण द्वारा अनेक बातें सीखता जाता है। यद्यपि बच्चे को यह ज्ञात नहीं रहता कि वह सीख रहा है फिर भी उसका सांसारिक ज्ञान बढ़ता चला जाता है। लगभग पाँच वर्ष की आयु तक वह चलने-फिरने तथा साफ-साफ बोलने योग्य बन जाता है। उसके कोमल शरीर के प्रायः सभी अवयव कार्यशील होने लगते हैं। तभी से उसे शिक्षा देना भी अधिक आवश्यक हो जाती है। यों तो बचपन से ही माता-पिता को यह ध्यान रखना चाहिए कि बच्चों के सामने कोई ऐसी बात न करें जिनका शिशु-हृदय पर बुरा प्रभाव पड़े। ५ वर्ष की आयु में सामान्यतया वह पाठशाला में भेजा जाता है, जहाँ उसकी शिक्षा प्रारम्भ होती है। यहीं से शिक्षा-प्रणाली बच्चों को प्रभावित करने लगती है। यह शिक्षा का कार्य चिरकाल से होता चला आ रहा है। शिक्षा-प्रणाली कब अस्तित्व में आई, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु इतना निश्चित है कि अति प्राचीन काल से शिक्षा की प्रथा चली आ रही है। समय-समय पर उसमें पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं। इस क्रम का अन्तिम रूप वर्तमान शिक्षा प्रणाली है। इसमें अनेक गुण और दोष देखे जा रहे हैं।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली का रूप—आजकल सरकारी, अर्द्ध सरकारी तथा स्वतन्त्र रूप से चलने वाली असंख्य प्रारम्भिक पाठशालायें हैं। बच्चे शैशव-काल में वहाँ भेजे जाते हैं तथा निर्धारित पाठ्य-क्रम, क्रीड़ा-क्रम तथा मनोरंजन-क्रम से उन्हें शिक्षा दी जाती है। प्राइमरी पाठशालाओं की शिक्षा की अवधि लगभग ५ वर्ष है। इन ५ वर्षों में बच्चों की सामान्य विषयों का प्रारम्भिक परिचय कराया जाता है। इस कार्य के लिए प्रशिक्षित अध्यापक ही प्रायः रखे जाते हैं। बेसिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अनेक ग्रामीण विद्यार्थी शिक्षा त्याग देते हैं और घर पर ही रह कर अपने माता-पिता के कार्यों में उनकी सहायता करते हैं।

नगरों में रहने वाले अधिकांश विद्यार्थी माध्यमिक शिक्षा के लिए विद्यालयों में प्रवेश लेते वहाँ उनका क्षेत्र बढ़ाया जाता है। अनेक विषयों से उनका परिचय होता है तथा वे अपने अनुकूल विषयों की ओर क्रमशः बढ़ते चले जाते हैं। यहाँ भी प्रशिक्षित अध्यापक ही प्रायः उसके शिक्षक होते हैं। हाई स्कूल परीक्षा के बाद विद्यार्थियों की बड़ी संख्या विभिन्न व्यवसायों में बँट जाती है। आधे से कम ही इण्टरमीडिएट कक्षा में भर्ती होते हैं। उनमें से भी लगभग पचास प्रतिशत डिग्री कक्षाओं तक पहुँचते हैं पर उपाधि प्राप्त करने वाले लगभग ३० प्रतिशत ही होते हैं। इनमें लगभग ५६ प्रतिशत फिर विभिन्न दिशाओं में बँट जाते हैं तथा शेष और उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं। यह आज की शिक्षा का सामान्य क्रम है। स्नातकोत्तर अध्ययन तो इने-गिने छात्र ही करते हैं।

माध्यमिक शिक्षा अथवा विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् कुछ विद्यार्थी तकनीकी शिक्षा ग्रहण करते हैं और कुछ तो बीच ही में इस शिक्षा की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली का लक्ष्य—पाश्चात्य सभ्यता के साथ-साथ पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली, राज्य-व्यवस्था तथा भौतिकता बढ़ती चली आ रही है, और मानव-जीवन का लक्ष्य प्रायः भौतिक ही रह गया है। अतः इस शिक्षा-प्रणाली का लक्ष्य भौतिक उन्नति तक ही सीमित हो गया है। **आज की शिक्षा का मुख्य ध्येय यह है कि शिक्षित होकर भौतिक जीवन को सुखमय बनाया जाय। भौतिक उन्नति ही आधुनिक शिक्षा का लक्ष्य है।** इस शिक्षा-प्रणाली की नींव भारत में अंग्रेजों ने डाली। उन्हें राजकीय कार्यालय में काम करने के लिये सस्ते कर्मचारियों की आवश्यकता थी अतः इस शिक्षा-प्रणाली से उन्हें नौकर मिलने लगे। शिक्षा प्राप्त करने वाले नौकरी पाने लगे अतः इस शिक्षा के साथ नौकरी की भावना का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया कि हर प्रकार की शिक्षा पूरी करने पर लोग नौकरी को ध्यान में रखते हैं। शायद ही कोई नवयुवक कृषिविद्यालय से डिग्री प्राप्त करके अपनी खेती के काम में लगा हो या इन्जीनियरिंग पास करके किसी ने कोई छोटा-मोटा कारखाना खोला हो। औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी लोग नौकरी की ओर ही दौड़ते हैं, अतः शिक्षा की वृद्धि के साथ बेकारी भी बढ़ती जाती है। सरकार ने तमाम विभाग खोले, लाखों व्यक्तियों को नौकरियाँ दी फिर भी असन्तोष तथा बेकारी की समस्या ज्यों की त्यों मुँह बाये खड़ी है। स्वाभाविक भी यही है, क्योंकि लाखों विद्यार्थी प्रति वर्ष निकल रहे हैं और सब का लक्ष्य नौकरी है, तो कहाँ से सबको नौकरियाँ मिल

सकती हैं। अतः वर्तमान शिक्षा का उद्देश्य ही परावलम्बी तथा दासता पर आधारित है।

व्यावहारिकता का अभाव—आज की शिक्षा में व्यावहारिकता का अभाव है। जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार व्यवहार में लाने की शिक्षा नहीं दी जाती। अतः परीक्षा पास कर लेने पर विद्यार्थी अपने को संसार सागर के तट पर असफल और अक्षम रूप में खड़ा पाता है। उसकी समझ में नहीं आता कि वह क्या करें ? बड़ी दौड़-धूप के बाद नौकरी मिलती है तो उसे असन्तोष और अभाव सदा बना रहता है। उसकी आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर सुरसा के मुँह की तरह बढ़ती जाती हैं और वह बेचरा सब कुछ करके भी उन्हें पूरा नहीं कर पाता। यही क्रम चलता आ रहा है। बी० ए०, बी० एस-सी०, एम० ए० आचार्य की कोई भी परीक्षा पास करने के बाद भी नौकरी की समस्या एक सी रहती है। इस प्रणाली में कहीं भी व्यावहारिकता के दर्शन नहीं होते।

एकांगीपन—आज की शिक्षा प्रणाली एकांगी है। जितने कार्य हो रहे हैं, सभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसी एकांगीपन के सहायक या पूरक बन रहे हैं। कतिपय बेकार शिक्षित मिलकर स्कूल खोल देते हैं, उससे अनेक शिक्षित युवक तैयार हो जाते हैं पर जायें कहाँ और करें क्या ? यह प्रश्न और भी विकराल रूप धारण-करता जा रहा है। जीवन में इतनी आकर्षक आशाएँ घर कर लेती हैं कि उन्हें परीक्षा में पास होने पर निराशा का मुँह देखना पड़ता है। पढ़-लिखकर घर की खेती, या व्यवसाय करने की शिक्षा देने वाले वक्ताओं की कमी नहीं है पर व्यवहार रूप में करने वाले हैं ही नहीं। ऐसे अनेक नेता मिल जाएँगे जो दूसरों को तो यह भाषण देंगे कि शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् अपने घर के कार्य करो परन्तु स्वयं अपने घर के व्यवसाय को करने में हिचकिचाते हैं। आज के युग में भी सभी शिक्षा प्राप्त करके नौकरी करना ही अच्छा समझते हैं। जिसके पास बुद्धि या सिफारिश की योग्यता होती है स्वयं तथा अपने सगे सम्बन्धियों को नौकरी दिलवा देते हैं। जो कहीं शरण नहीं पाते वे घर पर रहना यदि चाहते भी हैं तो वहाँ का वातावरण कुछ ही दिनों में उनके लिये असह्य हो जाता है। कागज के रुपयों की प्रचुरता से आज इतने आकर्षक मनोरंजन के साधन सुलभ हो गये हैं कि उन्हीं के पीछे जनता दौड़ रही है। देहात के शिक्षितों की स्थिति इतनी विषम हो गई है कि उनका सम्बन्ध धीरे-धीरे देहात से छूटता जा रहा किन्तु शहरों में स्थान नहीं मिलता। लगभग इसी प्रकार की स्थिति शहरोंकी भी है। अतः इन सभी परिणामों का मूल कारण शिक्षा की वर्तमान प्रणाली है। आज क शिक्षा हमें केवल भौतिकवाद सिखाती है अतः जीवन व्यय-साध्य बनता चलता जा रहा है। वह शिक्षा भी इतनी मँहगी पड़ रही है कि यदि इसे पूर्ण करके नौकरी न की जाय तो समाज में सम्मानित ढंग से रहना दूभर हो जाता है। यह इसका एकांगीपन है।

वैज्ञानिकता—आजकल विज्ञान के अध्ययन पर अधिक बल दिया जा रहा है। सरकार अपनी योजनाओं की परिधि बढ़ाती चली जा रही है। उसमें इंजीनियरों तथा अन्य वैज्ञानिक कर्मचारियों की खपत होती जा रही है। अतः विज्ञान के अध्ययन से नौकरी मिलना सरल समझकर उसी तरफ अधिकांश लोग दौड़ रहे हैं। लेकिन

प्लानिंग नियोजन, तथा कारखाने कितने व्यक्तियों को काम देंगे तथा किस सीमा तक बेकारी दर करेंगे यह नहीं कहा जा सकता। इस अर्जित विज्ञान के ज्ञान को छोटे उद्योगों तथा कृषि में यदि लगाया जाय तो सम्भव है कि बेकारी की समस्या कम हो सके। यों तो देखने के लिए इस शिक्षा प्रणाली में अनेक गुण हैं पर उन गुणों को यदि थोड़ी सी प्राचीन प्रणाली के गुणों से मिला दिया जाता तो अधिकांश समस्याएँ स्वयंमेव हल हो जातीं। आज की शिक्षा एक समस्या का समाधान खोजने में दूसरी समस्या खड़ी कर रही है।

प्राचीन शिक्षा प्रणाली से तुलना—प्राचीन शिक्षा प्रणाली में व्यावहारिकता को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था। आज उसका भी अभाव है। प्राचीन प्रणाली में छात्र और अध्यापक सरल तथा संतोषपूर्ण जीवन बिताते थे और नागरिक आकर्षणों को महत्व नहीं देते थे, पर आज की स्थिति उलटी है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली में आध्यात्मिकता पर विशेष बल दिया जाता था और जीवन-क्रम को सुगम और स्वल्प व्यय साध्य बनाया जाता था, आज इसके विपरीत वातावरण बन गया है। प्राचीन प्रणाली में शिक्षा समाप्त करके चाकरी की लालसा कम लोगों में रहती थी; आजकल सब में रहती है। प्राचीन प्रणाली में गुरुकुलों में ही लोग भावी जीवन-क्रम निर्धारित कर लेते थे, आज निरन्तर अनिश्चितता बनी रहती है। प्राचीन प्रणाली में उच्च अनुशासन था, पर आज उसका अभाव है। उस प्रणाली में शिक्षा-व्यय कम करना पड़ता था और आज अधिक है। उस प्रणाली में शिक्षा व्यय सरकार या बड़े-बड़े धनपति वहन करते थे पर आज छात्रों के अभिभावकों को वहन करना पड़ता है। इसीलिए विषमता बढ़ती जा रही है।

उपसंहार—आज शिक्षा प्रणाली देश को अन्धकार में ले जाकर विनाश की ओर बढ़ा रही है। हम इस रोग की दवा खोजने का निरंतर प्रयास कर रहे हैं परन्तु व्याधि बढ़ती जा रही है। यदि क्रमशः इस शिक्षा प्रणाली को पीछे लौटाया जा सकता तो विश्व का बहुत बड़ा कल्याण होता, पर वह असम्भव-सा है। एक विनाशकारी नाटक अभी शेष है उसके बाद ही नवनिर्माण की कल्पना की जा सकती है। फिर भी इस प्रणाली में परिवर्तन की बात की जाती है। यदि वह सफल हो सकी तो विश्व का सौभाग्य समझना चाहिए।

४७. आधुनिक भारत के नव-निर्माण में विद्यार्थियों का योग

१—भूमिका, २—आधुनिक भारत में नव-निर्माण की विभिन्न दिशाएँ और उनमें विद्यार्थियों का योग, ३—उनका विवेकपूर्ण सहयोग, ४—सहयोग से लाभ, ५—उपसंहार।

भूमिका—सदियों की पराधीनता के बाद भारत स्वतंत्र हुआ है। पराधीनता की स्थिति में भारतवासियों को स्वेच्छापूर्वक अपनी उन्नति करने का अवसर नहीं प्राप्त था। विदेशी सरकार के दबाव के कारण भारतीय अपनी योजना के अनुसार

कार्य नहीं कर पाते थे। देश में जो कुछ सार्वजनिक कार्य होता था उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सरकार का स्वार्थ अवश्य रहता था। उस समय विद्यार्थियों का योग केवल उत्कृष्ट अधिकारी बनकर शासन को दृढ़ बनाये रखना था। आज की बदली हुई परिस्थितियों में भारतीयों की अवस्था तथा उनका उत्तरदायित्व भी बदल गया है। किसी भी देश का भविष्य उस देश के विद्यार्थियों के ऊपर निर्भर रहता है। विद्यार्थी-वर्ग ही एक ऐसा वर्ग है जिसमें से हर क्षेत्र में लोग जाते हैं। वर्तमान समय में भारत का नव-निर्माण कार्य प्रारम्भ हो गया है। यह कार्य विद्यार्थियों के उचित और पूर्ण सहयोग के बिना सफलतापूर्ण पूर्ण नहीं हो सकता। इसलिए देश के नव-निर्माण में विद्यार्थियों का महत्वपूर्ण योग आवश्यक है।

नव-निर्माण की विभिन्न दिशाएँ और उनमें विद्यार्थियों का योग—मानव-जीवन की आवश्यक सुविधाएँ ही सबसे अधिक इष्ट हैं। वर्तमान युग विज्ञान और अर्थवाद का युग है। भारतवर्ष की वैज्ञानिक और आर्थिक उन्नति नितांत आवश्यक है। किसी विदेशी विद्वान ने कहा था कि भारत एक धनी देश है यहाँ गरीब लोग बसते हैं। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के कारण ही यहाँ के लोग दीन-हीन हैं। यदि इन साधनों का समुचित उपयोग किया जाय तो भारतवासी सम्पन्न हो सकते हैं स्वतंत्र भारत में प्राकृतिक साधनों को प्रयोग करने का कार्य प्रारम्भ हो गया है। इन सभी प्रयोगों की अन्तिम सफलता विद्यार्थियों पर निर्भर है। जब विद्यार्थी पूर लगन और निष्ठा से अपने कार्यों को करेंगे तभी देश का कल्याण हो सकता है। कृषि, उद्योग, यातायात तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों के कार्य हो रहे हैं। कारखाने बन रहे हैं, विद्युत-शक्ति उत्पादन कार्य हो रहा है, परमाणु शक्ति की खोज तथा उपयोग के लिए प्रयोगशालाएँ बन रही हैं, सुरक्षा के साधन जुटाये जा रहे हैं, विदेशों से मैत्री सम्बन्ध दृढ़ करने के प्रयास हो रहे हैं, नव-निर्माण की अनेक योजनाएँ प्रयोग में लाई जा रही । किन्तु इन सभी सफलता विद्यार्थी वर्ग पर ही निर्भर है।

सामाजिक, धार्मिक क्षेत्र में परिवर्तन—सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी परिवर्तन लाने के प्रयास हो रहे हैं। समाज में कतिपय दुर्गुण अवश्य आ गये हैं, जिनका सुधार भी आवश्यक है, समाज के ढाँचे को बिगड़ने से बचाना भी है। कोई भीसुधार अन्धानुकरण के आधार पर नहीं होना चाहिए। सुधारों के भावी परिणामों को दृष्टि में रखकर बढ़ना आवश्यक है। भारतीय धर्म तथा संस्कृति की मूल विशेषताओं को ध्यान में रखकर उपयोगी सुधार होना चाहिए। चूँकि इन सभी गतिविधियों का अन्तिम परिणाम तो आज की विद्यार्थी कही जाने वाली पीढ़ी को पूर्णतया भोगना पड़ेगा, अतः उन्हें विवेक से काम लेना आवश्यक है। विद्यार्थी ही सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में क्रांति ला सकते हैं।

आज संसार की मान्यतायें द्रुत गति से बदल रही हैं यह परिवर्तन स्वतन्त्र भारत में तेजी से हो रहा है। दो प्रकार की विचार-धाराएँ विश्व में फैली हैं। एक विचारधारा परम्परा तथा प्रजातांत्रिक भावना का समर्थन कर रही है। इस विचारधारा में व्यक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें व्यक्तित्व की उन्नति तथा स्वतन्त्रता पर समुचित ध्यान दिया जाता है। दूसरी विचारधारा राज्य या पार्टी को

ही सर्वस्व मानती है। इस साम्यवादी विचारधारा में शक्ति स्वतन्त्रता के लिए स्थान नहीं है। यहाँ पर अधिनायकवाद दृढ़ होता जा रहा है। ये लोग वर्ग हीन समाज की बात करते हैं। भारत में भी दोनों प्रकार की विचारधाराओं से सम्बन्धित नीति चल रही है। विद्यार्थी वर्ग को सोच-समझकर इन विचारों को भारतीय संस्कृति के अनुकूल बनाकर अपनाना चाहिए।

आज के विद्यार्थियों का कर्तव्य अधिक गम्भीर हो गया है। विद्यार्थियों के सामने इतनी अधिक तथा परस्पर भिन्न विचारधाराएँ आती हैं कि उनके लिए उपयोगी विचार अपनाना कठिन हो गया है। अनेक प्रकार की पुस्तकें, अनेक प्रकार के वक्ता और अनेक प्रकार की समस्यायें आ रही हैं। ऐसी दशा में विद्यार्थियों का दायित्व है कि जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति पर ध्यान दें। प्राचीन तथा आधुनिक विचारकों के विचारों को समझ-सोचकर अपनायें। यदि भावुकता या आवेशवश किसी प्रकार पथ-भ्रष्ट हो जायेंगे तो लाभ के बदले हानि उठायेंगे।

विवेकपूर्ण सहयोग—यह समस्या बड़ी जटिल हो गई है कि विद्यार्थी किस विचारधारा को अपनावें तथा देश के नव-निर्माण में किस प्रकार योग प्रदान करें। बहुत से नेता अपने-अपने ढंग से निर्माण-कार्य को सामने रख रहे हैं। सरकार चलाने वाले नेता अपनी योजनायें लाद रहे हैं तथा निरीह समाज को अपनी चिंतन-धारा पर चलाने का प्रयास कर रहे हैं। कतिपय विरोधी नेता उसका विरोध कर रहे हैं। वास्तविकता यह है कि कहने वाले ही अधिक हैं, सुनने वाले कम विद्यार्थी समाज एक ऐसा समाज है जो भावावेश में आकर अनेक कार्य कर बैठता है और अपना तथा समाज का अहित कर देता है फिर भी यह समाज क्षम्य समझा जाता है। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे अपने में अच्छा और बुरा समझने की क्षमता उत्पन्न करें और अपनी विवेक बुद्धि से ऐसे कार्यों को करें जो देश के लिए कल्याणकारी हों।

विद्यार्थियों को गाँवों में जाकर वहाँ की समस्यायें समझना चाहिए और उनके निदान का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें स्वयं कार्य करना चाहिए तथा दूसरों के लिए आदर्श उपस्थित करना चाहिए। इससे ग्रामीण जनता में उनकी लोकप्रियता बढ़ेगी तथा विभिन्न प्रकार की प्रगतियों से वे परिचित होते जायेंगे। विद्यार्थियों को अपने पास पड़ोस में सहयोग तथा सद्‌भावना का वातावरण पैदा करना चाहिए जिससे विरोध मिटे तथा सहकारी भावना का विकास हो। सहकारिता के लाभों को समझना चाहिए। विद्यार्थियों का यह भी कर्तव्य है कि सरकार की विभिन्न योजनाओं में सहयोग करे तथा उसमें यदि कहीं कमी या दोष दिखाई पड़े तो सामूहिक रूप से उसको हटवाने का उपाय करें। उन्हें बहुश्रुत बनना चाहिए तथा अनेक प्रकार के निर्माण कार्यों में सम्मिलित होना चाहिए। उनमें कर्तव्यपरायणता, सत्यप्रियता तथा सेवा भाव का दृढ़ विकास होना चाहिये। उन्हें स्वावलम्बी तथा समाज-सेवक बनने का प्रयास करना चाहिये। साथ ही साथ अपनी रुचि के अनुकूल विषयों का गहन अध्ययन कर नवीन खोजों की ओर बढ़ने का प्रयास करना चाहिए। यही सब ऐसे कार्यक्रम हैं जिन्हें करके वे देश के निर्माण में सहायक बनेंगे।

सहयोग से लाभ—विद्यार्थी वर्ग ज्यों-ज्यों बढ़ता जा रहा हैं, त्यों-त्यों देश के नव-निर्माण का कार्य भी पूर्ण होता जा रहा है। परन्तु अभी इस क्षेत्र में हमें बहुत कुछ करना है। विद्यार्थी सभी कार्यों को समझकर जब संसार पथ पर चलने लगेंगे तो सभी प्रकार के विकास कार्यों में पूर्ण सहयोग दे पाएँगे। यदि वे किसान बनते हैं तो कृषि के उत्कृष्ट नवीन साधनों को ठीक ढंग से उन्हें प्रयोग करना चाहिये। यदि वे कारीगर बनते हैं तो अपने पेशे को दक्षता से करें। यदि वे इन्जीनियर बनें तो उत्कृष्ट निर्माता बनें। यदि वे सरकारी कर्मचारी बनें तो निष्पक्ष तथा सेवाभाव से कार्य करें। सभी कुछ वे तभी कर सकेंगे जब वे सुचारु ढंग से अध्ययन करते रहेंगे, अपनी प्राचीन परम्पराओं की उत्तमता को बनाये रखते हुये नवीन बातों से लाभकर तत्वों को ग्रहण करेंगे। इससे देश का पूर्ण लाभ होगा।

यदि विद्यार्थी वर्ग ने उत्तमता से अपना कर्तव्य-पालन नहीं किया तो सारी योजनाएँ असफल हो जायेंगी। देश का नव-निर्माण किसी भी प्रकार से सफल नहीं हो सकेगा। विद्यार्थी अपनी करनी द्वारा निर्माण-कार्यों में अधिक योग दे सकता है। अपनी बातों को प्रभावशाली भी बना सकता है। अपने ठोस ज्ञान से ही लाभप्रद कार्य कर सकता है।

उपसंहार—देश के नव-निर्माण में प्राय: सभी योजनायें प्रयोगात्मक अवस्था के चल रही हैं। अत: उनके लाखों को ध्यान में रखें तथा दूसरों को समझावें और यदि हानि देखें तो उसे दूर करने का ढंग भी बतायें। अत: वर्तमान भारत के नव-निर्माण में विद्यार्थियों का विवेकपूर्ण योग अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्यार्थी अपने अध्ययन की उपेक्षा करके सक्रिय योग देने में ही लग जायें तथा निर्माण कार्य का प्रचार करते फिरें। इससे तो वह विद्यार्थी ही नहीं रह जायेगा।

४८. समाचार-पत्र और उनकी उपयोगिता

१—भूमिका, २—समाचार प्रकाशन, ३—समाचार-पत्र का महत्व—(अ) देश-विदेश के समाचारों का ज्ञान, (ब) राजनैतिक भावना की जागृति, (स) अनेक प्रकार की उन्नति में सहायक, (द) साहित्यिक विकास का साधन, उपसंहार।

भूमिका—प्राचीनकाल में मानव-जीवन आधुनिक युग की भाँति विकसित न था, फिर भी समाचार जानने या प्राप्त करने की उत्सुकता सब में विद्यमान थी। सभ्यता के विकास के साथ ही साथ मानव ने विश्व की विशालता का अनुभव किया और अन्वेषणों द्वारा उस तथ्य पर जा पहुँचा। वास्तव में विज्ञान इस ओर अत्यन्त सहायक हुआ। आधुनिक युग में विज्ञान की प्रगति ने समस्त संसार को एक परिवार सा बना दिया है। इस ऐक्य भाव ने पारस्परिक समाचार जानने की उनमें उत्सुकता उत्पन्न की। अत: समाचार-पत्रों की आवश्यकता हुई।

समाचार प्रकाशन—समाचार-पत्रों का सम्पादन एवं प्रकाशन कार्य प्राय: नया ही है। इसका एक मात्र कारण है मुद्रण कला का आरम्भ और विकास जो इसी युग की देन है। इसके अतिरिक्त तार, टेलीफोन, पत्रालय आदि का प्रचार तथा प्रसार, इस कार्य को आगे बढ़ाने में विशेष सहायक हुये। कार्य कोई पुराना नहीं है। समाचार तथा तार, टेलीफोन, पत्रालय आदि का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ है।

समाचार-पत्रों के प्रकार—समाचार-पत्रों के अनेक प्रकार होते हैं। दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक, वार्षिक आदि प्रकाशन की अवधि के आधार पर समाचार-पत्र की कोटियाँ हैं।

विषयों की दृष्टि से समाचार-पत्र का सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि कोटियों में विभाजन किया जा सकता है।

महत्व और लाभ—वैज्ञानिक युग में इनका विशेष महत्व है। यहाँ तक कि प्राय: दैनिक कार्य से निवृत्त होकर प्रत्येक व्यक्ति संसार की समस्याओं, समाचारों से अवगत होना चाहता है और इस उत्सुकता या जिज्ञासा का समाधान या निराकरण का संस्थान तथा एक मात्र साधन समाचार-पत्र ही है।

समाचार-पत्रों के अन्तर्गत प्राय: समस्त सूचनायें सविवरण वर्तमान रहती हैं। इससे लोग वास्तविकता से सरल और सहज ही में परिचित हो जाते हैं। इसके अन्दर स्थानीय समाचार, सरकारी विज्ञापन, नगर के कार्यक्रम आदि भी रहते हैं। इन समाचार-पत्रों के कारण बाजार का भी विकास हुआ है। इसमें व्यापार सम्बंधी सूचनाएँ, प्रमुख वस्तुओं के विभिन्न बाजारों के भाव, वस्तुओं के प्रचार तथा प्रसार हेतु तत्सम्बन्धित विज्ञापन आदि रहते हैं। मनोरंजन प्रेमियों के लिये चलचित्रों आदि का कार्यक्रम विद्यमान रहता है। अत: मनोरंजन प्रेमी एवं व्यापारी वर्ग दोनों के लिये ये समाचार-पत्र परमोपयोगी हैं।

नौकरी प्राप्त करने वाले इच्छुकों के लिये रिक्त स्थानों का समुचित ज्ञान भी इनमें प्राप्त हो जाता है। परीक्षार्थियों की अन्तिम अभिलाषा, परीक्षाफल, सहज और सामान्य रूप में देखने को मिल जाता है।

सरकार जनता में फैले हुये द्वेष एवं भ्रम आदि को समाचार-पत्रों द्वारा अपने मन्तव्यों को प्रकाशित कर दूर करती है। इसके अन्तर्गत सरकारी नीति में परिवर्तन आदि का भी निराकरण एवं स्पष्टीकरण रहता है।

आधुनिक काल के समाचार-पत्र समाचारों के प्रकाशन के अतिरिक्त प्रत्येक स्थिति की भविष्यवाणी भी करते हैं। जनता के प्रतिनिधि शासनकर्ता या अधिकारी वर्ग की आलोचनाएँ भी समाचार-पत्रों में की जाती हैं। अत: जन-मानस में जागृति आती है और बुराइयों के निवारण के प्रयास किये जाते हैं।

समाचार-पत्रों में समय-समय पर उच्चकोटि के विद्वानों की कृतियाँ या लेखादि भी अब प्रकाशित होने लगे हैं। इनके विशेषांकों में कविता, एकांकी नाटक, कहानी, आलोचनाएँ, पुस्तकों की समीक्षाएँ आदि भी विद्यमान रहती हैं। इस प्रकार साहित्यिक कार्यों की प्रगति में भी पत्र जागरूक रहते हैं।

प्रत्येक देश की सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति का ज्ञान इनके द्वारा सुलभ, सरल रूप में ही हो जाता है। अपनी बात दूसरों के निकट इनके द्वारा

हम पहुँचा सकते हैं। व्यक्तिगत तथा सामाजिक परिस्थितियों की बाधाओं या असुविधाओं को भी इन्हीं के द्वारा प्रचलित किया जाता है।

आज के युग में समाचार-पत्र प्रकाशन ने एक व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है। इसके अन्तर्गत सैकड़ों व्यक्ति पेट पालन करते हैं जिनमें शिक्षित एवं अशिक्षित दोनों प्रकार के व्यक्ति आते हैं।

स्वतंत्र देश के अन्तर्गत विभिन्न दल हुआ करते हैं। वे अपने-अपने दल के प्रचार हेतु विविध प्रकार के समाचार पत्रों का प्रकाशन करते हैं। उनमें अपनी नीति का प्रचार तथा प्रसार करते हैं, लोकमत प्राप्त करते हैं। स्वतन्त्र समाचार-पत्रों की संख्या बहुत ही अल्प है। अपेक्षाकृत दलबन्दी ही समाचार-पत्रों के माध्यम से अधिक व्यक्त होती है। प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि दलबन्दी समाचार-पत्रों की अशिष्ट भाषा और निम्नकोटि की कटुता एवं वैमनस्य या विद्वेष का कारण हो जाती है। इससे प्रगति में बाधा आ सकती है।

समाचार-पत्रों पर ही देश का राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक कल्याण बहुत सीमा तक निर्भर रहता है। उनका अध्ययन कर, ज्ञान वृद्धि कर मनुष्य अपने देश को समुचित समृद्धिशाली बना सकता है। निष्पक्ष नीति वाले समाचार पत्रों द्वारा निःसन्देह देश का विकास हो सकता है।

आज मुद्रण कला का इतना विकास हो गया है कि हर जगह छपे कागजों का बोलबाला है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने दुनिया के लोगों को एक दूसरे के बहुत समीप कर दिया है। आज हर देश का स्वार्थ दूसरे देशों से सम्बन्धित है। प्रचार कार्य अत्यन्त आवश्यक हो गया है। दुनिया के एक भाग का निवासी शेष दुनियाँ के समाचारों को जानने के लिये तथा अपने प्रचार करने के लिये लालायित रहता है। इसलिये विभिन्न प्रकार के समाचार-पत्र हर देश में नित्य निकला करते हैं। कतिपय प्रेसों से समाचार-पत्र निकलते हैं और विभिन्न स्थानों पर जाया करते हैं। अतः इनकी उपयोगिता बहुत अधिक है। समाचार-पत्रों से हमारा सम्बन्ध दुनियाँ के विभिन्न देशों से घनिष्ठ हो जाता है। इनमें विभिन्न स्थानों के समाचार, विभिन्न प्रकार के लेख, अनेक प्रकार की विचारधाराएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

समाचार-पत्रों में देश-विदेश में घटने वाली मुख्य-मुख्य घटनाओं का विवरण छपता रहता है, जिसे पढ़कर सामान्य पाठक की उत्सुकता शान्त होती है तथा विभिन्न प्रकार का ज्ञान होता है। इन समाचारों को पढ़कर तत्सम्बन्धी देशों के विषय में हमारा ज्ञान बढ़ता है तथा उनसे हमारा मानसिक परिचय बढ़ता है। समाचारपत्र पाठकों के मनोरंजन के अच्छे साधन होते हैं। इनके पढ़ने से एक प्रकार का आनन्द आता है। अर्थात् इनसे ज्ञान वृद्धि के साथ आनन्द भी मिलता है। आज के वैज्ञानिक युग में दिन-प्रतिदिन नई बातें हो रही हैं। अनेक उन्नत देशों में नये-नये आविष्कार हो रहे हैं। समाचार-पत्रों से हम इन विभिन्न आविष्कारों से परिचित होते हैं। आज संसार का सामयिक ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र साधन समाचार-पत्र है। व्यवसायियों को देश-विदेश के व्यावसायिक समाचार मिलते रहते हैं जिससे उनका व्यावसायिक ज्ञान समसामयिक रहता है तथा उससे उन्हें विभिन्न प्रकार के लाभ होते हैं। समाचार-पत्रों से विज्ञापन का कार्य अत्यन्त सरल हो जाता है। ग्राहक विभिन्न विज्ञापनों

को पढ़कर अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का अच्छी तरह चुनाव कर लेते हैं, तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार विज्ञापन भी देते हैं।

ठेकेदार, दूकानदार, मालिक को नौकर आदि सभी को अपने लिए आवश्यक वस्तु खोजने में सुविधा होती है। इन समाचार-पत्रों द्वारा मालिकों को उपयोगी नौकर और नौकरी चाहने वालों को उपयुक्त पद का पता लगता रहता है। व्यापारियों को माल का पता लगता रहता है तथा भाव का भी ज्ञान होता रहता है। मिलों को ग्राहक मिलते रहते हैं। इस प्रकार ज्ञान का यह बहुमुखी साधन है। जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसमें यह समाचार-पत्र उपयोगी न हों।

समाचार पत्रों को पढ़ने से विभिन्न प्रकार की विचारधाराएँ सामने आती रहती हैं। इससे जनता में राजनीतिक भावनाओं का विकास होता है। समाचार-पत्र ही वह साधन है, जिसके द्वारा हम अपनी चिन्तन प्रणाली को आगे बढ़ाने में प्रचार करने में, सुधार करने में सफल होते हैं। अपने विचारों के प्रति लोक-भावना या प्रतिक्रिया भी हमें समाचार-पत्रों द्वारा ज्ञात होती रहती है। प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी प्रकार की मान्यताओं से सम्बन्धित लेख समाचार-पत्रों में निकलते हैं, जिन्हें पढ़कर पाठकों का विश्लेषणात्मक विवेक जागता है तथा उनमें आलोचनात्मक क्रिया का विस्तार होता है। लेखकों, कवियों, राजनीतिज्ञों, सुधारकों, कलाकारों आदि का प्रचार होता है तथा उनका वास्तविक मूल्य जनता द्वारा आँका जाता है। राजनीति किस दिशा में प्रगति कर रही है, यह बात समाचार-पत्रों से ही ज्ञात होती है। समाचार-पत्र ही यह सूचना देते हैं कि संसार के किस भाग में लड़ाई छिड़ गई और उसे रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ क्या कदम उठा रहा है? समाचार-पत्रों से ही पता चलता है कि विश्व का कौन-सा राष्ट्र-संघ भारत के प्रति कैसी भावना रखता है। समाचार-पत्रों में हम लोक-सभा, विधान-सभा, राज्य-सभा आदि की कार्यवाहियों का समाचार पढ़ते हैं जिससे अपने प्रतिनिधियों की गति-विधि से परिचित होते रहते हैं तथा वह (प्रतिनिधि) जनता का प्रतिनिधित्व किस सीमा तक करता है, यह भी जानते हैं। फलतः हमारे मस्तिष्क में उन लोगों के प्रति उचित भावना उत्पन्न होती है और भविष्य में योग्य व्यक्ति चुनने की शक्ति हमें प्राप्त होती है।

जनतंत्र और समाचार-पत्र—समाचार-पत्रों द्वारा लोकमत तैयार करने में सहायता मिलती है। सामान्य जनता अपने दैनिक कार्यों में व्यस्त रहती है। अतः नेताओं का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे जनता की भावना को उचित तथा सही रूप में सामने रखें। समाचार-पत्र नेताओं का प्रचार भी खूब करते हैं। संक्षेप में जनता और सरकार के बीच में समाचार-पत्र संदेशवाहक का कार्य करते हैं। इस प्रकार इनका उत्तरदायित्व महत्व रखता है।

समाचार-पत्रों से सामाजिक उन्नति में सहायता मिलती है। समाज सामान्य रूप में अपनी विभिन्न प्रकार की परम्पराओं से लिपटा चलता है। परम्पराएँ समय-चक्र से संकीर्ण तथा कठोर हो जाती हैं। समाचार-पत्रों में जो समाजोपयोगी चीजें प्रकाशित होती हैं, समाज उनसे प्रभावित होता है। परिणामस्वरूप समाज का सुधार होने लगता है और कालान्तर में अनेक बुराइयाँ अपने आप मिट जाती है। समाज-

सुधार के क्षेत्र में समाचार-पत्र बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। इनके बिना समाज सुधार की आशा करना दुराशा मात्र है।

कृषि और समाचार-पत्र—समाचार-पत्रों के सहारे कृषि की उन्नति में सहायता मिलती है। अनेक साधनों के प्रयोग की जानकारी हमें समाचार-पत्रों से होती है। खेती में वैज्ञानिक तथा आधुनिक यन्त्रों, खादों, बीजों आदि की प्रयोग-विधि हमें समाचार-पत्रों से ही ज्ञात होती तात्पर्य यह है कि हर प्रकार की उन्नति में समाचार-पत्र सहायक होते हैं। मकान बनाने के विभिन्न उपकरण, विभिन्न ढंग आदि का ज्ञान भी समाचार-पत्रों से होता है। रहन-सहन के स्तर का ज्ञान, विभिन्न हवाओं का ज्ञान समाचार-पत्रों से ही होता है।

साहित्य के विकास में सहायता—समाचार-पत्रों की सहायता से साहित्य का विकास पर्याप्त रूप से होता है। लेखकों के लेख, कवियों की कविताएँ, आलोचकों की आलोचनाएँ आदि सभी प्रकार की कलाओं का प्रचार और विकास इन पत्रों द्वारा होता है। जिस भाषा में समाचार-पत्र निकलते हैं, उस भाषा को अधिक लोग पढ़ते हैं जिससे भाषा का प्रसार अधिक बढ़ता है। भाषा का स्थिर रूप समझना सबके लिए सरल हो जाता है। समाचार-पत्रों द्वारा देश-विदेश से विचारों का आदान-प्रदान होता रहता है अतः नवीन प्रकार के साहित्य निर्माण में सरलता होती है। साहित्यक पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से पुस्तकों का प्रकाशन भी होता रहता है तथा उनकी आलोचनाएँ भी सामने आती हैं, फलतः लेखक अपनी त्रुटियों को सुधार लेता है।

उपसंहार—समाचार-पत्रों की अपार उपयोगिता है। उनके अनेक लाभ होते हैं। ये तो मनुष्य ने आज वैज्ञानिक युग में ऐसे सैकड़ों साधन बना लिए हैं जिससे सामयिक आनन्द और ज्ञान प्राप्त होता है पर सामयिकता में स्थिरता रखने वाला साधन समाचार-पत्र ही है। इससे जो ज्ञान हम प्राप्त करते हैं उसे स्थिर भी रख सकते हैं। यदि थोड़ा संग्रह की ओर ध्यान दें तो आवश्यक बातें काटकर रख भी सकते हैं। सिनेमा, रेडियो आदि की बातें मिटती जाती हैं पर अखबार की कटिंग फाइल में पड़ी रहती है। समाचार-पत्रों का अवलोकन सभी को यथासमय करना चाहिए।

४९. सहशिक्षा

१—भूमिका और सहशिक्षा का रूप, २—सहशिक्षा का प्रभाव, (क) पुरुष जीवन पर, (ख) स्त्री जीवन पर, (ग) पारिवारिक जीवन पर, ३—लाभ और हानि, ४—उपसंहार।

भूमिका—सहशिक्षा से तात्पर्य उसी शिक्षा प्रणाली से है जिसमें बालक और बालिकाएँ एक साथ पढ़ते हैं। इसमें बालक और बालिकाओं के पाठ्यक्रम और पाठ स्थल में कोई भेद-भाव नहीं किया जाता है।

मानव-जावन म शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। स्त्री-पुरुष दोनों के लिए शिक्षित होना आवश्यक किन्तु उनकी शिक्षा के लक्ष्य में मतभेद हो सकता है। जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों की शिक्षा प्रणाली का एक ही लक्ष्य माना जाता है, वहाँ उनकी शिक्षा प्रणाली में बहुत कम अन्तर होता है और वही सहशिक्षा अधिक सफल होती है। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार की शिक्षा का ही प्रचलन है। सहशिक्षा का अभिप्राय है कि स्त्री-पुरुष एक ही कक्षा में पढ़ें तथा उनका अन्तिम लक्ष्य भी प्रायः एक ही प्रकार का हो। जो दो प्राणी एक ही मार्ग पर चलते हैं वे दोनों निश्चय ही एक ही गन्तव्य पर पहुंचते हैं। भारत में सहशिक्षा का प्रचार आजकल बढ़ रहा है। सामान्यतया लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग विद्यालयों का आयोजन किया गया है परन्तु कहीं-कहीं साथ पढ़ने की भी व्यवस्था है। प्रारम्भिक कक्षाओं में जहाँ अलग लड़कियों के लिये पाठशालाएँ नहीं हैं, वहाँ साथ ही पढ़ते हैं। जहाँ अलग स्कूल हैं वहाँ लड़के और लड़कियाँ अलग-अलग पढ़ते हैं। विश्वविद्यालय की कक्षाओं में फिर सहशिक्षा हो जाती है।

ऊँची कक्षाओं में लड़के और लड़कियों की अवस्थाएँ लगभग २० वर्ष से ऊपर हो जाती हैं और वे एक साथ पढ़ते-लिखते हैं। साथ-साथ पढ़ने -लिखने से उनका परस्पर का परिचय भी बढ़ जाता है। शिक्षा के प्रभाव से उनमें विवेक भी पर्याप्त मात्रा में आ गया रहता है। उनका ध्यान भी पाठ्य विषयों पर ही रहता है। फिर भी उनमें स्वाभाविक बिलगाव रहता ही है। दोनों वर्ग नदी के दो किनारों के समान प्रायः समान्तर ही प्रवाहित होते रहते हैं।

शिक्षा का प्रभाव—परिस्थिति और वातावरण का प्रभाव प्राणी मात्र पर स्वाभाविक रूप से पड़ता है। मनुष्य का मन स्वभाव से चंचल होता है। शिक्षा के लिए युवक और युवतियाँ दोनों ही ऊँची कक्षाओं में जाते हैं। उस अवस्था तक उनमें आत्म-सम्मान, लोक मर्यादा, अपने हिताहित का ज्ञान पर्याप्त मात्रा में जागरूक हो चुकता है। इन गुणों के कारण वे संयमित रहते हैं। प्रयास से कठिन कार्य भी साध्य हो जाते हैं। फिर स्वाभाविक गति से वे अपने संयम को बनाये रख-कर पढ़ते-लिखते रहते हैं। इसमें उनके व्यवहार में प्रायः कलुष नहीं आता। पर इस प्रयास से अध्ययन में कुछ दिनों तक एकाग्रता नहीं ला पाते। यह स्थिति दोनों वर्गों की होती है। आगे चलकर वे स्वाभाविक रूप से रहने में समर्थ हो जाते हैं तथा अपनी पढ़ाई भी सुचारु रूप से चलाते रहते हैं। किन्तु सभी का विवेक और धैर्य एक-सा नहीं होता अतः कुछ लोगों पर अवांछित प्रभाव भी पड़ ही जाता है। ऐसे लोगों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तथा कभी-कभी उनके जीवन में ऐसी क्रान्ति आती है जिसका सम्भालना कठिन हो जाता है।

सह-शिक्षा से पूरक भावना का विकास—स्त्रियों और पुरुषों के निर्माण में प्रकृति ने कतिपय भिन्न तत्वों का प्रयोग किया है जिसके कारण परस्पर आकर्षण स्वाभाविक है। यह नियम अपना कार्य अवश्य करता है पर इसके लिए यदि अवसर और वातावरण अनुकूल मिलता है तो मनोवेगों को रोकने में कठिनाई होती है। दोनों वर्गों के दूर-दूर रहने से मनोवेगों के प्रबल होने की कम सम्भावना होती है। सहशिक्षा में यह कठिनाई बनी रहती है। पाश्चात्य सभ्यता तथा समानाधिकार की

भावना का प्रभाव भी बहुत अच्छा नहीं पड़ता। कारण यह है कि दोनों परस्पर पूरक न बनकर प्रतिस्पर्द्धी बनने लगते हैं और जब यह समानान्तर भावना बढ़ती है तो जीवन में सरलता आना कठिन हो जाता है। यदि परस्पर पूरक होने की भावना प्रबल होती है तो जीवन का ध्येय अपने स्वाभाविक विकास में सफल होता है।

इस आस्था तक युवक और युवतियाँ प्राय: अविवाहित रहते हैं। अत: मानसिक स्थिति केन्द्रित नहीं रहती। विवाहित होने वालों की मानसिक स्थिति पर नैतिकता तथा उत्तरदायित्व का प्रतिबन्ध रहता है। इस स्थिति का प्रभाव भी कम नहीं पड़ता। भारतीय समाज में जीवन के उचित विकास की ठोस व्यवस्था की गई है, पर वर्तमान-प्रणाली में वे विषय दकियानूसी या संकीर्ण माने जाते हैं, अनुशासन-हीनता तथा अनैतिकता को बढ़ने का अवसर मिलता है। इस सहशिक्षा के कतिपय लाभ भी हैं—जैसे पुरुष और स्त्री एक दूसरे के जातिगत विचारों से परिचित होते हैं। पर्याप्त समय तक साथ रहने के कारण उनमें स्पष्टता आ जाती है। क्रमश: उनका नैतिक विकास हो जाता है और इधर भावनाएँ कम प्रबल हो पाती हैं। इस प्रकार सहशिक्षा का प्रभाव सामान्यतया भारतीय संस्कृति के लिए जितना लाभकर है, उससे अधिक हानिकर है, परन्तु विद्वानों का एक वर्ग ऐसा है जो इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता। उनका कहना है कि सहशिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा स्त्री और पुरुष के बीच की खाई को पाटा जा सकता है।

कालेज जीवन की कल्पनाएँ और यथार्थ शिक्षा—शिक्षा समाप्त करके जब दोनों सांसारिक जीवन में प्रवेश करते हैं तो सामान्यतया उनकी कालेज जीवन की कल्पनाएँ पूर्ण नहीं होतीं। अपने भाग्य के अनुसार उनके सम्बन्ध विभिन्न परिस्थितियों में होते हैं। वहाँ पर दोनों के सामने जीवन को सहयोगपूर्ण बनाने में कठिनाई उत्पन्न होती है। सहशिक्षा काल की विचारधाराएँ यदि समता पा गईं तब तो ठीक ही होता है और एक अपने कर्त्तव्य को समझकर घर के विषयों को करता है तथा दूसरी अपने कर्त्तव्य का ध्यान करके गृहस्वामिनी बनकर गृह-प्रबन्ध में अपनी विद्या-बुद्धि का सदुपयोग करती है। वहाँ जीवन का मार्ग सुख के साथ कटता है। पर यदि विचारधाराएँ विभिन्न मार्ग पर चलने वाली होती हैं तो एक दूसरे के मार्ग में अनावश्यक हस्तक्षेप होता रहता है। परिणाम यह होता है कि जीवन नरक बन जाता है। फिर सम्बन्ध अधिक दिन तक चल भी नहीं पाता और दोनों नदी के दो किनारों के समान कभी मिल नहीं पाते और प्रेमधारा धीरे-धीरे सूखकर मरुभूमि में बदल जाती है।

रूढ़िवाद का प्रभाव—भारतीय समाज अब भी रूढ़िवादी है। परम्परा के अनुसार कुमारी कन्याओं के विवाह का उत्तरदायित्व माता पर होता है। सहशिक्षा में शिक्षित लड़कियों की शादी के समय उनके अभिभावकों के लिए एक दु:साध्य समस्या बन जाती है। लड़कियों की मनोवृत्ति, सामाजिक बन्धन तथा दहेज की प्रथा आदि का साम्य मिलाना बड़ा कठिन कार्य होता है। यदि सामाजिक बन्धन की उपेक्षा करके प्रेम-विवाह कर लिया जाता है तो समस्या और भी कठिन हो जाती है। अविवेक पूर्ण आवेग में ऐसे सम्बन्ध कर तो लिये जाते हैं पर उनका निर्वाह अन्त तक नहीं हो पाता। तत्पश्चात् जीवन का उत्तर भाग अशान्ति का अड्डा बन जाता है। इस प्रकार प्रेम-सम्बन्धों को सहशिक्षा द्वारा प्रबल समर्थन प्राप्त होता है जो भारतीय संस्कृति के

अनुकूल नहीं पड़ता। जिन देशों में इस प्रकार का समाज है, जहाँ नैतिकता का मानदण्ड, कर्त्तव्य और अधिकार तथा जीवन-क्रम भिन्न दृष्टियों से देखा जाता है, वहाँ भी भारतीय जीवन की सराहना होती है, और भारतीय संस्कृति की पारिवारिकता तथा आध्यात्मिकता के लिए तरसा जाता है। इसके बाद भी हम भारतीय अपने मानदण्डों का परित्याग कर देते हैं और सहशिक्षा का समर्थन करते हैं।

पारिवारिक अव्यवस्था की आशंका—स्त्री-स्वतन्त्रता, स्त्री शिक्षा तथा समानता की भावना का यदि संकीर्ण अर्थ में प्रयोग किया जाय तो जीवन वह गाड़ी बन जायेगा जिसको ढोने वाले दोनों चक्र न तो मोड़ने पर मुड़ेंगे। सहयोग से गति मिलाकर चलेंगे। बायाँ पहिया दाईं तरफ जाना चाहे और दायाँ बायीं तरफ तो गाड़ी चलने के स्थान पर उलट जाएगी। इसी प्रकार जीवन रूपी गाड़ी की दशा होती है। स्त्री और पुरुष की शिक्षा का ध्येय ही भिन्न है। सहशिक्षा का समर्थन यह कह कर किया जाता है कि इससे स्त्रियों में हीनता की भावना को स्थान नहीं रहता और वे स्वावलम्बी हो जाती है। उनके स्वावलम्बन का तो परिणाम स्पष्ट सामने आता है—पारिवारिक जीवन की अव्यवस्था तथा बेकारी की समस्या।

पाठ्यक्रम में विभेद हितकर होगा—वास्तव में स्त्रियों की शिक्षा का पाठ्यक्रम ही ऐसा होना चाहिए वि वे अध्यापक, वकील, क्लर्क आदि बनने के स्थान पर यदि कुशल गृहणी बन सकें तो संसार का अधिक कल्याण हो। मानव में स्थित दानव अक्सर खो जाता है। यह अवसर उसे उचित रीति से उचित समय पर मिलना चाहिए। समाज का सुधार कार्य यदि विनाश करता है तो उस सुधार में दूर रहना उचित है। स्त्री और पुरुष यदि दोनों कार्यालय में काम करते हैं तो फिर गृहस्थी नाम की वस्तु तो नष्ट ही हो जाती है। उसको देखे कौन ? आधुनिक भौतिकवादी समाज में भले ही आर्थिक कठिनाइयों के फलस्वरूप स्त्रियों को कुशल गृहिणी न बनाकर क्लर्क बनाना पसन्द करें, पर इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं कि उससे जीवन की समसरता समाप्त हो जाती है।

उपसंहार—सहशिक्षा में युवक और युवतियाँ एक ही पाठ्य-क्रम को एक ही साथ पढ़ते हैं, अतः इनकी बुद्धि का विकास प्रायः एक ही 'लाइन' पर होता है। परिणामतः उनमें अपने-अपने कर्त्तव्य का समुचित ज्ञान नहीं होता। आगे आने वाली पीढ़ी की शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोषण में प्रेममय भावना का अभाव हो जाता है। जीवन यन्त्र के समान नीरस होकर चलता है। बात-बात में विवाद और मतभेद बढ़ते हैं। अतः सहशिक्षा भारतीय संस्कृति के लिये वरदान नहीं सिद्ध हो रही है।

५०. स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता और उसका स्वरूप

१—भूमिका, २—स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता, ३—स्त्री-शिक्षा का महत्व और लाभ, ४—स्त्री-शिक्षा का रूप, ५—उस रूप की शिक्षा की उपयोगिता, ६—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह प्रत्येक कार्य समाज को ध्यान में रखकर ही करता है। मनुष्य-समाज का प्रत्येक प्राणी सुख और आनन्द चाहता है।

ये सुख और आनन्द भौतिक या शारीरिक तथा मानसिक अनुभूतियों से सम्बन्ध रखते हैं। इसकी प्राप्ति के और भी साधन हो सकते हैं परन्तु शिक्षा सबसे अधिक आवश्यक है। समाज में स्त्री-पुरुष दोनों का स्थान लगभग अन्योन्याश्रित है, अतः शिक्षा की आवश्यकता दोनों को समान रूप से है। समाज के स्वस्थ विकास में स्त्रियों का महत्व-पूर्ण भाग तथा उत्तरदायित्व है। वे शिक्षित होकर अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह अधिक सफलतापूर्वक कर सकती हैं। स्त्रियों की अशिक्षा का प्रभाव समाज पर कभी भी अच्छा नहीं पड़ता। अतः स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता है। उस शिक्षा के रूप के विषय में एक ही राय हो सकती है। अतः यह देखना है कि स्त्री-शिक्षा का कौन-सा रूप समाज के तथा व्यक्ति के लिए श्रेयस्कर होगा।

स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता और महत्व—जीवन-रथ के दो चक्र हैं—स्त्री और पुरुष तथा धुरा है उनको नियन्त्रण में चलाने वाला प्रेम। मानव जीवन की वास्तविक सफलता है—सम विचार के या योग्य जोड़े के मिलने में। पुरुषों के अनु-पात में ही उन्हें भी प्रायः उसी प्रकार के पूरक रूप में शिक्षित होने की आवश्यकता है। यदि गृहिणी शिक्षित रहती है तो वह अपने पति के कार्यों में हाथ बंटाती है तथा उसकी सहायता करती है अतः स्त्रियों की शिक्षा आवश्यक है। शिक्षित स्त्रियाँ बच्चों के लालन-पालन को सुन्दर ढंग से करती हैं, इससे भावी सन्तानों में बचपन से ही अच्छे संस्कार जमते जाते हैं, अतः उनकी शिक्षा आवश्यक है। राष्ट्र में स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान है, उन्हें सम्मानित जीवन व्यतीत करने के योग्य होना ही चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें परावलम्बी और निराश्रित न बनना पड़े और उनमें आत्मविश्वास बना रह सके। इसलिए उनको शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता है। स्त्रियों को व्यापक दृष्टिकोण का तथा सुशील व्यवहार का होना चाहिए ताकि उनमें विवेक-शक्ति का उचित विकास हो। इसके लिए स्त्री-शिक्षा आवश्यक है। सामाजिक रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठाने में स्त्रियों का योग अधिक आवश्यक है। यदि वे शिक्षित रहेंगी तो रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाने में सुन्दर सहयोग दे सकेंगी अतः उनकी शिक्षा आवश्यक है।

स्त्री-शिक्षा का रूप और उसकी उपयोगिता—स्त्रियों का शिक्षा का पाठ्य-क्रम निर्धारित करने के पूर्व मूल सिद्धान्त बनाना आवश्यक है। पहले यही विचार कर लेना है कि स्त्रियों को क्या बनाना है। यदि स्त्रियों को पुरुषों के समान स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बनाकर पुरुषों के समानान्तर चलाना है, तब तो उनकी शिक्षा का पाठ्य-क्रम भी वही रह सकता है, जो लड़कों के लिए निर्धारित है। इस शिक्षा प्रणाली में शिक्षित लड़कियों से उतना ही पायेगा, जितना आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति कर पाते हैं। यानी वर्तमान शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति अपने ही घर में विदेशी जैसा बना रहता है। जब तक वह घर में रहता है, तब तक उसकी दयनीय दशा रहती है। किसी भी कार्य में उसका सहयोग अपेक्षित लाभ नहीं पहुँचा पाता। हर व्यक्ति उसके दुर्भाग्य पर तरस खाता है तथा उसके लिए अवांछित करुणा दिखाता है। परिणामस्वरूप उसका मन सदैव दुःखी और खिन्न रहता है। वह कभी कभी आनन्द की, शान्ति की साँस नहीं ले पाता। ऐसी दशा में या तो वह भयंकर रोग का शिकार बनता है या अपने उच्च स्वाभिमान के कारण अपने को संसार के लिए अयोग्य और संसार को अपने लिए

असह्य मान कर अकाल में ही आत्म-हत्या कर बैठता है। यही दशा वर्तमान शिक्षा प्रणाली में शिक्षित महिलाओं की भी हो सकती है। यह परिस्थिति अधिक नहीं चल पायेगी कि इन स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त महिलायें नौकरियाँ पाती रहें। एक समय निकट भविष्य में ही ऐसा आयेगा, जब उनके लिए भी नौकरी की समस्या उसी प्रकार जटिल हो जायेगी, जैसी पुरुषों के लिए है। यह शिक्षा उन्हें कुशल गृहिणी और लक्ष्मी अपवाद रूप में ही बना पायेगी। लेकिन अधिकांश तो पुरुषों के समानान्तर ही चलने की अधिकारिणी बनेंगी। इसका एक परिणाम यह होगा कि भारतीय समाज का पूरा ढाँचा लड़खड़ा जायेगा।

दूसरा सिद्धान्त—नारियों को भारतीय पद्धति पर गृह-लक्ष्मी या गृहस्वामिनी बनाना है। हमें भारत की नारी को 'क्लर्क' बनने की शिक्षा नहीं प्रदान करनी चाहिए बल्कि उसे सफल गृहिणी बनने की शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। इसके अनुसार भारतीय नारियों की शिक्षा का पाठ्य-क्रम एकदम भिन्न होना चाहिए ताकि वे पुरुषों की पूरक बन सकें और जीवन में समरसता ला सकें। इसके लिए उनके पाठ्य-क्रम में वे बातें पढ़ाई जानी चाहिए, जिसमें वे गृह-कार्य में दक्षता पा सकें, परिवार को मधुर प्रेमामृत से स्वर्गीय बना सकें। इस प्रकार पाठ्य-क्रम में नारी धर्म, नैतिकता, सदाचार निष्ठा आदि का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। इससे उनमें विवाद के लिए तो ज्ञान कम होगा, जीवन को आनन्दमय बनाने में वे अधिक सफल होंगी। वे अपने पतियों से सहयोगात्मक व्यवहार करेंगी। उनमें धर्म के प्रति, संस्कृति के प्रति मोह होगा। वे अपने घरों में ऐसे वातावरण का निर्माण कर सकेंगी जो घर को स्वर्ग बनाने में समर्थ होगा। उनकी आवश्यकताएँ सीमित और सरल होंगी, जिन्हे सीधे-सादे जीवन से आनन्द आयेगा। इसका परिणाम यह होगा कि पुरुष की निरंकुशता और असंयम भी सीमित हो जायेगा। यह सामाजिक स्थिति एक विशेष प्रकार के पाठ्य-क्रम के अध्ययन से आयेगी या पारिवारिक वातावरण में आ सकेगी। इसी प्रकार की शिक्षा आवश्यक है; अतः शिक्षा के इस रूप को प्राप्त करने से शिक्षा-क्रम का वर्तमान रूप सहायक नहीं हो सकता। इससे वर्तमान में आमूल परिवर्तन आवश्यक होगा। प्राचीनकाल में भारतीय देवियों की शिक्षा का रूप पुरुषों की शिक्षा पद्धति से भिन्न था, ऐसा अनुमान होता है। उस समय भी अपवाद अवश्य रहे होंगे इसमें सन्देह नहीं।

भौतिक सुख के माध्यम से आध्यात्मिक सुख प्राप्त करना—आज का तर्कवादी वैज्ञानिक और अर्थवादी व्यक्ति भले ही यह विश्वास कर लें कि पति-पत्नी दोनों की कमाई से पारिवारिक आय में वृद्धि होगी और जीवन की सुख-सामग्रियाँ खरीदनी सरल होंगी, परन्तु यह भी ध्यान में रखना होगा कि जनसंख्या की वृद्धि की समानता में नौकरियों के स्थान बढ़ाये नहीं जा सकेंगे; और बढ़ी हुई जनसंख्या शिक्षित होकर नौकरियों के लिए मारी-मारी फिरेंगी। अभी तो यह दुर्दशा पुरुषों की ही है फिर तो स्त्रियों के लिए भी इस समस्या का समाधान करना आवश्यक होगा। परिणाम यह होगा कि कुछ लोग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होते भी जीवन में अनेक दृष्यों से विपन्न और असन्तुष्ट रहेंगे, क्योंकि उन्हें आनन्द मनाने को खाली समय ही नहीं मिल पायगा। पति-पत्नी दोनों अपने दफ्तर के उत्तरदायित्वों के निर्वाह में परेशान रहेंगे।

जब दोनों बाहर के कार्यों में व्यस्त रहेंगे तो घर के कार्यों को कौन पूरा करेगा ? दूसरी ओर यदि उनमें से एक नौकर हो जायगा और दूसरा नौकरी की खोज में रहेगा, तब उनकी दशा और भी विचित्र रहेगी। यदि पारिवारिक सुख की प्राप्ति नहीं हुई तो शिक्षा व्यर्थ है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि स्त्रियों की शिक्षा है तो अत्यावश्यक पर वर्तमान रूप में नहीं। उसका रूप और पाठ्य-क्रम सभी कुछ परिवर्तित होना अनिवार्य है तथा इसके लिए मूल सिद्धान्त का बदलना भी आवश्यक है। मूल के दूषित रहने पर फल कभी अच्छी नहीं होगा।

५१. देशाटन अथवा पर्यटन

१—भूमिका, २—देशाटन का रूप, ३—देशाटन की आवश्यकता, ४—देशाटन के साधन, ५—देशाटन से लाभ, (क) विद्वानों और कवियों को (ख) व्यावसायिक को (ग) शासक वर्ग को (घ) कृषकों को, ६—उपसंहार।

भूमिका—प्रत्येक मनुष्य में दूसरे व्यक्तियों तथा स्थानों के प्रति सहज उत्सुकता होती है। इस उत्सुकता की पूर्ति के लिए मनुष्य विभिन्न देशों की यात्रा करता है। इन यात्राओं के अनेक लक्ष्य हुआ करते हैं। कुछ लोग व्यापारिक कार्यों के सिलसिले में दूसरे देशों में जाते हैं और अपना कार्य करके चले आते हैं, कुछ लोग धर्म-प्रचार के लिये जाते हैं और अपना कार्य करते हैं। कुछ लोग राजनीतिक दृष्टिकोण से यात्रा करते हैं। इस प्रकार से यात्रा के अनेक कारण हैं। उनमें देशाटन भी एक है। आज के वैज्ञानिक और अर्थवादी युग में देशाटन का अपना एक विशेष महत्व है।

देशाटन अथवा पर्यटन का रूप—देशाटन का अर्थ विभिन्न स्थानों में घूमना होता है। देशाटन के लिए लोग जितना समय निर्धारित कर लेते हैं, उतने समय में अधिक से अधिक स्थानों में जाते हैं तथा उन स्थानों की प्रसिद्ध वस्तुएँ तथा प्रसिद्ध इमारतें आदि देखते हैं। फिर दो-चार दिन एक नगर में रहकर दूसरे नगर को प्रस्थान कर देते हैं। वहाँ दो-चार दिन रहकर पुनः तीसरे स्थान की राह पकड़ते हैं। साथ ही साथ हर स्थान की विशेष बातों को लिखते भी जाते हैं। इस प्रकार नियत समय और व्यय में देशाटन का कार्य-क्रम पूरा करके लौट आते हैं। इस देशाटन का ही धार्मिक रूप तीर्थ-यात्रा है। भारतवर्ष में तीर्थ-यात्रा का अत्यधिक महत्व है। उसमें धार्मिक विश्वास की अधिकता के कारण और बातें गौण रहती हैं। तीर्थ-यात्री भगवान का दर्शन, तीर्थ-स्थान, कुछ समय तक तीर्थ-वास करके सन्तुष्ट हो जाता है। उसमें देशाटन की भावना वर्तमान अर्थ में नहीं रहती।

देशाटन की आवश्यकता—मनुष्य को विभिन्न स्थानों के लोगों के रहन-सहन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए देशाटन की आवश्यकता होती है। भिन्न-भिन्न स्थानों में गये बिना वहाँ के लोगों के विषय में ज्ञान नहीं प्राप्त हो पाता। दूसरी आवश्यकता है अपने मन की उदासीनता तथा एकरसता को दूर करने के लिए। एक ही स्थान में निरन्तर पड़े रहने के कारण मनुष्य का मन खिन्न-सा हो जाता है। अतः मन बहलाव

के लिए देशाटन करना आवश्यक होता है। विभिन्न प्रकार के दृश्यों के दर्शनार्थ भी देशाटन आवश्यक होता है। इससे विभिन्न प्रकार के लोगों से सम्पर्क होता है, जिसमें मनुष्य के हृदय में विशालता आती है तथा उनका दृष्टिकोण व्यापक बनता है। देशाटन से मनुष्य के हृदय में सहयोग और सहानुभूति के गुण आते हैं। यह ऐसा कार्य है जिसने मनुष्य के ज्ञान का विकास होता है। भूगोल, इतिहास आदि सामाजिक तथा व्यावसायिक का जागरण होता है। देशाटन में जब मनुष्य घर से बाहर जाता है तो उसमें स्वावलम्बन की भावना आती है। अतः देशाटन मनुष्य के लिए आवश्यक है।

देशाटन के साधन—देशाटन के लिये उचित साधनों और सुविधाओं की आवश्यकता होती है। प्राचीन काल में जब आवागमन के साधनों का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाया था तब लोगों को देशाटन में बड़ी असुविधा होती थी। वर्तमान युग में आवागमन के साधनों का विकास हो गया है, अतः देशाटन सरल और सुविधापूर्ण बन गया है। अब मार्ग की बाधाएँ तथा समय का अपव्यय कम होता है। आजकल स्थान-स्थान पर धर्मशालाएँ और विश्रामस्थलों की व्यवस्था है, जहाँ आदमी कुछ समय तक सरलतापूर्वक रह सकता है। यही कारण है कि आजकल देशाटन करने वाले लोगों की संख्या भी बढ़ गई है लोग देश-विदेश में जाते हैं और अनेक प्रकार के लाभ उठाते हैं। वर्तमान युग में रेलवे, मोटर, बसें, वायुयान आदि यातायात के अनेक साधन उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा देशाटन सरल बन गया है। पशुओं द्वारा तथा पैदल यात्रा की आवश्यकता अब कम ही है। हाँ आजकल देशाटन भी धन के ऊपर अवलम्बित हो गया है। यदि आपके पास धन है, तो आप सरलतापूर्वक जहाँ चाहें आ जा सकते हैं। किन्तु इन साधनों का प्रयोग करने से देशाटन का लक्ष्य आंशिक रूप में ही पूरा होता है।

देशाटन से लाभ—यह ऐसा कार्य है जिससे समाज के सभी वर्ग के लोगों को लाभ होता है। ये जिन देशों में जाते हैं वहाँ की प्रगति, रहन-सहन, रीति-नीति, संस्कृति, परम्परा आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इससे उनकी रचानाओं में देशकाल का यथार्थ वर्णन होता है। प्राचीनकाल में भी कवि और विद्वान देशाटन करते थे, यही कारण है कि उनकी रचनाओं में प्रकृति तथा देशकाल का यथार्थ चित्रण दिखाई देता है। महाकवि देव ने यदि पूरे भारत का देशाटन न किया होता तो 'जाति-विलास' जैसी रचना वे न कर पाते। गोस्वामी तुलसीदास, कबीरदास, केशवदास आदि सभी कवियों की रचनाएँ उनके देशाटन का प्रमाण देती हैं। माघ, भारवि, वाणभट्ट, भवभूति आदि कवियों ने यदि भ्रमण न किया होता तो उनकी रचनाओं में इतने विभिन्न और स्वाभाविक वर्णन नहीं मिल पाते। अँग्रेजी के कवि कीट्स, शैली, मिल्टन, शेक्सपीयर आदि सभी ने देशाटन किया था। उनकी रचनाओं पर इसका प्रभाव भी स्पष्ट है। वर्तमान युग में तो इसका महत्व और भी बढ़ गया है। विश्व-विख्यात कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर, पंतजी, तथा अन्य अनेक कवियों ने देश-विदेश की यात्राएँ की हैं और अपने ज्ञान तथा भावना की भूमि को व्यापक बनाया है। सर राधाकृष्णन्, पं० जवाहर-लाल नेहरू आदि महानुभावों ने देशाटन से पर्याप्त लाभ उठाया है। हाल ही में श्री कामराज नादार रूस तथा अन्य देशों की यात्रा पर गये थे। सरकार देश के विभिन्न ख्याति प्राप्त कलाकारों तथा संस्था के सदस्यों को देशाटन के लिए आये दिन भेजा करती है, अतः बुद्धिजीवी वर्ग के लिए देशाटन लाभकर है।

व्यवसायी वर्ग को देशाटन से आर्थिक लाभ अधिक होता है। एक व्यवसायी जब विभिन्न देशों में जाता है तो यह बात ध्यान में रखता है कि इस देश में किस वस्तु की अधिक खपत है तथा किस माल की अधिकता है। इस प्रकार वह अपना सारा हिसाब-किताब बैठा लेता है, और उसके आधार पर अपने व्यापार का सिलसिला शुरू करता है तथा समयानुसार वैभवशाली बन जाता है। यही कारण है कि व्यापारी देश-विदेश की यात्राएँ करते हैं और अपना व्यवसाय बढ़ाते रहते हैं।

शासक वर्ग को भी देशाटन से अनेक लाभ होते हैं। जब विभिन्न देशों की शासन व्यवस्था देखते हैं, तब उनसे बहुत कुछ सीखते हैं और अपने देश में उस ज्ञान द्वारा उपयोगी कार्य करते हैं। देशाटन द्वारा वे अपने मित्रों की संख्या में वृद्धि करते हैं। दूसरे देशों से मित्रता करते हैं। अपनी नीति को अधिक सफल बनाने का कार्य करते हैं। उन्हें विभिन्न राष्ट्रों की रण-नीति का तथा युद्धास्त्रों का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार से राष्ट्रनायकों का देशाटन कम महत्वपूर्ण नहीं होता। यही कारण है कि देश-विदेश के राजनीतिज्ञ देशाटन करते हैं। महान् नेताओं के देशाटन से अन्य देशों के साथ मैत्री का सूत्र दृढ़ बनता है।

कृषकों के लिए भी देशाटन आवश्यक है। वे भी देशाटन के ज्ञान से अपनी कृषि में सुधार करके अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न कर सकते हैं। उनके इस सुधार कार्य में उनका देशाटन जनित ज्ञान उपयोगी सिद्ध होता है। इसी प्रकार धर्म-प्रचारक देशाटन द्वारा अपने धर्म का प्रचार करते हैं तथा उनका कार्य जन-कल्याण के लिए होता है। इस प्रकार समाज के हर वर्ग के लिए देशाटन लाभकारी है।

उपसंहार—भारतवर्ष और विशेषकर हिन्दू समाज एक ऐसा समाज है जिसमें जीवनोपयोगी सभी बातों को धार्मिक दृष्टिकोण प्रदान कर दिया गया है। भारतीय ऋषियों और मनीषियों ने धर्म को जीवन के विभिन्न अंगों से समन्वित कर दिया है। प्रयाग, हरिद्वार, रामेश्वर, जन्नाथपुरी, उज्जैन, बद्रिकाश्रम, काशी, गंगासागर आदि सभी तीर्थों में पर्वों पर मेले का विधान कर दिया गया है। लोग यहाँ जाकर मनोनकूल फल प्राप्त करते हैं। कोई धर्म भावना की तृप्ति करता है तो कोई अर्थ कमाता है। कोई मनोनुकूल आनन्द लेता है, तो कोई मोक्ष साधन में लीन रहता है। भारतीय पद्धति में देशाटन अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सभी फलों का दाता है। परमेश्वर की सौंदर्य सृष्टि में अनेक विचित्रताएँ हैं और इनका ज्ञान देशाटन द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। अतः देशाटन जीवन का धर्म है। इसके बिना जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति सम्भव नहीं है।

५२. पुस्तकों का चुनाव

—भूमिका, २—चयन की आवश्यकता, ३—नवीन-प्राचीन का विवाद, ४—व्यापक दृष्टिकोण, ५—वृत्ति का ध्यान, ६—उपसंहार।

भूमिका—संसार में विभिन्न लेखकों के द्वारा लिखी गई अनेक पुस्तकें हैं। ये

पुस्तकें विभिन्न विषयों पर लिखी गई हैं। कुछ काव्य ग्रन्थ हैं, कुछ उपन्यास, कुछ कहानियाँ, कुछ विज्ञान से सम्बन्धित पुस्तकें, कुछ राजनीति से सम्बन्धित पुस्तकें, कुछ समाज सुधार सम्बन्धी पुस्तकें, कुछ अश्लील पुस्तकें, कुछ चरित्र को उज्ज्वल बनाने वाली पुस्तकें और कुछ ऐसी पुस्तकें जिन्हें हम एक बार पढ़ने के बाद भूल जाते हैं। विभिन्न विषयों पर प्रतिदिन हजारों की संख्या में पुस्तकें निकलती हैं। ये सारी की सारी पुस्तकें अच्छी होती हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कुछ पुस्तकों में अश्लीलता का भंडार भरा होता है, कुछ में काम-लिप्सा की उत्तेजक कहानियाँ होती हैं और कुछ पुस्तकें अल्पमति पाठकों को बहकाकर पैसा ऐंठने के लिए ही बनाई जाती हैं। इसके साथ ही कुछ पुस्तकें ऐसी भी होती हैं जो बालकों के लिए उपयोगी होती हैं। प्रश्न यह है कि विद्यार्थियों के लिए किस प्रकार की पुस्तकों का चुनाव किया जाय?

चयन की आवश्यकता—मानव का जीवन क्षणभंगुर है। जितने समय इस संसार में मानव रहता है उतने समय में उसके लिए यह असम्भव है कि वह सभी प्रकार की पुस्तकें पढ़ ले। साथ ही यदि वह चाहे तो सभी प्रकार की पुस्तकें क्रय भी नहीं कर सकता क्योंकि उसको अत्यधिक धन की आवश्यकता होगी। इस कारण पुस्तकालय आदि के लिये विभिन्न प्रकार की पुस्तकों को चुनना आवश्यक सा हो जाता है। बर्नार्डशा का विचार है कि, 'आज पढ़ना तो सब कोई जानता है किन्तु क्या पढ़ना है, यह नहीं जानता।' आधुनिक युग में मानव के लिये क्या पढ़ना उचित है और क्या बेकार, इसको बहुत कम लोग जानते हैं। साधारण कोटि के विद्यार्थी तो अपने उचित और अनुचित का ध्यान ही नहीं रख पाते। बहुत से विद्यार्थी अत्यधिक पुस्तकों को पढ़ते हैं परन्तु बहुधा यह देखा जाता है कि उन्हें भी उस ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती जो इन पुस्तकों को पढ़ने के पश्चात् होनी चाहिए। अतएव पुस्तकों का चयन एक अत्यन्त पेचीदा विषय है और इसकी अत्यधिक आवश्यकता है।

नवीन-प्राचीन का विवाद—अँग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्धकार 'बेकन' ने लिखा है, "कुछ पुस्तकें चखने के लिए होती हैं, कुछ निगलने के लिए और कुछ चबा-चबा कर पचाने जाने योग्य होती हैं। बहुत कम पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनका स्वर चिरंतन, चिरकालीन और चित्ताकर्षक होता है। वे काल के चक्र में पिसकर समाप्त नहीं हो पातीं। इन पुस्तकों का महत्व सभी युगों में, सभी देशों में और सभी कालों में समान रूप से बना रहता है। अतएव इन पुस्तकों का अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए। इन पुस्तकों में, रामायण, महाभारत, रामचरितमानस, रघुवंश, शेक्सपीयर, मिल्टन, दाँते आदि की रचनाएँ, बाइबिल, कुरान, भगवत्गीता आदि रखी जा सकती हैं। इन पुस्तकों ने संसार के महानतम पुरुषों के जीवन को सँवारा है। अनेक दुखी और दलित लोगों ने इन पुस्तकों को पढ़कर अपने जीवन में आनन्द का संचार किया है। वास्तव में ये पुस्तकें ज्ञान रूपी अमृत का मथा हुआ नवनीत है। ये जीवन के उत्थान के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। अतएव इनका अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए।

चिरयुग तक मानव को सन्मार्ग पर चलने का सन्देश प्रदान करने वाली ...ों के सतत् अध्ययन से रुचि निर्मित होती है, विकसित होती है, एवं परिष्कृत ... है। अल्प आयु में ही इन पुरुषों के साहचर्य से हम अपने ज्ञान के भण्डार में अपार वृद्धि कर सकते हैं। अतएव विद्यार्थी जीवन के आरम्भ में अधिक पुस्तकों को

टटोलने की आवश्यकता नहीं बल्कि इन्हीं पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिये क्योंकि इनमें ज्ञान का अपार भण्डार भरा हुआ है। प्राचीन युग में लिखे गये इन ग्रन्थों से हम अपने जीवन में आनन्द का संचार कर सकते हैं और ज्ञान में वृद्धि कर सकते हैं। अतएव इन प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन ही किया जाना चाहिये। अनुमान के आधार पर नवीन युग की अच्छी पुस्तकों को खोजने की आवश्यकता नहीं है। अंग्रेजी की एक कहावत है—"Never read but famous book."

परन्तु केवल प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से ही समस्त ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती। जिन विद्वानों की यह धारणा है कि केवल प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से ही समस्त ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और नवीन साहित्य के अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं, भूल कर रहे हैं। वास्तव में जीवन की परिस्थितियाँ बहुत अधिक बदल चुकी हैं। आज का मानव चन्द्रलोक पर विचरण करने लगा है। आज के विद्यार्थी को चन्दा मामा की कहानियाँ अधिक आकर्षित नहीं कर सकती। उसे ज्ञान की नवीन खोजों पर आधारित पुस्तकों के अध्ययन की आवश्यकता है। फिर केवल सुप्रसिद्ध प्राचीन पुस्तकें पढ़ने से बहुत सी अच्छी पुस्तकों के छूट जाने की सम्भावना है। प्रतिभा एवं पाण्डित्य किसी एक युग और स्थान की विरासत नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो नवीन रचनाओं का आवागमन ही न होता क्योंकि प्राचीन श्रेष्ठ ग्रन्थों के अध्ययन से ही बौद्धिक विकास हो जाता तो नवीन पुस्तकों के सृजन की ही क्या आवश्यकता थी? वास्तव में नवीन पुस्तकों का निर्माण ही इसलिए हो रहा है कि प्राचीन पुस्तकें युग की बदलती हुई परिस्थितियों में मानव के लिए आदर्श नहीं बन सकतीं। इस कारण अन्य ग्रन्थों के साथ ही नवीन ग्रन्थों को पढ़ने की भी आवश्यकता है। कविकुल गुरु कालिदास ने ठीक ही लिखा है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वम् न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥

(पुरानी रचनाएँ ही उत्तम हों, ऐसी बात नहीं। कोई रचना नवीन होने के कारण ही तिरस्करणीय हो, ऐसी भी बात नहीं। सुधीजन तो परीक्षा के पश्चात् उत्तम और अनुत्तम की बात कहते हैं। मूढ़ हो केवल दूसरे के कथन पर सोचने वाले होते हैं।)

व्यापक दृष्टिकोण—हमें पुस्तकों के चयन से नवीन और पुरातन के पचड़े में नहीं पड़ना चाहिये बल्कि पुस्तकों के चुनाव में हमारा दृष्टिकोण व्यापक होना चाहिए। यदि ऐसा न होता तो शेक्सपीयर के अध्ययन के पश्चात् गाल्र्सवर्दी, टी० एस० इलियट; गेथे के पश्चात् टामस मॉड़, काफ़्का; और तुलसी एवं सूर के पश्चात् मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि के ग्रन्थों के अध्ययन की आवश्यकता ही न रह जाती। जहाँ पुराने साहित्यकारों के ग्रन्थों की आवश्यकता है वहाँ नवीन साहित्यकारों के ग्रन्थों के अध्ययन की भी आवश्यकता है।

वृत्ति का ध्यान—पुस्तकों के चयन के हेतु वृत्ति का भी ध्यान रखना अति आवश्यक है। किसी चिकित्सक के हेतु चिकित्सा की पुस्तकें उसके ज्ञान की अभिवृद्धि में सहायक होती हैं तो किसी वकील के हेतु कानून की पुस्तकों के अध्ययन की आवश्यकता होती है। इतिहास के अध्ययन करने वाले व्यक्ति के लिए इतिहास की नवीन और प्राचीन दोनों ही पुस्तकें लाभदायक सिद्ध होती हैं। साहित्यकार के हेतु

साहित्य की पुरानी पुस्तकें जितनी अधिक लाभदायक हैं उतनी ही अधिक नवीन पुस्तकें भी। विज्ञान का छात्र यदि काव्य-ग्रन्थ के अध्ययन में ही लीन रहे तो उसकी वैज्ञानिक प्रतिभा रुक जायगी। कला का विद्यार्थी यदि वाणिज्य की पुस्तकों में लीन रहे तो उसकी प्रगति रुक जायगी और उसकी सफलता का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। जिस विद्यार्थी का या जिस व्यक्ति का जो क्षेत्र है उस क्षेत्र के अनुसार ही उसे पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए और उस क्षेत्र की नवीनतम पुस्तकों के विषय में आवश्यक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। हाँ यह अवश्य है कि साहित्य और राजनीति आदि की कुछ पुस्तकें सभी क्षेत्र के लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध होती हैं। यदि विज्ञान के क्षेत्र में प्रवीणता प्राप्त करने वाला विद्यार्थी प्रेमचन्द के गोदान का अध्ययन करता है तो उसमें उसका मनोरंजन तो होता है साथ ही उसकी सामाजिक जानकारी में भी अभिवृद्धि होती है जिसका लाभ वह अपने विषय के क्षेत्र में भी उठा सकता है। देश और विदेश की राजनीति से सम्बन्धित पुस्तकें, चाहे विज्ञान का विद्यार्थी हो, चाहे वाणिज्य का विद्यार्थी हो, चाहे कला का विद्यार्थी हो, सभी के लिए उपयोगी हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विषय में जानकारी प्राप्त करना सभी क्षेत्रों के लोगों और विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है। विभिन्न क्षेत्रों के विद्यार्थी स्वदेश और विदेश में क्या हो रहा है जब तक यह न जानेंगे तो अपने विषय-क्षेत्र में वे किस प्रकार प्रवीणता प्राप्त कर सकेंगे। यदि डाक्टर बनने का इच्छुक कोई विद्यार्थी यही न समझ पाये कि देश में बीमारियों के फैलने के प्रमुख कारण क्या हैं और देश की गरीबी और भूखमरी को देखते हुये कैसे दामों की दवाइयों की आवश्यकता है तो वह डाक्टरी क्या करेगा। अतएव वृत्ति से सम्बन्धित पुस्तकों का अध्ययन तो आवश्यक है ही साथ ही ऐसी पुस्तकों के अध्ययन की भी आवश्यकता है जो हमारे देश-विदेश के सामान्य ज्ञान में अभिवृद्धि करती हैं।

अध्ययन केवल पदोन्नति या अच्छी नौकरी प्राप्त करने के लिए ही नहीं किया जाता है। वह स्ववृत्ति का विकास भी नहीं है वरन् ज्ञान की परिधि का विस्तार है, अन्तर वृत्तियों का उन्नयन है। अध्ययन का उद्देश्य जीवन में आनन्द की खोज है, 'स्व' का ज्ञान है और सृष्टि के रहस्य की जिज्ञासा है। इसके लिए आवश्यक है कि हम संसार के महानतम साहित्यकारों, इतिहासकारों, विचारकों, राजनीतिज्ञों, धर्म के प्रणेताओं आदि सभी के महान् ग्रन्थों का अध्ययन करें। संसार के इतिहास की जानकारी के लिये हम एच० जी० वेल्स लिखित 'विश्व का इतिहास' और पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखित, 'विश्व इतिहास की झलक' आदि पुस्तकों को पढ़ सकते हैं। अपने विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिये हमें थोरा, रस्किन, टाल्सटाय, रसेल आदि के ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए। राजनीति के हेतु चर्चिल द्वारा लिखित 'युद्धस्मृति' (War Memoir) का अध्ययन करना चाहिए। आधुनिक विकास के लिये महर्षि रमण, अरविन्द, श्रद्धानन्द आदि की पुस्तकों का अध्ययन उपयोगी होगा। काव्यास्वादन के लिए कीट्स, शैली, गालिब, मीर और प्रसाद जैसे कवियों की रचनायें पढ़ी जा सकती हैं। ये रचनाएँ अशान्त व्यक्ति को भी शान्ति प्रदान करने वाली हैं। राष्ट्र प्रेम के जागरण के हेतु वीर भगतसिंह, सावरकर, खुदीराम बोस आदि की जीवनियाँ पढ़ना चाहिए। इसी प्रकार विद्या के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न विद्वानों ने जिन महान ग्रन्थों की रचना की है उन सबका चुन-चुन कर अध्ययन करना चाहिये।

उपसंहार—पुस्तकों का चयन करना एक अत्यन्त दुष्कार कार्य है। आधुनिक

युग में जब अश्लील साहित्य और मामूली और बदनाम उपन्यासों की बाढ़-सी आ गयी है सद्‌वृत्तियों को जागृत करने वाली पुस्तकों का चुनाव असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। विद्यार्थियों को पुस्तकों के अपार भण्डार में से चुन-चुनकर अच्छी रचनाओं को निकालना चाहिए और उनका अध्ययन करना चाहिये। पुस्तकें व्यक्ति के जीवन को बनाने में अत्यधिक सहायक सिद्ध होती हैं। अच्छी पुस्तकों के अध्ययन से विद्यार्थी ज्ञान तो प्राप्त करता ही है साथ ही उसका चरित्र भी उज्ज्वल होता है। खराब पुस्तकें उसे कुमार्ग की ओर ले जाती हैं और उसकी आत्मा को कलुषित करती हैं। अतएव पुस्तकों का चुनाव तो समझ-बूझ कर किया जाना चाहिए। साथ ही उसमें संकीर्ण दृष्टिकोण को अपनाने की भूल नहीं करनी चाहिए। पुस्तक चाहे किसी भी भाषा में क्यों न लिखी गई हो, चाहे किसी धर्म के अनुयायी द्वारा रचित क्यों न हो, यदि उपयोगी है तो उसका अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिये।

५३. भ्रमण अथवा घूमने से लाभ

१—भूमिका, २—भ्रमण का समय और रूप, ३—इसकी आवश्यकता और इससे लाभ—शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक, ४—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य अपने दैनिक कार्यों में इतना उलझा रहता है कि उसे स्वतन्त्र रूप से सोचने-विचारने के लिए समय ही नहीं मिल पाता। नगरों में रहने वालों का अधिकांश समय जन-संकुल वातावरण में नहीं व्यतीत होता है। उनका विश्रामकाल तथा मनोरंजन भी शान्त वातावरण में नहीं बीतता। आज के अर्थवादी और वैज्ञानिक युग में मनुष्य का जीवन यन्त्रवत् चल रहा है। उसकी बुद्धि अधिक कार्यशील रहती है और शरीर कम, अतः उसे प्रकृति का उपहार नहीं प्राप्त हो पाता। ग्रामीण क्षेत्रों में सामान्यतया लोग खेतों में कार्य करते हैं। वहाँ उन्हें प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण का सम्पर्क मिलता रहता है। उन्हें शारीरिक कार्य अधिक करना पड़ता है अतः उनका जीवन-क्रम अपने ढर्रे पर चलता है। किन्तु प्रकृति का क्रम ही ऐसा बना हुआ है कि प्रातः और सायंकाल प्रकृति में एक अलौकिक रमणीयता आ जाती है। उसका आनन्द हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब हम जड़-चेतन में एक प्रकार का समन्वय कर सकें। उस समय भ्रमण करना बड़ा ही उपयोगी और आनन्ददायक होता है। प्रातः और सायंकाल पैदल टहलने को ही भ्रमण करना कहते हैं। यों तो पैदल चलना मात्र भ्रमण कहा जा सकता किन्तु भ्रमण में कोई भौतिक और सांसारिक दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए। वास्तव में भ्रमण तो निरुद्देश्य पर्यटन का ही दूसरा रूप है।

भ्रमण का समय और उसकी आवश्यकता तथा लाभ—प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में लगभग ४ बजे सबेरे से ६ बजे खुले वातावरण में पर्यटन को भ्रमण कहा जा सकता है, जिसे साधारण भाषा में वायुसेवन या हवाखोरी कहते हैं। ऐसे समय में वातावरण शान्त रहता है। प्रकृति के विभिन्न अंगों में रात्रि के विश्राम से नवीनता आ जाती है। मन्द-मन्द वायु चलती है, वायुमण्डल में स्वच्छता रहती है और विश्राम से मनुष्य का मन और शरीर भी शान्त रहता है। उस दशा में भ्रमण उसे स्फूर्ति और

आनन्द प्रदान करता है। उसका स्वास्थ्य ठीक होता है—तथा उसके विभिन्न अवयव अपने कार्य को ठीक ढंग से करने लग जाते हैं। इस प्रकार के भ्रमण में मन भी शान्त रहा करता है क्योंकि वह भ्रमण किसी उद्देश्य या कार्य विशेष को लेकर यात्रा के रूप में नहीं होता। इसी प्रकार कुछ लोगों की कुछ यात्राएँ भी निरुद्देश्य या स्वल्प उद्देश्य को लेकर शान्त मन से होती हैं, वह भी एक प्रकार का भ्रमण है। जब हम किसी स्थान की यात्रा बिना किसी विशेष कार्य के ही स्थान देखने या घूमने के लिये करते हैं तो वह भी भ्रमण का ही एक रूप होता है। इस दशा में भी मन उन्मुक्त तथा विशेष रूप से स्वतन्त्र रहता है। इसके लिए उपयुक्त समय समशीतोष्ण ऋतु होती है।

शारीरिक और मानसिक विकास—भ्रमण की आवश्यकता होती है, शारीरिक और मानसिक विश्राम के लिए। काम करने में शरीर को सर्वाङ्गीण श्रम करना पड़ता है और विश्राम करने में एक प्रकार की सजीव शिथिलता में शरीर के सारे अवयव पड़ रहते हैं अतः उनमें स्फूर्ति तो आ जाती है पर मन को प्रफुल्लता नहीं प्राप्त होती, न शरीर को सुखद वायु का स्पर्श ही मिल पाता है। यह दोनों लाभ प्रातः सायंकालीन भ्रमण से होते हैं। इस कार्य में मन केवल प्रकृति का आनन्द लेता रहता है। इस अवसर पर भी यदि मन किसी चिन्तन में लीन या वैदिक जीवन की गुत्थियों में उलझा रहता है तो भ्रमण का न तो लाभ ही प्राप्त होता है न आनन्द ही आता है। ऐसी दशा में मनुष्य की वही स्थिति होती है जो गृहस्थी की चिन्ता में मग्न कथित त्यागी की होती है। इसका सामान्य अभिप्राय यह है कि क्रिया और भावना में एकरूपता होनी चाहिए। भ्रमण में मन को किसी विशेष विषय में चिंतन के लिए शान्त वातावरण प्राप्त होता है अतः कुछ लोग इस अवसर पर उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने का भी सफल प्रयत्न करते हैं। कुछ बुद्धिजीवी शारीरिक श्रम का अनुभव करते हैं तथा भ्रमण से व्यायाम का लाभ उठाते हैं। व्यायाम करने में शरीर के अवयव अधिक थक जाते हैं और मनुष्य ठीक ढंग से अपना काम नहीं कर पाता। भ्रमण से यह बात नहीं होती। इस प्रकार भ्रमण से अनेक लाभ होते हैं।

बौद्धिक विकास—भ्रमण से बौद्धिक लाभ कम नहीं होता। इससे मस्तिष्क की गति को बल मिलता है और बुद्धि में तीव्रता आती है। बुद्धि सूक्ष्मता से चिन्तन-मनन की क्षमता प्राप्त कर लेती हैं। उससे नवोन्मेषशाली शक्ति का विकास होता है। भ्रमण से मनुष्य की बुद्धि की ग्राहकता बढ़ती है तथा उसकी विवेक-शक्ति प्रखर हो जाती है। इस प्रकार से बौद्धिक लाभ भी कम नहीं होता है।

जिस कार्य को मनुष्य स्वेच्छा से करता है, उसमें उसे आनन्द की प्राप्ति अवश्य होती है। भ्रमण एक ऐसा कार्य है जो स्वेच्छा से किया जाता है, अतः उसमें भी आनन्द आता है। प्रकृति में प्रेरणादायक शक्ति होती है और मनुष्य पर उस शक्ति का प्रभाव तब तक नहीं पड़ता जब तक उसका मन विभिन्न प्रकार के कार्यों में लीन रहता है। सुख-दुख का अनुभव मन के द्वारा किया जाता है तथा मन ही संस्कारों को ग्रहण करता है। इससे मन का केन्द्र-बिन्दु जब प्रकृति के सिवाय अन्यत्र रहता है तो वह प्रकृति में लीन नहीं हो पाता जिससे वह प्रकृति की नैसर्गिक प्रेरणा से वंचित रह जाता है। इस प्रेरणा के अभाव में मनुष्य का मन सांसारिक विषमताओं में उलझता ही चला जाता है। इस उलझन का फन्दा इतना सबल हो जाता है कि वह उससे फिर शीघ्रता

से निकल नहीं पाता अतः उसका जीवन सदा सांसारिक ही बना रह जाता है, जिसका फल होता है कि वह मानव जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाता। उसमें आध्यात्मिक भावनाओं का तथा उन्मुक्त चिन्तन का उदय नहीं होता है। भ्रमण ही एक ऐसा साधन है जो यह अवसर प्रदान करता है कि मनुष्य राग-द्वेष से ऊपर उठ कर उन्मुक्त चिन्तन कर सके। उसके प्रभाव को क्रमिक विकास मानव-जीवन को अध्यात्म चिन्तन की ओर बढ़ाता है।

भ्रमण से प्राकृतिक जीवन के प्रति अनुराग का संचार होता है। इसके साथ ही साथ त्याग और वैराग्य की भावना का भी संचार होता है। मनुष्य प्राकृतिक वातावरण में आकर ऐसा मग्न होता है कि उसमें एक अलौकिक भाव का संचार होता है। इस अलौकिक भाव के फलस्वरूप मन में त्याग और वैराग्य के भाव का संचार होता है।

उपसंहार—मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार के अवसर आते हैं और वह उन अवसरों से यथासम्भव लाभ उठाने का प्रयास करता है। इन्हीं अवसरों में भ्रमण का अवसर भी उसे मिलता है। इस भ्रमण के क्षेत्र को व्यापक बना देने पर उसके लाभों की सीमा भी विस्तृत हो जाती है तथा उसमें गौरव भी आ जाता है। अतः प्रत्येक चिंतनशील मनुष्य का कर्तव्य है कि वह भ्रमण से लाभ उठाने का प्रयत्न करे।

५४. मानव-जीवन में परिश्रम का महत्व

१—भूमिका, २—परिश्रम की परिभाषा, ३—परिश्रम के प्रकार, ४—परिश्रम तथा सफलता, ५—परिश्रमी व्यक्तियों के उदाहरण, ६—परिश्रम तथा विश्राम, ७—उपसंहार।

भूमिका—"मेहनत वह सुनहरी कुंजी है जो भाग्य के बन्द कपाट खोल देती है।" उद्यम ही जीवन की सफलता का रहस्य है। उद्यम से ही समस्त कार्य सिद्ध हो सकते हैं, केवल मनोरथ करने से नहीं। सिंह के समान बली पशु को भी भोजन की प्राप्ति के लिये उद्यम या परिश्रम करना होता है। आलस्य में पड़े रहकर या सोकर वह भोजन नहीं प्राप्त कर सकता। यदि कोई व्यक्ति कहे कि विश्व में वे जीव भी तो हैं जो बिना श्रम के अपना जीवन-यापन करते हैं, तो वह दया का पात्र है। ऐसे व्यक्ति, मलूक दास जी के इस कथन को उद्धृत करते हैं—

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका यों कहें सबके दाता राम।।"

किन्तु वे इसके मूल में व्याप्त भावना को नहीं समझते जो जीवन से पलायन नहीं, उसमें प्रवृत्त होने के दिव्य संदेश से पूर्ण है तथा संत कबीर ने कहा है—

मारग चलते जो गिरे, ताको नाहिन दोस।
कह कबीर बैठा रहे, ता सिर करड़े कोस।।

परिश्रम की परिभाषा—परिश्रम का अर्थ है, 'उद्यम' अथवा 'मेहनत'।

'उद्यम' अथवा 'मेहनत' के द्वारा ही मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ होता है। अतः परिश्रम वह माध्यम है जो मानव को कार्यारम्भ तथा उसके गन्तव्य को मिलाता है। वह आयाम जिसके द्वारा मानव किसी कार्य को पूरा करना चाहता है, परिश्रम कहलाता है। अतः यह मानना कि परिश्रम सफलता की पूर्णता, उसकी सुख समृद्धि का साधन एवं उसे सफलता की ओर ले जाने वाला है, अनुचित नहीं।

परिश्रम के प्रकार—श्रम के प्रधान रूप से दो भेद होते हैं, मानसिक श्रम तथा शारीरिक श्रम। जो श्रम मानसिक रूप से किया जाता है या जिस श्रम का प्रभाव मन पर पड़ता है उसे मानसिक श्रम कहते हैं, जैसे पुस्तकाध्ययन, वकील आदि के कार्य। शरीर से किए जाने वाले श्रम को शारीरिक श्रम कहते हैं। गाँधी जी हमेशा शारीरिक श्रम पर जोर देते थे क्योंकि शारीरिक श्रम से व्यायाम भी हो जाता है और उत्पादन भी। दार्शनिकों ने श्रम करने के दोनों ही पक्षों पर जोर दिया है।

परिश्रम का महत्व—मानव- जीवन में परिश्रम की अद्वितीय महिमा है। यही वह शक्ति है जो रंक को राजा और दुर्बल को सबल बना देती है। परिश्रम के बिना छोटे से छोटा कार्य भी सिद्ध नहीं हो सकता। यही कारण है कि खरगोश और कछुए की दौड़ में परिश्रम के बल पर कछुए की जीत हुई। परिश्रम के बल पर ही सुस्त तथा पिछड़े छात्र मेधावी छात्रों से बाजी मार ले जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति परिश्रमी है तो वह समाज में सर्वत्र आदर पाता है। उसका आर्थिक, सामाजिक नहीं बल्कि समस्त राष्ट्र तथा जाति की उन्नति के लिये परिश्रम का महत्व कम नहीं है। इसी से राष्ट्र तथा देश का उत्थान सम्भव है। जिस राष्ट्र के व्यक्ति जितना अधिक परिश्रम करते हैं, वह राष्ट्र उतना ही अधिक उन्नति करता है। चीन, जापान, अमेरिका, रूस आदि इसके उदाहरण हैं। इसमें जापान एक आदर्श है जो गिर-गिर कर भी फिर-फिर उठ जाता है। इस विषय में वाशिंगटन ने परिश्रम को लक्ष्य करते हुये कहा है—

"No race can prosper till it learns that there is as much dignity intilling the field, as in writing a poem."

तुलसीदास जी ने भी परिश्रम की महत्ता पर जोर देते हुये कहा है कि—

सकल पदारथ है जग माँही।
कर्महीन नर पावत नाहीं॥

वेद में परिश्रम की महत्ता पर जोर देते हुये परिश्रमी व्यक्ति का वर्णन करते हुये कहा गया है कि—

उद्योगिनं पुरुष सिंह
उद्योगिनं पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मी,
दैवेन दैयमिति का पुरुषाः वदन्ति।
दैवं विहाय करू पौरुषमात्म शक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति, को अत्र दोषः॥

मनुष्य को परिश्रम खूब करना चाहिये जिससे कि प्रकृति से जो हमें शक्ति प्राप्त होती है उसका पूर्ण उपयोग हो सके अन्यथा हमारे शरीर में विकार उत्पन्न हो जाता है।

परिश्रम तथा सफलता—परिश्रम तथा सफलता का चोली दामन का साथ है। ऐसा हो ही नहीं सकता कि परिश्रम किया जाय और सफलता न मिले। यदि परिश्रम करने में सफलता न मिले तो यह समझ लेना चाहिये कि परिश्रम करने में कहीं अवश्य त्रुटि हो गयी है। गीता में भी कर्म की भावना को लक्ष्य करते हुये कहा गया है कि कर्मण्ये वाधिकारस्ते माफलेषु कदाचना'। ईसाई धर्म की पवित्र पुस्तक 'बाइबिल' में भी परिश्रम की महत्ता का वर्णन करते हुये कहा गया है कि—

"Action is thy duty, reward is not thy concern."

अतः परिश्रम से ही सफलता प्राप्त होती है, बिना परिश्रम मनुष्य को कुछ भी नहीं मिल सकता है।

परिश्रमी व्यक्तियों के उदाहरण—विश्व में परिश्रम से ही बड़े-बड़े कार्य हो जाते हैं। इतिहास के पन्ने पलट कर देखने से हमें ज्ञात होता है कि महानता तथा कीर्ति प्राप्त करने वाले सम्राटों ने भी परिश्रम को अधिक महत्व दिया है। परिश्रम के बल पर ही सम्राट चन्द्रगुप्त की विजय-पताका प्रत्येक स्थान पर फहरायी। परिश्रम से ही बाबर जैसा गुलाम बादशाह बन बैठा। परिश्रम से ही अंग्रेजों ने विश्व के कई राष्ट्रों पर शासन किया।

गाँधी, तिलक, मार्क्स, टॉलसटाय आदि महान् व्यक्तियों का जीवन-वृत्त भी स्वयं में एक कहानी है। जवाहरलाल नेहरू तो इसके बहुत बड़े आदर्श हैं जो परिश्रम करने में सानी नहीं रखते थे। अतः हम कह सकते हैं कि परिश्रम मनुष्य को महान बना देता है। परिश्रम की उपेक्षा करना किसी भी दशा में उचित नहीं है क्योंकि परिश्रम सामान्य जीवन-प्रगति का विराम है। श्रम तथा मेहनत में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

परिश्रम तथा विश्राम—परिश्रम की उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि बिना विश्राम किये न तो मानसिक विकास हो सकता है और न राष्ट्र की उन्नति ही। इससे मानसिक कुशलता और शारीरिक कुशलता दोनों ही घट जाती है। विश्व के अनेक साहित्य सृष्टाओं ने परिश्रम के साथ-साथ विश्राम को महत्ता का भी वर्णन किया है। आंग्ल-भाषा के सुप्रसिद्ध साहित्यकार आर० एल० स्टीवेन्सन और बर्ट्रेण्ड रसल ने विश्राम की महत्ता को स्वीकार किया है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि श्रम किया गया हो। हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध लेखक ने एक स्थान पर अपने लेख में लिखा है—'विश्राम परिश्रम रूपी रूप सी का सुहाग है।' अतः जो विश्राम का आनन्द लेना चाहते हैं, उन्हें प्रथमतः श्रम करना चाहिये क्योंकि बिना श्रम के विश्राम कैसा ? बिना चले थकान कैसी और बिना थकान के विश्राम कैसा ? अतः श्रम के बाद विश्राम और विश्राम के बाद श्रम ठीक वैसे ही अच्छा लगता है जैसे—नमकीन के बाद मीठा और मीठे के बाद नमकीन। एक स्थान पर सुप्रसिद्ध आंग्ल लेखिका श्रीमती थेल ने लिखा है—

"Leisure for men of business and business for men of leisure, would cure many complaints."

उपसंहार—अतः अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि श्रम मानव-उन्नति का सोपान है। परिश्रम से ही सब कुछ मिल सकता है। परिश्रम का अर्थ है 'उन्नति के द्वार में प्रवेश करना और मर कर अमर होना।' परिश्रम के बिना उन्नति

की आशा करना मृग मरीचिका है, आत्म प्रवंचना है। जब तक हम परिश्रम का अपने जीवन में व्रत नहीं लेते, तब तक हमारा समाज और हमारा राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। अतः हमारे देश को कठोर और परिश्रमी व्यक्तियों की आवश्यकता है जिससे हम अपने शत्रुओं से अपने मातृभूमि की रक्षा कर सकें।

'दैव-दैव आलसी पुकारा'

भाग्यवाद का उपासक विश्व में कभी कुछ नहीं कर सकता, सत्य है।

'श्रम जीवन का सार है, श्रम मानव का हार।
श्रम करना है गुण महा, श्रम सच्चा व्यवहार॥

५५. शिक्षा का भारतीयकरण

१—भूमिका, २—भारतीयकरण का अर्थ, ३—भारतीयकरण और विभिन्न युगों में भारतीय शिक्षा का स्वरूप, ४—शिक्षा का भारतीयकरण करने का प्रयास, ५—राष्ट्रीय शिक्षा नीति, ६—राष्ट्रीय शिक्षा नीति एवं भारतीय संस्कृति, ७—उपसंहार।

भूमिका—किसी भी देश की पहचान उसकी संस्कृति से होती है। शिक्षा इस संस्कृति के हस्तान्तरण, संवर्धन एवं संरक्षण का साधन है। इसलिए शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए कि जिसमें उसकी संस्कृति के तत्व मूलभूत रूप में विद्यमान हों और उसी के अनुसार उसका संचालन हो। भारत में शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय-करण का प्रयोग सबसे पहले महर्षि अरविन्द के उन विचारों में देखने को मिला जब उन्होंने कहा कि आधुनिक शिक्षा न तो आधुनिक है, न भारतीय है और न शिक्षा ही है। यह विचार व्यक्त करते हुए उनके मन में भारतीयपन का कोई न कोई सम्पत्यय अवश्य ही रहा होगा। स्वतन्त्रता संग्राम के समय 'स्वदेशी' की प्रेरणा से अनेक शिक्षण संस्थाएँ जैसे गुरुकुल, विद्यापीठ आदि खोली गईं। इन प्रयासों का उद्देश्य शिक्षा का भारतीयकरण ही रहा होगा।

भारतीयकरण के भिन्न अर्थ—शिक्षा के भारतीयकरण की समस्या पर विचार करते समय उसके विभिन्न अर्थों को समझ लेना आवश्यक होगा। आरम्भ में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने भारतीयकरण शब्द का प्रयोग किया था तब उसका इससे आशय विभिन्न क्षेत्रों विशेषकर प्रशासन से अंग्रेजी को हटा कर उसके स्थान पर भारतीयों की नियुक्ति था। उस समय भारतीयकरण का अर्थ अत्यन्त संकुचित रूप में लिया गया था। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक की खोज में भारतीयकरण शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक रूप में किया है। प्राचीन काल में जब हमारे देश में ईरानी, ग्रीक, कुषाण, हूण, अरब, तुर्क और मुगल आदि आक्रमणकारी आये तो भारतीयों ने उनसे लोहा लिया। जो यहीं रह गये उन्हें भारतीय समाज का अंग बना लिया एवं उनका भारतीयकरण कर दिया। इस तरह पंडित नेहरू ने विदेशी तत्वों का समायोजन और आत्मसात्करण की प्रक्रिया को भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत स्थान दिया है। कुछ लोगों

का मत है कि समुचित सामाजिक राष्ट्रीय उत्तरदायित्व की भावना के विकास का ही दूसरा नाम भारतीयकरण है। आधुनिक युग में भारतीयकरण शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हो रहा है। प्रो० रमेश कुन्तल मेघ का विचार है कि भारतीयकरण 'आधुनिक भारतीय' और 'भारतीय आधुनिकता' का सामन्जस्य है। इस परिभाषा को स्पष्ट करना कठिन है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक युग में भारतीयकरण शब्द का प्रयोग समूची सामाजिक और राष्ट्रीय उत्तरदायित्व की भावना के विकास के रूप में हो रहा है।

जहाँ तक शिक्षा के भारतीयकरण का अर्थ है, उसे इसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि शिक्षा को भारतीय संस्कृति के अनुरूप उसी प्रकार नियोजित किया जाय कि वह समूचे सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्तरदायित्व की भावना का विकास कर तथा आधुनिक आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति करे। भारतीय संस्कृति के कुछ अपने मानदण्ड हैं और हमारे कुछ अपने राष्ट्रीय उत्तरदायित्व हैं। वही शिक्षा वास्तव में भारतीय शिक्षा कही जायगी जो हमारी संस्कृति के अनुरूप नियोजित हो। हम सामाजिक और राष्ट्रीय उत्तरदायित्व की भावना का विकास करने में सक्षम हों एवं जो हमारी आधुनिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति करें।

भारतीयकरण और विभिन्न युगों में भारतीय शिक्षा का स्वरूप—भारतीय शिक्षा के स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन हुए हैं। किसी युग की भारतीय शिक्षा हमारी संस्कृति के अनुरूप रही है और किसी युग में हमने अपने सांस्कृतिक तत्वों को भुला सा दिया है। भारत की वैदिक-कालीन शिक्षा हमारी संस्कृति की अनुपम धरोहर है। इस शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक भावना का विकास, चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक कर्तव्यों को पूरा करने की प्रेरणा, सामाजिक गतिशीलता की प्राप्ति एवं संस्कृति का संरक्षण तथा संवर्धन है। यह शिक्षा धार्मिक भावना से अनुप्राणित थी और उसमें छात्रों के सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान दिया जाता था। भारतीय संस्कृति में मूलतत्वों के अनुरूप ही शिक्षा की व्यवस्था की गई थी।

मुस्लिम शासन में इस्लाम धर्म की मान्यताओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। ब्रिटिश शासन में भारतीय शिक्षा का उद्देश्य ऐसे वर्ग के लोगों को तैयार करना था जो अपनी संस्कृति को पूरी तरह भूल गये हों और ब्रिटिश शासन के लिये क्लर्क बन सकें। लार्ड मैकाले ने अपनी शिक्षा के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा था हम भारत में ऐसे व्यक्तियों का वर्ग तैयार करना चाहते थे जो रक्त और रंग में भारतीय हों, पर रुचियों में, और दृष्टियों में, नैतिकता और बुद्धि में पूरे अंग्रेज हों। इस तरह ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था भारतीयकारण के दृष्टिकोण से बिलकुल विलग थी। परन्तु ब्रिटिश शासन काल में शिक्षा की कुछ ऐसी राष्ट्रीय पद्धतियों का जन्म हुआ जिसमें भारतीय संस्कृति के तत्व विद्यमान थे और भारतीयकरण की भावना पर बल दिया गया था। इन शिक्षा संस्थाओं में शान्ति-निकेतन, गुरुकुल कांगड़ी, गुजरात विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन शिक्षा केन्द्रों का उद्देश्य मैकाले की शिक्षा से सर्वथा विपरीत था। इनका उद्देश्य रुचि, नैतिकता और दृष्टिकोण से पूरे सच्चे भारतीय तैयार करना था। जहाँ मैकाले की शिक्षा का उद्देश्य ब्रिटिश राज्य को

सुदृढ़ बनाने वाले राजभक्त बनाना था, राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य वहीं पाश्चात्य शिक्षा-व्यवस्था की अवहेलना कर राष्ट्र के प्रति प्रेम की भावना उत्पन्न करना था।

यद्यपि असहयोग आन्दोलन के दौरान महात्मा गाँधी ने यह घोषणा की कि स्वतन्त्रता के बाद अंग्रेजी शिक्षा को मान्यता नहीं दी जायगी और राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं की शिक्षा को मान्यता दी जायगी, परन्तु स्वतंत्र भारत में भी ब्रिटिश शिक्षा-पद्धति का स्वरूप चलता ही रहा। स्वतन्त्र भारत में शिक्षा के क्षेत्र में कुछ कार्य अवश्य किया गया है जिससे कि शिक्षा का भारतीयकरण हो और वह हमारी मान्यताओं के अनुरूप बने परन्तु अब भी हमारी शिक्षा-व्यवस्था हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है और यही कारण है कि सभी क्षेत्रों से शिक्षा के क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन करने की माँग की जा रही है।

शिक्षा का भारतीयकरण करने का प्रयास—पिछले डेढ़ सौ वर्षों में शिक्षा में परिवर्तन लाने और उसका भारतीयकरण करने की दृष्टि से निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

भारत की प्राचीन संस्कृति उसकी अनुपम धरोहर है और अनेक विद्वान तो यह कहते हैं कि भारतीयों का कल्याण इसी में है कि वे अपनी प्राचीन संस्कृति और मान्यताओं को अपना लें। भारतीयों को प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की ओर उन्मुख करना और उसके अनुरूप शिक्षा की व्यवस्था करने के अनेक प्रयास भारतवर्ष में किये गये। महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचारों से प्रेरित होकर गुरुकुलों की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई थी। इनके अतिरिक्त अन्य शिक्षण-संस्थाएँ भी इस हेतु खोली गईं।

शिक्षा के भारतीयकरण के लिये यह भी आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को मान्यता प्रदान की जाय। भारतीयकरण से तात्पर्य केवल मात्र प्रचलित मान्यताओं से ही नहीं लिया जाना चाहिये बल्कि ऐसी शिक्षा-व्यवस्था से लिया जाना चाहिये जो भारत राष्ट्र के लिये उपयुक्त हो। राजा राम मोहन राय इस तथ्य को बहुत पहले समझ चुके थे। उन्होंने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने का पक्ष लेकर आदर्श भारतीय शिक्षालयों की कल्पना की थी जो उनके द्वारा स्थापित ऐंग्लो हिन्दू स्कूल में साकार हुई जिसमें कि विश्व-धर्म के सिद्धान्त, पश्चिमी दर्शन और पश्चिमी साहित्य का अध्ययन कराया जाता था। कालान्तर में इस प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं का विकास हुआ जिन्होंने एक ओर पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को मान्यता प्रदान की और दूसरी ओर भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों को।

प्राचीन भारतीय संस्कृति अत्यन्त गौरवपूर्ण है और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। शिक्षा के भारतीयकरण के हेतु इन दोनों का समन्वय अवश्य समझा गया। रवीन्द्रनाथ टैगोर इसी विचारधारा से प्रभावित थे। उन्होंने विश्व-भारती की स्थापना करके यह दिखला दिया कि भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों और भारतीय आदर्श को मान्यता प्रदान करते हुये भी पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को अपनाया जा सकता है। महात्मा हंसराज द्वारा प्रवर्तित दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेजों की परम्परा भी इसी विचारधारा के अनुरूप है। पंडित जवाहर लाल नेहरू भी इसी विचारधारा के समर्थक थे।

शिक्षा के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी जो अनुभव करते थे उसकी परिणित १९३७ ई० में बेसिक शिक्षा योजना के रूप में सामने आई। यह बेसिक शिक्षा-योजना भारतीय आदर्शों के अनुरूप थी। उसमें शिक्षा के साथ-साथ कार्य पर अधिक बल दिया जाता था। मातृ-भाषा इस शिक्षा का माध्यम रहती थी। शिक्षा स्वावलम्बी बनाती थी और अध्यापकों एवं बच्चों दोनों को समाजीकरण की ओर उन्मुख करती थी। बालक कार्य करके सीखता था और सदैव अहिंसा आदि आदर्शों की ओर उन्मुख होता था। बेसिक शिक्षा-योजना का आंशिक दार्शनिक आधार तो भारतीय है परन्तु आंशिक पाश्चात्य। शिक्षा की वर्धा-योजना भारतीयता की दृष्टि से विशेष महत्पूर्ण है। राजस्थान विश्व-विद्यालय के शिक्षा संकाय के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० महेशचन्द सिंघाल ने बुनियादी शिक्षा को "शिक्षा के भारतीयकरण" की संज्ञा प्रदान की है और इस सम्बन्ध मे उन्होंने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति—कोठारी आयोग ने अपने प्रतिवेदन का नामकरण किया है—"शिक्षा और राष्ट्रीय विकास।" इससे यह स्पष्ट होता है कि आयोग ने शिक्षा को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा है। आयोग ने यह मत व्यक्त किया है कि सदियों से चली आने वाली गरीबी को दूर करने के लिये हमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का सहारा लेना है और पश्चिमी विज्ञान के सहारे औद्योगीकरण की ओर उन्मुख होना है। परन्तु इसके साथ ही हमें अपने सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को भी सुदृढ़ रखना है। भारत प्रगति के पथ पर है और नये युग का आवाहन कर रहा है। हमें राजनीतिक स्वतंत्रता मिल चुकी है परन्तु आर्थिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता आदि शेष है। इसके लिये पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्वों का समन्वय आवश्यक है। आयोग ने शिक्षा के ये उद्देश्य सुनिश्चित किये हैं—

(१) शिक्षा द्वारा उत्पादन में वृद्धि हो, शिक्षा द्वारा सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता का विकास हो, शिक्षा द्वारा लोकतांत्रिक मान्यताओं में विश्वास उत्पन्न हो, शिक्षा द्वारा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया सुचारु रूप से चले और शिक्षा द्वारा सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का विकास हो।

कोठारी आयोग की संस्तुतियों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने २४ मार्च, १९६८ को राष्ट्रीय शिक्षा नीति की उद्घोषणा की। इस घोषणा में शिक्षा के भारतीयकरण की ओर ध्यान दिया गया था। भारत सरकार का विश्वास है कि शिक्षा आयोग द्वारा संस्तुत रूपरेखा के आधार पर देश का आर्थिक और सांस्कृतिक विकास सम्भव है और राष्ट्रीय एकता एवं समाज-निर्माण का लक्ष्य पूरा हो सकता है। उसके लिए कुछ कार्य-क्रमों को अपनाना होगा। शिक्षा द्वारा लोगों के जीवन के निकट लाना होगा। शिक्षा को जीवन के निकट लाने के हेतु शिक्षा-प्रणाली का रूपान्तर करना होगा, शिक्षा के स्तरों का विस्तार करने का निरन्तर प्रयास करते रहना होगा। सभी स्तरों पर शिक्षा में गुणात्मक सुधार करने के हेतु निरन्तर प्रयास करते रहना होगा। विज्ञान और शिल्प-विज्ञान पर विशेष बल देना होगा तथा नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों का निर्माण करना होगा।

उपर्युक्त कार्यों को पूरा करने के लिए भारत सरकार ने निम्न तत्वों के अनुसार शिक्षा का विकास करने का संकल्प किया—

यह निश्चय किया गया कि भारतीय संविधान के अधीन दिये गये निर्देशक सिद्धान्तों तथा १४ वर्ष तक की अवस्था के लिये सभी बालकों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा दी जाय। अध्यापकों के वेतन-भत्तों आदि को सुधारा जाय और उन्हें समाज में उचित स्थान दिया जाय। सांस्कृतिक उत्पादन, बुद्धि-जीवियों एवं जनसाधारण की खाई को पाटने के लिये प्रादेशिक भाषाओं को उच्च-शिक्षा का माध्यम बनाया जाय और माध्यमिक स्तर पर त्रिभाषा फार्मूले को लागू किया जाय। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३५१ के अनुसार हिन्दी को भारत की संस्कृति के सभी तत्वों के अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया जाय और इसलिये सम्पर्क भाषा का विकास करने का प्रयास किया जाय। हिन्दी भाषा राज्यों में उच्च-शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो। भारतीय भाषाओं, प्राचीन शिक्षा-दर्शन आदि के पाठ्यक्रमों को उपयुक्त बनाया जाय। भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों को विश्वविद्यालय स्तर पर भी बनाया जाय। विज्ञान और शिल्प ज्ञान का प्रसार के लिए अंग्रेजी एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं के अध्ययन पर बल दिया जाय। सभी को समान रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जाय, स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाय। विभिन्न क्षेत्रों में जो प्रतिभाएँ हैं उन्हें खोज निकाला जाय और उनके विकास का समुचित प्रयास किया जाय। कार्यानुभव एवं राष्ट्रीय सेवा को शिक्षा का अंग बनाया जाय। विद्यालयों के विभिन्न कार्यक्रमों में स्वावलम्बन, चरित्र-निर्माण एवं सामूहिक उद्देश्यों के हेतु आत्मोत्सर्ग की भावना पर बल दिया जाय।

राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को सुधारने के लिए विज्ञान एवं अनुसंधान को प्राथमिकता दी जाय तथा गणित एवं विज्ञान को विद्यालयी सामान्य शिक्षा का अभिन्न अंग बनाया जाय। अर्थव्यवस्था के सुधार के लिए कृषि एवं उद्योगों की शिक्षा को भी विशेष महत्व दिया जाय। प्रत्येक राज्य में कम से कम एक कृषि विश्वविद्यालय अवश्य हो। देश की औद्योगिक, कृषि एवं अन्य तकनीकी जनशक्ति की आवश्यकताओं की निरन्तर समीक्षा की जाय और प्रशिक्षित छात्रों एवं रोजगार के अवसरों के मध्य सन्तुलन बनाये रखा जाय।

योग्य लेखकों को उचित पारिश्रमिक देकर पुस्तकें लिखवाई जायँ और स्वायत्त पुस्तक निगम की स्थापना पर विचार किया जाय। हमारी परीक्षा-प्रणाली राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है अतएव परीक्षा के मूल्यांकन की प्रक्रिया में परिवर्तन किया जाय। जिन क्षेत्रों में माध्यमिक और उच्च शिक्षा का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है उन क्षेत्रों में उनका विकास करने का प्रयास किया जाय और माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा स्तर पर तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा की सुविधाएँ बढ़ाई जायँ।

राष्ट्रीय शिक्षा-नीति में विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा के लिए कहा गया है कि इस स्तर पर विद्यार्थियों की संख्या साधनों को ध्यान में रखकर निर्धारित की जाय, नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना और उपयुक्त मानकों के आधार पर की जाय, अनुसन्धान के मानकों एवं प्रशिक्षण में सुधार किया जाय। ऐसे आदर्श विद्यालय स्थापित किये जायँ जिनका उद्देश्य अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण के उच्चतम मानक स्थापित करना रहे। अनुसन्धान संस्थाएँ विश्वविद्यालयों के अधीन ही कार्य करें।

शिक्षा के क्षेत्र में अल्पकालीन शिक्षा और पत्राचार पाठ्यक्रम की ओर ध्यान दिया जाय। देश से निरक्षरता का उन्मूलन करने के हेतु हर सम्भव प्रयास किया जाय

एवं उत्तीर्ण किसानों को शिक्षित एवं प्रशिक्षित करने का पूर्ण प्रबन्ध किया जाय। शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार से की जाय कि अल्पसंख्यकों के हितों पर इससे कोई आँच न आने पावे। अल्पसंख्यकों में शैक्षिक अभिरुचियों को बढ़ाने का हर सम्भव प्रयास किया जाय।

राष्ट्रीय शिक्षा-नीति में यह भी कहा गया कि शिक्षा के ढाँचे को समस्त राष्ट्रों में एक समान बनाया जाय। इस हेतु १० + २ + ३ के फार्मूले को अपनाया जाय। इस नीति के अनुसार माध्यमिक विद्यालयी शिक्षा १० वर्ष, माध्यमिक शिक्षा २ वर्ष तथा स्नातकीय शिक्षा ३ वर्ष की जाय।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देश की शिक्षा की जो राष्ट्रीय नीति निर्धारित की गई है उसमें देश की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास किया गया है, परन्तु भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्वों की अब भी अवहेलना की गई है। आवश्यकता इस बात की है कि इन तथ्यों को भी राष्ट्रीय शिक्षा-नीति के साथ सम्बद्ध किया जाय।

राष्ट्रीय शिक्षा-नीति और भारतीय संस्कृति—भारतीय संस्कृति को लोग केवल गीता और रामायण एवं महाभारत की संस्कृति तक ही मानते हैं जब कि अन्य विद्वान उसमें मुसलमानों की संस्कृति को भी स्थान प्रदान करते हैं। आज भी यह विवाद का विषय बना हुआ है और इस कारण इसके आधार पर शिक्षा का भारतीयकरण भी विवादास्पद विषय बन गया है। जून, १९७२ में शिक्षा-मंत्रालय की सहायता से राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान शिमला में एक परिसंवाद संयोजित किया गया जिसका विषय था 'भारत के लिये सांस्कृतिक नीति की दिशा में।' इसमें यह मत व्यक्त किया गया कि सांस्कृतिक नीति का मूल उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह जनमत में लोकतांत्रिक भावना उत्पन्न करे। उसका उद्देश्य आत्मनिर्भरता, समानतावाद और राष्ट्रीय एकता तथा मानवतावाद का विकास होना चाहिए। भारतीय शिक्षा को भारतीय संस्कृति से जोड़ने के लिए जिस नीति का निर्धारण किया गया उसके सम्बन्ध में यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है—

शिक्षा के ढाँचे में इस प्रकार परिवर्तन किया जाय कि सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हो। विशिष्ठ वर्गों को शिक्षित करने की अवधारणा को पूरी तरह से तिरस्कृत किया जाय। शिक्षा का स्वरूप इस प्रकार का हो कि वह साम्प्रदायिक और विभाजक शक्तियों से लोहा लेकर और उसके लिये निरक्षता का उन्मूलन, शिक्षण संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण तथा पब्लिक स्कूलों का सम्बन्ध आवश्यक है। उचित मूल्य पर पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन किया जाय।

भारतीय अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के हेतु प्रत्येक स्तर पर सम्बद्ध राज्यों की भाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाया जाय। अनुसूचित एवं पिछड़ी हुई जातियों की भाषा के विकास के हेतु कदम उठाये जायँ। भारत में स्त्री-शिक्षा का विकास इस प्रकार का हो कि स्त्रियाँ अपनी राष्ट्रीय मान्यताओं को बनाये रखते हुए अपना सामाजिक उत्थान कर सकें। सम्प्रदायवादी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में सामाजिक और प्राविधिक दोनों क्षेत्रों में स्त्रियों की नाजुक भूमिका निभानी है, अतः उसकी शिक्षा-व्यवस्था राष्ट्रीय मान्यताओं के अनुकूल की जाय। हरिजनों एवं अनुसूचित जातियों, गन्दी

बस्तियों में रहने वाले भूमिहीन मजदूरों आदि की शिक्षा का भी प्रयास किया जाय और उनकी प्रारम्भिक, माध्यमिक एवं तकनीकी शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया जाय। शहरी एवं ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में सामुदायिक क्रीड़ा क्षेत्रों का विकास किया जाय और राष्ट्रीय खेलों को प्रोत्साहन दिया जाय।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शिक्षा का भारतीयकरण किस प्रकार किया जाय इस विषय में विद्वान अभी भी एकमत नहीं हैं और यह अत्यधिक विवाद का विषय बना हुआ है। शुभ लक्षण यह है कि इस ओर विद्वानों का ध्यान गया है और निःसन्देह शीघ्र ही इस क्षेत्र में कुछ सक्रिय कदम उठाये जायँगे।

५६. प्रजातन्त्र

१—भूमिका, २—जनतन्त्र का स्वरूप, ३—जनतन्त्र के लाभ, ४—जनतन्त्र से हानियाँ, ५—उपसंहार।

भूमिका—राजशास्त्रियों ने शासन-प्रणालियों के अनेक रूप बताए हैं—राजतन्त्र, वर्गतन्त्र, प्रजातन्त्र, अधिनायक तन्त्र इत्यादि। प्रजातन्त्र को जनतन्त्र भी कहा जाता है। प्रायः सभी सभ्य देशों में जनतन्त्र का बोलबाला है और राजतन्त्र तथा वर्गतन्त्र समाप्त होते जा रहे हैं। जर्मनी और इटली में द्वितीय महायुद्ध के पूर्व वर्गतन्त्र की एक शाखा अधिनायकतन्त्र बढ़ रही थी परन्तु युद्ध में पराजित होने के उपरान्त वहाँ भी जनतन्त्रीय सरकार की स्थापना हो गई है।

जनतन्त्र के स्वरूप—जनतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र में प्रजा के हित में प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा प्रजा का शासन होता है (Government of the people, for the people and by the people)। आधुनिक युग में जनतन्त्र को सबसे अच्छी शासन-व्यवस्था माना जाता है। अमरीका के प्रसिद्ध राष्ट्रपति **अब्राहम लिंकन** का कथन है कि जनतन्त्र शासन-प्रणाली में जनता के हित के लिए, जनता द्वारा निर्मित सरकार होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जनतन्त्र में शासक वर्ग का चुनाव जनता द्वारा जनता के व्यक्तियों में से होता है। अतः वे जनता का हित करना परम कर्त्तव्य समझते हैं।

इस युग में प्रत्येक राज्य में प्रजा की संख्या अत्यधिक होती है, अतः जनता अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन-निर्माण में सहायता करती है और अपनी इच्छा को व्यक्त करती है। इस शासन-प्रणाली का मुख्य आधार यह है कि व्यक्ति अपना विकास स्वतन्त्रतापूर्वक कर सके। प्रत्येक व्यक्ति को मतदान का अधिकार दिया जाता है। वह स्वेच्छा से अपने विश्वासों के अनुसार अपना प्रतिनिधि चुन लेता है। प्रतिनिधियों के चुनाव का भी समय निर्धारित होता है और प्रायः सुसंगठित राजनैतिक दल प्रतिनिधियों को खड़े करते हैं। इस प्रथा से यह भी सिद्ध होता है, कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए अनेक राजनीतिक दलों की आवश्यकता अवश्य है जिनमें एक शासन-सत्ता सँभाले और दूसरा शासकों की त्रुटियों की ओर प्रकाश डाले किन्तु जब दलों की

संख्या अधिक हो जाती : तब व्यक्तिगत लाभ की भावना प्रतिनिधियों में बलवती हो जाती है।

लाभ—इस शासन-प्रणाली में नागरिकों को अपने कष्टों और असुविधाओं को व्यक्त करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता होती है और लोग शासन-व्यवस्था में क्रियात्मक सहयोग प्रदान करते हैं जिसके फलस्वरूप जनतन्त्र पर आधारित सरकारें अधिक स्थायी होती हैं। नागरिकों का यह विश्वास होता है कि उनके कष्टों का निवारण सरलता से हो जायगा। अतः राष्ट्र में रक्त-पूर्ण क्रान्ति नहीं होने पाती। जब शासक दल जनता के हितों की उपेक्षा करता है, तब शासक दल के विरुद्ध जनता में आन्दोलन आरम्भ हो जाते हैं और आगामी चुनाव में वह सरकार हटा दी जाती है। इसीलिए प्रत्येक सरकार इस विषय में सतर्क रहती है कि उसके द्वारा कोई काम ऐसा न हो जिससे जनता के हितों की हानि हो।

जनतन्त्र शासन को कानून शासन (Rule of Law) भी कहा जाता है, अर्थात् इस शासन-प्रणाली में सभी व्यक्तियों के समान अधिकार होते हैं और सब व्यक्तियों को अपने विचारों को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होती है। अपने विश्वास के अनुसार ईश्वर की आराधना करने में भी वे स्वतन्त्र होते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने विचारों को व्यक्त करता है और विचार सरकार के विरोधी होते हैं तब भी उसे उस समय तक अपराधी नहीं घोषित किया जा सकता जब तक कि उसके द्वारा शासनसत्ता का कोई अहित होने की शंका न हो।

जनतन्त्र के आधार—विचारों को व्यक्त करने का महान् साधन मंच और समाचार-पत्र हैं। व्यक्ति सभाएँ करके अथवा समाचार-पत्रों में अपने विचारों को व्यक्त करके अपने आंतरिक भाव प्रकट करता है। समाचार-पत्र उसी समय दंडित किये जा सकते हैं जब वे अनर्गल प्रचार करें और राजद्रोह विषयक सामग्री छापें। इस शासन-व्यवस्था में समस्त वयस्क नागरिक प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं और विधान-मण्डल में जिस दल का बहुमत होता है उसी का नेता प्रधान मन्त्री बनाया जाता है और वह अपनी इच्छा के अनुकूल मन्त्रियों की तालिका राष्ट्र के अध्यक्ष की स्वीकृति के लिए देता है। सत्तारूढ़ दल का विरोध करने के लिए विरोधी दल होता है और इसी कारण सत्तारूढ़ दल के लोग इतना सतर्क होकर कार्य करते हैं कि विरोधी दल को शिकायत न रहे और उसकी सत्ता न छिनने पावे।

दोष—जनतन्त्र में कई दोष भी हैं। इस शासन-प्रणाली का आधार शिक्षा है। **यदि नागरिक शिक्षित नहीं होते तो शासक दल की गतिविधियों को नहीं समझ सकते और चुनाव में भी उदासीन रहते हैं**। इसका फल यह होता है कि स्वार्थी लोग प्रलोभनों या धमकियों द्वारा जनता का मत प्राप्त कर लेते हैं। जनता अपने मत के मूल्य से अनभिज्ञ होती है और इसी कारण सच्चे प्रतिनिधि नहीं चुन पाती।

इस शासन-प्रणाली का दूसरा दोष **देश में बहुत में राजनैतिक दलों का होना** भी है। चुनाव में विभिन्न दलों को प्रतिनिधित्व मिल जाता है और ऐसी स्थिति आ जाती है कि विधान मंडल में किसी एक का स्पष्ट बहुमत नहीं होता, जिसके कारण सरकार बनाने के लिए विभिन्न दलों में गठबन्धन करना पड़ता है। इन दलों के आदर्श भिन्न-भिन्न होते हैं और सत्तारूढ़ दल को अपनी शक्ति बनाए रखने के लिए

अपने आदर्शों का आदान-प्रदान करना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप जनता के हित से बढ़कर दल के हित को समझा जाने लगता है और देश को भी हानि होती है।

जनतन्त्र का तीसरा दोष व्यवस्था का खर्चीलापन है। चुनाव में बहुत बड़ी धनराशि व्यय की जाती है। सरकार और व्यक्तियों दोनों का यथेष्ट धन खर्च होता है। व्यक्ति विधान-मंडल में पहुँचकर अपने खर्च को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं जिसके कारण व्यवस्था का खर्च बढ़ जाता है और वाद-विवादों में उलझे रहने के कारण शासन को कार्यक्षमता पंगु हो जाती है।

धन का प्रभाव—जनतन्त्र में कभी-कभी धन का प्रभाव भी काम करता है। इसके कारण जनता पर कुछ गिने चुने लोगों का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप जनता के हित के स्थान पर कुछ व्यक्तियों का हित-साधन होने लगता है। यह समाज के लिए हितकर नहीं है।

उपसंहार—यद्यपि जनतन्त्र शासन में बहुत से दुर्गुण हैं परन्तु अन्य शासन-प्रणालियों की अपेक्षा यही शासन-प्रणाली अच्छी समझी जाती है। अन्य शासन-प्रणालियों में शासन की बागडोर किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग के हाथ में होती है। यह लोग जनता के हितों की अधिक उपेक्षा कर सकते हैं क्योंकि इनमें स्वार्थ की भावना अधिक होती है। प्रायः कानून भी ऐसे ही बनाए जाते हैं जो व्यक्ति के हित में होते हैं और जनता के लिए हितकर नहीं होते।

अभी तक यह समझा जाता था कि सभी नागरिकों को समान अधिकार देना ही शासन का सर्वोच्च कर्त्तव्य है, परन्तु अब यह धारणा बदलती जा रही है। अरस्तू के अनुसार जनतंत्र शासन-व्यवस्था में अज्ञानी बहुमत दल का बाहुल्य हो जाता है और वह अल्प-मत वालों पर भार बन जाता है। एक विद्वान और एक फकीर को समान मत का अधिकार देना कदापि हितकर नहीं हो सकता, क्योंकि भूखा-नंगा सरलता से धन कुबेरों के चंगुल में फँस जायगा और अपना मत अयोग्य, स्वार्थी व्यक्ति को दे देगा। अतः रूस, इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशों में राजनीतिक समानता के साथ-साथ व्यक्तियों को आर्थिक समानता प्रदान करने का पूर्ण प्रयत्न किया जा रहा है। जब व्यक्ति को भरण-पोषण की सुविधा होती है, शिक्षा का अवसर मिलता है, तभी राष्ट्र हितकारी कार्यों में लीन हो सकता है।

प्राचीन युग में युद्ध का कारण प्रायः व्यक्तियों की महत्वाकाँक्षा होती थी। जनतन्त्र में युद्ध का आधार यह नहीं होता। जनता प्रायः शान्ति-प्रिय होती है और आर्थिक समृद्धि उसका लक्ष्य होता है। यही कारण है कि भारत समस्त देशों के बीच में आज शान्ति बनाए रखने का पक्षपाती है और संयुक्त राष्ट्र संघ में उसका यही प्रयत्न है कि संसार में समानता के साथ-साथ समाजवाद का विकास हो, व्यक्ति को स्वाधीनता का संरक्षक मिले और व्यक्ति आपस में जनतन्त्रीय-शासन को विकसित करने का प्रयास करें।

५७. संयुक्त राष्ट्र संघ

१—भूमिका, २—पूर्व पीठिका, ३—राष्ट्रसंघ की रूपरेखा, ४—राष्ट्रसंघ की कतिपय त्रुटियाँ और उनके सुधार के सुझाव, ६—विश्व-सरकार की भूमिका के रूप में राष्ट्रसंघ, ७—उपसंहार ।

भूमिका—संयुक्त राष्ट्रसंघ मानव मात्र की शान्ति और मैत्री की लालसा का प्रतीक है। युद्ध की विभीषिका के विरुद्ध वह एक बाँध है।

विश्व के इतिहास में प्रथम महायुद्ध एक महत्वपूर्ण और परिवर्तनकारी घटना के रूप में आया। इस युद्ध का परिणाम यह हुआ कि अमेरिका विश्व की प्रमुख शक्ति बन गया, जर्मनी का एक प्रकार से पूर्ण पतन हुआ तथा ब्रिटेन और फ्रांस की शक्तियों का भी ह्रास हो गया। उस समय अमेरिकन राष्ट्रपति विलसन के मस्तिष्क में एक विश्व-संगठन की भावना का उदय हुआ। सन् १९१९ ई० में जब संधि की रूपरेखा बनाई जा रही थी तभी राष्ट्रपति महोदय ने अपनी चौदह सूत्री योजना को उपस्थित किया तथा 'लीग आफ नेशन्स' की स्थापना पर बल दिया। उनकी भावना विश्व नेता संगठन बनाने की आकांक्षा से प्रेरित थी तथा उसमें एक विश्व-संगठन की स्वीकृति थी। चूँकि उस समय अमेरिका का सितारा बुलन्दी पर था, इसलिए राष्ट्रपति विलसन के लिए समस्त विश्व का नेता बन जाना दुष्कर कार्य नहीं था। राष्ट्रपति विलसन ने तर्क दिया कि यदि **'लीग आफ नेशन्स'** सबल होगा तो संधि की शर्तों के सदोष रहने पर भी हानि नहीं होगी। अतः उनकी दृढ़ता के फलस्वरूप **'लीग आफ नेशन'** की स्थापना हो गई। १९३६ ई० में जर्मनी पुनः शक्तिशाली बन गया तथा विश्व के दो अन्द शक्तिशाली राष्ट्र—जापान और इटली ने उससे संधि कर ली। दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। सन् १९४५ ई० में जर्मनी, जापान की पराजय हुई तथा इटली के अधिनायक मुसोलिनी का पतन हुआ। युद्ध के अन्तिम दिनों में रूस भी विजयी दल का सदस्य हो गया। जर्मनी का बँटवारा चार सेक्टरों में हो गया ओर ब्रिटेन, फ्राँस, अमेरिका और रूस एक-एक सेक्टर के अधिकारी बने। अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट और ट्रूमेन महोदय ने पुनः राष्ट्रसंघ को जीवित करने का प्रयास किया तथा उसकी नियमावली को और भी सरल बना दिया। उसका मुख्य कार्यालय न्यूयार्क में रखा गया। विश्व के प्रायः सभी राष्ट्र उसके सदस्य बने। यही संगठन **सयुक्त राष्ट्रसंघ** (U. N. O.) के नाम से विख्यात हुआ।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का शिलान्यास—१४ अप्रैल, १९४५ ई० को विश्व के पचास देशों के प्रतिनिधियों की **सेन फ्रांसिस्को** में एक महत्वपूर्ण बैठक हुई और वहीं विश्व-शान्ति को स्थायी रखने के लिए फिर **'राष्ट्रसंघ'** की स्थापना हुई। इस सङ्घ के प्रतिनिधियों का उद्देश्य था राष्ट्रों की पारस्परिक शत्रुता को मिटाकर प्रेम-भाव बढ़ाना। कई समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढङ्ग से वार्ता द्वारा तय किया गया। अन्तर राष्ट्रीय विवादों को मिटाना इसका मुख्य उद्देश्य है किन्तु घरेलू विषयों में राष्ट्रसंघ को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं दिया गया। राष्ट्रसंघ में कई समितियों का निर्माण किया गया, जैसे 'महासभा', 'सुरक्षा-परिषद्', आदि। 'राष्ट्रसंघ' का क्षेत्र अत्यन्त

व्यापक रखा गया तथा सर्वतोन्मुखी कार्य-शक्ति प्रदान की गई। किसी भी राष्ट्र की विकास योजनाओं में वैज्ञानिक, साँस्कृतिक; औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी कार्यो आदि में राष्ट्रसंघ पूरी तत्परता से कार्य करता है। सभी देशों के पुर्ननिर्माण तथा कल्याण-कारी कार्यों में राष्ट्रसंघ पूरा सहयोग करता है। राष्ट्रसंघ की महत्वपूर्ण शाखाओं की स्थिति निम्न है—सुरक्षा परिषद् में ग्यारह सदस्य होते हैं, जिनमें अमेरिका, रूस, चीन (राष्ट्रवादी) फ्रांस और ब्रिटेन स्थायी ५ सदस्य हैं; इनको विशेषाधिकार प्राप्त हैं जिसे वीटो अधिकार कहते हैं। अन्य छः सदस्य अस्थायी होते हैं। इसके 'अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय' शाखा में अन्य देशों के विवादों का अन्तिम निर्णय किया जाता है। 'ट्रस्टीशिप कौंसिल' पराजित राष्ट्रों की देखभाल करती है और इसका एक भाग (सचिवालय) न्यूयार्क में है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य—संयुक्त राष्ट्रसंघ के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

(१) विश्वशान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना।

(२) युद्ध और विवाद के मूल कारणों को दूर कर राष्ट्रों के बीच मैत्रीभाव की स्थापना करना।

(३) आर्थिक, सामाजिक, और मानवीय एकता के लिए प्रयत्न करना।

(४) अपने सदस्य राष्ट्रों की सार्वभौमिक समानता को मानना।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थापना तथा शांति भंग करने वाले राष्ट्रों के विरुद्ध राजनैतिक और आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यवाही करना।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा सुलझाना।

राष्ट्र संघ के संघ—संयुक्त राष्ट्रसघ के निम्नलिखित अंग हैं—

(१) साधारण सभा अथवा जनरल असेम्बली,

(२) सुरक्षा परिषद् अथवा सेक्योरिटी काउन्सिल,

(३) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय,

(४) सचिवालय,

(५) आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्,

(६) ट्रस्टीशिप परिषद्।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के लाभ—प्रारम्भ में ही यह सोचा गया कि प्रबल राष्ट्र हमेशा निर्बल राष्ट्रों का शोषण करते हैं। राष्ट्रसंघ ऐसे अत्याचारों को रोकने का प्रयास करता है। दूसरा लाभ यह हुआ कि विभिन्न राष्ट्रों की सामाजिक और आर्थिक दशा को विकसित करने का अवसर मिलता है जिससे वे उन्नति करने का प्रयत्न करते हैं। तीसरा लाभ यह है कि युद्ध की विभीषिका से विश्व को बचाने का संयुक्त-राष्ट्र-संघ महत्वपूर्ण कार्य करता है। चौथा लाभ यह है कि पिछड़े राष्ट्रों की उन्नति करने का प्रयत्न राष्ट्रसंघ करता है। पाँचवाँ लाभ यह है कि विभिन्न देशों के प्रतिनिधि यहाँ मिलते हैं और परस्पर विचार विनिमय करते रहते हैं

जिससे पारस्परिक सहानुभूति उत्पन्न होती है और सह-अस्तित्व की भावना का विकास होता है। इस प्रकार से **'राष्ट्रसंघ'** विश्व की सर्वाधिक कल्याणकारी संस्था है।

राष्ट्रसंघ की कतिपय त्रुटियाँ—इसमें सबसे बड़ी कमी यह है कि यदि कोई राष्ट्र इसकी आज्ञा का उल्लंघन करे तो उसे मनवाने की शक्ति इसमें नहीं है। अब सभी देश अपनी-अपनी सेना देकर राष्ट्रसंघ को यथावसर शक्ति-प्रदान करने लगे हैं, फिर भी इसके पास अपनी शक्ति कम ही है। दूसरी त्रुटि यह है कि यहाँ विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों पर नियन्त्रण कम रहता है, इसलिए वाद-विवाद में वितण्डावाद का भय बराबर बना रहता है। बड़े राष्ट्रों की स्वार्थ भावना ने विश्व-शासक बनने की महत्वाकांक्षा का रूप धारण कर लिया है, जिसके फलस्वरूप रूस और अमरीका ने घातक शस्त्रों के निर्माण में स्पर्द्धा करके विश्व-विनाश का संकट उत्पन्न कर दिया है। कुछ बड़े राष्ट्रों ने अपनी हठधर्मी के कारण कुछ ऐसे राष्ट्रों को राष्ट्रसंघ में प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया है जो संसार के लिए घातक हैं। कम्यूनिस्ट चीन को राष्ट्रसंघ में प्रतिनिधित्व सन् १९७२ के प्रारम्भ में प्रदान किया। इन त्रुटियों के होते हुए भी राष्ट्रसंघ ने अनेक अवसरों पर प्रभावशाली कार्य किया है। यदि सदस्य राष्ट्र नैतिकता और आध्यात्मिकता की भावना से कार्य करें तो और भी सफलता मिल सकती है। इसको शक्तिशाली बनाने के लिए सैनिक शक्ति भी राष्ट्र-संघ के पास होनी चाहिए।

राष्ट्रसंघ के कतिपय कार्य—पिछले वर्षों में राष्ट्रसंघ ने कुछ महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। इसने डच, इण्डोनेशिया, अरब यहूदियों के झगड़ों को कुशलता-पूर्वक निपटाया है, काँगों तथा स्वेज नहर के मामले को सफलतापूर्वक राष्ट्रसंघ ने तय किया। अफ्रीका में अब भी राष्ट्रसंघ कार्यशील है। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की समस्या का समाधान राष्ट्रसंघ ने किया है। आज राष्ट्रसंघ के सामने आणुविक परीक्षणों के रोक की समस्या, निःशस्त्रीकरण, काश्मीर समस्या, तिब्बत समस्या, अरब-इजराइल समस्या आदि के मसले पेश हैं, जिन्हें हल करने का प्रयत्न राष्ट्रसंघ कर रहा है।

विश्व संघ या विश्व-सरकार की भूमिका के रूप में राष्ट्रसंघ कार्य कर रहा है। सरकार का कार्य अधीनस्थ प्रदेशों पर कुछ अंश तक शासन करने का होता है, यह भी अपने सदस्य राष्ट्रों पर शासन कर रहा है। हाँ, सरकार के पास सार्वभौम प्रभुत्व होता है जिसकी छाया में उसके नियम और विधियाँ मान्य होते हैं, किन्तु क्षेत्र विश्वव्यापी है अतः यह विश्व सरकार की भूमिका के रूप में कार्य कर रहा है जिसके सदस्य राष्ट्र स्वाधीन हैं।

उपसंहार—युद्ध-सामग्री के निर्माण की होड़ लगी हुई है। साम्यवादी, पूँजीवादी, साम्राज्यवादी और लोकतन्त्रवादी विचारधाराओं के समर्थकों में खींचा-तानी ही रही। वाग्युद्ध निरन्तर चलते हैं। साथ ही साथ निःशस्त्रीकरण के लिये सम्मेलन भी बुलाये जा रहे हैं। विश्व के कर्णधार उसमें भाग लेते हैं और अनेक प्रस्ताव बनते-बिगड़ते रहते हैं। युद्ध के बादल उठते और गरजते से दीखकर भी राष्ट्रसंघ के प्रयास से शान्त होते जा रहे हैं। राष्ट्रसंघ ने विश्व-शान्ति के लिए सक्रिय प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया है। इस संस्था में विश्व-बन्धुत्व तथा सह-

अस्तित्व की भावना का विकास होता जा रहा है। यह विश्व के राष्ट्रों के सामने एक ऊँचा आदर्श रखने का तथा उसके पालन करने का प्रयास कर रहा है। मानव-मात्र की सुख-शान्ति की वृद्धि इस संस्था से सम्भव होगी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि राष्ट्रसंघ का भविष्य उज्ज्वल है तथा इसके माध्यम से विश्व-कल्याण होता रहेगा।

५८. काश्मीर समस्या

१—भूमिका, २—काश्मीर समस्या का प्रारम्भिक रूप, ३—१९४७ ई० का युद्ध, ४—काश्मीर समस्या का राष्ट्र-संघ द्वारा हल कराने का भारतीय प्रयत्न, ५—पाकिस्तान का पुनः आक्रमण, ६—समस्या का वर्तमान रूप, ७—शेख-अब्दुला की रिहाई और समस्या में नया मोड़, ८—उपसंहार।

भूमिका—भारत को पराधीनता अनेक शताब्दियों तक बनी रही। १२ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारत की राजधानी दिल्ली में मुसलमानों ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली। क्रमशः सभी हिन्दू नरेश पराजित होते गए। फिर मुगल वंश की नींव बाबर ने डाली, और लगभग तीन सौ वर्षों के शासन के बाद मुगल साम्राज्य सन् १८५७ में समाप्त हो गया। अंग्रेज जो व्यापार करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रूप में आए थे, यहाँ के शासक बन बैठे। उनकी नीति का मूल सिद्धान्त था 'फूट डालो और शासन करो' तथा नीति के सफल प्रयोग के बल पर वे शासन करते रहे। विश्व की राजनीति ने पलटा खाया। संसार में लोकतन्त्र, विश्व-बन्धुत्व, मानव-समानाधिकार, स्वतन्त्रता आदि की भावनाओं का विकास हुआ। अमेरिका फ्रांस, ब्रिटेन, रूस आदि अनेक देशों में स्वतन्त्र प्रजातन्त्र राज्य बन गये थे। अनेक शासकों को दण्ड दिया गया तथा शीघ्रता से राजतन्त्र का लोप या रूप परिवर्तन होने लगा। द्वितीय महायुद्ध ने विश्व के अधिकांश राष्ट्रों को जर्जर कर दिया था। अंग्रेज प्रजातन्त्र की रक्षा के नाम पर अमेरिका की सहायता से युद्ध जीते।

भारत जो अपनी स्वतन्त्रता के लिए बीसों बरस से संघर्ष कर रहा था, और अधिक तेज स्वर में आजादी की मांग करने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से बाध्य होकर अंग्रेजों ने भारत को सन् १९४७ ई० में स्वतन्त्र किया, किन्तु वे अपनी नीति को भूले नहीं थे। देश को दो भागों में उन्होंने स्पष्ट रूप से बाँट दिया तथा देशी नरेशों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया। उसी अधिकार का लाभ उठाकर महाराज काश्मीर श्री हरीसिंह ने अपने को तटस्थ और स्वतन्त्र घोषित किया। दुर्भाग्यवश पाकिस्तान ने उन पर कबायलियों के द्वारा आक्रमण कराया। विवश हो काश्मीर नरेश ने भारतीय संघ में सम्मिलित होने की घोषणा की। फलतः भारत ने काश्मीर की रक्षा के लिए सेना भेजकर स्थिति पर काबू किया। मामला राष्ट्रसंघ में गया और तभी से 'काश्मीर समस्या' चल रही है।

काश्मीर की समस्या का प्रारम्भ—भारत के स्वर्ग काश्मीर का, जो भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं, भारत में मिलना स्वाभाविक था।

महाराजा हरीसिंह जी ने जब से नियमित रूप से भारत में सम्मिलित होने की घोषणा की तभी से भारत का नैतिक कर्त्तव्य हो गया काश्मीर की रक्षा करना तथा उसे अपना अविभाज्य अंग मानना। इसी आधार पर भारत के प्रधानमन्त्री पं० नेहरू ने इस समस्या को राष्ट्रसंघ में रखा। इसका प्रारम्भिक रूप यह है कि जब आक्रमणकारी श्रीनगर की ओर बढ़ रहे थे तो महाराजा ने शेख अब्दुल्ला को भारत भेजा और उन्होंने भारत के प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों से भेंट की। उसी रात को काश्मीर जाकर आवश्यक कागजों पर शेख साहब हस्ताक्षर कराकर लाये तथा उसके बाद ही भारतीय सेना ने काश्मीर रक्षा के लिए प्रस्थान किया। कुछ ही दिनों के युद्ध के बाद लगभग दो तिहाई भाग से कबायली बाहर निकाले गये। इस युद्ध की प्रारम्भिक स्थिति में पाकिस्तान ने युद्ध से अपना सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया, किन्तु पुष्ट प्रमाणों द्वारा उसकी सेना का इस युद्ध में सम्मिलित होना सिद्ध हो गया। मुस्लिम बहुल प्रान्त होने के कारण पाकिस्तान ने जनमत संग्रह का प्रश्न उठाया। भारत ने भी पाकिस्तानी सेना के हट जाने पर जनमत-संग्रह स्वीकार किया। सैनिक संघर्ष को रोकने के लिए राष्ट्र-संघ ने प्रयास करके अस्थायी युद्ध-विराम सन्धि करा दी, फिर भी समस्या ज्यों की त्यों बनी है। पाकिस्तान यह सोचता था कि काश्मीरी जनता हमारे साथ रहना चाहेगी, इसीलिए उसने जनमत-संग्रह को चाहा था। भारत अपनी शान्ति नीति के कारण काश्मीरी जनता को आत्म-निर्णय का अवसर देना चाहता था इसीलिए उसने पाकिस्तानी सेना के हटाने की बात कही थी। अब परिस्थिति में पूर्ण रूप से अन्तर पड़ गया है अतः भारत काश्मीर में जनमत-संग्रह के विरुद्ध है।

काश्मीर-युद्ध (१९४७ ई०)—कबायलियों का आक्रमण पाकिस्तान समर्थित था, वे बढ़ते हुए श्रीनगर से २० मील दूर रह गये थे। भारतीय सेना को वहाँ की भौगोलिक विषमता के कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ा तथा उनका कष्ट तब और भी बढ़ जाता था। समीपवर्ती गाँवों में छिपे कबायली उन पर रात में सोने के समय आक्रमण कर देते थे। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए भारतीय सैनिकों ने कड़ी कार्यवाही की तथा स्थिति को सम्भाला। तब से भारतीय और पाकिस्तानी दोनों सेनाएँ युद्ध-विराम रेखा के दोनों ओर पड़ी हैं।

भारतीय प्रयत्न—भारत ने बराबर यह कोशिश की कि इस समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से, आपसी वार्तालाप द्वारा हल कर लिया जाय, पर समस्या उलझती जा रही है। कुछ दिन पूर्व जब रूसी नेता कोसीगिन ने भारत का दौरा किया था तो उन्होंने अपना मत व्यक्त किया था—"**भारतीय गणतन्त्र के एक राज्य के रूप में काश्मीर के मामले का फैसला काश्मीर जनता स्वयं पहले ही कर चुकी है। यह जनता का निजी मामला है :**" रूसी नेताओं का यह कथन पूर्णतया सत्य है। इस प्रकार काश्मीर समस्या को लेकर अनेक बैठकें राष्ट्रसंघ में हो चुकी हैं। भारत अपनी नीति के कारण समस्या के समाधान में सैनिक बल-प्रयोग की बात नहीं करता किन्तु पाकिस्तान दो सैनिक गुटों का सदस्य है, उसे अमेरिका तथा उसके गुट के अन्य सदस्यों से सैनिक सहायता मिली है और वह सैनिक-बल-प्रयोग के आधार पर समस्या का निपटारा चाहता है। उसके समाचार-पत्र 'जेहाद' का नारा लगाकर अपनी जनता को उत्तेजित करते रहते हैं। भारत विश्व का तटस्थ राष्ट्र

है, उसने किसी भी देश से सैनिक गठबन्धन नहीं किया है अतः उसको सामरिक साधन भी कम मिलते है तथा चीन से उसका सीमा विवाद भी चल रहा है, अतः पाकिस्तान काश्मीर को छोड़ना नहीं चाहता। भारतीय प्रधान मन्त्री ने युद्ध-विराम रेखा के आधार पर भी एक बार सन्धि करके समस्या हल करने की बात सोची थी, पर पाकिस्तान मानता ही नहीं। राष्ट्र-संघ में अमेरिकी दल का बहुमत है, भारत का साथ अमेरिका इस मामले में देता नहीं तथा उस तरफ से जो प्रस्ताव आते हैं वे भी न्यायोचित नहीं कहे जा सकते। पंच-निर्णय की भी स्थिति नही है। अतः भारत के शान्तिपूर्ण प्रयत्न के होते हुए भी यह समस्या कौन-सा रूप धारण करेगी, निश्चित नहीं है।

काश्मीर समस्या की गतिविधि—युद्ध-विराम तथा इस समस्या के राष्ट्र-संघ में जाने के बाद बातचीत चलती रहती रही और आशा थी कि समस्या सुलझ जायगी। लोक-सभा में तथा रामलीला मैदान की सार्वजनिक सभा के भाषण में अनेक बार भारतीय प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने कहा था कि युद्ध-विराम के बाद इस समस्या के सुलझाने के संकेत मिल रहे थे, पर अमेरिका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देकर स्थिति बदल दी तभी से निरन्तर वाग्युद्ध तथा परस्पर दोषारोपण और विरोध-पत्र-प्रेषण आदि होता चला आ रहा है। काश्मीर का जो भाग भारत के साथ है वहाँ की जनता विकास कार्यों में लगी हुई है तथा पाकिस्तान के अधिकृत भाग की स्थिति ही गिरी हुई है। वहाँ की जनता भारत में मिलने की इच्छुक है। भारतीय काश्मीर क्षेत्र में भूमि-सुधार, विकास-योजनाएँ तथा आवागमन के साधनों का विकास हो रहाँ है; और केन्द्र यथाशक्ति सहायता कर रहा है। पाकिस्तान ने भारत के सामने एक समस्या खड़ी कर दी है। उसका सैनिक संगठनों में शामिल होना भारत के लिए सिर दर्द बना हुआ है। उसकी सहायता के लिए इन संगठनों के सदस्य तैयार हैं तथा भारत सामरिक दृष्टि से एकाकी है यद्यपि अभी विश्व-युद्ध की सम्भावना नहीं है पर समय की गति को कहा नहीं जा सकता। अपने १३ अगस्त सन् १९४९ के प्रस्ताव में राष्ट्र-संघ ने यह स्वीकार किया था कि पाकिस्तानी सेनाओं को काश्मीर से हट जाना चाहिए। ५ जनवरी १९४९ को पाकिस्तान ने काश्मीर आयोग के सामने अपनी सेनाओं को हटाना स्वीकार भी किया था परन्तु पाकिस्तान ने किन्हीं परिस्थितियों में भी सेनाओं को नहीं हटाया।

पाकिस्तान का पुनः आक्रमण—सन् १९६५ में पाकिस्तान ने काश्मीर पर पुनः आक्रमण किया। पाकिस्तान अपनी सैनिक शक्ति द्वारा काश्मीर को हड़पना चाहता था। भारतीय सैनिकों ने पाकिस्तानी लुटेरों का मुँह-तोड़ जवाब दिया और उनके छक्के छूट गए। भारतीय सेनाओं ने अपने शौर्य से आगे बढ़कर पाकिस्तान के बहुत बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लिया। अन्त में रूस में भारत के प्रधान मन्त्री **स्व० श्री लालबहादुर शास्त्री** और पाकिस्तान के प्रेसीडेंट मो० अय्यूब के बीच एक समझौता हुआ जिसे **'ताशकंद घोषणा'** के नाम से पुकारा जाता है। इस समझौते के अनुसार दोनों देशों ने अपनी-अपनी सेनाएँ पीछे हटा लीं और काश्मीर आज भी भारत का अविभाज्य अंग है।

समस्या का वर्तमान रूप—वास्तव में अब **'काश्मीर समस्या'** नाम की कोई समस्या ही नहीं है और अब वह भारत का अभिन्न अंग बन चुका है। वहाँ जन-

तांत्रिक ढंग से चुनाव हो चुके हैं। परन्तु पाकिस्तान दबाब डालकर भारत से अपनी बात मनवाना चाहता है। अप्रत्यक्ष रूप से अमेरिका तथा ब्रिटेन और उस दल के अन्य राष्ट्र पाकिस्तान को सैनिकों तथा अन्य प्रकार की सहायता दे रहे हैं अतः वह अपने को प्रबल मानता है। राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद् में पश्चिमी राष्ट्र स्पष्टतया पाकिस्तान की तरफदारी कर रहे थे; जिसके लिए रूस ने विशेषाधिकार का प्रयोग किया है इसी प्रकार अतीत में भी अनेक बार रूस ने इस विषय में अपने निषेधाधिकार का प्रयोग किया है। भारत सरकार न तो पाकिस्तान से डरती है न उसकी नीति से घबराती है। भारतीय रक्षा-मन्त्री ने बार-बार यह कहा है कि भारत हर प्रकार से अपनी रक्षा में समर्थ है।

शेख अब्दुल्ला की रिहाई और समस्या में नया मोड़—शेख अब्दुल्ला के छूटने के बाद काश्मीर के प्रश्न ने कुछ समय के लिए एक नया मोड़ लिया। शेख ने छूटने के पश्चात् भारतीय नागरिक होने से इन्कार किया। उनके जितने भाषण हुए, वे सब राज्य हित की दृष्टि से अवांछनीय थे। शेख ने अपने भाषणों में जो जहर उगला, उससे साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हो गए। शेख काश्मीर में अब भी आग भड़का रहे हैं। यद्यपि भारत सरकार ने उनको स्पष्ट बता दिया है कि कश्मीर पर कोई बात नहीं हो सकती, काश्मीर का भविष्य पूर्ण और अन्तिम हो चुका है। जून १९६८ के अन्तिम सप्ताह में उन्होंने विश्व के प्रमुख राजदूतों को पत्र लिखकर यह माँग की है कि वे काश्मीर को स्वतन्त्र राज्य के रूप में मानें। यह भी एक नई चाल है।

गाँधी शताब्दी वर्ष में सरहदी गाँधी खान अब्दुल गफ्फार खाँ के आगमन ने लगता है, शेख अब्दुल्ला को कुछ सद्बुद्धि प्रदान की है। वे अब भारत के प्रति वैसा विष वमन नहीं करते।

उपसंहार—जब भारत स्वाधीन हुआ तो उस समय उसके सामने सैकड़ों समस्याएँ—राजनीतिक; आर्थिक, सामाजिक तथा वैदेशिक—उत्पन्न हो गईं। उस समय सदियों की गरीबी और अवमानना की भावना को मिटाना था। पाकिस्तान से आने वाले लाखों करोड़ों शरणार्थियों को बसाने की समस्या थी। देशी नरेशों की विशेष कर हैदराबाद और जूनागढ़ की समस्या थी। उसी समय से यह (काश्मीर) समस्या सामने खड़ी है। भारत के लिए काश्मीर समस्या जीवन-मरण तथा राष्ट्र-प्रतिष्ठा की समस्या है। किसी भी मूल्य पर भारत काश्मीर का एक इंच भू-भाग भी छोड़ने को तैयार नहीं है।

५९. राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

१—भूमिका, २—राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की रूप-रेखा, ३—राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रभाव, ४—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, ५—उपसंहार।

भूमिका—विश्व की जनता अनेक देशों की सीमाओं में अनादि काल से विभाजित है। भौगोलिक परिस्थितियों ने तथा सांस्कृतिक और राजनैतिक परम्पराओं

ने देशविभाजन को सुगम कर दिया था। प्राचीन काल में आवागमन के साधनों की कमी के कारण संसार का एक देश दूसरे देश से अलग रहता था। हर देश के लोगों की भावना अपने देश की राजनैतिक सीमा से अधिक सम्बन्धित रहती थी। राजनैतिक सीमाओं के निर्माण में प्राकृतिक कारणों का महत्वपूर्ण स्थान रहता था। जैसे चीन और तिब्बत आदि हिमालय पर्वत के उत्तर के देश कितने भी प्रबल क्यों न हो जाते, फिर भी हिमालय पर्वत को लाँघकर आक्रमण नहीं कर सकते थे। उनके घोड़े तथा खच्चर हिमाच्छादित दुर्गम पर्वतों का अतिक्रमण करने में असमर्थ थे। इस प्रकार प्रकृति की दुर्दमनीय शक्ति के अवरोध ने विभिन्न देशों को पृथक् रखा। उन स्थानों की जनता अपनी सीमा में समान रूप से रहा करती थी। स्थानीय शासकों को भी अपनी सुरक्षा तथा शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने के लिए प्राकृतिक सीमाओं को मान्यता देनी पड़ती थी। उस समय सैनिक साधन आवश्यक शक्ति पर निर्भर रहते थे, अतः हर देश का क्षेत्र सीमित रहता था।

राष्ट्रीयता—मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि वह अपनी जन्म-भूमि से प्यार करता है तथा वहाँ से सम्बन्धित वस्तुओं से अपनापन मानता है। अतः उसने अपने देश-प्रेम की भावना को **'राष्ट्रीयता'** शब्द से अभिव्यक्त किया। वैज्ञानिक साधनों ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में ज्यों-ज्यों सफलता प्राप्त की, त्यों-त्यों विश्व के देश परस्पर सन्निकट आने लगे और उनको अपनेपन की भावना का क्षेत्र बढ़ने लगा और राष्ट्रीयता का विकास होने लगा। **सर्वदेशीय राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीयता कहा जाने लगा। आज राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता का व्यवहार व्यापक रूप में होता है।**

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की रूप-रेखा—देश-प्रेम और व्यापक रूप से जाति-प्रेम की भावना राष्ट्रीयता कही जाती है। इसी भावना से प्रेरित होकर लोगों ने अपने देश की रक्षा के लिए असंख्य युद्धों को लड़ा, असंख्य जानें दीं, और अपनी मातृ-भूमि की रक्षा की। मध्य युग में देश रक्षा का कार्य लोग इसी भावना से करते थे, पर उनकी राष्ट्रीयता सीमित थी। दूसरे देशों की जनता को लोग अपने से भिन्न मानते थे और उनकी भावनाओं को किंचित मात्र भी महत्व नहीं प्रदान करते थे। पराजित देश के साथ उनकी स्वार्थ-परायण सहानुभूति रहती थी। इस तरह उनके बीच की खाई निरन्तर बनी रहती थी। वैज्ञानिक आविष्कारों ने संसार को अनेक ऐसे साधन प्रदान किये जिनसे प्राकृतिक कठिनाइयों पर विजय बढ़ी और विभिन्न देशों के लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ने लगी, फलतः उनके बीच की खाईं संकीर्ण होने लगी। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में यह भावना और भी बढ़ गई। विश्व के सभी देश परस्पर विचार-विनिमय के लिए 'राष्ट्रसंघ' में एकत्रित होने लगे। फलतः राष्ट्रीयता ने अन्तर्राष्ट्रीयता का रूप धारण किया। इस प्रकार ये शब्द व्यवहार में भी आने लगे।

'राष्ट्रीयता' और 'अन्तर्राष्ट्रीयता' का प्रभाव—राष्ट्रीयता के द्वारा जिस भावना का जन्म होता है वह संकुचित होती है। व्यक्ति स्वदेश के सम्मुख दूसरे देश को कोई महत्व नहीं प्रदान करता। फलतः दूसरे देशों के प्रति प्रेम और सद्भावना

का अभाव हो जाता है और पारस्परिक सहयोग नहीं हो पाता। सामान्य राजनैतिक झगड़ों के अवसर पर युद्ध की नौबत आ जाती है। राष्ट्रीयता की परिणति आगे चलकर मिथ्याभिमान और अहमन्यता में होती है जिससे दूसरे देशों के प्रति अवमानना की भावना बढ़ जाती है। फलत: साम्राज्यवाद का बोलबाला था। इसी भावना से प्रेरित होकर जर्मनी, इटली और जापान ने द्वितीय विश्व-युद्ध में सहयोग किया।

अन्तर्राष्ट्रीयता का भाव इससे भिन्न होता है। यह राष्ट्रीय भावना का अति व्यापक रूप है जो विश्वबन्धुत्व और सह-अस्तित्व की भावना को प्रेरित करता है। इस भावना की छाया में विश्व के सभी देशों का स्वार्थ अन्योन्याश्रित हो जाता है। अत: परस्पर का सम्बन्ध घनिष्ठ होता जाता है। सीमा-विस्तार के लिए संघर्ष को प्रोत्साहन इस भावना से नहीं मिलता। हर देश अपनी उन्नति के साथ ही दूसरों की उन्नति की बातें भी सोचता है। अन्तर्राष्ट्रीयता में प्रजातान्त्रिक भावना विद्यमान रहती है। इस संदर्भ में लोकतन्त्र का विकास होता है। इसमें राजनैतिक झगड़े शान्तिपूर्ण ढंग से निबटाये जाते हैं तथा विश्व में मानवता का प्रचार होता है। विश्व शान्ति में यह भावना विशेष रूप से सहायक होती है। यह भावना विश्व के विभिन्न देशों के नागरिकों को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास करती है। इसकी सहायता से प्रकृति के दिये गये साधनों—समुद्र, वायु आदि का लाभ विश्व के सभी देश प्राप्त करते हैं। एक प्रकार से इस भावना से विश्व एक परिवार जैसा बन जाता है, तथा लोगों में सहानुभूति और आत्मीयता का विकास होता है।

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना वर्तमान युग में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला रही है। एशिया और अफ्रीका के अनेक देश जो सदियों से पराधीन थे वे क्रमश: स्वतन्त्र होते जा रहे हैं। विश्व के सभी स्वतन्त्र देश उनकी स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान करते हैं और देखते-देखते वहाँ नई सरकारें बन जाती हैं तथा उन्हें राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त होती जाती है। यह स्वतन्त्रता की बाढ़ अन्तर्राष्ट्रीयता के जल से बढ़ाई जा रही है। पिछड़े देशों को राष्ट्र संघ तथा अन्य समुन्नत देशों द्वारा विकास योजनाओं की सफलता के लिए जो सहायता दी जाती है उसके मूल में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना की प्रेरणा रहा करती है। आज की राजनीति में स्वार्थ-सिद्धि तथा कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीयता के बाने में ही चलाई जाती है। कोई भी देश जो कुछ कहता है या जो भी सिद्धान्त अन्य देशों में मनवाना चाहता है उसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्रदान करता है। इस भावना का इतना व्यापक विकास हो गया है कि विश्व में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ बन गई हैं और विश्व के सभी राष्ट्रों के नागरिक उनके सदस्य बन गये हैं। साम्यवादी देश अपनी मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचार को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर करते हैं। वे विश्व के सभी देशों के कम्युनिस्टों को एक मानते हैं। उन लोगों की संस्था विश्व-व्यापी प्रचार करती है। सभी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को वे आर्थिक सहायता देते हैं तथा जिन देशों में कम्युनिस्ट सरकारें हैं, उन्हें सैनिक सहायता भी समयानुसार देने को तैयार रहते हैं। परन्तु उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता अपने ढंग की है। जो व्यक्ति उनके सिद्धान्तों के अनुसार अपनी विचारधारा और गतिविधि नहीं रखता

वह अक्षम्य है। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना मनुष्य को व्यापक जन-कल्याण का समर्थक बनाती है। राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है जो अपनत्व को उत्पन्न करती है पर अन्तर्राष्ट्रीयता वसुधैव कुटुम्बकम् के आदर्श को बल देने वाली होती है। यह भावना वर्तमान युग में खूब बढ़ती जा रही है।

उपसंहार—विश्व में संयुक्त राष्ट्रसंघ एक ऐसी संस्था है जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है और विश्व के प्राय: सभी स्वतन्त्र देश इसके सदस्य हैं। इस संस्था के लिए सभी राष्ट्र बराबर हैं। कोई भी किसी के साथ स्पष्ट रूप से अत्याचार करने में असमर्थ रहता है। किसी दबाव में किसी को नहीं रहना पड़ता। यद्यपि प्रबल और बड़े देश अपनी शक्ति का कभी उचित-अनुचित लाभ अवश्य उठाते हैं फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय भावना तो सब में काम करती ही रहती है। विभिन्न देशों के वैज्ञानिकों ने सहस्रों व्यापक-विनाशकारी यंत्रों का आविष्कार और निर्माण किया है जिनका व्यवहार होने पर विश्व-विनाश की आशंका उत्पन्न हो गई है अत: निरस्त्रीकरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर प्रयास किया जा रहा है। किसी विरोध को महत्व तक ही सीमित रखा जा रहा है। वाग्युद्ध तो अनेक बार होते हैं पर हर समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने का प्रयास होता है। परस्पर दोषारोपण करती हुई भी विश्व की महान् शक्तियाँ सशंकित बनी हुई हैं। अत: यह सरलता से कहा जा सकता है कि यह अन्तर्राष्ट्रीयता भी भयानुप्राणित है।

६०. भारत की परराष्ट्र नीति (विदेशी नीति)

१—भूमिका, २—भारत की विदेशी नीति का रूप, ३—भारत की विदेशी नीति मूलभूत सिद्धान्त तथा उनसे लाभ-हानि, ४—विदेशी नीति की गतिविधि, ५—उपसंहार।

भूमिका—राजनीति दो प्रकार के विषयों से सम्बन्धित होती है। कुछ विषयों का सम्बन्ध अपने ही देश से होता है तथा कुछ का सम्बन्ध विदेशों से होता है। जिन विषयों का सम्बन्ध अपने देश की शासन-व्यवस्था, सुरक्षा-व्यवस्था, तथा अर्थ-नीति से होता है; **वे स्वराष्ट्र नीति के** अन्तर्गत हैं; और जिनका सम्बन्ध विदेशों से होता है **वे परराष्ट्र नीति** में आते हैं। प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र को अपनी परराष्ट्र नीति घोषित करनी पड़ती है ताकि विश्व के अन्य राष्ट्र भी उसके साथ तदनुकूल नीति बना सकें। जब तक भारत अंग्रेजों के उपनिवेश के रूप में था तब तक उसकी परराष्ट्र नीति का प्रश्न ही नहीं उठा। यह कारण था कि तब अँग्रेज शासकों की परराष्ट्र नीति ही भारत की परराष्ट्र नीति थी क्योंकि भारत का राजनैतिक क्षेत्र में स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं था। किन्तु जब सन् १९४७ ई० में भारत स्वाधीन हो गया और राजनैतिक जगत् में भारत का एक स्वतन्त्र स्थान हो गया, तब विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रों ने उसकी विदेशी नीति को जानने की अभिलाषा व्यक्त की। इससे पूर्व ही

संसार पूँजीवादी और साम्यवादी राष्ट्रों में विभाजित था। प्रथम वर्ग का नेतृत्व अमेरिकी संयुक्त राज्य संघ करता था तथा दूसरे वर्ग का नेतृत्व रूस के हाथों में था। ये दो वर्ग परस्पर होड़ लगाकर शक्ति-संग्रह तथा वृद्धि करते जा रहे थे। दोनों वर्गों के सिद्धान्तों में पर्याप्त विरोध था। उस समय समस्या यह थी कि भारत किस वर्ग में मिलता है अथवा किस वर्ग से सहयोग करता है? अत: भारत की परराष्ट्र नीति का विश्व-व्यापी महत्व था। उस समय भारत के प्रधानमन्त्री एवं विदेश-मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने भारत की परराष्ट्र नीति की घोषणा की।

भारत की विदेशी नीति का रूप—भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता सत्य-अहिंसा के आधार पर प्राप्त हुई, अतः बहुत कुछ इसी आधार पर भारत की विदेशी नीति को घोषणा **पंडित नेहरू ने की।** उन्होंने कहा **'भारत एक तटस्थ राष्ट्र के रूप में रहेगा। यह विश्व के सभी देशों से मिलता रहेगा और सह-अस्तित्व की भावना से व्यवहार करेगा। भारत यथासभव किसी प्रकार के सैनिक सगठनों में नहीं मिलेगा। किसी वर्ग में वह सम्मिलित नहीं होगा और यदि उसे बाध्य होकर किसी वर्ग में मिलना ही पड़ा तो वह उस वर्ग के साथ मिलेगा जिसके मिलने में उसका लाभ होगा।'** मूल-रूप में भारतीय परराष्ट्र नीति के ये ही सिद्धान्त हैं और इन्हीं के आधार पर भारत की परराष्ट्र नीति चल रही है। उसी सन्दर्भ में भारतीय प्रधानमन्त्री ने यह भी कहा था कि 'भारत विश्व-शान्ति के लिए प्रयत्नशील रहेगा'।

भारत के साथ ही पाकिस्तान भी स्वतन्त्र हुआ किन्तु उसकी विदेश-नीति अब तक न तो स्पष्ट हो पाई न विश्व के राजनीतिक रंग-मंच पर उसका विशेष महत्वपूर्ण रूप ही दिखलाई दिया। एक ओर पाकिस्तान 'सीटो और नाटो' जैसे सैनिक संगठनों का सदस्य है और दूसरी ओर वह चीन से सैनिक समझौता कर रहा है। भारत अपनी वैदेशिक नीति के अनुसार किसी भी सैनिक गठबन्धन में अब तक नहीं पड़ा। वह अपनी तटस्थ नीति पर अटल है। कुछ नीतिज्ञों का यह सोचना ठीक है कि यदि युद्ध का अवसर आ जाये तो भारत अकेला दिखाई पड़ेगा जैसे कि काश्मीर के एक विषय में एकाधिक बार देखा भी गया है। किन्तु यह भी स्पष्ट हो गया है कि उस समय भारत के लिए सभी का मार्ग खुला भी रहेगा। तटस्थ नीति पर दृढ़ रहने के कारण भारत ने विश्व-शान्ति में महत्वपूर्ण कार्य किया है। विश्व के अधिकांश राष्ट्र इसकी नीति से प्रभावित हैं तथा इसका स्वयं एक वर्ग बन गया है, जिसमें विश्व के प्राय: सभी तटस्थ राष्ट्र सम्मिलित समझे जा सकते हैं। इस नीति का परिणाम यह है कि विश्व के सभी देश भारत की विकास योजनाओं से सहानुभूति रखते हैं तथा बराबर सहायता कर रहे हैं जिससे देश की बहुमुखी उन्नति हो रही है। भारत एक महान राष्ट्र के रूप में माना जाने लगा है, तथा इसके प्रतिनिधियों की बातों का महत्व होने लगा है। जब भी विश्व राजनीति में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई तभी भारत में न्याय का समर्थन किया एवं उसके सुझावों का प्रभाव पड़ा। अपनी घरेलू समस्याओं को भारत ने शान्तिपूर्वक इसीलिए सुलझा लिया क्योंकि उनकी नीति थी दूसरे के विषय में हस्तक्षेप न करना। गोआ समस्या तथा देशी राज्यों की समस्या ऐसी ही समस्याएँ थीं। अब भी भारत किसी गुट में नहीं मिला और अपनी नीति में दब्बूपन भी नहीं रखा। काश्मीर और चीन की

समस्याएँ भी आशा है कि शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझ जाएँगी। यदि इसमें वल प्रयोग भी अनिवार्य होगा तो भारत पीछे नहीं रहेगा ऐसा सभी राष्ट्र जानते हैं।

भारत की परराष्ट्र नीति के मूलभूत सिद्धान्त : गुट निरपेक्षता और सह-अस्तित्व—भारत की वैदेशिक नीति के मूलभूत सिद्धान्तों की चर्चा हो चुकी है। अब उनके महत्व पर भी विचार कर लेना उपयोगी होगा। **यदि तटस्थता** पर दृढ़ रहने के कारण भारत के मित्रों का अभाव है तो उसके शत्रुओं की भी संख्या नगण्य है। साथ ही साथ अपने निजी साधनों के उपयोग से वह दिन पर दिन स्वावलम्बी होता जा रहा है। उसकी हर प्रकार की शक्ति में वृद्धि हो रही है। राजनीति का यह भी शाश्वत नियम है कि शक्तिशाली राष्ट्रों की ही बातें मानी जाती हैं। निर्बल की बात कोई नहीं सुनता। कहा भी गया है—

'सिंहो नैव गजो नैव व्याघ्रो नैव च नैव च।
अजा पुत्रं बलि दत्वा दैवो दुर्बल घातकः।'

तात्पर्य यह है कि सिंह, हाथी, व्याघ्र इनमें से किसी की भी बलि नहीं चढ़ाई जाती, बल्कि बकरी का बच्चा ही बलि चढ़ाया जाता है, यानी दैव भी निर्बलों का ही घातक होता है। इस नीति में भारत को सफल माना जा सकता है। भारत की आन्तरिक और बाह्य उन्नति को विश्व के सभी देश स्वीकार करने लगे हैं। चीन और पाकिस्तान को भी धीरे-धीरे यह समझने को बाध्य होना पड़ रहा है कि भारत बन्दर की घुड़कियों से डरने वाला नहीं है। भारत की सहायता रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान आदि सभी देश कर रहे हैं। अमेरिका और रूस दोनों ही उसकी आर्थिक सहायता करने को तत्पर रहते हैं। चीन के विरुद्ध युद्ध में अमेरिका ने भारत की सहायता की और काश्मीर की समस्या में सुरक्षा परिषद में निषेधाधिकार का प्रयोग करके रूस उसकी सहायता करता है। सबकी सहायता भारत ले रहा है पर वह किसी के हाथ अपनी स्वतन्त्र नीति को नहीं छोड़ रहा है। योजनाओं की सफलता के साथ भारत की आन्तरिक स्थिति स्वावलम्वी होती जा रही है तथा उसे परमुखापेक्षी नहीं होना पड़ेगा। आवश्यकता पड़ने पर ये सभी शक्तियाँ राष्ट्र रक्षा के लिए काम में लाई जा सकती हैं। उसे किसी से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। औद्योगीकरण की दिशा में भारत की प्रगति महत्वपूर्ण है। अब वह अनेक देशों को बहुत प्रकार के तैयार माल का निर्यात कर रहा है। सैनिक दृष्टि से भारत की उन्नति कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत की सेवाओं ने राष्ट्रसंघ की ओर से विदेशों में महत्वपूर्ण कार्य किया है। अपनी सीमा रक्षा में उनकी सफलता सामान्य नहीं कही जायगी। भारतीय वायु-सेना तथा जल-सेना की भी उन्नति हो रही है। पाकिस्तानी आक्रमण के समय भारतीय सेना ने जिस साहस औरवीरता का परिचय दिया, वह सराहनीय है। इस बहुमुखी उन्नति के मूल में वैदेशिक नीति की दृढ़ता सर्वाधिक सहायक हो रही है।

विदेश-नीति की गति-विधि—भारत के प्रायः सभी महत्वपूर्ण देशों—रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, जापान आदि से दौत्य सम्बन्ध हैं। सभी के साथ इसका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है। यहाँ तक कि आक्रामक पाकिस्तान और चीन से भी

दूत-सम्बन्ध बना हुआ है। सभी उन्नत देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध भारत का है। सबसे लेन-देन की सन्धियाँ होती जा रही हैं। इन सभी सन्धियों में भारत माल के बदले में माल दे रहा है। बराबरी के आधार पर सन्धियाँ हो रही हैं। सांस्कृतिक सम्बन्ध भी बढ़ रहा है। यहाँ के विभिन्न विषयों के छात्र विदेशों में अध्ययन की सुविधा पा रहे हैं और अनेक देशों के छात्र भारतीय विश्वविद्यालयों में अध्ययन कर रहे हैं। इस प्रकार भारत का सम्बन्ध विश्वव्यापी बना हुआ है।

उपसंहार—किसी भी राष्ट्र की आन्तरिक व्यवस्था उसकी परराष्ट्र नीति पर बहुत कुछ आधारित रहती है। भारत की परराष्ट्र नीति का प्रभाव आन्तरित नीति पर भी पड़ रहा है। भारत में विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के लोग शान्तिपूर्वक रह रहे हैं। सभी को उन्नति का समान अवसर मिल रहा है। देश की अनेक योजनाएँ सफलता से चल रही हैं। इस बीच में पाँच सामान्य चुनाव हो चुके फिर भी कोई अड़चन नहीं पड़ी। विरोधी भी भारत की नीति से सहमत होकर नीतियों में सामयिक सुधार का सुझाव देते है। भारत सरकार अपनी वैदेशिक नीति में अधिकांश रूप में सफल कही जायेगी। भारत की शान्ति तटस्थता और सह-अस्तित्व की नीति परीक्षा की कठोर परिस्थितियों से गुजरी और गुजर रही है। यदि भारत की विदेश-नीति के आदर्शों और सिद्धान्तों का सही मूल्यांकन करके संसार उसी के अनुरूप आचरण करे तो पीड़ित मानवता को राहत मिल जाय और युद्ध का भय सदा के लिए दूर हो जाय।

६१. युद्ध अभिशाप अथवा वरदान

१—भूमिका, २—युद्ध की सामान्य रूपरेखा, ३—युद्ध : अभिशाप रूप में, ४—युद्ध । वरदान रूप में, ५—उपसंहार।

युद्ध : एक विश्लेषण—विश्व के इतिहास को यदि युद्धों का रंगमंच कहा जाय तो संभवतः अनुचित न होगा। मनुष्य में भी दो प्रकार की दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का संघर्ष बराबर चला करता है। प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख से समन्वित बनाया है। ये ही दोनों अनुभूतियाँ जीवन के दो पहलू बनाती हैं। एक अपने सुख वर्ग का विस्तार करने का प्रयास करता है और दूसरा अपने सुख-वर्ग को व्याप्त बनाना चाहता है तथा दोनों दुःख-वर्ग की आशंका को बचाना चाहते हैं। इस प्रकार के प्रयासों में उनके स्वार्थ परस्पर टकराने लगते हैं, क्योंकि सुख और स्वार्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन्हीं स्वार्थों की टकराहट से युद्धों का जन्म होता है। युद्ध में दो परस्पर विरोधी व्यक्ति, समाज, समुदाय या देश सम्मिलित होते हैं। दोनों पक्षों में अपने-अपने सुख पर ही ध्यान दिया जाता है। फिर दोनों पक्ष अपना-अपना दल बढ़ाते हैं जिसमें उनकी भावना के समर्थक सम्मिलित होते हैं। दोनों वर्गों के संचालकों का पृथक-पृथक

संगठन हो जाता है। फिर आपस में वार्ता चलने लगती है और दोनों अपने पक्ष को उचित सिद्ध करके दूसरे पक्ष बुराई लादना चाहते हैं। इस प्रकार से बात बढ़ती चली जाती है। जब वाक्‌शक्ति से काम नहीं चलता तब सैनिक शक्ति की आजमाइश होने लगती है और युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। इस युद्ध से अनेक लाभ भी होते हैं तथा हानियाँ भी होती हैं। इन दोनों बातों का प्रभाव सामान्य जनता की बरबादी होती है जो प्रायः निरीह होती है। इसीलिए यह देखना है कि युद्ध अभिशाप रूप में आता है अथवा वरदान रूप में।

युद्ध की सामान्य रूपरेखा—युद्ध अपने पुराने रूप में दो राज्यों में हुआ करते थे, और सम्बन्धित राज्य ही उनसे विशेष रूप से हानि भी उठाते थे। १७वीं-१८वीं शताब्दी या इसके पूर्वकालीन युद्ध इसी प्रकार के होते रहे। मतभेद का कारण प्रवृत्तियों की भिन्नता होती है। महाभारत का युद्ध प्राचीन युद्धों में विशालतम माना जाता है। उसमें कर्ण दुर्योधन के पक्ष में था। वह महान् दानी, वीर, धर्मपरायण तथा ज्ञानी था। कृष्ण ने एक बार कर्ण से पूछा कि 'तुम वीर, दानी हो और जानते हो कि दुर्योधन अन्याय कर रहा है और अधर्म-युद्ध कर रहा है फिर भी तुम क्यों उसका साथ देते हो।' कर्ण ने उत्तर दिया—

'जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्म न च मे निवृत्तिः।
कस्मै देवा हृदि सन्निरुद्धो यथा तियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।'

तात्पर्य यह कि 'मैं भी धर्म जानता हूँ पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है और अधर्म को जानता हूँ पर उससे निवृत्ति (छुटकारा) नहीं है। अरे कोई देव मेरे हृदय में बैठकर जिधर नियुक्त करता है वही करता हूँ इसका एक भाव यही है, कि मनुष्य के कर्म अज्ञात प्रेरणा से होते हैं। मनुष्य उसमें केवल निमित्त मात्र होता है, उसका विधायक तो अज्ञात प्रेरणा ही होती है। आज तर्कवादी भौतिक युग में मनुष्य कर्त्ता और विधायक दोनों का श्रेय स्वयं ले रहा है। अतः इन सभी कार्यों के पूर्ण उत्तर-दायी युद्ध में सम्मिलित होने वाले दोनों पक्षों के नेता होते हैं। युद्ध के प्रारम्भिक रूप में सिद्धान्तों की भिन्नता या विरोधी दृष्टिकोण अवश्य काम करते हैं। शीर्षस्थ नेता अपने पक्ष की जनता तथा कार्यकर्ताओं को अपने अनुकूल बना लेते हैं। दोनों पक्षों की सेनाएँ अस्त्रशस्त्र से सज्जित होकर मैदान (रण-क्षेत्र) की ओर अग्रसर होती हैं। युद्ध-घोषणा होते ही वे धावा करना प्रारम्भ करती हैं। इसके बाद युद्ध का रूप साधनों के अनुसार व्यापक या सीमित होता है। वर्तमान समय में युद्ध के साधनों का इतना विकास हो गया है कि इसकी व्यापकता जल-थल-नभ चतुर्दिक प्रभावकारी होगी। ध्वनि से दुगुनी गति से चलने वाले युद्ध के विमान मीलों भूमि को छिन्न-भिन्न करने वाले भयंकर बमों की वर्षा करेंगे, फलतः एक-एक बम सैकड़ों या सहस्रों वर्गमील भूमि के धन-जन का विनाश करेंगे। ऐसे शस्त्र प्रायः सभी शक्ति-शाली राष्ट्रों के पास हैं। परिणामतः विश्व का अधिकांश भाग विनष्ट हो जायगा। इस युद्ध का अति लघु प्रभाव जापान के नागासाकी और हीरोशिमा के भग्नावशेषों में देखा जा सकता है तथा भावी युद्ध के इतिहास की रूप-रेखा का अनुमान लगाया जा सकता है। जब एक ही एटम बम को कीर्ति यह है तो आज बमों की गति तो कल्पनातीत है।

युद्ध अभिशाप रूप में—जब युद्ध होते हैं तो जवानों को सेना में भर्ती कर लिया जाता है। नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों के शक्ति-शाली युवकों के सेना में चले जाने से व्यवसाय और खेती कार्य करने वाले निर्बल पड़ जाते हैं। अतः खेती और व्यवसाय दोनों का ह्रास होने लगता है। उत्पादन और उपज का अधिकांश भाग सैनिक उपयोग के लिए सरकारें ले लिया करती हैं, जिससे जन-साधारण को घोर कष्ट होने लगता है। देश में धन-जन की घोर क्षति होती है। युद्ध में सम्मिलित होने वाले राज्यों में अराजकता जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। आतंक चारों ओर छाया रहता है। धन-जन की सुरक्षा अनिश्चित रहती है। कारखाने युद्ध सामग्रियों के निर्माण में लगे रहते हैं। सामान्य उपयोग की वस्तुओं का अभाव होता जाता है जिससे व्यापक महँगाई आ जाती है। इसका सामना करने के लिये सरकारें सस्ते सिक्कों का प्रसार करती हैं। सरकारी कोषों में धन की कमी पड़ने लगती है, फलतः जनता से अधिकाधिक कर वसूल किया जाता है। यानी देश और समाज के हर वर्ग के सामने कठिनाइयों की विभीषिका मुँह बाये खड़ी रहती है।

युद्धों में लाखों व्यक्ति मारे जाते हैं। उनके परिवार वाले तबाह हो जाते हैं। उनके भरण-पोषण के साधन नष्ट हो जाते हैं। मृत सैनिकों के परिवारों को सहारा देने वाला कोई नहीं रहता। जितने विकलांग बन जाते हैं, उनकी स्थिति और भी खराब हो जाती है। वे समाज में भार स्वरूप बनकर रहते हैं। इससे वायुमण्डल इतना दूषित हो जाता है कि अनेक प्रकार की नई पुरानी बीमारियाँ भयंकर रूप से फैल जाती हैं, जिनमें करोड़ों मनुष्य अकाल काल-कवलित हो जाते हैं। जनता का स्वास्थ्य गिर जाता है तथा लोगों का नैतिक पतन भी होता है। इस प्रकार से युद्ध की विभीषिका किसी को भी छोड़ती नहीं। युद्ध-जनित-विनाश के पुनर्निर्माण में राष्ट्र की शक्ति अपने को असमर्थ पाती । सारी शक्ति युद्धकाल में उसी ओर लगी रहती है, अतः युद्धोत्तर काल में भयंकर अकाल तथा दैवी प्रकोप हुआ करते हैं। वर्तमान काल में युद्ध सामग्रियों से डल दूषित करने की और भी अपूर्व शक्ति आ गई है। इस प्रकार से युद्ध अभिशाप ही नहीं वरन् भयंकर अभिशाप के रूप में आता है। युद्ध कितना बड़ा अभिशाप है यह हीरोशिमा और नागासाकी के वृद्धों से पूछो, जिन्होंने मानवता को स्वयं अपनी आँखों से कराहते हुए देखा है। द्वितीय महा-युद्ध के भीषण परिणामों को स्वयं अपनी आँखों से देखने वाले व्यक्ति आज भी युद्ध के के नाम से काँप जाते हैं।

युद्ध वरदान रूप में—'जड़ चेतन गुणदोषमय विश्व कीन्ह करतार' के आधार पर युद्धों से कतिपय लाभ भी होते हैं। जब विश्व की जनसंख्या में अधिक वृद्धि होती है तब युद्ध उस जनसंख्या को संतुलित करता है। यदि संसार में युद्ध न होता तो हम और आप भूखों मर जाते। संघर्ष से ही शक्ति उत्पन्न होती है और युद्ध संघर्षों का जनक है, इन्हीं संघर्षों से शक्ति अर्जित करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। युद्ध-जनित कठिनाइयाँ मनुष्य में आत्मबल उत्पन्न करती हैं। युद्ध में कार्यशीलता से कार्य-कुशलता उत्पन्न करने की शक्ति होती है। युद्ध सम्बन्धी कार्यों की अधिकता से राष्ट्र में बेकारी की समस्या नहीं उत्पन्न होती। युद्ध के ही भय से विभिन्न देशों में सहयोग और सहानुभूति की भावना बढ़ती है। युद्ध-विजय के लिए राष्ट्र को सबल

बनाया जाता है। इस प्रकार से कई दृष्टियों से युद्ध वरदान भी है। दार्शनिक दृष्टि से युद्ध का महत्व अधिक है।

उपसंहार—युद्ध में पराजित देश को ही युद्ध उत्तरदायी मानकर विजयी देश उस पर अधिकार कर लेता है, तथा उससे क्षति-पूर्ति कराता है। फिर भी अव सर पाकर वे देश उन्नति कर जाते हैं। युद्ध को मानसिक पृष्ठभूमि में देखा जाय तो मानव-मस्तिष्क में नित्य युद्ध चला करता है। इसी को साहित्यिक भाषा में अन्तः द्वन्द्व कहा जाता है। इस संघर्ष में अधिकांश उच्च भावनाओं **की विजय हो जाती है।** बाह्य युद्धों में भी अन्तिम विजय न्याय और सत्य की होती है। इसलिए अपनी अशेष विभीषिकाओं को समेटे हुए भी युद्ध का अन्तिम परिणाम आनन्द होता है। शान्तिकाल में जो शक्ति कुण्ठित रहती है, वही युद्ध-काल में तीव्र हो जाती है। अतः युद्ध अपने दार्शनिक सन्दर्भ में वरदान ही है, यद्यपि भौतिक रूप में अभिशाप जान पड़ता है।

६२. विश्वशान्ति की समस्या

१—भूमिका, २—विश्व के मुख्य शक्तिशाली राष्ट्रों की स्थिति, ३—वर्तमान युद्धास्त्रों की विनाश क्षमता और उनका आतंक, आगामी युद्ध से उत्पन्न स्थिति की पृष्ठ-भूमि, ४—उपसंहार।

"क्योंकि युधिष्ठर एक, सुयोधन अगणित अभी यहाँ हैं।
बढ़े शान्ति की लता, हाय ! वे पोषक तत्व कहाँ हैं ?"

भूमिका—सन् १९१९ ई० में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति हुई। जर्मनी तथा उसके सहायकों की अप्रत्याशित पराजय। ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि देशों की सामूहिक विजय हुई। दोनों पक्षों में सन्धि हो गई और **राष्ट्रपति विल्सन** को चौदह सूत्री योजना के अनुसार **'लीग आफ नेशन्स'** का निर्माण हो गया। लगभग सत्रह वर्षों का समय बीता होगा कि पुनः जर्मनी, जापान और इटली की शक्ति ने विश्व के राजनीतिक वातावरण में हलचल मचाना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९३६ ई० में इटली ने अबीसीनिया पर तथा जर्मनी ने अपने पश्चिमी पार्श्व के देशों पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। फलतः द्वितीय विश्वयुद्ध का बिगुल बज गया। लगभग ९ वर्षों तक भयंकर संहार के नाटक खेले जाते रहे। युद्ध में वैज्ञानिकों ने महत्वपूर्ण योगदान किया। एटम बम का प्रयोग अमेरिका ने जापान के औद्योगिक क्षेत्र नागासाकी और हिरोशिमा पर किया। फलतः एक बहुत बड़ा भू-भाग गर्द हो गया और समुद्र में मिल गया। जर्मनी सेनायें रूस के मैदान में नष्ट हो गईं। १९४५ में युद्ध की समाप्ति हुई। अबकी बार फिर ब्रिटेन, अमेरिका, फ्राँस और रूस विजयी देश माने गए। पुनः ट्रूमैन महोदय ने 'राष्ट्रसंघ' को और भी प्रबल रूप में जीवित किया। प्रायः सभी वैज्ञानिकों की सहायता से विनाशकारी शस्त्रास्त्रों का निर्माण करने लगे। इन पन्द्रह-सोलह वर्षों में ध्वनि से दुगुनी गति से चलने वाले लड़ाकू विमान तथा

व्यापक विनाशकारी क्षमता वाले बम तैयार हो गए। उनके परीक्षणों की होड़ मची जब युद्ध में इन शस्त्रों के प्रयोग की कल्पना की गई तो विश्व का विनाश साकार रूप में प्रकट होने लगा तभी से विश्व-शान्ति की समस्या सामने आई।

विश्व के मुख्य शक्तिशाली राष्ट्रों की स्थिति—युद्ध के बाद प्रायः सभी स्वतन्त्र देशों की सरकारों ने अपने वैज्ञानिकों को सैनिक शक्ति की वृद्धि के लिए साधन जुटाने में लगा दिया। रूस और अमेरिका अपने सिद्धान्तों की विभिन्नता तथा साधनों की प्रचुरता के कारण स्पर्द्धापूर्वक युद्ध विमान तथा भयंकर बमों का निर्माण कराने लगे। इन देशों में परीक्षणों का क्रम बढ़ने लगा। ब्रिटेन, फ्रांस आदि अन्य पश्चिमी देश इन्हीं दोनों के पीछे आने लगे। फलतः विश्व के सभी राष्ट्र इन दो शिविरों में विभाजित हो गये। अनेक राष्ट्र स्वतन्त्र भी हो गए। इन्हीं में भारत, पाकिस्तान, ब्रह्मा आदि राष्ट्र हैं। इनमें से कई राष्ट्रों ने तटस्थ नीति को अपनाया फलतः एक तीसरा गुट भी बनता हुआ दिखलाई पड़ रहा है। सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य हैं। एक प्रकार से यह संस्था विश्व के राजनीतिज्ञों का अखाड़ा बनी हुई है। लम्बे-लम्बे भाषण, आकर्षक प्रस्ताव तथा तीखे वाक्य-वाण इसमें चलते रहते हैं। कई समस्याओं का समाधान भी बातचीत के माध्यम से हो गया है, किन्तु अधिकांश समस्यायें उलझी ही रह गई हैं—जैसे काश्मीर-समस्या, भारत-चीन-सीमा विवाद, जर्मनी की समस्या आदि ऐसी अनेक समस्यायें हैं जिसका समाधान नहीं हो सका इसी प्रकार की निःशस्त्रीकरण की समस्या भी है जिसका सम्बन्ध विश्व-शान्ति से है। छोटे राष्ट्रों के मतों को बड़े राष्ट्र अपनी ओर ले लेने का प्रयास भी करते हैं। पिछड़े राष्ट्रों की उन्नति के लिए सहायता भी यथा-संभव और यथावसर सभी सदस्य देने को तैयार रहते हैं। इस समय भारत का स्थान विश्व-शान्ति के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तटस्थ राष्ट्रों में अधिकांश इसके समर्थक हैं।

वर्तमान युद्धशस्त्रों की विनाश-क्षमता और उनका आतंक—वर्तमान समय में वैज्ञानिकों ने दो प्रकार से युद्ध की भयंकरता बढ़ाने में योग दिया है—एक तो अति द्रुतिगामी लड़ाकू विमानों के निर्माण से जिसमें चलने के समय ध्वनि भी नहीं उत्पन्न होती, दूसरे भयंकर एटम, हाइड्रोजन और न्यूक्लीयर आदि बमों के निर्माण तथा क्षेप्यास्त्रों से। इन साधनों ने प्रायः सभी शक्तिशाली राष्ट्रों को इतनी भयंकर शक्ति प्रदान कर दी है कि यदि युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाय और उसमें इनका प्रयोग कर दिया जाय तो निश्चय ही विश्व का यदि पूर्णतया नहीं तो भी अधिकांशतः विनाश अवश्य हो जायगा। वैज्ञानिकों ने उनकी शक्ति को भी स्पष्ट रूप से बता दिया। अतः **युद्ध छिड़ने का अर्थ सामूहिक विनाश माना जा रहा है।** इसलिए सभी राष्ट्रों के विवादों को शान्तिपूर्वक वार्तालाप द्वारा हल करने का उपाय हो रहा है। इस प्रगति का यह प्रभाव पड़ रहा है कि घनी जनसंख्या वाले देश अधिक आतंकित हो गये हैं। अधिक विस्तार वाले देश भी यह अनुभव कर रहे हैं कि सभ्यता और जन-संख्या का मेरुदण्ड नष्ट हो जायेगा। सदियों के अनवरत प्रयास से निर्मित यह विश्व किस रूप में बचेगा, यह एक भयंकर प्रश्न बन गया है। यही कारण है विश्व के सभी राष्ट्रों के कर्णधार निरन्तर विश्व-शान्ति का राग अलापा करते हैं। अब समस्या यह है कि जब सभी चाहते हैं तो विश्व-शांति सम्बन्धी कार्य-क्रम सफल

क्यों नहीं होता—इसका मूल कारण स्वार्थपरता, अविश्वास की भावना तथा इसकी एक और संगिनी है—विश्व शासक बनने की महत्वाकांक्षा। कूट-नीति पर सभी राष्ट्रों को विश्वास है तथा सभी यह समझ रहे हैं कि दूसरा गुट हमें धोखा देने चाहता है। प्रायः सभी बड़े राष्ट्र अपनी तथाकथित शक्ति के आतंक से विपक्षी को घुटना टेके देखना चाहते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि आज भी संसार युद्ध के ज्वालामुखी पर बैठा है। ऐसी स्थिति में विश्व-शान्ति की समस्या और भी प्रबल होकर हमारे सामने आती है। विश्व संगठन अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ (U. N. O.), निशस्त्रीकरण और विश्व-शांति के पक्ष में प्रबल जनमत तैयार करना ही इसके एकमात्र उपाय हैं।

आगामी युद्ध की पृष्ठभूमि—यह कल्पना निराधार नहीं है; साधारण कहे जाने वाले एटम बम की करामात को नागासाकी, हिरोशिमा में सभी ने देख लिया है। परीक्षणों द्वारा जो प्रतिक्रिया समुद्रों और बीरान रेगिस्तानों में होती है, उनके वास्तविक दृश्य अपने सभी प्रभावों के साथ राष्ट्रनायकों की बुद्धि को झकझोर देते हैं। सभी राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक यह समझ रहे हैं कि राष्ट्र-प्रतिष्ठा का आलाप उस समय कहीं न सुनाई पड़ेगा जब विरोधियों के एक-एक बम से हजारों वर्गमील की रूप-रेखा ही बदल जायेगी। मृतकों को समाधि देने का काम भी वे बम स्वयं कर देंगे, वहाँ भी मानव प्रयास की आवश्यकता नहीं रहेगी। चिता सजाकर अग्निदान भी वे ही कर देंगे। इस पर भी यदि कोई शव कहीं बच जायेगा तो प्रकृति स्वयंमेव उससे अपने पंच तत्व—क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर को खींच लेगी। इतने पर यदि प्राणी जीवित बच गये तो वे दूषित वायुमण्डल से उत्पन्न असंख्य रोगों से जूझते हुए इहलीला समाप्त करेंगे। यह रंग-विरंगा विश्व नष्ट हो जायगा। यही कल्पना विश्व-शान्ति की समस्या को गहरा रंग देकर सामने ला रही है।

विश्व शान्ति की समस्या—विश्व शान्ति की समस्या का रूप आज भी वैसा ही है। इतना कहना भी आवश्यक है कि आज बड़े-बड़े राष्ट्र भी सभी समस्याओं में इस भय से रुचि ले रहे हैं कि कहीं ऐसा न हो कि छोटी-सी समस्या युद्धाग्नि दहकाने में चिनगारी का काम कर जाय। जहाँ कोई विवाद दो पक्षों से प्रारम्भ होता है, वहीं एक पक्ष का समर्थन अमेरिकन पक्ष और दूसरे का रूसी पक्ष करने लगता है।

इसका परिणाम यह होता है कि कहीं-कहीं समस्या हल हो जाती है तथा कहीं-कहीं और उलझ जाती है। छोटी-छोटी घटनायें घट करके भी युद्ध की स्थिति नहीं उत्पन्न कर पातीं। राजनैतिक भाषा में नीति और अनीति की परिभाषा भी विचित्र हो जाती है। विश्व-शान्ति से विश्व की स्थिति यही बनी रहेगी, ऐसी आशा है और मनुष्य अपनी बुद्धि का लाभ उठाता रहेगा।

उपसंहार—वर्तमान विषाक्त वातावरण में दुनियाँ के सभी राष्ट्र किसी न किसी आशंका से भयभीत हैं। सभी के हृदय में आतंक समा गया है। ऐसी दशा में विश्व शान्ति की योजना में ही यह शक्ति है जो दुनियाँ का कल्याण कर सकती है।

६३. निःशस्त्रीकरण

१—भूमिका, २—शस्त्रास्त्रों के निर्माण की दिशा, ३—शस्त्रों की उन्नति, ४—इस उन्नति का आतंक और भय, ५—निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता, ६—निःशस्त्रीकरण के प्रयास, ७—निशस्त्रीकरण से लाभ, ८—उपसंहार।

निःशस्त्रीकरण—इस शब्द का अर्थ है शस्त्रों का परित्याग करना और शस्त्रों की दौड़-धूप को रोकना। विश्व-शान्ति निःशस्त्रीकरण के बिना सम्भव नहीं है।

निःशस्त्रीकरण के लिये किए जाने वाले प्रयासों का इतिहास बड़ा पुराना है। इसके लिए प्रयास तो सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में आरम्भ हो गये थे किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् इन प्रयासों की गति कुछ तेज हो गई। द्वितीय विश्य-युद्ध के बाद तो यह अन्तर्राष्ट्रीय जगत् का परम धर्म बन गया है।

द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका ने विश्व के बड़े नेताओं को अत्यन्त चिंतित कर दिया। हरोशिमा पर गिरे एटम बम के प्रभाव ने विश्व के महान् राष्ट्रों—अमेरिका, रूस, ब्रिटेन आदि को भयानक युद्धास्त्रों के निर्माण के लिये प्रेरित किया: शत्रु से रक्षा तथा विश्व-शासक बनने की महत्वाकांक्षा ने अमेरिका और रूस में विनाशकारी शस्त्रास्त्रों के निर्माण की होड़ लगा दी। फलतः अणुशक्ति की खोज में दोनों देशों के महान् वैज्ञानिक जुट गये। अनेक प्रकार के भयंकर बम, राकेट, बम-वर्षक विमान आदि ऐसे ऐसे युद्धास्त्रों का निर्माण हो गया है कि उनकी शक्ति से दुनियाँ काँप उठी है। शीतयुद्ध का बोलबाला है और राष्ट्रों में मतभेद फैला हुआ है। अनेक ऐसी समस्याएँ हैं, जिनके आधार पर विश्वयुद्ध की पुनरावृत्ति सम्भावित है। यह भी निश्चय है कि युद्ध का अवसर आया तो उनका प्रयोग फलतः महान् विनाश भी होगा। इस विश्व-विनाश के आशंका-जनित भय ने निःशस्त्रीकरण की भावना को पैदा किया। इसी भय को दूर करने के लिये आज निःशस्त्रकरण के राग सुनाई पड़ रहे हैं।

आधुनिक काल के शस्त्रों के निर्माण की दिशा—वैज्ञानिक प्रयोग की सफलता ने मनुष्य की बुद्धि का अपूर्व विकास कर दिया है। द्वितीय महायुद्ध में एटम बम की शक्ति ने कुछ क्षणों में ही जापान की अजेय शक्ति को पराजित कर दिया। इस शक्ति की युद्ध-कालीन सफलता ने अमेरिका, रूप, ब्रिटेन, फ्रान्स आदि सभी देशों को ऐसे शस्त्रास्त्रों के निर्माण की प्रेरणा दी कि सभी भयंकर और सर्व-विनाशकारी शस्त्र बनाने लगे। अब सेना को पराजित करने तथा शत्रु देश पर पैदल सेना द्वारा आक्रमण के लिये शस्त्र निर्माण के स्थान पर देश के विनाश करने की दिशा में शस्त्रास्त्र बनने लगे हैं। इन हथियारों का प्रयोग होने पर शत्रु देशों की अधिकांश जनता और सम्पत्ति थोड़े समय में ही नष्ट की जा सकेगी। चूँकि ऐसे शस्त्रास्त्र प्रायः सभी स्वतन्त्र देश में संग्रहालयों में कुछ न कुछ आ गये हैं, अतः युद्ध की स्थिति में उनका प्रयोग भी अनिवार्य हो जायेगा और दुनियाँ का सर्वनाश या अधिकांश नाश तो अवश्य ही हो जायेगा। इसीलिए **निःशस्त्रीकरण की योजनाएँ बन रही हैं।**

शस्त्रास्त्रों के निर्माण में जो दिशा अपनाई गई, उसी के अनुसार आज इतने उन्नत शस्त्रास्त्र बन गये हैं, जिनके प्रयोग से व्यापक विनाश आसन्न दिखाई देता है।

वर्तमान युग में एक ही स्थान पर बैठे-बैठे विश्व के प्रायः सभी कोनों पर वार किया जा सकता है। आक्रमण से पहले तो कहीं जाने की आवश्यकता ही कम पड़ेगी और यदि जनता भी पड़ा तो उसके लिए शब्द से दूनी गति से चलने वाले विशालकाय लड़ाकू विमान बन गये हैं जो वेग और उपकरणों के बल मे विश्व-अस्तित्व को चुनौती दे रहे हैं। इन समुन्नत अणुबमों, हाइड्रोजन बमों, न्यूक्लीयर आदि शस्त्रों की भयानकता का अनुभव करके सभी मनीषी इन्हें नष्ट कर देना चाहते हैं। आजकल निःशस्त्रीकरण की दिशा में अनेक सम्मेलन हो रहे हैं जिनमें इन व्यापक विनाशकारी शस्त्रों के विनाश के इच्छुक सभी राष्ट्र भाग ले रहे हैं। सन् १९६० के मार्च में जैनेवा में दस बड़े राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ था। परन्तु खेद की बात है कि महीनों विचार-विमर्श करने के बाद भी किसी समाधान को नहीं ढूँढ़ा जा सका। रूस के प्रधानमंत्री श्री खुश्चेव ने कुछ ठोस सुझाव पेश किये थे, किन्तु सर्वसम्मति से स्वीकृत नहीं हो सके। अब परीक्षणों की रोकथाम तथा बने शस्त्रों के प्रयोग को रोकने के मार्ग खोजे जा रहे हैं। इन प्रयासों के मूल में एक भयकर आतंक और विश्व-विनाश का भय कार्य कर रहा है।

निःशस्त्रीकरण का यह अर्थ कदापि नहीं है कि विभिन्न देशों की सरकारें रिक्त हस्त, पंचशील का 'साइन बोर्ड' लेकर चलने वाली सेनाओं का संगठन करेंगी। इसका अर्थ इतना ही है कि सार्वजनिक रूप से विनाश करने वाले शस्त्रों का प्रयोग रुक जायगा ताकि युद्ध की स्थिति आने पर भी व्यापक संहार न हो सकेगा और न वायु-मण्डल ही इतना विषाक्त बनाया जायगा कि भूमण्डल में प्राणियों की स्थिति असम्भव हो जायगा। यदि ऐसा नहीं हो सका तो निश्चय ही स्थिति अन्धकारमय हो जायगी। आज के वैज्ञानिक युग में यह आवश्यक है विज्ञान द्वारा दी गई महान् शक्तियों को जन-कल्याण में लगाया जाय, द्रुतगामी वायुयानों द्वारा आवागमन कार्य को सरल बनाया जाय, जिससे लोग पृथ्वी पर की यात्रा की भाँति आकाश में भी यात्रा कर सकें। जिन वैज्ञानिकों की बुद्धि-शक्ति से हाइड्रोजन बम, एटम बम, न्यूक्लीयर आदि तैयार किये जा रहे हैं, उन्हीं की सहायता से रोगों की रोक-थाम तथा अन्य उपयोगी कार्य किये जा सकते हैं। आज के बुद्धिवादी मनुष्य को सबसे अधिक आवश्यकता है सहानुभूति, करुणा, दया तथा विश्व-प्रेम की, जिससे संसार में शान्ति का वातावरण उत्पन्न हो सके। इस कार्य में आध्यात्मिक शिक्षा से अधिक लाभ हो सकता है।

आज विश्व के महान् राष्ट्रनायकों के सामने अनेक समस्याएँ हैं। एक ओर उन्हें अपने सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार करना है, अपने देश की भाँति हर देश को बनाना है तो दूसरी ओर कूटनीति के द्वारा अपनी शक्ति को सर्वोपरि बनाना है। तीसरी ओर भयंकर संहार से विश्व को बचाना है। इस प्रकार विरोधी समस्याओं को हल करना पड़ रहा है। रूस चाहता है कि सभी देश साम्यवादी हो जायँ और उसी के अनुसार आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था बनाकर चलें। रूस यह भी आकांक्षा रखता है कि सभी इस प्रकार की व्यवस्था वाले देश उसी के नेतृत्व को स्वीकार करके अनुगामी बनें। इस प्रकार वह सर्वोपरि, शक्तिशाली बन सकेगा और समयानुसार विश्व-शासक का गौरव प्राप्त कर सकेगा। दूसरी ओर अमेरिका की

में साम्यवाद बेकार की चीज है। विश्व को पूँजीवादी व्यवस्था ही बचा सकती। विश्व-कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि प्रजातान्त्रिक प्रणाली का विकास सर्वाधिक हो। सभी देशों की जनता को अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का ज्ञान न रहे। अपने मानवीय अधिकारों का उपयोग करें तथा अपनी उन्नति में लगे रहें पर अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रों को अपना नेता भी मानें। इस प्रकार साम्यवादी शिविर निर्बल हो जायगा और केवल उन्हीं लोगों का बोलबाला रहेगा। यह है विश्व की सामान्य स्थिति। एक सामान्य बुद्धि का मनुष्य भी यह समझ सकता है कि कोई भी एक राष्ट्र अकेले सारे विश्व का शासक नही बन सकता। इससे आज विश्व के सभी राष्ट्र निःशस्त्रीकरण के पक्ष में हैं। आज विश्व को निर्जन और प्राणीहीन होने से बचाने के लिए निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता है।

निःशस्त्रीकरण के प्रयास में प्रायः सभी देशों के विचारवान नेता लगे हुए हैं। वे कभी जिनेवा में, कभी न्यूयार्क, कभी किसी अन्य स्थान पर शिखर सम्मेलन में जन-सुरक्षा पर विचार विमर्श करते हैं। परन्तु अभी निर्णय पूर्णरूप से नहीं हो पाया है। इसका मुख्य कारण यह हैं कि न तो रूसी गुट को अमेरिकन गुट पर विश्वास है न अमेरिकन गुट को रूसी गुट पर। दोनों शिविरों में अविश्वास और संदेह का भूत कार्य कर रहा है। दोनों एक दूसरे पर हावी होने का दावा कर रहे हैं। दोनों ही परस्पर विरोधी छोटे देशों के झगड़ों में एक-एक का पक्ष ग्रहण कर लेते हैं, जिससे छोटे राष्ट्रों के झगड़े भी नहीं निपट पा रहे हैं। विज्ञान ने राष्ट्रों की शक्ति को केन्द्रित कर दिया है। जो व्यक्ति या पार्टी सरकारी मशीनरी पर एक बार अधिकार कर लेता है, वह अपने इशारों पर पूरी सरकार को चलाता रहता है। प्रजातंत्र प्रणाली में फिर भी सरकार का बदलना उतना कठिन नहीं होता जितना साम्यवादी व्यवस्था में। कारण यह है कि साम्यवादी पार्टी की शक्ति एक नेता के हाथ में केन्द्रित रहती है और उसी नेता के हाथ में सरकर की शक्ति भी रहती है। वहाँ विरोधी दल को कोई अधिकार नहीं रहता। विरोधी को वहाँ मार्ग परिवर्तन या देश त्याग के लिए बाध्य कर दिया जाता है। इस प्रकार नेताओं में अहमन्यता आ जाती है और समन्वय तथा सहयोग नहीं हो पाता। यही कारण है कि रूस और अमेरिका एकमत नहीं हो पा रहे हैं।

निःशस्त्रीकरण और चीन—आज जहाँ एक ओर अमेरिका और रूस ने परमाण संधि (Nuclear Treaty) करके निःशस्त्रीकरण की दिशा में मिश्रित सफलता प्राप्त की है, वहीं चीन ने परमाणु बम बिस्फोट करके इसके लिए एक नया खतरा पैदा कर दिया है।

उपसंहार—विश्व के राष्ट्रनायकों की यह प्रवृत्ति बन गई है कि वे शातिदूत बनने का ढोंग तो रचते हैं पर अविश्वास के कारण निःशस्त्रीकरण के उपाय प्रयोग में नहीं लाते। साफ हृदय से लोग मिलते ही नहीं, परिणाम यह होता है कि किसी भी प्रस्ताव को सर्वसम्मति या बहुमत प्राप्त करने का अवसर नहीं मिलता। न निःशस्त्रीकरण हो पा रहा है। किन्तु सभी राष्ट्र इसकी उपादेयता समझ रहे हैं और प्रयत्नशील हैं अतः आशा है कि एक दिन निःशस्त्रीकरण का मार्ग अवश्य निकल जायगा और विश्व शान्ति की साँस लेगा।

६४. राज्य और धर्म अथवा धर्म-निरपेक्षा और राजनीति

१—भूमिका, २—राज्य और धर्म का रूप, ३—राज्य और धर्म का सम्बन्ध, ४—समाज के लिए उपयोग, ५—धर्म राज्य के शासक रूप में, ६—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य के समाज द्वारा राज्य का निर्माण होता है। अतः राज्य में जितने भी विधान बनाए जाते हैं, वह मानव-समाज को ध्यान को ध्यान में रखकर ही बनाए जाते हैं। मनुष्य-जीवन के भी चेतन होने के नाते दो पहलू हैं—**भौतिक** और **आध्यात्मिक**। भौतिक पहलू का सम्बन्ध मनुष्य की उन अनेक क्रियाओं से रहता है जो मनुष्य की साधारण दैनिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित रहती हैं तथा **आध्यात्मिक क्रियाओं का सम्बन्ध उसके मानसिक और आत्मिक जीवन से अधिकतर रहा करता है।** किन्तु मनुष्य अपने कार्यक्रम में दोनों पक्षों को अलग-अलग नहीं रख पाता। उनके अधिकांश लौकिक कार्य आध्यात्मिक भावना को लिए हुए चलते हैं। आध्यात्मिक चेतना का मुख्य सम्बन्ध धर्म से रहा करता है। वह मनुष्य को सन्तोष और शान्ति प्रदान करने का साधन है। एक प्रकार से धर्म मानव-जीवन का अविभाज्य अंग है। राज्य को चलाने वाली नीतियाँ राजनीति कही जाती हैं। अतः राज्य की संचालक होती हैं—राजनीति यदि धार्मिकता से अनुप्राणित नहीं है तो वह राजनीति नहीं है, राज्य के प्रत्येक कार्य में धर्म की सांस होनी चाहिए।

राज्य और धर्म का रूप—राज्य शब्द में देश की जनता और सरकार दोनों का भाव निहित रहता है, अतः राज्य सामूहिक भावना और विधि-विधान का द्योतक है। समाज व्यक्तियों से ही बनता है। अतः व्यक्तियों की भावनाओं का सामूहिक रूप राज्य की भावना को बनाता है। इसमें बहुमत की भावना का मुख्य स्थान प्राप्त रहता है तथा राज्य 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' कार्य करता है। धर्म का मूल व्यक्तिगत भावना में रहता है। इसकी एकान्त साधना भी व्यक्तिगत ही होती हैं, पर सामूहिक अवस्था में आने पर इसका व्यापक रूप भी बनता हैं। इस प्रकार धर्म अपनी परिभाषा में भी मनुष्य की विवेक बुद्धि से सम्बन्ध रखता है। **धर्म का अर्थ उन विषयों से सम्बन्धित है, जिनको धारण किया जा सके और मनन किया जा सके। संक्षेप में धर्म कर्तव्य-भावना को स्वयमेव जगाता रहता है और मनुष्यों का महत्वपूर्ण कर्तव्य माना जाता है।** राज्य अपने नियमों और विधियों को प्रभुत्व के सहारे मनवाता है और धर्म अपने नियमों को विवेकजन्य कर्त्तव्य द्वारा स्वीकार कराता है। राज्य का क्षेत्र यदि सीमित है तो धर्म का क्षेत्र असीम है। राज्य में प्रभुत्व का अस्तित्व है और धर्म में आस्तिकता का महत्व है। धार्मिक बन्धन अन्तरात्मा से स्वीकार किया जाता है किन्तु राज्य का बन्धन शारीरिक गति-विधियों से स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार राज्य और धर्म दोनों का अनुशासन मनुष्य को मानना पड़ता है।

राज्य और धर्म से सम्बन्ध—प्राचीनकाल में राज्य का प्रतिनिधि राजा होता था अतः राजा का धर्म ही राज्य-धर्म माना जाता था। सदियों तक राज्य और धर्म का सम्बन्ध राजा पर ही आश्रित था। यदि राजा धार्मिक प्रवृत्ति का होता था तो राजनीति धार्मिकता से अनुप्राणित रहती थी और यदि वह धार्मिक प्रवृत्ति का नहीं होता था तो राज्य में धर्म का ह्रास होता था और अनाचार एवं अधर्म का साम्राज्य स्थापित हो जाता था। बाद में राज्यों का रूप क्रमशः बदलने लगा, तथा

लोकतन्त्र को शासन में प्रमुखता मिली । अनेक देशों में प्रजातान्त्रिक प्रणाली अपनाई गई । इस प्रथा का श्रीगणेश फ्रांस से हुआ, किन्तु शक्तिशाली प्रजातान्त्रिक देश के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका प्रतिष्ठित हुआ । वहाँ की जनता इतनी मिली-जुली राष्ट्रीयता की थी कि उन्हें एक राज्य-धर्म (राष्ट्र-धर्म) की आवश्यकता जान पड़ी । यहाँ तो अनेक धर्म प्राचीनकाल से ही चलते आ रहे थे । इस देश में हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म मुख्य थे । इसी आधार पर पाकिस्तान का निर्माण हुआ और पाकिस्तान ने अपना राज्य-धर्म इस्लाम धर्म को माना किन्तु भारत में सभी धर्मों के हितों को ध्यान में रखकर धर्म-निरपेक्ष शासन की घोषणा की गई अर्थात् वर्तमान लोकतंत्रीय भारत-राष्ट्र का झुकाव किसी विशेष धर्म की ओर नहीं है । आज की राजनीति में धर्म का स्थान व्यापक बना दिया गया है । मानव-धर्म का ही नारा सभी राष्ट्र लगाते हैं । यह मानव-धर्म बढ़ता जा रहा है पर भारतीय जनता अपने पूर्वजों के परंपरागत धर्म को मानती है ।

समाज के लिए राज्य और धर्म का उपयोग—समाज को अनुशासित रखने के लिये राज्य की आवश्यकता होती है । राज्य के अनेक अधिकार हैं जिनका वह जनता पर प्रयोग करता है । उसके अनेक कर्त्तव्य भी होते हैं जिनका वह पालन करता है । जनता को सुरक्षित और शान्तिपूर्वक व्यवस्थित रखना राज्य का मुख्यतम कर्तव्य है । सेना को सुदृढ़ और साधन सम्पन्न बनाना उसका अनिवार्य काम है, क्योंकि विदेशी आक्रमणों से सेना ही देश की रक्षा करती है । सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर लगाकर जनता से धन वसूल करने का उसे अधिकार है । देश की जनता के हित में राज्य अनेक प्रकार के कार्य करता है, उसमें धन-व्यय होता है, इस धन को भी जनता से लिया जाता है । शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने के लिये सज्जन, ईमानदार और न्यायप्रिय लोगों की दुष्टों से रक्षा करने के लिये दुष्टों का दमन करने के लिये, न्यायपूर्वक राज्य-कार्य संचालन के लिए राज्य को बहुत व्यय करना पड़ता है, और वह धन भी जनता से लिया जाता है । अतः राज्य में विनिमय और क्रय-विक्रय को सन्तुलित रखने के लिए राज्य मुद्रा के चलाने का प्रबन्ध करता है, नाप-तौल के माध्यमों को निर्धारित करने के लिए बाँटों आदि का प्रबन्ध करता है । यदि सभी वस्तुओं का प्रयोग सरकार मनमाने ढंग से करे तो जनता को अधिक कष्ट होने लगे । अतः धर्म की भावना तथा सामूहिक विद्रोह का भय उसे शासित है और राज्य जनता का रक्षक बनता है न कि भक्षक ।

यदि धर्म का शासन न रहे तो मनुष्य पशुवत् व्यवहार करने लगे और सामाजिक बन्धन भी न चल सके । थोड़े में मनुष्य के जीवन में मानवता के स्थान पर पशुता आ जाय । समस्त योनियों में मानव योनि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है । इसका कारण यही है कि मनुष्य में धार्मिकता होती है । वैसे तो आहार, निद्रा, भय, कामेषणा आदि स्वाभाविक गुण तो प्राणीमात्र में समान ही होते हैं पर मनुष्य की मानवता का मूल कारण धर्म ही मनुष्य को सांसारिक सुख और अलौकिक आनन्द और पूर्ण शान्ति देता है । इस प्रकार समाज के लिए राज्य से अधिक आवश्यक धर्म है । यही कारण है कि प्राचीनकाल में अशोक, समुद्रगुप्त, हर्ष आदि राजाओं ने जनता को धर्म की शिक्षा दिलवाई । पुरातन हिन्दू नरेशों ने धर्म के ही अनुसार

शासन किया। यही कारण है कि स्मृतियों में राजाओं और शासकों के दैनिक जीवन-क्रम के लिये भी विधान किया गया है ताकि वे स्वेच्छाचारी और निरंकुश न बन सकें।

इस प्रकार से राज्यों के कर्णधार जब तक धर्म के शासन में चलते रहे तब तक राज्यों का कार्य व्यवस्थित रूप से चला। जब-जब उन्होने धर्म के शासन का अनादर किया, तब-तब उन्हें अनेक प्रकार की विपत्तियों का सामना करना पड़ा। धर्म के लौकिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों का पालन राज्य के लिए आवश्यक है। 'यथा राजा तथा प्रजा' का सिद्धान्त व्यापक और शाश्वत है। शासक वर्ग के चरित्र और कार्य-व्यवहारों का प्रजा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जनता अपने नेताओ का अनादिकाल से अनुकरण करती आ रही है। अत: राज्य-नायकों को धर्म का शासक अवश्य मानना चाहिए। किन्तु यह धर्म संकुचित धर्म नहीं है। इसके सिद्धांत बड़े व्यापक हैं।

स्वतन्त्र भारत—एक धर्म निरपेक्ष राज्य—आधुनिक भारत के नेताओं ने धर्म और राजनीति अथवा धर्म और राज्य को अलग रखने पर बल दिया है। यह उचित और युक्तिसंगत है। लोकतन्त्र में धर्मनिरपेक्षता राज्य के लिए उचित और उपयुक्त है।

उपसंहार—मनुष्य-समाज से सम्बन्धित जितने भी विधान हैं उनमें राज्य और धर्म ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। मनुष्य सांसारिक सुख-सुविधा और सफलता आदि के रहते हुये भी धार्मिक ज्ञान के बिना आनन्द और शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता और भूखा मनुष्य धर्म-निर्वाह भी कैसे कर सकता है। राष्ट्र के जीवन को उन्नत और आनन्दमय बनाने के लिए राज्य के साथ ही साथ धर्म की उन्नति आवश्यक है। राज्य की सफलता भी धर्म की ही सफलता से सम्भव है। धर्म-विहीन समाज की कल्पना आकाश कुसुम के समान है।

६५. हमारी सामाजिक समस्याएँ

१—भूमिका, २—हमारे समाज का रूप, ३—सामाजिक समस्याएँ, ४—सामाजिक समस्याओं के कारण, ५—उनके समाधान के उपाय, ६—समाधान से लाभ-और हानि, ७—उपसंहार।

भूमिका—भारत एक अति प्राचीन तथा विशाल देश है। इसमें पुरातन काल से सभ्यता और संस्कृति का विकास होता चला आ रहा है। विश्व के प्राचीन ग्रन्थ —वेद यहीं पर रचे गये। उनके रचना-काल के निश्चित अनुमान अभी तक नहीं लग सके हैं। उनके रचना-काल के पूर्व भी यहाँ एक समुन्नत समाज रहा करता था। उस समाज की अनेक विशेषताएँ वैदिक साहित्य में प्राप्य हैं। उस काल के समाज का एक निश्चित रूप था जिसकी कुछ मूल विशेषताएँ थीं। बाद में दूसरे समाज के सहस्रों लोग समय-समय पर आये और कालान्तर में इसमें मिलते चले गए। विभिन्न जातियों

के सम्मिश्रण से भारतीय समाज का बाह्य रूप तो परिवर्तित हो गया, किन्तु उसकी मूलभूत प्रवृत्तियों में कोई अन्तर नहीं आया। समाज के बाह्याकार में जो सामान्य परिवर्तन दिखाई दिया, उससे भारतीय संस्कृति के रंग-ढंग में यत्किंचित अन्तर आ गया। आगन्तुक जातियाँ इसी में लीन होती गईं, और उनका भिन्न अस्तित्व नहीं रह गया। इस प्रकार से समाज बढ़ता चला गया और चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अवान्तर विभाग होते चले गये। मुसलमानों का आवागमन एक ऐसे सामाजिक और धार्मिक तत्व के साथ हुआ जो इससे प्रारम्भ से अब तक भिन्न रहे। शूद्रों की स्थिति ऐसी बन गई कि वे अस्पृश्य समझे जाने लगे। सामाजिक बन्धन कठोर होते गये। राजनीति ने समाज को दूसरी ओर से प्रभावित करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार से सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं।

हमारे समाज का रूप—भारतीय समाज आज भी प्राय: उसी प्रकार का है जैसा वैदिक-काल में था। समाज के सभी वर्ग प्राय: उसी प्रकार के संस्कारों और परम्पराओं को अब भी मानते हैं, जैसा वैदिक या पौराणिक काल में मानते थे। उनके सभी धार्मिक त्यौहार और पर्व अब भी माने जाते हैं जो पहले माने जाते थे। समाज में वर्णव्यवस्था-वैदिक-काल से चली आ रही है, केवल उसका रूप विकृत हो गया है। **वेदों में विराट पुरुष के वर्णन प्रसंग में कहा गया है कि ब्राह्मण उसके मुख, क्षत्रिय उसकी बाहें, वैश्य उसके मध्य भाग और शूद्र उसके चरण हैं।** इसी क्रम से उनके कार्यों का विभाजन किया गया था और हर वर्ग अपने कर्त्तव्यों का पालन करता था। वैश्यों का ऐसा वर्ग था और अब भी है कि उसके कार्यों को सभी वर्णों के लोग कर लेते थे। उस समय सभी वर्णों में रोटी बेटी का सम्बन्ध चलता था। इस समाज की प्रारम्भ से ही यही विशेषता रही कि सामान्य व्यावसायिक व्यवहार तो कर्म के आधार पर चलता था तथा व्यक्तिगत और पारिवारिक व्यवहार और सम्बन्ध जन्म और वंश-परम्परा पर आधारित रहता था। रोटी-बेटी का सम्बन्ध नियमत: लोग अपने ही वर्ग में करते थे। यदि कोई इसके विपरीत काम करता था तो उस विवाह कार्य को अनुलोम या प्रतिलोम की संज्ञा दी जाती थी और यह कार्य श्रेयस्कर नहीं माना जाता था। फिर देश-काल के अनुसार इन नियमों में कठोरता आ गई और जटिलता बढ़ गई जिससे शूद्रों की समस्या सामने आई। इस समस्या पर प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों की मान्यता का प्रभाव अधिक है। जनसंख्या बढ़ाने हेतु मुसलमान होने के लिए हरिजन सतर्क थे और कुछ अछूत नेताओं ने बहकाया कि हम ७ करोड़ हरिजनों को साथ लेकर मुसलमान होने के लिए तैयार हैं। फलतः तत्कालीन नेताओं ने इस समस्या को अपेक्षित जान आवश्यकतानुसार कार्य किया। इधर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ने लगा और वर्गहीन, जातिहीन समाज की आवश्यकता पर बल दिया जाने लगा। इसके भी आर्थिक कारण ही अधिक प्रभावशाली हैं और सामाजिक कम।

हमारी सामाजिक समस्याएँ—आज हमारी सामाजिक समस्याएँ अनेक हैं। उनमें से प्रमुख हैं :

१. जातिवाद की समस्या, २. छुआछूत की समस्या, ३. दहेज की समस्या, ४. सामाजिक कुरीतियों की समस्या, ५. शिक्षा की कमी की समस्या।

भारतीय समाज में आज अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। चारों वर्णों में सैकड़ों अवान्तर भेद हो गये हैं। मध्यकाल में पारस्परिक भेद-भाव भी बढ़ गया और जातीय नियमों में कठोरता आ गई। मुसलमानी शासन-काल में यह भेद-भाव अधिक बढ़ा और साथ ही साथ नैतिकता का मानदण्ड भी संकुचित हो गया। किसी भी अपराध के आधार पर जाति से बहिष्कृत कर देना सरल हो गया। फिर आगे बहिष्कृत व्यक्ति के लिए समाज का मार्ग बन्द हो जाता था, अतः ऐसे लोगों में से अनेक मुसलमान हो जाते थे और कोई-कोई बहिष्कृत जीवन ही बिताते रहते थे। कुछ अपने से निम्न जातियों में भी मिल जाना चाहते थे। पर समस्या यह थी कि निम्न जातियाँ भी ऐसों को अपने में नहीं मिलाती थीं। इस प्रकार शूद्रों की संख्या में कुछ वृद्धि हुई। उनका सामाजिक स्तर निम्न माना जाता था। सवर्ण हिन्दुओं से उनका दूर का ही सम्बन्ध रह गया था। वे भी अपने को इतना हेय समझते थे कि अलग ही रहा करते थे। उनका रोटी-बेटी का सम्बन्ध अपने ही वर्ण में हो सकता था चूँकि भारत में प्रायः पैतृक उत्तराधिकारी का नियम चलता था अतः स्त्री का विवाह जिस वर्ण के पुरुष के साथ हो जाता था, वह उसी वर्ण की मानी जाती थी और उसकी सन्तान भी उसी वर्ण की उपाधियाँ धारण कर लेती थी। जब तक देश पराधीन रहा तब तक तो इन विषयों का वर्गगत सामाजिक महत्व मात्र था, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो जनसंख्या का राजनैतिक महत्व बढ़ गया। अतः हरिजनों को हिन्दू धर्म का अंग बनाये रखने के लिए सामाजिक और राजनैतिक प्रयास होने लगे। उनकी शिक्षा पर ध्यान दिया गया। उनकी आर्थिक दशा सुधारने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया गया। राजकीय नौकरियों में उनके लिए स्थान सुरक्षित रखे जाने लगे। उनकी गन्दी बस्तियों को व्यवस्थित करने की योजनाएँ बनीं। मजदूरी बढ़ाने का उपाय किया गया। अतः समाज की स्थिति में परिवर्तन आने लगे। हरिजनों के लाभ के लिए सरकार ने अनेक कानून बनाये। 'हरिजन कल्याण' नाम से एक विभाग खोला गया, जिसके द्वारा हरिजनों की समस्याओं को हल करने का मार्ग प्रशस्त हो रहा है।

सामाजिक समस्याओं के कारण—सामाजिक नियमों की कठोरता के कारण एक बार जब कोई व्यक्ति किसी कारणवश—खानपान तथा ब्याह-सम्बन्ध के मान्य स्तर से गिर जाता तो उसका समाज में अपमान होता था। ऐसी दशा में या तो ऐसे लोगों का एक अलग ही वर्ग ही बन जाता था या वे शूद्रों अथवा अन्य धर्मों में मिल जाते थे। इसका परिणाम यह भी होता था कि पारस्परिक विरोध बढ़ता था। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाने से आर्थिक विषमता बढ़ती गई तथा एक वर्ग अधिक दीन-हीन होता गया। धार्मिक संस्कारों में काफी कठोरता आ गई थी जिससे अन्तःजातीय सम्बन्ध कम हो गये। मुसलमान और ईसाई धर्म में सब लोग बराबर समझे जाते थे। उनमें जातीय बन्धन बहुत ढीले थे इससे हिन्दू धर्म की कठोरता लोगों को खलने लगी। सामाजिक स्थिति का लाभ लोगों को व्यावहारिक जीवन में प्राप्त होता था, अतः निम्न वर्गों में असन्तोष बढ़ने लगा। फलतः सामाजिक समस्याओं का विकास हुआ।

समाधान के उपाय—पहला उपाय यह है कि समाज के हर वर्ग को उन्नति करने का समान अवसर मिलना चाहिए, ताकि यथालाभ सन्तोष की स्थिति उत्पन्न

हो सके। सबकी शिक्षा की व्यवस्था समान स्तर पर होनी चाहिए। आरम्भिक और माध्यमिक शिक्षा को व्यय-मुक्त बनाने का उपाय करना चाहिए। सामाजिक भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न होना चाहिए। पिछड़े वर्गों को ऊपर उठाने का प्रयास और उनकी आर्थिक दशा को सुधारने के उपाय होने चाहिए। कुछ लोग तो अन्तर्जातीय विवाह और खान-पान को बढ़ाकर वर्गहीन समाज बनना चाहते हैं। वर्गहीन समाज का स्वप्न मनुष्य को सम्भवतः पशुकोटि में पहुँचा सकता है। उसमें मानवता और नैतिकता के लिए कुछ स्थान रहेगा, यह सन्देहास्पद है। कुछ लोग मनुष्यों में भी पशुओं की तरह नस्ल परिवर्तन की बात करते सुने जाते हैं। इसका भविष्य कहाँ जायेगा, ईश्वर जाने। समाज का सुधार होना बुरा नहीं है, पर सामाजिक व्यवस्था का विनाश कदाचित ही श्रेयस्कर माना जा सके।

उपसंहार—सामाजिक समस्याओं का यदि उचित समाधान किया जाय और भारतीय जीवन के श्रेय और प्रेय पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो निश्चय ही कल्याण हो सकता है। किन्तु यदि विदेशों का अन्धानुकरण किया गया तो देश की सामाजिक व्यवस्था बिगड़ेगी और परिणाम दुखद होगा, इसमें शायद ही दो मत हों। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी मान्यताएँ होती हैं, जो राष्ट्र अपनी उन मान्यताओं पर ध्यान न देकर दूसरों का अन्धानुकरण करता है, वह कभी भी अपनी समस्याओं को सुलझा नहीं सकता। जिस भारतीय संस्कृति का देश-विदेश में गुणगान हो रहा है, उसकी मूल-प्रवृत्ति पर विचार किये बिना कोई भी कदम लाभकर नहीं होगा। सामाजिक जीवन में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों पर ध्यान देना आवश्यक होता है। ये ही जीवन के पक्ष हैं। भारतीय दर्शन समाज और संस्कृति दोनों में समन्वय को प्रश्रय देती है, और यही कल्याणकारी मार्ग भी है, अतः इसी आधार पर सामाजिक समस्याओं का समाधान होना चाहिए।

६६. भारत में जनसंख्या की समस्या

१—भूमिका, २—जनसंख्या की वृद्धि का क्रम, ३—जनसंख्या एक समस्या के रूप में, ४—जनसंख्या को भोजन तथा काम देने का प्रश्न, ५—जनसंख्या की स्थिरता के उपाय, ६—अधिकाधिक जनसंख्या वृद्धि के परिणाम, ७—लाभ-हानि, ८—उपसंहार।

भूमिका—विश्व का इतिहास जनसंख्या की वृद्धि का इतिहास है। भारत के विषय में भी यही बात लागू होती है।

इधर लगभग २५०० वर्षों का इतिहास व्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है। तब से अर्थात् ईसा पू० तीसरी-चौथी शताब्दी से भारत की जो स्थिति ज्ञात होती है वह महाभारत के बाद की स्थिति है। महाभारतकाल भारतीय परम्परा के अनुसार द्वापर-युग का अन्तिम काल था। उस युद्ध के फलस्वरूप द्वापर-युग के सम्पूर्ण भौतिक विकास, आध्यात्मिक विकास तथा सैनिक विकास का एक 'प्रकार से नाश हो गया।

इस युद्ध का प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ा था। इस युद्ध में १८ अक्षौहिणी सेना का संहार हुआ था। यह युद्ध भारत में दिल्ली के समीप कुरुक्षेत्र के मैदान में लड़ा गया था। युद्धोपरांत देश का पतन होना प्रारम्भ हो गया। महाराज परीक्षित के राज्य-काल में बचे-खुचे व्यक्ति ही रह गये थे। इस युग में भी अनेक ऐसे युद्ध हुए जिनमें नर-संहार होता गया। उस समय में भी आबादी बढ़ती थी और उसी नियम से जिस नियम से आज बढ़ती है, फिर भी जनसंख्या समस्या बनकर कभी सामने नहीं आई। बीसवीं शताब्दी तक इसी प्रकार का परिवर्तन होता रहा और देश की जनसंख्या में अस्थिरता का अभाव सदैव से बना रहा। बीसवीं शताब्दी से भी दो महायुद्धों की विभीषिका आ चुकी है फिर भी आज विश्व के प्रायः सभी देशों के सामने यह समस्या आ रही है। किन्तु भारत के सामने इसका रूप अधिक स्पष्ट तथा भयंकर हो रहा है और चीन इससे ग्रस्त हो गया है।

जनसंख्या की वृद्धि का क्रम—जनसंख्या **ज्योमेट्रिकल प्रोग्रेशन** से बढ़ती है। अर्थात् एक स्त्री और एक पुरुष मिलकर दो हैं, और इन दोनों की सन्तानें यदि दो लड़के और दो लड़कियाँ हुईं तो चार हो जायेंगी; फिर उनकी तीसरी पीढ़ी में जाकर आठ बच्चे हो जायेंगे और चौथी पीढ़ी में सोलह हो जायेंगे। यह सामान्य क्रम है। इसी क्रम से सन् १९३०-३२ में जो आबादी भारत और पाकिस्तान को मिलाकर ३० करोड़ थी, वह सन् १९६२ में लगभग ६० करोड़ की हो गई है अर्थात् दूनी हो गई हैं। बीसवीं सदी का मानव समाज भौतिक क्षेत्र में विकास कर रहा है, अतः जीवन-क्रम द्रुतगति से परिवर्तित हो रहा है। लोगों के जीवन की आवश्यकताएं बढ़ती जा रही हैं, भौतिकवाद बढ़ रहा है। फलतः प्राकृतिक साधनों का अधिकाधिक उपयोग हो रहा है, फिर भी जनसंख्या के अनुपात में साधन नहीं बढ़ रहे हैं। अतः एक-एक समस्या ने अनेक समस्याओं को जन्म देना प्रारम्भ किया है। आज विश्व की सभी समस्यायें आबादी की समस्या से ही उत्पन्न हैं। अर्थशास्त्र के नियमानुसार जीवन-स्तर के निम्न होने पर बच्चों का जन्म अधिक होता है तथा जीवन स्तर ऊँचा होने पर बच्चों का जन्म कम होता है। इस नियम के अपवाद कम नहीं हैं। अतः जनसंख्या की वृद्धि ने समस्या का रूप धारण कर लिया है।

जनसंख्या वृद्धि समस्या के रूप में—आज भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या एक जटिल समस्या क्यों बन गई है। इस प्रश्न के उत्तर में हम कह सकते हैं कि प्रथम तो खाद्यान्न की उपज में अनुपाततः कम वृद्धि हो रही है, जिससे लोगों को भोजन देने की समस्या सबसे कठिन हो गई है। इससे मँहगाई दूर नहीं होती है। सोना और अन्य धातुओं के भाव अन्य वस्तुओं के भाव को संतुलित करते हैं। आज भी २ मन गेहूँ से इतना ही सोना खरीदा जा सकता है, जितना सन् १९३० में खरीदा जा सकता था। अन्य वस्तुओं के भाव के तेजी है। ये सभी समस्यायें जनसंख्या की वृद्धि से सम्बन्धित हैं। अतः यही सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या का दूसरा अंग बेकारी की समस्या है। बेकारी भी शिक्षितों की है। विकासवाद ने शिक्षितों को इस प्रकार बना दिया है कि अपमान तथा सामाजिक स्तर को निम्नता और स्पर्द्धा की भावना ने उन्हें देहाती काम के योग्य रहने नहीं दिया। फलतः वे ही अधिक बेकार भी माने जाते है और हैं भी। इस प्रकार और कई समस्याओं को लेकर वह समस्या चल रही है।

भोजन आदि का प्रबन्ध—प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने के लिए भोजन की आवश्यकता पड़ती है। हर वर्ष जितने आदमी सामूहिक रूप से बढ़ रहे हैं, उस अनुपात में अन्न की पैदावार तो बढ़ रही है, क्योंकि कृषि भूमि में अनुपाततः बहुत कम वृद्धि हो रही है। योजनाओं की सहायता से जितनी पैदावार बढ़ती है, वह आवश्यकता की ठीक ढंग से पूर्ति नहीं कर पाती। भविष्य में क्या हाल होगा, यह एक जटिल समस्या है। इसी प्रकार निवास-स्थान का प्रश्न भी है। वस्त्र की समस्या इतनी कठिन इसलिए नहीं है कि मिलों से तथा करघों से वस्त्रोत्पादन होता जायेगा। बेकारी बढ़ रही है। यह भी एक कठिन समस्या है। सभी को सरकार काम कैसे दे ? और कहाँ दे ? खेती पर कितना भार रुक सकता है ? इसकी भी एक सीमा है। अब साधन कम, मनुष्य अधिक हो गये हैं अतः बेकारी का बढ़ना स्वाभाविक ही है। औद्योगीकरण की होड़ सभी देश कर रहे हैं इसीलिए ऐसी सम्भावना है कि माल की उपज अधिक होने के फलस्वरूप व्यापक मन्दी आती ही है। वैज्ञानिक अनुसंधानों ने दूसरी तरफ व्यापक संहारकारी शस्त्रों का निर्माण किया है और आगे भी करते जा रहे हैं। शब्द गति से दूनी गति वाले लड़ाकू विमान बन चुके हैं। भारत भी दुनियाँ के अन्य देशों के समान ही उन्नति कर रहा है। यह समस्या भी सबके सामने समान रूप से ही है। फ्रान्स, स्विटजरलैण्ड आदि कुछ देश ऐसे अवश्य हैं जहाँ की आबादी स्थिर-सी है।

जनसंख्या के नियन्त्रण के उपाय—जनसंख्या को स्थिर बनाये रखने के लिए पाश्चात्य देश वैज्ञानिक दवाइयों का प्रयोग करते हैं, जिससे स्त्रियों को गर्भाधान होता ही नहीं है। आधुनिक युग में परिवार नियोजन के अनेक तरीके निकाले गए हैं। स्त्रियों के लिए लूप का प्रयोग और स्त्रियों और पुरुषों दोनों के लिए अनेक कृत्रिम उपाय गर्भाधान रोकने के लिए निकाले गए हैं। स्त्री व पुरुष दोनों का ही आपरेशन हो सकता है, जिसके बाद बच्चे नहीं पैदा होते। स्त्रियों की सौन्दर्य-भावना भी इस कार्य में सहायक हो सकती है। वे अधिक अवस्था में माता बनने की प्रवृत्ति बनावें तो भी कुछ लाभ हो सकता है। लोगों में वर्णाश्रम व्यवस्था की भावना बढ़ाने से सर्वाधिक लाभ हो सकता है। लगभग पचपन वर्ष की अवस्था में सब लोग परोपकार भावना से लोककल्याण का कार्य करें तो पर्याप्त लाभ हो सकता है। उनका यह कार्य आध्यात्मिक भावना से प्रेषित हो और उनके सरल जीवन निर्वाह का प्रबन्ध सरकार करे। यह सब कतिपय ऐसे साधन हैं जिनसे जनसंख्या में स्थिरता लाई जा सकती है।

परिणाम—जनसंख्या की वृद्धि से जहाँ अनेक समस्याएँ खड़ी होती हैं, वहाँ बहुत से लाभ भी होते हैं। जनसंख्या राष्ट्र की शक्ति कही जाती है। जन-बल से सरकार बड़े-बड़े कार्यों को कम समय में और कम व्यय में पूर्ण करा सकती है। देश-रक्षा तथा शान्ति व्यवस्था के लिए देश के पास उन्नत सेना तैयार हो सकती है तथा समयानुसार काम में लाई जा सकती है। हर प्रकार के उपयोगी कार्य के लिए काफी आदमी मिलते रहते हैं जिससे देश की सर्वाधिक उन्नति होती है। देश की जनता अपने व्यक्तिगत कार्यों को करके अपना जीवन-क्रम चला सकती है तथा सामूहिक कार्यों के लिए श्रमधन को लगा सकती है। इसके लिए जन-शिक्षा की व्यवस्थित

योजना बनाई जानी चाहिए तथा जनता को उचित शिक्षा दी जानी चाहिए। हर देश की प्रकृति भिन्न होती है, हर देश के निवासियों के संस्कार भिन्न होते हैं, उसके मानसिक भाव भिन्न होते हैं तथा उनके दृष्टिकोण भी भिन्न होते हैं, अतः राष्ट्रनायकों को देश की आत्मा को पहचान कर कोई ठोस कदम उठाना चाहिए अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि होगी तथा विघटनकारी शक्तियाँ भी नष्ट हो जायेंगी। जनसंख्या-वृद्धि उतनी विकट समस्या नहीं होती जितनी अनुपयोगी दृष्टिकोण से चलने वाले कथित नेताओं की नेतागिरी। नेताओं का दायित्व अधिक बढ़ जाता है, उन्हें प्रतिनिधि बनने का प्रयत्न करना चाहिए न कि 'डिक्टेटर'। क्योंकि बढ़ी हुई जनसंख्या में आवेश, भावना भी अधिक रहती हैं। उसमें भिन्नता भी रहती है अतः उसका झुकाव यदि गलत मार्ग पर हो जाता है तो वह घातक सिद्ध होता है।

उपसंहार—भारतवर्ष एक ऐसा देश है जहाँ लोग चिन्तनशील होते हैं। उनके स्वभाव में सरलता तथा भोलापन अधिक रहता है। अध्यात्मवादी विचार, आस्तिक भावना, और त्याग उनकी परम्परागत विशेषता है। कष्टसहिष्णुता, परिश्रम और उदारता से भारतीय कभी भी घबराते नहीं। वे आदर्शवादी तथा समन्वय-प्रिय होते हैं। आत्म-सम्मान रक्षा के लिए भारतीय प्रायः तैयार रहते है। ऐसे देश की जनसंख्या की वृद्धि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उतनी विकट समस्या नहीं होती जितनी कि अन्य देशों में। अभी भी भारतीय जनसंख्या कम-से-कम आधी शताब्दी तक अपना काम स्वावलम्बी होकर चला सकती है यदि अन्नोत्पादन और जनसंख्या वृद्धि को संतुलित रखा जाय। आजकल कितने गलत ढंग के प्रचारों से संघर्ष बढ़ाया जाता है, यह चुनाव-काल में सभी लोग देख चुके हैं। अतः बढ़ती हुई जनसंख्या से उचित और उपयोगी काम लेकर भारत भूमि को स्वर्ग भा बनाया जा सकता है।

६७. भारत में भिखारियों की समस्या

१ भूमिका, २—भारत में भिखारियों के विविध वर्ग, ३—भिक्षुक समस्या के कारण, ४—समस्या के विविध पहलू और उससे देश की होने वाली हानि, ५—समस्या का हल, ६—उपसंहार।

भूमिका—भिक्षुक अथवा भिखारियों की समस्या हमारे देश के लिए बहुत बड़ा अभिगत है। प्रत्येक नगर और गली तथा सड़कों पर कोई न कोई हमें अवश्य दिखाई दे जाता है। भिखारी हमारे लिए सबसे अधिक अपमान का कारण उस समय बनते हैं जब वे किसी विदेशी को देखकर उनसे कुछ प्राप्त करने के लिए टूट पड़ते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे अपने राष्ट्रीय सम्मान को बेचकर उसके समक्ष सारे देश को दीन-हीन बना देना चाहते हैं। भिखारियों का समूह हमें तीर्थ-स्थानों और ऐसे नगरों में बहुत अधिक देखने को मिलते हैं जहाँ लोग दान करने अथवा भ्रमण करने जाते हैं। मथुरा, वाराणसी, हरिद्वार, पौढ़ी, प्रयाग आदि ऐसे स्थान हैं, जहाँ जाने वाले व्यक्तियों को भिक्षुकों के समूह का सामना करना पड़ता है। पर्यटन

स्थलों पर जाने वाले पर्यटकों को भी इनसे संघर्ष करना पड़ता है। इस वृत्ति को ये अपनी जीविका अर्जन के लिए अपनाये हुए हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इनमें से असंख्य भिखारी ऐसे हैं जो शारीरिक दृष्टि से सब प्रकार से स्वस्थ हैं और कुछ काम करके जीवन अर्जन कर सकते हैं। उन्होंने इस व्यवसाय को संभवतः इसलिए अपना लिया है कि इसमें कुछ परिश्रम न करना पड़े और रोटी भी आसानी से मिल जाये। कभी-कभी इन भिखारियों के भेष में हमें कुछ जेबकतरे, लफंगे और चोर आदि भी मिलते हैं। उन्होंने शायद अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाने के लिए यह आवरण अपना लिया है। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि भिक्षुक समस्या अथवा भिखारियों की समस्या भारतवर्ष के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप है और राष्ट्र पर एक कलंक है।

विविध प्रकार के भिक्षु—भारतवर्ष में भिखारियों की जो विशाल वाहिनी देखने को मिलती है उसके अनेक रूप हैं। सामान्य रूप से उनको निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) निराश्रित एवं गृहहीन व्यक्ति, (२) शारीरिक दृष्टि से बाधित, पंगु और रोगग्रस्त व्यक्ति जो अन्य प्रकार से अपनी जीविका नहीं कमा सकते, (३) धार्मिक संगठनों और संस्थाओं से सम्बन्धित साधु-संन्यासी, इत्यादि (४) भिक्षा माँगने की कला में प्रशिक्षित अबोध बालक, (५) पेशेवर भिखारी, (६) भिखारी का आवरण धारण किये हुये लुच्चे-लफँगे, कामचोर, हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति आदि।

इन भिखारियों की विविध कोटि के विषय में थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त कर लेना अधिक उपयोगी होगा। इस जानकारी के अभाव में इस समस्या के समाधान के विषय में ठीक ढंग से विचार नहीं किया जा सकता।

निराश्रित एवं गृहहीन भिखारी ऐसे होते हैं जो सड़कों पर बैठकर अथवा खड़े होकर भीख माँगते हैं। भीख माँगना उनके लिए विवशता है। इसी प्रकार शारीरिक दृष्टि से बाधित लोग भी भीख माँगने के लिए विवश हो जाते हैं। रोगग्रस्त भीख माँगने के लिए विवश होते हैं।

हमारा देश एक धर्म-परायण देश है। इसमें बहुत समय से दान देने की प्रवृत्ति चली आ रही है। इस प्रवृत्ति का अनुचित लाभ उठाकर कुछ लोगों ने दान प्राप्त करना अपना अधिकार समझ लिया है। धार्मिक सम्प्रदान और संगठनों से सम्बन्धित लोग भीख माँगने को अपने एक व्यवसाय के रूप में अपना बैठे हैं। इन सम्प्रदायों और संगठनों से सम्बन्धित लोगों ने बड़े-बड़े अखाड़े और अड्डे बना रखे हैं। यह अखाड़े और अड्डे कुछ विशिष्ट स्थानों पर स्थित हैं। धार्मिक स्थलों पर तो ऐसे अखाड़ों और अड्डों की भरमार है। नागा संन्यासी तथा अन्य कोटि के भिक्षुक धर्म के नाम पर भीख माँगते हैं और आराम से रहते हैं। भारत की धर्म परायण जनता उनको भीख देना एक पुण्य कार्य समझती है। इस प्रकार एक परोपजीवी सम्प्रदाय का इस समाज में उदय हो गया है। यह प्राचीनकाल से चला आ रहा है।

भीख माँगना जीविका-निर्वाह का एक सरल साधन है। कुछ लोगों ने इसे व्यवसाय के रूप में अपना लिया है। भीख माँगने वाले इन व्यवसायियों ने अपने इस पेशे को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए बड़ी ही घृणित रीति अपनाई है।

कुछ बालकों को खरीद लेते हैं अथवा भगाकर ले जाते हैं। इन बालकों को वे भीख माँगने की कला सिखा देते हैं। जनता की दया और करुणा जगाने के लिए वे कभी-कभी इन बच्चों के अंग खंडित कर देते हैं अथवा विकृत कर देते हैं। यह नितान्त घृणित कार्य है और इसे सब प्रकार से दमन किया जाना चाहिए।

इस देश में कुछ ऐसी जातियाँ और सम्प्रदाय हैं जिनका पेशा ही भीख माँगना है। नट, बंजारे इत्यादि कुछ ऐसी जातियों के लोग हैं। इस जाति के लोगों की स्त्रियाँ मुख्य रूप से भीख माँगती हैं। यह कुछ काम भी करती हैं किन्तु इसके साथ ही भीख भी माँगती हैं। समाज के बीच में भीख माँगना इन लोगों के लिए एक सामाजिक परम्परा और प्रणाली बन गई है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, भीख माँगना जीविका निर्वाह के लिए एक सरल साधन है। इससे बिना परिश्रम किये हुए जीविका निर्वाह हो सकता है। इसी कारण अनेक ऐसे लोग जो हृष्ट-पुष्ट हैं, कमजोर और निकम्मे हैं, भिक्षावृत्ति को अपना लेते हैं। इनमें बहुत से कामजोर, उचक्के और लफंगे भी होते हैं। दिन में वे भीख माँगते हैं और भीख माँगने के कारण विविध घरों के सम्पर्क में आते हैं और वहाँ की जानकारी के आधार पर रात में चोरी इत्यादि करते हैं। कभी-कभी कुछ अपराधी जाति के लोग जो स्वयं भी भीख माँगते हैं, इस कार्य को अधिक करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में भीख माँगने वालों की विविध कोटियाँ हैं और भीख माँगने की समस्या इस देश की आर्थिक-सामाजिक समस्या है। कुछ लोग तो सामाजिक कुरीतियों के कारण भीख माँगते हैं, कुछ आर्थिक दृष्टि से बाधित होने के कारण भी माँगते हैं, कुछ लोग इसको जीविका अर्जन करने का साधन समझ-कर अपना लेते हैं और कुछ वंश-परम्परा से इस वृत्ति को अपनाये हुए हैं। इस वृत्ति ने आज वातावरण में एक सशक्त व्यवसाय का स्वरूप ले लिया है। अनेक भिक्षुओं ने अपने संगठन बना लिए हैं और कुछ धार्मिक स्थलों के पास अपने अड्डे भी स्थापित कर लिए हैं। अड्डे केवल भिखारियों के ही अड्डे नहीं हैं। कभी-कभी यहाँ अनैतिक व्यापार और व्यभिचार की घटनाएँ भी देखने को मिलती हैं।

भिक्षुक समस्या का निदान और निदान के उपाय—देश में भिखारियों की इतनी बड़ी समस्या इस देश के लिए एक कलंक की बात है। इसके साथ ही साथ इस व्यवसाय के कारण अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ भी सामने आ जाती हैं। भिखारी भिक्षा के द्वारा जो धन अर्जित करते हैं, उसे वे जोड़ते जाते हैं। अनेक ऐसी घटनाएँ सामने आई हैं कि मरने के बाद भिखारियों के पास हजारों रुपये निकले हैं। इससे देश की पूँजी एक जगह इकट्ठी हो जाती है। उसका चलन बन्द हो जाता है। इसका प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है। कामचोर और निकम्मे लोग जब भिक्षावृत्ति को अपना लेते हैं तो वे देश की प्रगति के लिए एक बहुत बड़ी समस्या लेकर सामने खड़ी कर देते हैं। देश उन्नति तभी कर सकता है जब यहाँ का प्रत्येक नागरिक परिश्रम करके धन अर्जित करे और देश को उन्नतिशील बनाये। इसके अभाव में देश की प्रगति सम्भव नहीं है। जब हम सड़कों पर असंख्या रुग्ण, शारीरिक दृष्टि से बाधित विकलांग लोगों को भीख माँगते हुए देखते हैं तो बरबस मन में देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के प्रति एक निन्दा का भाग जाग जाता है।

सामाजिक और शारीरिक दृष्टि से बाधित लोगों को संरक्षण और सुविधा प्रदान किया जाना चाहिये। कल्याणकारी राज्य की कल्पना इन लोगों को सुविधा और आश्रय प्रदान किये बिना साकार नहीं हो सकती। कभी-कभी बेकारी भी भीख मांगने का कारण बन जाती है। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देश की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में कुछ सुधार किया जाना चाहिए। भीख माँगने की वृत्ति अपना लेने के पश्चात् स्वाभिमान की भावना समाप्त हो जाती है। इसके साथ ही साथ भिखरियों के रूप में एक परोपजीवी वर्ग समाज में उदय हो जाता है। यह वर्ग समाज साधनों का अन्यायपूर्ण शोषण करता है और इस प्रकार समाज के लिए अनेक समस्यायें उत्पन्न कर देता है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि देश के स्वाभिमान के लिए, सामाजिक उत्थान और आर्थिक प्रगति के लिए भिक्षावृत्ति को समाप्त कर देना चाहिए। यदि इस वृत्ति को समाप्त नहीं किया जाता तो देश का चित्र विदेशों में अच्छे रूप में प्रस्तुत नहीं होगा। जो विदेशी यहाँ आते हैं वे सड़कों पर भिखारियों की भीड़ देख ऐसा समझ बैठते हैं कि शायद इस देश में भिखारियों के अतिरिक्त और कोई है ही नहीं। गुलामी के सैकड़ों वर्षों ने इस देश के स्वाभिमान को बहुत हद तक जर्जर बना दिया है। आजादी के बाद भी हम उस स्वाभिमान की पुनर्स्थापना नहीं कर पाये हैं। इसी कारण इस देश के नागरिक को किसी भी विदेशी के सामने हाथ फैलाने में कोई संकोच नहीं होता, बल्कि वह यह समझते हैं कि शायद विदेशी लोग यहाँ वालों की अपेक्षा अधिक दान कर जाएँगे। ऐसी स्थिति में सबसे पहली आवश्यकता यह है कि भिक्षा-वृत्ति को कानून द्वारा बन्द कर दिया जाना चाहिए। कुछ राज्यों में कानून बनाकर इस वृत्ति को बन्द कर दिया गया है, कुछ राज्यों की नगरपालिकाओं ने भी इस वृत्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। इसी कारण लोग उन नगरों की सीमाओं में भीख माँगते हुए नहीं देखे जाते।

भिक्षावृत्ति को बन्द कर दिया जाना इसलिए भी जरूरी है कि यह देश के और स्वयं के लिए भी घातक है। अनेक भिखारी अनेक संक्रामक और भयंकर रोगों से पीड़ित होते हैं। जब वे खुली सड़क पर बैठकर भीख माँगते हैं तो वे खुलकर अपने संक्रामक और भयंकर रोगों के कीटाणुओं का प्रसार भी करते हैं। अनेक अबोध बालक जो उनके पास से आ जाते हैं, बरबस ही उस बीमारी के कीटाणुओं को अपने साथ ले जाते हैं और इस प्रकार देश का भविष्य रोगग्रस्त हो जाता है।

कानून बनाकर भिक्षावृत्ति को बन्द कर देना चाहिए। यह इस समस्या के समाधान का एक पहलू है। इसके साथ ही साथ आवश्यकता इस बात की भी कि शारीरिक दृष्टि से बाधित लोगों के लिए जीविका की कुछ व्यवस्था होनी चाहिए कुछ ऐसे आश्रम स्थापित किए जाने चाहिये जहाँ इन भिखारियों को ले जाकर रख दिया जाय। उस आश्रम में रहने वाले ऐसे भिखारी जो किसी प्रकार का कुछ काम कर सकते हैं, उनसे वह काम लिया जाना चाहिए और उसके बदले में उनको आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। जो रोगग्रस्त अथवा शारीरिक दृष्टि से बाधित और विकलांग भिखारी है, उनके उपचार की व्यवस्था होनी चाहिए। जो असाध्य रोगों से पीड़ित हैं उनको बस्तियों से दूर एकान्त स्थलों पर ले जाकर रख देना

चाहिए। उनके लिये भी कुछ आश्रम बनाए जाना चाहिए। वहाँ उनकी जीविका की व्यवस्था होनी चाहिये। समाज और देश का यह दायित्व है कि वह अपने पीड़ितों और बाधित सन्तानों को दो जून भोजन अवश्य प्रदान करे। इसके बिना देश की समाजवादी व्यवस्था का सपना निरर्थक ही बना रहेगा।

देश में शिक्षा प्रसार और प्रचार के द्वारा ऐसा जनमत तैयार होना चाहिए कि लोग भिक्षावृत्ति को अपनाएँ ही नहीं। वे लोग जो भिक्षावृत्ति को अपनाने के लिये बाध्य हो जाते हैं, उनको भी इस वृत्ति से अलग करने के लिये प्रयास किया जाना चाहिए। नैतिक शिक्षा की इस प्रकार व्यवस्था होनी चाहिए कि हम समाज में परोपजीवी वर्ग का उदय न होने दें। यह परोपजीवी वर्ग हमारी सामाजिक और आर्थिक प्रगति के लिये सब प्रकार से घातक और कष्टकारी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भिक्षावृत्ति के उन्मूलन के लिये एक व्यापक योजना तैयार की जानी चाहिए। यह योजना केवल कानून के द्वारा ही तैयार नहीं की जा सकती। इसके लिये आवश्यक है कि कुछ सामाजिक आन्दोलन के द्वारा ही भिक्षावृत्ति की परिसमाप्ति इस देश से सम्भव है। ऐसा न होने पर देश का सम्मान और देश की स्वतन्त्रता सुरक्षित न होगी।

६८. शिक्षा का राष्ट्रीयकरण

१—भूमिक, २—शिक्षा का महत्व, ६—शिक्षा का वर्तमान स्वरूप, ४—शिक्षा का राष्ट्रीयकरण क्यों ? ५—शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के लाभ, ६—शिक्षा के राष्ट्रीयकरण से सम्भावित हानियाँ, ७—उपसंहार।

भूमिका—शिक्षा मानव जीवन का एक लघु रूप है। इसके साथ ही साथ वह भावी जीवन की तैयारी भी है। प्राचीन काल में भारत में तो यह व्यवस्था थी कि शिक्षा के लिए जीवन का एक अंश अर्थात् २५ वर्ष तक की आयु निर्धारित कर दी जाती थी। इस अवधि को ब्रह्मचर्य आश्रम के नाम से जानते थे। इस अवधि में नवयुवक ऋषि के पास आश्रय में जाकर शिक्षा ग्रहण करते थे और भावी जीवन की तैयारी करते थे।

आज भी सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में शिक्षा का महत्व अतुलनीय है। एक ओर तो शिक्षा के द्वारा मनुष्य अपने आपको भावी जीवन के लिए सन्नद्ध करता है तो दूसरी ओर शिक्षा के माध्यम से वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की प्रतिस्थापना की जाती है। मनुष्य और समाज के स्वरूप परिवर्तन का शिक्षा एक महत्वपूर्ण अभि-करण है।

आज प्रयोगों और अनुसन्धानों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि यदि किसी देश की शिक्षा प्रणाली ठीक ढंग की है तो वह देश अधिक प्रगति कर सकता है। इसके विपरीत यदि किसी देश की शिक्षा प्रणाली उत्तम नहीं है तो वहाँ प्रगति की

गति मन्द ही नहीं मन्थर भी हो जाती है और अपेक्षित सामाजिक और राष्ट्रीय आदर्शों की स्थापना सम्भव नहीं हो पाती। इस दृष्टि से शिक्षा का महत्व केवल व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं वरन् सामाजिक जीवन में भी है।

शिक्षा का वर्तमान स्वरूप—शिक्षा का वर्तमान स्वरूप बहुत हद तक अँग्रेजी शासन की देन है। देश के स्वतन्त्र होने के बाद उसमें कुछ परिवर्तन आये हैं, किन्तु वह परिवर्तन ऐसे नहीं कहे जा सकते कि वह देश की वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के सर्वथा अनुरूप हों। आज भी शिक्षा देने का दायित्व व्यक्तिगत क्षेत्र को सौंपा हुआ है। विश्वविद्यालय तो अपनी स्वायत्त सत्ता के कारण स्वतन्त्र रूप से शिक्षा देने की व्यवस्था करता है। बुद्धिजीवी वर्ग का केन्द्र होने के कारण ये विश्वविद्यालय समाज के प्रति अपने दायित्वों के लिए सजग है, किन्तु प्राथमिक और माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा के भी दो क्षेत्र हैं—एक क्षेत्र तो सरकारी अथवा राजकीय है, दूसरा क्षेत्र व्यक्तिगत। राजकीय क्षेत्र में जो शिक्षा की व्यवस्था की जाती है उस पर केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार का नियन्त्रण होता है। इन विद्यालयों के प्रशासन और संचालन का दायित्व सरकार का होता है। व्यक्तिगत क्षेत्र में जो विद्यालय विद्यमान हैं उनमें यद्यपि राजकीय अनुदान उपलब्ध होता है किन्तु प्रशासन और संचालन का अधिकार कुछ व्यक्तियों अथवा संस्था का होता है। आज वास्तविक स्थिति यह है कि व्यक्तिगत क्षेत्र के अधिकांश विद्यालय सरकारी अनुदान और विद्यार्थियों से उपलब्ध शुल्क के द्वारा ही चलते हैं। निस्सन्देह एक समय था जब उदारचेता लोगों ने दान देकर इन विद्यालयों की स्थापना की थी किन्तु आज उनके संचालक उन संस्थाओं के धन को व्यक्तिगत उपयोग के लिए न ले आयें यही बहुत बड़ी कृपा वह विद्यार्थियों और अभिभावकों पर कर सकेंगे। व्यक्तिगत क्षेत्र के विद्यालयों की कुव्यवस्था की कहानी सर्वविदित है। सभी लोग जानते हैं कि इन विद्यालयों में विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए अपेक्षित सारी सुविधाएँ नहीं मिलतीं—अध्यापकों को अपेक्षित धन समय से नहीं मिलता और शिक्षा संस्थाओं में आजकल कुछ इस प्रकार का दूषित वातावरण उत्पन्न हो गया है कि विद्यार्थियों के मन पर उनका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ रहा। समाज के प्रति उन शिक्षा संस्थाओं का जो दायित्व है उनके लिए इनके संचालक और प्रकाशक कदापि सजग नहीं हैं। वे सजग हैं केवल अपने स्वार्थ-साधन के लिए। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सभी विद्यालय और उसके प्रशासक और संचालक ऐसे हैं। निःसन्देह कुछ विद्यालय और प्रशासन अपवाद भी हैं, किन्तु इन अपवादों के आधार पर नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता।

माध्यमिक विद्यालयों की भाँति ही प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी बहुत कुछ यही दशा है। पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में तो दशा और भी खराब है। उस क्षेत्र में तो कुछ महत्वाकांक्षी और स्वार्थी लोगों ने पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की एक शृंखला सी स्थापित कर रखी है और उनके माध्यम से वे यथेष्ट धन अर्जित करते हैं। वे उन शिक्षा संस्थाओं में भारतीय आदर्शों के अनुरूप शिक्षा तो देते ही नहीं, साथ ही साथ कुछ ऐसी परिस्थितियों को भी उत्पन्न करते हैं जिससे समाज का हित नहीं होता है।

इन संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी संस्थाएँ भी हैं जिनका संचालन कुछ धार्मिक संस्थाओं के द्वारा होता है। निस्सन्देह इनमें कुछ संस्थाओं में उत्तम कोटि की शिक्षा दी जाती है। वहाँ का वातावरण भी अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ और उपयोगी होता है, किन्तु वहाँ का वातावरण एक निश्चित भावना और उद्देश्य से प्रेरित होता है। इन धार्मिक संस्थाओं के संचालकों का एक मुख्य उद्देश्य होता है धर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना और अपने धर्म के अनुयायियों के लिए एक विशिष्ट प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था करना। संविधान द्वारा भाषाई तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों को कुछ विशिष्ट अधिकार शिक्षा आदि के सन्दर्भ में दिए गये हैं। इन अधिकारों के द्वारा यह अल्पसंख्यक वर्ग अपने बालकों की शिक्षा की व्यवस्था करता है। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि जो वह कार्य करते हैं वह सर्वथा वैधानिक हैं, किन्तु इन संस्थाओं के द्वारा संचालित कुछ शिक्षा संस्थाओं में जो शिक्षा दी जाती है वह भारतीय वातावरण से सर्वथा पृथक है। वहाँ चीनी साहित्य की कहानियाँ तो पढ़ाई जाती हैं किन्तु महात्मा गांधी के सिद्धान्तों की शिक्षा बहुत कम दी जाती है। ऐसी दशा में इन शिक्षा संस्थाओं की उपयोगिता के विषयों में भी प्रश्नवाचक चिह्न लग जाता है।

शिक्षा के राष्ट्रीयकरण की माँग—उपर्युक्त परिस्थितियों से बाध्य होकर कुछ शिक्षाविदों, शिक्षकों और शिक्षक संगठनों ने यह माँग की है कि शिक्षा का राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिए। राष्ट्रीयकरण से उनका तात्पर्य यह है कि शिक्षा व्यक्तिगत इजारेदारी के क्षेत्र से बाहर निकाल ली जाय और वह समाज के प्रतिनिधियों को सौंप दी जाय। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि शिक्षा पर राज्य और समाज का नियंत्रण हो और देश के आदर्शों के अनुरूप शिक्षालयों का संगठन हो, और शिक्षा उन्हीं आदर्शों की स्थापना करे जो देश के लिए हितकर हों। कुछ लोग राष्ट्रीयकरण का अर्थ समझते हैं सरकारीकरण अथवा शिक्षा पर सरकारी यन्त्रों अथवा एक विभाग विशेष का नियन्त्रण हो जाना। इस प्रकार की व्यवस्था कदापि सुखद नहीं कही जा सकती। जहाँ इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि शिक्षा पर राज्य और समाज का नियन्त्रण होना चाहिए, वहाँ इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि शिक्षा की स्वायत्तता और स्वतन्त्रता सुरक्षित रहनी चाहिए। यह कार्य तभी हो सकता है जब इसके लिए एक स्वतन्त्र संस्था की स्थापना की जाय। इसका एक उदाहरण 'जीवन बीमा निगम' है। यद्यपि जीवन बीमा निगम पर सरकारी नियन्त्रण है, किन्तु उसके प्रशासन और संचालन के लिए एक स्वतन्त्र संगठन है जिसे जीवन बीमा निगम कहते हैं। उस निगम को अपनी नीति निर्धारित करने का अधिकार होता है। इसी प्रकार शिक्षा की व्यवस्था के लिए भी एक स्वतन्त्र संस्था की स्थापना की जा सकती है। इस संस्था में शिक्षाविदों, शिक्षकों और अभिभावकों के प्रतिनिधि होने चाहिए। सरकार के प्रतिनिधि इसमें अवश्य हों इस संस्था को देश भर की शिक्षा के संचालन का दायित्व सौंपा जा सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य के लिए एक निगम की स्थापना की जा सकती है। इससे शिक्षा की स्वायत्तता और स्वतन्त्रता बनी रहेगी।

शिक्षा के राष्ट्रीयकरण से लाभ—शिक्षा एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ देश के लिए उपयुक्त नागरिकों का उत्पादन होता है। ऐसी स्थिति में इस पर समाज और राज्य

का नियन्त्रण होना आवश्यक है। आज हम यह स्वीकार करने लगे हैं कि जो राष्ट्र के लिए उपयोगी उद्योग और संस्थाएँ हैं उन पर सरकार और राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। सुरक्षा के लिए जो सामग्री उत्पन्न की जाती है वह सभी राजकीय क्षेत्र के उद्योगों में उत्पन्न की जाती है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि ताकि उस सामग्री की गोपनीयता बनी रहे और साथ ही साथ गुणात्मक ह्रास न हो। इसी प्रकार बेङ्कों का राष्ट्रीयकरण किया गया। यह इसलिए किया गया है ताकि देश को पूँजी को देश के उत्थान के लिए उपयोग में लाया जा सके। इस दृष्टि से शिक्षा पर राष्ट्र का नियन्त्रण और भी अधिक आवश्यक है। यदि शिक्षा-व्यवस्था राष्ट्र के आदर्शों के अनुरूप न होगी तो ऐसे नागरिक कदापि उत्पन्न न हो सकेंगे जो देश के आदर्शों को रक्षा कर सकें और देश के प्रति अपने दायित्वों के प्रति सर्वथा जागरूक रहें।

शिक्षा के क्षेत्र में विविधता के लिए पूरा स्थान होता है। किन्तु यह विविध पाठ्यक्रम के क्षेत्र में ही ग्राह्य हो सकता है और वह भी इसलिए कि ताकि विविध रुचि और प्रवृत्ति के बालकों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। विविधता के होते हुए भी सामान्य आदर्शों के अनुरूप शिक्षा प्रणाली का होना नितांत आवश्यक है। यदि सम्पूर्ण राष्ट्र की शिक्षा एकरूप न होगी तो देश की अखण्डता और सार्वभौमिकता की रक्षा में बाधा आ जायगी इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर भारत सरकार ने दौलतसिंह कोठारी शिक्षा आयोग की स्थापना की थी। इस आयोग का मुख्य उद्देश्य था राष्ट्र की शिक्षा पद्धति का संशोधन करना और उसकी आवश्यकताओं को सरकार और देश के सामने लाकर रख देना। यह सब उसी दशा में सम्भव है जब शिक्षा पर राज्य और समाज का नियन्त्रण हो।

सम्पूर्ण देश के लिए यदि एकरूप शिक्षा प्रणाली होगी तो सभी शिक्षार्थियों को समान रूप से सुविधा उपलब्ध होगी और उनको शिक्षा सम्बन्धी योग्यता सम्पन्न शिक्षक उपलब्ध होंगे। यदि सभी कहीं एक जैसी शिक्षा व्यवस्था न होगी तो इससे नागरिकों के समान रूप से विकास में बाधा पड़ेगी। यह स्थिति देश के लिए और समाज के लिए किसी भी दशा में उपयोगी और हितकर नहीं कही जा सकती। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयकृत शिक्षा ही देश के लिये कल्याणकारी और उपयोगी हो सकती है। हमारा देश जनतांत्रिक समाजवाद के प्रति संकल्पबद्ध है। इस प्रकार की सामाजिक रचना तभी सम्भव हो सकती है जब शिक्षा व्यवस्था इसके आदर्शों के अनुरूप तैयार की गई हो। दुर्भाग्यवश हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली समाजवादी आदर्शों के अनुरूप नहीं है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब शिक्षा पर राष्ट्र और समाज का नियन्त्रण हो। राष्ट्र और समाज के नियन्त्रण के पश्चात् शिक्षा व्यवस्था को जनतांत्रिक समाजवाद के आदर्शों के प्रति निष्ठावान बनाया जा सकता है। आज शिक्षा पर अधिकांश नियन्त्रण व्यक्तिगत संस्थाओं के हाथ में है। इन व्यक्तिगत संस्थाओं में कुछ स्वार्थी तत्व हैं जो यह कभी नहीं चाहते कि देश में समाजवाद की स्थापना हो। ऐसी स्थिति में वे अपनी शिक्षा संस्थाओं में समाजवाद विरोधी शिक्षा देंगे। शिक्षा वास्तव में एक दातव्य कृत्य बन गया है। बड़े-बड़े धनीमानी लोग आयकर तथा अन्य प्रकार के करों से कुछ छूट प्राप्त करने के लिए कुछ शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करते

हैं। इन शिक्षा संस्थाओं के माध्यम से एक ओर तो वह अपनी विचारधारा का प्रचार करते हैं और दूसरी ओर वे अपना हित साधन करते हैं। यह बात समाजवादी समाज की स्थापना में सर्वथा बाधक है।

संक्षेप में सभी परिस्थितियों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिक्षा पर राज्य का अथवा सरकार का नियन्त्रण होना चाहिये। उसी दिशा में देश का हित सम्भव है। नियन्त्रण में लेने के पश्चात् शिक्षा स्वायत्तता की और स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए एक स्वतन्त्र संगठन की स्थापना कर उसे इसके प्रशासन का दायित्व सौंप देना चाहिये। यदि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जैसी स्वायत्त सत्ता सम्पन्न संस्थाएँ कार्य कर सकती हों तो उनके माध्यम से शिक्षा का संचालन किया जा सकता है।

राष्ट्रीयकरण से संभावित हानियाँ—जो लोग शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के पक्षपाती नहीं हैं वे इस बात की आशंका प्रकट करते हैं कि शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बहुत सी हानियाँ हो जायेंगी। उनके विचार से शिक्षा के राष्ट्रीयकरण द्वारा निम्नलिखित हानियाँ सम्भव हैं :—

(१) **व्यक्तिगत सहयोग का अभाव**—अभी तो शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के साथ-साथ कुछ व्यक्तिगत संस्थाएँ भी योगदान करती हैं। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इन व्यक्तिगत संस्थाओं का कोई उपयोग नहीं रह जायगा। वे किसी भी प्रकार का सहयोग सरकार को देने के लिये तैयार न हों।

(२) उनका यह तर्क है कि इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ह्रास होगा। शिक्षा के क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए स्थान रहना चाहिये। किन्तु इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाज और देश के हित के ढाँचे के अन्तर्गत ही हो सकती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कोई पूर्ण वस्तु नहीं है। उसका एक सापेक्षिक महत्व है। इस कारण उस पर नियन्त्रण लगाना उस स्थिति में कदापि अनुचित नहीं कहा जा सकता जब उससे व्यापक हित होता हो।

(३) शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के विरोधियों का यह भी तर्क है कि राष्ट्रीयकरण के पश्चात् सरकारी नियंत्रण हो जायगा। ऐसी स्थिति में शासक दल अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए शिक्षा के यंत्र का प्रयोग करेगा और इस प्रकार छात्रों के व्यक्तित्व का विकास कुंठित हो जायगा। इसके साथ ही साथ ऐसी शिक्षा से अधिनायकवाद की प्रवृत्तियों के बढ़ने की संभावनाएँ भी हैं। इस तर्क को भी पूरी तरह मान्यता नहीं दी जा सकती। वास्तविकता यह है कि यदि शिक्षा पर समाज अथवा राष्ट्र का नियन्त्रण हो जाता है तो उसकी स्वतन्त्रता और स्वायत्तता की रक्षा की जा सकती है। इस बात का उल्लेख इससे पहले ही किया जा चुका है कि शिक्षा के प्रशासन का दायित्व एक स्वायत्त सत्ता निगम को सौंपा जा सकता है। वह निगम शिक्षा की व्यवस्था भी करेगा और उसकी स्वतन्त्रता को भी सुरक्षित रखेगा। जनतांत्रिक शासन-प्रणाली में समाज अथवा राष्ट्र के नियन्त्रण में चले जाने के बाद भी शिक्षा के द्वारा अधिनायकवादी प्रवृत्तियों के प्रचार का साधन नहीं बनाया जा सकता। जनतान्त्रिक शासन-प्रणाली में संसद होती है और विभिन्न राजनीतिक दलों को शिक्षा सम्बन्धी नीतियों को निर्धारण के लिये पूरा अवसर मिलता है। संसद के बाहर भी

किसी अनुचित नीति के विरुद्ध जनमत तैयार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह भय किसी हद तक निर्मूल है।

उनका यह कथन है कि सरकार के पास इतने साधन नहीं हैं कि वह सारे देश की शिक्षा को अपने अधिकार में ले। यह सही है कि शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के लिए पूँजी की आवश्यकता होगी। किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वाले ऐसे लोगों ने जो शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के हिमायती हैं, इस विषय में भी हिसाब लगा लिया है। शिक्षा पर जो व्यय इस समय हो रहा है उनसे २५% अधिक व्यय करने के पश्चात् देश को एक स्वतन्त्र और राष्ट्रीय आदर्शों के अनुकूल शिक्षा प्रणाली प्रदान की जा सकती है। इस क्षेत्र में व्याप्त अपव्ययों को रोका जा सकता है। यह अपव्यय केवल मानवीय प्रतिभा के ह्रास के रूप में ही नहीं होगा वरन् उन साधनों के अनुचित उपयोग के कारण भी होता है जो व्यक्तिगत संस्थाएँ और कुछ व्यक्ति विशेष अपने हित साधन के लिए करते हैं। ऐसी स्थिति में यही उचित प्रतीत होता हैं कि शिक्षा का राष्ट्रीयकरण होना चाहिये तभी भारतवर्ष में समाजवाद और समाज में आदर्शों की सच्चे अर्थों में स्थापना सम्भव हो सकेगी।

६९. प्रचलित अन्ध-विश्वास

१—भूमिका, २—अन्धविश्वासों का क्षेत्र, ३—अन्धविश्वासों का स्वरूप, ४—भारतवर्ष और अन्धविश्वास, ५—अन्धविश्वासों को दूर करने के उपाय, ६—उपसंहार।

भूमिका—प्रकृति के रहस्य को आज तक मानव पूर्णतः समझ नहीं पाया। यद्यपि वह प्रकृति पर विजय प्राप्त करना चाहता है, परन्तु अब भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जो उसकी समझ में नहीं आती हैं। यह प्रकृति की दुर्जेयता के कारण है। ज्यों-ज्यों प्रकृति के रहस्यों को हम समझते जा रहे हैं, अन्धविश्वासों को दूर हटाते जा रहे हैं, परन्तु फिर भी हमारे रक्त में यह भावना व्याप्त है जो पूर्ण रूप से मिटाए नहीं मिटती।

अन्धविश्वासों का क्षेत्र—विश्व के प्रत्येक भाग में कुछ अन्धविश्वास अवश्य प्रचलित है। जहाँ शिक्षा की कमी है, वहाँ अन्धविश्वासों की संख्या अधिक है। आज भी बहुत से अशिक्षित व्यक्ति जन्त्र-मन्त्र, टोने-टुटके आदि में विश्वास करते हैं। अधकचरी बुद्धिवाले अन्धविश्वास के लिये शक्तिशाली नींव का निर्माण करते हैं। बहुत से शिक्षित व्यक्ति ऐसे हैं जो भाग्यवादी होकर अन्धविश्वास का शिकार हो जाते हैं। मूर्खता के साम्राज्य में अन्धविश्वासों की तानाशाही है। प्रगतिशील देशों में भी ऐसे अनेक मूर्ख मिल जायेंगे जो उनके शिकार हैं।

अन्धविश्वासों का स्वरूप—अन्धविश्वास कई प्रकार के होते हैं—कुछ जातिगत, कुछ धर्म सम्बन्धी, कुछ सामाजिक और कुछ विश्व-व्यापी। किसी विशेष जाति के लोग कुछ अच्छे कार्यों को नहीं करते क्योंकि वे समझते हैं कि पहले इन

कार्यों के करने से उन्हें कष्ट हुआ था, अतः अब भी होगा। धर्म के अशिक्षित ठेकेदार भी अन्धविश्वास फैलाते हैं। हम पर जब कोई मुसीबत आती है तो हम उसे दूर करने के बजाय पण्डितजी को अपना हाथ दिखाते हैं। यह अन्ध-विश्वास नहीं तो और क्या है। सामाजिक अन्धविश्वास भी अत्यधिक प्रचलित है। यदि हमें सोना पड़ा हुआ मिल जाय तो हम समझते हैं कि महान् अनिष्ट होने वाला है। यदि रास्ते में चलते समय कोई छींक दे तो हम तुरन्त रुककर एक गिलास पानी पी लेते हैं। कुछ अन्धविश्वास विश्वव्यापी होते हैं। सभी देशों के लोग उनका स्वागत करते हैं। अशिक्षित भारतवासियों को जाने दीजिए, बहुत अंग्रेज भी होटलों में १३ नम्बर के कमरे में ठहरना पसन्द नहीं करते।

इस प्रकार अन्धविश्वासों के अनेक प्रकार हैं—**जन्तर-मन्तर, टोना-टुटका, शकुन-अपशकुन** आदि। इन पर हमारा बहुत अधिक विश्वास रहता है। यात्रा के लिए चलते समय, विद्या-पाठ करते समय, सोते-जागते, उठते-बैठते, हम शकुनों एवं नक्षत्रों का विचार करते हैं। चलते समय यदि किसी ने छींक दिया तो हम रुक गये और कहने लगे—

छींकत नहाय, छींकत खाय। छींकत पर-घर कबहुँ न जाय॥

जाते समय भी किसी ने पानी भरा लोटा गिरा दिया तो अपशकुन समझ, कर उसे लोग गाली देना शुरू कर देते हैं। बिल्ली के रास्ता काटने को हम बुरा समझते हैं। घर से चलते समय दिक्शूल का विचार करते हैं।

भारत और अन्धविश्वास—भारतवर्ष तो अन्धविश्वासों का घर है। यहाँ के अशिक्षित भोले-भाले किसान टोने-टुटके पर बहुत अधिक विश्वास करते हैं। गाँव के ओझा-पण्डित उनके सबसे बड़े डाक्टर और हितैषी होते हैं। किसी किसान की भैंस यदि दूध देना बन्द कर देती है तो उसकी दवा करने के बजाय पण्डितजी के पास ग्रह-दशा पूछने जाता है। भूत-प्रेत में भी हमारा बहुत अधिक विश्वास है। अनेक रोगों को हम दैवी रोग समझ कर उनका उपचार नहीं करते। इस प्रकार अनेक अन्धविश्वास भारतवर्ष में प्रचलित हैं। भारत में शिक्षित व्यक्ति भी अभी इन अन्धविश्वासों से छुटकारा नहीं कर पाये हैं। भौतिक-शास्त्र में स्नातक की डिग्री प्राप्त करने वाले विद्यार्थी भी अपने भविष्य को पूछने के लिए ओझा-पण्डित के पास जाते हैं। आज भी हम घर से महत्वपूर्ण कार्य करने के लिए जाते हैं तो पानी से भरा हुआ लोटा दरवाजे पर रख दिया जाता है। घर में यदि बिल्ली रोने लगी तो हमारी मौत आ जाती है। यह सब अन्धविश्वास नहीं तो और क्या है?

अन्धविश्वास को दूर करने के उपाय—अब प्रश्न उठता है कि इन अन्धविश्वासों को दूर कैसे किया जाय? यह बड़ा दुष्कर कार्य है। परन्तु व्यावहारिक शिक्षा उनको दूर करने में बहुत अधिक सहायक हो सकती है। हम जितनी अधिक शिक्षा का प्रचलन करेंगे, अन्धविश्वास हमसे दूर होता जाएगा। साथ ही आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने धर्मग्रन्थों की भाग्यवादी विचारधारा को त्याग कर गीता के कर्मवाद को अपनायें। जहाँ कर्म है वहाँ अन्धविश्वास नगण्य है बाबा तुलसीदास तो यहाँ तक कह गए हैं 'दैव-दैव आलसी पुकारा।' वैज्ञानिक ज्ञान का अभाव अन्धविश्वास का मूल कारण अतः इस ज्ञान के प्रचलन की अत्यधिक आवश्यकता है।

उपसंहार—अन्धविश्वास हमारा बहुत बड़ा शत्रु है। इसमें हमारा बड़ा अनिष्ट है। आज तक भारतवासी सूर्य ग्रहण में राहु और केतु की कल्पना करते हैं। श्री हक्सले महोदय इस अन्धविश्वास की आलोचना करते हैं कि भारतवासी शत्रु के चंगुल से अपने देश को छुड़ाने के लिए इतनी अधिक संख्या में एकत्र नहीं होते जितनी कि सूर्य को राहु से मुक्त कराने में। वास्तव में बात ठीक है। जितनी जल्दी हो सके अन्धविश्वासों को उखाड़ फेंकना चाहिए, इसी के हमारे समाज, हमारे देश और सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण है।

आज शिक्षा की वृद्धि और विज्ञान के विकास के कारण इन विश्वासों में कमी आ रही है। भारत के ग्रामीण-जन भी इससे मुक्त होते जा रहे हैं। यह देश की प्रगति के लिए शुभ लक्षण है।

७०. भ्रष्टाचार-उन्मूलन

१—भूमिका, २—भ्रष्टाचार के रूप, ३—भ्रष्टाचार के कारण, ४—भ्रष्टाचार को दूर करने के उपाय, ५—उपसंहार।

भूमिका—किसी भी राष्ट्र या संस्था की उन्नति में भ्रष्टाचार सबसे अधिक बाधक होता है। जहाँ भ्रष्टाचार है वहाँ कोई भी कार्य उचित रूप से नहीं हो पाता। दुर्भाग्य से भारतवर्ष में भ्रष्टाचार का वह बीज अंकुरित हो गया है जिसने केन्द्रीय व सभी प्रान्तों की सरकारों को किंकर्तव्य-विमूढ़ बना दिया है। आज प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टाचार का बोलबाला है। हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ इस भ्रष्टाचार के फलस्वरूप आशातीत सफलता नहीं प्राप्त कर पा रही हैं।

भ्रष्टाचार के रूप—मुख्यतः भ्रष्टाचार दो रूपों में देखने को मिलता है। **अनुचित और अनियमित रूप से आर्थिक लाभ प्राप्त करना और वैयक्तिक हितों के लिए सामूहिक हितों की अवहेलना करना।** सरकार के बड़े-बड़े कर्मचारियों से लेकर कचहरी के चपरासियों तक में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि ये बिना धन लिए कोई कार्य नहीं करते हैं। रिश्वत की परम्परा दृढ़ होती जा रही है। राजनीतिक क्षेत्र में तो इस भ्रष्टाचार ने यहाँ तक घर कर लिया है कि संसद के सदस्यों तक को खरीदा जा सकता है। यह प्रथम कोटि का भ्रष्टाचार है। द्वितीय कोटि के भ्रष्टाचार को बढ़ावा बड़े-बड़े उद्योगपतियों द्वारा मिलता है। दवा के अनेक व्यापारी अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए रद्दी दवाइयाँ बनाकर जनता का गला घोंटते हैं। अनेक मिलों के मालिक रद्दी कपड़ा बनाकर उसपर अच्छे कपड़े की मुहर डाल देते हैं। मिलावट तो आज हर जगह है। कोई भी चीज शुद्ध नहीं मिल सकती।

भ्रष्टाचार के कारण—भ्रष्टाचार के अनेक कारण हैं। मुख्य कारण तो यह है कि आज का युग इतना कर्म-प्रधान हो गया है कि कम धन से किसी की तृप्ति नहीं होती। इस भौतिकवादी समाज में धन ही श्रेष्ठता का मापदण्ड है। इसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक धन अर्जित कर अपने को सम्पन्न बनाने

का प्रयास करता है। बस के छोटे से कण्डक्टर से लेकर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर तक टेरीलीन पहिनने के इच्छुक रहते हैं। हमारी आवश्यकतायें इतनी अधिक बढ़ गई हैं कि उनको पूरा करने के लिए हम अनुचित साधनों का प्रयोग करने में नहीं हिचकिचाते।

भ्रष्टाचार हमें उत्तराधिकार में मिला है। परतन्त्र भारत में अंग्रेजों ने उन्हीं लोगों का सम्मान किया जो खुशामदी और भ्रष्टाचारी थे। दफ्तरों में बैठे हुए खूसट बुड्ढे जो जवानी में अंग्रेजों का खुशामद करते थे, आज हमारे नेताओं की खुशामद करके उन्हें भ्रष्टाचारी बना देते हैं।

कमरतोड़ मँहगाई ने भ्रष्टाचार को अधिक बढ़ावा दिया जो लोग रिश्वत नहीं लेते थे वे भी रिश्वत लेने को बाध्य हो गये।

भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने का उत्तरदायित्व बहुत कुछ हमारी न्यायप्रणाली पर भी है। हमने मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर कठोर दण्डों की व्यवस्था नहीं की है। मध्य-काल के प्रचलित कठोर दण्ड लोगों को भ्रष्टाचार से रोकते थे। भ्रष्टाचारियों के हाथ-पैर काट लिए जाते थे। परन्तु अब कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है। फलस्वरूप भ्रष्टाचारी व्यक्ति समझता है कि पकड़े जाने पर कुछ वर्ष की जेल ही होगी। दण्ड की यह उदार व्यवस्था भ्रष्टाचार को अधिक बढ़ावा देती है।

भ्रष्टाचार को दूर करने का उपाय—अब प्रश्न उठता है कि इस भ्रष्टाचार को दूर किया जाय ? यह एक बड़ा दुष्कर कार्य है और श्री गुलजारीलाल नन्दा ने जो अपनी कर्मठता, निष्ठा, सत्यवादिता के लिए प्रसिद्ध हैं गृहमन्त्री के रूप में इसको दूर करने का प्रयत्न किया था किन्तु सफल न हो सके।

भ्रष्टाचार को रोकने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि सभी विभागों में कार्य करने वालों के ऊपर एक ऐसा अधिकारी नियुक्त किया जाए जो कार्य के अनुसार एक समय-सारिणी बनाये तथा यह निरीक्षण करे कि सारा कार्य उन सारणियों के अनुसार होता है या नहीं। कार्य पूरा न करने वालों को कठोर दण्ड मिले। परन्तु यह केवल एक बाह्य उपाय है और इसके द्वारा प्राप्त सफलता स्थायी नहीं हो सकती। **भ्रष्टाचार को समूल समाप्त करने के लिए आवश्यकता हृदय परिवर्तन की है**। आधुनिक भौतिकतावादी समाज में आध्यात्मिक शिक्षा का कोई स्थान नहीं रह गया है। धार्मिक शिक्षा के अभाव में व्यक्ति व्यभिचार की ओर अग्रसर होता है। प्राचीन काल में भ्रष्टाचार के कम होने का कारण यह था कि लोग भ्रष्टाचार को पाप मानते थे और यह समझते थे कि ऐसा करने से उन्हें नर्क की प्राप्ति होगी। आधुनिक युग में यह भावनाएँ बदल गई हैं और लोग धर्म-अधर्म की चिन्ता नहीं करते। यदि ठीक प्रकार से धर्म की शिक्षा दी जाय तो निश्चय ही लोगों में हृदय परिवर्तन हो सकता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि यदि कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाय तो भ्रष्टाचार दूर हो जायगा। कुछ सीमा तक यह ठीक भी है परन्तु इस ढंग से दूर किया गया भ्रष्टाचार भी अस्थायी होगा और भारत जैसे प्रजातान्त्रिक देश के लिए इस ढंग को अपनाना उचित भी न होगा।

भ्रष्टाचार तभी दूर हो सकता है जब हमारे अन्दर दैनिक बल हो। अक्सर यह देखा गया है कि कुछ निर्धन व्यक्ति धनवान व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ईमानदार होते हैं। कारण यह होता है कि इन निर्धन व्यक्तियों में नैतिक बल का प्राधान्य होता है। इस बल को उत्पन्न करने के लिए समाज की मान्यताओं में परिवर्तन करना होगा और धन के महत्व को कम करना होगा। भ्रष्टाचार तभी दूर हो सकता है जब श्रेष्ठता का मापदण्ड धन न होकर योग्यता हो।

उपसंहार—भ्रष्टाचार को चाहे जैसे भी दूर किया जाये, उसे दूर अवश्य करना है। यह एक ऐसा रोग है जो हमारे सामाजिक ढाँचे को खोखला किये दे रहा है। हम सबका कर्त्तव्य है कि हम इसे समूल नष्ट करने के कार्य में जुट जायँ। इस क्षेत्र में विद्यार्थी वर्ग से बहुत आशा है और सारा देश उन्हीं की ओर निहार रहा है।

७१. बेकारी की समस्या

१—भूमिका, २—बेकारी का रूप, ३—आधुनिक शिक्षा-प्रणाली और बेकारी का सम्बन्ध, ४—वर्तमान समाज और बेकारी, ५—बेकारी एक समस्या रूप में, ६—बेकारी समस्या के समाधान के उपाय, ७—उपसंहार।

भूमिका—जब काम की कमी और काम करने वालों की अधिकता हो जाती है तब बेकारी की समस्या होती है। भारत एक कृषि-प्रधान देश है। लोग अधिकांशत: गाँवों में रहते हैं। इधर सदियों तक देश में विदेशी शासन रहा। शासकों ने जनता के एक वर्ग को बढ़ने का अवसर ही नही दिया, और वह वर्ग अपनी अशिक्षा, दीनता, मानसिक और बौद्धिक दुर्बलता हटा नहीं पाया। फलत: समाज में असमान आर्थिक व्यवस्था बन गई। स्वतन्त्रता के पूर्व अँग्रेजों के शासन-काल में भी यह क्रम ज्यों का त्यों चलता रहा। विभाजित रूप में भारत स्वतन्त्र हुआ और एकाएक देश में बेकारी एक समस्या बन गई। इस समस्या के अनेक कारण हैं। यह समस्या देश, जाति, समाज तथा व्यक्ति सबके लिए उस समय घातक हो जाती ह जब यह असन्तोष उत्पन्न करने लगती है। आज समाज में कतिपय ऐसी बातें आ गई हैं जिससे काम की कमी और बेकार लोगों की अधिकता हो गई है। अत: बेकारी एक समस्या बनकर राष्ट्र के सामने खड़ी है।

बेकारी का रूप—साधारण या उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति धन, समय, शक्ति आदि का व्यय करके सामान्य परिवार के ऊपर हजारों का कर्ज चढ़ाकर भी काम-दिलाऊ कार्यालय में लाइन लगाकर कई दिनों तक दस बजे सबेरे से ४ बजे शाम तक खड़ा रहने पर भी जब केवल बेकारी में नाम ही लिखा पाता है, तब उसके मन में इस संसार के प्रति विरक्त उत्पन्न हो जाती है तथा यह अपने जीवन को वास्तविक रूप से संसार के अयोग्य मान लेता है। वह यह भी निश्चय कर लेता है कि अब संसार मेरे योग्य नहीं रहा। इसका परिणाम यह होता है कि उनके मन में संसार के प्रति तथा अपनों के प्रति मोह और आकर्षण नहीं रह जाता। इसी भावना का फल है

कि भारत जैसे आध्यात्मिक देश में भी आत्म-हत्याओं की अधिकता होती है। कितने ही तो काम-दिलाऊ कार्यालय में जाना पाप समझते हैं। कितने पंजीकरण कराने के बाद भी जब कोई रास्ता नहीं पाते, तब किसी प्रकार से जीवन-निर्वाह का उपाय करते हैं तथा क्षण-क्षण अपमान-विष का पान करते रहते हैं। शिक्षित अशिक्षित सभी प्रकार के बेकार देखे जाते हैं पर उनमें शिक्षितों का प्रतिशत अधिक रहता है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली—अँग्रेजों को भारत में कुशल और सस्ते कर्मचारियों की आवश्यकता थी, अतः उन्होंने ऐसी शिक्षा-प्रणाली चलाई जिससे ऐसे लोग निकलते हैं, जो यदि नौकरी न करें तो काम करते हुए भी बेकार ही कहे जायँ। राजनैतिक अस्थिरता की चर्चा की जा चुकी है। इस शिक्षा-प्रणाली से न तो आध्यात्मिक सन्तोष और शान्ति उत्पन्न होती है, न भौतिक सफलता की कला आती है। इसमें काफी दिनों से इन्जीनियरिंग, कृषि, दस्तकारी आदि अनेक प्रकार के कला-कौशल की शिक्षा दी जा रही है, फिर भी यह रोग ज्यों का त्यों बना हुआ है। जहाँ आर्ट्‌स कक्षाओं से उत्तीर्ण छात्र बेकार दीखते हैं वहीं विज्ञान तक कला वाले भी। हाँ औसत उनका कम अवश्य रहता है, क्योंकि उनकी कक्षाओं में भर्ती ही कम होती है तथा वह शिक्षा भी सामान्य लोगों को असह्य रूप से मँहगी पड़ जाती है। इसका मूल कारण यह है कि शिक्षितों के लिए नौकरी के सिवाय दूसरा चारा ही नहीं रह गया है। पहली बात यह है कि कार्य की शिक्षा नहीं मिलती और जो लोग कृषि, इन्जीनियरिंग आदि पढ़कर निकलते हैं वे भी नौकरी के लिए दौड़ते हैं। साधन और पूंजी के अभाव में ऊँचे स्तर का कारोबार चला नहीं पाते, छोटे काम करने में विद्यार्थी जीवन के संस्कार तथा लोकमत की प्रचलित प्रवृत्ति बाधक होती है, फलतः शिक्षित लोगों को नौकरी की ओर दौड़ना पड़ता है। नौकरी करने वालों का बाह्य स्तर देखने में उन्नत मालूम होता है, अतः सभी लोग नौकरी चाहते हैं। हर मनुष्य में महत्वाकाँक्षाएँ होती हैं, जिनके वंशीभूत होकर लोग नौकरी की कोशिश करते हैं और नौकरी न मिलने पर बेकार कहे जाते हैं। इस प्रकार वर्तमान बेकारी का इस शिक्षा-प्रणाली से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामान्यतः लोगों का नैतिक स्तर गिरा हुआ है और जिससे सांसारिक सफलता को ही जीवन का ध्येय माना जाता है। यह प्रवृत्ति संक्रामक रूप से बढ़ रही है जो असंतोष उत्पन्न करती है और बेकारी को प्रोत्साहन देती है।

सामाजिक स्थिति भी आज ऐसी बन गई है कि बेकारी में सहायक हो रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में पढ़े-लिखे लोग यदि घर पर रहकर खेती का काम या कोई छोटा मोटा व्यवसाय करना चाहें भी तो नहीं कर पाते क्योंकि, प्रथम तो उन्हें सुविधा नहीं मिल पाती, दूसरे परम्परागत रूप से चली आती हुई व्यवस्था में परिवर्तन करना असम्भव हो जाता है और पारस्परिक विरोध पैदा होने की सम्भावना रहती है, अतः नौकरी योजना आवश्यक होता है। कुटीर उद्योग की कमी है, जिससे बहुत से आदमी बेकार हो जाते हैं। ग्रामीण को कला-कौशल का अभाव होने के कारण नौकरी के लिये दौड़ना पड़ता है। सामाजिक जीवन भी बेकारी बढ़ाने में सहायक होता है। बढ़ती हुई जनसंख्या तथा वर्तमान शिक्षा का संसार कष्ट की खान बन रहा है। परिणाम यह हो रहा है कि एक तरफ बेकारी बढ़ रही है, दूसरी ओर खेतों में काम करने

वाले मजदूरों की कमी पड़ रही है। इस प्रकार बेकारी बराबर बढ़ती ही जा रही है।

बेकारी समस्या के रूप में—इस समस्या की वृद्धि में भौतिकवादी जीवन के प्रति आकर्षण के अतिरिक्त शिक्षा-व्यवस्था, शिक्षितों की संख्या में वृद्धि, पाकिस्तान से शरणार्थियों का आगमन, विदेशों से भारतीयों का प्रत्यागमन इसके सहायक कारण हैं। वैज्ञानिक प्रगति और मशीनों के प्रयोग में वृद्धि ने भी इसमें योगदान किया है। मशीनों द्वारा काम होने से मनुष्यों की रोजी मशीनों के मालिकों के हाथ में चली जाती है। पूँजीपतियों की पूँजी बढ़ती जाती है और गरीबों की गरीबी। औद्योगीकरण से व्यवसायों का केन्द्रीकरण हो जाता है फलतः मन्दी और बेकारी आती है।

बेकारी की समस्या का समाधान—बेकारी बहुत भयंकर पाप है। भूख से व्याकुल मनुष्य कुछ भी कर सकता है। इसका दुःखद परिणाम भी राष्ट्र के सामने आ सकता है। अतः सरकार को विकेन्द्रित व्यवसायों एवं कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देना चाहिए। इसके लिए कुटीर उद्योग की शिक्षा देनी चाहिए तथा उसे चलाने में सहायता करनी चाहिए। इस कार्य में अधिक आदमी खपाए जा सकते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में बड़े कारखानों का बहिष्कार सम्भव नहीं है फिर भी ग्रामोद्योग की उन्नति की जानी चाहिए, तथा दैनिक व्यवहार की वस्तुओं को सस्ते में सुलभ करना चाहिए ताकि ग्रामीणों का जीवन कम व्यय में बीत सके और लोग देहात की ओर आकर्षित हों। उनके यहाँ शिक्षा-व्यय को घटना चाहिए, भूमि की व्यवस्था को स्थिर बनाना चाहिए ताकि किसान भूमि को अपनी स्थायी सम्पत्ति समझ कर उसकी उन्नति पर ध्यान दें। कृषि कार्य में स्पर्द्धा उत्पन्न करनी चाहिए, ताकि किसान खेतों की उन्नति में एक दूसरे से आगे निकलने की कोशिश करें। उन्हें पूँजी की, मशीनों की तथा अन्य साधना की सुविधा देनी चाहिए ताकि उनकी स्थिति में सुधार हो सकें, न कि भूमि कर बढ़ाकर उन पर और भार लादा जाय। उनकी शिक्षा-प्रणाली में सरलता, व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता को महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। इस प्रकार समस्या का समाधान हो सकता है। परिवार नियोजन और औषधियाँ भी सहायक हो सकती हैं। इनसे जनसंख्या की वृद्धि भी रोकी जा सकती है।

उपसंहार—देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुये यह अनिवार्य है कि बेकारी की समस्या को रोकने के लिए व्यक्ति और सामूहिक दोनों प्रकार के प्रयास किए जायँ। सरकारी और गैरसरकारी दोनों ही स्तरों से इसका प्रयास होना चाहिए। इस कार्य में तत्परता, ईमानदारी, पूरे बल से जुटाने की आवश्यकता है, अन्यथा इसका परिणाम भयंकर और घातक हो सकता है। यह एक कलंक है जिसे मिटाना अनिवार्य है। बेकारी मिटने पर देश का गौरव स्वतः बढ़ेगा।

७२. भारतीय किसान का जीवन

१—भूमिका, २—भारतीय किसान की रूपरेखा और दिनचर्या, ३—भारतीय किसान की कतिपय विशेषताएँ, ४—उसकी कुछ त्रुटियां, ५—उसकी कुछ परम्परायें, ६—उपसंहार।

भूमिका—भारत की अधिकांश जनता प्राचीन काल से ही गाँवों में रहती चली आ रही है। उनमें जो अधिक शक्तिशाली और बुद्धिमान होते थे, उनका एक दल बन जाता था। वे गाँव की रक्षा करते थे और सामान्य ग्रामीणों से सेवाएँ भी लेते थे। क्रमशः उनका प्रभाव आस-पास के गाँवों पर भी पड़ने लगा। इस क्रमिक विकास ने राज्य का रूप धारण कर लिया। उसका स्वामी राजा कहा जाने लगा, उसका रहन-सहन भी साधारण लोगों से ऊँचा रहने लगा। इस प्रकार से लोगों का जीवन अन्योन्याश्रित होता चला गया। फिर छोटे-छोटे गाँव अपनी स्थिति के अनुसार बड़े-बड़े नगरों में बदलने लगे और किसान खेती के योग्य भूमि देखकर फैलने लगे, जिससे नये-नये गाँव बसने लगे। इस प्रकार गाँव और नगर एक दूसरे से भिन्न हो गये। दोनों स्थानों के रहन-सहन में भी अन्तर पड़ने लगा। कृषि करने वाले किसान अपनी सुविधा के अनुसार गाँवों में रहने लगे। उनकी जीवनचर्चा भी भिन्न ढंग से चलने लगी। इस प्रकार से किसानों का जीवन एक ही धारा में चलने लगा। भारत वर्ष में कृषि-व्यवस्था प्रमुख थी। अधिक लोगों का जीवन खेती पर निर्भर था। आज भी भारत कृषि-प्रधान देश माना जाता है तथा भारत का वास्तविक चित्र गाँवों में मिलता है जहाँ की अधिकांश जनता किसान है।

भारतीय किसान की रूप-रेखा और दिनचर्या—अपनी परम्पराओं से लिपटा सीधा-सादा, अर्द्धशिक्षित, अर्द्ध-नग्न भारतीय किसान प्रातःकाल से सायंकाल तक अपनी खेती में लगा रहता है। दोपहर में लगभग दो घंटे वह भोजन और विश्राम में लगाता है। उसके कार्य विभिन्न प्रकार के होते हैं। उसको अपने बैलों और पशुओं की चिन्ता रहती है। यह साधारण भोजन करके और भी हँसता और सन्तोष से कार्य करता है। उसके बच्चे तथा परिवार के अन्य सदस्य भी यथाशक्ति उसके काम में सहायता करते हैं। बैल ही प्रायः उसके साथी और सहायक होते हैं। परस्पर के व्यवहार में वह प्रायः स्पष्टवादी होता है। वह अपनी बात को स्पष्ट रूप से कह देता है। छिपाव-लुकाव उसमें नहीं होता। वृक्षों की शीतल छाया में, वायु के मन्द-तेज प्रवाह में उसकी अधिकांश ग्रीष्म ऋतु कटती है। भीगते-भागते खेतों में काम करते हुए उसकी बरसात बीत जाती है। जाड़ा सभी को ठिठुरा देता है। जड़ पदार्थ भी ठंड से ठिठुरा जाते हैं। उस दशा में उसकी रक्षा के साधन भी सरल और सस्ते होते हैं। साधारणतया वह पुआल बिछाकर ऊपर से गन्दी चादर या गुदरी डालकर सो लेता है और ओढ़ने के नाम पर एक कम्बल या फटी-पुरानी रजाई से काम चला लेता है। घर में तथा द्वार पर आग का प्रबन्ध नित्य होता है। आग के सहारे कठोर जाड़े को वह सफलतापूर्वक पराजित कर देता है। इस समय यदि उसे भोजन-सामग्री का अभाव होता है तो वह गन्ने का रस, शकरकन्द, मक्का का दाना या मटर की कच्ची फलियों आदि से अपनी खाद्य समस्या का समाधान करता है। उसके स्वार्थ भी साधारण होते हैं। वह स्वभावतः बेईमानी और अन्याय से डरता है, पर अपनी छोटी सी वस्तु भी वह भरसक छोड़ना नहीं चाहता। चूँकि उसमें विवेक बुद्धि की कमी होती है, अतः कभी-कभी साधारण बात पर झगड़ा और मारपीट कर डालता है। मुकदमा और कचहरी उसके बड़े घातक शत्रु हैं। कचहरी में उचित-अनुचित सैकड़ों रुपये वह खर्च कर डालता है। पटवारी और पुलिस उससे पैसे यथावसर ले ही लेते हैं, लेकिन वह बेचारा स्वयं पाव भर सत्तू या दो पैसे के गुड़ पर दिन काट लेता है। यदि शहर में किसी

कारणवश रुकना पड़ा तो किसी छोटी दुकान पर सूखी रोटी खाकर भूमि पर सो रहता है। इसी प्रकार से वह अपना जीवन काटता है। दुनियाँ की हलचल और गति-विधि से वह प्राय: अनभिज्ञ रहता है। यदि कभी उसके खेत के ऊपर से कोई वायुयान घरघराता हुआ निकल जाता है तो वह आश्चर्य से थोड़ी देर तक देखकर फिर पूर्ववत् काम में लग जाता है। सप्ताह में एक दिन वह बाजार जाकर अपना नमक, तेल, कपड़ा वगैरह खरीद लाता है। बस यही उसकी सामान्य रूप-रेखा है। जूता तथा साफ कपड़ा तो उसे कहीं बारात या रिश्तेदारी में जाने के समय ही पहनने को मिलता है। उस समय यदि अपने पास सामान नहीं रहता तो माँगकर भी काम चलाने में नहीं हिचकता। परिवार में वह यथा-शक्ति कायम रखने के प्रयास करता है। उसका परिवार सामान्यतया सामूहिक रूप से पलता है। भोजन के विषय में सामान्यतया वह स्वाव-लम्बी होता है। उसकी गायें और भैसें दूध देती हैं जिनका उपयोग घर के लड़के बच्चे करते हैं। कभी-कभी हाकिम हुक्कामों की सेवा में जाता है, कभी देवी-देवताओं की पूजा में उपस्थित होता है : दूध का स्वाद वह कदाचित ही ले पाता है। पशुओं को चारा पानी कराना, खेती की देख-रेख करना, घर-बार ठीक करना आदि उसकी सामा-जिक दिनचर्या हैं।

भारतीय किसान की कतिपय विशेषताएँ—भारतीय किसान में स्वाभाविक उदारता तथा सरलता विद्यमान रहती है। बनाव सिंगार के लिए न तो उसे समय रहता है न साधन। मोटा अन्न और साधारण वस्तुओं से वह अपना काम चलाता है। वह केवल मटर खाकर तथा गेहूँ और चावल आदि बेंचकर अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वह भी अपनी स्थिति के अनुसार प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न करता है। बड़ों का सम्मान करना तथा उनकी सेवा करना वह अपना कर्तव्य समझता है। सहिष्णुता और कठिन परिश्रम उसके स्वभाव में सम्मिलित हो जाते हैं। उसमें धार्मिक भावनाएँ प्रबल होती हैं। वह ईश्वर से बहुत डरता है। अत: प्राय: वह बुराई से अपने को बचा लेता है। परम्पराओं और संस्कारों से उसका घनिष्ठ लगाव है। वह तर्कप्रिय कम और भावुक अधिक होता है। उसमें त्याग तथा अतिथि-सत्कार की भावना अधिक होती है। मोह भी उसमें कम नहीं होता।

भारतीय किसान की कतिपय दुर्बलताएँ—वह रूढ़िवादी होता है, जिससे वह नवीन आविष्कारों से पूरा लाभ नहीं उठा पाता। अपनी खेती को भी यह पुराने ढंग से ही करता रहता है। लोहे का हल चलाना, नये ढंग से बीज बोना, नयी खादों और कृषि व्यवस्था का प्रयोग करना उसे अच्छा नहीं लगता। यदि वह थोड़ी बहुत राजनीति में भाग लेने लगता है तो वह किसानों की उपेक्षा करने लगता है। साधारण कामों के लिए वह दिन व्यर्थ में गँवा देता है। सतर्कता के अभाव में उसका जीवन-क्रम इस परिवर्तन में पथ-भ्रष्ट हो जाता है। अशिक्षा उसकी सबसे बड़ी त्रुटि है। खेती प्रारम्भ करने के बाद उसको जो कुछ शिक्षा रहती है वह भी प्राय: समाप्त हो जाती है। दूसरा काम मिलने के कारण उसकी बुद्धि अपने काम में कम ही लगती है। अत: उसका काम अधिक लाभकारी नहीं होता।

उपसंहार—भारतीय किसान की परम्परा है कि वह अपने खेतों से विशेष मोह रखता है। वह शादी विवाह में अपनी हैसियत से अधिक व्यय करके कर्जदार बन

जाता है। मरनी-हरनी में वह पूर्णतया परम्परावादी होता है। जाति-धर्म का वह कट्टर समर्थक होता है और अपने अन्धविश्वासों को भी बनाए रखना चाहता है। संक्षेप में वह भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त संस्करण ही कहा जा सकता है। खेत में, खलिहान में, बाग-बगीचे में, यात्रा में वह सबसे मिल-जुल कर रहता है। पर खाने-पीने में और विवाह आदि में वह कट्टर रूढ़िवादी बन जाता है। रूखी-सूखी भोजन सामग्री को वह हाथ-पैर धोकर और अलग बैठकर खाना ही पसन्द करता है होटल में या दुकान पर न तो वह खाना खाता है, न खाना चाहता है। इसकी कल्पना ही उसे असम्भव सी दीखती है। इस प्रकार भारतीय किसान की अपनी विशेष परिपाटी है।

७३. भारतवर्ष में ग्राम-सुधार

१—भूमिका, २—भारत के गाँव और उनकी दशा, ३—गाँवों के पिछड़ेपन का कारण और उसे दूर करने के उपाय, ४—ग्राम-सुधार-योजना, ५—ग्राम-सुधार योजनाओं से लाभ, ६—उपसंहार।

भूमिका—महात्मा गाँधी ने कहा था कि भारत की आत्मा गाँवों में बसती है। अतः यदि भारत की उन्नति करनी है तो गाँवों का सुधार करना आवश्यक है। भारतीय इतिहास के जितने भी महान् शासक हुए हैं उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से ग्राम सुधार की योजनाएँ बनायीं और उनके अनुसार ग्राम-सुधार किया। चूँकि भारत की ८५ प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है, अतः कृषि उनका प्रधान कार्य है। उसके जीवन को अब तक सभ्यता का प्रकाश और विज्ञान का चमत्कार विशेष रूप से प्रभावित नहीं कर सकता है। ये गाँव अब भी प्रायः उसी दशा में पड़े हुये हैं जिस दशा में एक शताब्दी पूर्व थे। उनकी गति-विधि में अभी तक बहुत कम परिवर्तन आ पाया है और उनकी आय के साधन ज्यों के त्यों बने हुए हैं, जबकि जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि हो गई है। अतः प्रति व्यक्ति ग्रामीण-आय क्रमशः घटती जा रही है। जहाँ कुछ लोग शिक्षित होकर येन के न प्रकारेण नौकरी चाकरी करके कमाने लगे हैं, उनकी स्थिति अवश्य थोड़ी अच्छी दीखती है किन्तु जो केवल खेती पर ही आश्रित हैं उनकी दशा में कोई विशेष सुधार नहीं हो पाया है। इन सब परिस्थितियों को देखते हुए 'ग्राम सुधार' अत्यन्त आवश्यक है। ग्रामों की दशा सुधारने के लिए हमारी सरकार ने कुछ बड़े महत्वपूर्ण कार्य किये। आज भारत के बहुत गाँव जगमगा उठे हैं। उनमें राजनीतिक चेतना आ गई है। परन्तु अभी गाँवों की दशा सुधारने के लिए बहुत कुछ करना है।

भारत के गाँव और उनकी दशा- -भारत के गाँवों की दशा बड़ी विचित्र है। वहाँ मानव-जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी कठिनाई से प्राप्त होते हैं, सुविधाओं और आमोद-प्रमोद की तो कल्पना ही दुरूह है। ग्रामीण जनता के जीवन-निर्वाह का साधन है—कृषि, और इसकी स्थिति पूर्ववत् पिछड़ी

हुई दशा में है। ग्रामीणों के खेत पुराने ढंग से ही बिखरे हुए, ऊँचे-नीचे और अव्यवस्थित रूप में पड़े हैं। उनके हल-बैल, खाद, बीज, सिंचाई के साधन आदि सभी अपने पुरातन गौरव का प्रदर्शन करते देखे जाते हैं। उनके पशुओं की दशा, उनके आवास की व्यवस्था, उनके रहन-सहन की सुविधा आदि सभी कुछ प्रायः पूर्ववत् और अस्त-व्यस्त हैं। गाँवों की गन्दगी, कूड़ा-कर्कट की ढेरी, संकीर्ण और ऊबड़-खाबड़ मार्ग सभी यथापूर्व स्थिति में है। न तो ग्रामीणों को पूर्णतया पौष्टिक भोजन मिल पाता है, न पूरे साल के लिए साधारण वस्त्र। ऐसी दशा में हैं भारत के गाँव—जिनमें लगभग तीन चौथाई भारतीय निवास करते हैं। उनके जीवन का एक ही आधार है सन्तोष, भाग्य और भगवान् पर भरोसा। उनकी रुग्णावस्था में उपचार का कोई साधन नहीं, औषधि की व्यवस्था नहीं, केवल अरहर का जूस और नीम की पत्ती और छाल ही उनकी रामबाण दवा है। ये हैं भारत के मेरुदण्ड, गाँव।

गाँव के पिछड़ेपन के कारण और उसे दूर करने के उपाय—गाँवों में पिछड़ापन क्यों है? यह एक जटिल प्रश्न है। विदेशी शासकों ने अपनी दृष्टि को अपने हितों तक सीमित रखा। उन्होंने जमींदारों द्वारा गाँवों पर शासन कराया और मालगुजारी वसूल करायी। जमींदारों के कारिन्दे और सिपाहियों ने जनता से मनमाना लगान वसूल किया और उन्हें सुखी बनने का कभी अवसर ही नहीं दिया। उनमें शिक्षा का प्रचार बहुत कम हो पाया। शिक्षा की कमी के कारण ही भारतीय गाँव पिछड़े रह गये। अँग्रेजी राज्य में शिक्षा इतनी महँगी हो गई कि हम व्यय को सरलता से उठा नहीं सकते थे। अतः उनके बच्चे अशिक्षित या अर्द्ध शिक्षित होकर ही बढ़ते रहे। सरकार की दृष्टि उन तक पहुँची ही नहीं थी, फलतः राजकीय सहायता से वे निरन्तर वंचित रहे। स्वयं उनके पास इतना साधन नहीं था कि वे सुधार करते। उनकी अपनी परम्पराएँ भी थीं जो इन्हें पीछे ढकेलने का काम कर रही थीं। रूढ़िवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण भारतीय ग्रामीण अपनी दशा न सुधार सके। उनमें सहयोग की भावना का अभाव था अतः गावों की दशा दिन-प्रतिदिन गिरती ही चली गयी।

सन् १९३६ ई० में अँग्रेजों ने साधारण चुनाव कराया और १९३५ के सुधार-नियम के अनुसार कई प्रान्तों में काँग्रेस की सरकारें बनीं। इन नयी सरकारों ने ग्राम सुधार योजना को प्रारम्भ किया। इस योजना पर हो-हल्ला खूब मचा पर थोड़े ही दिनों में कांग्रेस सरकार के साथ ही इस योजना का भी एक प्रकार से अन्त हो गया। वैसे कागज पर यह विभाग आगे भी काम करता रहा। जनता ने ग्राम सुधार का नाम सुना और निराशा की आह भरी। ग्राम-सुधार में अत्यन्त सरल और व्यावहारिक उपाय हैं, यदि सरकारी कर्मचारी इन्हें काम में ले आवें तो पर्याप्त लाभ हो सकता है। प्रथम उपाय है कि किसानों के खेतों की चकबन्दी उन्हीं की राय और सुविधा के अनुसार की जाय। ग्रामीणों की भावना में परिवर्तन और सुधार आवश्यक हैं। इसके लिए उन्हें हर बात के लाभ को समझाना तथा उनसे सुधार कार्य को कराना आवश्यक है। सुधार कार्य में लगे कर्मचारियों को चाहिये कि उनके काम में बराबर आवश्यक सहयोग देते रहें ताकि नया काम करने में उनमें अभिरुचि और लाभ हो। जब उनको नवीन प्रणाली में स्पष्ट लाभ दिखाई पड़ेगा तब वे उत्साह से भविष्य में

कार्य करते रहेंगे, अन्यथा वे ग्राम-सुधार के कार्यों में सहयोग नहीं देंगे। जैसे जापानी ढंग से धान की खेती का, डिब्लर द्वारा गेहूँ बोने का प्रयोग कराया गया पर सरकारी कर्मचारियों ने उस कार्य में अन्त तक पूरा सहयोग नहीं दिया फलत: किसानों को अपेक्षित लाभ नहीं हुआ और उन लोगों ने उसको प्राय: आगे न बढ़ाया। इसी प्रकार ग्राम-सुधार की कोई भी योजना तभी सफल हो सकती है, जब उनकी भावना को समझकर उसके अनुकूल मार्ग को अपनाया जाय।

ग्राम सुधार योजनाएँ—ग्राम सुधार-योजनाओं का वर्गीकरण होना चाहिए। कृषि सुधार-योजना को प्राथमिकता देनी चाहिए, जिसके अनुसार सिंचाई, उन्नत कृषि और उन्नत बीज, उन्नत खाद और उन्नत ढंग आदि की उपादेयता समझानी और दिखानी चाहिये। सफाई की योजना का महत्व और लाभ समझाना और उदाहरण देकर दिखाना चाहिये। मार्गों को ठीक कराकर आवागमन को सरल और आरामदेह बनवाना, गाँवों में उन्नत जाति के साँड, भैंसे, आदि पशुओं को छोड़वाना तथा निम्नकोटि के पशुओं की वृद्धि रोकना, औषधालय तथा पशु चिकित्सालय का प्रबन्ध करना, प्रयोग के द्वारा प्रमाणित उपयोगी उपायों का प्रचार आदि ठीक ढंग से कराना, ग्रामीणों को आकस्मिक घटनाओं के समय ऋण दिलाने का प्रबन्ध करना तथा उसकी वसूली का अनुकूल अवसर भी निश्चित करना आदि ग्राम-सुधार योजना के मुख्य अंग हैं। बहुत से लोगों का विश्वास है कि ये योजनायें व्यर्थ हैं। जैसे चकबन्दी और सहकारी खेती के विषय में लोगों की धारणा बन रही है कि सरकार किसानों के खेत छीनकर खेती करना चाहती है। परन्तु यह सब धारणायें व्यर्थ हैं। वास्तव में यह समस्त योजनायें अत्यन्त उपयोगी हैं, हाँ आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें ठीक प्रकार से क्रियान्वित किया जाय। दोष योजनाओं में नहीं वरन् उन्हें क्रियान्वित करने वालों में है।

ग्राम-सुधार योजनाओं से लाभ—ग्राम-सुधार योजनायें यदि सविश्वास चलती हैं तो ग्रामीण जनता उससे सहयोग करती है और गाँवों की दशा में सुधार होता है। इस प्रकार उनकी आय में वृद्धि होगी, उनका रहन-सहन उन्नत होगा, आर्थिक स्थिति सुधरेगी और खेती में लोगों की अभिरुचि बढ़ेगी। फलत: बेकारी की समस्या नहीं उठेगी। गाँवों में कुटीर उद्योग का बढ़ावा मिलने से ग्रामीण जनता का खाली समय उपयोगी कामों में लगेगा। अन्न की उपज बढ़ने से देश की खाद्य समस्या का समाधान स्वत: हो जाएगा, हरिजन समस्या तथा सामाजिक समस्याएँ भी सामने नहीं आयेंगी। एक गरीबी स्वयं अनेक समस्याओं की जननी है अत: उसका अस्तित्व मिटा देने पर समस्यायें भी मिट जायेंगी। भारत इससे प्रगति भी करेगा।

उपसंहार—भारत को सदियों के बाद अपनी दशा सुधारने का अवसर मिला है। यहाँ की दशा का सुधार अनेक योजनाओं द्वारा किया जा रहा है, देश की औद्योगिक उन्नति के लिए बड़ी-बड़ी योजनायें लागू की जा रही हैं जैसे, स्टील कारखाने की योजना, भिलाई, दुर्गापुर योजना, राउरकेला आदि योजनायें। किन्तु देश की असली और ठोस उन्नति ग्राम-सुधार-योजना की सफलता पर ही निर्भर है।

७४. नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्य

१—भूमिका, २—नागरिक की परिभाषा, ३—नागरिक के अधिकार, ४—नागरिक के कर्त्तव्य, ५—अच्छे नागरिक के गुण, ६—अच्छे नागरिक से समाज और देश का कल्याण, ७—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। परिस्थितियों के अनुसार वह अपने को ढाल लेता है। समाज के अनुरूप ही वह अपने में परिवर्तन करता रहता है। यह सामाजिक जीवन उसे उत्तरोत्तर विकास के लिए प्रेरणा देता रहता है। **वर्तमान युग विकसित सामाजिक जीवन का युग है।** आज मनुष्य नागरिक गुणों से पूर्ण माना जाता है। परन्तु हर राष्ट्र में सभी व्यक्तियों को नागरिक नहीं माना जाता। सभी राष्ट्रों ने कुछ सिद्धान्त निर्धारित कर दिए हैं जिनके अनुसार व्यक्ति नागरिक बन जाता है। उन सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति को अनेक राजनैतिक और सामाजिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। समाज और राज्य के प्रति उसके कुछ कर्त्तव्य भी होते हैं जिनका उसे पालन करना पड़ता है। अतः सामाजिक जीवन में नागरिक कर्त्तव्य और अधिकार की जानकारी आवश्यक है।

नागरिक की परिभाषा—नागरिक शब्द 'नगर' से बना है जिसका अर्थ है—नगरवाला या नगर का निवासी। 'नगर के निवासी' अधिक चतुर और सभ्य के अर्थ का भी प्रकाशन करता है। इसका एक बाजारू अर्थ भी है, जिसका अभिप्राय उस व्यक्ति से होता है जो धूर्त और चालबाज तथा प्रपंची और स्वार्थी होता है। प्राचीन काल में नगर-राज्य होते थे, जहाँ एक मुख्य नगर (राजधानी) के आस-पास के प्रदेश उस नगर-राज्य में सम्मिलित होते थे। उस नगर के निवासियों में अधिकांश का सम्बन्ध राजनीति से होता था। अतः नागरिक में राजनीतिक ज्ञान भी माना जाता है। किन्तु वर्तमान युग में नागरिक किसी देश के उन निवासियों को माना जाता है जिन्हें उस राज्य की सरकार से राजनैतिक अधिकार प्राप्त हों तथा जिनका उद्देश्य समाज के प्रति कर्त्तव्य माना जाता हो। संक्षेप में किसी देश का वह व्यक्ति नागरिक माना जाता है, जिसे वहाँ के नागरिक अधिकार प्राप्त हों। उसके कुछ कर्त्तव्य भी होते हैं, जिनको उसे निभाना पड़ता है।

नागरिक के अधिकार—विभिन्न देशों में नागरिकों को विभिन्न प्रकार के अधिकार प्राप्त होते हैं। उसके अधिकार दो प्रकार के हैं—मूल अधिकार तथा विशेष अधिकार। प्रायः सभी देशों की सरकारें वर्तमान युग में अपने नागरिकों जो मूल अधिकार देती हैं, वे मूल अधिकार इस प्रकार हैं—सभी नागरिकों को परिवार बना कर जीवन-यापन का अधिकार है। हर प्राणी में जीवित रहने की सबसे प्रबल इच्छा रहती है। इस प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति का अधिकार सभी सरकारें देती हैं। नागरिक जीवन को सरकारें अपनी सम्पत्ति मानती हैं। अतः उसकी रक्षा की व्यवस्था करती हैं। प्राणीमात्र की दूसरी प्रबल प्रवृत्ति प्रजनन सम्बन्धी है। इसके लिए मानव समाज ने व्यवस्थित विधान बनाया है, जिसके अनुसार मनुष्य विवाह करके अपने परिवार में बाल-बच्चों के साथ रहना चाहता है। अतः सभी सरकारें अपने नागरिकों को यह अधिकार भी देती हैं।

राज्य का निर्माण मनुष्य ने अपनी रक्षा तथा दुष्टों के दमन के लिए किया है इसलिए उसे विभिन्न प्रकार के कर देने पड़ते हैं। अतः **सभी नागरिकों को राज्य से जन धन की रक्षा पाने का अधिकार है**। नागरिक की रक्षा करना तथा शान्ति व्यवस्था बनाए रखना सरकारों का मुख्य कर्त्तव्य है। प्रत्येक नागरिक बाहरी आक्रमणों से तथा आन्तरिक अराजकता से सुरक्षित होने का अधिकारी होता है। इस उत्तर-दायित्व को पूरा करने के लिए सरकारें सेना और पुलिस का ठोस प्रबन्ध रखती हैं। हर नागरिक को धन कमाने तथा अपनी इच्छानुसार व्यय करने का अधिकार है। सरकार उन्हें यह अधिकार भी देती है यद्यपि साम्यवादी देशों में इस अधिकार को बहुत सीमित कर दिया गया है। चूँकि सरकार अपने नागरिकों की पूरी जिम्मेदारी नहीं ले पाती अतः वह नागरिक को अपनी आर्थिक व्यवस्था करने का अधिकार देती है।

राज्य एक सार्वजनिक संस्था है अतः राज्य से निष्पक्ष न्याय पाने का अधिकार हर नागरिक को होता है। राज्य के विधि-विधान के सामने कोई भेद-भाव नहीं रहता, सभी प्रजाजन समान होते हैं अतः उसे निष्पक्ष रूप से न्याय करना आवश्यक होता है। प्रजा को उचित और भेद-रहित न्याय पाने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। क्योंकि यदि न्याय में पक्षपात होगा तो नृशंस प्रवृत्तियाँ जागेंगी और राज्य की शान्ति व्यवस्था बिगड़ जायेगी, फलतः अराजकता का बोल-बाला हो जायेगा। सभी नागरिकों को स्वतन्त्र रूप से रहने और पूजा-पाठ करने का अधिकार होता है। हर व्यक्ति को राज्य की ओर से स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपने विश्वास के अनुसार ईश्वर की आराधना करे तथा धार्मिक संस्थाओं की सदस्यता स्वीकार करे। सरकारों की दृष्टि में यह व्यक्तिगत विषय है और हर व्यक्ति आध्यात्मिक सन्तोष और शान्ति के लिए प्रयास कर सकता है। हर नागरिक को राजकीय सार्वजनिक वस्तुओं के उपयोग का समान रूप से अधिकार प्राप्त होता है। जैसे सरकारी सड़कों पर चलना औषधालयों से औषधि प्राप्त करने, डाक विभाग से पत्र, पार्सल, मनीआर्डर आदि भेजने, रेलों, जहाजों आदि से यात्रा का अधिकार सभी नागरिकों को दिये जाते हैं; किन्तु उनके इन कार्यों द्वारा किसी की स्वतन्त्रता पर या सरकार के प्रभुत्व पर आघात नहीं पहुँचना चाहिए। विघटनकारी तथा अनुचित कार्यों को कोई भी सरकार सहन नहीं करती। यह अधिकार यथावस्तु घटाया-बढ़ाया भी जा सकता है। सरकार अपने सभी नागरिकों को अपने कष्टों को सरकार तक पहुँचाने का अधिकार देती है। राजकीय विद्यालयों में तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार सभी नागरिकों को मिलता है। इस प्रकार से सरकार अपने नागरिकों के मूल अधिकारों को स्वीकार करती है और उन्हें भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करने में सुविधा प्रदान करती है। नागरिक स्वतन्त्रता तभी तक मान्य होती है जब तक वह दूसरे नागरिक उचित जीवन-क्रम में बाधा नहीं डालती।

लोकतान्त्रिक शासन-प्रणाली में नागरिक को और विस्तृत अधिकार प्राप्त होते हैं। **हर नागरिक को राज्य कार्य के लिये प्रतिनिधि चुनने एवं चुने जाने का अधिकार होता है**। इसके लिए स्वेच्छा से नागरिक राजनैतिक दल बना सकते हैं और उसके सदस्यों की संख्या बढ़ सकते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से सभी नागरिक सरकार के संगठन में भागी होते हैं यदि कोई व्यक्ति योग्य और सच्चा है तो सभी देश का

प्रधान-मन्त्री या राष्ट्रपति तक हो सकता है। इस सरकार में सार्वजनिक मन्दिरों और पूजाघरों में सभी को जाने का अधिकार होता है।

नागरिकों के कर्त्तव्य—नागरिकों के अधिकारों के अतिरिक्त अनेक कर्त्तव्य भी होते हैं। नागरिक का पहला कर्त्तव्य है—**सरकारी कानून का पालन करना** तथा अपने किसी भी कार्य से दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा न डालना। कानून का उल्लंघन करने वाला नागरिक सच्चा नागरिक नहीं है और दण्डनीय है। **दूसरा कर्त्तव्य है सार्वजनिक तथा राजकीय सम्पत्ति की रक्षा करना तथा उससे उचित लाभ उठाना।** यदि उसे नदी पर बने पुल से होकर नदी पार करने का अधिकार है तो पुल को क्षति न पहुँचाना उसकी रक्षा करना भी उस नागरिक का कर्तव्य हो जाता है। विघटनात्मक कार्यवाही न करना उसका तीसरा कर्तव्य है। **सरकारी कर और लगान को देना भी उसका कर्तव्य है। सरकारी सेना में भर्ती होना तथा देश रक्षा का उपाय करना उसका चौथा कर्तव्य है।** सरकार की सामुदायिक विकास योजना में समुचित सहयोग करना आदि उसके असंख्य कर्तव्य हैं।

इन कर्तव्यों का पालन करना तथा अपनी बुद्धि और योग्यतानुसार राष्ट्रसेवा करना, समाज-कल्याण करना उसका गुण है। अपनी उन्नति के साथ सार्वजनिक उन्नति में योग देना अच्छे नागरिक के गुण हैं। अच्छे नागरिक राष्ट्र की सम्पत्ति समझे जाते हैं। राष्ट्र की शक्ति अच्छे नागरिकों में ही निहित रहती है। देश और समाज का कल्याण अच्छे नागरिकों से ही सम्भव है।

उपसंहार—सभी स्वतन्त्र देशों में नागरिक ही देश की व्यवस्था चलाने वाले होते हैं। उनकी कर्तव्य-परायणता, बुद्धिमत्ता तथा परोपकार की भावना से ही राष्ट्र की उन्नति होती है। आज प्रजातन्त्र शासनों में नागरिकों के दायित्व अपार हो गये हैं। क्योंकि इस प्रणाली में नागरिक शासक होता है।

७५. नागरिकता और सदाचार

१—भूमिका, २—नागरिकता और सदाचार की परिभाषा, ३—इनका पारस्परिक सम्बन्ध, ४—सामाजिक जीवन में इनकी उपयोगिता, ५—व्यक्तिगत जीवन में उपयोगिता, ६—उपसहार।

भूमिका—समाज और मनुष्य एक दूसरे के अविभाज्य अंग हैं। समाज से अलग मनुष्य की कल्पना करना व्यर्थ है। समाज में रहने के कारण वह दूसरों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उसके ऊपर दूसरों के कार्यों का प्रभाव पड़ता है तथा उसके कार्यों का दूसरों पर। अत: समाज कतिपय ऐसे नियमों को स्वीकार करता है जो सामूहिक रूप से मान्य होते हैं। सामाजिक नियमों को अधिकांश में परम्परागत रूप से माना गया है। समाज अपने अपराधियों को दण्ड दिये बिना नहीं छोड़ता पर यदि उसकी दृष्टि में कोई बात नहीं आती तो वह उपेक्षा भी कर जाता है। इस प्रकार सदाचार का नियम भी समाज ने ही निर्धारित किया है। नागरिक शब्द अपना

विशेष अर्थ, नगर का निवासी, चतुर राजनैतिक और सामाजिक अधिकारों के उपभोग का अधिकारी, आदि अर्थों को व्यक्त करता है। आज इसका अर्थ एक ऐसे व्यक्ति से लिया जाता है, जो किसी देश विशेष का निवासी हो तथा राज्य (सरकार) की ओर से राजनैतिक और सामाजिक अधिकारों के उपभोग का अधिकारी माना गया हो। अर्थात् नागरिक समाज का महत्वपूर्ण अंग है। अतः नागरिक और सदाचार का घनिष्ट सम्बन्ध है।

नागरिकता और सदाचार—नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकारों की समष्टि को नागरिकता कहा जाता है। नागरिकता ऐसी विशेषता है जिसके अभाव में मनुष्य न तो समाज का आवश्यक अंग बन पाता है और न राज्य का। इसके बिना मनुष्य का जीवन एक प्रकार से या तो पशुवत् हो जाता है या महान् विरागी संन्यासी के समान जिसका सांसारिकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः नागरिकता हर मनुष्य को नागरिक बनाने के लिए आवश्यक है। **सदाचार का अर्थ है—सत्—आचार—सात्विक व्यवहार, साधारण अर्थ में इसका प्रयोग उन सभी व्यवहारों और कार्यों के लिए होता है जो समाज द्वारा ग्राह्य और अच्छे माने जाते हैं।** समाज मनुष्य की दैनिक और सामाजिक क्रियाओं को नियन्त्रित करता रहता है। इसकी आवश्यकता होती है समाज को व्यवस्थित तथा मर्यादित रखने के लिए झूठ न बोलना, चोरी न करना, किसी को अनावश्यक ढंग से न सताना, अनुचित रीति से कामाचार न करना आदि सदाचार माने जाते हैं। इन कार्यों का त्याग इसलिए आवश्यक होता है कि इनसे समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है तथा समाज का ढाँचा लड़खड़ा जाता है। समाज उन्हीं गुणों का सम्मान करता है जो सामाजिक विधियों को दृढ़ बनाने में तथा बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय कार्यों में सहायक होते हैं।

नागरिकता और सदाचार का सम्बन्ध—नागरिकता और सदाचार का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ होता है। मनुष्य मात्र में सम्मानेषणा स्वाभाविक रूप से होती है। हर मनुष्य की चाह रहती है कि समाज उसका आदर करे, अतः वह अपनी अनेक स्वेच्छा-चारिताओं को दबाकर सदाचारी बनाने का प्रयास करता है। नागरिक यदि अपने कर्तव्यों पर दृढ़ रहता है तथा अपने अधिकार का समुचित प्रयोग करता है तो वह सरलतापूर्वक सदाचारी बनकर सम्मानित जीवन व्यतीत कर सकता है। नागरिक यह जानता है कि यदि कोई दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है या दूसरों के अधिकारी को कुचलता है तो वह दण्ड का भागी होगा। यदि अनुचित रीति से किसी के साथ सम्बन्ध करता है तो सरकार और समाज दोनों उसे दण्डित कर सकते हैं, अतः वह ऐसा काम नहीं करेगा, लेकिन अपराध से डरने वाला मनुष्य सदाचारी नहीं बन जाता। सदाचारी बनने के लिए नागरिक को सत्य का व्यवहार करना, सार्वजनिक हितकारी कार्यों में सहयोग देना, दीन-दुखियों पर दया करना, आस्तिक और ईश्वर-निष्ठ होना, अपनी साँस्कृतिक परम्पराओं पर दृढ़ता आदि आवश्यक गुण होते हैं। उसका दृष्टिकोण व्यापक तथा गुणग्राही होना चाहिए, किन्तु अन्धानुकरणकारी होने की आवश्यकता कम है।

सामाजिक जीवन में इनकी उपयोगिता—समाज को नागरिकों की बड़ी आवश्यकता होती है। जो नागरिक नहीं हैं उनमें कतिपय ऐसी त्रुटियाँ स्वभावतः

मान ली जाती हैं जो समाज के लिए हानिकारक हैं। नागरिकशास्त्र के अनुसार जो व्यक्ति पागल है, दिवालिया है, कोढ़ी या गलितांग है, या किसी अपराध में कारागार का दण्ड प्राप्त कर चुका है, या कोई स्त्री अन्य देश के पुरुष से शादी कर लेती है वे नागरिक नहीं माने जाते। इसमें राजनैतिक कैदी नहीं आते। इस तरह हम देखत हैं कि नागरिक होने की बाधाएँ और कुछ नहीं केवल सामाजिक अपराध ही है। समाज स्वयं भी सामाजिक अपराधों के लिए दण्ड देता है जो समाज से ही सम्बन्धित होते हैं। इसलिए नागरिक होना समाज के लिए उपयोगी है। सदाचार की उपयोगिता समाज के लिए कम नहीं होती। सदाचार से समाज व्यवस्थित और सुन्दर ढंग से चलता है। इसका परिणाम यह होता है कि हर व्यक्ति अपनी स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण रखता और सभी लोग शान्तिपूर्वक अपने दैनिक क्रम को स्वाभाविक रूप से चलाया करते हैं। किसी को भय और आशंका नहीं होती, सभी लोगों में सौहार्द्र और सहयोग की भावना का विकास होता रहता है। इससे सब लोग दूसरों की प्रतिष्ठा और सम्मान को अपना ही समझते हैं। अत: समाज में परस्पर विश्वास का वातावरण बना रहता है। सदाचार एक ऐसा गुण है जिससे समाज की हर प्रकार से उन्नति होती है, सदाचार से विरोध और वैमनस्य की भावना का ह्रास होता है। यदि सदाचारियों की संख्या कम ही होती है तो वे भी तटस्थ तथा अनेक दुराचारियों तक को प्रभावित करके बड़े-बड़े काम सरलता से कर लेते हैं। यह ऐसा गुण है जो शिक्षा क्षेत्र को उपयोगी और व्यापक बनाता है। इस प्रकार इनकी सामाजिक उपयोगिता बहुत अधिक है।

व्यक्तिगत जीवन में इनकी उपयोगिता—नागरिकता और सदाचार की व्यक्तिगत उपयोगिता और भी अधिक है। मानव-जीवन के दो पक्ष हैं—सांसारिक अथवा भौतिक और आध्यात्मिक। सांसारिक पक्ष में जीवन के वे कार्य आते हैं जिन्हें हम अपनी मानसिक और शारीरिक भूख मिटाने के लिए करते हैं। जीवन-यापन के साधन जुटाना सबके लिए अलग-अलग आवश्यक होता है। यह साधन अपने परिश्रम से उत्पन्न किये जा सकते हैं जिनमें किसी को कोई कष्ट नहीं होता। अपनी बुद्धि और शारीरिक शक्ति को लगाकर धनोपार्जन करना सभी लोग अच्छा और श्रेयस्कर मानते हैं। परन्तु चोरी करके धनोपार्जन करना सभी बुरा मानते हैं। यहाँ तक कि चोर भी। कारण यह है कि इस कार्य में जो शक्ति और बुद्धि लगाई जाती है वह परिणाम में प्रथम साधन से कदाचित् ही कम हो। फिर भी यह एक ऐसी वस्तु के लिए किया जाता है जिसका वास्तविक अधिकारी दूसरा व्यक्ति है। अत: यह अनैतिक और दण्डनीय होता है। प्रत्येक मनुष्य में काम की इच्छा होती है और इसकी पूर्ति भी आवश्यक है। यही कार्य अपनी विवाहिता संगिनी के साथ सदाचार की सीमा में आयेगा तथा किसी अन्य के साथ दुराचार कहा जायेगा। नियमत: सद्भाव से किसी की सहायता करना सदाचार है तथा अनावश्यक ढंग से निन्दा करना या किसी को कष्ट देना दुराचार कहा जाता है। सदाचार व्यक्ति को सदा ऊँचा उठाता है, उसमें आस्तिकता और परोपकार की भावना का विकास करता है। मनुष्य सभी कार्य सुख और आनन्द के लिए करता है। सदाचार से मनुष्य का व्यक्तिगत सुख आनन्द-दायक बनता है। उसके सुख और आनन्द में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अन्त में उसे सांसारिक सुखों की असारता का अनुभव होता है और वह परम सुख और परमानन्द की ओर बढ़ता है। दुराचार

में यही दशा विपरीत हो जाती है। मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन को परम लक्ष्य मोक्ष की ओर इसी सदाचार के द्वारा लगा पाता है और अन्त में ब्रह्मानन्द का भागी बनता है।

उपसंहार—मनुष्य जीवन के सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों पत्र नागरिकता और सदाचार के सहारे उन्नत बनते हैं। वह अपने तथा समाज के लिए नादान बनकर रहता है। उसके आदर्श पर और लोग चलकर अपना तथा समाज का कल्याण करते हैं। यह व्यक्ति अपने इस शरीर से अमर हो जाता है। नागरिकता और सदाचार दो ऐसे गुण हैं जो मनुष्य को संसार में सुख और परलोक में परमानंद के दाता होते हैं। अतः नागरिक और सदाचार से एक प्रकार का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

७६. भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान

१—भूमिका, २—समाज का रूप, ३—विविध युगों में समाज में स्त्रियों का स्थान, ४—जीवन के माधुर्य में स्त्री का योग, ५—वर्तमान विकासशील समाज तथा प्राचीन समाज में स्त्रियों की विभिन्न स्थितियाँ, ६—स्त्री-शिक्षा का ध्येय तथा स्त्री स्वतन्त्रता का मूल्य, ७—उपसंहार।

भूमिका—भारत एक ऐसा देश है जहाँ विभिन्न वर्गों तथा जातियों के लोग निवास करते हैं। उसकी अलग-अलग परम्पराएँ हैं। सबकी अलग मान्यताएँ हैं फिर भी सब में एक मौलिक एकता है। इन सब विभिन्न वर्गों से मिलकर भारतीय समाज बना है। **इस समाज की महानतम विशेषता है अनेकता में एकता।** इस समाज में जाति-भेद तथा स्थान-भेद के कारण विभिन्न वर्गों में विभिन्न प्रकार की परम्पराएँ और मान्यताएँ प्रचलित हैं। इस समाज का अधिकांश भाग वैदिक धर्म से सम्बन्धित धर्मों को मानता है। कुछ धर्म—जैसे बौद्ध, जैन, आदि वेदों को न मानते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से उनकी ही बातों का प्रचार करते हैं। यूनानी, हूण, शक, यवन आदि भारत में आए और इस समाज में मिलते चले गए। परन्तु उनकी अपनी मौलिकता भी बहुत अंशों तक बनी हुई है। ऐसे बहुविध समाज में स्त्रियों का निश्चित स्थान रहा है। उनका महत्व अपने स्थान पर ऊँचा है।

समाज का रूप—महाकवि 'प्रसाद' ने भी तो कहा है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग-तल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।

समाज व्यक्तियों का समूह है, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों शामिल हैं। भारतीय समाज में पुरुष घर के बाहर के कार्यों का उत्तरदायी तथा प्रबन्धक रहा है और स्त्रियाँ गृह-लक्ष्मी के रूप में घर गृहस्थी की अधिकारिणी रही हैं। भारतीय समाज में लौकिकता तथा पारलौकिकता दोनों के लिए समुचित विधान है। स्त्रियाँ दोनों विधानों में पुरुषों की अर्धाङ्गिनी और सह-धर्मिणी मानी जाती हैं। भारतीय समाज बराबर धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित नियमों के अनुसार शासित होता है। हिन्दुओं में

यदि स्मृतियों का शासन मान्य है तो यवनों में कुरान शरीफ की आयतों का। सभी अपनी परम्पराओं में विश्वास करते हैं। संक्षेप में यह समाज सदा से व्यापक दृष्टिकोण तथा सह-अस्तित्व की भावना से ओत-प्रोत रहा है।

हिन्दू समाज में स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार—हिन्दू समाज में पुरुषों का कर्तव्य है धनोपार्जन करना तथा अन्य बाह्य विषयों पर भी उनका पूर्ण अधिकार रहता है। गृह-कार्य में स्त्रियों का प्रबन्ध तथा आधिपत्य चलता रहता है। यदि किसी विषय में पुरुष स्त्रियों पर शासन करता प्रतीत होता है तो दूसरे स्थान पर स्त्रियों की आज्ञाएँ अकाट्य होती हैं। परिवार के जीवन को सरल तथा सुचारु रूप से चलाने का कार्य मुख्यतया स्त्रियों को ही करना पड़ता है। यहाँ का यह सिद्धांत रहा—**नार्यस्तु यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।** अर्थात् जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है वहाँ देवता वास करते हैं। तात्पर्य यह है कि सुख-समृद्धि के लिए स्त्रियों का आदर आवश्यक माना जाता है। इसी प्रकार जीवन के विषय में भी कहा गया है कि—**'दिन नष्टं कुभोजनं जन्म नष्टं कुभार्यायाम्।'** जीवन की सार्थकता स्त्रियों की योग्यता पर निर्भर रहती है। आज के विचारक भी किसी न किसी रूप में इस तथ्य को स्वीकार करते हैं।

समाज में स्त्रियों का स्थान—सांसारिक जीवन में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा है। हर व्यक्ति के दो रूप होते हैं—एक सामान्य व्यवहार का तथा दूसरा व्यक्तिगत व्यवहार का। अंग्रेजी में इसे आफिशियल लाइफ तथा प्राइवेट लाइफ कहा जाता है। सामान्य व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी संसार में स्त्रियों की प्रधानता है। धार्मिक कार्यों में दोनों को समान रूप से एक साथ सम्मिलित होना पड़ता है। भारतीय समाज में पुरुषों के ऊपर भी लगभग इतना ही बन्धन है जितना स्त्रियों पर चूँकि भारत की वर्तमान व्यवस्था में अधिकांशत: पैतृक उत्तराधिकार माना जाता है अत: वंश-परम्परा को सुचारु रूप से चलाने में स्त्रियों का स्थान अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। अत: उनके लिए नैतिकता का बन्धन है। हिन्दू समाज में उच्च जातियों में यह बन्धन उच्च नैतिकता तथा सम्मान का माना जाता रहा है। विवाह के अवसर पर जिन विधियों का पालन होता है, उनमें प्रयुक्त मन्त्रों का व्यापक तथा आदर्शपूर्ण अर्थ है। वर और वधू परस्पर आत्म-समर्पण करते हैं। जीवन भर एक दूसरे से अभिन्न रहने की प्रतिज्ञा होती है। यह बन्धन केवल साँसारिक बन्धन न होकर आध्यात्मिक भी होता है। इसी कारण यह मान्यता मध्य काल में चल रही थी कि पुरुष के मरने पर जो स्त्री सती हो जाती थी, वह जन्मान्तर में या स्वर्गकाल में पति से अवश्य मिलती थी। इसी कारण स्त्रियाँ उत्साह के साथ पति के शव के साथ चिता में भस्म हो जाती थीं। पुरुषों के लिए भी बन्धन रहता था, वह यथा-सम्भव एक स्त्री के रहते दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करता था। किन्तु कतिपय परिस्थितियों में उन्हें दूसरा विवाह करने का अधिकार था। इस प्रकार समाज में स्त्री-पुरुषों को अविभाज्य माना जाता था। कुछ निम्न वर्गों में स्त्रिों को पुरुष के मरने पर या कभी-कभी रहते हुए भी दूसरे पुरुष से विवाह करने का अधिकार था, पर अपवाद रूप में।

जीवन के सरल संचालन में स्त्रियों का योग—वास्तव में स्त्रियों का भारतीय समाज में इतना महत्व है कि उन्हीं के त्याग तथा सद्भावना के कारण जीवन जीने

के योग्य बना रहता है। समाज के प्रत्येक स्तर के मनुष्यों को स्त्रियों के सहयोग में जीवन का आनन्द आता है। उनकी वाणी, उनका व्यवहार तथा आपत्ति-काल आने पर धैर्य और प्रेम, जीवन की कुण्ठाओं और विषमताओं का प्रभाव घटाने में सदा सहायक होता है। दीन और दुःखी परिस्थितियों में भी वे सान्त्वना देती हैं। **भारतीयों के लिए स्त्री पृथ्वी की कल्पलता है।** पुरुष के भाग के साथ ही उसका भाग्य जुड़ा माना जाता है। यह भी विश्वास बहुत से लोगों का है कि पुरुष केवल अपने भाग्य के सहारे आगे नहीं बढ़ता बल्कि उसकी उन्नति में स्त्रियों का मुख्य भाग रहता है। किन्तु जिस समाज में दोनों की भिन्नता या स्वतन्त्रता जितनी ही अधिक रहती है, वहाँ जीवन के अभाव की पूर्ति के लिए उतने ही स्तर के साधन खोजे जाते हैं। पाश्चात्य सभ्यता के स्वच्छन्द वातावरण में बाध्य होकर विभिन्न प्रकार के भौतिक साधनों द्वारा आनन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। पर उन साधनों में आत्मा का रस नहीं रहता फलतः मानव जीवन में यांत्रिक प्रवृत्तियाँ बढ़ती जाती हैं और आत्मा के उच्च गुण—संवेदना, करुणा, दया, स्वाभिमान जैसी प्रवृत्तियाँ निर्बल पड़ जाती हैं। पारिवारिक जीवन की शिथिलता के कारण पारस्परिक प्रेम का स्तर गिर जाता है। प्रेम भी बाजारू सौदा बन जाता है जिसके क्रय-विक्रय या उत्पादन का ढोंग रचा जाता है। भारतीय समाज में नारी पुरुषों के लिए तथा पुरुष नारी के लिए सर्वस्व त्याग करने को तैयार रहता है। यही त्याग की भावना दोनों के सम्बन्ध की अलौकिकता या उच्च मानवता प्रदान करती है, अन्यथा मानव-जीवन भी लगभग पशु जीवन ही बन जाय।

वर्तमान जीवन-क्रम में परिवर्तन और समाज में स्त्रियों का स्थान—वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा विभिन्न विचारधाराओं ने मानव-जीवन की अनेक मान्यताओं में परिवर्तन कर दिया है। आज जीवन में आत्मा-सम्बन्धी मान्यताओं का भी भौतिक मूल्य सोचा जाता है। आज का अर्थवादी ससार जीवन की सभी वस्तुओं को आर्थिक दृष्टिकोण से देखने लग गया है। यों भी कहा जा सकता है कि एक वर्ग जीवन में अर्थ को ही सब कुछ मानने लग गया है। उस वर्ग का विचार है कि स्त्रियाँ भी पढ़-लिखकर कमाने लगें तो जीवन के अधिक आनन्द सुलभ हो सकते हैं। पर ये कदाचित् उन तत्वों की उपेक्षा कर जाते हैं जो पैसे से किसी भी मूल्य पर खरीदें नहीं जा सकते। हम अपनी प्राकृतिक भूख होटल में भी मिटा सकते हैं और घर पर भी, किन्तु होटल के भोजन में और घर के रूखे-सूखे भोजन में आत्म-संतोष की दृष्टि से कितना अन्तर है, इसे सम्भवतः प्रत्येक भारतीय जानता है। जीवन में एक ऐसी अवस्था भी आती है जब हम उत्तरदायित्व से बचकर स्वच्छन्द आनन्द के पीछे दौड़ते हैं; किन्तु परिणामों को विवेकपूर्वक देखने से उसका रहस्य खुल जाता है।

स्त्री-शिक्षा का ध्येय तथा स्वतन्त्रता का मूल्य—आज स्त्री-शिक्षा का ध्येय ही अधूरापन या भिन्न शिक्षा का संकेत कर रहा है। आज की शिक्षित स्त्रियों का अधिकांश भाग पूरक न बनकर प्रतिद्वन्द्वी बनने के फेर में रहता है। परिणामतः गृहस्थ जीवन आर्थिक प्रचुरता में भी नारकीय बन जाता है। परन्तु जहाँ स्त्री पूरक बनने की भावना रखती है वहाँ अभाव में भी आनन्द और अलौकिक सुख प्राप्त होता है। जहाँ स्वतन्त्रता की भावना स्वच्छन्द वातावरण बना देती है वहाँ

पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ जाता है। इस कथित स्वावलम्बन के लिए अधिकांश में जीवन की शान्ति और सुख को बलिदान करना पड़ता है। एक परिवार में यदि स्त्री, पुरुष, बच्चे सभी स्वतन्त्र रहें तो परिवार की क्या दशा होगी, यह तो सरलता से सोचा जा सकता है। उस परिवार में निश्चय ही मानवता, सेवा और त्याग की भावना आकाश कुसुम ही होगी फलतः परिवार छिन्न-भिन्न हुए बिना न रहेगा।

उपसंहार—समाज की विविध सामूहिक तथा व्यक्तिगत दशाओं को सूक्ष्मता से देखने पर दो प्रकार की स्थितियाँ स्त्रियों को दिखाई पड़ती हैं और पुरुषों को उन्हीं में से एक का समर्थन तथा व्यवहार करना पड़ता है। एक में पाश्चात्य देशों की तरह स्त्री और पुरुष की अपनी-अपनी स्वतन्त्र स्थिति रहती और पारिवारिक जीवन में एक दूसरे के प्रति थोड़ा बहुत ही दायित्व रहता है। दूसरे में भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुकूल दूसरे प्रकार का ही स्थान स्त्रियों का रहा है, तथा अब भी अपवादों के साथ उसी प्रकार है। पर भविष्य में यह किस रूप को धारण करेगा; निश्चित नहीं, क्योंकि परिवर्तन और अनुकरण भी हो रहा है।

७७. आधुनिक युग में भारतीय नारी के आदर्श

१—भूमिका, २—आधुनिक युग का भारतीय समाज, ३—स्त्रियों के लिए आदर्श, ४—आदर्श से लाभ, ५—आदर्श के अभाव में स्त्रियों की दशा, ६—उपसंहार;

भूमिका—मानव-समाज में देश-काल के अनुसार स्त्रियों और पुरुषों के आदर्शों में परिवर्तन होता रहता है। मानव-समाज में स्त्री-पुरुष दोनों जीवन-रथ को ढोने वाले दो चक्रों के समान हैं तथा स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक होकर जीवन को सार्थक बनाते हैं। दोनों के निर्माण में प्रकृति ने इसी प्रकार तत्वों का प्रयोग किया। भारत एक ऐसा देश है जहाँ की संस्कृति और परम्पराएँ इसी सिद्धान्त को मानती आ रही हैं। वैसे तो हर देश की परम्पराओं में विभिन्नता का कारण प्राकृतिक स्थिति तथा भौगोलिक वातावरण होता है। इनका प्रभाव मानव स्वभाव पर पड़ता है। मन के संस्कारों पर भी इनका प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्राणियों और मनुष्य में अन्तर भी विवेक बुद्धि के कारण ही होता है। यदि विवेक बुद्धि न रहे तो मनुष्य भी अन्य प्राणियों की भाँति अनियन्त्रित और स्व-प्रधान हो जाय। इसी विवेक बुद्धि के सहारे अति प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में स्त्रियों और पुरुषों के कार्य अलग-अलग निर्धारित कर दिये गये थे। मध्यकाल में विदेशियों की प्रभुता के कारण भारतीय समाज में अव्यवस्था आने लगी। उससे समाज का ढाँचा बहुत बदला। मुसलमानों के समय में उनका प्रभाव स्त्रियों और पुरुषों पर पड़ा। फलतः पर्दा प्रथा में कठोरता आ गई तथा और भी अनेक प्रभाव पड़े। योरुप के निवासियों के भारत में आगमन के फलस्वरूप भारतीय समाज पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। आज देश स्वतन्त्र है, भारतवासियों पर अनेक प्रकार के प्रभावों का मिश्रण पड़ा है। कुछ लोग अपनी प्राचीन परम्परा को लाना चाहते हैं, कुछ लोग नई पाश्चात्य सभ्यता को

जमाना चाहते हैं। किन्तु भारतीयता को यदि स्थायित्व प्रदान करना है तो निश्चय ही भारतीय नारियों के आदर्श को निश्चित और स्थायी रूप देना होगा।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ने कहा है—
"नारी तुम धन्य हो
घर है, घर का काम धन्धा भी
देवता के पूजा योग्य तुम्हारी सेवा है, मूल्यवान,
विश्व की पालनी शक्ति को
धारिका हो तुम शक्तिमती
माधुरी के रूप में
सृष्टि विधान का
लिया है कार्य भार,
हो तुम नारी
उनकी निज सहकारी।"

आधुनिक भारतीय समाज—आधुनिक युग में भारतीय समाज विश्व के अनेक समाजों की सभ्यताओं का विचित्र अजायबघर बन गया है। वेश-भूषा, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, धर्म-कर्म, जाति-पांति आदि सभी क्षेत्रों में अद्भुत मिश्रण हो गया। आज के युग में भारतीय समाज को देखकर यह कहना कठिन है कि भारत की वास्तविक स्थिति क्या थी। यह एक पहेली हो गई है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का वास्तविक रूप कैसे निर्धारित हो। अन्य प्राचीन देशों में अपनी मौलिक सभ्यता को बचाने का प्रयास हर वर्ग समझ-बूझकर करता रहता है; किन्तु भारत में यह कार्य देहात के गँवार कहे जाने वाले अर्द्धशिक्षित कृषकों पर छोड़ दिया गया है। कारण यह है कि वे अपनी आदतवश अपनी परंपराओं से लिपटे रहते हैं। शिक्षित समाज विकास के नाम पर अन्धानुकरण को ही श्रेयस्कर मानता है। यही कारण है कि अनेक समस्याओं के समान नारी आदर्श भी एक समस्या बन गयी है। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस आदि किसी देश के निवासी को आप दूसरे देश की वेश-भूषा में बहुत कम या बिल्कुल नहीं पावेंगे। पर भारतीयों को तो आप हर देश की वेश-भूषा में देख लें। एक अरब या फारस का मुसलमान भी अपने बनाव-शृंगार में उतना पूरा नहीं उतरेगा जितना उसकी नकल करने वाला भारतीय स्त्रियों में यह रोग अभी पूरे तौर पर व्याप्त नहीं हो पाया है, फिर भी कुछ प्रभाव तो पड़ा ही है। यह प्रभाव उनके समाज के एक लघु अंश तक ही सीमित है। इसका कारण यह है कि उनकी स्थिति ही ऐसी रही है। उन कतिपय को छोड़ दीजिए, जिन्हें शैशवकाल से 'मेम साहिबा' बनने की शिक्षा-दीक्षा मिली है। किन्तु भारत का वास्तविक भारतीय समाज सीधे-सादे, ढीले-ढाले वस्त्रों को धारण करने वाला, सरल जीवन व्यतीत करने वाले और प्रेम से मिलने-जुलने वाला समाज है। बाह्य व्यवहारों में वह अत्यन्त उदार है। उसमें आस्तिकता एवं आध्यात्मिकता की भावना अत्यन्त प्रबल है। उसका ईश्वर है, उसके देवता हैं, और उसकी सभी वस्तुएँ अपनी हैं जो औरों से भिन्न हैं। यह तो सभी मानेंगे कि भारतीय नारी का पति सदा के लिए उसका अपना होता है, और उसी प्रकार वह

भी अपने पति की ही रहती है। आज के बहुविधि समाज में भी भारतीय आदर्श के मूल तत्व प्रायः स्थित हैं किन्तु उन पर बाह्य प्रभावों की छाया पड़ गई है।

भारतीय नारी का आदर्श—उक्त समाज में भारतीय नारी का आदर्श निर्धारित करने में उदार दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा। न तो उन्हें मध्य युगीन रमणियों के समान पर्दों में बन्द किया जा सकता है और न विदेशी तितलियों की तरह फुदकाया जा सकता है। दोनों स्थितियाँ घातक होंगी। अतः उनके आदर्श का प्रमुख गुण यह होना चाहिए कि शिक्षित अथवा अशिक्षित किसी भी स्थिति में वे अपने शील और संकोच को तिलांजलि न दें। सुशीलता और लज्जा ही भारतीय नारी के आभूषण हैं। इन्हीं गुणों के कारण भारतीय समाज में उसे गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। दूसरा आवश्यक गुण यह है कि उसमें अपने परिवार के प्रति यथोचित व्यवहार-कुशलता होनी चाहिए। उनका जीवन केवल स्व-निहित नहीं होना चाहिए। उन्हें अपनी योग्यतानुसार अपने स्वामी का पूरक बनने का स्वभाव बनाना चाहिए। यह कार्य वे बड़ी सरलता से अपनी साधारण उदारता से कर सकती हैं। अपनी संस्कृति के प्रति अनुराग रखना उनका तीसरा गुण होना चाहिए। **गृह-लक्ष्मी बनकर वे अपना, समाज का तथा देश जाति का अधिक कल्याण कर सकती हैं**। उनमें आस्तिकता और श्रद्धापूर्ण विश्वास का होना भी आवश्यक है। उन्हें अनियन्त्रित होने का प्रयास कभी नहीं करना चाहिए। उनमें अपनी परम्पराओं के प्रति अनुराग होना चाहिए। उनको अपने देवी, रमणी, माता तथा लक्ष्मी आदि सभी रूपों को ध्यान में रखना आवश्यक है तथा अवस्थानुसार सबका समुचित रीति से निर्वाह करना चाहिए। उनका इस प्रकार का आदर्श सिद्ध होगा। उन्हें व्यापक देशी-विदेशी भाषाओं के ज्ञान में उतना आत्मतोष शायद नहीं प्राप्त हो सकता जितना अपनी रामायण, भागवत आदि धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन से।

महात्मा गाँधी ने भारतीय नारी के आदर्श के विषय में कहा है—

"नारी त्याग की मूर्ति है। जब वह कोई चीज शुद्ध और सही भावना से करती है, तब पहाड़ों को भी हिला देती है। मैंने स्त्री को सेवा और त्याग की भावना का अवतार मानकर उसकी पूजा की है।"

इस आदर्श से लाभ—भारतीय संस्कृति की यही विशेषता रही है कि लोग होश सम्भालने के बाद से ही अग्रिम जीवन की तैयारी करने लगते थे। क्रमशः वे संसार में प्रवेश की तैयारी करते थे, ब्रह्मचर्यावस्था में। संसार में लीन रहते थे गृहस्थाश्रम में। संसार का मायाजाल छोड़ने का प्रयत्न करते थे वानप्रस्थावस्था में तथा सब कुछ त्यागकर भजनानन्दी बन जाते थे संन्यासावस्था में। सम्पूर्ण क्रम में आद्योपान्त आनन्द और उत्साह व्याप्त रहता था। अन्त में उन्हें शान्ति प्राप्त होती थी। इस पूरे क्रम में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ रहती थीं और पूरक बनकर चलती थीं। धर्मशास्त्रों का मत है कि स्त्री यदि अपने पति को पूर्ण रूप से अपनी सेवा से सन्तुष्ट कर लेती है तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्वर्ग मृत्यु के बाद होगा या नहीं यह तो अन्धकार में है, किन्तु सांसारिक जीवन तो स्वर्ग बना ही रहता है। सुख-दुख सभी अवस्थाओं में दोनों की आत्मीयता से संसार में ही स्वर्ग को आना पड़ता है। स्वर्ग की कल्पना सुखमयी होती है। स्वर्ग में प्राणी सभी प्रकार से सुखों को प्राप्त करता है, और स्वर्ग प्राप्ति का साधन है पुण्यकर्म। इसलिए कहा गया है कि 'क्षीणे पुण्ये मृत्यु

लोके विशन्ति' अर्थात् पुण्य के क्षीण होने पर प्राणी पुनः मृत्युलोक में आ जाता है। उक्त आदर्श पर चलकर नारी वास्तविक लौकिक सुख प्राप्त करती है तथा क्रमशः त्याग की भावना को बढ़ाती जाती है। अति अल्प आयु से इस भावना का समावेश उसमें होता है अतः उसे पूर्ण सुख मिलता है। त्याग की भावना निरन्तर बढ़ती रहती है। इस क्रम से अन्त में चिर-शान्ति भी मिलती है। यदि स्त्रियाँ एक मात्र रामायण का विवेकपूर्ण अध्ययन करें तो शायद बीसों शोध-निबन्धों के लिखने से भी अधिक सुख-शान्ति प्राप्त कर सकती हैं।

आदर्श के अभाव में उनका जीवन अनियन्त्रित होकर बिना पतवार की नाव के समान संसार-सागर में डोलता रहता है। उनके हृदय में सदैव अभाव और तृष्णा बनी रहती है। संसार में यदि उन्हें थोड़ा-बहुत भौतिक सुख मिल भी जाता है तो वे आत्म-सुख से सदैव वंचित रहती हैं। वे न तो पारिवारिक जीवन को सुखी बना पाती हैं, न आध्यात्मिक जीवन को। इस आदर्श के अभाव में जीवन मरुस्थल सा बन जाता है;जिसमें मृग-मरीचिका के सिवाय सरस द्रव के दर्शन कभी नहीं होते।

उपसंहार—मानव-जीवन में सभी लोग सुख, सन्तोष और शान्ति की सहायता से आनन्द की खोज में लगे रहते हैं। इस आनन्दान्वेषण के पथ पर पुरुष या स्त्री अकेले नहीं चल पाते। यदि चलने का प्रयास करते हैं तो असफल होते हैं। किन्तु यदि दोनों समरस होकर एक दूसरे के पूरक बनकर चलते हैं तो सफल होते हैं। जीवन में समरसता लाने के लिए आदर्श का होना और पालन करना आवश्यक है। भौतिक उन्नति के पीछे अबोध गति से दौड़ने वाले पाश्चात्य देश विश्व को विनाश के तट तक घसीट ले गये हैं। यदि आध्यात्मिक तत्वों का उनमें मेल होता तो आज दूसरी स्थिति होती है। भारतीय समाज अध्यात्मवादी समाज रहा है अतः इसकी चरम उन्नति में विश्व-कल्याण की भावना रहती है। स्त्रियों के इस आदर्श से आध्यात्मिक उन्नति में सहायता मिलती है।

७८. नशाबन्दी

१—भूमिका, २—नशे की आदत तथा उससे हानियाँ, ३—नशाबन्दी की आवश्यकता, ४—नशाबन्दी और उसका प्रभाव, ५—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज के बिना रह नहीं सकता। उसके तीन पक्ष होते हैं—**सामाजिक, पारिवारिक तथा व्यक्तिगत**। वह दुखों से बचने का प्रयास करता है। सांसारिक जीवन में मनुष्य को अनेक प्रकार की कुण्ठाओं तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप उसे मानसिक और शारीरिक क्लांति का अनुभव होता है। कभी-कभी उसका मन खिन्न भी हो जाया करता है। चूँकि वह चेतन और चिन्तनशील प्राणी है अतः वह किसी बात को बहुत तर्क-वितर्क के साथ सोचता है। इसका प्रभाव उनके मन पर अधिक पड़ता है। इस प्रकार से वह अपनी मानसिक और शारीरिक क्लांति मिटाने के लिए या भुलाने के

लिए अनेक उपाय करता है। विभिन्न प्रकार के मनोरंजन के साधन इसीलिए बनाये गये हैं। **मनुष्य की मानसिक स्थिति कभी-कभी ऐसी हो जाती है कि वह एकान्त रूप से किसी प्रकार अपने दुःख और मानसिक वेदना को मिटाने का या भुलाने का उपाय ढूँढ़ता है। उन्हीं उपायों में नशा का सेवन भी एक है।** नशे से रक्त-संचार में एक प्रकार का धुन्धलापन आ जाता है जिससे वह अपनी सामान्य स्थिति को कुछ समय के लिए भूल जाता है और उसकी मानसिक गति शिथिल पड़ जाती है; इससे उसे शान्ति मिलती है। यह क्रम उसमें नशे की आदत डाल देता है, जिसका परिणाम यह होता है कि उसकी अवस्था अपनी सहन-शक्ति से बाहर हो जाती है और समाज की सामान्य गति-विधि में व्यतिक्रम उत्पन्न होने लगता है। तब उस पर भाँति-भाँति के आक्षेप होने लगते हैं। समाज की दृष्टि में उस व्यक्ति का सम्मान गिर जाता है और वह समाज के लिए हानिकारक माना जाता है। समाज में 'बहुजन हिताय' और 'बहुजन सुखाय' कानूनों का निर्माण किया जाता है। इसलिए 'नशाबन्दी' आवश्यक मानी जाती है।

नशे की वस्तुओं के सेवन की आदत और उससे हानियाँ—संसार में अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके सेवन से नशा हो जाता है। इनमें कुछ अधिक नशीली होती हैं और कुछ कम। **भाँग, शराब, अफीम, तम्बाकू** आदि सैकड़ों वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके सेवन से नशा होता है। सरकार ने नशीली वस्तुओं के व्यापार पर रोक लगाई है परन्तु इस विभाग से उसे पर्याप्त लाभ होता है। यह पैसा नशा सेवन करने वालों से दुकानदारों के माध्यम से सरकार के कोष में जाता है। नशीली वस्तुओं के भाव करों से अधिक लगने के कारण ऊँचे होते हैं। अतः कुछ लोग इनको अवैध रूप से ले जाने का प्रयास भी करते हैं, उन्हें सरकार दण्ड-विधान के अनुसार दण्डित करती है। नशा का सेवन करने वाले प्रारम्भ में तो उसका प्रयोग क्षणिक सुख के लिए करते हैं लेकिन बाद में उनकी आदत इस प्रकार हो जाती है कि उन्हें उस नशे के सेवन के बिना चैन ही नहीं पड़ता। यह आदत जब उन्हें अपने वश में कर लेती है तो वे किसी भी मूल्य पर उसको लेना चाहते हैं।

नशे की आदत से अनेक प्रकार को हानियाँ होती हैं। नशे की अवस्था में मनुष्य का विवेक कुण्ठित हो जाता है जिससे वह उल्टी-सीधी बातें करने लगता है तथा और भी बकने-झकने लगता है, जिससे पड़ोसियों को कष्ट होता है। नशीली वस्तुओं के सेवन से नाड़ियों पर अस्वाभाविक बल पड़ता है, जिससे उनकी कार्य-क्षमता में ह्रास हो जाता है, जिससे पाचन-क्रिया ठीक नहीं होती है और हृदय की शक्ति घट जाती है। नशा करते-करते एक समय ऐसा आ जाता है कि मनुष्य उस स्थिति में पहुँच जाता है कि वह उसके बिना रह ही नहीं सकता। वह अपना सब कुछ देकर भी नशा करना चाहता है। संसार में ऐसे करोड़ों उदाहरण मिल जायेंगे, जिन्होंने नशे के लिए अपना घर तवाह कर लिया।

नशाबन्दी का प्रभाव—सरकार ने जनता का सामाजिक स्तर उन्नत बनाने के लिए नशाबन्दी के लिए कानून बनाया है, जिसके अनुसार केवल कुछ लाइसेन्स प्राप्त व्यक्ति ही नशीली वस्तुओं को बेच सकते हैं। साधारण व्यक्ति नशीली वस्तुओं को लिये हुए यदि पाया जाता है तो उसके ऊपर मुकदमा चलाया जाता है। अभियोग

प्रमाणित हो जाने पर उसे दण्ड दिया जाता है। इस कानून का अभिप्राय है जनता को नशीली वस्तुओं के प्रयोग से बचाना। यह कानून सामान्यतया लाभकर भी हो रहा है। नशीली वस्तुओं की प्राप्ति में कठिनाई होने के कारण साधारणतया लोग इनके चक्कर में नहीं पड़ते। इसका प्रभाव यह होता है कि नशे का सेवन सीमित हो गया है। सरकारी प्रतिबन्ध होने के कारण इन वस्तुओं का तस्कर व्यवसाय भी बढ़ गया है। बहुत से लोग इन वस्तुओं का संगठित रूप से गुप्त ढंग से आयात-निर्यात किया करते हैं। नशे की वस्तुएँ अनेक रोगों में औषधि का भी काम करती हैं; अतः उनका पूर्ण निषेध सम्भव नहीं है। नशे का सेवन अधिकांश में व्यक्तिगत वस्तु है; इससे जिन्हें आवश्यकता होती है वे किसी न किसी प्रकार इसकी प्राप्ति का उपाय करते हैं; और अर्थवादी युग में अधिक पैसे के लालच से लोग इन वस्तुओं का गुप्त व्यापार भी करते हैं। स्वीकृत दुकानदार इन वस्तुओं के व्यापार से काफी लाभ उठाते हैं। चूँकि यह विषय व्यक्तिगत महत्व का है और सरकार की आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत है अतः सरकार भी सख्ती नहीं कर पाती है।

स्वतन्त्र भारत में नशाबन्दी—सन् १९४७ ई० में जब देश स्वतन्त्र हो गया तो विधायकों ने नशाबन्दी के लिए अनेक प्रस्तावों के प्रारूप तैयार किए। कतिपय संशोधनों के उपरान्त उन्हें विधिरूप भी प्राप्त हो गया फिर भी पूर्ण नशाबन्दी न हो सकी और सम्भव भी नहीं है, जैसा कि ऊपर बताया गया है। इसका प्रभाव प्रथम श्रेणी की जनता से लेकर साधारण जनता तक तथा उच्च अधिकारियों से लेकर चपरासियों और कुलियों तक में किसी न किसी रूप से व्याप्त है। बड़े-बड़े व्यवसायी धनी-मानी रईस, बड़े-बड़े अधिकारी प्रायः मानसिक थकान और क्लान्ति को दूर करने तथा नवीन स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए इन वस्तुओं का व्यवहार करते हैं। मध्यम वर्ग के लोग अपनी परेशानियों को भुलाने के लिए इनकी शरण में जाते हैं। यह दोनों वर्ग चूँकि जीवन को ऊंचे स्तर से व्यतीत करते हैं अतः इनकी बातें गुप्त सी रहती हैं। इनमें से अधिकांश का रहस्य कोई आसानी से भाँप भी नही पाता, किन्तु तृतीय श्रेणी के लोग अधिक परेशान रहने के कारण निम्न कोटि की नशीली वस्तुओ का सेवन करते हैं अतः उनकी दशा कारुणिक हो जाती है। वे नशे के पीछे तबाह हो जाते हैं, दाने-दाने के लिए मुहताज हो जाते है; उनके परिवार वाले उनकी इस आदत से ऊब जाते हैं, इससे उनको कोई सहारा नहीं मिल पाता। चूंकि उनका जीवन-क्रम निम्न स्तर में बीतता है; अतः उनकी बातें शीघ्रता से खुल जाती हैं। उनकी बदनामी होती है तथा उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं। कभी-कभी वे मारपीट, लड़ाई-झगड़े भी करते रहते हैं। कभी नशे की बेहोशी में सड़कों के किनारे गन्दी नालियों के पानी से सराबोर देखे जाते हैं तो कहीं अनाश्यक बकने के कारण मार खाते देखे जाते हैं। घर पर पहुँच कर कभी स्त्री-बच्चों से लड़ते-झगड़ते हैं, कभी घर की चीजों को बेचकर नशा का सेवन करते हैं। इस बुराई का महत्वपूर्ण संगी जुआ और वेश्यागमन भी है। इन दोषों का परस्पर साथ हो जाया करता है क्योंकि नशे की दशा में विवेक और चेतना तो कुण्ठित हो जाती है अतः व्यसनी साथी उन्हें जुआ तथा वेश्यागमन में परिचित करा देते हैं। बाद में तो पहले के शिष्य स्वाभाविक नियम के अनुसार गुरु बन ही जाते हैं। इस प्रकार यह संक्रामक रोग फैलता है। इसका प्रभाव भी व्यापक तथा दुस्साध्य होता है।

उपसंहार—नशीली वस्तुओं के सेवन का कोई भी समझदार व्यक्ति समर्थन नहीं करेगा किन्तु यदि इनका प्रयोग साधारण स्फूर्ति, सामान्य विश्राम तथा किंचित मनबहलाव के लिए औषधि रूप में न्यून मात्रा में किया जाय तो अनेक लाभ होते हैं। इस क्रम को नशे की सीमा में रखा भी नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसे लोगों पर नशे का प्रभाव नहीं होता। नशे का प्रभाव जब विवेक को शून्य और चेतना को उन्मत्त बना देता है तभी नशाबन्दी आवश्यक होती है यानी नशीली वस्तुओं का क्रय-विक्रय उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि मनुष्य का नैतिक स्तर। आवश्यक है कि जनता का नैतिक स्तर उठाया जाय। उनको व्यक्तिगत रूप से तथा सामाजिक रूप से सुधारने का प्रयास करना आवश्यक है। लेकिन सरकार इस कार्य को सरलता से कर नहीं सकती। फिर भी नशाबन्दी की योजनाएँ सफल तो बनाई ही जानी चाहिए और इसका कालान्तर में शुभ परिणाम अवश्य होगा।

७६. कुटीर उद्योग और भारत के लिए उनका महत्व

१—भूमिका, २—कुटीर उद्योगों की पृष्ठभूमि और आवश्यकता, ३—उसकी रूपरेखा, ४—उससे लाभ, ५—सरकारी सहयोग का रूप तथा आवश्यकता, ६—उसका प्रभाव, ७—उपसंहार।

भूमिका—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ पर प्रकृति ने गर्मी, बरसात और जाड़ा तीन प्रकार की ऋतुओं का विधान स्वाभाविक रूप से किया है। इन ऋतुओं में ग्रामीण जनता अपना काम समयानुसार करती है किन्तु उसके पास समय-समय पर कुछ खाली समय भी बचता है। उस समय का सामान्यतया सदुपयोग नहीं हो पाता है। साल के बारह महीनों में कुछ महीने अवश्य मिल सकते हैं जिनमें लोग कुछ ऐसे काम कर सकते हैं जिनमें उनकी साधारण आर्थिक आय हो जायगी जिससे वे अपने ऊपरी व्यय को सफलता से चला सकेंगे। उनकी अनिवार्य आवश्यकताएँ खेती से पूरी होती जाती हैं परन्तु इतर आवश्यकताओं का प्रबन्ध उनके लिए कठिन हो जाता है। इसके लिए अधिकांश ग्रामीण देहात से शहर चले जाते हैं और आगन्तुकों में से अधिकांश कष्ट सहकर, परेशान होकर फिर लौट जाते हैं, कुछ अशिक्षित मजदूरी करके जीवन बिताते हैं और शिक्षित वर्षों इधर-उधर भटक कर साधारण बाबूगिरी या कोई ऐसा ही काम करके जीविका कमाते हैं। उन्हें सुख के स्थान पर दुःख ही मिलता है और जीवन संघर्ष में प्रायः पराजित ही देखे जाते हैं। शहरों पर अनावश्यक भार भी बढ़ जाता है। इस प्रकार से इन कठिनाइयों से बचने के लिए कुटीर उद्योग-धन्धे उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। विशेषकार भारतवर्ष के लिए उनका अधिक महत्व हो सकता है।

कुटीर उद्योगों की पृष्ठभूमि और आवश्यकता—हर एक कार्य की पृष्ठभूमि होनी आवश्यक है। कुटीर उद्योगों की पृष्ठभूमि भारत में बहुत समृद्ध है। यहाँ की ग्रामीण जनता सामान्यतया गरीब है किन्तु सन्तोष की भावना रखती है। समयानुसार

काम से घबराता नहीं है । इस प्रकार कुटीर उद्योग के लिए यहाँ पर अच्छा पृष्ठभूमि है । किसी उद्योग के लिए पाँच बातें—भूमि, पूँजी, श्रम, संगठन और साहस आवश्यक होती हैं अतः ये सभी बातें गाँवों में कुटीर उद्योग के लिए सुलभ हैं । गाँव की जनता ऐसी बहुविधि होती है कि उसमें हर प्रकार के लोग समय-समय पर मिलते रहते हैं और उनकी सामान्य आवश्यकताएँ उन्हें अन्यत्र जाने को बाध्य करती हैं, अतः कुटीर उद्योग में यदि काम करने की सुविधा उन्हें मिले तो वे उसे चला सकते हैं । अतः कुटोर उद्योग उनके लिए आवश्यक हैं । देहात की आर्थिक और सामाजिक स्थिति के अनुसार भी ये उपयोगी हैं ।

कुटीर उद्योग की रूप-रेखा—कुटीर उद्योग उन उत्पादक व्यवसायों को कहते हैं जो थोड़ी पूँजी से थोड़े स्थान में दो चार आदमियों द्वारा ही चलाये जा सकें । शब्दार्थ ही बताता है कि जो उद्योग कुटिया में भी चल सके उसे कुटीर उद्योग कहा जायेगा । आटा की चक्की चलाना, दरी, कम्बल तथा टाट का कारोबार चलाना, करघे से कपड़ा बुनने का कार्य, गुड़ बनाने का कार्य, रस्सी बटना, जूते बनाना, कंघी बनाना, चटाइया तैयार करना, खराद की मशीन चलाना, देशी शक्कर का कारखाना चलाना, मेज-कुर्सी का कारखाना चलाना आदि कुटीर उद्योग कहे जायेंगे । इन उद्योगों के चलाने में सामान्य पूंजी लगती है, भूमि और कच्चे माल की व्यवस्था समीपवर्ती गाँव से हो जाती है । इसमें आदमी कम लगते हैं, पढ़ लिखे देहात के युवक किसी उद्योग के लिए आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करके काम चला सकते हैं । इन छोटे उद्योगों को करते हुए यथावसर खेती के काम में सहायता भी करते हैं और खाली समय अन्य लोग यानी परिवार के अन्य सदस्य भी सहायक हो सकते हैं । इस प्रकार शान्तिपूर्वक दोनों काम करते हुए अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं । उनके जीवन में ग्रामीण सरलता और भोलापन रहेगा; उनकी आवश्यकताएँ भी अधिक नहीं बढ़ेंगी और उन्हें दर-दर की ठोकर भी नहीं खानी पड़ेगी ।

कुटीर उद्योग से लाभ—सामान्य पूंजी से काम चलाकर लोग अपने ऊपरी व्यय के लिए धन कमा सकते हैं । जो माल तैयार होगा उससे देश के औद्योगीकरण में सहायता मिलेगी । लोगों को मानसिक कष्ट कम होगा दूसरी बात यह है कि जन-साधारण की औसत आय में वृद्धि होगी, अतः उनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठेगा इसका अर्थ होगा देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि तथा देश की सामूहिक उन्नति । बेकारी की समस्या सरलतापूर्वक हल हो जायेगी । कुटीर उद्योग अनेक स्थानों पर खुलेंगे और परस्पर स्पर्द्धा से लोग काम करेंगे और देहात के शिक्षित वर्ग का ध्यान निर्माण की ओर लगेगा और उन्हें रोजगार मिलेगा जिससे बेकारी कम होगी तथा उन्हें शांत और संतोष रहेगा । इसका परिणाम यह होगा कि राजनैतिक उलझनें कम पैदा होंगी । बेकारी की कमी होने से अनावश्यक खुराफात करने वालों का अभाव रहेगा । देश के नव-निर्माण में सहायता मिलेगी । देश का पैसा देश में ही रहेगा । इन उद्योगों से उत्पन्न वस्तुओं से देश को बिक्री करने के रूप में अधिक आय भी होगी । ग्रामीण जनता का जीवन-स्तर इससे आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च होगा । उन्हें अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए चिंतित नहीं रहना पड़ेगा । उनके मन में चंचलता नहीं आयेगी जो शहरी आकर्षणों से स्वाभाविक रूप में आ जाती है । इस

प्रकार शांत वातावरण में रहकर वे आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति करेंगे। उनमें आस्तिकता का विकास होगा तथा सांस्कृतिक विकास भी होगा। इस प्रकार के अनेक लाभ इससे होंगे

सरकारी सहयोग का रूप तथा आवश्यकता—कुटीर उद्योग की उन्नति में सरकारी सहायता आवश्यक है। बिना सरकार की सहायता से इस प्रकार के उद्योग नहीं प्रचलित हो सकते। यह सहायता औजारों के रूप में, निर्देशकों के रूप में तथा उचित स्थान-निर्धारण में सहायता के रूप में होनी चाहिए। सरकार आवश्यक उद्योगों के लिए मशीनें, जिनका मूल्य कम हो, जनता को दे, किन्तु उत्तरदायित्व एक व्यक्ति पर रहे। वह उसे अपने संरक्षण और निर्देशन में चलावे तथा उसके लाभ हानि का उत्तरदायी और भागी हो। इससे मशीनों का उचित मूल्य किश्तों पर उगाह लिया जाय। सरकारी कर्मचारी उसकी सहायता समयानुसार किया करें। इस प्रकार से इन उद्योगों को बढ़ाया जाय। जहाँ पर सम्भव हो वहाँ विद्युत-शक्ति चालित मशीनें दी जायँ और उसके लिए लोगों को ग्रामीण क्षेत्रों में ही शिक्षा भी दी जानी चाहिए ताकि वे उस काम में दक्षता प्राप्त कर सकें। ऐसे उद्योगों से उत्पन्न माल की बिक्री, जो देहात के उपयोग में अधिक हो, सरकार अपने संरक्षण में करावे जिसमें उचित रीति से उत्पादकों का ध्यान रहे। एक तखमीना लगाकर दामों को निर्धारित कर दे। किन्तु ऐसे उद्योगों को सरकार नियंत्रण में रखे और जनता में स्पर्द्धा की भावना को जमावे तथा प्रोत्साहन देवे ताकि इसकी उन्नति हो। जनता को स्वतंत्र रूप से कुटीर उद्योग चलाने की सुविधा सरकार को देनी चाहिए। इसी से कुटीर उद्योग बढ़ेंगे और लाभकारी होंगे। सौभाग्य से हमारी सरकार ने इस ओर ध्यान दिया है। अनेक व्यक्तियों को धन और मशीनें आदि दी हैं, जिनके प्रयोग से देश के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

कुटीर उद्योगों का देश की अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव—कुटीर उद्योगों की उन्नति का प्रभाव यह पड़ेगा कि जनता को स्वावलम्बन की शिक्षा मिलेगी, उसमें आत्मनिर्भरता आयेगी। वे अपने कार्यक्रम को वर्ष भर के लिए ठीक कर लेंगे। उनकी खेती को ऊपरी सहायता मिलने से दोनों (खेती और कुटीर उद्योग) परस्पर पूरक होकर यथावसर अधिक उपयोगी होंगे। लोग बराबर काम पर लगे रहेंगे और उनकी सामान्य आवश्यकताएँ पूरी होती रहेंगी तो उनमें वैर-विरोध न बढ़ेगा, न ही वे बुराइयों की ओर आकर्षित होंगे। वे ग्रामीण क्षेत्र में रहेंगे। अतः जीवन का क्रम एक नियमित मार्ग पर चलेगा। उनका पारिवारिक जीवन शांत तथा सुखमय रहेगा। वे अपने परिवार में रहेंगे अतः सामूहिक परिवार का पूरा लाभ उठायेंगे। इसके अतिरिक्त उनमें प्रेम-भाव भी बढ़ता जायेगा। सहयोग की भी व्यापक भावना जागेगी।

हमारे देश में निम्नलिखित कुटीर उद्योग पर विशेष बल दिया जा रहा है—

१. कपड़ा—कताई, बुनाई, सिलाई।

२. चमड़ा—खाल उधेड़ना, कमाना, जूते बनाना आदि।

३. तेल घानी उद्योग।

४. लकड़ी और बाँस का सामान बनाना।

५. पशुपालन, मधुमक्खी पालन, मुर्गी पालन।

६. चावल कूटना, साफ करना, हाथ से कागज बनाना, दियासलाई बनाना आदि।

उपसंहार—संसार के सभी देशों और सभी वर्गों में व्यवसाय के द्वारा उन्नति होती है। कृषि-व्यवस्था व्यापार बिना लगड़ी रहती है। बड़े-बड़े उद्योग एक निश्चित सीमा तक लाभदायक होते हैं पर आगे चलकर उनसे बेकारी तथा मन्दी की समस्या खड़ी हो जाती है। तैयार माल के बाजार की समस्या कठिन हो जाती है। कच्चे माल की प्राप्ति की समस्या कम कष्टदायी नहीं होती। जनता का स्वावलम्बन छिप जाता है। उसकी खाद्य समस्या विकट रूप धारण करती है। मजदूर वर्ग बढ़ जाता है, जिनका नैतिक स्तर गिर जाता है, उनमें उच्च भावनाओं का विकास नहीं होता तथा लोगों की भावनाएँ यन्त्रवत् हो जाती हैं। अत: देश की वास्तविक सर्वांगीण उन्नति कुटीर उद्योग से ही हो सकती है। भारत के लिए यह उद्योग परमावश्यक है। अत: कुटीर उद्योग-धन्धे देश के लिए अत्यन्त ही लाभदायक सिद्ध हुए हैं। इनकी उन्नति से देश की उन्नति होगी।

८०. आधुनिक परिवहन-साधन

१—भूमिका, २—स्थल पर संवाहन व्यवस्था, ३—जल से संवाहन व्यवस्था, ४—नभ में संवाहन व्यवस्था, ५—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य अपने उपयोग की सभी वस्तुओं को न तो उत्पन्न कर सकता है और न सभी वस्तुएँ एक स्थान पर उपलब्ध होती हैं, अत: आवागमन और संचार आवश्यक होता है। आवागमन और संचरण के लिए मार्ग आवश्यक है। प्राचीन-काल में जब सभ्यता का विकास प्रारम्भिक अवस्था में था तो भी मनुष्यों द्वारा माल का स्थानान्तरण होता था तथा सवारियाँ भी जाती थीं। पहले लोगों ने पहियेदार गाड़ियों का निर्माण किया। जलवायु के अनुसार विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार के पशु संवाहन-कार्य में लाये जाते हैं। वर्तमान युग में वैज्ञानिक आविष्कारों ने अनन्त और अपूर्व गतिवाली ऐसी मशीनों को बनाया है कि जल-स्थल-वायु तक में यान्त्रिक संवहन साधन प्रस्तुत कर दिया है। पद-यात्रा के लिए पगडण्डियाँ स्वयमेव आते-जाते बन जाती हैं। बैलगाड़ियाँ तथा अन्य गाड़ियों के लिए भी मार्ग बनाना पड़ता है। फिर भी पशुओं द्वारा चलाई जाने वाली गाड़ियाँ मन्द गति से चलती हैं, अत: वे कच्ची सड़कों पर भी सरलता से चल लेती हैं। किन्तु तीव्रगामी गाड़ियों के लिए कड़ी सड़कें बनानी पड़ती हैं, इसमें अधिक व्यय होता है। किन्तु उनकी कार्यक्षमता अधिक होती है, अत: औसत व्यय कम आता है। इस प्रकार उनको लौह-मार्ग बनाने पड़ते हैं और उन्हें खींचने के लिए शक्तिशाली इंजन काम में लाये जाते हैं। जहाँ पर यन्त्रों से सरलतापूर्वक काम नहीं चल सकता वहाँ अब भी पशु और मनुष्य बोझा ढोने तथा सवारी ढोने का काम करते हैं। आज के युग में संवाहन साधन पर्याप्त विकसित हो गये हैं; और उनकी गतिविधि जल, थल और नभ तक व्याप्त हो गई है।

स्थल पर संवाहन व्यवस्था—आजकल स्थल पर जहाँ कहीं भी भूमि सामान्यतया समतल है; वहाँ सड़कों और रेलवे लाइनों का जाल बिछ गया है। ग्रामीण क्षेत्रों में अब भी बैलगाड़ियों तथा मनुष्यों को सवारी और बोझ ढोना पड़ता है। उन अन्त: प्रदेशों में द्रुतगामी यन्त्रचालित गाड़ियों के लिए कड़ी और पक्की सड़कों का अभाव है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के पशु काम में लाये जाते हैं। टुण्ड्रा के बर्फीले मैदानों में कुत्तों के द्वारा बिना पहिये वाली स्लेज गाड़ियाँ चलाई जाती हैं। पर्वतीय और ठण्डे प्रदेशों में रेण्डियर और याक माल और सवारी को ढोने का काम करते हैं। घोड़े, हाथी, ऊँट, बैल, भैंस, खच्चर और गदहे आदि यथास्थान काम में लाये जाते हैं। इन पशुओं का दोहरा महत्व होता है। वे खेती का काम करते हैं तथा खाली समय में व्यावसायिक माल ढोने और सवारियाँ ले जाने का काम करते हैं।

इनके सिवाय स्थल पर संवाहन के सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं रेल तथा मोटरें। उनके आवागमन के लिए क्रमश: लोहे की रेलवे-लाइनें तथा पक्की सड़कें बनी हुई हैं। ये साधन तीव्र गति से चलने वाले हैं और इनकी माल ढोने की क्षमता अधिक होती है। अत: इन साधनों से यात्रा करने में यथा माल ढोने में समय और धन की काफी बचत होती है। इस प्रकार से अल्प-काल में दूर-दूर देशों में सरलतापूर्वक कम समय में माल भेजा जा सकता है। इससे ये साधन बड़े उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं और देश के औद्योगीकरण में बड़ी सहायता मिल रही है। इन साधनों के विकास के साथ ही साथ सभ्यता का विकास भी स्वत: होता है।

जल-मार्ग की परिवहन-व्यवस्था—जल के संवहन के कई प्रकार के साधनों का प्रयोज जल की व्यवस्था के अनुसार किया जाता है। नौकाएँ कम गहराई में तथा अपेक्षाकृत सामान्य प्रवाह में चलती हैं। प्राचीन काल से नावों का प्रयोग होता आ रहा है। इनके लिए मार्ग तो नहीं बनाना पड़ता, परन्तु मार्ग निश्चित करना आवश्यक होता है। नदियों में छोटी-बड़ी नावें चला करती हैं जो माल तथा सवारियों को ढोने का कार्य करती हैं। बड़ी नदियों तथा छोटे सागरों और बड़ी झीलों में स्टीमरों को काम में लाया जाता है। स्टीमर यन्त्र-चालित होते हैं तथा इनकी कार्यक्षमता भी अधिक होती है। सागरों में ही सहस्रों मील की दूरी पर स्थित देशों में पहुँच जाते हैं। इससे सवारी और माल भेजने में समय और व्यय की बचत होती है। इसके अतिरिक्त उन्नत तथा व्यापारी देशों के पक्के माल का सरलता से निर्यात तथा कच्चे माल का आयात भी किया जाता है। इस प्रकार समुद्रों की अगम्यता को लाँघकर विभिन्न देशों का सम्बन्ध घनिष्ठ और अन्योन्याश्रित हो गया है। अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, फ्रांस आदि देशों के बने माल भारत, बर्मा तथा अन्य एशियायी देशों में पहुँच जाते हैं तथा दूर देशों के कच्चे माल उन देशों में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार ये साधन अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के हो गये हैं।

नभ मार्ग के परिवहन-साधन—साधनों का विकास बड़ी द्रुत गति से हो रहा है। वर्तमान ऐतिहासिक युग में वायुयानों का प्रयोग सर्वप्रथम प्रथम विश्व-युद्ध में गुप्तचर कार्य के लिए अथवा संवहन के लिए किया गया था। फिर नभ में उड़ने वाले यानों की शिल्प कला में किया गया। उनकी कार्यक्षमता तथा रूप-रेखा में विकास

किया गया और द्वितीय महायुद्ध में इनकी उपादेयता और बढ़ गई। इनकी सहायता हल्की सैनिक सामग्री तथा सैनिकों के स्थानान्तरण में ली गई थी। इन वायुयानों की सहायता से युद्ध-कार्य भी किया गया तथा अनेक स्थानों में बमबारी भी की गई। हवाई आक्रमणों द्वारा पहले देश बरबाद किये जाते हैं, वायुयानों द्वारा सैनिक उतारे जाते हैं फिर मोटरों द्वारा सेना और सामग्री भेजी जाने लगती है। बचाव करने के अवसर पर भी इन वस्तुओं (साधनों) का उसी अनुपात में महत्व होता है। समय की बचत को ध्यान में रखते हुए लोग वायु मार्ग से यात्रा भी अधिक करने लगे हैं। पत्र, पत्रिकाएँ तथा सामान्य भार वाले आवश्यक माल भी वायुमार्ग से भेजे जाते हैं। इन साधनों के लिए मार्ग तो नहीं बनाना पड़ता पर निरन्तर मार्ग देखते रहना पड़ता है। इस प्रकार संवाहन व्यय-साधन सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं।

प्राचीन काल की और आधुनिक परिवहन व्यवस्था में अन्तर—प्राचीन काल में सड़कों के निर्माण में शासकीय तथा सामरिक दृष्टि को महत्व दिया गया था। सरकार इन सड़कों द्वारा राजधानी को विभिन्न महत्वपूर्ण नगरों से मिलाने का उपाय करती थी। ये सड़कें काफी लम्बी तथा अच्छी बनाई जाती थीं। उस समय यन्त्र-चालित गाड़ियों का आविष्कार नहीं हो पाया अतः पशु-चालित गाड़ियाँ इन्हीं सड़कों से चलती थीं। उनकी सुविधा के लिए धर्मशालायें और कुएँ आदि इनके किनारे बनाए जाते थे। इससे व्यापारिक माल का स्थानान्तरण भी होता था। प्राचीन काल में भारत का व्यवसाय दूर देशों में होता था अतः निश्चय ही उस समय आवागमन के साधनों की सुविधा रही होगी। वर्तमान युग में जब अंग्रेजों का शासन-काल आया तो उन्होंने व्यापारिक दृष्टि को भी महत्व दिया। पहले तो अंग्रेजों ने भी शासकीय तथा सामरिक दृष्टि से ही सड़कों का निर्माण कराया परन्तु बाद में व्यापारिक स्थानों तथा घनी आबादी वाले प्रदेशों से सड़कें बनवायीं। रेलवे लाइनों का जाल-सा बिछ गया और संवाहन साधनों का पूर्ण विकास हो गया। द्वितीय महायुद्ध के समय सरकार ने सार्वजनिक कार्यों में लगे साधनों को भी सैनिक सेवा में ले लिया फलतः साधारण जनता को बड़ी असुविधा होने लगी तथा स्थानीय यातायात में पशुओं का प्रयोग बढ़ गया था। किन्तु युद्ध के बाद फिर गाड़ियों की अधिकता हो गई और संवाहन-साधन की प्रचुरता हो गई। फिर औद्योगिक उन्नति के लिए चार पाँच कारखाने मोटर-निर्माण कार्य भी करने लगे जिससे देश में ही मोटरों के लगभग आधे से अधिक पुर्जे बनने लगे। इसी तरह जलयानों को बनाने के लिए कारखाने खोले गये हैं। देश को स्वावलम्बी बनाने के लिए प्रायः सभी प्रकार के यन्त्र बनने लगे हैं। प्राचीन काल की अपेक्षा हमने काफी उन्नति कर ली है और विश्वास है कि अति अल्पकाल में ही हम इस दिशा में विश्व में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेंगे।

उपसंहार—संसार में ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता जा रही है, त्यों-त्यों परिवहन साधनों का विकास भी होता जा रहा है। जो देश वर्तमान दृष्टिकोण से पिछड़े हुए माने जाते हैं वहाँ सभ्यता का विकास इन साधनों द्वारा सरलता से हो जाता है। संवाहन-साधनों की सुविधा रहने पर अनेक उद्योग-धन्धों की स्थापना और विकास होता है जिससे देश की आर्थिक उन्नति होती है। अतः एक उन्नतिशील देश के लिए संवाहन साधनों की उन्नति करना आवश्यक है। भारत इस कार्य को सफलतापूर्वक कर रहा है।

८१. भारत की आर्थिक उन्नति में कलों और यंत्रों का स्थान

१—भूमिका, २—आर्थिक उन्नति और कलें, ३—आर्थिक उन्नति के लिए भारत में कलों का निर्माण, ४—उपसंहार ।

भूमिका—किसी विद्वान ने कहा था "भारत एक धनी देश है जहाँ गरीब लोग बसते हैं ।" इस आलोचना का विरोधाभास मिटाकर यदि वास्तविक तात्पर्य निकाला जाय तो यह होगा कि भारत प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न है अर्थात् प्राकृतिक दृष्टि से भारत में वे साधन उपस्थित हैं जिनके व्यवहार से देश को सम्पन्न बनाया जा सकता है; अतः वह धनी देश है । किन्तु यहाँ की जनता उन प्राकृतिक साधनों का उपयोग नहीं कर पा रही है, अतः वह गरीब है । यह बात अक्षरशः सत्य है । आर्थिक उन्नति का अर्थ है आर्थिक दृष्टि से देश की सम्पन्नता । यह तभी आ सकती है जब देश के विभिन्न साधनों को एकत्रित करके उत्पादन के लिए प्रेरित किया जाय । जैसे नदी में पानी बह रहा है । काम करने वाले लाखों मजदूर पड़े हैं । पूंजीपतियों की तिजो-रियों और सरकारी कोषों में धन का अभाव नहीं है । प्रबन्ध करने की क्षमता से सम्पन्न बुद्धजीवी लोग नौकरी के लिए मारे-मारे फिर रहे हैं । अब इन सबको समन्वित किया जाय और नदियों में बाँध बाँधकर पानी की सतह उठाई जाय, नहरों के द्वारा पानी को सिंचाई के काम में लाया जाय एवं बांध पर के जलप्रपात से विद्युत शक्ति उत्पन्न की जाय । इसके लिए एक माध्यम और आवश्यक होता है जो सबको लक्ष्य तक पहुँचाता है । आज के वैज्ञानिक युग में यह माध्यम मशीन ही है जो सभी मध्यवर्ती कार्यों में मनुष्य की सहायक होती है । संक्षेप में यह जा सकता है कि भारत की आर्थिक उन्नति का अर्थ हुआ प्राकृतिक साधनों को उत्पादन में सहायक बनाना और इस कार्य में मशीनों का महत्वपूर्ण स्थान है ।

स्वतन्त्र भारत और यांत्रिक श्रम से प्रगति—भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् भारत के कर्णधारों का ध्यान देश की आर्थिक उन्नति को ओर गया । इसके लिए योजनाबद्ध विकास कार्यों का विधान किया गया है तथा इसके लिए प्रति योजना के लिए पाँच वर्ष का समय निश्चित किया गया । इसमें कृषि की उन्नति को प्राथमिकता दी गई । कृषि में पुराने भोंड़े साधनों के वजाय अच्छे उन्नत औजारों का प्रयोग बढ़ाया गया । खेती के काम में कलों का प्रयोग बढ़ाया गया । बड़े-बड़े किसानों ने ट्रैक्टरों का व्यवहार प्रारम्भ किया, जिससे खेतों की जुताई-बुआई का कार्य सरलता से अच्छी तरह से बड़े पैमाने पर होने लगा । सिंचाई के लिए ट्यूबवेल, नहरें आदि निकाली गयीं । इस तरह से उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न किया गया । इस कार्य में कलों के प्रयोग पर अधिक बल दिया गया । इस प्रकार कृषि की उन्नति में कला का स्थान महत्वपूर्ण हो गया है । मकान बनाने के सामानों के उत्पादन में भी मशीनों का बहुत महत्वपूर्ण योग है । कई सीमेंट तथा लोहे के कारखाने खोले गए जिससे देश में आत्मनिर्भरता आ रही है । जो माल विदेशों से बहुत अधिक व्यय करके आयात किया जाता था, वह अपने देश में ही बनने लगा है फलतः देश की पर्याप्त मात्रा में बचत हो रही है । जब सभी उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन भारत में ही होने लगेगा तो स्वभावतया देश की आर्थिक स्थिति सुधरेगी ।

मोटरों के पुर्जे, रेलवे इंजन और डिब्बे, रेल लाइनें, जहाज के इंजन, वायुयान, युद्ध सामग्री आदि का पहले पूर्णतया आयात किया जाता था जिससे अरबों रुपया विदेशों को हर वर्ष देना पड़ता था। मशीनों के प्रयोग से, कारखाने के निर्माण से अब अधिकांश उपभोग की वस्तुएँ देश में ही बनने लगीं जिससे देश की काफी सम्पत्ति बच रही है। इस प्रकार से देश की आर्थिक दशा तभी उन्नत होती है जब उस देश में विदेशों से तैयार माल कम आता है। अभी मशीनों के अनेक पुर्जे बाहर से मँगाने पड़ते हैं।

निर्यात—अब निर्यात् का विषय सामने आता है, आर्थिक उन्नति के लिए निर्यात् बढ़ाना आवश्यक होता है। निर्यात् तभी बढ़ सकता है, जबकि कारखानों का तैयार किया हुआ माल देश की आवश्यकता से अधिक हो। भारत चीनी, चाय, जूट कहवा, कपड़ा आदि अनेक वस्तुओं का निर्यात् करता है। इस निर्यात कोटे को बढ़ाने के लिए कारखानों की उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए, कलों की शक्ति में वृद्धि आवश्यक है। मशीनों का निर्माण ज्यों-ज्यों बढ़ता जा रहा है त्यों-त्यों नये औजार बनने लगे हैं। साथ ही साथ पुरानी मशीनों में सुधार होने लगा है। इस प्रकार से कलों की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हो रही है। स्वाभाविक है कि इस प्रकार औद्योगिक उन्नति में मशीनों का ही अधिक हाथ होता है।

औद्योगीकरण—भारत ने देश के औद्योगीकरण के लिए रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान आदि देशों की सहायता से कई बड़े-बड़े कारखाने स्थापित किए हैं। इस कारखाने में लाखों टन विभिन्न प्रकार का माल तैयार हो रहा है जो देश की आवश्यकता को पूरी करके आयात व्यवसाय को कम कर रहा है, तथा समयानुसार निर्यात के लिए भी कुछ माल तैयार हो रहा है। वायुयान और जलयान के अधिकांश पुर्जे अब भारत में बनने लगे हैं, अतः इसमें देश में भी धीरे-धीरे आत्म-निर्भरता बढ़ती जा रही है। युद्ध सामग्री उत्पादन के भी कई कारखाने केन्द्रीय सरकार के द्वारा चलाये जा रहे हैं जिनसे पर्याप्त मात्रा में उपयोग की वस्तुयें तैयार हो रही हैं। अतः भारत अब इन वस्तुओं का भी आयात घटा रहा है। इन सभी तैयारियों के मूल में प्रयोग ही मुख्य है।

सार्वजनिक स्वास्थ्य और यन्त्र—किसी भी राष्ट्र के लिए जन-स्वास्थ्य को ठीक रखना आवश्यक होता है। जन-स्वास्थ्य का मूल है शक्तिशाली औषधियों का निर्माण। भारत में औषधियों का निर्माण कम ही हो पाता था और करोड़ों रुपयों की औषधियाँ जर्मनी, ब्रिटेन, अमेरिका, जापान आदि देशों से मँगाई जाती थीं। अब भारत में औषधि निर्माण के लिए कई कारखाने खोले गये हैं तथा उनमें विभिन्न प्रकार की दवाइयाँ बनाई जा रही हैं, जिससे इस क्षेत्र में भी भारत की प्रगति संतोषजनक है। इस प्रगति में कलों द्वारा ही विशेष सहयोग मिल रहा है। आयुर्वेदिक, यूनानी तथा अँग्रेजी सभी प्रकार की दवाइयाँ तैयार हो रही हैं। प्रायः सभी उपयोगी दवाइयों के निर्माण से मनुष्यों और पशुओं सभी को सामूहिक रूप से लाभ हो रहा है। आन्तरिक रोगों की परीक्षा के लिए एक्स-रे जैसी मशीनें बन गई हैं जिससे शरीर के भीतरी अंगों की परीक्षा सरलता से हो जाती है और तदनुसार उनका उपचार होता है। चीर-फाड़ के लिए इतने साफ और तेज औजार बन गये हैं कि मस्तिष्क तक

का आपरेशन हो जाता है, बीमारी मिटा दी जाती है और मनुष्य का जीवन सुखमय हो जाता है।

यन्त्रों का उपयोग और बेरोजगारी की समस्या का समाधान—कारखानों के खुलने से लाखों आदमियों को काम मिलता है जिससे बेकारी की समस्या का सरलता से समाधान हो जाता है। वैज्ञानिकों को नये अनुसंधानों का अवसर मिलता है। साधारण शिक्षितों को लिखने पढ़ने के काम मिल जाते हैं। कारीगरों को अपने ढंग का काम मिलता है। मजदूर, राज आदि सभी प्रकार के लोग कारखानों की सहायता से अपनी जीविका का साधन प्राप्त कर लेते हैं। अत: बेकारी मिटाने का साधन कलों द्वारा मिलता है।

मनोरंजन के क्षेत्र में कल-पुर्जों का प्रयोग—मनोरंजन के साधन भी कलों द्वारा सस्ते और सुलभ हो गये। सिनेमा आदि से सरकार को बड़ी आय होती है। जनता भी विभिन्न प्रकार के दृश्य देखती है। मशीनों द्वारा यातायात में बड़ी सुविधा हो गई है। मोटर, रेलगाड़ियाँ, जहाज आदि से मनुष्य के कई प्रकार के कार्य सरल हो गये हैं। देश का औद्योगीकरण मशीनों द्वारा ही सम्भव होता है और औद्योगीकरण से ही देश की आर्थिक दशा की उन्नति होती है, जनता की आय बढ़ती है और लोगों के रहन-सहन का स्तर उन्नत बनता है। भारत कलों का उपयोग बढ़ाकर विश्व के उन्नत देशों के समान अपना व्यवसाय बढ़ाने का प्रयास कर रहा है और उसे सफलता भी मिल रही है। देश में कल-पुर्जों का निर्माण बढ़ाया जा रहा है। आज भारत की जो सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है तथा देश का आर्थिक विकास हो रहा है, उसके मूल में कलों का महत्वपूर्ण और प्राथमिक स्थान है। **कलों और कारखानों की उन्नति पर ही भारत का भविष्य निर्भर है। इनकी उन्नति के द्वारा ही देश में आनन्द का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है।**

८२. सामुदायिक विकास योजनाएँ

१—भूमिका, २—स्वतन्त्रता के बाद की स्थिति, ३—योजनाओं की आवश्यकता, ४—योजना का रूप, ५—योजनाओं से लाभ, ६—उपसंहार।

भूमिका—जब तक कोई देश पराधीन रहता है तब तक वह सामूहिक रूप से कार्य नहीं कर पाता, यदि करने का प्रयत्न करता है तो तत्कालीन विदेशी सरकारें उसके प्रति सन्देह करने लगती हैं। जनता में इतनी चेतना और शक्ति नहीं रहती कि वह इस प्रकार के कार्यों की योजनाएँ बनावे। दूसरी बात यह है कि सामूहिक और योजनाबद्ध कार्य सरकार के सहयोग से चल पाते हैं। किसी देश की उन्नति व्यक्तिगत उन्नति के आधार पर नहीं हो पाती। देश की उन्नति का अर्थ ही होता है देश की जनता की सामूहिक उन्नति। जब तक किसी देश की सामान्य जनता के जीवन का स्तर ऊँचा नहीं उठता, जब तक सामान्य लोगों की भोजन-वस्त्र-आवास की सुविधा नहीं मिलती तब तक कोई देश उन्नत नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष सदियों से

पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा रहा। विदेशी शासक अपने स्वार्थ को प्रमुखता देते रहे। देश में शान्ति-व्यवस्था के नाम पर अपना प्रभुत्व कायम किये रहे। उन्हें इस बात की चिन्ता कभी नहीं रहती थी कि देश की जनता की दशा कैसी है। ? किन्तु सन् १९४७ की १५ अगस्त को देश स्वतन्त्र हो गया। देश के नेताओं के सामने अनेक बड़ी समस्याएँ आईं, उनमें देश की आन्तरिक दशा के सुधार की भी समस्या थी। इस समस्या को हल करने के लिए सामूहिक और व्यक्तिगत उद्योगों की आवश्यकता थी। सरकार ने भारतीय जनता की स्थिति सुधारने के लिए सामुदायिक योजना बनाई। इनमें प्रत्येक योजना के लिए पाँच वर्ष का समय निश्चित किया गया।

स्वतन्त्रता के बाद की स्थिति—स्वतन्त्रता के साथ पाकिस्तान से विस्थापित लोगों का भारत में आना प्रारम्भ हो गया। इन शरणार्थियों को बसाने की समस्या सर्वाधिक जटिल थी। काश्मीर पाकिस्तान द्वारा उकसाये हुए कबायलियों का आक्रमण हो गया। काश्मीर भारतीय संघ में नियमतः मिल गया था अतः काश्मीर की सुरक्षा की समस्या दूसरी जटिल समस्या थी। देश की हिन्दू जनता स्थान-स्थान पर पाकिस्तान की कार्यवाहियों की प्रतिक्रिया के रूप में प्रतिशोध के लिए उत्तेजित हो रही थी। स्थान-स्थान पर अशान्ति का भय बन गया था। ऐसी स्थिति में शान्ति-व्यवस्था को बनाये रखने की समस्या भी जटिल हो गई थी। विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान पचपन करोड़ रुपये की माँग कर रहा था जो उसे मिलना था, यह भी समस्या थी। देशी रियासतों में से हैदराबाद, जूनागढ़ आदि अनेक देशी रियासतों के सम्बन्ध ठीक करने की अन्य समस्यायें थीं। देश में अन्न की कमी थी, सेना का अभाव था, अँग्रेजी फौज को विदा करना था, विदेशी आफिसरों को विदा करके देश के प्रशासनिक ढाँचे को सुधारना आदि अनेक समस्याएँ एक साथ ही आ गईं। फलतः उनके समाधान में नवोदित सरकार को पर्याप्त श्रम करना पड़ा। फिर भी सरकार ने सभी समस्याओं के समाधान का उपाय किया तथा साथ ही साथ देश की आन्तरिक स्थिति सुधारने के लिए सामुदायिक योजना बनाकर चलाने का भी प्रबन्ध किया।

योजनाओं की आवश्यकता—किसी काम को प्रारम्भ करने से पूर्व ही उसकी एक रूपरेखा बनानी पड़ती है। उसी रूपरेखा के अनुसार व्यय का अनुमानित आँकड़ा बनाया जाता है। इसके द्वारा यह अनुमान लगाया जाता है कि किसी कार्य को पूर्ण करने में कितना समय और कितना रुपया लगेगा तथा कितने लोगों की आवश्यकता होगी ? इसी रूप-रेखा को योजना का नाम दिया जाता है। भारत कृषि-प्रधान देश है, इसकी अधिकांश जनता गाँवों में रहती है और खेती करती है तथा दीन-हीन साधन विहीन है। अतः सिंचाई की योजना बनाकर खेती को सहायता देने का निश्चय किया गया तथा इसके साथ ही जल-विद्युत उत्पादन का ध्येय रखा गया क्योंकि दोनों का सम्बन्ध पानी से ही था। शिक्षा-प्रचार का भी ध्येय आवश्यक था क्योंकि पिच्चासी प्रतिशत जनता अशिक्षित थी। इस तरह के और भी सैकड़ों कार्य थे, जिन्हें करना आवश्यक था। इसके लिए सरकार ने योजना आयोग की नियुक्ति की। योजना आयोग ने सामुदायिक विकास योजना का निर्माण किया। इस योजना के अन्तर्गत अनेक प्रकार के कार्यों की योजना बनाई गई जिनके लिए कुछ

धन तो राज्य सरकारों को देना पड़ा और बाकी धन केन्द्रोय सरकार ने देने का निश्चय किया। इतने बड़े व्यापक कार्य को अनिश्चित रूप से तो आरम्भ नहीं किया जा सकता था अतः सामुदायिक योजनाओं की आवश्यकता पड़ी। सम्पूर्ण रूप-रेखा तैयार हो जाने के पश्चात् सामुदायिक योजनाओं को क्रियान्वित किया गया इस प्रकार की चार योजनाएँ हो गईं, तथा पाँचवीं चल रही है।

योजनाओं का रूप—पहली योजना में कृषि आय बढ़ाकर राष्ट्रीय आय में वृद्धि की योजना बनाई गई। इसके लिए सिंचाई की छोटो बड़ी कई योजनाएँ चलाई गईं। कई नदियों से बाँध बाँधकर पानी को एकत्रित करके नहरों द्वारा देश के अन्तः-प्रदेश में सिंचाई के लिए ले जाने की योजना बनाई गई। ये नदी घाटी योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इन योजनाओं से कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई तथा खाद्यान्न की समस्या हल करने में सहायता मिली। इसके बाद नलकूप लगाने की योजना बनाई गई जिसके अनुसार जहाँ नहर नहीं जा सकती थी वहाँ नल-कूप लगाये गये और छोटी-छोटी जल प्रणालियों द्वारा पानी को खेतों तक पहुँचाने का प्रबन्ध किया गया। नदी घाटी योजना में विद्युत उत्पादन के लिए मशीनें बैठाने की योजना बनी जिससे विद्युत शक्ति पैदा करके कारखानों को देने की योजना बनी। इन्हीं तथा निकटवर्ती स्थानों में विद्युत प्रकाश के वितरण को ध्यान में रखा गया।

कृषि सुधार के लिए उन्नत औजारों को देने तथा खाद और अच्छे बीज बाँटने की योजना बनाई गई। इस योजना के अन्तर्गत ग्रामीण जनता को खेती का नया और उन्नत ढंग बनाने के लिए ग्रामसेवकों तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति की गई। ग्रामीण क्षेत्रों को ब्लाकों में विभाजित कर दिया गया। इस प्रकार और भी अनेक कार्यों के लिए योजना बनी। पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए, उनकी बीमारी दूर करने के लिए अनेक केन्द्र स्थापित किये गये। उन्नत जाति के साँड और भैंसे गाँव वालों को दिये गये। स्थान-स्थान पर पशु चिकित्सालय खोले गये। इस प्रकार से योजना के प्रायः सभी अंगों की पूर्ति का उपाय किया गया।

सामुदायिक विकास योजनाओं से लाभ—इन योजनाओं से अनेक लाभ हुए। पहला लाभ तो यह हुआ कि शिक्षित लोगों को नौकरियाँ मिलीं तथा बेकारी की समस्या धीरे-धीरे घटने लगी। दूसरा लाभ यह हुआ कि सिंचाई की सुविधा पाने से कृषक वर्ग अपनी खेती में अधिक ध्यान देने लगा और उनकी उपज बढ़ने लगी। इससे उनकी आर्थिक दशा में सुधार होने लगा। इस कार्य में नये औजार और उन्नत बीज अधिक उपयोगी प्रमाणित हुए। उत्तम सांड़ और भैंसे होने से पशुओं की नस्ल में सुधार हो रहा है और अच्छे-अच्छे पशु बढ़ते जा रहे हैं। ग्रामीण कृषकों को खेती के उन्नत ढंग मालूम होते जा रहे हैं। नहरों और सड़कों के बनाने में बहुत कुछ भूमि सिमट गई फिर भी औसत उपज में वृद्धि तो हुई ही। इसके साथ ही ग्रामीणों के रहन-सहन के स्तर की कुछ न कुछ अवश्य वृद्धि हुई। विद्युत उत्पादन की योजना से ईंधन की बचत पर्याप्त मात्रा में होगी। सरलता से पार्श्ववर्ती प्रदेश में प्रकाश की प्राप्ति होगी। सामान्य तथा सार्वजनिक उपयोग के लिए सड़कों पर जल का अभाव दूर हो गया। राष्ट्र स्वावलम्बी तथा सम्पन्न होता जा रहा है। योजनाओं से नियमित कार्यक्षमता बढ़ रही है। प्राकृतिक साधन का सदुपयोग हो रहा है। देश अपनी सर्वाङ्गीण

उन्नति करने में समर्थ होता जा रहा है। इस प्रकार योजनाएँ लाभकारी सिद्ध हो रही हैं। आर्थिक स्थिति के सुधार से लोगों के चरित्र में सुधार हो रहा है।

उपसंहार—देश की उन्नति तब तक नहीं हो सकती है जब तक इन योजनाओं के साथ देश की जनता सहयोग नहीं करेगी तथा कर्मचारी न्याय और सत्य के आधार पर कर्तव्यपरायण नहीं होंगे। योजनाओं की सफलता में सबसे अधिक आवश्यकता है जनता के सहायोग की। उसके सहयोग पर ही सामुदायिक योजनाओं की सफलता निर्भर है।

८३. सहकारिता

१—भूमिका, २—सहकारिता की आवश्यकता, ३—सहकारिता के विभिन्न रूप, ४—सहकारिता के लाभ, ५—सहकारिता का प्रभाव, ६—उपसंहार।

भूमिका—जिस कार्य को एक व्यक्ति सुचारु रूप से नहीं कर पाता उसे सामूहिक रूप से करना लाभदायक हाता है। **उचित सहयोग से मिल-जुलकर काम करने की प्रणाली को सहकारिता कहते हैं।** अपनी वर्तमान बिगड़ी हुई आर्थिक परिस्थिति में भारत स्वाधीन हुआ है इसके समक्ष अनेक समस्यायें हैं, उन्हों से देश की जनता का आर्थिक विकास भी एक है। इसी आर्थिक विकास को पूरा करने के लिए देश के कर्णधारों ने देश को आर्थिक नीति को समाजवादी रूप देना प्रारम्भ किया है। सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं का आयोजन इसीलिए किया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामान्य और व्यापक दृष्टिकोण रखा गया था, जिससे सरकार ने सार्वजनिक उपयोग के निर्माण कार्यों को चलाया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सरकार ने सहकारिता को महत्व दिया। वर्तमान परिस्थिति में यह उपयोगी राष्ट्रीय आयोजन है। तीसरी और चौथी पंचवर्षीय योजनाओं में भी इसको व्यापक महत्व दिया जा रहा है। सहकारिता का आयोजन प्रायः उसी दशा में सफल होगा जबकि सहकारी इकाइयाँ छोटी होंगी और उनके कार्यों को लोग स्पष्टतया देख और समझ सकेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि लोगों का विश्वास इनके प्रति दृढ़ होगा। जनता किसी भी आयोजन से तभी सहयोग करती है, जब उसे उसकी उपयोगिता का विश्वास हो जाता है। अनेक आयोजन चलाये जाते हैं और जनता उनसे सहयोग भी करती है तथा थोड़ी बहुत हानि उठाकर तटस्थ हो जाती है। सहकारिता के विषय में भी कुछ ऐसी ही स्थिति देखी जाती है।

सहकारिता की आवश्यकता—सहकारिता की आवश्यकता है—खेती की व्यवस्था में सहायता के लिए; गाँवों में माल तैयार करने के लिए तथा ग्रामीणों की आवश्यकता के अनुसार ऋण आदि देने के लिए। इसके लिए आवश्यकता है पूरे गाँव को एक परिवार के समान परस्पर सहयोग से काम करने और रहने की। इसके लिए सबसे उपयुक्त क्षेत्र देहात है; जहाँ के लोग प्रायः गरीब हैं और अपने साधनों का समुचित उपयोग नहीं कर पाते। उनके पास धन की कमी होती है, जिससे वे

समय पर अपने व्यवसाय में पूँजी नहीं लगा पाते। इससे उन्हें ऋण दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए तथा उन्हें इस योग्य बनाना चाहिए कि वे ऋण को समयानुसार चुका सकें। इस संगठन की आवश्यकता है सेवा-भाव के विकास के लिए तथा कृषि तथा लघु उद्योगों की उन्नति के लिए जिससे ग्रामीण जनता का आर्थिक स्तर उठ सके। इसकी आवश्यकता इसलिए भी है कि सभी वर्गों को उन्नति का समान अवसर प्राप्त हो सके। इसका ध्येय केवल गाँवों की आर्थिक व्यवस्था सुधारना नहीं है बल्कि उसके विकास का पूरा प्रयास करना है। इसके दो मार्ग हैं—भूमि के स्वामित्व के भेद को मिटकर पूर्णरूप से सहकारी खेती की व्यवस्था करना ताकि सबकी भूमि रहे और सब लोग मिल-जुलकर कार्य करें। किन्तु इसमें एक यह भी भावना काम करती है कि ऐसे सामूहिक कार्य को कोई भी अपना नहीं समझता और सामान्यतया वह कार्य बिगड़ता ही अधिक है। व्यक्तिगत कार्य के साथ व्यक्ति का अपनापन रहता है। काल्पनिक साम्यवादी विचारधारा में भी कदाचित अपनेपन की भावना लोगों की बन नहीं पाती है। चीन की भुखमरी की समस्या इसका उदाहरण है किन्तु 'बहुजनहिताय' साधन जुटाने से पहले सहकारिता को बढ़ाना चाहिए। लोगों में इस भावना को दृढ़ करना चाहिए कि सामूहिक रूप में कार्य करना अधिक श्रेयष्कर है।

सहकारिता के विविध रूप—लोगों को अपनी रुचि के अनुसार पारस्परिक सहयोग के लिए प्रेरित किया जाय। कुछ लोग अपनी खेती अपनी इच्छानुसार करेंगे तथा कुछ लोग स्वयं आपस में अपनी जोतों को मिलाकर खेती करेंगे। इस प्रकार की स्वतंत्रता से लोगों में सहकारिता की भावना बढ़ेगी। सहयोग के साथ गाँवों की उपज एकत्रित की जाय। उचित समय पर उसकी बिक्री का प्रबन्ध हो और आन्तरिक समय में जिसे आवश्यकता हो उसे सहकारी कोष में से रुपया स्वल्प ब्याज पर दे दिया जाय। इसी प्रकार शिल्पियों की भी समितियाँ बनाई जायें और उनके उत्पादन की बिक्री की व्यवस्था की जाय ताकि बाध्य होकर उन्हें अपना माल न बेचना पड़े और न बाध्य होकर खरीद ही करनी पड़े। इस प्रकार की सहकारी समितियों का संगठन करना चाहिए और उनके कार्य को उचित रूप से चलाना चाहिए।

सरकार के केन्द्र से सम्बन्धित २२ राज्य सहकारी बैंक, ४९९ केन्द्रीय बैंक तथा बैंक संघ, १,२६,९५४ प्रारम्भिक ऋण समितियाँ और ९ केन्द्रीय तथा २९१ भूमि बन्धक बैंक हैं। प्रारम्भिक स्तर पर ३०,३०६ कृषि समितियाँ, ८,३८९ गैर किसानी ऋण समितियाँ और २१;१३० अन्य समितियाँ हैं। इन समितियों का पुनर्गठन किया गया है, और इसका आधार यह है कि सरकार भी इनमें हिस्सेदार है। इनमें बड़ी-बड़ी समितियाँ आवश्यकता पड़ने पर सरकार के रिजर्व बैंक से ऋण भी ले सकती हैं और कार्यक्षेत्र तथा क्षमता को बढ़ा सकती हैं।

सहकारिता के विकास कार्यक्रम के मुख्य लक्ष्य निम्नलिखित हैं :—

ऋण—	बड़ी समितियों की संख्या	१२,०००
	छोटी अवधि के ऋण का लक्ष्य	१५० करोड़ रु०
	मध्य अवधि के ऋण का लक्ष्य	५० करोड़ रु०
	लम्बी अवधि के ऋण का लक्ष्य	२५ करोड़ रु०

बिक्री और विधियाँ—	बिक्री समितियों की संख्या	१,७००
	चीनी के कारखाने	३६
	कपास ओटने की मशीनें	७७
	अन्य कार्यों की समितियाँ	११२
गोदाम और भण्डार—	केन्द्रीय और राज्य नियमों के गोदाम	३५०
	बिक्री समितियों के गोदाम	१७०
	बड़ी समितियों के गोदाम	५०००

ऊपर जिन विकास समितियों की सूची दी गई है, उसे पूर्ण करने के लिए सरकार ने रिजर्व बैंक के अतिरिक्त ४८,००,००,००० रुपया सुरक्षित कर दिया है। कृषि-मंत्रालय ने गाँवों के ऋण सर्वेक्षण की सुविधा के लिए कानून का प्रारूप तैयार कराया है। सरकार की इस व्यवस्था के अन्तर्गत २० लाख २५ हजार टन गल्ला सुरक्षित रखा जायगा। इस काम के लिए १०० बड़े-बड़े गोदाम बनेंगे जिनमें प्रत्येक में १० हजार से २० हजार टन तक अन्न रखा जा सकेगा। इसके लिए सरकार आवश्यक कार्यवाही कर रही है। ऐसा निश्चय किया गया है कि २५० गोदामों के बन जाने पर अन्न सुरक्षित करने की व्यवस्था हो सकेगी। यह सुरक्षित अन्न आवश्यकता के अनुसार सरकार अपने राजकीय काम में ले सकती है। किन्तु सामान्यतः इसे जनता के ही उपयोग में लगाया जाएगा।

सहकारिता से लाभ और उसके प्रभाव—सहकारिता से जनता में मिल-जुलकर काम करने की भावना बढ़ेगी जिससे लोग बड़े-बड़े कामों को सरलता से कर लेंगे। आय का समुचित विभाजन होगा और प्रत्येक परिवार अपना उचित हिस्सा पा सकेगा, जिससे अधिक लोगों का लाभ होगा। तीसरा लाभ यह है कि आवश्यतानुसार कम हानि पर सम्मान और धन सदस्यों को मिल जाया करेगा। इसके लिए उन्हें अधिक ब्याज या वस्तुओं का मूल्य नहीं देना पड़ेगा। लोगों में नैतिकता का विकास होगा और लोग आपस में प्रेम भाव से रहने लगेंगे, परिणामतः बैर-विरोध घट जायेगा और झगड़ा तथा मुकदमेबाजी कम हो जाएगी। आगे चलकर चुनाव में सरलता होगी। लोग सोच-समझ कर उचित व्यक्ति का चुनाव एकमत से करेंगे, जिससे दलबन्दी की भावना में कमी होगी। प्रतिनिधियों में भी सेवा-भाव तथा उत्तरदायित्व का उदय होगा। इस प्रकार देश का उत्थान सरलतापूर्वक होता जायेगा।

उपसंहार—सरकार की अनेक योजनाओं के समान सहकारिता की योजना भी कार्यालय की फाइलों पर खूब सफल हो रही है किन्तु सम्बन्धित क्षेत्रों में इससे स्वल्प लाभ ही हो रहा है। सरकारी कानूनों का इस प्रकार से पालन किया जाता है कि किसान बेचारे रुपया लेने और जमा करने में परेशान हो जाते हैं; उनका तीन तीन, चार-चार दिन का नुकसान होता है और अवसर बीत जाने पर उन्हें रुपया मिलता है। कार्यकर्त्ताओं के नखरे देखते-देखते वे ऊब जाते हैं। इन सहकारी समितियों के प्रति अशिक्षित अथवा शिक्षित सभी प्रकार के लोगों की उपेक्षा बढ़ती जा रही है। इस योजना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों में ऐक्य नहीं है अतः अपेक्षित लाभ नहीं हो पाता। ग्रामीण जनता की गतिविधियाँ भी इसके विकास में बाधक हो रही हैं कारण यह है कि कर्ज जिस काम के लिये लिया जाता है उससे इतर काम किया जाता

है। अतः हानि होती है, और रुपया भी समय पर नहीं दिया जाता। इस प्रकार से जनता को पूरा लाभ नहीं हो पाता। अतः सरकार को चाहिए कि सहकारिता को जनता के सहयोग से उसी के द्वारा चलवाए तथा उस पर सामान्यतः कठोर नियन्त्रण रखे तभी यह लाभकारी होगी।

८४. भारत में हरित-क्रान्ति

१—भूमिका, २—हरित-क्रान्ति के कारण, ३—हरित-क्रान्ति की प्रगति, ४—उपसंहार।

भूमिका—पिछली कई शताब्दियों से भारतीय कृषि पिछड़ी हुई अवस्था में रही है। कृषि के क्षेत्र में उन्हीं प्राचीन तरीकों को अपनाया जाता है और वही प्राचीन पद्धातियाँ चली आ रही हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कृषि के ढंग में परिवर्तन हुआ और किसानों के अन्दर चेतना आयी। भारतीय कृषकों ने एक नयी क्रान्ति को देखा जिसे कि हम "हरित-क्रान्ति" के नाम से पुकारते हैं। इसलिये व्यापक रूप से हम कह सकते हैं कि कृषि के क्षेत्र में नवीन मशीनों के उपयोग, उन्नत बीजों का प्रयोग, आदि के फलस्वरूप पंचवर्षीय योजनाओं में जो प्रगति हुई वह हरित-क्रान्ति का ही परिणाम है। उन्नत बीजों का प्रयोग, खादों का अधिक मात्रा में उपयोग, सिंचाई के उत्तम साधनों और कृषि के क्षेत्र में मशीनीकरण एवं पौधों की रक्षा के कार्यक्रम के फलस्वरूप इस देश में कृषि के क्षेत्र में एक क्रान्ति हुई जिसे कि हम हरित-क्रान्ति के नाम से पुकारते हैं।

हरित-क्रान्ति के कारण—भारत में हरित-क्रान्ति के अनेक कारण हैं। इण्डियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चर रिसर्च द्वारा की गई खोजों एवं विभिन्न विश्वविद्यालयों यथा कृषि विश्वविद्यालय लुधियाना और पंतनगर द्वारा की गई खोजें हैं। यहाँ हम उन मुख्य उपादानों का उपयोग कर रहे हैं जो कि इस देश में हरित-क्रान्ति लाने के लिये उत्तरदायी है।

भारत में हरित-क्रान्ति मुख्य रूप से उन्नत बीजों के फलस्वरूप आयी है जिसने कृषि के उन्नति में विशेष योगदान दिया है। गेहूँ की पी० एल० १८, कल्याण सोना २२७, सोनालिका एस० ३०८, बाजरे के लिये एस० बी०, चावल के लिये आई० आर० ८ आदि विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

रासायनिक खादों ने भी हरित-क्रान्ति में काफी हद तक योगदान दिया है। आजकल भारतीय किसान इन रासायनिक खादों का प्रयोग काफी मात्रा में कर रहा है। उदाहरणों के लिये वर्ष १९५० के दशक में नाइट्रोजन के प्रयोग में १४ प्रतिशत की प्रतिवर्ष की बढ़ोत्तरी रही और १९६० के दशक में यह वृद्धि २४ प्रतिशत रही।

आधुनिक युग में ऐसे पौधों का प्रयोग किया जाता है जो जल्दी पैदा होते हैं जिससे कि किसान एक वर्ष में 3 से लेकर 4 फसलें तक पैदा कर लेता है। गेहूँ के कुछ ऐसे बीज हैं जिनको दिसम्बर के मध्य में यदि बोया जाय तो भी पैदा हो जाते हैं। जब अप्रैल माह में गेहूँ काट लिया जाता है तो जमीन में पूरा बैसाखी मूँग बोया

जाता है। यह मूँग ६५ से ७० दिन के अन्दर तैयार हो जाता है और तत्पश्चात् जमीन को मानसून की फसलों के लिये उपयोग में लाया जा सकता है। इस प्रकार एक वर्ष में कम से कम ३ फसलों की प्राप्ति हो जाती है।

नवीन मशीनों और यंत्रों ने भी हरित-क्रान्ति को लाने में योगदान दिया है। इन मशीनों में ट्रैक्टर, हारवेस्टर, पम्पिंग सेट और ट्यूबवेल आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके फलस्वरूप कृषि की उपज में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

भारतीय कृषि को 'वर्षा का जुआ' कहा जाता है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से भारतीय किसानों ने केवल मात्र वर्षा पर निर्भर रहना छोड़ दिया है। भारत में सिंचाई के साधनों में तेजी से वृद्धि हुई है जिससे कि कृषि योग्य भूमि को समय पर उचित मात्रा में पानी मिल सके। काफी संख्या में ट्यूबवेल बनाये गये हैं और अनेकों क्षेत्रों में इनके हेतु बिजली का प्रयोग किया जाता है।

सरकार ने इस बात का प्रयास किया है कि अन्य वस्तुओं के साथ ही खाद्यान्नों आदि की वृद्धि में भी उचित वृद्धि हो जिससे कि किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य प्राप्त हो सके। इसके लिये भी कृषि के क्षेत्र में हरित-क्रान्ति आयी है।

सरकार द्वारा किसानों को अनाज इकट्ठा करने और उन्हें बेचने आदि की सुविधायें भी प्रदान की जाती है। अनाज को इकट्ठा करने के लिये बड़े-बड़े भण्डार बनाये गये हैं जिससे कि वर्षा आदि में अनाज खराब नहीं होता। किसान के माल को उसके खेत से भी ले आने की सुविधाएँ आधुनिक युग में देखने को मिलती है और इस सबके फलस्वरूप भी कृषि के क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हुयी है। आधुनिक युग में किसान सरकार और सहकारी समितियों से अपेक्षाकृत कम ब्याज पर ऋण प्राप्त कर सकते हैं। 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप साख-सुविधाओं में अधिक वृद्धि हुयी है।

हरित-क्रान्ति की प्रगति—आधुनिक युग में किसान उन्नत बीजों का प्रयोग रहे हैं। मुख्य फसलों के बीजों की व्यवस्था के क्षेत्र में हम आत्म-निर्भर हो चुके हैं और विदेशों से हम अच्छी किस्म के बीज ही मँगाते हैं। राष्ट्रीय बीज निगम ने इस क्षेत्र में काफी हद तक प्रगति की है और योगदान दे रहे हैं और विभिन्न राज्यों के किसानों की सुविधाओं को ध्यान में रख रहा है। इस निगम के माल का विक्रय मूल्य १९७०-७१ में ३.५५ करोड़ रुपया था जो कि १९७१-७२ में बढ़कर ४.६ करोड़ हो गया। मक्का, आलू, शकरकन्द, जूट-अरहर, तिलहन आदि की नयी किस्मों का १९७१ में प्रचार किया गया।

इन परियोजनाओं में १९६६ में खरीफ के मौसम में उन स्थानों पर फसलें बोई गई जहाँ कि सिंचाई की पर्याप्त सुविधायें उपलब्ध थीं। चावल, मक्का, ज्वार, बाजरे के उन्नत बीजों के प्रयोग के साथ ही अधिक मात्रा में खाद का भी प्रयोग किया गया। इस वृद्धि से इन परियोजनाओं में निरन्तर वृद्धि होती गई। वहाँ १९६६-६७ १,८९ करोड़ हेक्टर कृषि भूमि पर उन्नत बीजों का प्रयोग किया। १९७२-७३ तक यह भूमि २२ मिलियन हेक्टर हो गई।

रासायनिक खादों के क्षेत्र में काफी हद तक वृद्धि हुई। १९७१-७२ में इन खादों की मात्रा २६,५६ लाख टन हो गयी जो कि वर्ष १९७०-६१ में २२.५५ लाख

टन ही थी। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उनकी खपत का लक्ष्य ५५ लाख टन रखा गया था। किसानों को इन रासायनिक खादों आदि के खरीदने के लिये ऋण देने की सुविधाएँ भी प्रदान की गयीं। विदेशों से इन रासायनिक खादों को न मँगाना पड़े, इसके लिये देश में ही अनेक खाद कारखानों की स्थापना की गयी। इस बात का प्रयास किया जा रहा है कि खादों को इकट्ठा करने के लिये ग्रामों में भण्डार-गृहों की व्यवस्था की जाय।

खाद के क्षेत्र में स्थानीय स्रोतों को भी काम में लाने के लिये प्रयास किया जा रहा है। १९७१-७२ में ग्रामीण क्षेत्रों में तैयार की गयी खादों की मात्रा ७ करोड़ टन थी। १९७१-७२ में शहरी क्षेत्रों के स्रोतों द्वारा ३५ लाख टन का उत्पादन किया गया।

बहु फसल योजनाओं का कार्यक्रम वर्ष १९६७-६८ में आरम्भ किया गया। इस योजना के अन्तर्गत इस बात की व्यवस्था की गयी कि उन्नत बीजों के प्रयोग के फलस्वरूप वर्ष में कम से कम २ या ३ फसलों का उत्पादन भली-भांति किया जा सके। आधुनिक स्थिति यह है कि किसान वर्ष में ३ और अधिक से अधिक ४ फसलें पैदा कर रहा है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ९ मिलियन हेक्टर भूमि को बहु फसल योजना के अन्तर्गत लाने का लक्ष्य रखा गया। १९६९-७०, १९७०-७१ और १९७१-७२ में क्रमशः १.५२ मिलियन हेक्टर, १.९२ मिलियन हेक्टर और १.९१ मिलियन हेक्टर भूमि को इस क्षेत्र में लाया गया। १९७२-७३ और १९७३-७४ में लगभग ८१.८९ मिलियन हेक्टर भूमि को इस क्षेत्र में लाया गया।

कृषि के क्षेत्र में वृद्धि के हेतु लघु सिंचाई योजनाओं की भी व्यवस्था की गई है। इसके लिये भूमि से पानी निकालने, किसानों को सिंचाई के लिये ऋण देने आदि के क्षेत्र में काफी कार्य किया गया। भारत सरकार ने भी भूमिगत जल की खोज के लिये भू सर्वेक्षण विभाग का अलग से केन्द्रीय भूमिगत जल निगम बनाया है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में लघु सिंचाई योजनाओं के लिये ५११.७०, १९७०-७१ और १९७१-७२ में लगभग २९३ करोड़ रुपया इस क्षेत्र में खर्च किया गया है। १९७१-७२ तक ४.५ मिलियन हेक्टर भूमि को लघु सिंचाई योजनाओं द्वारा सिंचित करने की सुविधायें प्रदान कर दी गई थी।

'राजकीय फार्म निगम' की स्थापना सार्वजनिक क्षेत्र में १९६९ में ७ करोड़ रुपये की धनराशि से की गई है। इस निगम में पहले से चले आने वाले सूरतगढ़, हिसार और रायपुर आदि के फार्मों के प्रबन्ध को १ अगस्त १९६९ ई० को अपने हाथ में ले लिया। निगम ने केरल, पंजाब, तामिलनाडु, आसाम, मिजोरम, आदि के विभिन्न जिलों में नये फार्मों का गठन किया। साथ ही सरकार ने अधिक कृषि उपज वाले जिलों के लिये एक विशेष कार्यक्रम का प्रचलन पिछले कई वर्षों से लागू किया है। सबसे पहले इस कार्यक्रम को भली-भाँति तृतीय पंचवर्षीय योजना में लागू किया गया जब कि सरकार को खराब फसलों के फलस्वरूप खाद्यान्नों की कमी का अनुभव करना पड़ रहा था। यह कार्यक्रम कई राज्यों के एक-एक जिले में प्रारम्भ किया गया। केरल के दो जिलों को चुना गया। केवल उन्हीं जिलों का चुनाव किया गया जिनमें कुछ अधिक उपज होने की सम्भावना थी। इस समय यह कार्यक्रम १५ जिलों में

चलाया जा रहा है। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य इस बात का प्रदर्शन करना है कि कैसे अधिक मात्रा में अनाज उत्पन्न किया जा सकता है।

भारत सरकार ने पिछले कई वर्षों से किसानों के लिये अधिक से अधिक साख सुविधायें प्रदान करने का प्रयास किया है। अल्पकालीन, मध्यकालीन, और दीर्घकालीन कई प्रकार के ऋण किसानों को दिये जाते हैं। इस कार्य में सहकारी समितियाँ भी महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। १४ बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद कृषि के लिये दी जाने वाली साख में और अधिक वृद्धि हुई है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि के क्षेत्र में बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये हैं और उसके परिणामस्वरूप यहाँ प्रति एकड़ उपज में काफी वृद्धि हुई है। हरित क्रान्ति के क्षेत्र में अभी बहुत कुछ किया जाना है। अनेक ऐसे कारण हैं जो कि हरित-क्रान्ति के क्षेत्र में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। विभिन्न समस्याओं के निवारण के लिये प्रयास किये जाने हैं। भारत में नवीन ढंग से खेती हो रही है परन्तु कुछ ही राज्य ऐसे हैं जो खेती के नये ढंगों को अपना रहे हैं। इन राज्यों में पंजाब, हरियाणा, गुजरात और तामिलनाडु आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बहुत से राज्य अभी भी तकनीकी सुविधाओं से काफी हद तक वंचित है। अधिक उपज वाली बीजों का प्रयोग अभी सूखाग्रस्त इलाकों में नहीं हो पा रहा है। कुछ फसलों के लिये नवीन उपायों को काम में नहीं लाया जा रहा है। दालों, गन्ना, कपास, जूट आदि को उत्पन्न करने के लिये अधिक उपज वाले बीजों को अभी तक बहुत कम मात्रा में प्रयोग में लाया जा रहा है। हरित-क्रान्ति के फलस्वरूप कुछ धनवान किसानों को ही लाभ हुआ है और वे ही विभिन्न सुविधाओं का लाभ उठाने में समर्थ हुये हैं। गरीब किसान अभी भी इन सुविधाओं का उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। इन सब का परिणाम यह है कि अभी भी खाद्यान्न के क्षेत्र में हम आत्मनिर्भर नहीं हो पाये है।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हरित-क्रान्ति की सफलता के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार व्यक्त किये गये हैं। इस सम्बन्ध में डेवेट और वर्मा ने ठीक ही लिखा है, "हरित-क्रान्ति सफलता और उसके भविष्य के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। कुछ लोगों ने खेती के नवीन ढंगों को अपनाने का खुले दिल से स्वागत किया है परन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह कहते हैं कि जो ढंग अपनाये जा रहे हैं वे न तो "हरे" हैं और न "क्रान्तिकारी। वास्तविकता इन दोनों के मध्य की है। इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं है कि १९६६-६७ में जब से नये तकनीकी साधनों का विकास हुआ है कृषि के क्षेत्र में उपज में काफी वृद्धि हुई है। वास्तव में यह केवल मात्र "हरित-क्रान्ति" नहीं है बल्कि "मस्तिष्क की क्रान्ति" है जिसका सम्बन्ध प्रतिवर्ष-करोड़ों किसानों से है। भारतीय कृषि के इतिहास में पहली बार किसानों ने यह समझा है कि कृषि एक व्यापार है।

८५. धर्म और विज्ञान

१—भूमिका, २—मानव—धर्म एवं विज्ञान, ३—धर्म का प्रभाव एवं महत्व, ४—धर्म का विकृत रूप, ५—विज्ञान का बढ़ता हुआ प्रभाव और उसका महत्व ६—विज्ञान का पतनोन्मुख रूप, ७—उपसंहार ।

भूमिका—आधुनिक युग में धर्म का प्रभाव उत्तरोत्तर क्षीण होता जा रहा है। लोगों में नास्तिकता घर करती जा रही। इसका एक-मात्र कारण है विज्ञान की उन्नति। आज के युग में विज्ञान का प्रभाव विश्वव्यापी है। दो शताब्दी पूर्व यही स्थिति धर्म की थी। धर्मप्राण लोग विज्ञान तथा वैज्ञानिकों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनका मत यह था कि वैज्ञानिक अनुसन्धान धर्म-ग्रन्थों की शिक्षाओं के प्रतिकूल है तथा विज्ञान से नास्तिकता फैलती है।

मानव—धर्म एवं विज्ञान—धर्म व विज्ञान दोनों ने ही मानव-जाति की उन्नति में पूर्ण सहयोग दिया है। एक ने आंतरिक तो दूसरे ने बाह्य उन्नति के लिये। धर्म ने मानव को मानसिक शांति प्रदान की तो विज्ञान ने भौतिक सुख-शान्ति। धर्म ने मानव के हृदय को परिष्कृत किया तो विज्ञान ने उसकी बुद्धि को। भौतिक सुख-शांति से अधिक आवश्यक है मानसिक सुख शांति। ऐसा देखा गया है कि एक से एक धनवान एवं ऐश्वर्य सम्पन्न लोग शांति की खोज में उसे प्राप्त करने के लिये इधर-उधर भटकते रहते हैं। इसी प्रकार यदि मनुष्य समाज में सम्मानपूर्वक उचित स्थान प्राप्त करके जीवन व्यतीत करना चाहता है, तो उसके भौतिक सुख शान्ति की आवश्यकता होती है। अतः इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म और विज्ञान दोनों ही मानव जाति के लिये महत्वपूर्ण तत्व हैं तथा अनन्त कालों तक रहेंगे। यह बात दूसरी है कि किसी काल में धर्म की प्रधानता रहे, तो किसी काल में विज्ञान की।

धर्म का प्रभाव एवं महत्व—धर्म मानव हृदय की अत्यन्त उच्च उदात्त, पुनीत एवं पवित्र भावना है। धार्मिक भावना से मनुष्य में सात्विक प्रवृत्तियों का जन्म होता है। परोपकार, समाज-सेवा, सहयोग तथा सहानुभूति की भावना उत्पन होती है। धर्म के मार्ग में काम, लोभ, असत्य आदि मुख्य बाधायें हैं। मनुष्य धार्मिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर इन सब बाधाओं का सामना करता है तथा इन सब बाधाओं से अपने को दूर रखते हुये कष्टों को झेलते हुए सत्य के मार्ग का अनुसरण करता है। हिन्दू धर्म में कहा गया है कि मनुष्य का शरीर नाशवान है, लेकिन आत्मा अमर है, तथा मनुष्य का शरीर नष्ट होने के पश्चात् उसकी आत्मा कर्मों के अनुसार स्वर्ग अथवा नर्क लोक का अनुसरण करती है और कर्मों के फल का भोग करती है। अतः इसी कारण धार्मिक लोग किसी भी बुरे कार्य का अनुसरण नहीं करते। वह डरते हैं कि बुरे काम का दण्ड उन्हें मृत्यु के पश्चात् मिलेगा और इस प्रकार मनुष्य इन सिद्धान्तों का अनुसरण करता हुआ सत्य, अहिंसा एवं दया के मार्ग पर चलता चला जाता है तथा यह सिद्धान्त मनुष्य की आत्मा को पवित्रता की तथा मानव के चरित्र की रक्षा करते हैं।

इस प्रकार इस धर्म के मार्ग की शिक्षाओं का पालन करते हुये हजारों भारतीयों ने अपने को बुरे कर्मों से हटाकर अच्छे कार्यों में लगाया। इस धर्म का पालन करके मनुष्य ने देवत्व को प्राप्त किया। महापुरुषों ने कर्मों के लिये अपनी जान दे दी,

भ्रष्ट लोगों को सत्य का मार्ग दिखलाया, लोगों ने धर्म की अच्छाइयों को समझा और देवालयों का निर्माण किया तथा धर्म की उन्नति तथा रक्षा के सतत् प्रयत्न किये।

धर्म का विकृत रूप—हर उत्थान के बाद पतन अवश्य आता है। धर्म के इस विश्वव्यापी प्रभाव को देखकर तथा धर्म में मानव की अत्यन्त गूढ़ आस्था को देखकर मानव को लोभ से दूर रहने का उपदेश देने वाले पंडित स्वयं लोभ के चक्कर में फँसते गए। उन्होंने धर्म की आड़ में आडम्बरों के द्वारा भोली भाली जनता को लूटना प्रारम्भ कर दिया फलस्वरूप धर्म का पतन होने लगा तथा लोगों का विश्वास धर्म से उठने लगा।

विज्ञान का बढ़ता हुआ प्रभाव और उसका महत्व—विज्ञान ने धीरे-धीरे अत्यन्त उन्नति की। वैज्ञानिकों ने धर्म-ग्रन्थों में लिखी हुई बातों की सत्यता अथवा असत्यता को तर्कों के आधार पर सिद्ध कर दिया। विज्ञान प्रयोगों से उस हर चीज को सम्भव कर दिया जो मानव-जाति के लिये असम्भव था। चूँकि विज्ञान प्रत्येक वस्तु का तर्क तथा कारण प्रस्तुत करता था, अतः धीरे-धीरे लोगों की आस्था तथा विश्वास विज्ञान के प्रति बढ़ने लगे तथा मानव में तार्किक ज्ञान का विकास हुआ। इस कारण धर्म और विज्ञान परस्पर एक दूसरे के विरोधी हो गये। धर्म की आड़ में जो लोग मिथ्या तथा आडम्बर फैलाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में संलग्न थे, उनके काले कारनामों तथा ठग विद्या का भण्डा फूटने लगा। तर्क के द्वारा लोगों ने उनकी रूढ़ियों तथा आडम्बरों को असत्य करार दे दिया और लोगों का विश्वास धर्म पर से उठने लगा। इधर विज्ञान में लोगों की आस्था होने लगी। उन्होंने विज्ञान के महत्व को सही प्रकार से जाना और उसकी उन्नति में सहयोग प्रदान किया। विज्ञान ने धीरे-धीरे उन सब कथनों तथा बातों को जैसे हवा में उन्मुक्त विचारण करना एक स्थान से दूसरे के बारे में बैठे बैठे जान लेना आदि तथ्यों को चमत्कारिक रूप में सत्य कर दिखाया। विज्ञान के पाँचों तत्वों को अपने वश में कर लिया और उसने पाँचों तत्वों से अपनी इच्छानुसार सेवा सुश्रुषा प्राप्त की तथा मनुष्य की सुख-सुविधा के लिये प्रयुक्त किया किया। इस प्रकार की सुख सुविधायें सम्पूर्ण जगत को प्रदान करके विज्ञान ने धर्म-प्राण जनता का ध्यान अपनी ओर इस प्रकार आकर्षित कर लिया कि समस्त जनता विज्ञान की अनन्य उपासक हो गयी और आज विज्ञान की सहायता से मनुष्य के लिये अपनी पृथ्वी के बाहर आस-पास के ग्रहों की जानकारी प्राप्त करना भी सम्भव हो सका है।

विज्ञान का पतनोन्मुख रुख—हर उत्थान के बाद पतन अवश्य होता है और यही विज्ञान के साथ हो रहा है। इतने उत्थान के बाद जिस विज्ञान ने मानव की सेवा की तथा मनुष्य के लिये दास के समान जिस प्रकार सुख-सुविधा की वस्तुयें एकत्रित की, वही विज्ञान आज हमारी मानव-जाति के पतन का कारण बन बैठा। आज हम उसी विज्ञान के सेवक हो गये जो हमारे द्वारा विकसित किया गया। अपनी सुख-सुविधा तथा सुरक्षा के लिये विज्ञान को विकसित करते स्वयं वैज्ञानिकों ने उसे अपने लिये विनाशक के रूप में खड़ा कर दिया। जिन बमों, जहाजों विस्फोटकों, बन्दूकों, को हमने अपनी सुरक्षा के लिए बनाया वही सब वस्तुयें आज हमारे बीच विनाशकारी अस्त्रों के रूप में खड़ी है। विज्ञान के ही कारण हम जो कभी एक दूसरे

के अत्यन्त निकट थे, एक दूसरे से बहुत दूर हो गये हैं। एक दूसरे के रक्षक बनते बनते हम स्वयं एक दूसरे के भक्षक बन गये हैं।

उपसंहार—हम ही विज्ञान के पतनकारी रूप के लिए उत्तरदायी हैं। हमें ही इसको पुन: मानव-जाति की सुख सुविधा तथा सुरक्षा की ओर उन्मुख करना होगा। इसके लिये हमें बढ़ाना होगा—मैत्री की भावना को। विज्ञान का उपयोग करना होगा, शांति बनाये रखने में और मानव को सम्पन्न बनाने में। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि इसके लिये प्रयास करें तो विज्ञान पुन: हमारे लिये एक अच्छा सेवक सिद्ध हो सकता है। हम धर्म की उन्नति करके अपने को सच्चरित्र बना सकते हैं। हृदय को पवित्र कर अपने को शाँति प्रदान कर सकते हैं। इसके लिये लिये हमें धर्म के असली उद्देश्य तथा सिद्धान्तों को समझना होगा। धर्म के वास्तविक अर्थ को समझकर विज्ञान के आश्रय से मानव-जाति का कल्याण करना होगा।

८६. विज्ञान और विश्व शान्ति

१—भूमिका, २—विज्ञान के कतिपय महत्वपूर्ण आविष्कार, ३—युद्धास्त्रों की उन्नति तथा उनका प्रभाव, ४—विश्व-विनाश की आशंका, ५—विश्व-शान्ति में विज्ञान का योग, ६—विश्व-शान्ति कैसे हो ? ७—उपसंहार।

भूमिका—वर्तमान युग विज्ञान का युग कहा जाता है। हमारे सम्पूर्ण जीवन का विकास विज्ञान की उन्नति पर आश्रित है। साथ ही विज्ञान हमारे लिए अभिशाप भी बनता जा रहा है। विज्ञान की उन्नति और क्रमिक विकास द्रुत गति से होता जा रहा है। प्राचीनकाल में मानव ज्ञान की परिधि बहुत सीमित थी। मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग साधारण वस्तुओं के ज्ञान तथा शक्तियों के प्रयोग के लिए करता था। फिर क्रमश: उसे ऐसी वस्तुओं का पता चलता गया जिससे उसके हाथ में निर्माण की अपूर्व शक्ति आती गई। प्रारम्भिक अवस्था में उसने मनुष्य के दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के निर्माण के लिए यन्त्रों का निर्माण करना प्रारम्भ किया और दैत्याकार मशीनें बन गईं जो थोड़े समय में कुछ मनुष्यों की सहायता से बहुत अधिक काम करने लगीं। इनके व्यवहार से औद्योगीकरण बढ़ गया। समाज में व्यक्ति की आवश्यकताएँ बढ़ीं और लोग एक दूसरे पर उनकी पूर्ति के लिए अवलम्बित रहने लगे। औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में इतना अधिक माल तैयार होने लगा कि उसकी खपत के लिए बाजार ढूँढ़ना आवश्यक हो गया। इसके फलस्वरूप साम्राज्य और पूँजीवाद फैलने लगा। साथ ही किसान-मजदूर समस्याएँ भी बढ़ने लगीं। फिर लोकतन्त्र का विकास हुआ और अनेक राज्य नये सिरे से शक्तिशाली बने। संयुक्त राज्य अमेरिका और साम्यवादी रूस से वैज्ञानिक क्षेत्र में सर्वाधिक उन्नति की, फलत: उनकी शक्ति में अपार वृद्धि हुई और दोनों के अलग-अलग अनुयायी बने जिससे दो वर्ग बन गये। फिर कुछ तटस्थ राष्ट्र अस्तित्व में आये। इन सभी देशों के वैज्ञानिक अपने देश को शक्तिशाली बनाने के प्रयत्न में जुट गये। परीक्षण तथा प्रयोग होते गये और उनकी शक्ति से आतंकित विश्व के समक्ष सर्वनाश की

आशंका बलवती होने लगी। अनेक स्थानों पर मतभेद और झगड़े की स्थितियाँ हैं ही, जो युद्धाग्नि को भड़काने में समर्थ हैं। अतः विश्व-शान्ति की समस्या भी सामने आई। इस तरह विज्ञान और विश्व-शान्ति में मौलिक सम्बन्ध है, और दोनों एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं।

विज्ञान का जीवन पर व्यापक प्रभाव—विज्ञान ने इतने अधिक प्रकार के आविष्कार कर दिए हैं कि उनसे मानव-जीवन के सभी क्षेत्र पूर्णतया प्रभावित हो गये। उनमें कितने तो हमारे जीवन से इतने घुल-मिल गए हैं कि अब उनके अभाव में जीवन-यात्रा की कल्पना ही कठिन है। आज के युग में रेल, मोटर, हवाई जहाज, साइकिल आदि के अभाव में पैदल यात्रा की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। चीनी और चाय के कारखानों का स्मरण किए बिना ही हम चाय पीकर उसका आनन्द बराबर लेते रहते हैं। सिनेमा देखने में, रेडियो के प्रोग्राम सुनने में, टेलीविजन में हमें विज्ञान स्मरण भी नहीं आता, फिर भी ये सारी वस्तुएँ विज्ञान के ही चमत्कार हैं। संक्षेप में, विज्ञान ने हमारी दैनिक दिनचर्या में घर कर लिया है। प्राचीनकाल में भी युद्ध होते थे पर वे एकदेशीय और एकांगी होते थे। उनका प्रभाव विश्व-व्यापी नहीं होता था क्योंकि उस समय विज्ञान की सीमित उन्नति हो पाई थी। ईसा की द्वितीय शताब्दी तक दो व्यक्तियों के द्वन्द्व युद्ध से निर्णय हो जाता था। बाद में ज्यों-ज्यों विज्ञान का विकास होता गया त्यों-त्यों युद्धास्त्रों की शक्ति बढ़ती गयी और उनका प्रभाव व्यापक होता गया। १८वीं शताब्दी का पानीपत का युद्ध केवल भारत के ही कुछ भाग को प्रभावित करके रह गया। इस तरह के युद्धों में सेनाएँ लड़ती थीं और किसान अपनी कृषि और व्यापारी अपने व्यापार में लगे रहते थे। इङ्गलैण्ड का सप्तवर्षीय युद्ध चलता रहा, साथ ही और कार्य भी होते रहे। सन् १९१४-१९ तक प्रथम विश्व-युद्ध कुछ और व्यापक हो गया। जहाँ पूर्वकालीन युद्धों में केवल दो राष्ट्रों की सेनाएँ भाग लेती रहीं; वहाँ इस युद्ध में विश्व के सभी देशों की सेनाओं ने भाग लिया। किन्तु विज्ञान की व्यापक छाया में द्वितीय महायुद्ध का सीधा प्रभाव सेना और साधारण जनता दोनों पर पड़ा। परस्पर की बमबारी में ब्रिटेन और जर्मनी दोनों के व्यापार केन्द्र नष्ट हो गए। लाखों की संख्या में जनता मारी गई। जापान के हीरोशिमा और नागासाकी नामक नगरों पर जो एटम बम गिराये गए उनसे सम्पूर्ण मानवता कराह उठी। आज भयंकर शस्त्रास्त्रों के परीक्षणों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि आज का युद्ध निर्विशेष भाव से सामूहिक संहारकारी है और यदि युद्ध हुआ तो सम्पूर्ण संसार नष्ट हो जाएगा। यह सब किसके करिश्मे हैं। विज्ञान ने आतंक को इतनी व्यापकता दे दी है कि विश्व विनाश का भय उत्पन्न हो गया है तथा इसके प्रतिकार के लिए विश्व-शान्ति के प्रयत्न शुरू हो गये हैं। अरबों की लागत, वर्षों के परिश्रम का फल आज नष्ट होने जा रहा है या विश्व को नष्ट करने के लिए तैयार है। विज्ञान ने आज विभिन्न देशों के मनुष्यों को इतना समीप कर दिया है कि हर देश की समस्या विश्वस्तर पर सोची जा रही है। विज्ञान ने जहाँ सुविधाओं को बढ़ाया है वहाँ खतरे को भी बढ़ाया है, अतः विज्ञान से ही विश्व की समस्याएँ पैदा हुई हैं तथा वही विज्ञान विश्व-शान्ति में भी सहायक होगा।

विश्व-शान्ति में विज्ञान का योग—विश्व-शान्ति तभी सम्भव हो सकती है जब संसार की महान् शक्तियाँ ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनावें जिनके आधार पर सभी

राष्ट्रों के विनाशकारी शस्त्रास्त्र नष्ट कर दिये जायें, जिनसे व्यापक विनाश की सम्भावना है। यह कार्य सभी राष्ट्र आत्म-रक्षा की भावना से स्वयं करें। क्षेप्यास्त्रों, अणुबमों तथा न्यूक्लीयरों का विनाश किया जाय और भविष्य में इसके निर्माण का मार्ग रोक दिया जाय। वैज्ञानिकों को बाध्य करके कल्याणकारी आविष्कार कराये जायँ। स्वेच्छा तथा ईमानदारी से शायद ही कोई राष्ट्र ऐसे कार्य करे, क्योंकि मनुष्य की आसुरी प्रवृत्तियाँ और महत्वाकांक्षाएँ इसमें सबसे अधिक बाधाएँ उत्पन्न करेंगी। यात्रा के द्रुतगामी साधनों ने आज विश्व के विभिन्न देशों की दूरी को घटा दिया है और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि तैयार कर दी है, अतः आज शक्तिशाली विश्व की सरकार की आवश्यकता है। विश्व-शान्ति का एक ही उपाय है—राष्ट्रसंघ को सर्वाधिक शक्तिशाली संगठन बनाना। विश्व के सभी राष्ट्र उसके सदस्य हों, ताकि सभी को राष्ट्रसंघ के आदेश मानने के लिए बाध्य किया जा सके। राष्ट्रसंघ में बहुमत का आदर आवश्यक रूप से किया जाय। केन्द्रीय सत्ता के रूप में राष्ट्रसंघ के हाथ में नैतिक तथा सैनिक बल रखा जाय जिससे वह विद्रोही राष्ट्रों को दबाने में समर्थ हो। प्रत्येक देश अपनी प्रभुसत्ता का प्रयोग अपने राष्ट्र के हितों के लिए अवश्य करे, किन्तु सीमा सम्बन्धी तथा वैदेशिक सम्बन्ध राष्ट्रसंघ की स्वीकृति से स्थिर किए जाएँ। इस प्रकार विश्व-शान्ति सम्भव हो सकती है। विज्ञान ने ऐसे-ऐसे यात्रा के साधन तैयार कर दिए हैं कि वर्तमान युग में वह सब सम्भव हो सकता है। जिसकी पहले केवल कल्पना करते थे।

विश्व-शान्ति कैसे हो—विज्ञान को शान्ति के कार्यों में लगाया जाय। विश्व के बड़े वैज्ञानिक भविष्य में रक्षात्मक साधनों का निर्माण 'राष्ट्रसंघ' के तत्वावधान में करें। एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति का संगठन किया जाय जो वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं का स्वतन्त्रतापूर्वक निरीक्षण कर सके और प्रयोगशालाओं की गति-विधियों को आदेश दे सके। जो अस्त्र-शस्त्र बन गए हैं उनकी परम्परा रोक दी जाय, परिणामतः उनकी शक्ति भी स्वयंमेव नष्ट हो जायेगी। हर देश के वैज्ञानिक जब राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में रक्षात्मक आविष्कार करेंगे तो सभी देशों में इन घातक शस्त्रों से बचने के साधन बनेंगे और विश्व-शान्ति स्थापित होगी। यदि ऐसा न किया गया तो हमारा भविष्य अन्धकारमय है। हम बारूद के उस गोले पर खड़े हैं जो एक ही चिनगारी से सुलगकर सम्पूर्ण मानव-जाति को नष्ट कर सकता है। विज्ञान के इस भयंकर परिणाम से बचने के लिए हमें कृत-संकल्प होना है इसी में हमारा और आपका कल्याण है। संसार अपनी स्वाभाविक गति से चलता रहे इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

अभी हाल ही में संसार के महान् राष्ट्रों ने इस दिशा में सक्रिय कदम उठाया है। परमाणु उत्पादन निरोध सन्धि (Non-poliferation Theory) पर संसार के विविध राष्ट्रों ने रूस और अमेरिका की प्रेरणा से हस्ताक्षर किए हैं। विज्ञान के विश्वशान्ति के उपयोग की दशा में यह बड़ा ही महत्वपूर्ण और प्रभावशाली कदम है।

उपसंहार—यह आशा करना कि सभी राष्ट्र अपनी शक्ति स्वयं घटा देंगे और भविष्य में घातक निर्माण नहीं करेंगे, केवल कल्पनामात्र है। इसको कराने के

लिए महान शक्तिशाली निष्पक्ष संघ की आवश्यकता है और यह काम वैज्ञानिकों द्वारा कराया जाना चाहिए। सरकारों का यह नैतिक कर्तव्य हो गया है कि वे सभी अपने वैज्ञानिकों को इस दिशा में प्रेरित करें, तभी विज्ञान विश्वशान्ति में सहायक होगी।

८७. विज्ञान के चमत्कार

१—भूमिका और विधान की परिभाषा, २—विज्ञान मानव जीवन में सुख-सुविधा का साधन, ३—विज्ञान का युद्धास्त्रों के क्षेत्र में प्रभाव, ४—विज्ञान के अपूर्व आविष्कार, ५—वैज्ञानिक मानव, ६—उपसंहार।

भूमिका—विज्ञान का अर्थ है 'विशेष ज्ञान'। किसी भी विषय के क्रमबद्ध ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। भारतीय परम्परा में विज्ञान का प्रयोग आध्यात्मिक सिद्धि के लिए होता था। उसकी विशेषता उसकी अलौकिकता में निहित थी। वे वैज्ञानिक मुनिवर लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्य करते थे। आज अपने वर्तमान अर्थ में विज्ञान भौतिक ज्ञान की विशेषता से ओत-प्रोत है। आज विज्ञान का अर्थ उस ज्ञान से है जो प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर लिया गया होता है। एक युग था जब प्रकृति अनन्त शक्ति के रूप में पूजी जाती थी। आज भी उसकी शक्ति पूर्ववत् है किन्तु उसके तत्वों के अध्ययन द्वारा अनेक उपयोगी आविष्कार हो रहे हैं। प्रकृति के विभिन्न साधनों का अध्ययन और विश्लेषण करके मनुष्य ने अपने लिए अनेक आवश्यक चीजों का निर्माण कर लिया है। यह भौतिक विज्ञान की देन है। इसी प्रकार आज का विज्ञान रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, मनोविज्ञान आदि अनेक शाखाओं में विभाजित है। इन अनेक शाखाओं में अनेक आविष्कार होते जा रहे हैं, जिनके द्वारा मानव-जीवन की रूपरेखा ही बदलती जा रही है। मनुष्य की अधिकांश क्रियाएँ इन आविष्कारों से प्रभावित हो रही हैं। ये अपूर्व आविष्कार ही विज्ञान के चमत्कार हैं।

विज्ञान जीवन की सुख-सुविधा का साधन—आज मानव-जीवन अपने प्राकृतिक रूप से इतनी दूर जा चुका के कि उसका पहला रूप दिखाई ही नहीं पड़ता। वन-मानुष के रूप में रहने वाले मनुष्य को शब्द से दूनी गति से चलने वाले मनुष्य के रूप में बदलने का श्रेय किसे है—**विज्ञान के चमत्कारों को**। वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप ही मानव निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है। ज्यों-ज्यों विज्ञान उन्नति करता गया त्यों-त्यों मनुष्य की गति बढ़ती चली गई। पहले उसने पशुओं को पालकर उनसे काम लेकर अपनी बुद्धि का परिचय दिया। फिर पहियेदार गाड़ियों के निर्माण से और आगे बढ़ा और यह जान लिया कि पहिये वाली गाड़ियों को द्रुतगामी और अधिक भारवाही बनाया जा सकता है। उसने वाष्प की शक्ति का ज्ञान प्राप्त किया, फिर उसका नियमित रूप से संचालन करके वाष्प इंजिनों का निर्माण किया। ये वाष्प इंजिन हजारों टन का बोझ और सहस्रों मनुष्यों की सवारी लेकर रेलवे लाइनों पर पचासों मील प्रति घण्टे की गति से चलने लगे। फिर यात्रा की, व्यवसाय की समस्या काफी सरल हो गई। वैज्ञानिकों के प्रयोग आगे बढ़ते

गये और परिणामस्वरूप मोटर-कारें, बसें, ट्रकें, मोटर साइकिल, साइकिलें आदि अनेक प्रकार के यान यात्रा की समस्या को सुखमय और सरल बनाने लगे। जल में चलने वाले जलयान भी वाष्प-चालित यन्त्रों से चलाये जाने गये। फिर वैज्ञानिक दृष्टि ने पक्षियों का उड़ना, उनकी गति-विधि आदि का अध्ययन किया। कहानियों में उड़नखटोला, पुष्पक विमान आदि यानों का नाम सुना और आकाश में उड़ने वाले यन्त्र बनाने आरम्भ कर दिये। वैज्ञानिकों का मस्तिष्क प्रयोगशाला में प्रयोग कर रहा था। अनेक सफलताओं और असफलताओं के बाद एक दिन कुछ देर के लिए वह आकाश में उड़ने में सफल हो गया। फिर सुधार और परिवर्तन-परिवर्द्धन किये गये और आज बड़े-बड़े दैत्याकार लड़ाकू विमान, जेट-विमान, राकेट आदि वायु में उड़ते दिखाई पड़ते हैं। ये सब वैज्ञानिक चमत्कार के सिवाय और कुछ नही हैं।

संचार साधनों का कमाल—आज हम अपने कमरे में बैठे-बैठे कभी रेडियो द्वारा न्यूयार्क में स्थित राष्ट्र संघ की बहस सुनते हैं तो कभी दिल्ली और सीलोन के गाने सुनते हैं। तनिक-सा स्विच घुमाया नहीं कि इंग्लैण्ड के नाचघर का समाचार आ गया। क्षण भर में स्विच घुमाया नहीं कि दूरस्थ कवि-सम्मेलन का आनन्द लेने लगे। तात्पर्य यह कि एक ही स्थान पर बैठे-बैठे दुनियाँ के अनेक स्थानों का समाचार सुनते हैं। संसार की सम्पूर्ण गतिविधि हमारी आँखों के सम्मुख तुरन्त आ जाती है। ध्वनि-विज्ञान के ये चमत्कार आज सरल और सहज हो गये हैं। इसके द्वारा मनुष्य के मनोरंजन और ज्ञानार्जन का काम अत्यन्त सरल तथा व्यापक हो गया है। यह चमत्कार तब और अधिक आश्चर्य पैदा करता है, जब छोटे से बक्स जैसी चीज को हाथ में लिए हुए अनेक स्थानों के समाचारों और गानों को सुनते किसी व्यक्ति को सड़क पर जाते देखा जाता है। यह सब विज्ञान के ही चमत्कार हैं। इसी प्रकार टैलीफोन, टैलीविजन आदि अनेक ऐसे आविष्कार हैं जो हमें दूर बैठे हुए लोगों से साक्षात् वार्तालाप का अवसर देते हैं। इन यन्त्रों में तो केवल शब्द ही सुनाई पड़ता है। सिनेमा में बैठ जाइये, अनेक प्रकार के दृश्य आँखों के सामने आते चले जाते हैं। वहाँ मानव आकृतियाँ और अन्य प्रकार के प्राणी हाव-भाव तथा वार्तालाप करते और नाचते-गाते दिखाये जाते हैं। वे सब यद्यपि चित्र ही होते हैं पर वे सभी चित्र सजीव जान पड़ते हैं। नाटकों की कहानियाँ, ऐतिहासिक घटनायें, विभिन्न प्रकार की वास्तविक तथा काल्पनिक कहानियों का चलता-बोलता चित्र, प्रकृति की मनोहर रंग-भूमि, खूँखार पशुओं की दहाड़ आदि सभी कुछ दिखाये जाते हैं। यह सब भी विज्ञान के ही चमत्कार हैं। इसी प्रकार और भी मनोरंजन के साधनों को विज्ञान ने सुलभ बना दिया है। शरीर-विज्ञान तथा रोगों की चिकित्सा के क्षेत्र में विज्ञान ने ऐसे-ऐसे आविष्कार किये हैं कि ऐक्स-रे की मशीन की सहायता से शरीर के भीतर अंगों का चित्र सरलतापूर्वक खींचा जा सकता है। ऐसी दवाइयों का निर्माण हो गया है कि भयंकर रोगों की चिकित्सा सरल हो गई है। इस प्रकार जीवन की सुख-सुविधा की वृद्धि में वैज्ञानिक चमत्कार पूर्ण रूप से सहायक बने हैं।

नरसंहार का सशक्त साधन—युद्ध के क्षेत्र में विज्ञान ने और भी अपूर्व चमत्कार दिखाया है। एक युग था जब युद्ध का निर्णय द्वन्द्व युद्ध से ही हो जाता था। वे युद्ध दो व्यक्तियों तक ही सीमित रहते थे। आगे चलकर तोपों और बन्दूकों का प्रयोग

प्रारम्भ हुआ और युद्ध की व्यापकता बढ़ गई और इसका प्रभाव एकदेशीय हो गया। इस दशा में विज्ञान की शैशवावस्था थी। बीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने अपूर्व प्रगति की और द्वितीय महायुद्ध में इसके चत्मकारों ने अपनी सामान्य झाँकी दिखाई। परिणाम यह हुआ कि एक ही ऐटम बम ने जापानी शक्ति की कमर तोड़ दी। जर्मनी, इंग्लैंड, फ्रांस आदि देशों ने वैज्ञानिक चमत्कारों को आँखें फाड़कर देखा। विनाश का ताण्डव नृत्य होता रहा। आक्रमणकारी वायुयान बम-वर्षा करके भाग जाते थे, और आक्रान्त देखते रह जाते थे। दूसरे विश्व युद्ध के बाद तो विज्ञान का विकास युद्ध क्षेत्र में ही अधिक चमत्कारपूर्ण हुआ। अणु बम, क्षेप्यास्त्र, हाइड्रोजन बम आदि अनेक आविष्कार हुए और विश्व को विनाश के कगार पर खड़ा कर दिया। वायुयानों की शक्ति और गति में अभूतपूर्व उन्नति हुई। ध्वनि से दुगनी गति से चलने वाले लड़ाकू विमान निःशब्द आकाश में उड़ने लगे जिनमें सैकड़ों मन गोला-बारूद तथा सैकड़ों सैनिक क्षण-मात्र में हजारों मील की दूरी पर भेजे जा सकते हैं। आज का युद्ध विश्व-व्यापी प्रभाव वाला हो गया है। विश्व को विनाश से बचाने के लिए निःशस्त्रीकरण द्वारा विश्व-शान्ति की कोशिशें हो रही हैं। यह सब उथल-पुथल कौन कर रहा है? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है 'विज्ञान के चमत्कार।'

वैज्ञानिक मानव—आज का मानव वैज्ञानिक मानव बन गया है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण विज्ञान के चमत्कारों से प्रभावित है। शस्त्रास्त्रों की शक्ति पर उसे विश्वास है, विज्ञान से ही वह जी रहा है, और विज्ञान से ही वह अपनी मृत्यु के साधन जुटा रहा है। इस युग में मनुष्य का मस्तिष्क बढ़ता जा रहा है और उसका हृदय-पक्ष घटता जा रहा है। वह यन्त्रों के प्रभाव में यन्त्रवत् होता जा रहा है। मनुष्य की मानवता और भावुकता का ह्रास होता जा रहा है। वह तर्कमय और विज्ञापन हो गया है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि दिन-प्रतिदिन मनुष्य की आध्यात्मिक भावना निर्बल होती जा रही है अतः उसके जीवन का संतुलन मिटता जा रहा है। यह सब विज्ञान के चमत्कार का ही प्रभाव है।

उपसंहार—वर्तमान युग सचमुच ही विज्ञान का युग बन गया है। इस युग में प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए सबल साधन एकत्र हो रहे हैं। चन्द्रलोक तथा अन्य लोकों की यात्रा की तैयारी हो रही है। पर भू-लोक रह पाएगा, इसमें सन्देह उत्पन्न हो गया है। अमरीकी अन्तरिक्ष यान अपोलो—८ चन्द्र की छः दिवसीय यात्रा में तीन अन्तरिक्ष यात्रियों को ले गया। वह चन्द्रमा की १० बार परिक्रमा करके २७ दिसम्बर सन् १९६८ को रात्रि को ९ बजे पृथ्वी पर उत्तर चुका है। ऐसा जान पड़ता है कि विज्ञान के चमत्कार थोड़े दिनों में प्रकृति में ऐसी हलचल उत्पन्न कर देंगे जिसका संभालना असम्भव-सा हो जायेगा। प्रसाद जी का कथन कि—'प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित थे हम सब अपने मद में' की पुनरावृत्ति होना चाहती है। इसका श्रेय और उत्तरदायित्व विज्ञान के चमत्कारों को ही होगा।

विज्ञान के चमत्कार ने मनुष्य को अन्तरिक्ष में पहुँचा दिया है। आज का युग विज्ञान का अन्तरिक्ष युग है। विज्ञान के चमत्कारों के चरण फिर भी आगे बढ़ रहे हैं। इसके अन्य चमत्कार क्या होंगे—यह भविष्य ही बतायेगा।

८८. मानव द्वारा अन्तरिक्ष विजय-कहानी 'बालचन्द' (स्पुतनिक) से अपोलो—अब तक

१—भूमिका, २—विज्ञान की प्रगति और अन्तरिक्ष विजय की लालसा, ३—अंतरिक्ष विजय की दिशा में किए गए विविध प्रयत्न—बाल स्पुतनिक, पशुयुक्त राकेट भेजना, मानव द्वारा अन्तरिक्ष यात्रा, चन्द्रविजय अभियान, विविध अपोलो और अन्तरिक्ष विजय।

भूमिका—विज्ञान की प्रवृत्ति के साथ-साथ मनुष्य ने इस संसार से परे उस लोक में अपना अधिकार जमाने का प्रयास किया। उसने सौरमंडल के अन्य ग्रहों की यात्रा करने का प्रयास किया और यह प्रयास किया कि किस तरह से वहाँ जाकर अपनी पताका लहराये। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् रूस और अमेरिका जैसे विशाल देशों ने अन्तरिक्ष अनुसंधान का कार्यक्रम तैयार किया। अन्तरिक्ष विजय के क्षेत्र में यही दो बड़े प्रतिद्वन्द्वी थे अन्य देशों ने भी अपनी वैज्ञानिक प्रगति के आधार पर इस दिशा में कुछ प्रयास किया, किन्तु सबसे अधिक आगे रहा रूस और अमेरिका। इस अभियान का मुख्य उद्देश्य था अन्तरिक्ष को पृथ्वी के उपयोग में लाना और मनुष्य को लीलास्थली का विकास पृथ्वी की सीमा के बाहर कर लेना। द्वितीय विश्व-युद्ध में और उसके उपरान्त सामरिक क्षेत्र के उपयोग में लाये जाने वाले राकेटों की खोज ने इस क्षेत्र में बहुत अधिक सहायता की और वैज्ञानिकों और प्रशासकों का ध्यान इस ओर गया। अन्तरिक्ष विजय के क्षेत्र में सबसे पहले कार्यक्रम में वहाँ के मौसम की जानकारी प्राप्त करने वाले यन्त्र आदि भेजे गये। अन्तरिक्ष अभियान और अनुसंधान का कार्यक्रम सन् १९५७ में सबसे पहले सामने आया। ४ अक्तूबर को रूस ने अन्तरिक्ष में एक स्पुतनिक अथवा बालचन्द्र प्रेषित किया। यह कार्यक्रम सफल रहा। तदुपरान्त ३ नवम्बर, १९५७ को पुन: एक बाल चन्द्र अन्तरिक्ष में भेजा गया। इस बार इसमें लाइका नाम की एक कुतिया थी जो ७ दिन तक अन्तरिक्ष में घूमने वाले बालचन्द्र में जीवित रही। इसके पश्चात् सन् १९५८ में अमेरिका ने इस क्षेत्र में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। ३१ जनवरी १९५८ को एक्सप्लोरर नाम का एक यान अन्तरिक्ष में भेजा गया। १५ मई १९५८ को पुन: रूस ने एक स्पुतनिक भेजा जिसमें स्वचालित ताप नियंत्रक यन्त्र लगा हुआ था इस स्पुतनिक का मुख्य उद्देश्य था अन्तरिक्ष को जलवायु और तापमान आदि के विषय में जानकारी प्राप्त करना। इसके पश्चात् अमेरिका ने ११ अक्तूबर १९५८ को पाइनियर-१ भेजा इस यान न २२ घण्टे में चाँद और पृथ्वी का दूरी का १/३ भाग तय कर लिया। सन् १९५९ में रूस ने इस दिशा में अनेक स्पुतनिक भेजे। स्पुतनिक की अपेक्षा यह उस दशा में काफी आगे की बात थी। सन् १९६० में रूस और अमेरिका न विविध यान अन्तरिक्ष और चन्द्रमा की ओर भजे। सन् १९६१ में रूस ने शुक्रग्रहक के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए वीनस प्रोब (Venus Probe) नाम का यान भेजा। इसके बाद १२ अप्रैल १९६१ को बास्टक नामक यान में यूरी गेगारिन नाम के एक जीबाज वायु सैनिक की पृथ्वी से १८८ मील ऊँचाई में भेज दिया और १०८ मिनट अन्तरिक्ष में चक्कर लगाने के पश्चात् वह पृथ्वी पर लौट आया।

इसके पश्चात् ५ मई, १९६१ को अमेरिका ने एक अन्तरिक्ष यान भेजा। इसमें ऐलेन शैफर्ड एक अन्तरिक्ष यात्री प्रतिष्ठित था जो अन्तरिक्ष में १५ मिनट रहने के बाद वापिस आ गया। इसके पश्चात् अमेरिका ने थोड़ा और प्रयास किया और २१ जुलाई १९६१ को एक दूसरे अन्तरिक्ष यात्री वर्जिल ग्रीसम को पुनः भेजा।

अगस्त १९६१ को रूस ने इस दिशा में पुनः अपनी प्रगति का परिचय दिया और उसने दूसरे रूसी अन्तरिक्ष यात्री धर्मन तीतोब की अन्तरिक्ष में चक्कर लगाने के लिए भेज दिया। उन्होंने अन्तरिक्ष में १७ चक्कर लगाये और पैराशूट से नीचे उतर आये। इसके पश्चात् अमेरिका ने इस दिशा में कुछ और प्रगति की। २९ नवम्बर, १९६१ को इसने एक वनमानुष अथवा चिम्पैंजी को अन्तरिक्ष में भेज दिया २० फरवरी १९६२ को तीसरा अमेरिकी अन्तरिक्ष यात्री यान ग्लेस अन्तरिक्ष में ४ घण्टे ५७ मिनट में ३ चक्कर लगाकर वापिस लौट आया। इसके पश्चात् २४ मई, १९६२ को अमेरिका ने इस दिशा में की गई अपनी और अधिक प्रगति का परिचय दिया और आरोरा-७ नामक अन्तरिक्ष यान में जब चौथा अन्तरिक्ष यात्री कमांडर स्कॉट कारपेन्टर को अन्तरिक्ष में भेज दिया।

इसी वर्ष रूस ने अन्तरिक्ष में दो उपग्रह छोड़े जिन्होंने अन्तरिक्ष में चक्कर लगाने के साथ-साथ परस्पर रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास किया। इसी वर्ष अमेरिका ने एक अन्य अमेरिकी अन्तरिक्ष यात्री को अन्तरिक्ष में ६ चक्कर लगाने के लिए भेज दिया।

सन् १९६३ में रूस ने इस दिशा में की गई अपनी और अधिक प्रगति को विश्व के समक्ष लाकर रखा। इसी वर्ष प्रथम महिला अन्तरिक्ष यात्री वैलेनटीना तोरिशकोवा ने अन्तरिक्ष में एक अन्य रूसी अन्तरिक्ष यात्री वाइकोवोस्की से बातचीत की और ७ घण्टे में ४८ चक्कर लगाये। इसके पश्चात् पुनः रूसी कमांडर ब्लाडीमीर कीमाक अन्तरिक्ष अन्वेषक कोसन्तोतिन, फियोक तिस्तव तथा अन्तरिक्ष चिकित्सा विज्ञान के ज्ञाता बोरिसोइयेगी को पृथ्वी से ४०० किलोमीटर की ऊँचाई पर चक्कर लगाने को भेज दिया। उन्होंने २४ घण्टे १७ मिनट में १६ परिक्रमायें की और उनका अन्तरिक्ष यान पृथ्वी पर सकुशल लौट आया। निःसन्देह यह इस दिशा में बहुत भारी सफलता थी। इसके पश्चात् रूस ने एक नया यान अन्तरिक्ष में भेज दिया। इस यान के यात्री ल्योनोव ने अन्तरिक्ष यान से बाहर निकलकर भी कुछ देखा।

अमेरिका द्वारा जैमिनी यानों का प्रेरण—इसके पश्चात् अमेरिका ने अनेक जेमिनी यान अन्तरिक्ष में भेजे। ३० जून १९६५ को दूसरे अमेरिकी युगलों ने अन्तरिक्ष में उड़ान की, और तदुपरान्त २१ अगस्त १९६३ को तीसरी बार अमेरिका से चार्ल्स कोनराड और अलन जोर्डन कूपर ने अन्तरिक्ष की यात्रा की और वे ८ दिन तक अन्तरिक्ष में रहे। इसके पश्चात् अमेरिका ने जेमिनी ६, ७ और ८ के द्वारा अन्तरिक्ष का अन्वेषण किया। जेमिनी ८ ने अन्तरिक्ष में एक अन्य राकेट एजेना से सम्पर्क स्थापित कर लिया, किन्तु उसमें कुछ दोष आ गया और विवश होकर उसे वापस आना पड़ा। इस बीच में रूस इस क्षेत्र में अपना कार्य करता रहा और उसने भी अपना एक स्वचालित यान चाँद के धरातल पर उतार दिया और वहाँ से चित्र पृथ्वी पर भेज दिये। इसके पश्चात् ल्यूना-१२ ने चन्द्रमा का एक चक्कर लगाया। ल्यूना-११ ने २४

अगस्त १९६६ को चाँद के अधिकतम ७५० और न्यूनतम १०० मील की दूरी पर चक्कर लगाते हुए उसके धरातल से चित्र भेजे।

अमेरिका के जेमिनी १० ने उस देश के सातवें अन्तरिक्ष युगल को लेकर उड़ान की और पृथ्वी से ७६० किलोमीटर की ऊँचाई पर पहुँचकर एजेना-८ और एजेना-१० से सम्पर्क स्थापित कर लिया। इस यात्रा के अन्तरिक्ष यात्री साइकिल कौंसिल ने अन्तरिक्ष यान से कार्य किया और एजेना-८ से माइक्रो मिटियोराइट के नमूने एकत्र किये। अमेरिका के जेमिनी-११ ने इस दिशा में कुछ और करिश्मा कर दिखाया। यह यान अन्तरिक्ष में एजेना उपग्रह से जुड़ा और इसने आकाश और पृथ्वी के रंगीन चित्र भेजे। इसके पश्चात् सर्वेयर-२ को अन्तरिक्ष में भेज दिया। इसमें टेली-वीजन यन्त्र लगे हुए थे और इसका मुख्य उद्देश्य था चाँद के धरातल पर अन्तरिक्ष यात्री के उतरने योग्य स्थान का पता लगाना। यह सर्वेयर दुर्घटनाग्रस्त हो गया और सफल न हो सका। इसके पश्चात् आरबीटर-२ ने कुछ चित्र भेजे और इसका लाभ उठाकर ११ नवम्बर १९६६ को अमेरिका ने जेमिनी-१२ नामक एक यान में जेम्स लौवेल, एलविन एल्ड्रिन को भेजा जिन्होंने सूर्य ग्रह के चित्र भेजे।

इस बीच में रूस भी निरन्तर प्रगति करता रहा और उसने भी कुछ नये चित्र सामने लगाकर रखे। २४ नवम्बर १९६६ को उसने ल्यूना-१३ को चाँद के धरातल पर उतारा। इस यान ने कुछ चित्र भेजे जिनसे यह पता लगा कि चाँद के धरातल पर धूल नहीं है। १९६७ में रूस का इस दिशा में भेजा गया यान सौयूज-१ दुर्घटनाग्रस्त हो गया। किन्तु फिर भी रूस ने हिम्मत न हारी और उसी वर्ष १२ जून को शुक्र उपग्रह की जानकारी के लिए एक यान भेज दिया। यह प्रयोग सर्वथा सफल रहा।

रूस ने ७ सितम्बर १९६७ को सैटेलाइट को, तदुपरान्त सर्वेयर ५ तथा मैरीनर-५ भेजे। इस बीच रूस ने कौसमौस-१८६ के ५ अन्तरिक्ष यात्री भेजे। इसने स्पुतनिक-१८८ में जुड़कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। इसी प्रकार सन् १९६७ और १९६८ में अनेक प्रयास किये गये। अब अमेरिका ने अपोलो यामक यान को अन्तरिक्ष में भेजने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस कार्य में उनको गत वर्ष १९६९ में सफलता मिली। इसका श्रेय अपोलो-११ को है।

चन्द्रमा पर प्रथम पदार्पण और अपोलो-११ की विजय—१६ जुलाई १९६९ को अपोलो-११ अपनी ऐतिहासिक यात्रा पर चला। इसमें यात्री थे—नील आर्म्स-स्ट्राँग, जोकि मिशन के कमाण्डर थे, एडविन एलड्रिन जोकि ल्यूनर मौड्यूल के पाइलट थे और तीसरे थे माइकल कौंसिल जो कमांड माड्यूल के पाइलट थे। इस यान ने केवल चन्द्रमा की परिक्रमा ही नहीं की, वरन् इसके दो यात्री—नील आर्म्स स्ट्राँग और एल्ड्रिन ने चन्द्रयान 'ईगल' द्वारा प्रवेश किया। इसके पश्चात् इनका चन्द्रयान मुख्य यान से अलग हो गया। इसके पश्चात् इन्होंने अपने चन्द्रयान को चन्द्रमा के धरातल पर सफलतापूर्वक उतार दिया। कुछ समय तक यान में विश्राम करने के बाद इन लोगों ने उस धरातल पर कुछ दूर तक यात्रा की। यहाँ के कुछ टुकड़े और मिट्टी एकत्र की, कुछ चित्र लेकर तथा वैज्ञानिक उपकरणों को छोड़कर लौट आये॥

चन्द्रमा पर द्वितीय पदार्पण—अपोलो-१२—अपोलो-११ की सफलता के पश्चात् अमेरिका ने १४ नवम्बर १९६९ को पुन: एक अन्तरिक्ष यान भेजा। यह यान भी केप कैनेडी से रवाना हुआ। रिचर्ड जॉरडन, कॉनराड तथा अलबीन को लेकर यह १९ नवम्बर, १९६९ को चन्द्रमा के धरातल पर उतर गया। चन्द्रायन 'इंट्रेपिड' द्वारा प्रवेश करके वे वहाँ ३१ घण्टे १२ मिनट रहे और वहाँ कई यन्त्र स्थापित करके पृथ्वी पर लौट आये।

अपोलो-१३ की कहानी—इसके पश्चात् अमेरिका ने १४ नवम्बर १९७० को अपोलो-१३ अन्तरिक्ष में भेजा। यह यान वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक सुसज्जित करके भेजा गया था। जेम्स ए० लॉवेल के नेतृत्व में भेजे गये इस चन्द्रयान का सांकेतिक नाम 'एक्वेरियस' था। इसमें दो यात्री—फ्रेड डब्ल्यू हेज तथा थामस के० मैटिंग्ली—और थे। दुर्भाग्यवश ऑक्सीजन सिलिण्डर के कार्य न करने के कारण इसे मध्य-मार्ग से लौटना पड़ा।

अपोलो-१४—अपोलो-१३ की असफलता के अमरीकी अन्तरिक्ष वैज्ञानिक हतोत्साहित नहीं हुए। उन्होंने ३१ जनवरी को शेपर्ड जूनियर, स्टुअर्ट रुसा तथा एडगर मिचेल इन तीन यात्रियों से युक्त यान का प्रक्षेपण किया। इस यान के चन्द्रयान का सांकेतिक नाम 'अन्तेयर्स' तथा मुख्य यान का 'किटीहौव' था। ५ फरवरी १९७१ को शेपर्ड जूनियर तथा मिचेल ने ५वें एवं छठें यात्री के रूप में चन्द्र पर पदार्पण किया। पुन: वे सकुशल लौट आये।

अपोलो-१५—२६ जुलाई, १९७१ को 'फैंक्लन' नामधारी चन्द्रयान का डेविड स्कॉट, अल्फ्रेड वार्डेन एवं जेम्स इरविन के साथ प्रक्षेपण किया। ३१ जुलाई, १९७१ को चन्द्रमा पर पदार्पण करने वाले ७वें तथा ८वें मानव डेविड स्कॉट एवं जेम्स इरविन थे।

अपोलो-१६—१६ अप्रैल, १९७२ को जॉव डब्ल्यू० यंग, थॉमस के० मैटिंग्ली और चार्ल्स एम० ड्यूक को साथ लेकर यह यान रवाना हुआ। २१ अप्रैल को यंग और ड्यूक ने चन्द्र पर उतरकर फिर विद्युत-चलित बग्घी द्वारा दूर तक यात्रा की। २७ अप्रैल, १९७१ को यह यान पृथ्वी पर वापस लौट आया।

अपोलो-१७—७ दिसम्बर, १९७२ को अमेरिका के अन्तिम मानवयुक्त यान ने यूजीन, ए० सरनन, हेरीसन ए० स्मिट और रोनाल्ड ई० ईवान्स के साथ यात्रा की। १२ दिसम्बर को सरनन और स्मिट चन्द्र में टाऊरस-लिट्रोन क्षेत्र में उतरे। इस यात्रा में नई सामग्रियाँ एकत्रित कीं।

रूस भी, इस मध्य, अन्तरिक्ष अनुसंधान में पीछे न रहा और उसने भी मंगल ग्रह पर नवम्बर १९७१ में मैरिनर-९ भेजा था। ८ जनवरी १९७३ को रूस ने एक स्वचालित चन्द्रयान लूना-२१ प्रक्षेपित किया। इनके अतिरिक्त भारत द्वारा प्रक्षेपित रोहिणी-१२५ तथा अमेरिका द्वारा प्रक्षेपित पायोनियर-१० अन्तरिक्ष विजय-यात्रा के बढ़ते चरण हैं। विश्वास है कि मानव की अन्तरिक्ष विजय की कहानी इससे और अधिक आगे बढ़ जाएगी और नि:सन्देह इस दशा में उसे सफलता मिलेगी।

८९. ब्रह्मचर्य और जीवन में उसका महत्व

१—भूमिका, २—ब्रह्मचर्य की परिभाषा तथा उसके विभिन्न रूप, ३—ब्रह्मचर्य की आवश्यकता तथा उससे लाभ, ४—जीवन में ब्रह्मचर्य का महत्व, ५—उपसंहार।

भूमिका—विधाता की सृष्टि से जड़-चेतन सभी प्रकार के पदार्थ हैं, इनमें उसकी सर्वोत्तम सृष्टि मानव है। इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा है: **'सबसे दुर्लभ मनुज सरीरा'** इसका कारण यह है अन्य जीवों का जन्म अपने कर्मों का फल भोगने के लिए होता है और मानव जन्म कर्म करने तथा कर्म-फल भोगने के लिए होता है। इसमें विवेक रहता है जिसके सहारे वह उचित, अनुचित, लाभ-हानि, आदि का विचार करके कार्य करता है। प्राचीनकाल में, भारतीय समाज ने मनुष्य की पूरी आयु को चार भागों में बाँट दिया था, वही चार आश्रम कहे जाते थे। ये थे—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्था तथा संन्यास। **जन्म से पच्चीस वर्ष तक की अवस्था को ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे।** इस अवस्था में लोग गुरुओं के संरक्षण में रहकर विद्या-अध्ययन किया करते थे। इसके बाद विवाह करके सांसारिक गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते थे और अर्जित ज्ञान का व्यवहार करते थे। फिर क्रमशः सपरिवार रहकर धार्मिक कार्यों की ओर अधिक ध्यान देने लग जाते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे सांसारिक बंधन को छोड़ने का उपाय करते थे। इसके बाद जीवन के चौथे चरण में लोग संसार की मोह-माया छोड़कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त अपनाकर हरि-चिंतन, लोक-कल्याण तथा परोपकार में लग जाते थे तथा अन्त में शांति लाभ करते थे। इस प्रकार जीवन के प्रथम भाग को ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे और इसका जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान था और अब भी है। ब्रह्मचर्य का अर्थ संयम, नियम तथा सदाचार पूर्वक शान्त बुद्धि से वीर्य-धारण करना और उसकी रक्षा करना है।

ब्रह्मचर्याश्रम में लोग विभिन्न ज्ञान प्राप्त करते थे और उस ज्ञान को व्यवहार में लाकर गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करते थे। आज भी वही व्यवस्था कुछ परिवर्तन के साथ चल रही है। ब्रह्मचर्य जीवन में छात्र अपने गुरुओं के संरक्षण में रहकर सांसारिक कार्यक्रमों के सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करते थे, उनका मन स्थिरता से ज्ञान-पिपासा की शान्ति में लगा रहता था। इससे जब वे इस अवस्था को समाप्त कर विवाह करके सांसारिक बन जाते थे तो वे धनोपार्जन करते थे तथा गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते थे। इस प्रकार उनके जीवन में आध्यात्मिक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेता था। समयानुसार परिस्थितियों में परवर्तन आया। गुरुकुलों का ह्रास होता चला गया। इसके बाद यवनों का शासन-कल आया। उस समय कम अवस्था में ही लड़के-लड़कियों की शादी कर दी जाने लगी, अतः वे ब्रह्मचर्य जीवन से अपरिचित रह जाते थे। फिर भी पठन-पाठन के लिए उन्हें घर छोड़कर बाहर जाना पड़ता था। कभी-कभी कुछ लोगों की मानसिक चंचलता उनके कार्य में बाधा डालती थी। **आगे चलकर ब्रह्मचर्य की परिभाषा भी सीमित हो गईतथा शुक्र-रक्षा ही ब्रह्मचर्य माना जाने लगा। बाद में 'एकाहारी सदाब्रती, एक नारी सदा ब्रह्मचारी'** का सिद्धान्त चला। आज भी यह सिद्धान्त प्रायः माना जाता है। आज नियमपूर्वक जीवन के **प्रथम चरण को बिताना ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है।**

ब्रह्मचर्य क्या है ? ब्रह्मचर्य शब्द अपने व्यापक अर्थ में जिस भावना को व्यक्त करता है वह भावना मनुष्य की मानसिक शान्ति के लिए आवश्यक है । इसका अर्थ यौन सम्बन्ध को यथासम्भव सीमित और नियमित रखना है । मनुष्य के शरीर का मुख्यतम तत्व शुक्र होता है और इसी के सहारे शरीर के अवयव बल प्राप्त करते हैं, अत: इसकी रक्षा अत्यन्त आवश्यक है । इसकी रक्षा यदि समुचित रूप से नहीं होती तो मनुष्य की शक्तियाँ घट जाती हैं और वह अपने काम को सुचारु रूप से नहीं कर पाता । लगभग २०-२५ वर्ष का आयु में मनुष्य की एक विशेष अवस्था आती है जिसमें मनुष्य में प्रौढ़ता और परिपुष्टता आती है और उसमें सन्तानोत्पत्ति की शक्ति आ जाती है । इस अवस्था के बाद जब वह सांसारिक जीवन में प्रवेश करता है तो उसकी मानसिक शक्ति में दृढ़ता आ गई रहती है और वह नियमित रूप से जीवन व्यतीत कर सकता है । कहा गया है—"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा: मृत्युमुपाध्नत्" अर्थात् ब्रह्मचर्य द्वारा मृत्यु पर भी विजय पायी जा सकती है । आजीवन ब्रह्मचारी भीष्म पितामह ने काल की इच्छानुसार नहीं, बल्कि अपनी इच्छा से प्राण छोड़ा था । दक्षिणायन का सूर्य जब उत्तरायण हुआ तभी उन्होंने प्राण-त्याग किये । ब्रह्मचर्य द्वारा ही यह सम्भव हो सकता था ।

ब्रह्मचर्य पालन के लाभ—ब्रह्मचर्य के अभाव में लोगों की स्मरण शक्ति निर्बल हो जाती है, जिससे उनके दैनिक जीवन में अनेक कठिनाइयाँ आती रहती हैं । इसके अभाव में मनुष्य में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे मनुष्य जीवन का लक्ष्य पूर्ण नहीं हो पाता । शरीर में शिथिलता बनी रहती है । किसी भी काम में मन नहीं लगता । ब्रह्मचर्य के अभाव में अध्ययन का कार्य तथा ज्ञानार्णन सुचारु रूस से नहीं हो पाता । ज्ञान के अभाव में मनुष्य को गृहस्थ जीवन में सफलता प्राप्त नहीं होती, अत: सुख और शान्ति आकाश-कुसुम बनकर रह जाते हैं । जिस व्यक्ति में ब्रह्मचर्य का अभाव रहता है, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी नहीं मिल पाती । इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे मनुष्य पूरे जीवन को अपमान और निन्दा में ही व्यतीत करते है ।

ब्रह्मचर्य जीवन के बिगड़ जाने पर जीवन के इतर क्षेत्र स्वयंमेव बिगड़ जाते हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति करने में और बाधा उत्पन्न होती है । इसके प्रभाव में मनुष्य आत्म-चिन्तन में एकाग्र भाव से नहीं लग पाता, न उसे आत्म-ज्ञान ही प्राप्त होता है । अत: उसका जीवन इस दृष्टि से गिरता जाता है । ब्रह्मचर्य की आवश्यकता जीवन की हर अवस्था में रहती है । वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम में ब्रह्मचर्य का महत्व और भी बढ़ जाता है, क्योंकि ये ऐसे जीवन-क्रम होते हैं जिनमें मनुष्य अपने ज्ञान-बल के सांसारिक माया-जाल को क्रमश: छोड़ने का अभ्यास करता है । इसके लिए अनेक प्रकार के नियम और संयम की आवश्यकता रहती है । ये संयम-नियम ब्रह्मचर्य के अभाव से सम्भव नहीं होते ।

ब्रह्मचर्य का लाभ सामाजिक तथा व्यक्तिगत, दोनों दृष्टियों से है । ब्रह्मचर्य एक ऐसा गुण है जो समाज में अनाचार नहीं बढ़ने देता, इसको पालन करने से मनुष्य में आत्मबल बढ़ता है और वह मनस्वी बनता है । यह मनुष्य के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाता है । इस प्रकार जिस समाज में ब्रह्मचर्य का जितना ही अधिक महत्व

माना जाता है वह समाज उतना ही उन्नत बनता है। मनुष्य को पशु की तरह स्वेच्छाचारी बनने से रोकने वाला ब्रह्मचर्य ही है। जीवन का सर्वोत्तम तप ब्रह्मचर्य है :—**"न तपस्तपेइत्याहुः ब्रह्मचर्य तपोत्तमम् ।"** अतः यह आवश्यक रूप से पालनीय है ;

ब्रह्मचर्य का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है । मनुष्य में दया, करुणा, सहानुभूति, वीरता, प्रेम, स्वाभिमान आदि जितने भी उच्च गुण हैं, सबका विकास ब्रह्मचर्य की छाया से होता है। इन मानवीय गुणों को बल प्रदान करने की शक्ति ब्रह्मचर्य में है। सांसारिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य का महत्व प्रत्येक व्यक्ति के लिए है। चूँकि व्यक्तियों से ही समाज बनता है, अतः समाज के लिए भी इसका महत्वपूर्ण स्थान हो जाता है। आध्यात्मिक जीवन में इसके अभाव में प्राण ही नहीं आ पाता। आध्यात्मिक जीवन में ईश्वर-प्रेम, दार्शनिक चिन्तन, माया-जगत के विचार आदि का विशेष महत्व होता है। इन विषयों के एकान्त चिन्तन के लिए ब्रह्मचर्य की अत्यन्त आवश्यकता है।

उपसंहार—मनुष्य का जीवन सांसारिक आकर्षणों और विकर्षणों के जाल में बराबर फँसा रहता है। इनमें ग्राह्य और त्याज्य विषयों का ज्ञान विवेक द्वारा होता है और विवेक का विकास मनुष्य की आत्म-शक्ति के आधार पर होता है। आत्म-शक्ति का मूल स्रोत है ब्रह्मचर्य। इसी ब्रह्मचर्य के सहारे मनुष्य अपनी मानवीय शक्तियों का विकास करके जीवन के चरम लक्ष्य (मोक्ष) तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। ब्रह्मचर्य पालन से देश की भावी संतति विद्वान और शक्तिशाली बनेगी। इस प्रकार मानव-जीवन में ब्रह्मचर्य का महत्वपूर्ण स्थान है।

९०. सदाचार और शिष्टाचार

१—भूमिका, २—सदाचार और शिष्टाचार, ३—जीवन में सदाचार और शिष्टाचार की आवश्यकता, ४—सदाचार की व्यक्तिगत जीवन में उपयोगिता, ५—शिष्टाचार की व्यक्तिगत जीवन में उपयोगिता, ६—सदाचार और शिष्टाचार का सम्बन्ध, ७—उपसंहार ।

भूमिका—मानव-जीवन की भाँति ही सामाजिक जीवन में भी अनुशासित आचरण का महत्व बहुत अधिक होता है। मनुष्य ने समाज के नियमों को 'बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय' बनाया है। इन नियमों को सामाजिक मान्यता के अनुसार व्यक्ति स्वयं बनाता है और इनका पालन स्वेच्छा से करता है तो उसे समाज में सम्मान प्राप्त होता है। इस प्रकार व्यक्ति समाज के अनुसंधान में जीवन सरल और सुखी बनाने का उपाय बराबर करता रहता है। इस क्रम से समाज में पाप और पुण्य, सत्कर्म और दुष्कर्म समझे जाने वाले कर्म करके भी कुछ समय के लिए सांसारिक दृष्टि से सुखी दिखाई पड़ता है। किन्तु सुख का सच्चा स्वरूप क्या है? समाज की मान्यताओं के आधार पर सुख के रूप में परिवर्तन हुआ करता है। किसी भी अनैतिक मार्ग से प्राप्त धन सुख का साधन बन सकता है, पर उसका प्रभाव अन्ततोगत्वा

अच्छा नहीं पड़ता। जैसे भोजन की समस्या है। हम जिस प्रकार का अन्न खाते हैं उसी प्रकार हमारी बुद्धि का विकास होता है। यही कारण है कि हमारे यहाँ खान-पान का नियमित विधान है। इसी प्रकार माता-पिता के आचार-व्यवहार का प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। रक्त-वीर्य का नैसर्गिक प्रभाव भी बच्चों की प्रकृति में बराबर मिलता है। यही कारण है कि विवाह सम्बन्ध इतना महत्वपूर्ण माना जाता है। अतः मनुष्य के आहार-विहार को सीमित करके सुखमय बनाने के लिए सदाचार और शिष्टाचार आवश्यक है।

सदाचार और शिष्टाचार—सदाचार की व्युत्पत्ति है—**'सत्' + 'आचार' = सदाचार** अर्थात् अच्छे व्यवहार। अच्छा और बुरा का निर्णय समाज की मान्यता पर आधारित है समाज जिस कार्य को अच्छा समझे वही अच्छा है तथा जिसे बुरा माने वही बुरा है। उसी प्रकार **शिष्टाचार का अर्थ है—'शिष्ट' + 'आचार' = शिष्टाचार।** ये दोनों शब्द ऐसे भावों की अभिव्यक्ति करते हैं जो समाज द्वारा ऊँचे माने जाते हैं और मनुष्य के जीवन में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। संक्षेप में वे सभी आचार-व्यवहार सदाचार में सम्मिलित हैं जो समाज द्वारा उत्तम माने जाते हैं जैसे गुरुजनों का आदर, करना, सत्य बोलना, किसी की आत्मा को कष्ट न देना, किसी परस्त्री के प्रति दूषित भावना न रखना आदि सदाचार कहे जाते हैं। इसी प्रकार शिष्टाचार में आते हैं—मधुर भाषण, छोटे-बड़े का ध्यान रखकर यथोचित व्यवहार नम्रता आदि।

जीवन में सदाचार और शिष्टाचार की महत्ता—चरित्र में व्यक्तिगत और सामाजिक दो पक्ष हैं। व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य अपनी इच्छानुसार व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र है। किन्तु उसकी स्वतन्त्रता तब तक बाधित नहीं होती जब तक उसके कार्यों का प्रभाव दूसरों पर बुरा न पड़े। जिसके व्यवहार से समाज में अवस्था आने की आशंका होती है तो उसका वही व्यवहार निन्दनीय बन जाता है, और जब अच्छा प्रभाव पड़ता है तो सराहनीय हो जाता है। चूँकि सदाचार और शिष्टाचार का प्रभाव समाज को सुखी बनाने में सहायक होता है अतः यह आवश्यक हो जाता है। जब समाज में दुराचार बढ़ने लगता है तो समाज और व्यक्ति दोनों का पतन अवश्यम्भावी हो जाती है, अतः सामाजिक ढाँचे को स्वस्थ बनाये रखने के लिए इनकी आवश्यकता है। व्यक्ति के जीवन के सांसारिक और आध्यात्मिक दो पक्ष होते हैं, इनकी उन्नति के लिए समाचार और शिष्टाचार आवश्यक हैं। मानव-समाज की मुख्यतम और प्रारम्भिक इकाई परिवार है। इस पारिवारिक जीवन को सुखमय और कान्तमय बनाने के लिए इनकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार क्रमशः गाँव, नगर, प्रान्त और देश की उन्नति के लिए सदाचार और शिष्टाचार अत्यधिक आवश्यक गुण हैं।

सदाचार की व्यक्ति के लिए उपयोगिता—सदाचार मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है। जो व्यक्ति सदाचार का पालन करता है, उसका समाज में सम्मान तो होता ही है, साथ ही साथ प्रवृत्तियाँ नियमित और सीमित आहार-विहार की अभ्यस्त हो जाती हैं। फलतः वह अपने जीवन में सांसारिक सुख और शान्ति प्राप्त करता है। जो व्यक्ति अपनी प्राकृतिक भूख को नियमित और उचित

ढंग से तृप्त करता है; उसे स्वाभाविक आनन्द आता है किन्तु जो व्यक्ति अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए उचित-अनुचित हर प्रकार के मार्ग को अपनाने के लिए आतुर रहता है उसका जीवन सदा कष्ट में व्यतीत होता है और उसे कभी शान्ति नहीं मिल पाती। सदाचार का दूसरा पक्ष है सत्य और न्याय का पालन और समर्थन। इसमें कोई विशेष कष्ट नहीं होता और इससे समाज में सम्मान भी खूब मिलता है। यहाँ तक कि सदाचार या ढोंग रचने वाले भी पूजित होते हैं। जैसे दिन भर अनेक प्रकार के जाल-फरेब, रिश्वत, झूठ बेईमानी आदि में लगा हुआ व्यक्ति जब मन्दिर में भगवान के प्रतिमा के सामने सवा रुपये का प्रसाद चढ़ाकर चन्दन लगाकर और प्रसाद की माला पहनकर चलता है। भक्त के रूप में लोग उनका भी सम्मान करते हैं तो भला सदाचारी व्यक्ति कब सम्मान का पात्र न होगा। सदाचार द्वारा व्यक्ति में आस्तिकता और धर्म की भावना का जागरण होता है जिससे उसे जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करने में सहायता मिलती है। उनका मन निर्मल बनता है और क्रमशः उसकी आत्मा शुद्ध रूप को प्रप्त करती हुई मुक्तावस्था तक पहुँच जाती है अतः सदाचार व्यक्तिगत जीवन के वास्तविक विकास के लिए आवश्यक है। कहा भी गया है—

"आचाराल्लभते आयुः आचाराद्दीप्ताः प्रजा।
आचाराल्लभते ख्यातिः, आचाराल्लभते धनम्।"

सदाचार से आयु बढ़ती है; जन प्रसन्न रहते हैं, तथा प्रतिष्ठा और धर्म की वृद्धि होती है।

शिष्टाचार की व्यक्तिगत जीवन में उपयोगिता—मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में शिष्टाचार अत्यन्त उपयोगी है। उसका सम्बन्ध वाणी और व्यवहार से अधिक है। दूसरों के प्रति यथोचित व्यवहार और वाणी शिष्टचार के मूल तत्व हैं। वाणी के विषय में सन्त कबीर ने कहा है—

ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करै, आपहु शीतल होय॥

यदि मनुष्य निरभिमान होकर मधुर भाषण करता है तो वह दूसरों को भी सुखी करता है और स्वयं भी आनन्द पाता है। उसके जीवन में कटुता नहीं आती और अनेक प्रकार की झँझटों से बच जाता है। इसके विपरीत कड़ी बात कहने वाला व्यक्ति सदा झँझटों में ही पड़ा रहता है। शिष्टाचार हमें यथायोग्य व्यवहार करने की शिक्षा देता है। इसका परिणाम यह होता है कि उनके चारों ओर शान्ति का वातावरण बना रहता है। शिष्टाचार का प्रभाव यह होता है कि यदि परिवार में एक व्यक्ति शिष्ट व्यवहार करने लगता है तो दूसरा भी वैसा करने को स्वयमेव बाध्य हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि पूरा परिवार शिष्ट बन जाता है और उसका जीवन हर प्रकार से शान्त और सुखमय रहता हैं।

सदाचार और शिष्टाचार का सम्बन्ध—सदाचार और शिष्टाचार का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सदाचारी व्यक्ति प्रायः शिष्ट भी होते हैं। उनकी भावना में उचित-अनुचित का पर्याप्त विचार रहता है। वे भरसक अनुचित बातों से अपने को

बचाते हैं। अतः शिष्टाचार उनमें स्वयमेव आ जाता है। चूँकि वर्तमान युग बुद्धिवादी है और उसमें बौद्धिक कला का प्रयोग जीवन के हर क्षेत्र में होता है; अतः कभी-कभी कुछ दुराचारी भी शिष्ट देखे जाते हैं। उनका शिष्टाचार बनावटी होते हुए भी लाभकर होता है। इसका अभिप्राय यही है कि सदाचार और शिष्टाचार अलग-अलग नहीं हैं बल्कि एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं। सदाचार का सम्बन्ध व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों के जीवन से समान रूप से होता है और शिष्टाचार का घनिष्ठ सम्बन्ध सामाजिक जीवन से ही है।

उपसंहार—मानव जीवन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसमें साधु और खल दोनों प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। उनके व्यवहारों का विवेचन एक स्थान पर निम्न प्रकार से किया गया है—

'विद्या, विवादाय, धन मदाय, शक्तिः परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेत्तु ज्ञानाय दानाय च रक्षणायं॥

अर्थात् खलों की विद्या विवाद के लिए, धन मद के अभिमान के लिए और शक्ति दूसरों को अधिक पीड़ित करने के लिए होती है। इसके विपरीत सज्जनों की विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और शक्ति दूसरों की रक्षा के लिए होती है।

साधु का अर्थ सदाचारी और शिष्ट व्यक्ति से है और खल तो विपरीत होते ही हैं। इसके सिवाय देश, जाति, धर्म, वंश की उन्नति शिष्ट और सदाचारी व्यक्तियों से ही होती है। कहा भी गया है :—

परिवर्तिनि ससारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः सम्मुन्नतिम्॥

अर्थात् इस परिवर्तनशील संसार में कौन जन्म नहीं लेता ? और कौन मरता नहीं ? अर्थात् सभी पैदा होते हैं और सभी मरते हैं। सभी पैदा होते हैं किन्तु जिस व्यक्ति के द्वारा जाति और वंश की उन्नति होती है उसी का जन्म लेना सार्थक है।

इस प्रकार की उन्नति सदाचारी और शिष्टाचारी व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। अतएव मानव-जीवन में सदाचार और शिष्टाचार का विशेष महत्व है।

●

६१. वीरता

१—भूमिका, २—वीरता की परिभाषा और रूप-रेखा, ३—वीरता की आवश्यकता ४—वीरता का अन्य भावों से सम्बन्ध, ५—वीरता से लाभ, ६—उपसंहार।

भूमिका—संसार में जितने भी प्राणी हैं उनमें मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसमें विवेक होता है। इसीलिए उसमें चेतना-शक्ति भी अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक होती है। अन्य प्राणियों में विवेक का सर्वथा अभाव होता है। यदि कुछ मानवेतर प्राणियों में कुछ विवेक मिलता भी है तो वह मानव संसर्ग के परिणाम है। हाथी, घोड़े, कुत्ते, गाय आदि जन्तुओं में विवेक की कुछ मात्र पाई जाती है। पर यह मानव-संसर्ग से ही आती है अन्यथा वे अपने प्राकृतिक रूप में विवेकहीन ही होते हैं। हाँ,

अपनी प्राकृतिक भूख को मिटाने के साधन वे भी अनुभव द्वारा खोज लेते हैं। दूसरी बात यह है कि मनुष्य को अपनी शक्ति का ज्ञान तथा विवेक पर विश्वास रहता है अतः वह विकासशील प्राणी है। उसमें बुद्धि-बल रहता है जिससे वह प्रकृति तथा विवेकशक्ति की सहायता से अपनी सुख-सुविधा को बराबर बढ़ाता रहता है। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति-प्रदत्त शक्तियों का निरन्तर सदुपयोग करता रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य में अनेक गुणों का विकास होता जाता है। साथ ही साथ वह दूसरों के गुणों का सम्मान भी करता है। उसमें स्वयंमेव सम्मानेषणा की अधिकता रहती है। इस प्रकार मनुष्य के अन्दर अनेक गुण विद्यमान रहते हैं। **मनुष्य के अनेक उदात्त गुणों में वीरता का महत्वपूर्ण स्थान है। वीरता एक ऐसा गुण है जो मनुष्य में आत्मबल को बढ़ाता है।**

वीरता किसे कहते हैं ? वीरता की अनेक परिभाषाएँ की जाती हैं। शारीरिक वीरता को ही प्रायः वीरता माना जाता है। इसके अनुसार शारीरिक शक्तियों के सामयिक प्रयोग को वीरता कहेंगे। परन्तु वीरता का वास्तविक रूप शारीरिक बल से उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखता जितना आत्मिक से। अतः **वास्तविक वीरता आत्म-बल तथा मानसिक प्रेरणा से अनुप्राणित शक्ति का नाम** है। इनके प्रयोग में उत्साह का महत्वपूर्ण योग रहता है। अतः वीरता मनुष्य को कठिन कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करती है। किसी कर्म के सम्पादन में जो शारीरिक कष्ट, मानसिक व्यथा और हानि होती है उसकी चिन्ता को कम करके उसे कठिन कर्म में आनन्द का अनुभव कराती है। वीरता का मुख्य आधार उत्साह है। वीरता को हम कई रूपों में देखते हैं, जैसे युद्ध या शारीरिक परिश्रम के कार्यों में सत्य के निर्वाह में तथा विरह वेदना के सहने आदि में। इसी आधार पर विद्वानों ने वीरों का चित्रांकन किया है। रावण, कंस, शिशुपाल, पृथ्वीराज, हमीरदेव, राणा प्रताप, लक्ष्मीबाई आदि की गणना युद्ध-वीरों में की जाती है। साधारण वीरता के काम करने वालों की तो गिनती ही नहीं की जा सकती है। इन सभी विभूतियों को वीर कहा जाता है। राम, कृष्ण, अर्जुन, हनुमान, अभिमन्यु, चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त, हर्ष, स्कन्दगुप्त, अलाउद्दीन खिलजी औरंगजेब, भगतसिंह आदि में भी वीरता की न्यूनता नहीं थी पर इन महानुभावों की वीरता में उदात्त भावना का प्रभाव मुख्य था अन्य बातें गौण थीं। अतः इनका स्थान उच्च वीरों में माना जाता है। इसी प्रकार हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीचि, कर्ण, युधिष्ठिर आदि हजारों ऐसे व्यक्ति हो गये हैं जिन्होंने धर्म के लिए प्राणों तक को न्योछावर कर दिया है। इन सभी व्यक्तियों में वीरता थी पर उसकी सीमा विभिन्न प्रकार की थी। इस प्रकार वीरता को हम अनेक रूपों में देख सकते हैं।

वीरता की आवश्यकता—वीरता की आवश्यकता पर भी विचार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम वीरता की आवश्यकता जीवन-रक्षा के लिए है। विश्व की संघर्षमय परिस्थितियों में अपने जीवन की रक्षा कर लेना ही आज के युग में महान् वीरता है, क्योंकि जीवन से ही सभी कार्यक्रम चल सकते हैं। अतः जीवन-निर्वाह में ही सबसे बड़ी वीरता है किन्तु जीवन-निर्वाह के साधन इतने सरल हैं कि उसमें वीरता की मान्यता भारत में तो नहीं है पर भौतिकवादी देशों की भौतिक उन्नति के

मूल में वही वीरता काम कर रही है। दूसरी आवश्यकता शत्रु-विनाश के लिए वीरता की होती है। संसार में सभी प्राणियों के शत्रु होते हैं और सभी अपने शत्रुओं से लड़ते हैं, कष्ट सहते हैं, अतः इस संघर्ष में विजय पाने के लिए भी वीरता आवश्यक है। तीसरे निर्बलों की रक्षा के लिए भी वीरता आवश्यक है। इस प्रकार मुख्य तत्वों के संघर्ष में विजय-प्राप्ति की भावना बराबर काम करती है। इस प्रकार वीरता एक आवश्यक गुण सिद्ध होता है।

वीरता का प्राथमिक सम्बन्ध शारीरिक शक्ति से है। तर्कानुप्राणित विकासवादी युग किसी भी वस्तु को सामान्य मान्यता के आधार पर नहीं मानता। वह हर बात को तर्क की कसौटी पर सकता है। अतः आज वीरता की सीमा भी बहुत हद तक बदल गई है। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता जा रहा है, त्यों-त्यों वीरता में भी मिश्रण होता जा रहा है। वर्तमान युग मिश्रण का युग है। जब खाद्य पदार्थों में मिश्रण बढ़ रहा है तो उससे उत्पन्न बुद्धि में, मानसिक वृत्तियों में तथा वीरता आदि में मिश्रण क्यों न हो। अतः आज की वीरता कूटनीति, धूर्तता, धोखा, पाखंड और विश्वासघात आदि के मिश्रित रूप में देखी जाती है। फिर भी वीरता का अभाव नहीं है। आज के युग में वीर पुरुषों का महत्व है। युग के ही अनुसार मानव वृत्तियाँ भी अपना रूप बदलती रहती हैं अतः वीरता ने भी आज मौखिक और सैद्धान्तिक तथा कागजी रूप धारण कर लिया है। आज वीरता के कई रूप हैं—अनेक प्रकार के साहसिक कार्य जैसे पर्वतों की दुर्गम चोटियों पर चढ़ना, विभिन्न वैज्ञानिक यन्त्रों में बैठकर पृथ्वी की परिक्रमा करना, कमरे में बैठे-बैठे युद्ध का संचालन करना, सभाओं में गर्मागर्म धुआँधार व्याख्यान देना, सत्याग्रह और अनशन करना आदि कार्यों के करने वाले भी वीर कहे जाते हैं और शारीरिक तथा बौद्धिक कष्टों को ये लोग भी सोत्साह उठाते हैं। थोड़ी वाग्वीरता की भी चर्चा होनी चाहिए। कुछ लोग ऐसे वीर होते हैं जो मौखिक रूप से झूठ-मूठ ही अपनी वीरता की डींग हाँका करते हैं। जब तक अवसर नहीं आता तब तक तो बड़े उत्साहपूर्वक बात करते हैं किन्तु जब अवसर आता है तो खोजने पर भी दर्शन नहीं देते। ऐसे वीर देहाती झगड़ों से लेकर चुनाव-संग्राम तक में अपनी कला का परिचय देते हैं पर उनसे आशा रखने वालों के हाथ निराशा ही लगती है। इनकी वीरता की सीमा स्वार्थपरता और अवसरवादिता से घिरी रहती है। कुछ वीर कागज पर बड़े निर्भीक उत्साह से लिखते रहते हैं। उनके लेख और कविताएँ पर्याप्त जोशीली होती हैं; पर स्वयं वे बिल्ली के रात में बोलने से रजाई में छिपने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार वीरता के अनेक प्रकार हैं तथा अन्य मानसिक भावों से इसका सम्बन्ध भी है।

वीरता से अनेक लाभ होते हैं। यदि मनुष्य में वीरता का अभाव रहता है तो वह किसी भी काम को दृढ़तापूर्वक नहीं कर पाता; और उसका जीवन असफल हो जाता है। वीरता के अभाव में मनुष्य में आत्मबल नहीं जग पाता। इससे वीरता का जिस व्यक्ति में अभाव होता है वह स्वाभिमान की रक्षा नहीं कर पाता और हर प्रकार की हानियाँ उठाता रहता है। वीरता ऐसी भावना है जिसकी छाया में समाज की

उन्नति, राष्ट्र की रक्षा, देश का विकास सभी होता । जो व्यक्ति वीर नहीं हैं उन्हें जीवित रहने का अधिकार नहीं है ।

उपसंहार—विश्व का इतिहास वीरता की कहानियों से भरा हुआ है । जितने भी राष्ट्र विश्व में बने और बिगड़े उन सबके मूल में वीरता ने ही कार्य किया । विश्व में जितने भी व्यक्ति अपने यश: शरीर से जीवित हैं, प्राय: सभी में वीरता की अधिकता रही । राजस्थान की कहानियाँ वीरता की गाथाएँ हैं । स्वराज्य प्राप्त करने में असंख्य वीरों ने अपना बलिदान किया और उन सभी की सामूहिक वीरता का ही परिणाम देश की स्वतन्त्रता है । आज भी सहस्त्रों वीर रक्षा-कार्य में लगे हैं । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की उदात्त भावनाओं में वीरता का महत्वपूर्ण स्थान है और यह वसुन्धरा वीरों के भोग के लिए ही है ।

९२. जीवन में अहिंसा का महत्व

१—भूमिका, २—अहिंसा, का रूप, ३—अहिंसा—आत्मा की शक्ति के रूप में, ४—अहिंसा से लाभ, ५—अहिंसा का प्रभाव, ६—उपसंहार ।

भूमिका—अहिंसा का बीज सर्वप्रथम भारत की धरती पर उगा । यहाँ विभिन्न वैदिक ज्ञान के स्थलों में हिंसा-अहिंसा की व्यवस्था की गई तथा उनके मान स्थिर किये गये । भारत में ही बौद्ध धर्म ने जन्म लिया और यहीं अहिंसा की शंखध्वनि बजी । महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तों में अहिंसा का महत्व सर्वाधिक था । यह उनका स्वनिर्मित सिद्धान्त नहीं था बल्कि यहाँ के जीवन और साहित्य से लिया गया था । उन्होंने अहिंसा का इतना महत्व बताया कि बौद्ध धर्मानुयायी अशोक ने अपनी सेना के द्वारा भी इसका प्रचार कराया । कालान्तर में अहिंसा का महत्व घटने लगा । भारत-भूमि पर अनेक युद्ध लड़े गये, अन्याय अत्याचार हुए, राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना-काल के बाद से अँग्रेजों के अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ हुए । इसी काल में अहिंसा का चरित्र लेकर महात्मा गाँधी अवतरित हुए ।

हिंसा और अहिंसा में भेद—हिंसा का अर्थ है प्राणी को मारना यानी प्राणियों को प्राणविहीन बनाना । बौद्धों और जैनियों ने सैद्धान्तिक रूप में अहिंसा को अपनाया । किन्तु जब यह सिद्धान्त व्यवहार में आया तो इसके अर्थ और तदनुसार स्वरूप में भी अन्तर आ गया । आज भी इसका व्यावहारिक अर्थ ही माना जाता है, अर्थात् निरपराध प्राणी की आत्मा का कष्ट पहुँचाना ही हिंसा है, तथा सुख पहुँचाना अहिंसा है । यही परिभाषा व्यवहार में लाई जाती है । एक आततायी, दुराचारी तथा हिंसक को दण्ड देना सबसे बड़ी अहिंसा है, क्योंकि इस प्रकार के एक अपराधी को दण्ड देकर अनेक निरपराधियों की रक्षा की जाती है । इसी रूप में अहिंसा को मानकर प्राय: सभी महान् विभूतियों ने इसका जीवन में व्यवहार किया है । इसी रूप में अहिंसा जीवन के लिए उपयोगी है, अन्यथा यह मनुष्य को अकर्मण्य और क्लीव बनाने का साधन बन जायेगी । यदि अहिंसा के संकीर्ण अर्थ को व्यावहारिक रूप दिया जायेगा तो

समाज में अवांछित तत्वों का बोलबाला हो जायगा और सरल तथा सज्जन व्यक्तियों का जीवन दूभर हो जायगा।

अहिंसा कायतरता नहीं वरन् शौर्य का ही दूसरा नाम है—अहिंसा वास्तव में आत्म-शक्ति के रूप में आ जाती है। अहिंसा में न्याय का यथोचित स्थान रहता है और न्याय-पथ पर चलने वाले व्यक्ति में आत्मबल स्वाभाविक रूप से आ जाता है। आत्म-शक्ति का प्रभाव दूसरों की आत्मा पर पड़ता है। इसका अनुभव प्रायः वही कर पाता है जिसमें सूक्ष्म ज्ञान की क्षमता होती है। अहिंसा के साधन और मार्ग भी ऐसे ही होने चाहिए जिनका सम्बन्ध हिंसा से कम से कम हो। अहिंसा मनुष्य में सहानुभूति और करुणा उत्पन्न करती है। इन सभी उदात प्रवृत्तियों का प्रभाव होता है त्याग-भावना का विकास और सहिष्णुता की शक्ति का आना। ये सभी ऐसे गुण हैं जिनका सम्बन्ध आत्मा से सीधा-सीधा होता है। इसीलिए इन्हें आत्मा का गुण माना गया है। चूंकि प्राणीमात्र की आत्मा अपने शुद्ध रूप में समान होती है, और समान गुण की वस्तुएँ एक दूसरे की ओर आकर्षित होती हैं, वे परस्पर प्रभाव को ग्रहण करती हैं तथा स्वयं भी प्रभावित करती हैं। यह इसका प्रयोगात्मक रूप है जैसे जब बिहार में महात्मा गांधी सुधार करने के लिए गये तो डॉ० राजेन्द्रप्रसाद से उनकी भेंट हुई। वे उस समय वकालत करते थे और उनकी वकालत खूब चल भी रही थी। गाँधीजी उनके घर गये पर दोनों व्यक्तियों का साक्षात्कार नहीं हो पाया और गाँधीजी लौट आये। जब राजेन्द्रप्रसाद को पता चला कि गाँधी आकर लौट गये हैं तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई और उनसे मिलने चल पड़े। गाँधीजी जहाँ रुके थे वहीं दोनों व्यक्तियों से भेंट हुई। उस सुधार के कार्य-क्रम के प्रसंग में जेल की समस्या भी सैद्धान्तिक रूप से सामने आई। राजेन्द्रप्रसाद बड़े तर्क-वितर्क में पड़ गये कि प्रथम वार्तालाप में ही जेल-यात्रा का प्रसंग आ गया। चूँकि आन्दोलन निलहे गोरों के विरोध में था अतः जेल-यात्रा की स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। उस समय दोनों व्यक्तियों की परिस्थितियाँ भिन्न थीं। अतः गाँधीजी ने उन्हें विचार-पूर्वक निर्णय करने का समय दिया। अन्त में राजेन्द्र बाबू का निर्णय गाँधीजी के पक्ष में हुआ और हरे-भरे लहराते हुए **वकालत के वैभवपूर्ण** क्षेत्र को त्यागकर कंटकाकीर्ण सत्याग्रह तथा अन्य सुधार आन्दोलन में बाबूजी आ पड़े। जेल-यात्रा तथा अन्य सम्भावित कष्ट भी आये पर वे उसका सफलतापूर्वक सामना करते रहे। अब देखना यह है कि गाँधीजी में कौन सी शक्ति थी जो इन्हें इस सीमा तक प्रभावित कर सकी—वह थी उनकी आत्म-शक्ति जो उन्हें अहिंसा द्वारा प्राप्त हो गई थी। उसी शक्ति की वे राजनैतिक और सामाजिक **जीवन में परीक्षा कर** रहे थे। इस प्रकार अहिंसा मनुष्य में आत्म-विश्वास उत्पन्न करती है, जिसकी सफलता विश्वास की सीमा के अनुसार होती है। कहा भी गया है, '**विश्वास फल-दायकम्**' यानी विश्वास ही फल का वास्तविक दाता है।

अहिंसा का वर्तमान स्वरूप : गाँधीजी की देन—अहिंसा का वर्तमान स्वरूप महात्मा गाँधी की देन है। उन्होंने व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही जीवन में 'सत्य' को साध्य माना है 'अहिंसा' को साधन। गाँधीजी का सत्य ईश्वर का पर्याय है।

अहिंसा की जीवन में उपयोगिता—अहिंसा से अनेक लाभ प्रथम

लाभ यह है कि मनुष्य में अपार आत्मबल आ जाता है जिससे उसे कभी भी भय नहीं मालूम होता और वह निर्भयतापूर्वक अन्याय का सफल विरोध कर लेता है। यद्यपि तात्कालिक और ठोस लाभ नहीं दिखाई पड़ता किन्तु इसके प्रभाव से क्रमशः विरोधी भी न्याय के पक्ष में हो जाते हैं। दूसरा लाभ यह होता है कि जनमत सदा अहिंसक का पक्षपाती होता है। **अहिंसा का प्रभाव इतना गहरा पड़ता है कि जन-साधारण के हृदय में परिवर्तन होना प्रारम्भ हो जाता है और फिर अन्त में वह पूर्णतया अहिंसा का समर्थन करने लगता** है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि विरोध का केवल सैद्धान्तिक रूप ही रह जाता है तथा झगड़ा और वैमनस्य का बाह्य और अनिष्ट-कारी रूप मिट जाता है। इसके बाद इसमें आस्तिकता का विकास होता है और भगवत शक्ति का सहारा मिलता रहता है। अहिंसा सरलता तथा आडम्बरहीनता को बढ़ाती है, जिससे मनुष्य की आवश्यकता घटती जाती है और उसमें स्वावलम्बन आता है। आगे चलकर उसमें भेद-भाव कम रह जाता है और मानवता के उच्च गुणों से समन्वित हो जाता है। अहिंसा के प्रभाव से मनुष्य सत्याचरण की ओर प्रवृत्त होता है और सत्याचरण ही मनुष्य का सबसे सुन्दर आभूषण है। इसका प्रभाव यह होता है कि उसे किसी बात को छिपाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। सत्य और अहिंसा से जो शक्ति प्राप्त होती है, उसमें अन्याय का सामना करने की क्षमता होती है। **महात्मा गाँधी जी ने अहिंसा का प्रयोग व्यावहारिक जीवन में किया और इस क्षेत्र में उन्हें सफलता प्राप्त हुई।**

उपसंहार—मानव-जीवन की महानता इसी में है कि वह सत्य और अहिंसा के द्वारा आत्म-शक्ति का विकास करके सांसारिक बाधाओं को हटाए। भाव-बाधा को दूर करने के लिए ईश्वर सत्ता पर विश्वास होना आवश्यक है। इस विश्वास की दृढ़ता के लिए उक्त गुणों का होना आवश्यक है। गौतम बुद्ध ने निर्माण (मोक्ष) प्राप्ति में इन दोनों वृत्तियों को अनिवार्य माना है। मानव आज विश्व विज्ञान की विभी-षिका से त्रस्त होकर अहिंसा की शरण आ रहा है। फलतः सभी राष्ट्र निःशस्त्री-करण की पुकार कर रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि अब विश्व में राग-द्वेष, वैर-विरोध रहेगा ही नहीं। ये विरोधी तत्व रहेंगे, पर अहिंसा का अपना महत्व भी कभी कम नहीं हो सकता।

८३. कर्तव्य-परायणता अथवा कर्तव्य-पालन

१—भूमिका, २—कर्तव्य-परायणता का रूप, ३—कर्तव्य-परायणता की आवश्यकता, ४—कर्तव्य-परायणता से लाभ, ५—प्रभाव, ६—उपसंहार।

भूमिका—कर्तव्य-परायणता—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज के बिना नहीं रह सकता। आज मनुष्य का जीवन-क्रम उसकी सामाजिकता का ही परि-णाम है। जब मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य के साथ रहता है तो दोनों को परस्पर एक दूसरे की सुख सुविधा का ध्यान रखना पड़ता है तभी सामाजिक जीवन चल पाता है। समाज का निर्माण तभी हो सकता है, जब एक से अधिक व्यक्तियों का पारस्परिक व्यवहार चलता रहता है। इस प्रकार समाज की मूल तथा मुख्यतम इकाई परिवार के रूप में मिलती है। इससे भी जब हम और आगे बढ़ते हैं तो ग्राम हमें एक समाज

के रूप में मिलती है। इससे भी जब हम और आगे बढ़ते हैं तब तहसील तथा पास-पड़ोस का क्षेत्र आता है और वहाँ की जनता का पारस्परिक सम्बन्ध विभिन्न प्रकार से चलता रहता है। इसके आगे जिला, प्रान्त और देश का सामाजिक जीवन है। इस सामाजिक जीवन का सर्वाधिक व्यापक रूप विश्व-समाज है। इस प्रकार मनुष्य का क्षेत्र बढ़ता जाता है। ज्यों-ज्यों उसका क्षेत्र बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके कर्तव्य और अधिकार भी बढ़ते जाते हैं। इन विभिन्न अवस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के समुचित-निर्वाह को कर्तव्य-परायणता अथवा कर्तव्य-पालन कहा जाता है। इस प्रकार मनुष्य के कर्तव्य अनेक तथा व्यापक हैं और उनके पालन का मनुष्य को प्रयत्न करना पड़ता है।

कर्तव्य-पालन के रूप और प्रकार—कर्तव्यों के विभिन्न रूप होते हैं और उनके पालन के भी विभिन्न प्रकार हैं, अतः कर्तव्य-पालन का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। मनुष्यों के व्यक्तिगत जीवन में कुछ कर्तव्य होते हैं। परिवार, गाँव, नगर, देश और सम्पूर्ण मानव-समाज के प्रति उसके विभिन्न कर्तव्य स्वाभाविक रूप से मनुष्य की अवस्था के साथ चले आ रहे हैं अतः आज हम उनका ज्ञान परम्परा के रूप में, अनुकरण के रूप में, गुरुजनों द्वारा उपदेश के रूप में, प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मनुष्य के सामान्य कर्तव्य स्वयंमेव बनते जाते हैं तथा देशकाल के अनुसार उनमें परिवर्तन तथा विकास भी होता जाता है। जिस व्यक्ति का क्षेत्र जितना ही बड़ा होगा उसके अनुपात में ही उसके कर्तव्य होंगे। यह शैशव-काल से ही प्रारम्भ हो जाता है। जैसे-जैसे (बच्चा) अपने सम्बन्धों का परिचय प्राप्त करता जाता है वैसे ही उसके कर्तव्य भी सामने आते हैं। बचपन में उसके कर्तव्य परिवार तक ही सीमित रहते हैं, बाद में बढ़ते जाते हैं। इन सामान्य कर्तव्यों के अतिरिक्त आदमी के स्थानगत तथा अधिकारगत कर्तव्य होते हैं जिनका पालन उसे अपने स्थान का अधिकार की सीमा में करना पड़ता है। इस प्रकार कर्तव्यों के अनुसार उनके पालन की विधियाँ भी बदलती रहती हैं। सामान्य कर्तव्यों को हम पारिवारिक और नागरिक दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं तथा विशेष कर्तव्य एवं अधिकार जो योग्यतानुसार समाज द्वारा तथा राज्य द्वारा उसे दिये जाते हैं उनका यथोचित पालन उसे करना पड़ता है। तीसरा रूप कर्तव्य का तब आता है जब मनुष्य सांसारिक माया को त्यागने लगता है और 'वसुधैव कुटुम्बकम' का सिद्धान्त अपनाकर विश्व-कल्याण को अपना कर्तव्य निर्धारित करके चलता है, इस प्रकार कर्तव्यों का रूप निर्धारित होता है।

कर्तव्य-पालन की आवश्यकता और महत्ता—कर्तव्यों के पालन की आवश्यकता तो सभी समझते हैं। कर्तव्य-परायणता की आवश्यकता होती है समाज को शान्तिपूर्वक सुखी जीवन बिताने योग्य बनाने के लिए। यदि विभिन्न स्थानों पर रहने वाले, विभिन्न प्रकार के अधिकारी व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन न करें तो समाज में अव्यवस्था, बर्बरता, कटुता, परपीड़न, दुराचार तथा पापों का बोलबाला हो जाय और समाज का जीवन संकटापन्न बन जाय तथा मानवीय गुणों का तिरोधान हो जाय। सामाजिक जीवन उतना ही उन्नत, सुखशान्ति-मय तथा सरल और आनन्दमय बनता है जितनी समाज के लोगों में कर्तव्य-परायणता रहती है। अतः यह आवश्यक है और इसके अभाव में मनुष्य पशुवत् बन जाता है।

उदाहरण के लिए एक व्यक्ति यदि बचपन में अपने कर्तव्यों का ध्यान नहीं रखता तो उसका जीवन उच्छृंखल हो जाता है, फलतः वह अपने व्यवहारों तथा आचरणों से अपने परिवार तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों को बराबर दुःखी करता है। वह अपने बचपन को बिगाड़कर अपने अधिकारों को स्वयं दूर भगाता जाता है, अतः अधिकार तभी मिलते हैं जब मनुष्य अपने पिछले कर्तव्यों का पालन ठीक ढंग से करता है। समाज यदि भूल से किसी अकर्तव्यपरायण व्यक्ति को अधिकार दे भी देता है तो भी उससे पहले कर्तव्य-पालन कराने का प्रयत्न करता है और उसे कर्तव्य-परायण बनने का अवसर देता है। यदि वह इस अवसर से लाभ नहीं उठा पाता तो उसे अधिकार-च्युत कर देता है। बचपन में कर्तव्यों का ठीक ढंग से न पालन करने वाला व्यक्ति भावी अधिकारों को पाने योग्य नहीं हो पाता। जिसने बचपन में शिक्षा दीक्षा नहीं प्राप्त की उसमें स्थानोचित योग्यता नहीं आएगी अतः उसे उत्तरदायित्व के पद नहीं मिलेंगे। इस प्रकार वह पुनः पदों से प्राप्त होने वाली सुविधाओं से वंचित रह जाएगा। देश का प्रधान मन्त्री या राष्ट्रपति वही व्यक्ति होगा जिसने अपने पूर्व जीवन के कर्तव्यों का पूर्ण योग्यता से पालन किया होगा।

कर्तव्य-परायणता पद की रक्षा करती है—कर्तव्य-परायण व्यक्तियों को ही सदैव ऊँचे पदों की प्राप्ति होती है। इससे उनके अधिकारों में बराबर वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्तव्य और अधिकार का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। एक साधारण लड़का अपनी कर्तव्य-परायणता से अच्छी योग्यता प्राप्त करके आगे बढ़ना प्रारम्भ करता है। धीरे-धीरे वह अपने बड़ों का स्नेह और सहारा पाने लगता है तथा उसके सहायक बढ़ने लगते हैं। फलतः उसकी उन्नति प्रारम्भ हो जाती है। ज्यों-ज्यों उसका क्षेत्र-विस्तार बढ़ता है त्यों-त्यों उसकी कर्तव्य-परायणता उसे देश काल के अनुसार सहायता भी देती जाती है। उसकी कर्तव्य-परायणता जिस प्रकार प्राइमरी के अध्यापकों को उसका सहायक बनाती है उसी प्रकार विश्वविद्यालय तक उसे सहायक मिलते जाते हैं। यह गुण उसे उच्च पद का अधिकारी भी बना देता है। जब तक उसमें कर्तव्य-परायणता रहती है तब तक वह आगे ही बढ़ता जाता है और अन्त में एक ऊँचे पद से सम्मान सहित अलग होकर या अवकाश प्राप्त कर शान्तिमय जीवन बिताता है। यदि उसकी कर्तव्य-परायणता उचित मार्ग पर चलती जाती है तो उसमें विराग भी उत्पन्न होता है और अन्त में वह लोक-कल्याण करता हुआ चिर-शान्ति प्राप्त करता है। इसके विपरीत दशा उस व्यक्ति की होती है जिसमें कर्तव्य-परायण की भावना का अभाव है। यदि स्वर्ग और नरक की भावना विश्व में ही की जाय तो कर्तव्य-पालन धीरे-धीरे स्वर्गदाता बन जाता है और कर्तव्य-पालन में अक्षमता नरकदात्री बन जाती है। इस प्रकार कर्तव्य-पालन के लाभ भी स्पष्ट हो गये। अब इसका प्रभाव देख लेना भी उचित है।

यह एक ऐसा गुण है जो कि पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाता है तथा परिवार के दूसरे सदस्यों में कर्तव्य-पालन की भावना को बढ़ाता रहता है। इस प्रकार के परिवारों से ग्राम तथा समाज में शान्ति और सुखमय का वातावरण उत्पन्न होता है। अधिकारियों में भी कर्तव्य-परायणता जगती है। इसका प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति तथा पूरे समाज पर उत्तम पड़ता है।

उपसंहार—मुख्यतया कर्तव्य-परायणता से मनुष्य में उदात्त भावनाओं तथा उन्नत मानवीय गुणों का विकास होता है। यदि मनुष्य कर्तव्यशील नहीं है तो वह पशु से भी तुच्छ है। मानव समाज, विश्व-बन्धुत्व और विश्व-कल्याण के लिए कर्तव्य-परायणता अनपवाद रूप से अनिवार्य और पालनीय है।

६४. आत्म-सम्मान

१—भूमिका, २—आत्म-सम्मान का रूप, ३—आत्म-सम्मान की आवश्यकता, ४—आत्म-सम्मान से लाभ और प्रभाव, ५—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य में दैवी तथा आसुरी प्रवृत्तियों का अपूर्व मेल होता है। जिनमें दैवी प्रवृत्तियों का प्राधान्य होता है उन्हें समाज देवता की संज्ञा देता है और जिनमें आसुरी प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है उन्हें लोग राक्षस बना देते हैं। इस आधार पर सम्भवतः रावण, कंस, शिशुपाल आदि वर्ग के लोग राक्षस कहे गये थे तथा उनका सफल विरोध करने की उदात्त क्षमता रखने के कारण लोक-कल्याण का विकास करने के कारण राम, कृष्ण, परशुराम आदि भगवान के अवतार माने गये। इन दोनों वर्णों में रहने वाले तथा दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से प्रभावित और प्रेरित होकर काम करने वाले लोग नर या मनुष्य कहे गये। राम के अनुज लक्ष्मण इसी आधार पर नरत्व की सीमा में चित्रित किये गये। अर्जुन आदि भी इसी आधार पर मानवता के अधिकारी बने। मानव अपने उच्च गुण और प्रवृत्तियों के कारण समाज में सम्मानित होता है। इस प्रकार के कुछ गुण मनुष्य की आत्मा से सम्बन्धित रहते है। आत्म-सम्मान इन्हीं गुणों में एक महत्वपूर्ण गुण है।

आत्म-सम्मान क्या है ?—मनुष्य में आत्म-सम्मान कई कई रूपों में दिखाई पड़ता है। आत्म-सम्मान का अर्थ होता है मनुष्य के 'स्व' का सम्मान। इसका वह स्वयं अनुभव करता है तथा ऐसे सम्मान का वह अपने को अधिकारी भी मानता है। आत्म-सम्मान को भावना प्रायः सभी लोगों में थोड़ी बहुत अवश्य होती है। कुछ लोगों में यह भावना अधिक जागरूक रहती है तथा दूसरी भावनाओं को गौण बनाकर प्रधानता प्राप्त कर लेती है तथा शेष अधिकांश लोगों में इसका बल न्यून मात्रा में रहता है और वे इतर भावनाओं के वशीभूत होकर आत्म-सम्मान की रक्षा नहीं कर पाते। आत्म-सम्मान उचित और न्यायपूर्ण मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। मनुष्य को न्याय के पथ पर चलने में जिन कष्टों को सहन करना पड़ता है, वह उन्हें सहन करने की शक्ति प्रदान करता है। उदाहरण के लिए अकबर के शासन काल में प्रायः सभी भारतीय नरेश उसकी अधीनता स्वीकार करके सुख-सुविधा के साथ अपना राज्य चलाते थे। मानसिंह भी उन्हीं राजाओं में था जिसे अकबर की कृपा प्रभूत मात्रा में प्राप्त थी। वह जब शोलापुर विजय करके लौटते हुए चित्तौड़ में महाराणा प्रताप से मिला तो उसके मन में प्रताप के प्रति विरोध की भावना नहीं थी। दोनों नरेश परस्पर प्रेम तथा सद्भावना से मिले। किन्तु भोजन के अवसर पर राणा का न आना मानसिंह को खटका। उसे संदेह हो गया कि राणा प्रताप मुझे म्लेच्छ समझकर मेरे साथ भोजन नहीं करना चाहते अतः वे स्वयं नहीं आये। अपने संदेह को दूर करने के लिए उसने राणाजी को बुलाने का आग्रह किया।

राणाजी ने बहाना किया और उसके संदेह ने विश्वास का रूप धारण कर लिया। फिर उसका आत्म-सम्मान जाग उठा और उसे अपनी शक्ति का ज्ञान हो गया, उसने उसके प्रयोग का उपक्रम किया। राणा जी की ओर से भी तद्‌वत उत्तर दिया गया। इससे मानसिंह का सामाजिक और जातीय अपमान हुआ। उसके आत्म-सम्मान को ठोकर लगी। प्रतिशोध की भावना ने जड़ जमा ली। यह आत्म-सम्मान का एक रूप है जो समयानुसार मनुष्य में इतना प्रबल हो जाता है कि वह संसार में किसी भी वस्तु को, मनुष्य की किसी भावना को उसके लिए कुछ नहीं गिनता। आत्म-सम्मान में अदम्य शक्ति, अलौकिक सहिष्णुता तथा असीम उत्साह होता है। इससे प्रेरित होकर मनुष्य असम्भव को सम्भव, कठिन को सरल, तथा सुखमय जीवन को भी कष्टमय बना डालता है।

आत्म-सम्मान की विशेषताएँ—आत्म-सम्मान आत्मा की वह वृत्ति है जिससे न्याय पर मिटने की अभिलाषा और दृढ़ होती है। यह साहस की संगिनी भावना है। इसका सम्बन्ध मूल आत्मा से रहता है अतः शुद्ध स्वाभिमान में परपीड़न तथा मिथ्या-भिमान और अहंकार का अभाव रहता है। इस भावना में अपने से सबल का सामना करने की प्रेरणा रहती है और भय का स्थान इसमें नहीं होता। अभिमान अपने से निर्बल पर मानसिक अधिकार प्राप्त करना चाहता है या उसे प्रभावित करने का अभिलाषी है। इस प्रकार अभिमान अपनी शक्ति को अपने सम्मान का साधन बनाता है तथा साधारण लोगों से मिथ्या सम्मान पाकर सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु आत्म-सम्मान अन्याय और मिथ्याभिमान पर विश्वास नहीं करता। अपने से निर्बल को वह प्रभावित करने की कोशिश भी नहीं करता। अतः आत्म-सम्मान की भावना का समाज में आदर होता है।

लोक-व्यवहार में महत्व—आत्म-सम्मान एक ऐसा गुण है जिसका सम्बन्ध लोक-व्यवहार से विशेष रूप से होता है। आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए मनुष्य सदैव तैयार रहता है। आत्म-सम्मान की सबसे बड़ी प्रतिद्वन्द्विनी लोकनिन्दा है। आत्म-सम्मान इसको सहन नहीं कर पाता। निन्दित होने से पहले वह मर जाना अच्छा मानता है। इससे लाभ यह होता है कि आत्म-सम्मानी व्यक्ति निन्दनीय कार्यों से यथा-सम्भव बचने का प्रयास करता है और बचता है। इससे संसार की तमाम बुराइयों से वह दूर रहता है। चूँकि आत्मसम्मानी व्यक्ति, लोक-सम्मान से प्रसन्न होता है अतः परोपकार, दया, करुणा, निर्बल-रक्षा आदि कार्यों को बराबर करता रहता है। जिसमें आत्म-सम्मान की भावना है उसमें स्वार्थ, लालसा आदि भावनाएँ किंचित मात्र भी नहीं आतीं। वह समाज को उन्नत बनाने का सदा प्रयत्न करता रहता है। आत्म-सम्मान रखने वाले व्यक्ति में अपार शक्ति होती है, जिससे वह बड़ी-बड़ी आपदाओं को भी नगण्य मानता है।

व्यावहारिक दृष्टि से इससे हानियाँ भी होती हैं। मनुष्य जीवन के सदैव दो पक्ष होते हैं, प्रथम लौकिक और दूसरा आध्यात्मिक या अलौकिक। लौकिक का अर्थ भौतिक वस्तुओं से है, जो हमारे शरीर के सांसारिक सुखों और सुविधाओं में सहायक होती हैं। अतः इसका सम्बन्ध शरीर से ही विशेष रूप से है। आध्यात्मिक पक्ष का सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा से है और इसका सुख-दुख सात्विक भावों से सम्बन्धित

होता है। आत्म-सम्मानी सांसारिक सुख-सम्पत्ति की परवाह नहीं करता और वह लोक-सम्मान के पीछे इनका त्याग कर देता है। इससे अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं। राणा के व्यवहार से मानसिंह तिलमिला उठा और उसने मुगल सेना की सहायता से राणा को नाश करने के लिए या उसको झुकाने के लिए चढ़ाई की। फलतः भयंकर युद्ध हुआ। मानसिंह के नायकत्व में अपार मुगल शक्ति को दबाने में राणा की सीमित पर अदम्य शक्ति सफल न हो सकी। उन्हें प्रभूत हानि उठाकर भागना पड़ा। राजकुमार तथा राजकुमारी को रोटियों के लिये रोते देखना पड़ा। फिर भी आत्म-सम्मान छोड़कर अकबर की अधीनता नहीं स्वीकार की तथा मानसिंह से बन्धुत्व भी नहीं जोड़ते बना।

उपसंहार—आत्म-सम्मान का प्रभाव मनुष्य तथा समाज दोनों पर पड़ता है। ऐसे मनुष्य को समाज सदा आदर के साथ स्मरण करता है, उनके अनुयायियों की कमी हो सकती है पर उनमें दृढ़ता की एक मान्य परम्परा रहती है। इससे आत्मतोष की भावना बढ़ती है तथा इससे आत्म-शान्ति मिलती है। मानवता के मूल गुणों में आत्म-सम्मान का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः हर उन्नतिशील मनुष्य का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह यथासम्भव आत्म-सम्मान को विकसित करे और उसकी रक्षा करे।

९५. परोपकार

१—भूमिका, २—परोपकार का रूप, ३—परोपकार की आवश्यकता, ४—परोपकार से लाभ और प्रभाव, ५—उपसंहार।

भूमिका—संसार में मानव-सृष्टि कब से चल रही है, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। सभ्यता और समाज के विकास के साथ परस्पर का परावलम्बन बढ़ता चला गया। फलतः एक व्यक्ति को दूसरे के सहारे की आवश्यकता बढ़ती चली गई। आधुनिक युग में तो हम बिना दूसरे की सहायता के ठीक प्रकार से जीवन-यापन ही नहीं कर सकते। इस प्रकार मनुष्य में परस्पर सहयोग की भावना का विकास होता गया और समाज में पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ता चला गया। समाज की स्थापना और विकास के समय से ही परोपकार भी चला आ रहा है। मनुष्य का जीवन-संघर्ष में समय-समय पर अपने प्रबल शत्रु को पराजित करने के लिए तथा उसके आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए दूसरों की सहायता की आवश्यकता पड़ती थी। तभी से एक दूसरे की सहायता करके लोग समाज के कार्य को चलाते आ रहे हैं। इस परस्पर की सहायता से व्यक्ति का जीवन आराम से चलने लगा और यह कार्य समाज में अच्छा भी समझा गया है। फिर कालान्तर में लोगों ने बदले की भावना को न रखते हुए निःस्वार्थ भाव से सहायता करना प्रारम्भ कर दिया और यह कार्य अधिक सराहनीय माना जाने लगा। इसे **परोपकार** कहा गया। इस शब्द का अर्थ है—**पर = दूसरा + उपकार** = सहायता = दूसरों की सहायता करना। चूँकि इसमें स्वार्थ भावना हट चुकी थी इससे इसका रूप उंच्च बन गया और यह श्रद्धास्पद कार्य माना जाने लगा।

परोपकार मानव शक्ति का अंग है—प्राचीन काल के समाज का स्वरूप उन्नत

नहीं हो पाया था। आगे चलकर समाज में उदारता और दया की भावना का विकास होना प्रारम्भ हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि किसी व्यक्ति को संकट में पड़ा देखकर दूसरे उसकी सहायता को दौड़ने लगे। वहाँ इस भावना की अपेक्षा नहीं थी कि दूसरे भी उसकी सहायता करेंगे। शनैः-शनैः समाज का रूप जटिल होता गया और धन-संपत्ति का महत्व बढ़ता गया। उस समय सहायता के लिए शारीरिक श्रम के साथ अर्थ की भी आवश्यकता पड़ने लगी। परन्तु अर्थ देने वाला व्यक्ति फिर अपनी संपत्ति वापस लेने की धारणा रखता था। इसमें स्वार्थ को अधिक बढ़ने का अवसर मिला और एक पक्ष के अधिक स्वार्थपरायण होने पर संघर्ष की नौबत आने लगी। फिर भी कुछ लोग ऐसे अवश्य थे और अब भी हैं जो निःस्वार्थ परोपकार की भावना से सहायता करते थे और करते हैं। इस प्रकार परोपकार की सीमा शारीरिक सहायता तक ही सीमित न रही बल्कि आर्थिक और बौद्धिक सहायता तक बढ़ गई। इसी के अनुपात में परोपकार का सम्मान भी बढ़ा और आज परोपकार बहुत ऊँचा गुण माना जाने लगा। वर्तमान युग में परोपकार का क्षेत्र बहुत व्यापक बन गया। आजकल परोपकार की आड़ में अनेक अवांछित कार्य भी किए जाते है। फिर भी परोपकारियों का अभाव नहीं है। एक व्यक्ति यदि किसी भयंकर आपत्ति में पड़ गया है तो बिना स्वार्थ के उसकी शारीरिक, आर्थिक या बौद्धिक सहायता करना परोपकार है। गरीब विद्यार्थियों को बढ़ने में सहायता करना परोपकार है। विद्यालय, अनाथालय, कुँआ, धर्मशाला आदि बनवाना परोपकार के अन्तर्गत आता है।

उपकार से समाज की रक्षा सम्भव—समाज में हर प्रकार के लोग रहते हैं। मनुष्य पर अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आती रहती हैं। वह अपने सहायकों का बदला चुकाने में कभी-कभी असमर्थ रहता है। ऐसी स्थिति में उसकी रक्षा तथा उन्नति कभी भी परोपकार रूप में सहायता पाये बिना नहीं हो सकती। अतः परोपकार की आवश्यकता हुई। समाज में सम्मान और आत्म-शांति पाने के लिए परोपकार करना आवश्यक होता है। इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता आध्यात्मिक भावना के लिए होती है। त्याग की भावना को बढ़ाने के लिए परोपकार आवश्यक होता है। इसके सहारे मनुष्य बड़ा त्याग करने की प्रेरणा प्राप्त करता है। अतः वह भविष्य में व्यापक रूप से मोह-माया छोड़कर परोपकार में लीन होने की क्षमता प्राप्त करता है। परोपकार एक आवश्यक गुण है।

परोपकार के लाभ—परोपकार से क्या लाभ है, यह भी देखना आवश्यक है। परोपकार से व्यक्ति को लाभ यह होता है कि मनुष्य की आत्मा का विस्तार होता है और वह दूसरों की सहानुभूति प्राप्त करता है। संसार के सभी कार्य सुख और शान्ति के लिए होते हैं। ये दो बातें अनुभवगम्य हैं। अतः इनसे मानसिक आनन्द प्राप्त होता है। इसमें आध्यात्मिक भावना का विकास होता है। उसमें इस कार्य से आस्तिक भावना का जागरण और पुष्टिकरण होता है। दूसरा लाभ यह है कि समाज में दीन-हीन लोगों को भी जीवित रहने का अवसर मिलता है प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों को उचित प्रोत्साहन मिलता है और उससे समाज-कल्याण के अनेक कार्य होते हैं। तीसरा लाभ यह है कि परोपकारी व्यक्ति को समाज में सम्मान प्राप्त होता

है। चौथा लाभ यह है कि इसमें ऐसे-ऐसे सार्वजनिक कार्य होते हैं जिनसे समाज का जीवन सरल और सुगम हो जाता है। इसका प्रभाव यह होता है कि समाज में शान्ति का वातावरण बढ़ता जाता है। सामाजिक कार्य अधिक सरलता से चलते हैं। पारस्परिक विरोध की भावना घटती जाती है और आपस में प्रेम-भाव बढ़ता जाता है। लोगों में ईश्वर के प्रति विश्वास बढ़ता है तथा उदात्त भावनाओं का विकास होता है। परोपकार का प्रभाव दोनों तरफ पडता है। परोपकारी को सात्विक आनन्द प्राप्त होता है तथा उपकृत में कृतज्ञता आती है और वह भी परोपकारी बनने की कोशिश करता है। परोपकर के प्रभाव से संसार में शांति का वातावरण बनता है। संसार में साधु-पुरुषों का विशेष सम्मान होता है। यह साधु पुरुष परोपकार के द्वारा ही परखे जाते हैं। नदी का महत्व इसलिए है कि वह स्वयं जल नहीं पीती वरन् दूसरों का उपकार करती है। वृक्षों की महत्ता इसलिए है कि वे अपने फल स्वयं न खाकर दूसरों को देते हैं। इसी प्रकार साधु पुरुष दूसरों के उपकार के लिए शरीर धारण करते हैं। कहा गया है :

वृक्ष कबहुँ नहिं फल चखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारणै, साधुन धरा शरीर॥

परोपकार स्वार्थ निरपेक्ष कार्य होता है। इसके लिए मनुष्य में ऐसी भावना की आवश्यकता है जिसे सहानुभूति कहा जाता है। दूसरों के दुःख वेदना से द्रवित होकर मनुष्य परोपकार करता है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई।' एक महात्मा की यह घोषणा है कि परोपकार ही संसार में सर्वोपरि धर्म है और दूसरों को कष्ट देना ही सबसे बड़ी नीचता है। अब यदि कहा जाय कि अन्यायी को दण्ड देने में उसे पीड़ा होती है तो क्या अत्याचारी को दण्ड न दिया जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अत्याचारी तो सदा दण्डनीय है, उसके ऊपर दया करने का अर्थ है अत्याचार को बढ़ावा देना, अतः उसे दण्ड देना परोपकार है। वह जब तक अत्याचार करेगा तब तक वह बहुत से प्राणियों को दुःख देगा और दण्ड से, समझा-बुझाकर या किसी प्रकार से दुष्कर्म से रोका जा सके तो उसके परिणामस्वरूप अनेक व्यक्ति कष्ट से बच जाएँगे। अतः एक आदमी को साधारण कष्ट देने से यदि अनेक व्यक्ति कष्ट से बच जायँ तो वह प्रकारान्तर से महान् उपकार है।

उपसंहार—संसार में परोपकार का इतना महत्व है कि रहीम ने इसके विषय में कहा है—

'तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियै न पान।
कह 'रहीम' पर काज हित, सम्पति संचहिं सुजान।

चतुर और सज्जन लोग स्वार्थ के लिए सम्पत्ति का संचय नहीं करते बल्कि परोपकार के लिए ही। इसी बात को संस्कृत में कहा गया है कि **परोपकाराय सतां विभूतयः'** यानी सज्जनों की विभूतियाँ तो परोपकार के लिए ही होती हैं। ऐसे-ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ परोपकार के लिए लोगों ने अपने प्राण तक निछावर कर दिये हैं अतः परोपकार एक आवश्यक गुण है।

६६. चरित्र-बल

१—भूमिका, २—चरित्र-बल का रूप, ३—चरित्र-बल की आवश्यकता, ४—चरित्र-बल से लाभ और प्रभाव, ५—उपसंहार।

भूमिका—(मनुष्य विवेकशील प्राणी है और उसकी बुद्धि निरन्तर विकास करती चली आ रही है, परिणामतः उसने संगठित समाज बना लिया है।) मानव-समाज में व्यक्तियों का व्यवहार तथा रहन-सहन बहुमत की इच्छानुसार निर्धारित पथ पर चलना है। इसके लिये कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है, फिर भी मनुष्य को यह देखकर चलना पड़ता है कि उसकी गति-विधि का दूसरों पर कैसा प्रभाव पड़ता है, तथा उसके व्यवहार को दूसरे अच्छा मानते हैं या बुरा। (मनुष्य सदा यही चाहता है कि उसको समाज अच्छा समझे। हर व्यक्ति समाज में सम्मानित रूप से रहना चाहता है। इस प्रकार का सामाजिक सम्मान मनुष्य को व्यवहार के अनुसार प्राप्त होता है। जिसका कार्य-कलाप, बातचीत, रहन-सहन आदि दूसरों के लिए बाधक तथा हानिकारक नहीं होता उसे ही समाज आदर की दृष्टि से देखता है। जिसका विचार दृढ़ होता है, दूसरे के सम्मान को अपना सम्मान समझता तथा नैतिकता का व्यवहार करता है, उसका चरित्र क्रमशः उन्नत होता जाता है। उसका आचरण ठीक हो जाता है। चरित्र की दृढ़ता को ही चरित्र-बल कहा जाता है। यही चरित्र-बल मनुष्य की उन्नति का साधन होता है।

चरित्र-बल का स्वरूप—(मनुष्य के उन व्यवहारों को चरित्र में गिना जाता है, जिन्हें वह अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में व्यवहार में लाता है, इस प्रकार हर व्यक्ति के चरित्र के दो पक्ष होते हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में स्वतन्त्र है किन्तु यह स्वतन्त्रता अबाध नहीं रह सकती, क्योंकि उसके आचरण का प्रभाव समाज पर पड़ता है, अतः इसके व्यक्तिगत जीवन-क्रम का भी सीमित और संयमित होना आवश्यक है।) आचरण की पवित्रता को सच्चरित्रता कहा जाता है। यही कारण है कि सभी देशों और समाजों में मानव-जीवन को नियमित और संयमित रखने के लिए शास्त्रों का निर्माण किया गया है। (भारतीय शास्त्रों के अनुसार धैर्य, क्षमा, संयम-नियम, आस्तेय, शौच (पवित्रता) और इन्द्रिय-निग्रह (संयम), बुद्धि, विद्या सत्य, अक्रोध आदि दस गुण हैं जो चरित्र-निर्माण में सहायक होते हैं। इन गुणों का समुचित पालन ही चरित्र कहा जाता है। इन प्रवृत्तियों की विरोधी प्रवृत्तियाँ भी होती हैं जो मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती हैं। (जिसके चरित्र में दृढ़ता और पवित्रता होती है, उसी में चरित्र-बल माना जाता है। चरित्र-बल एक ऐसी शक्ति है जिससे मनुष्य में आत्म-शक्ति का विकास होता है। इससे मनुष्य अपने जीवन को समाज के लिए उपयोगी और सम्मानित बनाने में समर्थ होता है।

चरित्र-बल की आवश्यकता—(हमारे छोटे बड़े अधिकांश कार्यों में बौद्धिक तथा शारीरिक बल की आवश्यकता पड़ती है। इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए चरित्र की अत्यधिक आवश्यकता है। शारीरिक संयम और व्यवहारों की कुशलता से मनुष्य में एक प्रकार का आत्म-बल आ जाता है जिसके द्वारा वह अपने विभिन्न कार्यों में सफलता प्राप्त करता है। (समाज सज्जन और सच्चरित्र उसी को मानता है) जिसमें

ये गुण रहते हैं और उसी की इज्जत होती है। (जिन लोगों में चरित्र-बल नहीं होता, जो अपने व्यवहारों में स्वेच्छाचारिता का व्यवहार करते हैं तथा ऐसे आचरण को करते रहते हैं, जिनका समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है, वे दुश्चरित्र और भ्रष्ट माने जाते हैं तथा समाज में उनकी निन्दा होती है।) ऐसे व्यक्तियों का समाज में सम्मान नहीं होता है और समाज में उनका कोई स्थान नहीं होता। (मनुष्य में बुराई करने की भी प्रवृत्ति होती है और इन प्रवृत्तियों को रोकना भी आवश्यक है।) समाज इस प्रकार की बुराइयों को बराबर दबाने का प्रयास करता है। सच्चरित्र व्यक्ति अपनी वासनाओं की तृप्ति उचित मार्ग से करता है और सामाजिक नियमों का ध्यान रखकर व्यवहार करता है, जिससे अव्यवस्था को रोकने में सरलता होती है। उदाहरणार्थ अपनी पत्नी से प्रेमानुरक्ति रखना चरित्र की अच्छाई मानी जाती है तथा अनियमित रूप से प्रेमानुरक्ति रखना अनुचित माना जाता है। अपने परिश्रम से उचित साधनों द्वारा धन कमाना चरित्र की अच्छाई है, तथा चोरी से या बलपूर्वक किसी की धन-सम्पत्ति लेना अच्छा नहीं माना जाता है। अतः (जीवन में जीविकोपार्जन के लिए उचित और न्यायपूर्ण मार्ग पर दृढ़ रहने के लिए चरित्रबल आवश्यक है। मानवीय गुणों के आधार पर तीन कोटियां मानी गई हैं—

(१) उत्तम कोटि; (२) मध्यम कोटि, (३) अधम कोटि।

जो लोग अधम कोटि के होते हैं, वे विश्व बाधा के भय से कार्य को प्रारम्भ नहीं करते हैं, और मध्यम लोग उत्साह से प्रेरित होकर प्रारम्भ तो कर देते हैं किन्तु विघ्न-बाधा आने पर उसे त्याग देते हैं। किन्तु उत्तम प्रकृति के लोग प्रयत्न से विघ्न बाधाओं को पदाक्रान्त करते हुए कार्य पूरा करते हैं। विघ्न-बाधाओं को कुचलने योग्य शक्ति आत्मबल और चरित्रबल द्वारा प्राप्त होती है। इस प्रकार जीवन की लौकिक और आध्यात्मिक हर प्रकार की शक्ति प्राप्त करने के लिए चरित्रबल आवश्यक होता है

चरित्रबल से लाभ और उसका प्रभाव—(चरित्रबल से ही मनुष्य को समाज में सम्मान प्राप्त होता है। जिसमें चरित्र की पवित्रता होती है उससे समाज की व्यवस्थित गति-विधि में सहायता मिलती है।) किसी दूसरे न्याय प्रिय व्यक्ति के स्वाभाविक जीवन में उसके व्यवहारों से बाधा नहीं उत्पन्न होती। (चरित्रवान व्यक्ति समाज की तथा अपनी उन्नति करने में सफल होता है। उसका जीवन समाज के उत्थान के लिए उपयोगी बनता है।) (चरित्रबल से व्यक्ति के जीवन में वह शक्ति आ जाती है, जिससे वह स्वार्थ और परमार्थ दोनों का साधन उचित रीति से कर लेता है। चरित्रबल से मनुष्य का विवेक उन्नति करता है, वह दूरदर्शिता का व्यवहार करता है तथा, परनारी और परद्रव्य पर कुदृष्टि नहीं रखता। चरित्रबल मनुष्य में मानवीय गुणों—करुण, दया, सहानुभूति, उदारता तथा परोपकार की भावना को जगाता है। चरित्रबल एक ऐसा बल है जो स्वभाव और विचारों में दृढ़ता से आता है। वही दृढ़ता उसके विभिन्न कार्यों को सुचारु रूप से पूरा करने में सहायक होती है। चरित्रवान व्यक्ति जीवन की सामान्य बातों पर भी ध्यान देता है और यथाशक्ति ऐसा काम कभी नहीं करता जिससे समाज की हानि न हो। अतः चरित्र बल मनुष्य की स्वेच्छाचारिता को संयमित और नियमित करता है। चरित्रबल से मनुष्य में

आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता है, उसमें आस्तिकता की भावना दृढ़ होती जाती है और कालान्तर में वह आध्यात्मिक शक्ति की उन्नति करने में सफल होता है। इस प्रकार अपने ज्ञान और भक्ति के द्वारा वह मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। चरित्रबल का प्रभाव दूसरे लोगों पर पड़ता है जिससे वे अपना सुधार करते हैं। संसार में जितने लोगों ने लौकिक और परलौकिक उन्नति की है, वे सभी चरित्रबल से युक्त थे। जिन लोगों में चरित्रबल होता है, वे सदैव आदर्श जीवन व्यतीत करते हैं और समाज के अन्य लोगों के भी समक्ष एक आदर्श उपस्थित करते हैं और उससे समाज को बराबर प्रेरणा मिला करती है वह उत्साहवर्द्धक होता है। हमारा इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा हुआ है। अशोक, महाराणा प्रताप, शिवाजी, गोस्वामी तुलसीदास, महात्मा सूर, सन्त कबीर, स्वामी दयानन्द, गुरु गोरखनाथ, आदि महात्माओं ने चरित्र-बल से अपूर्व शक्तियों का अर्जन किया था। उनके उज्ज्वल चरित्र से आज भी लोगों को प्रेरणा मिल रही है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र, महाराज शिव, दधीचि, रामचन्द्रजी, परशुराम आदि सभी महापुरुषों में चरित्रबल प्रधान था।

एक बार भीलों ने एकाकी मानसिंह को पकड़कर महाराणा के पास उपस्थित किया। उस समय मानसिंह राणा पर आक्रमण करने गया था। मुगल-वाहिनी दूर छूट गई थी। मानसिंह अकेला था पर जब सैनिकों ने मानसिंह के पकड़े जाने का समाचार दिया तो राणा ने उन्हें सुरक्षित रूप से मुगल-शिविर तक पहुँचाने का आदेश दिया। यह उनका चरित्रबल था, जिसने शत्रु पर दया की। इस प्रकार एक बार शिवाजी के सैनिकों ने एक सुन्दरी मुगलानी को इस आशा से पकड़ लिया कि महाराज उसे महल में रखेंगे किन्तु शिवाजी ने उसे देखकर कहा कि यदि मेरी माता इतनी सुन्दर होती तो मैं सुन्दर हुआ होता और उस सुन्दरी को उसके अभिभावकों के पास भेज दिया। यह चरित्रबल का स्पष्ट परिचय देता है। वे अपने चरित्रबल के कारण ही संसार में अमर हुए।

उपसंहार—सच्चरित व्यक्ति में सदा उन्नत गुणों और उदात्त भावनाओं की उपस्थिति रहती है। उसमें त्याग की भावना का विकास होता है। मनुष्य में उच्च मानवीय गुणों का विकास चरित्रबल से ही होता है। एक विद्वान का कथन है कि **यदि धन चला गया तो कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह फिर मिल जायेगा, यदि स्वास्थ्य चला जाय, तो कुछ हानि अवश्य मानी जानी चाहिये, किन्तु यदि चरित्र चला जाय तो सर्वस्व गया** हुआ मानना चाहिए। कारण यह है कि इस हानि की पूर्ति होना कठिन हो जाता है। (If wealth is lost nothing is lost, if health is lost something is lost and if character is lost everything is lost)। चरित्रबल एक ऐसा धन है जो जाकर वापिस नहीं आता। रुपया-पैसा तो एक बार समाप्त हो जाने के पश्चात् दुबारा कमाया जा सकता है पर चरित्रबल के खोने पर उसे दुबारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है। अत: चरित्रबल जीवन में प्रधान बल है। कहा भी गया है कि धन से क्षीण हुआ मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता, परन्तु जिस मनुष्य का चरित्र नष्ट हो गया वह तो नष्ट है ही :—

"अक्षीणो वित्ततः क्षीणः, वृत्ततस्तु हतोहतः"

६७. अध्यवसाय

१—भूमिका, २—अध्यवसाय की रूपरेखा, ३—अध्यवसाय की आवश्यकता, ४—अध्यवसाय से लाभ और प्रभाव, ५—उपसंहार।

भूमिका—मानव-जीवन में अनेक प्रकार की समस्याएँ और कठिनाइयाँ बराबर आती रहती हैं। उसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए सदैव संघर्ष करना पड़ता है। उसके सामने अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ आती हैं तथा कठिनाइयों में से होकर निकलना पड़ता है। ऐसी दशा में उसे अपना मार्ग निर्धारित करना कठिन हो जाता है। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से उसकी बुद्धि कार्य नहीं कर पाती। उसका जीवनयापन कठिन हो जाता है, ऐसे अवसरों पर उसकी आन्तरिक शक्ति ही सहायक होती है। धैर्य, साहस, कर्मठता आदि गुण ही उसे कठिन परिस्थितियों से बचाने वाले होते हैं। उसकी सफलता के अनेक उपाय होते हैं, सिद्धियों के साधन होते हैं, लक्ष्य तक पहुँचने के अनेक मार्ग होते हैं, किन्तु मनुष्य अपनी मानसिक चंचलता के कारण उन आवश्यक उपायों का कर नहीं पाता, अतः उसका लक्ष्य पूर्ण नहीं हो पाता। जो लोग विवेक-पूर्वक साहस और धैर्य से अपना कार्य करते हैं, उन्हें ही सफलता प्राप्त होती है। इस प्रकार सफलता प्राप्त करने के अनेक साधन हैं। उनमें अध्यवसाय का महत्वपूर्ण स्थान है। अध्यवसाय क्या है ?

साहस, धैर्य और शान्तिपूर्वक कठिनाइयों का सामना करने में जो कार्य शक्ति काम करती है, उसे अध्यवसाय कहते हैं। जब मनुष्य किसी बड़े काम को करना चाहता है तो उसके सामने अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं, जिसके कारण उसकी परेशानियाँ बढ़ती चली जाती हैं। ऐसे अवसर पर यदि उसमें अध्यवसाय रहता है तो वह मार्ग पर चलता जाता है तथा अन्त में सफल होता है। यदि उसमें अध्य-वसाय नहीं रहता तो उसका साहस छूट जाता है और वह मार्ग से विचलित हो जाता है। उस दशा में उसे असफल होना पड़ता है। उसकी यह असफलता उसके जीवन-को बदल देती है। अध्यवसाय का सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा से होता है। इसमें मन की वृत्तियों को एकनिष्ठ बनाना पड़ता है। दृढ़ता और साहस अपने स्थान पर रहते हुए भी धैर्य की अपेक्षा रखते हैं। इन तीनों भावनाओं की मिलीजुली शक्ति ही अध्य-वसाय को उत्पन्न करती है। यह एक प्रेरणा-शक्ति के रूप में मनुष्य की शक्तियों को कार्य में लगाता है।

अध्यवसाय की आवश्यकता—मनुष्य जीवन के दो लक्ष्य होते हैं—सांसारिक जीवन को सुखी बनाने के लिए **भौतिक साधनों को एकत्र करना तथा पारलौकिक जीवन को सुधारने** का प्रयास करना जिससे अन्ततोगत्वा उसे जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त हो सके। इन दोनों ही लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अध्यवसाय अत्यन्त आवश्यक है। बाबर के पश्चात् हुमायूँ सम्राट बना। उस समय बंगाल के नवाब शेरशाह ने विद्रोह कर दिया और अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। यह समाचार पाकर हुमायूँ ने सेना लेकर उसे दबाने के लिए आक्रमण किया। बरसात का मौसम आ गया और मार्ग की कठिनाइयाँ बढ़ती चली गईं। पहले तो शेरशाह पीछे हट गया किन्तु जब अवसर पाया तो चौसा के मैदान में युद्ध के लिए डट गया। भयङ्कर युद्ध हुआ, और हुमायूँ की सेना बिखर गई। उसके पैर उखड़ गये और

सम्राट की पराजय हुई। हुमायूँ भागा और शेरशाह उसका पीछा करता हुआ दिल्ली तक आ गया और दिल्ली पर अधिकार कर लिया। बेचारा हुमायूँ भागता हुआ अफगानिस्तान होते हुए फारस चला गया। वहाँ पर धैर्यपूर्वक लगभग बारह वर्ष तक निर्वासन में रहा और पुन: फारस के बादशाह की सहायता से हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया। शेरशाह के वंशजों को हराया और मुगल साम्राज्य को दिल्ली में उसने पुन: प्रतिष्ठित किया। इतनी बड़ी हारी हुई बाजी को जिताने वाली शक्ति अध्यवसाय की ही थी। यदि उसमें अध्यवसाय न होता तो वह हिम्मत हारकर बैठ जाता और कभी अपना खोया हुआ सिंहासन न पाता। किन्तु उसने अपने मूल ध्येय को सामने रखा और शांत वातावरण तैयार किया। सेना का संगठन किया, सहायता ली, यहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन किया तथा उचित समय पर आक्रमण किया। भाग्य ने भी उसकी सहायता की और वह विजयी हुआ। **इस प्रकार लौकिक सफलता की प्राप्ति में अध्यवसाय बहुत आवश्यक होता है।** कोई भी बड़ा काम बिना अध्यवसाय के पूर्ण नहीं हो पाता। जो लोग अध्यवसाय करते हैं उन्हें अन्त में अवश्य ही सफलता मिलती है। आध्यात्मिक जीवन में इसकी और भी अधिक आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य का भाग्य पूर्वजन्म के अनेक कर्मों का परिणाम होता है। मोक्ष उसका परम लक्ष्य है, जिसके लिए उसे ज्ञान, शक्ति, योग आदि विभिन्न प्रकार के मार्गों द्वारा प्रयत्न करना पड़ता है। यह इतना सरल सौदा नहीं होता जो एक ही जन्म में घटाया जा सके। इसके लिए आवश्यक होता है कर्मों का पूर्णतया क्षय। कर्मो के क्षय के लिए मनुष्य को आसक्ति घटानी पड़ती है। इसके लिए उसे अभ्यास करना पड़ता है। अनेक जन्मों के अनवरत अभ्यास से क्रमश: आसक्ति हटती है। धीरे-धीरे जब आसक्ति हट जाती है तो उसके मन के संस्कार मिटने लगते हैं और संस्कारों के अभाव से मन में शुद्धता आती है, और मनुष्य का जीवन शुद्ध होता जाता है। वही शुद्ध जीव परमात्मा की शक्ति में मिलने का अधिकारी होता है। इस जीवन में इतने लम्बे मार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन होता है। फिर भी लोग प्रयास करते-करते अन्त में इसे पूरा करते हैं। **इस प्रयास में दृढ़ता अध्यवसाय से आती है, यदि मनुष्य में अध्यवसाय नहीं रहता तो कभी भी वह अपने जीवन के लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकता।** इस प्रकार मानव-जीवन में अध्यवसाय की परम आवश्यकता है।

अध्यवसाय से लाभ और उसका प्रचार—इसका मुख्य लाभ यह है कि इससे मनुष्य में आत्म-बल आता है, और जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिए आत्म-बल आवश्यक है। अध्यवसाय से मानसिक वृत्तियाँ एकाग्र होती हैं और मनुष्य अपनी पूरी शक्ति को एक तरफ लगाता है। एकाग्रचित्त से कर्म-रत होने के कारण मनुष्य ऊबता नहीं तथा धीरे-धीरे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपने लक्ष्य की पूर्ति सरलता से कर लेता है। तीसरी बात यह है कि अध्यवसाय से मनुष्य में विवेक बुद्धि जागती है जिससे सत्-असत्, हानि-लाभ, उचित-अनुचित, का विचार रहता है। यही विवेक मनुष्य को ऐसा मार्ग बताता है जिस पर चलकर वह अपने जीवन को सफल बनाता है। अध्यवसाय से काम करने वाला व्यक्ति श्रान्ति और क्लान्ति का अनुभव नहीं करता, उसकी कार्य-विधि में इतनी स्थिरता रहती है कि वह मन्थर गति से अपने लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करता है। इसका परिणाम यह होता है कि एक दिन वह अवश्य सफल होता है। इस प्रकार अध्यवसाय से अनेक लाभ होते हैं।

अध्यवसाय का प्रभाव मानव-जीवन पर व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों रूप में पड़ता है। व्यक्तिगत प्रभाव यह पड़ता है कि अध्यवसायी में उद्दंडता और अनुशासन-हीनता नहीं आती। वह सदा व्यवस्थित और संयमित रहता है, जिससे वह अनेक कठिनाइयों से बचा रहता है। अनुशासित होने के कारण उसकी सहायता के लिए अनेक सज्जन मिलते हैं। यह एक ऐसा गुण है जिसके सहारे मनुष्य का निर्माण होता रहता है। अध्यवसाय का प्रभाव बड़ा व्यापक होता है, वह मनुष्य को आदर्श बिना देता है तथा उसके अनुकरण पर दूसरे चलने का प्रयास करते हैं। इसके प्रभाव से दूसरे गुण स्वतः बढ़ते जाते हैं। इस एक गुण से मनुष्य में सत्य और निष्ठा का विकास होता है, उसके चरित्र में दृढ़ता आती है। वह सम्मान का पात्र होता है। लोक-रीति यही है कि मनुष्य के कर्मकाल की कठिनाइयों को लोग कम देखते हैं, सभी लोग अन्तिम परिणाम को ही देखते हैं और उसी के अनुसार कर्त्ता को सम्मान या अपमान भी मिलता है। कर्म का परिणाम अध्यवसाय की मात्रा के अनुसार बनता है।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि मानव-जीवन की सफलता का मूलाधार अध्यवसाय ही है। जो अध्यवसाय पूर्वक अपने काम को नहीं करता वह कभी भी सफल नहीं होता। मानव-जीवन को उच्च बनाने की शक्ति अध्यवसाय में होती है। जिस व्यक्ति में अध्यवसाय का अभाव होता है उसका जीवन सदा अस्थिर रहता है। अतः अध्यवसाय एक आवश्यक गुण है।

६८. समय और उसका सदुपयोग

१—भूमिका, २—समय के सदुपयोग का रूप, ३—समय के सदुपयोग से लाभ और प्रभाव, ४—समय का सदुपयोग न करने से हानियाँ, ५—उपसंहार।

भूमिका—संसार में समय की महिमा सर्वत्र गायी गई है। शास्त्रों ने काल को शाश्वत माना है। शास्त्रीय मत है कि काल का अन्त नहीं होता। काल एक ऐसी सत्ता है जो पेटू है कि अशेष विश्व को खाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता। संसार की सभी वस्तुओं में समय ही सबसे अधिक बलवान है। कहा है :—

'पुरुष बली नहिं होत है, समय होत बलवान।
भीलन लूटी गोपिका, वै अर्जुन वै बान॥'

यह समय का ही फेर है कि जिस अर्जुन ने निमिष मात्र में महाभारत जैसा युद्ध जीतने की क्षमता को प्राप्त कर लिया था, उसी अर्जुन को पराजित करके जंगली कोल भीलों ने गोपियों को छीन लिया, जिन्हें लेकर वे जा रहे थे। उनका वह गाण्डीव धनुष जिसकी टंकार से प्रबल शत्रुओं की रमणियों तक के गर्भपात हो जाते थे; वह भी उनके साथ ही था। यह सब किसने किया—समय की महत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है। समय का जिसने सदुपयोग नहीं किया उसने जीवन को ही नष्ट कर दिया। इस प्रकार मनुष्य के जीवन की उन्नति में समय का सदुपयोग ही सबसे बड़ा सहायक होता है। मानव-जीवन समय के सदुपयोग के अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है।

समय के सदुपयोग का रूप—समय के सदुपयोग का रूप क्या है, यह भी

जानना आवश्यक है। समय की गति अबाध रूप से बढ़ती चली जाती है। उसे मानव-शक्ति कभी रोक नहीं सकी है। यह सत्य है कि छूटा हुआ बाण, कही हुई बात और बीता हुआ समय पुन: वापिस नहीं आते। अत: समयानुसार आवश्यक और उचित कार्य करना ही समय का सदुपयोग है। जैसे मनुष्य-जीवन का प्रथम चरण यानी बीस-पच्चीस वर्ष की अवस्था अध्ययन और ज्ञान-प्राप्ति का समय है। यही अवसर है जब मनुष्य भावी जीवन की तैयारी करता है। उसे इस समय हर प्रकार के ज्ञान तथा शारीरिक पुष्टता से अपने को सक्षम बनाने का प्रयास करना चाहिए। जो व्यक्ति इस समय अपने वास्तविक कर्त्तव्यों को दृष्टि में रखकर कार्य नहीं करता और दूसरे कामों में लगा रहता है, उसे भावी जीवन—गृहस्थाश्रम में असफल होना पड़ता है। अत: लड़कपन को २०-२५ वर्ष की आयु तक ज्ञान तथा शारीरिक बल प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना तथा इस प्रकार से अपने को सक्षम बनाने का यथाशक्ति प्रयास करना ही समय का सदुपयोग है। इसी प्रकार जब अवसर मिले उसे अपने जीवन के वास्तविक उपयोग में लाना चाहिए क्योंकि समय बीत जाने पर फिर नहीं आता अत: मनुष्य बेकार होता है। यदि एक बार समय का सदुपयोग नहीं हो जाता है तो उसके बाद फिर समय का सदुपयोग करने का अवसर ही नहीं मिल पाता है।

समय के सदुपयोग से लाभ और प्रभाव—समय के सदुपयोग से विभिन्न प्रकार के लाभ होते हैं। समय का सदुपयोग जीवन को सहज और उन्नत मार्ग पर चलाने में सहायक होता है जिससे मनुष्य के जीवन-यापन में कठिनाइयाँ नहीं आतीं समय का सदुपयोग ही उन्नति की कुञ्जी है। जो मनुष्य समयानुसार कार्य की आदत डाल लेता है। उसे किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं होता। ऐसे लोगों में समयानुसार काम करने की क्षमता आ जाती है और वे निर्णयात्मक बुद्धि से अपने समय का उचित प्रयोग कर अपना लौकिक जीवन सफल बनाते हैं। समयानुसार काम करने वालों की गति-विधि में समन्वय तथा समरसता रहती है अत: उनका पारिवारिक जीवन सुखमय बन जाता है तथा उन्हें सदा आत्मशान्ति मिलती रहती है। समाज में सम्मानित होते हैं। इस प्रकार वे अपने समय का विभाजन करके उससे अधिक से अधिक लाभ उठाते हैं और जब जिस काम का अवसर रहता है, तब वे उसी काम को करके अपनी क्षमता बढ़ाते हैं तथा समयानुसार उन्हें अपने प्रयास का यथोचित फल प्राप्त होता है। समय के सदुपयोग का महत्व बताते हुए कहा गया है कि जिसने लड़कपन में विद्याध्ययन नहीं किया; युवावस्था में धन नहीं कमाया वह वृद्धावस्था में क्या करेगा ? यानी ये समय इन्हीं कार्यों के लिए उपयुक्त होते हैं।

इसका क्या रहस्य है ? वह यह है कि मानव-जीवन का प्रथम चतुर्थांश विभिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वोत्तम अवसर है। उस अवस्था में मनुष्य की बुद्धि निर्मल रहती है, उसका मत जिज्ञासापूर्ण रहता है। अत: सरलता पूर्वक विभिन्न विषयों को समझकर अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता है। साथ ही साथ समयानुसार और मानसिक उन्नति कर सकता है, और जब उसका मन आवश्यक कार्यों में लगा रहे तब उसे दुर्गुणों की ओर जाने का अवसर नहीं मिलेगा

अतः वह एक योग्य व्यक्ति बनकर संसार के सामने आयेगा। उनकी इस योग्यता के बल पर उसे सांसारिक सफलता प्राप्त होगी और प्रथम चरण का अर्जित ज्ञान उसे द्वितीय चरण अर्थात् गृहस्थ जीवन मे धन कमाने का साधन बनाकर उसके जीवन को सुख-सम्मान और शान्ति प्रदान करेगा। अतः उसे तृतीय और अन्तिम चरण में पाश्चाताप नहीं करना पड़ेगा। यह समय के सदुपयोग का लाभ और प्रभाव है।

समय का सदुपयोग न करने की हानियाँ—समय का सदुपयोग न करने के कारण मानव-जीवन में शक्ति ही नहीं आ पाती। उसका मन इतना चंचल और अव्यवस्थित हो जाता है कि समयानुसार वह काम नहीं कर पाता। जिसने जीवन के प्रारम्भ से ही समय का सदुपयोग नहीं सीखा, वह सदैव अनवसर का काम करेगा और उसे कभी भी सफलता नहीं मिल पाती। समय का सदुपयोग न करने का प्रभाव बहुत ही घातक होता है। इसके कारण जीवन का प्रथम चरण विभिन्न प्रकार की अनुचित और हानिकारक भावनाओं का केन्द्र बन जाता है। उसमें जीवन में बर्बरता, उद्दण्डता और अव्यावहारिकता आ जाती है, अतः वह गृहस्थ जीवन के योग्य ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता, इस बड़े अभाव के कारण उसमें उचित कार्यक्षमता का अभाव हो जाता है। अतः न तो वह धन कमा पाता है, न पारिवारिक जीवन को सुखी बना पाता है समाज में निन्दा का पात्र बनकर जीवन-यापन करता है। तृतीय और अन्तिम चरण में पश्चात्ताप की अग्नि में जलता हुआ जीवन का दुःख झेलता है। उसको जीवन में नारकीय यातना भोगनी पड़ती है यह समय के दुरुपयोग का अवश्यं-भावी फल है।

यद्यपि समय का सदुपयोग आवश्यक है, परन्तु इसमें अवसरवादिता को नहीं लाना चाहिए। अवसरवादिता में स्वार्थ की भावना अधिक रहती है और सदुपयोग की भावना कम। अवसरवादी व्यक्ति में उचित अनुचित का विचार गौण रहता है तथा स्वार्थ-साधन मुख्य रहता है अवसरवादी को अपने स्वार्थ से लिए अनेक प्रकार के स्वांग बनाने पड़ते हैं तथा आत्म-सम्मान को तिलांजलि देनी पड़ती है। इससे उसे सामयिक लाभ तो अवश्य होता है पर कीर्ति नहीं प्राप्त होती। जैसे शासन को प्रसन्न करने के लिए अनेक रंगे सियार क्षेत्र में आते रहते हैं। वे भी लाभान्वित होते ही हैं, यद्यपि उन्हें स्थायी सम्मान नहीं मिलता है।

उपसंहार—जिस समय के सदुपयोग को बहाना करके तथा स्वाँग रचकर लोग लाभान्वित हो जाते हैं, उस समय सच्चा सदुपयोग करने वाला व्यक्ति कितना लाभ प्राप्त करेगा, कहा नहीं जा सकता। उसे कितना सम्मान मिलेगा? तथा वह कितना सुखमय जीवन व्यतीत करते हुए अन्त में जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करके शान्ति-लाभ करेगा, इसकी तो सीमा हो नहीं है। अतः मानव-जीवन में समय का सदुपयोग आवश्यक है।

६६. प्राचीन स्मृति-चिन्हों का संरक्षण

-भूमिका, २—स्मृति-चिह्न इतिहास की निधि के रूप में (स्मृतियों द्वारा), ३—अतीत की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक स्थितियों के ज्ञान का

साधन, ४—वर्तमान के लिए पथ-प्रदर्शक, और भविष्य के निर्माण में सहायक रूप में, ५—आत्म-गौरव का उत्तेजक, ६—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य का स्वभाव है कि वह **अपनी प्राचीन वस्तुओं तथा व्यक्ति की स्मृतियों से प्रेरणा प्राप्त करता है। इसी प्रेरणा से वह अपना विकास करता जाता है।** मनुष्य की **तीसरी विशेषता** यह है कि वह अपने को अमर बनाने का प्रयत्न करता है। वह एक तो वंश परम्परा में अपने अंश को अमर मानता है। यदि संतान अयोग्य और दुराचारी हो गई तो उसे जिस प्रकार से अपने जीवन-काल में दुःख होता है, उसी प्रकार वह अपने मरणोपरान्त की बदनामी से भी अंकित रहता है। अतः वह कतिपय ऐसे कार्य करता है जिससे जीवन में सुख प्राप्त करे तथा मरने पर उसका भी नाम रहे। **चौथी बात** यह है कि मनुष्य समाज के अधिक से अधिक व्यक्तियों को प्रभावित करना चाहता है। वह अपने प्रभाव को 'बहुजन हिताय' और 'बहुजन सुखाय' बनाने के लिए अनेक कार्य करता है। अतः इस प्रकार यह सामान्य लोगों का अपना बन जाता है। यह व्यापक अपनत्व ही स्मृति चिह्नों का महत्व प्रदान करता है। इस प्रकार समाज के अधिक लोग जिस व्यक्ति या समुदाय को अपना मानते हैं उसका स्मृति चिह्न बनाते हैं, तथा उनके 'अपने' उस निर्माता तथा सम्बन्धित व्यक्ति को स्मरण रखने के लिए स्मृति चिह्नों का संरक्षण आवश्यक मानते हैं।

स्मृति-चिह्नों के रूप—स्मृति-चिह्न अनेक रूपों में होते हैं। मुख्यतः वे प्राचीन काल की बनी हुई इमारतों तथा स्तम्भों आदि के रूप में होते हैं। उनके संरक्षण से हमें उस युग की प्रवृत्ति तथा सामाजिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। तत्कालीन देश-काल तथा वातावरण आदि का अनुमान भवनों के भग्नावशेषों से होता है। जैसे ताजमहल का निर्माण शाहजहाँ ने १६ वीं शताब्दी के उत्तर-काल में किया था; किन्तु जब तक उस भवन और उसकी कला और चित्रकारी का एक अंश भी रहेगा तब तक शाहजहाँ के शासन-काल के वैभव-विलास तथा सूक्ष्म कला का अनुमान होता रहेगा। उस भवन (ताजमहल) के निर्माता शाहजहाँ के शासन-काल के इतिहास की वास्तविकता का परिचय उससे मिलता रहेगा। लाल किला या आगरा का किला देखने से तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का अनुमान लगता रहेगा। दिल्ली का कुतुबमीनार तथा पाण्डवों के किले के खण्डहर आज भी उस युग की स्थिति का आभास देते हैं। लखनऊ का बड़ा इमामबाड़ा तथा अन्य इमारतें नवाबी युग की विलासिता तथा वैभव आदि को व्यक्त कर रही हैं। ऐसे स्मृति-चिह्नों से देश तथा सम्बन्धित काल के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

दूसरे प्रकार के स्मृति-चिह्न दूसरों के द्वारा बनवाये जाते हैं। ऐसे व्यक्ति जिनके स्मृति-चिह्न दूसरों के द्वारा बनवाये जाते हैं, सार्वजनिक व्यक्ति होते हैं तथा उनके जीवन का सम्बन्ध अधिक लोगों से होता है। अधिक लोग उनके जीवन के कार्यों से लाभान्वित होते हैं अतः वे लोग ऐसे लोगों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए उनके स्मृति-चिह्न बनवाते हैं। प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम में सक्रिय भाग लेने वाली झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के अनेक स्थानों पर स्मृति-चिह्न बनाये जा रहे हैं। इसका कारण यह है कि आज भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर अधिकांश भारतीयों के हृदय में जो श्रद्धा वर्षों से दबी हुई थी, वही अब स्मृति-चिह्न के रूप में स्थान-स्थान में प्रकट

हो रही है। अनेक अज्ञात शहीदों के स्मृति-चिह्न बनाये जा रहे हैं। ये स्मृति-चिह्न भावी पीढ़ी को इतिहास का ज्ञान कराने में समर्थ होंगे। इस प्रकार के स्मृति-चिह्न पुस्तकालयों, विद्यालयों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के रूप में भी बनाये जाते हैं।

तीसरे प्रकार के स्मृति-चिह्न राजा, महाराजा तथा विजेता और शासक बनवाते हैं। इन स्मृति-चिह्नों द्वारा विजयों का स्मरण युगों तक होता रहता है। अशोक के स्तम्भ, समुद्रगुप्त, के शिला-लेख तथा अन्य अन्य हजारों शिला-लेख आदि हैं, जो विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक तत्वों पर प्रकाश डालते हैं। इतिहास का ज्ञान स्मृति-चिह्नों से स्पष्ट होता है।

स्मृति-चिह्नों के रूप में पुस्तकें—पुस्तकों के रूप भी स्मृतियाँ सुरक्षित रखने की परिपाटी है। इस प्रकार से अनेक प्रकार के स्मृति-चिह्नों का निर्माण होता है तथा उनके संरक्षण का उपाय किया जाता है। किसी भी स्मृति-चिह्न से सामाजिक वातावरण का ज्ञान होता है। अजन्ता के चित्रों को देखकर आज भी उस समय की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उस समय के लोगों के रहन-सहन, बेश-भूषा, आचार-व्यवहार, खान-पान तत्कालीन संस्कृति की हजारों बातों का अनुमान चित्रों से चल जाता है। किसी पुस्तक का वर्णन पढ़कर हम उसके देश काल से पूर्णतया परिचित हो जाते हैं। स्मृति-चित्रों जैसी कला और शिल्प का प्रयोग किया जाता है, उससे उस समय की स्थिति का अनुमान बराबर लगा करता है। सामूहिक-यज्ञों का चित्र या खुदाई देखकर ज्ञात हो जाता है कि उस समय का समाज किस प्रकार की परम्परा रखता था ? यज्ञ आदि में उनकी कितनी रुचि थी एवं विभिन्न वर्गों के लोग किस रूप में तथा किस प्रकार से रहते थे ? उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति किस स्तर की थी ? गौतम बुद्ध से सम्बन्धित स्मृति-चिन्हों को देखने मात्र से ज्ञात हो जाता है कि तत्कालीन समाज की क्या दशा थी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्मृति-चिन्ह अतीत की झाँकी वर्तमान को देते रहते हैं।

स्मृति-चिन्हों का जीवन में महत्व—स्मृति-चिन्ह वर्तमान जीवन-क्रम के पथ-प्रदर्शक होते हैं। मनुष्य के दैनिक जीवन में सैकड़ों समस्यायें बराबर आती रहती हैं। उन समस्याओं के हल के लिए हम मार्ग ढूँढ़ते हैं, कभी-कभी उन समस्याओं को सुलझाने के साधनों का आभास स्मृति-चिन्हों से मिलता है। मनुष्य स्मृति-चिन्हों को देखकर, जिससे उनका सम्बन्ध रहता है, उस व्यक्ति को स्मरण करता है, तथा उस व्यक्ति की स्मृति उस व्यक्ति से सान्निध्य स्थापित करा देती है। इसका परिणाम यह होता है कि उस सान्निध्य से वह अपने वर्तमान को बनाने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिए जब हम रामलीला करते हैं या देखते हैं तो राम तथा उनके परिवार की कथा हमारे मानसपटल पर अंकित हो जाती है। उनकी परिस्थितियों तथा कठिनाइयों का अवलोकन करते हुए उस समय की उनकी कार्य-विधि को देखते हैं। उसका प्रभाव यह होता है कि हम भी अपने जीवन-क्रम को वैसा ही बनाने की कोशिश करते हैं। इनका आदर्श हमारे सामने रहता है। समाज में, परिवार में, घर में हमारा कैसा व्यवहार होना चाहिए, इसकी शिक्षा स्वतः मिलने लगती है। इस प्रकार वर्तमान सुधारने के साथ ही साथ हम भविष्य निर्माण का भी प्रयत्न करते हैं।

घटनाओं और व्यक्तियों के स्मारक—प्रत्येक स्मृति-चिन्ह कुछ घटनाओं तथा

तत्सम्बन्धित कथा और व्यक्तियों की स्मृति में बनाये जाते हैं। वे एक लम्बी कहानी को अपने में समेटे रहते हैं, जिसमें दो प्रकार के विरोधी कार्यों से सम्बन्धित व्यक्तियों तथा उनके परिणाम का योग रहता है। इसका फल यह होता है कि वे दोनों स्मृतियाँ साथ-साथ जगाते हैं। दोनों स्वाभाविक परिणाम भी याद आ जाते हैं। इसमें दर्शक अपने लिए उचित पथ का चयन करने में समर्थ होता है तथा अपने भविष्य को सुधारने का प्रयास करता है। गोमती-तट पर बनी अज्ञात शहीदों की स्मृति में बना विशाल संगमरमर-स्तम्भ युगों तक दर्शकों के हृदय में भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का चित्र उपस्थित करेगा, जिसमें विदेशी अँग्रेज शासकों के दमन-चक्र में पिसते तथा प्राणोत्सर्ग करते हजारों ऐसे व्यक्ति दिखाई पड़ेंगे, जिनको आजादी मिलने पर भी कोई नहीं जान पाया। उस समय दर्शकों को आजादी का मूल्य ज्ञात होगा, उन शहीदों के प्रति श्रद्धा होगी तथा और भी अनेक स्मृतियाँ आएँगी।

श्रद्धा के प्रतीक—स्मृति-चिन्ह वास्तव में श्रद्धा प्रदर्शित करने के माध्यम होते हैं। श्रद्धा वह भावना है जिसमें प्रेम और सम्मान का मधुर मिलन रहता है। श्रद्धालु अपने श्रद्धास्पद से कुछ चाहता नहीं बल्कि अपने हृदय की भावना व्यक्त करता है। इन्हीं श्रद्धा-भावों की अभिव्यक्ति स्मृति-चिन्हों में होती है। आचार्य नरेन्द्रदेव पुस्तकालय, अशोक मार्ग, मालवीय पथ आदि नाम श्रद्धा के कारण ही दिये गये हैं ताकि जब तक ये वस्तुएँ रहें तब तक उन व्यक्तियों के प्रति लोग बराबर श्रद्धा रखें तथा उन्हें स्मरण करके अपने जीवन में प्रेरणा प्राप्त करते रहें। यह प्रेरणा लोगों के भावी तथा वर्तमान जीवन का मार्ग-दर्शन कराती रहे।

आत्म-गौरव की अनुभूति—इसमें आत्म-गौरव की अनुभूति होती है। मानव स्वभाव है कि अपने कहे जाने वालों की उन्नति का स्मरण करके आत्म-सम्मान जगाता है। गोस्वामी तुलसीदास, स्वर्गीय डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर, महाराणा प्रताप, स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी, गौतम बुद्ध, स्वामी शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस आदि महानुभावों की स्मृति से किस भारतीय का आत्म-गौरव नहीं जगेगा? कौन भारतीय गौरव के साथ यह नहीं कहेगा कि वे हमारे पूर्वज थे? कालीदास का नाम लेकर हम देश-विदेश से सम्मान पाते हैं। आत्म-गौरव की अनुभूति को उद्दीप्त करने का कार्य स्मृति-चिन्हों से होता है। स्मृति-चिन्हों का प्रभाव मन और हृदय पर पड़ता है। अतः उनमें भावों का समन्वय रहता है। मनुष्य सुखद घटना से सम्बन्धित वस्तुओं तथा व्यक्तियों का चिन्ह भी नहीं रखना चाहता क्योंकि वे दुख को जगाते हैं। यही कारण है कि अँग्रेजी राज्य चले जाने पर उनके स्मृति-चिन्ह भी मिटा दिये गये।

उपसहार—स्मृति-चिन्ह मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों को जगाकर उसके मन को स्मृतियों द्वारा प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। इससे वे मूक भाषा में निरन्तर अपनी शिक्षा देते रहते हैं। उनसे जीवन-दायिनी प्ररणा का स्फुरण होता रहता है; अतः उनका संरक्षण अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है।

१००. भारतीय संस्कृति और उसका स्वरूप

-भूमिका, २—भारतीय समाज का रूप, ३—संस्कृति की रूपरेखा, ४—संस्कृति के मुख्य अंग—आध्यात्मिक, व्यावहारिक और धार्मिक, ५—परम्परा और संस्कृति, ६—उपसंहार।

भूमिका—भारतवर्ष प्राचीन काल से एक महान देश रहा है। इसकी प्राचीनता को हम अनेक रूपों में आज भी देखते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ का सांस्कृतिक विकास कितने दिनों में हुआ तथा वैदिक काल से पूर्व यहाँ की क्या दशा थी ? वैदिक काल का समय ही निश्चित नहीं किया जा सकता है। कारण यह है वैदिक मन्त्रों के वास्तविक ज्ञाताओं ने इतिहास रचना का प्रयास नहीं किया और इतिहासकारों के सामने उन मन्त्रों की जटिलता खुली नहीं। अतः उन्हें अधिकांश में अनुमान का सहारा लेना पड़ा फिर भी यह तो मानना ही पड़ता है कि जब से इतिहास का प्रारम्भ होता है उसके पूर्व से ही भारत का सांस्कृतिक विकास हो चुका था। भू-तत्ववेत्ताओं ने विभिन्न खुदाइयों के आधार पर जिन तथ्यों को प्रकाशित किया उनसे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति अति प्राचीन है। वर्तमान रूप में यह संस्कृति एक विचित्र व्यूह दिखाई पड़ती है।

भारतीय समाज और संस्कृति—अनेक व्यक्ति जब बहुत सी बातों मेंसमान रूप से व्यवहार करते हैं तो वह एक समाज कहा जाता है। भारतीय समाज का अर्थ हुआ भारत में बसने वाले लोगों का समूह जिनमें कतिपय समानतायें पाई जाती हैं। जब हम भारतीय समाज की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय भारतवासियों के उस समूह से होता है जिसमें भारत की प्रकृति के अनुसार प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। अतः भारतीय समाज की सबसे बड़ी विशेषता है—अनेकता में एकता और भिन्नता में समानता। यह विरोधाभास यहाँ प्रचलित जाति-प्रथा से सम्भव हो सका है। यहाँ प्रारम्भ से ही वर्ण-व्यवस्था चली आ रही है। इस वर्ण-व्यवस्था के अनेक भौतिक और आध्यात्मिक कारण हैं। उन कारणों पर विचार करना इस निबन्ध का उद्देश्य नहीं है, फिर भी इस समाज का रूप समझने के लिए जाति-प्रथा का संक्षिप्त ज्ञान आवश्यक है। प्राचीन ऋषियों के नाम पर उनकी संतानों के गोत्र और प्रवर बने। इन गोत्रों और प्रवरों की भिन्नता के कई व्यावहारिक कारण भी हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार सवर्ण हिन्दुओं को ऋषि संतान माना जाता है। हिन्दू समाज में मूलतः चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र माने जाते हैं। प्रत्येक वर्ण में अनेक जातियाँ तथा प्रत्येक जाति में उपजातियाँ हैं। जातियों में भेद, उपभेद और अवान्तर भेद हैं। इस प्रकार हिन्दू धर्म में जातियों का ऐसा जाल बन गया है कि उनमें बाहरी आगंतुक भी मिल सके। अतीत काल से अनेक बाहरी जातियाँ यहाँ आईं और कालान्तर में मिलती चली गईं। यूनानी, हूण आदि जातियाँ तो भारत में आकर भारतीय समाज में मिल गईं पर यवनों के आगमन से भारतीय समाज तथा यवनों का मिश्रण न हो सका। कारण यह था कि इस्लाम धर्म को मानने वाले इतने कट्टर थे कि वे भारतीयों से मिलने को तत्पर नहीं हुये। दूसरी ओर हिन्दू धर्म अपनी वास्तविकता (शुद्धता) बनाये रखने के लिए उन्हें मिलाने के लिए भी तैयार था। किन्तु वे हिन्दुओं को साम, दाम, दण्ड, भेद सभी प्रकार से मुसलमान बनाने को तैयार थे। अतः उनकी संख्या बढ़ी। लेकिन भारतीय समाज में तो सहस्त्रों जातियाँ थीं ही अतः मुसलमान एक जाति रूप में रहने लगे। उनमें भी शिया, सुन्नी, शेख, पठान, धुनियाँ, जुलाहा आदि अनेक उप-जातियाँ बन गईं। इसके बाद ईसाई आये, ये भी उसी प्रकार से अपनी संख्या बढ़ाने लगे और भारतीय समाज में एक जाति के रूप में मिल गए। इस प्रकार भारतीय समाज में मिलने वालों ने कुछ अंश तक तो भारतीय संस्कृति को अपना

लिया और वे इससे 'नीर-क्षीर' न्याय से एकाकार हो गए। परन्तु जिन लोगों ने इस संस्कृति को अपनाया वे अपना अलग अस्तित्व बनाये हुए हैं। ईसाइयों में चूँकि कट्टरता कम थी अतः वे अपने वर्ण और ईसामसीह को मानते हुए भी कम विरोधी बने, पर मुसलमानों का विरोध अब भी बना ही है। यह है भारतीय समाज का रूप जिससे भारतीय संस्कृति अपने वर्तमान रूप में व्याप्त है।

संस्कृति का व्यापक स्वरूप—'संस्कृति' शब्द अपने में सभी सामाजिक संस्कारों, परम्पराओं, सभ्यता के विभिन्न तत्वों तथा लौकिक, आध्यात्मिक और धार्मिक मान्यताओं को समेटे हुए है। भारतीय संस्कृति का मूलाधार वेद और स्मृतियाँ हैं, जिनके आधार पर हिन्दू समाज की विभिन्न जातियाँ चल रही हैं। मुसलमान यद्यपि धार्मिक दृष्टि से कुरान शरीफ की आयतों का पालन करते हैं पर व्यावहारिक दृष्टि से अनेक बातें भारतीय परम्परा को ही मानते हैं। धार्मिक, आध्यात्मिक विषयों में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, पारसी तथा अन्य जंगली जातियाँ विभिन्न प्रकार के संस्कारों को करती हैं पर उनमें अनेक परम्पराएँ समान भी हैं। हिन्दू ईश्वर को साकार मानकर मूर्ति-पूजा करते हैं लेकिन बहुत से हिन्दू ईश्वर को निराकार मानकर मूर्ति-पूजा का विरोध भी करते हैं फिर भी हिन्दू दोनों ही रहते हैं। कुछ मुसलमान ताज़िया, मज़ार आदि की पूजा करते हैं, कुछ नहीं करते तथा इन बातों का विरोध करते हैं, पर मुसलमान दोनों ही हैं। इसाई अपने गिरजों में जाते हैं, बाईबिल का पाठ करते हैं। उन्हें मूर्ति-पूजा से न बैर है न प्रेम है बल्कि वे उदासीन हैं। वे अपने संतों तथा ईसामसीह के चित्र रखते हैं, उससे श्रद्धा रखते हैं, उसे फूलमाला भी चढ़ाते हैं। यह तो सामान्य रूप है भारतीय संस्कृति की भिन्नता का, किन्तु सबमें आस्तिकता है और सभी ईश्वर की शक्ति को मानकर सविश्वास प्रार्थना करते हैं। जहाँ तक परम्पराओं का सम्बन्ध है, अनेक परम्पराएँ ऐसी हैं जिन्हें केवल हिन्दू ही मानते हैं तथा बहुत सी ऐसी भी हैं जिन्हें सभी भारतीय मानते हैं चाहे उनका कोई भी धर्म क्यों न हो। सभ्यता और वेश-भूषा प्रायः मिली-जुली है। हिन्दू मुसलमान तो प्रायः देहातों में धोती, कुर्ता पहनते हैं। शहरों में दोनों ही पायजामा और पतलून पहनते हैं तथा तहमद तो सामान्य घरेलू पहनावा ही हो गया। इस प्रकार वर्तमान रूप में भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों का संगम बनी हुई है।

भारतीय संस्कृति का महत्व—संस्कृति और परम्पराओं में गहरा सम्बन्ध होता है। अनेक परम्पराएँ सभी जातियों और धर्मों में ऐसी हैं जिनका धर्म से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। ऐसी परम्पराओं का पालन सभी समान रूप से करते हैं। भारतीय परम्परा में पुनः जन्म और विवाह का उत्सव, बड़े उत्साह से बाजे-गाजे के साथ मनाया जाता है। भारतीय हिन्दू मुसलमान आदि सभी समान रूप से इन दोनों संस्कारों में परम्पराओं का निर्वाह करते हैं पर उनके धार्मिक नियम भिन्न हैं। घर-परिवार में बड़े-बूढ़ों का मान करना, उनके प्रति श्रद्धा रखना भारतीय परम्परा है, इसका यथासम्भव निर्वाह सभी भारतीय करते हैं। सामूहिक परिवार की परम्परा का पालन प्रायः सभी भारतीय करते हैं। भूत-प्रेत तथा अनेक देवताओं की पूजा में मेलों और त्योहारों में प्रायः सभी समान रूप से सम्मिलित ही हैं। सभी वर्ग के शिक्षितों

की इन विषयों में उपेक्षा की भावना रहती है। धार्मिक भावनाओं तथा मान्यताओं के प्रति सामान्यतया सभी वर्गों के शिक्षित भारतीयों की उपेक्षा रहती है। यूरोपीय वेश-भूषा का समर्थन हिन्दू-मुसलमान दोनों वर्गों के शिक्षित लोग करते हैं। इस प्रकार से अनेक परम्पराएँ सभी वर्गों में मान्य हैं।

भारतीय संस्कृति, जिसका देश-विदेश में गुणगान होता रहता है, वह है भारतीय दर्शन, ज्योतिष तथा साहित्य-शास्त्र की सूक्ष्मता और विश्लेषणात्मक तथ्यनिरूपण। इसमें आस्तिक अध्यात्मवाद का मिश्रण ही इसे सार्वभौम सम्मान प्रदान कराने में समर्थ हुआ यही एक ऐसी विशेषता इस संस्कृति में है जिसके रहस्य को जानकर सभी मुग्ध हो जाते हैं। भारतीय संस्कृति (हिन्दू-संस्कृति) में जीवन के लौकिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों की अलग-अलग मीमांसा की गई है तथा लौकिक पक्ष को आध्यात्मिक उन्नति के साधन के रूप में सहायक कहा गया है। गीता का सामान्य उपदेश है कि कर्म-करो, फल में आसक्ति न रखो, वही कर्मयोग या निष्काम कर्म है। इसमें कितना ऊँचा दर्शन है कि कर्म-फल का जितना अंश प्राप्त होगा वह लौकिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होगा, जो नहीं प्राप्त होगा उसके लिए कष्ट नहीं होगा क्योंकि उसमें आसक्ति नहीं है। भारतीय संस्कृति जीवन नाटक को कभी भी दुखान्त बनाने के पक्ष में नहीं रही है, यही कारण है कि भारतीय काव्य-परम्परा में दुखान्त रचनाओं का सर्वथा अभाव है। भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता है आश्रम व्यवस्था जिसके अनुसार जीवन के चार भाग कर दिये गये हैं—ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी जीवन) गृहस्थाश्रम (सांसारिक जीवन), वानप्रस्थ (सांसारिक उत्तरदायित्वों से निवृत्ति-काल के आस पास का समय) तथा संन्यासपूर्ण विरक्त जीवन। इनके अनुसार पहले आम में दूसरे आश्रम के लिए तैयारी की जाती है। इसी क्रम के अन्त में संन्यासाश्रम तक पहुँच कर पूर्ण विरक्ति की जाती है। अन्तिम परिणाम मोक्ष—जीवन के चरम लक्ष्य को करने का प्रयास किया जाता है। यह भारतीय संस्कृति की सबसे महत्वपूर्ण बात है। आज इसका येन-केन प्रकारेण थोड़ा-बहुत निर्वाह हो ही रहा है।

उपसंहार—भारतीय संस्कृति इतनी व्यापक वस्तु है तथा इसका विकास इतने ठोस रूप से हुआ है कि यह इतने प्रकार के आघातों को सहकर भी अभी सुरक्षित है। अपने वर्तमान रूप से इसमें कतिपय विकृतियाँ जैसे छुआ-छूत, संकीर्णता आदि आ गई है या राजनैतिक कारणों से बढ़ गई है उनका परिमार्जन समय स्वयं करता जायगा। भारतीय संस्कृति नमनीय अवश्य है पर नियमों की अवहेलना के साथ नहीं यहाँ तो प्रत्येक परिस्थिति के लिए मार्ग और नियम हैं जिनके अनुसार साँस्कृतिक सुधार होते रहते हैं।

●

१०१. हमारे कुछ प्रमुख त्यौहार और उनका महत्व

१—भूमिका, २—त्योहारों का नाम, समय तथा कारण, ३—रक्षा-बन्धन और इसका महत्व, ४—दशहरा और इसका महत्व, ५—दीपावली और इसका महत्व, ६—होली और इसका महत्व, ७—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य के जीवन में सामान्य और विशेष दो प्रकार के कार्य होते हैं, दो प्रकार के दिन। सामान्य कार्य और सामान्य दिन बराबर होते हैं, किन्तु विशेष

कार्य और विशेष दिन अपने नियत समय पर आते हैं और उनका विशेष महत्व होता है। त्योहारों का महत्व इसीलिए है कि उनमें अनेक विशेषताएँ होती हैं तथा वे विशेष समय पर आते हैं। भारतवर्ष एक ऐसा देश है जहाँ प्राचीनकाल से वर्णाश्रम-व्यवस्था चली आ रही है। मूलतः भारतीय समाज चार वर्णों में विभाजित था। प्रत्येक वर्ण का अपना-अपना त्योहार होता है। उन त्योहारों का भारतीय समाज में बड़ा महत्व है। हर त्योहार सम्बन्धित वर्ण विशेष के लिए अधिक महत्व का होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्ण एक ही त्योहार मनाता है। प्रायः सभी वर्ण के लोग सभी त्योहारों में भाग लेते हैं और अपना सम्बन्ध सभी त्यौहारों से मानते हैं। हिन्दू-धर्म की यह उदारता है कि किसी भी सांस्कृतिक और धार्मिक पर्व में सभी हिन्दू प्रेमपूर्वक सम्मिलित होते हैं। यह त्यौहार मानने की प्रथा मानव-समाज में अज्ञातकाल से चली आ रही है। भारत में चार त्यौहार मुख्य रूप से मनाये जाते हैं तथा उनका व्यापक महत्व है।

त्यौहारों के नाम, समय तथा कारण—हिन्दू समाज में चारों वर्णों का कार्य तथा उत्तरदायित्व अधिकांश में भिन्न था, उनके रहन-सहन तथा आचार-व्यवहार में भी भिन्नता थी। उनका कार्यक्रम भी कुछ भिन्नता के साथ चला करता था। फिर भी वे एकता के सूत्र में बंधे रहते। हार्दिक समन्वय की भावना के चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के क्रमशः चार त्यौहार—रक्षा-बन्धन, विजय दशमी, दीपावली तथा होली हैं। इन त्यौहारों का समय इस प्रकार से रखा गया है कि त्योहारों को मानकर सम्बन्धित जातियाँ अपना कार्य प्रारम्भ करती थीं, उनके नये सत्र त्योहारों से व्यवस्थित रूप से चलने लगते थे। भारतवर्ष की जलवायु के अनुसार ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में बाहर का कार्य प्रायः कम होता था। ब्राह्मण वर्ग अपना मुख्य त्यौहार रक्षा-बन्धन श्रावण की पूर्णिमा को मानते हैं। इसमें क्षत्रिय और वैश्य भी सम्मिलित हो सकते हैं क्योंकि वे भी द्विज कहे जाते थे और यज्ञोपवीत धारण करते हैं। आश्विन शुक्ल १० को विजया (दशहरा) का त्यौहार बनाया जाता है। कार्तिक अमावस्या को दीपावली तथा फाल्गुन शुक्ल ३० (पूर्णिमा) को होलिका दहन, चैत्र कृष्ण १ को होली का उत्सव मनाया जाता है। इन त्यौहारों के मानने के अनेक कारण हैं।

रक्षा-बन्धन—रक्षा-बन्धन की परिपाटी का प्रारम्भ और स्वरूप यह था कि प्राचीन युग में ब्राह्मण, अन्य लोग जो आश्रमों में रहते थे, वे अपने यज्ञों की पूर्णाहुति श्रावण की पूर्णिमा को करते थे। उस दिन राजन्य वर्ग तथा और अन्य लोग भी उसमें सम्मिलित होते थे और सब लोग मिल जुलकर श्रावणी-कर्म करते ये। इस वर्ग में बाह्य सफाई गोबर तथा मिट्टी लगाकर स्नान करके की जाती है तथा आन्तरिक शुद्धता के निमित्त पंच गव्य लिया जाता है। मन्त्रों के द्वारा यज्ञोपवीत अभिमन्त्रित करके धारण किया जाता है। प्राचीनकाल में जो आश्रम का अधिष्ठाता होता था, वह यज्ञ का रक्षा-सूत्र राजा तथा अन्य आगन्तुकों को बाँधता था। वे रक्षासूत्र बँधवाने वाले आश्रम की रक्षा तथा भरण-पोषण को अपना कर्तव्य समझकर करते थे। कालान्तर में परिवर्तन के नियम के अनुसार वह व्यवस्था विकृत हो गई तथा आश्रमों का रूप ही बदल गया। ब्राह्मण वर्ग अपनी जीविका के लिए सामान्य लोगों के यहाँ

धार्मिक कार्य करने लगे तथा राज-दरबारों में आश्रित होकर रहने लगे। स्त्रियों में भी अपनी रक्षा के लिए अपने रक्षक भाइयों की रक्षा सूत्र बाँधने की परिपाटी चल पड़ी। दूसरे भी जो रक्षा-सूत्र बँधाते थे, वे उनकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे। आज के अर्थवादी युग में यह परम्परा क्षीण होती जा रही है। गरीब ब्राह्मण किंचित पैसों के लिए राखी बाँधते फिरते हैं। कहीं विधानतः कुछ लोग श्रावणी कर्म भी करते हैं।

दशहरा अथवा विजयादशमी—प्राचीनकाल में दुर्गा के उपासक क्षत्रिय लोग वर्षा बीतने पर अपने कार्य का स्मरण करते थे। दुर्गा की नवरात्रि भर उपासना करते थे तथा नवरात्रि के अन्तिम आ० शु० ९ को दुर्गा-पूजन करते थे, अपने अस्त्र-शस्त्र ठीक करते थे। दूसरे दिन दशहरा पड़ता है। उस दिन उत्सव मनाकर अपनी युद्ध यात्रा या आखेट यात्रा पर प्रस्थान करते थे। आज दशहरा का दिन हर दिशा में प्रस्थान करने के लिए शुभ दिन माना जाता है। समय और वातावरण के परिवर्तित हो जाने के कारण आज इसके रूप में भी परिवर्तन अवश्य हो गया है फिर भी त्योहार तो मनाया ही जाता है। आजकल दशहरा के अवसर पर रामलीलाएँ जगह-जगह पर होती हैं, जिनमें रामचरित्र का अभिनय दिखाया जाता है। रावण वध तथा रावण-राज्य का अन्त दिखाया जाता है। इस त्यौहार के मानने से आदर्श राज्य राम-राज्य तथा आदर्श चरित्र राम की स्मृति जगाई जाती है। वैसे तो यह त्यौहार विशेष कर क्षत्रिय वर्ग का है पर पुरातन काल से सभी वर्ग इसमें सम्मिलित होते हैं, तथा धूम-धाम से त्योहार मानते हैं। दशहरा के अवसर पर दुर्गा के उपासक बंगाली बहुत सुन्दर ढंग से दुर्गा की मूर्ति बनाते हैं। अनेक प्रकार से पूजा-अर्चा करते हैं तथा दशहरा को उसका विसर्जन कर देते हैं। यह त्योहार हिन्दुओं के हृदय में वीरता, दया, सहानुभूति, आदर्श मैत्री, शक्ति-भावना आदि उच्च गुणों की प्रेरणा देता है। हिन्दू-मात्र राम के पारिवारिक जीवन से प्रेरणा पाता है। राम का परिवार हिन्दुओं के लिए एक आदर्श परिवार है। वर्षाकाल के समाप्त हो जाने से यात्रा आदि की सुविधा हो जाती है। इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा है कि—

'चले हरषि तजि नगर नृप, तापस, वणिक भिखारि।
जिमि हरि-भगतिहि पाइ करि, तजे आश्रमी चारि॥'

वर्षा-ऋतु में भारत में खेती-बारी का काम चलता रहता है, इससे गृहस्थ अपने घरों में रहते हैं, तपस्वी अपने आश्रम पर रहते हैं, राजा अपनी राजधानी में रहते हैं तथा भिक्षुक अपनी कुटिया में रहकर समय काटते हैं।

दीपावली अथवा दीवाली—यह त्योहार विशेषकर वैश्य वर्ग का माना जाता है। इसका समय कार्तिक बदी अमावस्या माना जाता है। उस समय वर्षा बीत गई रहती है, खेती का कार्य प्रायः कम हो जाता है। व्यवसायी वर्षा-काल में अपना संग्रहीत माल बेच चुके होते हैं। उनकी लक्ष्मी (सम्पत्ति) अधिकांश उनके पास आ चुकती है। वे उसकी पूजा करते हैं। पूजा के पहले पूरे मकान की सफाई की जाती है। अमावस्या के दिन दीप-मालिका का उत्सव मनाया जाता है। देहातों में दरिद्र खदेड़ने की परिपाटी भी चलती है। इसीलिए दीपावली के एक दिन पहले नरक चौदस होती है और इस दिन घरों का कूड़ा-करकट सब फेंक कर उनकी लिपाई-

पुताई करते हैं। दीवाली के दिन सब के घर लिपे-पुते, साफ सुथरे दिखाई पड़ने लगते हैं। यह भी कहा जाता है कि इसी तिथि को महाराज रामचन्द्र ने लंका विजय करके अयोध्या में पदार्पण किया था। उनके आगमन के उपलक्ष्य में उस समय अयोध्या नगर दीप-मालिका मनाई गई। उसी घटना की स्मृति में आज भी दीपावली मनाई जाती है।

यह वैश्यों का त्योहार विशेष रूप से क्यों माना जाता है? वैश्य-वर्ग का कार्य था कृषि और व्यवसाय। कृषि कार्य इस समय समाप्त-सा माना जाता है क्योंकि खरीफ भदई का काम पूरा हो चुकता है। रबी की बुआई समाप्त हो चुकती है। व्यवसायियों को नये माल के लिए बाहर जाना पड़ता है तथा कृषकों से उनके माल की ढुलाई में सहायता मिलती है क्योंकि वे खाली रहते हैं। कतिपय किसान कुछ थोड़ा-बहुत व्यवसाय भी करते हैं। इस त्योहार को मनाकर सभी अपने कार्य में लग जाते हैं। प्राचीन-काल में भारत में प्रकृति-पूजा की परिपाटी अधिक थी। लक्ष्मी जी सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थीं। अत: उनकी पूजा उत्साह से की जाती थी। अब भी व्यवसायी वर्ग लक्ष्मी-पूजन उत्साह से करता है। वर्षा की नमी तथा विभिन्न प्रकार की गन्दगियाँ साफ कर दी जाती हैं और समाज नयी स्फूर्ति से काम प्रारम्भ करता है।

होली—यह त्योहार विशेषतया शूद्र वर्ग का माना जाता है। प्राचीनकाल से शूद्र वर्ग दीन-वर्ग होता है। वर्ष भर कठिन परिश्रम तथा कष्ट सहने के बाद रबी की फसल तैयार हो चुकती है। गृहस्थों के परिश्रम का फल घर में आने वाला होता है। व्यवसायियों का माल घर पहुँचने लगता है। एक प्रकार से आनन्द की लहर-सी उठने लगती है। आशाएँ सफल होती दीखती हैं। शीत-काल अपनी कठोर ठिठुरन को लेकर समाप्ति पर होता है। वृक्षों में सुन्दर पुष्प खिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। मधुर, शीतल मन्द-सुगन्ध युक्त समीर का प्रवाह प्रारम्भ होने लगता है। अत: पूर्ण सफाई करके लोग इस त्योहार को मानते हैं। उत्साह से होलिका के स्थान पर रेंड और बाँस गाड़ते हैं। उसमें कूड़ा-कर्कट तथा लकड़ी आदि एकत्रित करते हैं। यह होलिका कहीं-कहीं सवा महीने, कहीं-कहीं पन्द्रह दिन रहती है। फाल्गुन शुक्ल ३० को इसे जलाया जाता है तथा चैत कृष्ण १ को होलिका की धूल उड़ाई जाती है। उस दिन अच्छे-अच्छे पकवान बनते हैं। लोग आनन्द से गाते बजाते हैं। कुछ लोग गन्दे कबीरा भी गाते हैं पर अब यह प्रथा समाप्तप्राय सी हो गई है। इसी दिन से नया साल भी प्रारम्भ होता है। नया वर्ष नए उत्साह को लेकर आता है। होलिका के विषय में यह कहानी प्रसिद्ध है कि हिरण्यकश्यप का पुत्र प्रह्लाद हरिभक्त था और वह स्वयं हरिविरोधी था। उसने एक बार होलिका को प्रह्लाद के साथ अग्नि में बैठने की आज्ञा दी। हरि माया से होलिका स्वयं जल गई और भक्त प्रह्लाद बच गया। तभी से होलिका दहन की प्रथा चल पड़ी। अब भी साल भर की गन्दगी उस दिन अवश्य साफ कर दी जाती है। उस होलिका को तिरस्कृत करने के लिए उसे गालियाँ दी गई होंगी, इसलिए गाली की प्रथा भी पड़ी। इस त्योहार पर रंग-गुलाल छोड़ा जाता है तथा लोग परस्पर प्रेम से मिलते हैं।

इसी प्रकार भारत में रहने वाले कुछ अन्य संप्रदायों के त्योहार हैं। इनमें

ईद, बकरीद, मुहर्रम, क्रिसमस (बड़ा दिन), गुरु पूर्णिमा, गुरु गोविन्द सिंह जन्म दिवस, बुद्ध पूर्णिमा, तीर्थंकर (महावीर) जयन्ती आदि प्रमुख हैं।

उपसंहार—यहाँ के सभी त्योहार एक न एक महत्वपूर्ण घटना की स्मृति में मनाये जाते हैं। प्रत्येक त्योहार का समय उचित ढंग से सोच विचार कर रखा गया है। सभी वर्ग के लोग सभी त्योहारों में सम्मिलित होते हैं तथा उत्सव मनाते हैं। समाज के जीवन में त्योहारों द्वारा प्रेरणा प्राप्त होती है इस प्रकार से और भी अनेक त्योहार जैसे जन्माष्टमी, रामनवमी आदि भी मनाये जाते हैं। भारतीय ऋषि-मुनि तथा स्मृतिकार जीवन को उत्साहपूर्ण बनाये रखने के लिए समयानुसार त्योहारों का विधान कर गए हैं, जो आज भी चल रहे हैं।

१०२. दुर्गा-पूजा

१—भूमिका, २—विभिन्न नाम और उनके कारण, ३—माँ दुर्गा का महत्व, ४—दुर्गा-पूजा महोत्सव, उपसंहार।

भूमिका—अति प्राचीनकाल से भारतवर्ष में विभिन्न देवी-देवताओं की आराधना होती चली आयी है। कभी राम की पूजा का महत्व रहा तो कभी कृष्ण की पूजा का, कभी शंकर को अधिक महत्व प्रदान किया गया तो कभी विष्णु को। कभी इन्द्र आराध्य देव रहे तो कभी वरुण। यही स्थिति देवियों की भी है। कभी सरस्वती की पूजा की गई तो कभी लक्ष्मी की। कभी दुर्गा का आवाहन किया गया तो कभी कात्यायिनी का। विभिन्न देवी-देवताओं को जीवन की विभिन्न स्थितियों से सम्बन्धित किया गया। इन्द्र जल के देवता हैं, यम मृत्यु के, ब्रह्मा संसार के नियामक हैं, विष्णु पालनकर्ता और शंकर पालनकर्ता एवं संहारक दोनों हैं। लक्ष्मी धन की देवी हैं, सरस्वती विद्या की और दुर्गा ऐश्वर्य की। विभिन्न देवियों में माँ दुर्गा को जो गौरव प्रदान किया गया वह अन्य किसी भी देवी को प्राप्त नहीं है। भारत में शक्ति और ऐश्वर्य की पूजा अति प्राचीनकाल से चली आ रही है। शास्त्रबल के साथ ही भारतवासियों ने शस्त्रबल को भी अधिक महत्व दिया है। यही कारण है कि देवी दुर्गा की आराधना भारतवासी अति प्राचीनकाल से करते चले आ रहे हैं। लक्ष्मी को यहाँ आदर प्रदान किया गया है लेकिन धन को वह महत्व नहीं मिला है जो विद्या एवं ऐश्वर्य को।

माँ दुर्गा सभी प्रकार के कष्टों की संहारक है और उनके निकट पहुँचते ही समस्त प्रकार के कष्ट समाप्त हो जाते हैं वे सभी देवियों के लिए दुर्देया हैं और दुर्गविनाशिनी हैं। इसी कारण उन्हें दुर्गा कहा जाता है। उनके दुर्गा नाम की व्युत्पत्ति कई अन्य प्रकार से की गई है। कहा जाता है कि उन्होंने दुर्ग नामक दैत्य का संहार किया था और इसी कारण वह दुर्गा कहलाईं। मार्कण्डेय पुराण में लिखा है—

"तत्रैव वधिष्यामि दुर्गमाख्यं महासुरम्।
दुर्गा देवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति॥"

माँ दुर्ग नामक महासुर का विनाश, करेंगी। इसी कारण माँ दुर्गा नाम से विख्यात होंगी।

एक अन्य कथा के अनुसार इस देवी के स्मरण मात्र से इन्द्र आदि देवताओं ने शत्रु संकट के छुटकारा पाया और इस कारण यह दुर्गा के नाम से विख्यात हुई। देवी पुराण में लिखा है—

"स्मरणवमये दुर्गे तारित रिपुसंकटें।
देवाः शक्रादयो यस्मात् तेन दुर्गा प्रकीर्तिता।"

विभिन्न नाम और उनके कारण—दुर्गा पूजा को विजयादशमी के नाम से भी पुकारा जाता जाता है। इसके भी कई कारण बताये जाते हैं। इस दशमी की तिथि को विजया अर्थात् महाशक्ति का विधिपूर्वक आराधना एवं अनुष्ठान किया जाता है और इस कारण उसे विजयादशमी कहा जाता है। यह भी कहा जाता है कि इस तिथि को भगवान श्री राम ने देवी दुर्गा की आराधना करके आततायी रावण पर विजय प्राप्त की थी और इसी कारण यह तिथि विजयादशमी के नाम से विख्यात हुई। एक अन्य मान्यता के अनुसार यदि दशमी की श्रद्धापूर्वक देवी की आराधना की जाय तो जीवन में जय अवश्यम्भावी होती है। यह भी मान्यता है कि महाविद्याओं एवं इन्द्रियों की संख्या १० है। माता की आराधना इन दसों महाविद्याओं एवं इन्द्रियों पर अधिकार करने के लिए की जाती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उन पर विजय के हेतु ही माता की आराधना होती है। दुर्गा पूजा को 'दशहरा' के नाम से भी पुकारा जाता है क्योंकि इसी दिन १० मुख (रावण) का संहार किया गया था और १० मुख वाले के द्वारा उत्पन्न किये गये कष्टों का हरण किया गया था।

माँ दुर्गा का महत्व—माँ दुर्गा का माहात्म्य वर्णनातीत है। इनके माहात्म्य का संकेत करने वाली ७०० संज्ञाओं का उल्लेख 'दुर्गा सप्तशती' में हुआ है। इनका प्रसिद्ध नाम दुर्गा विजया, आद्या, महिषासुरमर्दिनी, शुभसंहारिणी, चण्डी, सर्वमंगला, अम्बिका, कुमारी और शाकम्भरी है। चण्डी का अर्थ कोपवती है परन्तु उनका कोप सांसारिक न होकर समस्त ब्रह्माण्ड के नियन्त्रण के हेतु होता है। दुर्गा सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली हैं इसलिए उन्हें सर्वमंगला कहा जाता है। दुखियों के ऊपर मातृवत् स्नेह है इसलिए उन्हें अम्बिका कहा जाता है। महाकाली के समय अपने सिर से उत्पन्न शक्ति से यह जीवों की रक्षा करती है और इसी कारण इन्हें शाकम्भरी कहा जाता है। इनके तीन नेत्र चन्द्र, सूर्य और अग्नि हैं और इसी कारण उन्हें अम्बिका जाता है। इसी प्रकार इनके उमा, काली, जयन्ती महाकाली और दिगम्बर आदि नाम भी हैं।

माता दुर्गा के पूजने का विशेष महत्व है। कहा जाता है कि माँ दुर्गा समस्त राष्ट्र-शक्ति की प्रतीक हैं। अपने प्रेमी व्यक्तियों के हेतु वह सब कुछ करने को तैयार रहती हैं। दुर्गा की अनेक भुजायें हैं और भक्तों के शत्रुओं का नाम करने के लिए भुजायें निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं। माँ दुर्गा मधु कैटभ, महिषासुर, चण्ड-मुण्ड, रक्तबीज, शुम्भ-निशुम्भ, आदि दैत्यों का नाश करने वाली हैं और सद्वृत्तियों में लगे हुए लोगों का कल्याण करने वाली हैं। वह मनुष्यों के द्वारा ही नहीं, देवताओं के द्वारा भी वन्दित हैं। कहा जाता है कि जब भगवान राम महामायावी रावण को पराजित न कर सके तो उन्होंने आदि शक्ति माँ दुर्गा का आवाहन किया। उन्होंने

हनुमान को देवी पर चढ़ाने के लिए १०८ नीलकमल लाने का आदेश दिया। ९ दिन पूजन करने के पश्चात् जब दसवें दिन राम ने देवी की आराधना की तो राम की परीक्षा लेने के हेतु देवी छिपकर उनका अन्तिम कमल उठा ले गई। राम अपने को धिक्कारने लगे और उन्होंने यह सोचकर कि उनकी माता उन्हें राजीवनयनी कहती थीं, अपने दाहिने नेत्र को देवी को अर्पित करने के लिए निकालना चाहा तो देवी दुर्गा प्रकट हुईं और उनके हाथ थाम कर बोलीं, 'हे राम आप धन्य हैं, आपकी जय होगी।' इस प्रकार दुर्गा की पूजा से ही राम ने रावण पर विजय प्राप्त की।

दुर्गा पूजा महोत्सव—दुर्गा पूजा महोत्सव भारत में अत्यन्त धूम-धाम से मनाया जाता है। औपचारिक रूप से यह उत्सव आश्विन मास की दूसरी प्रतिपदा से दशमी तक मनाया जाता है। प्रतिपदा से नवमीं तक जिन ९ दुर्गाओं की पूजा होती है उनके नाम शैलपुरी, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूपमाण्डा, स्कन्दमाता कात्यायिनि, कालराशि, महागौरी और सिद्धदात्री हैं। ये सभी महाशक्ति दुर्गा के नौ रूप हैं।

आश्विन मास में काले कजरारे बादल शरद के आगमन का संदेश लेकर आते हैं और सर्वत्र स्वच्छता के दर्शन होने लगते हैं। ऐसे अवसर पर माँ दुर्गा की रंग-बिरंगी भव्य-मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। माँ दुर्गा का सिंहवाहिनी, महिषमर्दिनी रूप कलाकारों को विशेष आकर्षित करता है। महिषासुर की छाती में बरछा धँसाए हुए एक पैर महिषासुर के कन्धे पर और दूसरा पैर सिंह की पीठ पर रखे हुए उनका भव्य रूप भक्तजनों के लिए आकर्षण का प्रमुख केन्द्र है। उनके मस्तक पर बिखरी हुई केश-राशि, उनका निर्भय मुख, उनकी कुन्द पुष्प सी आभा, उनके १० हाथ देवी के उपासकों के हेतु कल्याण का केन्द्र हैं। उनके दाएँ भाग में लक्ष्मी और बाएँ भाग में सरस्वती विराजित हैं। दाहिने भाग में गणेश और बाँए भाग कार्तिकेय का आसन है। नौ दिन तक देवी के विभिन्न रूप चित्रित किये जाते हैं। दशमी के दिन समारोह अपनी परा-काष्ठा पर पहुँच जाता है और बच्चे-बूढ़े स्त्री-पुरुष सभी माँ दुर्गा का दर्शन करते हैं, प्रसाद चढ़ाते हैं, जय-जयकार करते हैं और देवी का आवाहन करके कृत्य-कृत्य होते हैं। रात्रि में गाजों-बाजों के साथ जलूस निकाला जाता है जिसमें भक्तजन माता को सुसज्जित रथ पर चढ़ाकर घुमाते हैं और तत्पश्चात् देवी की प्रतिभा का नदी या तालाब में विसर्जन कर देते हैं।

भारत के विभिन्न भागों में दुर्गा का पूजन विभिन्न ढंग से होता है। राजस्थान में दुर्गा पूजा के दिन शस्त्रास्त्र पूजन भी होता है। गुजरात में पूजन के साथ नृत्य का आयोजन किया जाता है। महाराष्ट्र में दुर्गापूजन के साथ ही दीपोत्सव भी मनाया जाता है। दक्षिण के राज्यों में दुर्गा की पूजा के साथ ही सरस्वती की पूजा भी की जाती है। मैसूर, कुलू की घाटियों में दुर्गा पूजा अत्यन्त भव्यता से की जाती है और मेलों का आयोजन किया जाता है। बनारस से पंजाब तक इस अवसर पर भगवान राम के जीवन से सम्बन्धित तरह-तरह की लीलाओं का आयोजन किया जाता है और उनके दानव-संहारक एवं पापनाशक रूप को विभिन्न लीलाओं के द्वारा चित्रित किया जाता है। साथ ही घरों में देवी की मूर्ति की स्थापना भी की जाती है और देवी का विधि-विधान से पूजन किया जाता है। खप्परकाली का आवाहन करके भार-तीय जनता अपने को धन्य समझती है। भारत के बाहर भी माँ दुर्गा की पूजा विभिन्न

रीतियों से होती है। स्याम, बर्मा, मलाया, कम्बोडिया और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के विभिन्न देश, जहाँ भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ है, माँ दुर्गा की आराधना के प्रमुख केन्द्र हैं। अन्य देशों में रहने वाले हिन्दू भी इस शक्ति-वाहिनी देवी की आराधना इस अवसर पर करते हैं।

उपसंहार—माँ दुर्गा शक्ति की प्रतीक हैं। वह कष्टों को हरने वाली और पापों का नाश करने वाली हैं। महामोह, अविद्या और अज्ञान के बादलों को छिन्न भिन्न करके वह विद्या और ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाली हैं। शत्रुओं से पराजित राजा और शत्रु भय से निष्काषित समाधि वैश्य ने इसी देवी की आराधना करके ही मोक्ष की प्राप्ति की थी। अतएव यह देवी हम सबको मोक्ष के प्रदान करने वाली हैं। यदि देवी की आराधना हम सच्चे मन से करें तो हम महारोग, महोत्पात, महासंकट और महा-शोक से मुक्त ही नहीं होते बल्कि जीवन-मुक्ति भी हो सकती है। माँ दुर्गा ने तो यह अभय वचन पहले ही दे रखा है :

> **"मैं जन जन का योग क्षेम नित वहन करूँगी,**
> **कर्म हीन यदि हुई, त्वरित अवतार धरूँगी।**
> **निर्भय हों सब लोक, धर्म की जय हो निश्चय,**
> **असत्-अचित् का और अशिव का होगा ही क्षय।"**

●

१०३. स्वतन्त्र भारत के जनक विश्वबन्द्य बापू [महात्मा गाँधी]

१—भूमिका, २—महात्मा गाँधी का जीवन-चरित्र, उनका कार्यक्रम; ३—उनका राजनीति में प्रवेश, ४—गाँधी के नेतृत्व में सन् १९२९ का आन्दोलन, ५—सन् १९४२ का आन्दोलन और महात्मा गाँधी, ६—उपसंहार।

भूमिका—संसार एक विचित्र लीला-भूमि है। इसमें असंख्य मनुष्य आते हैं और जीवन-यापन करके चले जाते हैं। किन्तु थोड़े ही ऐसे प्राणी विश्व के रंगमंच पर आये जिनका नाम और यश चिरकाल तक स्थिर रह सका। अनेक योद्धाओं ने तलवार के बल पर राज्य निर्माण किया, युद्ध जीता तथा शासन किया किन्तु उनमें से राष्ट्रपिता और राष्ट्र-निर्माता का पद बिरले ही पा सके हैं। यदि किसी को अपने राष्ट्र में महत्व मिल भी गया, तो वह विश्वबन्द्य नहीं बन सका। विश्व में धर्म-प्रचारकों का भी अभाव नहीं रहा और उनकी छाया के रूप में उनकी स्थापित की हुई संस्थाएँ अब भी चल रही हैं। वे सभी महानुभाव अपने यशः शरीर से अब तक अमर हैं। किन्तु आज तक आध्यात्मिक विचारधारा को राजनीति में व्यवहृत करके सफल होने वालों का अभाव ही है। राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, ईसामसीह, महर्षि, दयानन्द, सम्राट सिकन्दर, फिलिप, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, प्रताप और शिवा आदि सहस्रों महापुरुष हुए हैं। इसी प्रकार के महापुरुषों में महात्मा गाँधी भी माने जा सकते हैं। इसमें कतिपय महापुरुषों को हम ईश्वर का अवतार मानते हैं—जैसे राम, कृष्ण आदि अन्य लोगों को महापुरुष ही मानते हैं। महात्मा गाँधी महापुरुष थे।

महात्मा गाँधी का जीवन-चरित्र—महात्मा गाँधी काठियावाड़ के अन्तर्गत

पोरबन्दर नगर के वैश्य परिवार में पैदा हुए थे। इनका जन्म २ अक्टूबर सन् १८६९ ई० में हुआ था। इनके पिता कर्मचन्द गाँधी, पहले पोरबन्दर, फिर राजकोट और बीकानेर राज्य में दीवान के पद पर रहे। इनका परिवार धार्मिक, प्रतिष्ठित और सम्भ्रान्त माना जाता है। इनकी माता पुतलीबाई बड़ी धार्मिक, ईश्वरनिष्ठ और उच्च विचार की महिला थीं। इनके परिवार में सत्यपरायणता और आस्तिकता का बहुत सम्मान था। इनके जीवन पर बचपन से ही पारिवारिक परम्परा का गहरा प्रभाव पड़ा और इनमें सत्य के प्रति निष्ठा हो गई। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा पोर-बन्दर के ही प्राइमरी स्कूल में हुई। बचपन में इनकी बुद्धि सामान्य थी और स्वभाव संकोचशील था। इनके हृदय में गुरुजनों के प्रति सम्मान की भावना प्रारम्भ से ही थी। बचपन से ही इन्हें नैतिकता तथा सरलता से प्रेम था। बच्चों पर संगीत का प्रभाव पड़ता है। गाँधी जी के ऊपर भी वातावरण और संगीत का काफी प्रभाव पड़ा है। ये सिगरेट पीना सीख गये तथा सिगरेट का धुआँ मुँह से ऊपर की ओर फेंकने में इन्हें बड़ा आनन्द आता था। बचपन में गुरुजनों का अनुशासन भी इन पर अधिक रहता था। इसलिए सिगरेट जैसी वस्तु के लिए इन्हें पैसे नहीं मिलते थे। फिर सिगरेट के लिए इन्होंने नौकर की जेब से पैसे भी चुराये किन्तु बाद में अपने पिता के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लिया, इससे इनको सान्त्वना मिली तथा इनके माता-पिता को इन पर अटूट विश्वास हो गया।

विद्यार्थी जीवन—महात्मा गाँधी का विद्यार्थी जीवन सामान्य रहा, परन्तु इनकी सत्यता तथा सरलता से भी प्रभावित थे। सलज्जता और एकान्त-प्रियता इनमें बहुत अधिक थी। इन्हें लड़कों द्वारा मूर्ख बनाये जाने का भय बराबर बना रहता था। अतः ये उनसे अधिकतर अलग रहते थे। किसी से बातचीत करना इन्हें अच्छा नहीं लगता था। घर पर पर्याप्त परिश्रम से पढ़ने पर भी अपना कोर्स पूरा नहीं कर पाते थे अतः इन्हें बाहरी पुस्तकें पढ़ने का समय ही नहीं मिलता था। इन्होंने फिर भी इन्ट्रेंस परीक्षा पास कर ही ली। इनका विवाह १३ वर्ष की आयु में ही हो गया था। उनकी पत्नी कस्तूरबा बड़ी सुशील और अच्छे स्वभाव की महिमा थीं। बाद में इन्हें बैरिस्ट्री पढ़ने के लिए विलायत भेजा गया। वहाँ जाकर उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता और वेशभूषा को ग्रहण कर लिया तथा वहाँ के नृत्य गीत को भी सीखने का अधूरा प्रयास किया। उन्होंने इस सभी प्रकार के विदेशी प्रभाव को भावु-कता में ही प्रारम्भ किया और आगे चलकर अधूरा ही त्याग दिया। वहाँ की ठंडी जलवायु ले रहते हुए भी इन्होंने मांस-मदिरा का कभी प्रयोग नहीं किया। अपने शाकाहरी जीवन-क्रम पर अडिग रहे। इस प्रकार किसी प्रकार बैरिस्ट्री पास करके भारतवर्ष लौट आये। साधारण धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करने के बाद अपनी जाति में भी गये।

सार्वजनिक जीवन का सूत्रपात—यहाँ आकर इन्होंने अपनी वकालत प्रारम्भ कर दी। धूर्तता और चालाकी के अभाव में इन्हें वकालत में साधारण पर ठोस सफलता मिल रही थी। अधिकारी तथा मुवक्किल सभी इनकी सत्यप्रियता से प्रभावित थे। इसी बीच इन्हें अपनी वकालत के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा। वहाँ पर इन्होंने भारतीयों की दयनीय और तिरस्कृत दशा को देखा। भारतीयों

के साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता था। गोरों और कालों के भेद-भाव ने इनकी भावनाओं को झकझोर दिया। वहाँ पर भी इन्होंने इन गोरों का विरोध किया और काफी लड़ाई-झगड़ा भी हुआ। इन्होंने वहाँ ऐसी भावना जगा दी जो अद्यावधि गोरों का सामना कर रही है। इस प्रकार वहाँ इनकी लोकप्रियता खूब बढ़ी। भारत लौटने पर उनका भव्य स्वागत हुआ। उस समय भारतीय राजनीति में तिलक, गोखले आदि नेताओं का प्रभाव था। गाँधी जी भारतीय राजनीति में सम्मिलित हुए तथा धीरे-धीरे राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता बन गये।

सन् १९४१ ई० में प्रथम विश्व युद्ध का बिगुल बजा। भारत को स्वतन्त्रता देने की शर्त करने पर महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश सरकार को सहयोग देना स्वीकार किया परन्तु युद्ध के बाद रौलट ऐक्ट और जलियाँवाले बाग की घटनाएँ घटी। अंग्रेजों ने दमन चक्र चलाया। सन् १९२१ ई० में गाँधी जी ने अहिंसात्मक आन्दोलन चलाया जिसे गोरखपुर जिले के चौरी-चौरा थाने में हिंसात्मक कांड हो जाने के कारण उन्होंने रोक दिया। फिर भी अनेक छोटे-बड़े अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन होते रहे। अँग्रेजी सरकार उन आन्दोलनों को कुचलती चली गई।

भारत की आजादी के जनक—दण्डी यात्रा के पश्चात् १९३१ ई० में गोलमेज कानफ्रेंस हुई। सन् १९३७ ई० गाँधीजी की राय से कांग्रेस ने ९ प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाया। सन् १९३९ ई० में भारतीयों की सहमति बिना ही भारत को युद्ध में झोंका गया। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को त्याग-पत्र देना पड़ा। इनके बाद गाँधी जी की सहमति से कांग्रेस स्वतन्त्रता संग्राम चलाती रही। अन्ततोगत्वा १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत खण्डित रूप से स्वतन्त्र राष्ट्र हो गया।

उसी दिन से अधिक अप्रिय घटनाएं घटीं जिनसे हिन्दुओं को अत्यधिक आत्म-क्लेश हुआ। महात्मा गाँधी साम्प्रदायिकता के कट्टर शत्रु, सत्य अहिंसा के पुजारी मानवता के प्रतीक, तथा भारतीय राष्ट्र के वास्तविक निर्माता थे। विश्व के अनेक महापुरुषों—कृष्ण, ईसा मसीह, सुकरात आदि महात्माओं की भाँति, इनकी भी जीवन लीला नाथूराम गोडसे की गोलियों से समाप्त हुई। उस समय भारत में व्यापक अँधेरा छा गया और आध्यात्मिक तथा राजनीतिक प्रकाश का स्तम्भ सदा के लिए अस्त हो गया। उन्होंने अनेक बार अपने अपराधियों को क्षमा कर दिया था।

उपसंहार—महात्मा गाँधी कद के नाटे, आजानुबाहु, शरीर से दुर्बल और आत्मा से सबल पुरुष थे। वे भारत के सच्चे प्रतिनिधि थे। उन्होंने सत्य, अहिंसा, असहयोग का राजनीति में प्रयोग करके विश्व के समक्ष एक नया आदर्श रखा जिसे आज अशेष संसार अपनाने जा रहा है। गाँधी जी एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनका सम्मान विरोधी भी करते थे। सारा विश्व उनका आदर करता था। उनकी मृत्यु के शोक में विश्व के सभी राष्ट्रों का झंडा झुक गया। महात्मा गाँधी ने देशवासियों को स्वावलम्बी बनाया तथा आत्म-विश्वास को दृढ़ किया।

गाँधी केवल भारत की ही निधि नहीं थे, वरन् समस्त संसार उनका ऋणी है। शांति और मानवता का जो संदेश उन्होंने संसार को दिया उसने उन्हें सदैव के लिए अमर बना दिया। समस्त विश्व आज गाँधी को चाह रहा है न कि नेपोलियन या सिकन्दर या अन्य किसी राष्ट्रनायक को। विश्व के इतिहास में राजनीति में ऐसा

मोड़ देने वाला तथा 'उत्तम जीवन के लिए उत्तम मनुष्य' के सिद्धान्त पर विश्वास करने वाला एक ही व्यक्ति हुआ—महात्मा गाँधी।

१०४. महात्मा गौतम बुद्ध

१—भूमिका, २—गौतम बुद्ध का जीवन-चरित्र, ३—उनके विराग के कारण, ४—बौद्ध धर्म की स्थापना, ५—उनकी शिक्षाएँ, ६—महात्मा बुद्ध का प्रभाव, ७—उपसंहार।

भूमिका—ज्ञानियों और महात्माओं ने संसार को दु:खमय माना है। उनके मत से जीवात्मा बन्धन में पड़कर शरीर धारण करती है। यही कारण है कि जन्म काल से लेकर मृत्यु-पर्यन्त उसे नाना प्रकार के दु:ख झेलने पड़ते हैं। उन दु:खों में ही जीव को एक जन्म समाप्त करके पुन: कर्मों के अनुसार दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। इस तरह संसार प्रवाह में उसे अनन्त जन्म धारण करने पड़ते हैं। इस प्रकार वह केवल दु:ख ही भोगता रहता है। प्राय: सभी धर्मों के उपदेशकों ने इसी से मिलती-जुलती बातें कही हैं। भारत एक ऐसा देश है जहां ऐसे अनेक महात्मा उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने मनुष्य को जीवन-मुक्त होने का मार्ग बताया है। इन महात्माओं ने संसार में व्याप्त अभेद्य अज्ञानान्धकार को मिटाने का प्रयत्न किया तथा संसार में ज्ञान का प्रकाश फैलाया है। जब संसार से धर्म-अधर्म का ज्ञान लुप्त हो जाता है तो लोग अधर्म को ही धर्म मान बैठते हैं। पाखण्ड और हिंसा पूर्ण कर्मकाण्ड का प्रभाव बढ़ जाता है। संसार में स्वार्थपरता बढ़ जाती है, धर्म के नाम पर बलि प्रथा का बोल-बाला हो जाता है; स्वार्थपरायण लोग अनेक प्रकार के मतों को चलाने और संसार को धोखा देने लगते हैं तभी ऐसे महात्माओं का अवतार होता है जो लोगों को सरल मार्ग से बन्धन मुक्त होने का उपाय बताते हैं। ऐसे ही महात्माओं में शाक्य वंश में उत्पन्न गौतम बुद्ध भी थे।

गौतम का जन्म, समय और कार्यकाल—इतिहासकरों के मतानुसार ईसा पूर्व लगभग ६०० वर्ष के आस-पास भारतवर्ष की दशा अत्यन्त दयनीय हो गई थी। सीधे-सादे वैदिक यज्ञों के स्थान पर जटिल कर्मकाण्ड का प्रचार बढ़ता जा रहा था। जिन यज्ञों को मुक्ति का साधन माना जाता था उनमें उस युग में पशु बलि ही नहीं, नर बलि तक होने लगी थी। वेद, पुराण तथा शास्त्रों का दुरुपयोग होने लगा था, जाति-पाँति का जंजाल जटिल हो गया था, मिथ्या प्रचार का प्रसार था और प्राणी मात्र दु:खी थे। उसी समय कपिलवस्तु में महारानी मायादेवी के गर्भ से राजा शुद्धोदन के यहाँ एक पुत्र का जन्म हुआ और उसका नाम सिद्धार्थ रखा गया। ज्योतिषियों ने बालक की जन्म-पत्री देखकर बताया कि यह बालक या तो चक्रवर्ती सम्राट होगा या महान् सिद्ध योगी होगा।

शैशव-काल में ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया और विमाता प्रभावती के हाथ से इनका पालन-पोषण हुआ। बाल्यकाल से ही ये परम दयालु, शांत तथा चिंतनशील प्रकृति के बालक थे। एकान्तवास इन्हें प्रिय था, आखेट या अन्य क्रीड़ाओं में इनकी रुचि कम लगाती थी। इनका व्यवहार सब के प्रति प्रेममय रहता था। राजकुमार सिद्धार्थ संसार के वैभव विलासमय रंगरेलियों से दूर रहकर संसार के दु:ख-

दर्द की चिन्ता में लीन रहते थे। महाराजा शुद्धोधन को इनका रंग-ढंग देखकर बड़ी चिन्ता रहने लगी और वे कुमार को संसार की कुत्साओं और विभीषिकाओं से बचाने का प्रयत्न करते रहे। समयानुसार राजकुमार ने युवावस्था में प्रवेश किया तथा उनका विवाह यशोधरा नामक अत्यन्त सुन्दरी, गुण सम्पन्न, सुशीला राजकुमारी से हो गया। फिर भी उनकी चित्त-वृत्तियाँ सांसारिक मोह-माया में न बँध सकीं।

जीवन की कतिपय घटनाएँ—एक बार वे अपने महल से संसार का वास्तविक रूप देखने के लिए बाहर निकले। नगर की सजावट को पहले से ही रोक दिया था। रथ में बैठकर दरबारियों के साथ अपने चिंतन में मग्न कुमार चले जा रहे थे। संयोग-वश झुकी कमर वाले, लकड़ी के सहारे चलते हुए एक वृद्ध व्यक्ति को, पीड़ा से कराहते हुए रोगी को, और कफन से आवृत श्मशान जाते हुए मृतक को देखा। इन दृश्यों के विषय में सारथी से पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति की अन्ततो-गत्वा यही दशा होती है। इन प्रसंगों के परिणामस्वरूप उन्हें संसार से घृणा हो गई। उन्होंने यह निश्चय किया कि जिस जीवन में इतने कष्ट हों वह जीवन व्यर्थ है। अतएव कष्टों से परित्राण पाने का उन्होंने दृढ़ निश्चय किया और वे सदैव शोक-मग्न रहने लगे।

सिद्धार्थ की ऐसी दशा देख महाराज चिंतित रहने लगे और उन्होंने राजकुमार के महल को तथा उनके समीपवर्ती वातावरण को कामदेव की क्रीड़ास्थली के रूप में क्षमा दिया। मानव-हृदय को रमाने के सभी उपकरण वहाँ जुटाए गए फिर भी कुमार का आकर्षण सांसारिक सुख-वैभव के प्रति न हो सका। बसन्त की माधुरी, पक्षियों का कलरव, नवयौवना रमणियों के क्रीड़ा विलास में राजकुमार का मन तनिक भी न रम सका। इन्होंने निश्चय किया कि संसार में दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का निरोध है और दुःख निरोध का उपाय है। एतदर्थ उन्होंने तपस्या करने का निश्चय किया। उन्हें विश्वास हो गया कि तपस्या से आत्मा शुद्ध होगी और मानव मात्र के दुःख निवारण का मार्ग स्पष्ट होगा। इस निश्चय पर वे काफी चिंतन मनन करते रहे।

गौतम से बुद्ध—एक दिन स्वच्छ चाँदनी के प्रकाश में सोई हुई सहधर्मिणी तथा कोमल कुसुम के समान शिशु पुत्र को देखकर, अर्द्धरात्रि की नीरव बेला में छत्रक सारथी के साथ, कंथक घोड़े पर सवार हो राजकुमार महल से निकल पड़े। दूरस्थ वन प्रदेश में पहुँचकर उन्होंने अपनी तलवार से केशों को काटकर, वस्त्राभूषणों को देकर उसे लौटा दिया।

उन्होंने तपस्वियों और ब्रह्मचारियों के साथ वर्षों तक तपस्या की, कोमल, शरीर को सुखा डाला, फिर भी सफलता न मिल सकी। निदान तपस्या से उनका मन हट गया और गया में जाकर एक वट वृक्ष के नीचे वे समाधि लगाकर बैठ गये। कुछ समय बाद वहीं उन्हें दिव्य-ज्ञान प्राप्त हुआ तथा अनुभव हुआ कि दुःख का मुख्य कारण मनुष्य की वासनाएँ ही हैं। अतः इन्हीं वासनाओं को मारने पर दुःख निरोध हो सकता है। उन्हें निश्चय हो गया कि अहिंसा, दया, पवित्रता आदि भक्ति के साधन हैं। वेद, पुराण, जाति-पाँति आदि सभी सांसारिक बन्धन निर्वाण अर्थात् मोक्ष प्राप्ति में बाधक हैं, अतः त्याज्य हैं। इससे यज्ञादि के प्रति भी उन्हें अनास्था हो गई।

ज्ञान प्राप्त होने पर वे बुद्ध कहे जाने लगे । बनारस के पास सारनाथ नामक स्थान पर जा कर इन्होंने अपने प्रथम पाँच शिष्यों को उपदेश देना प्रारम्भ किया । इनकी शिक्षाओं का व्यापक प्रभाव पड़ा और उनकी शिष्य परम्परा बढ़ती चली गई एवं उनके अनुयायियों को श्रमण कहा गया ।

फिर घूमते हुए और अपनी शिक्षाओं का प्रचार करते हुए वे कपिलवस्तु में जब लौटे तब उनकी सहधर्मिणी ने पुत्र राहुल को उन्हें सौंपकर अपनी उदारता का परिचय दिया ।

बौद्ध धर्म और शिक्षायें—महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं में निम्न बातों का महत्व सर्वाधिक था । हर व्यक्ति को सत्य का पालन करना चाहिए, अहिंसा पर दृढ़ रहना चाहिए, पवित्रता (शारीरिक और मानसिक) आवश्यक है । ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, गुरुजन सेवा और आज्ञापालन आदि मोक्ष के लिए आवश्यक हैं और इनका पालन सदैव करना चाहिए । ईश्वर के विषय में बुद्ध सदा मौन रहे । उनका कथन था कि ईश्वर एक ऐसा तत्व है जो मानव बुद्धि और ज्ञान से परे है । इन्द्रिय निग्रह पर उन्होंने काफी बल दिया है । उनका विचार था कि ज्ञान, शान्ति तथा सत्य की प्राप्ति मनुष्य को एकान्त चिंतन से हो सकती है । इस प्रकार सोते हुए संसार को जगाकर सरल पथ पर लगाकर निर्वाण का साधन, ज्ञान का प्रकाश देकर ८० वर्ष की अवस्था में नेपाल की तराई में स्थित कुसीनगर (कसिया) में उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त किया ।

इनसे प्रचारित बौद्ध धर्म कहा गया और इनका प्रचार हर वर्ग में सम्पूर्ण भारत एवं विदेशों में हुआ । आपके पश्चात् सम्राट अशोक, कनिष्क, हर्ष, आदि अनेक सम्राटों ने बौद्ध धर्म को राजधर्म स्वीकार किया । इन शासकों ने बुद्ध देव के सिद्धान्तों को जन हिताय समझकर पाषाण स्तम्भों पर खुदवाकर अनेक स्थानों पर स्थापित करवाया तथा अनेक स्तूपों का निर्माण कराया । आज अपनी जन्म-भूमि में न दिखाई देने वाला बौद्ध धर्म विश्व की एक तिहाई जनता का धर्म है । चीन, जापान, ब्रह्मा, श्याम, श्रीलंका आदि अनेक देश बौद्ध धर्मानुयायी हैं । प्राचीन काल में मठों द्वारा इसका प्रचार होता रहा है ।

उपसंहार—महात्मा बुद्ध ने भारतीय समाज का बहुत सुधार किया । दुखी और निराश व्यक्तियों के हृदय में आशा का संचार किया और सही मार्ग पर लगाया । उन्होंने सदाचार तथा उच्च मानवीय गुणों का प्रचार किया । आज महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का उतना ही महत्व है जितना उनके जीवन-काल में था । उनकी विचारधारा का सारे जगत में आदर हो रहा है । पंचतत्व रचित शरीर से मर कर भी मनुष्य अपने यशः शरीर से अमर रहता है, इसी शाश्वत नियमानुसार गौतम बुद्ध की आत्मा आज भी उनकी सत् शिक्षाओं में अमर है । भगवान से प्रार्थना है कि बुद्ध जैसे महात्माओं को समयानुसार भारत में अवतार लेने का अवसर दें ।

१०५. गुरु नानक

१—भूमिका, २—दिव्य-पुरुष, ३—आध्यात्मिक चरम लक्ष्य, ४—सत्य की खेती अभीष्ट, ५—बहिन का मोहपाश, ६—निराकार उपासना की परम्परा में,

७—परमात्मा और आत्मा में भेद नहीं, ८—साधक की चार अवस्थाएँ। ९—पददलितों का साथी, १०—जाति और सम्प्रदाय से परे, ११—काबा किधर नहीं है ? १२—आडम्बरहीन सत्य के पुजारी, १३—उपसंहार।

भूमिका—सिख धर्म के संस्थापक गुरु नानक मुगल बादशाह बाबर के समकालीन थे। वे रहस्यवादी और समाज-सुधारक थे और इस रूप में उन्होंने तत्कालीन पंजाबी जनता की भाषा में विपुल धार्मिक साहित्य की रचना की।

बचपन से ही उनमें ध्यान लगाने तथा ज्ञान प्राप्त करने की ओर बहुत **झुकाव था।** गाँव के स्कूल में प्राइमरी शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने घर पर ही अध्ययन आरम्भ कर दिया। वे धर्मगुरुओं की संगति करते और उनका साहित्य पढ़ते थे। जब वे कुछ बड़े हुए, तब रोटी कमाने की समस्या सामने आयी। इसके लिये उन्होंने फारसी सीखी। इस भाषा के माध्यम से उन्होंने इस्लाम का धार्मिक साहित्य पढ़ा। **'ग्रंथसाहब'** में उनकी जो वाणी प्राप्त होती है, उसमें फारसी के अनेक शब्द और शेर पाये जाते हैं। इससे अनुमान होता है कि वे फारसी के अच्छे विद्वान थे। इसी तरह **'जपजी'** की भाषा, भाव, शैली उपनिषदों की याद दिलाते हैं, अर्थात् वे संस्कृत के उच्चतर साहित्य के भी अच्छे जानकार थे।

शीघ्र ही उनकी धार्मिक वृत्ति इतनी प्रबल हो उठी कि वे नौकरी और घर-बार छोड़कर भ्रमण के लिए चल पड़े। बारह वर्ष तक वे भारत के विभिन्न भागों तथा समीपी देशों की यात्रा करते रहे। जब वे वापस लौटे, तब सभी उन्हें ईश्वरीय ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति मानने लगे। उनके एक शिष्य ने करतारपुर में प्रथम सिख मंदिर की स्थापना की। यहाँ गुरु नानक अपने उपदेश देने लगे।

रहस्यवादी होने के कारण उनमें कविता लिखने तथा गाने की विलक्षण प्रतिभा थी। जो वे यहाँ गाते, वह दूसरे दिन घर-घर गाया जाने लगता। लोग इनको न केवल याद कर लेते थे, अपितु पोथियों में भी भविष्य के लोगों के लाभ के लिये लिख लेते थे। गाँवों में घूमने-फिरनेवाले फकीर इन पदों को अपने इकतारे पर गाते फिरते थे। उनके पदों में अभूतपूर्व भक्तिभाव और रहस्य-साधना होती थी। **ये पद जपजी, सोहिला, आरती और असादी बार आदि में संकलित हैं।** ये पद समग्र पंजाब में फैलने लगे और उनका आध्यात्मिक पुनर्जागरण होने लगा

नानक का मत बड़ी तेजी से चारों ओर फैलने लगा। उनके पास आने वालों में गरीब और अमीर, हिन्दू और मुसलमान तथा सवर्ण और अछूत सभी होते थे। इसलिये इनकी संख्या सीमित ही होती थी, क्योंकि सभी तो करतारपुर आ नहीं सकते थे। इसलिये उन्होंने गुरु की वाणी लिखने और पढ़ने की प्रणाली आरम्भ की। कालान्तर में उनके अनुयायियों में लिखना और पढ़ना बड़ी सामान्य बात हो गई।

आदिग्रन्थ सिखों का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें गुरु नामक के लगभग १००० पद संकलित बताये जाते हैं इसमें बाबर के आक्रमण का जिक्र आता है। गुरु नानक के जीवन सम्बन्धी घटनाएँ जनम साखियों में संकलित हैं। ये बड़ी रोचक कहानियाँ हैं और परम्परा से एकत्र की गई प्रतीत होती हैं। इनमें सच्ची बातें भी हैं और चमत्कार की घटनाएँ भी।

गुरु नानक के पदों तथा छन्दों में अनेक रागों का प्रयोग किया गया है। लोक-धुनों पर भी अनेक पद हैं और कई पदों के लिये नये रागों की भी रचना की गई है। उन्होंने अपनी मातृभाषा में ही पदों की रचना की। उन दिनों फारसी के प्रचार के कारण पंजाबी भाषा बहुत पीछे पड़ गई थी और एक बोली मात्र रह गई थी। लहदी और हिंदवी का भी कुछ प्रचार था। नानक ने इन भाषाओं में साहित्य की रचना करके उन्हें ऊँचा उठाया और महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित किया। यदि उस समय पंजाबी में साहित्य की रचना न की जाती, तो यह भाषा संभवतः सदा के लिये नष्ट हो जाती।

एक बार एक मौलवी ने नानक से कहा कि वे उनके साथ नमाज में शामिल हों। नानक फौरन राजी हो गये। पर नमाज पढ़ते समय उन्होंने परम्परागत विधियों का पालन नहीं किया। नमाज खत्म होने पर मौलवी ने उन्हें बुरा-भला कहा। नानक ने उत्तर में कहा कि सच्चाई और भावना के बिना, केवल बाहरी दिखावे के साथ, पढ़ी गई नमाज बेकार है। मौलवी को यह बात बड़ी ठीक लगी क्योंकि नमाज पढ़ते हुये वह सोच रहा था कि अगर उसकी घोड़ी कुएँ में गिर पड़ी, तो क्या होगा? उसने अपनी गलती स्वीकार करते हुए नानक से माफी माँगी।

एक और साखी में बताया गया है कि एक बार नानक हिमालय पहाड़ की तलहटी में यात्रा कर रहे थे। मरदाना, उनका शिष्य, साथ था और वह बहुत भूखा था। पर जगह बिल्कुल वीरान थी और यहाँ खाने-पीने की कोई भी चीज मिलना सम्भव नहीं था। मरदाना भूख के मारे मरा जा रहा था। नानक ने उससे कहा कि रीठे का फल तोड़कर खा लो। रीठा बहुत कड़ुवा होता है। पर मरदाना को इसका फल बहुत मीठा लगा और उसे खाकर उसने जीवन रक्षा की। **कहते हैं, नैनीताल के पास नानकभत्ता नामक स्थान पर अब भी एक रीठे का पेड़ है जिसका फल बड़ा मीठा होता है।**

नानक के कुछ पद इस प्रकार हैं—

अपनी बुद्धि का उपयोग ईश्वर की सेवा और पुण्य-लाभ के लिए करो; अपनी बुद्धि का उपयोग पढ़ने के समय करो कि जो तुम पढ़ते हो, उसे ठीक से समझ सको; अपनी बुद्धि का उपयोग दान करने में करो।

जानो कि जिन्दगी कहाँ से आई है? हम कैसे पैदा हुए? मरकर हम कहाँ जायेंगे? क्यों कुछ लोग जन्म और पुनर्जन्म के चक्र में पड़ते हैं और क्यों कुछ इससे छूटकर अमृतत्व प्राप्त करते हैं?

देश कोई हो, काल कोई हो, समाज कोई हो, संतों की महिमा सर्वदा गायी जाती रही है। उनका आदर और उनकी वाणी का प्रभाव सार्वभौमिक और सार्वकालिक रहा है। उनके गुणों की विवेचना और उनका स्वरूप-निदर्शन समस्त विश्व-साहित्य में एक-सा है। विश्व के किसी भी भाग में जन्मा संत किसी भी दूसरे भाग में जन्मे संत से अभिन्न है। उनमें स्पष्ट तादात्म्य है। कोई भी संत परम्परावादी नहीं होता किन्तु अधिकांश के चतुर्दिक परम्पराएँ जन्मी और पनपी हैं। आगे चलकर ये परम्पराएँ वाद-विवाद, भेद-अभेद के दुष्चक्र में फँसती दृष्टिगत हुई हैं किन्तु एक बात निर्विकार चिन्तक के सामने स्पष्ट रूप के उभरी है और वह यह है कि स्वयं

संतों से कभी कोई भेद नहीं रहा। संत का रहन-सहन, आचार-व्यवहार सीधा-साधा होता है, उसका दृष्टिकोण कल्याणकारी होता है, उसे अपने सुख-दुख से अधिक समाज के समग्र विश्व के सुख-दु:ख की चिन्ता रहती है, उसे परनिन्दा में कभी रस नहीं आता और दूसरों से अपनी निन्दा सुनकर आक्रोश नहीं होता। वह सम्पूर्ण जीवन, जगत् को उस एक परमात्मा की अभिव्यक्ति मानता है और इसीलिए प्राणिमात्र में प्रेम का ताना-बाना बुनना उसे रुचिकर लगता है। संतों के इन लक्षणों को लेकर विवाद हुआ हो, ऐसा कोई नहीं कह सकता।

कबीर ने कहा "निरबैरी निहकामता, साईं सेंती नेह, विषया सूं न्यारी रहै संतनि को अंग एह।" अर्थात् संतों का लक्षण उनका निर्वैरी, निष्काम, प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है। गोस्वामी जी ने भी यही बात कही **"समदर्शी इच्छा कुछ नाहीं, हरष, सोक, भय नहिं मन माहीं"** और **"सबसे समता ताग बटोरी, सम-पद मनहिं बाँध बटि डोरी।"** अर्थात् सभी सांसारिक सम्बन्धों के प्रति प्रदर्शित ममता के धागों को बटोर लेने, उन्हें सुदृढ़ रस्सी में बँटकर उसे प्रभु-चरणों में बाँध देने, समदर्शी बने रहने तथा किसी प्रकार की कामना न रखने वाले लोग संत कहे जाते हैं। इन परिभाषाओं की कसौटी पर सिख सम्प्रदाय के संस्थापक गुरु नानक पूर्ण रूप से खरे उतरते हैं। बचपन में ही अपने शिक्षा गुरु से माया बन्धन टूट जाने की इच्छा व्यक्त करने वाले गुरु नानक सच्चे अर्थ में वैरागी और समदर्शी थे। उन्होंने अपना पूरा जीवन सत्य श्री अकाल, परमेश्वर के भजन में लगा दिया।

तुमरी उस्तुति तुमसे होई। नानक अवर न जानसि कोई।

दिव्य-पुरुष—गुरु नानक दिव्य-पुरुष थे। उनका जन्म, उनके कार्य, उनकी सीख सब कुछ अलौकिक थे। लाहौर के पास राई भोई का तलबंडी ग्राम था, जो पहले इर्द-गिर्द घना जंगल था, जन-शून्य और सुनसान वातावरण से परिवेष्टित था और प्राचीन भारत की वन-भूमि का स्मरण कराता था। यहीं विक्रमी संवत् १५२६ के वैशाख मास शुक्ल पक्ष की तृतीया, तदनुसार १५ अप्रैल, सन् १४६९ ई० को गुरु नानक का जन्म हुआ था। बाद में यह स्थान 'नानकाना' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। शांति के दिव्य-दूत की जन्म-स्थली सम्भवतः ऐसी होनी चाहिए। जन्म के समय मुसलमान धाय दौलतन, यह देखकर अचम्भे में आ गयी कि नवजात शिशु रोने के स्थान पर वयस्कों की तरह हँस पड़ा और उसने यह बात सारे गाँव के लोगों को बतायी। परिवार के ज्योतिषी श्री हरदयाल जब आये तो बालक को देखते ही उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा कि यह बालक आगे चलकर शाही छत्र के नीचे बैठेगा और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही इसकी समान रूप से अभ्यर्थना करेंगे। इतना ही नहीं चराचर भी इसका नाम आदर के साथ लेंगे।

पिता कालूचंद, जो तलबंडी के पटवारी थे और खेती भी करते थे तथा माता तृप्ता ने नामकरण किया नानक। यह नाम बहिन नानकी के अनुसारण में रखा गया प्रतीत होता है। नानकी स्वयं नाना के घर पैदा होने के कारण ऐसा कहलायी। बालक नानक बड़े शांत स्वभाव का था। पाँच वर्ष की आयु में जब उसका अक्षरारंभ कराया गया तभी से उसकी अलौकिक प्रतिभा प्रतिभासित होने लगी थी। उसने अपनी विलक्षण बुद्धि से सबको चकित कर दिया।

आध्यात्मिक विकास चरम लक्ष्य—पिता बालक नानक की शिक्षा का क्रम सांसारिक रखना चाहते थे। पहले उन्हें एक हिन्दू अध्यापक ने हिन्दी भाषा का ककहरा सिखाने तथा कुछ अन्य प्रारम्भिक ज्ञान देने की चेष्टा की और फिर एक मुसलमान मौलाना ने उन्हें अरबी और फारसी सिखाने का प्रयास किया। बालक ने आवश्यक ज्ञान प्राप्त भी किया किन्तु उसकी अभिरुचि उस तरफ विशेष न थी। उसे तो निरंकार के गुण-गान में अधिक आनन्द आता था। कहा जाता है कि जब पंडित जी ने उसे ककहरा सिखाना प्रारम्भ किया तो उसने इन अक्षरों में छिपे गूढ़ अर्थ उन्हें बताते हुए कहा कि ये अक्षर वास्तव में या तो परमात्मा की एकता के या विश्व की एकता के परिचायक हैं और जन-समुदाय को उसी सर्वशक्तिमान् की उपासना की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

इसी प्रकार कहा जाता है कि बालक को इस्लाम धर्म की अच्छी बातें बताकर उस तरफ उसे आकर्षित करने का प्रयास किया गया किन्तु नानक का ध्यान जितना पुस्तकों अथवा शिक्षकों की बातों में नहीं लगता था उतना अपने एकांत-वास और चिंतन की ओर आकृष्ट होता था। वे बहुधा अपने पास वाले जंगल के किसी भाग में जाकर घंटों कुछ न कुछ विचार किया करते थे। उक्त भूखण्ड के प्राकृतिक वातावरण ने उन्हें अपनी आध्यात्मिक चिंतन की प्रवृत्ति को जागृत कर उसे तेज बनाने में सहायता प्रदान की। कहा जाता है कि उक्त वन के भीतर कभी-कभी उन्हें कतिपय ऐसे महात्माओं का साक्षात् भी हुआ जिनका उनके ऊपर अधिक प्रभाव पड़ा और जिनके कारण भी इनको आध्यात्मिक मार्ग ग्रहण करने में मदद मिली।

फलस्वरूप वे ईश्वर के चिंतन, स्मरण और भजन में रात-दिन लीन रहने लगे। एक दिन वे दोपहर तक घर न पहुँचे तो घर वाले उनके लिए चिंतित हो उठे। पिता उनकी खोज में गये तो एक स्थान पर उन्हें ध्यान में लीन पाया। घर ले आये और सामने भोजन रखा तो नानक ने भोजन से भी इन्कार कर दिया। उनकी विलक्षण स्थिति देखकर वैद्य को बुलाने का सुझाव दिया गया। वैद्य जी आये, दवा दी। नानक थोड़े स्वस्थ हुए तो वैद्य से कहा, "आप दवा देकर मुझे नीरोग तो करना चाहते हैं पर क्या आपने अपने भीतर जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर आदि की व्याधियाँ हैं उनका उचित उपचार कर स्वयं को स्वस्थ कर लिया है?" वैद्य जी नानक की बातें सुनकर अवाक् रह गये। उन्होंने सिखों के भावी आदि गुरु के चरणों पर मस्तक रख दिया और उनके घर वालों से कहा "आप लोगों ने इस समय मुझे यहाँ बुलाकर मेरा परम उपकार किया है। मैं जन्म-जन्म तक आपके आभार से दबा रहूँगा। आपके घर असाधारण व्यक्ति ने जन्म लिया है। प्राणि-मात्र के दुःख और कष्ट ने उन्हें चिंतित किया है। भगवान की उन पर महती कृपा है। मेरा तो उनके दर्शन मात्र से मोहान्धकार हट गया।"

सत्य की खेती अभीष्ट—किन्तु नानक की असाधारण प्रकृति माता-पिता के लिए चिंता का कारण बन गयी। उन्होंने उनको गृहस्थ जीवन में लगाने का पूरा प्रयास किया। पहले उन्हें खेती करने की आज्ञा दी गयी। किन्तु नानक को तो सांसारिक खेती से नहीं आध्यात्मिक खेती से मतलब था। वे कहने लगे, "मैंने जितनी धरती पर खेती की है वह तो बहुत लम्बी-चौड़ी है, उसमें मैंने अपने इष्ट मित्र सत्य

नाम का बीज बोया है। जो फसल होगी उसका भण्डार अक्षय होगा। मेरी खेती में जो रत्न फलेंगे केवल उनकी प्राप्ति से ही जीव-मात्र के इहलोक और परलोक दोनों सुधर जायेंगे। प्राणि-मात्र अनन्त शान्तिमय जीवन के भागी होंगे। वे परमेश्वर की भक्ति-भागीरथी में स्नान कर संसार में सत्य-दान की महिमा प्रतिष्ठित करेंगे।" निराश होकर पिता ने उन्हें दुकानदारी की सलाह दी। परन्तु नानक बोले, "इस संसार में चारों ओर मेरी ही दुकानें हैं, संतजन स्थान-स्थान पर हरिनाम का सौदा कर रहे हैं। मेरी दूकान में सांसारिक वस्तु नहीं मिलती है। उसमें तो मैंने यत्नपूर्वक सारवस्तु का संचय किया है। उसमें वस्तु खरीदने वाले स्वर्ग और परमात्मा का योग पाते हैं। आत्म-तत्व समझने वाले ही सारवस्तु सत्य-तत्व के गाहक हैं।" फिर भी वे पिता का मन रखने के लिए घर से बाहर गये। किन्तु रास्ते में सन्तों की मण्डली मिल गयी। उनकी नितान्त आवश्यकताएँ देखकर नानक का हृदय पसीज गया और उन्होंने उन लोगों को पास का पूरा धन देकर अपने को धन्य माना। पिता ने खाली हाथ लौटते देखा तो नाराज हुए परन्तु लाचार थे।

बहिन का मोहपाश—तब बहिन नानकी ने मोह-पाश में बाँधने की कोशिश की। वह इनको अपनी ससुराल ले गयी। कह-सुनकर नवाब की राज-सभा में नियुक्त करवाया। काम था नवाब के कर्मचारियों को तौल कर राशन देना। किन्तु नानक का मन यहाँ भी नहीं लगा। कहते हैं कि जब तौलते-तौलते वे तेरह की संख्या तक पहुँचते तो बड़ी देर तक "तेरा-तेरा, मैं तेरा" कहते रह जाते। ऐसी स्थिति में सही तौल का उन्हें ज्ञान क्या रहता। नवाब ने सुना तो प्रभावित तो बहुत हुआ किन्तु आगे नौकरी में रखने को तैयार नहीं हुआ। बाद में जब नवाब ने देखा कि उसके भण्डार में राशन ज्यों का त्यों है, और उसमें कोई कमी-बेशी नहीं है तो चकित रह गया। उसने तुरन्त ही गुरु नानक जी से अपने क्रोध के लिए क्षमा माँगी और उन्हें अपनी नौकरी पर बने रहने को कहा लेकिन नानक जी ने अस्वीकार कर दिया। उन्नीस वर्ष की अवस्था में विवाह हुआ। दो बच्चे श्रीचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र हुए किन्तु मन गृहस्थी से अधिक लोक-कल्याण में लगता था। अत: अज्ञान के अँधेरे में भटक रही मानव जाति को जीवन का उचित मार्ग बतलाने के लिए वे तुरन्त घर से निकल पड़े इस समय तक नानक के मन में जो कुछ रही सही सांसारिकता बची थी वह समाप्त हो गयी। वे पूर्ण रूप से भक्त हो गये और अपनी वस्तुएँ दूसरों को बाँटने लगे। वेश-भूषा में परिवर्तन कर डाला और जब वैराग्य अधिक बढ़ा तो देश-विदेश भ्रमण के लिए चल पड़े। साथ दिया 'मर्दाना' नामक एक गवैये ने। पूरे भ्रमण में नानक करते थे 'पदों' की रचना और 'मर्दाना' रबाब (बाजा) बजाता था।

निराकार उपासना की परम्परा में—नानक ने निराकार, निरंजन अलख ब्रह्म से नाता जोड़ा था। उन्होंने अपने पदों में अमूर्त तथा निर्गुण से ही 'लौ' लगाने की सीख दी। उन्होंने गोरख, नामदेव और कबीर की निराकार उपासना की परम्परा को आगे बढ़ाया। सिर पर कलन्दी टोपी या पगड़ी, ललाट पर केसर का तिलक, गले में माला, शरीर पर लाल या नारंगी रंग का परिधान धारण करके 'गुरु' ने दूर-दूर तक परमपिता के पुनीत प्रेम का संदेश दिया। उन्होंने कहा कि ईश्वर सम्राटों के सम्राट् हैं, उनका ऐश्वर्य अतुलनीय है—

सो दरु केहा
सो घर केहा
जित बहि सरब समाले
बाजे नाद अनेक असंखा
केते गावण हारे
केते राग परीसियों कहीयत
केते गावण हारे,
गावहि तुहिनों, पवणु पाणी वैसंतरु
गावै राजा धरम दुआरे
गावहि चित्तगुपुत लिखि जाणहि
लिखि-लिखि धरमु बीचारे ।
गावहि ईसरु बरमा देवी
सोहनि सदा संवारे ।
गावहि इन्द्र इन्द्रासणि बैठें देवलिया दरि नाले
गावहि सिद्ध समाधी अन्दरि
गावहि साध विचारे

परमात्मा का कोई निश्चित रूप ठहराना असम्भव सी बात है। उसके बारे में हम लाखों बार चिन्तन करें, उसका रूप हमें कभी स्पष्ट नहीं दिखलायी देता। उसके विषय में हम जितना भी कहते जायँ उसका अन्त नहीं हो सकता है। हम ज्यों-ज्यों कहते हैं, त्यों-त्यों वह भी व्यापक होता जाता है।

परमात्मा और आत्मा में भेद नहीं—परमात्मा स्वयं रस है और वही उसका पान करने वाला है। वही मछुआ है और वही मछली है, वही पानी है, वही जात है, वही जाल का शीशा है और वही चारा भी है। वही कमल है, कमलिनी है, और वही उन्हें देखकर आनन्दित होता है—

आपे रसिया आपि रसु, आपे गावणहार
आपे होवे चोलड़ा आप सेज भंतार
रंगिरता मेरा साहिब, राम रहिआ भरपूरि
आपे माछी, मछुली आपे पाणी जालु
आपे जाल मणकड़ा आपे अन्दरि लालु
आपे बहु विधि रंगला सखीये मेरा लाल
नित रवै सोहागणी देख हमारा हाल
प्रणवै नानक बेनती तू सरवर तू हंस
कउलु तू है कविया तू है आपे वेख विगंस

वह स्वयं गुण है, स्वयं उसका कथन करता है और उसे सुनकर खुद ही उस पर विचार करता है। वही रत्न है, वही जौहरी है और वही उसका मूल्य है। उसे

कितना भी ऊँचे से ऊँचा समझा जाय और कहा जाय, इसकी कोई सीमा नहीं। उसे न तो पूर्ण रूप से कहा जा सकता है न देखा ही जा सकता है। फिर जहाँ देखो वहीं वह दृष्टिगोचर होता है। उस ज्योति को सदा सहज स्वभाव से ही जाना जा सकता है—

आपे गुण आपे कथै, आपे सुणि बीचारु
आपे रतनु परखन आपे मोल अपार
साचउ मानु महतु तु आपे देवण हारु
होर जीओ तू करता करतार
ऊँचा-ऊँचे आखिए कहिओ न देखिया जाय
जहं देखा तंह एक तू सतिगुरु दिया दिखाए
ज्योति निरंतरि जाणीए नानक सहज सुभाई

फिर यदि समुद्र में बूँद है और बूँद के भीतर समुद्र है तो उसे कोई कैसे जान ही सकता है ? यह तो आपको ही आप पहचानना और जान लेना है। यदि इस प्रकार का आत्मज्ञान किसी को हो सके तो निःसन्देह परमार्थ की प्राप्ति तथा मुक्ति दशा की उपलब्धि हो सकती है।

सागर महि बूंद, बूंद महि सागरु, कवणु बुझै विधि जाणै।
उतभुज चलत आपि करि चीनै आपे तनु पछाणै।

साधक की चार अवस्थाएँ—परब्रह्म को पाने के लिए साधक को चार अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। 'धरम खण्ड', 'ज्ञान खण्ड,' 'करम खण्ड', और 'सच खण्ड'। अन्तिम अवस्था में पहुँचकर आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि हो जाती है और साधक विधि-निषेधादि से परे चला जाता है। वह 'पंच-रूप' हो जाता है और भेद-अभेद, ऊँच-नीच की सीमा समाप्त हो जाती है। नानक इसी अवस्था में पहुँच चुके थे जब वे अपने प्रिय सेवक मर्दाना के साथ भ्रमण करते हुए सैय्यदपुर (वर्तमान एमीनाबाद, जिला गुजराँवाला) पहुँचे थे। अपने विचारों के ही अनुरूप वे एक नीची जाति के कहे जाने वाले बढ़ई के घर ठहरे। इसका नाम लालो था। पूरे कस्बे में यह समाचार बिजली की सी तेजी से फैल गया कि क्षत्रिय कुल में उत्पन्न एक पहुँचे हुए संत अछूत लालो के घर टिके हुए हैं और उसके हाथ से खाना-पीना करते हैं। बात वहाँ के उच्च कुलोत्पन्न एक अधिकारी मलिक भागो के कानों में भी पड़ी।

पददलितों का साथी—भागो ने एक बड़ी दावत का आयोजन कर रखा था जिसमें उसने आस-पास के और दूर के संत-महात्माओं को निमंत्रण दिया था। यह सुनकर कि गुरु नानक भी भगवान के भक्त हैं उसने उनको भी निमन्त्रण दिया। किन्तु गुरु ने यह कहते हुए उसका निमंत्रण ठुकरा दिया—"इस संसार में 'नीच' कुलोत्पन्न बहुत से लोग हैं और अनेक उनसे भी गये गुजरे हैं। नानक सिर्फ उनका साथी है और उसे 'ऊँचे' लोगों की प्रतिस्पर्द्धा की कोई इच्छा नहीं। मलिक को यह सुनकर बड़ा गुस्सा आया। उसने अपने नौकरों से कहा कि जाकर नानक को बुला लाओ और यदि वह आने को तैयार न हो तो उन्हें पकड़ लाओ। पहले तो गुरु ने जाने से इन्कार कर दिया परन्तु बाद में मलिक को सीख देने की इच्छा से उसकी कोठी पर गये। मलिक ने उन्हें भोजन प्रस्तुत किया जिसे खाना गुरु ने अस्वीकार कर दिया। मलिक ने गुस्से

से काँपते हुए पूछा कि गुरु खाना क्यों नहीं खा रहे हैं। प्रत्युत्तर में नानक ने शांत भाव से कहा, "तुम्हारा दिया हुआ भोजन खून से सना है जबकि लालो ने जो भोजन रखा था उसमें शहद और दूध का स्वाद आता था।" फिर पूछे जाने पर कि ऐसा क्यों होता है ? गुरु ने कहा, "लालो अपना गाढ़ा पसीना बहाकर कमायी करता है और फिर उसमें से कुछ भी थोड़ा सा वह दे सकता है उसे राहगीरों, गरीबों और संतों को देता है और इसीलिए उसका दान मीठा लगता है। इसके विपरीत तुम कोई काम नहीं करते हो और सामान्य जनता से घूस, अनाचार तथा सत्ता का भय दिखाकर धन ऐंठते हो। ऐसा धन गरीबों और निर्दोषों के खून से ही सना हो सकता है।" भागो यह सत्य वचन सुनकर बड़ा शर्मिन्दा हुआ और आस-पास के पूरे क्षेत्र में यह समाचार दावाग्नि की तरह फैल गया कि ऐसे गुरु का प्रादुर्भाव हुआ है जो सत्ता और ऊँच-नीच के भेदभाव को निडरता के साथ चुनौती देते हैं। यह एक अपूर्व बात थी।

जाति और सम्प्रदाय से परे—एक बार किसी ने गुरु जी से पूछा कि वे किस जाति और सम्प्रदाय को सुशोभित करते हैं। उन्होंने जवाब दिया 'मैं संतों के सम्प्रदाय का हूँ। मेरी जाति वही है जो हवा और अग्नि की है। मैं वृक्षों और पृथ्वी की तरह ही जीवन-यापन करता हूँ और उन्हीं की तरह काटे जाने अथवा खोदे जाने के लिए तैयार हूँ। नदी की तरह मुझे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं कि कोई मेरा तरफ फूल फेंकता है या गंदगी। चंदन की तरह मैं उसी को जीवंत समझता हूँ जिससे सुगंध निस्सरित होती हो।" स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति के लिए हिन्दू और मुसलमान के साम्प्रदायिक भेद कोई अर्थ नहीं रखते थे। मक्का की यात्रा करते समय किसी ने पूछा—"हिन्दू और मुसलमान में कौन बड़ा है ? गुरु नानक ने जवाब दिया—'वह जो भलाई करता है और परमात्मा में ही रमा रहता है।" उन्होंने कहा कि—'बाबा आखे हाजियाँ शुभ अमला बाझों दोवे रोई'। अर्थात् बिना अच्छे और नेक कर्म के हिन्दू और मुसलमान दोनों को रोना पड़ेगा। एक अन्य प्रश्न, कि जाग्रत कौन है, के जवाब में नानक ने कहा था, "वह जो परमात्मा को चारों तरफ देखता है और माया में नहीं फँसता। ऐसे व्यक्ति की पहचान यही है कि उसका हृदय सर्वथा दया और सहानुभूति से ओत-प्रोत रहता है।"

एक बार यात्रा करते हुए जब गुरु नानक मिठान कोट पहुँचे तो वहाँ एक मुसलमान सूफी मियाँ मिट्ठा ने उनसे कहा "नानक ! अल्लाह किसी आदमी को तभी अपनाता है जब वह खुदा और पैगम्बर को मानें और कुरान का पाठ करे। तुम न तो पैगम्बर को मानते हो और न कुरान पढ़ते हो।" गुरु ने जवाब दिया, "मैं सत्य पथ की कुरान पढ़ता हूँ और भगवान में रमा रहता हूँ तथा किसी और सहायता की आशा नहीं करता।" गुरु नानक की यह दृढ़ भावना रही कि किन्हीं विशेष सिद्धान्तों या धार्मिक रीतियों का पालन करने से ही परमात्मा को नहीं पाया जा सकता। उनके मतानुसार तो मन के भाव सच्चे होने चाहिये फिर चाहे मन्दिर हो या मस्जिद, चर्च या गुरुद्वारा भक्त को शरण मिलेगी ही।

काबा किधर नहीं है ?—उनकी इसी मान्यता की पुष्टि में उस घटना का उल्लेख किया जाता है जो मक्का में घटी। गुरु वहाँ एक रात काबे की ओर पैर करके

लेट गये। यह देख वहाँ के एक मुल्ला ने गुस्से से काँपते हुए उन्हें खूब डाँटा। गुरु ने तब शान्त भाव से कहा—**"जिधर अल्लाह न हो उस तरफ मेरे पैर घुमा दो।"** मुल्ला ने उनके पैर घसीट कर दूसरी तरफ कर दिये। लेकिन उसे आश्चर्य हुआ कि उस तरफ भी काबा दिखाई दे रहा है। फिर तो जिधर-जिधर गुरु के पैर घुमाये गये उधर ही काबा नजर आया और तब मुल्ला को ज्ञान उपजा। गुरु नानक के सौम्य एवं सत्याचरण का प्रभाव वहाँ कितना पड़ा इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आज भी बगदाद में उनकी स्मृति में एक प्रतिमा स्थापित है और इसकी देख-रेख वहाँ के कट्टर धर्मावलम्बी कर रहे हैं। गुरु नानक में हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द्र के बीज बचपन से ही पल्लवित होते रहे है। उनका बाल्यकाल जहाँ बीता वहाँ का वातावरण भी इस दृष्टि से बहुत प्रेमपूर्ण था और इससे उनकी भावनाओं में शीघ्र ही प्रौढ़ता आ सकी। उनका पूरा जीवन विभिन्न सम्प्रदायों और मतान्तरों के बीच स्नेहानुबन्ध का प्रतीक था।

आडम्बरहीन सत्य के पुजारी—गुरु नानक ने अपने जीवन में सत्य और सादगी को ही स्थान दिया था और इसी की सीख समस्त संसार को दी। यही कारण है कि विभिन्न परस्पर विरोधी धार्मिक रीतियों, रिवाजों और अन्धानुकरण को चीर कर आती हुई उनकी वाणी करोड़ों को आश्वस्त कर सकी। जब उन्होंने कहा कि गंगा में कमर तक के पानी में खड़े होकर अर्घ्य देना, या शीघ्र ही गन्दा हो जाने वाला और टूट जाने वाला जनेऊ धारण करना, या गेरुआ वस्त्र पहनकर, संसार से वैराग्य ले लेना, माँस न खाना, पाँच बार नमाज पढ़ना, या तुलसी की माला पहनना और पास में सालिगराम की मूर्ति रखना, यह सब परम पिता का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए अनावश्यक है तो एकबारगी ही उन्होंने धर्म को, व्यर्थ के आडम्बर, पाखण्ड और ढोंग के दलदल से निकालकर शुद्ध एवं अकलुष तथा शाश्वत भगवत् प्रेम की आधारशिला पर ला खड़ा किया। जब उन्होंने लोगों को अपने मन में छिपे क्रोध, मद, लोभ आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की सलाह दी तो उनका ध्येय मनुष्य को सच्चे अर्थों में अजेय और अप्रतिम बनाने का था जब उन्होंने कहा कि हम अपने खान-पान, आचार-व्यवहार, परिवेश-निवेश से अपवित्र नहीं होते हैं प्रत्युत अपनी गंदी भावनाओं के वशीभूत होकर नीचे गिरते हैं तो वे वास्तव में मुमुक्षु किन्तु भ्रमित-चकित जन-समाज के समक्ष अम्लान ज्ञान का भंडार रख रहे थे।

असंख जप असंख भाउ, असंख पूजा असंख तप ताउ
असंख ग्रन्थ मुखि वेद पाठ असंख जोग मनि रहहि उदास
असंख भगत गुण गियान विचार असंख सती असंख दातार
असंख सूर मुँह भरवसार, असंख जोनि लिवलाई तार
कुदरति कवण कहा बिचारु, वारियो न जावा एक बार
जो तुम भावै सोई भली कार, तू सदा सलामति निरंकार।

उपसंहार—आश्विन शुक्ल १०, संवत् १५९५, (सन् १५३८ ई०) को 'जपुजी' की अंतिम पंक्तियों के पाठ के साथ "वाह गुरु" की रटना करते हुए उत्तर भारत के इस महान् संत ने करतार के निवास-स्थान पर चादर ओढ़ ली थी और इस लोक से प्रयाण किया था।

१०६. जवाहरलाल नेहरू

१—भूमिका, २—नेहरू का प्रारम्भिक जीवन, ३—स्वतन्त्रता प्रेमी नेहरू, ४—स्वतन्त्र भारत के निर्माता, ५—मानवतावादी नेहरू, ६—साहित्यकार एवं भावुक नेहरू, ७—मृत्यु, ८—उपसंहार।

भूमिका—संसार नश्वर है। इस नश्वर संसार में अनेक जीव आते हैं और आकर चले जाते हैं। उन्हें कोई जानता भी नहीं और कोई उनका स्मरण भी नहीं करता। अनेक मनुष्य प्रतिदिन जन्म लेते हैं और प्रतिदिन मरते हैं। सगे सम्बन्धी अल्पकाल के लिए प्रसन्न हो लेते हैं और रो लेते हैं। उसके पश्चात् कोई उनका स्मरण भी नहीं करता। परन्तु कुछ ऐसे मनुष्य होते हैं जो अपने यश-सौरभ से संसार को इतना अधिक सुगंधित कर जाते हैं कि हजारों वर्षों तक उन्हें भूलते नहीं। सहसा उनकी याद किया करते हैं। महात्मा बुद्ध, ईसामसीह, महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू ऐसे ही महापुरुषों में थे जो मर कर भी अमर हैं, मिटकर भी अमिट हैं।

नेहरू का प्रारम्भिक जीवन—पं० जवाहरलाल नेहरू का जन्म १४ नवम्बर, १८८९ ई० को इलाहाबाद के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके पिता इलाहाबाद के प्रसिद्ध वकील थे। नेहरू जी की शिक्षा हैरो में हुई। बार ऐट-ला की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् वह भारत आए। उनका विवाह कमला नेहरू से हुआ, जिनसे उनके एक पुत्री उत्पन्न हुई जो आज इन्दिरा गाँधी के नाम से विख्यात हैं और भूतपूर्व भारत की प्रधान मन्त्री थीं।

स्वतन्त्रता प्रेमी नेहरू—जिस समय पं० नेहरू स्वदेश वापस आये, उस समय भारत परतन्त्र था। अंग्रेजों का कुचक्र भारत में पूरी तेजी के साथ चल रहा था। महात्मा गाँधी के प्रभाव में आकर प० नेहरू ने अपनी वकालत छोड़ दी और संग्राम में कूद पड़े। पं० मोतीलाल नेहरू को जवाहरलाल नेहरू का राजनीति में प्रवेश करना आरम्भ में अच्छा न लगा परन्तु बाद में मोतीलाल जी जवाहरलाल जी से प्रभावित होकर स्वयम् स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े। संसार के इतिहास में यह एक अनोखा उदाहरण था कि एक पिता ने अपने पुत्र के मार्ग प्रदर्शन पर राजसी जीवन का परित्याग किया।

महात्मा गाँधी के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन में नेहरू जी महान् योगदान दिया। सत्याग्रह संग्राम के समय ही नेहरू जी की पत्नी श्रीमती कमला नेहरू का स्वर्गवास हुआ। नेहरू जी स्वाधीनता के आन्दोलन में कई बार जेल गये। सन् १९२८ में पहली बार वह कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए और सन् १९२९ ई० में उन्होंने रावी के किनारे पहले-पहल घोषणा की कि हमारे इस स्वाधीनता संग्राम का उद्देश्य औपनिवेशिक स्वाधीनता नहीं अपितु पूर्ण स्वतन्त्रता है। इसके बाद पं० जवाहरलाल नेहरू देश के उन अग्रणी नेताओं में हो गये जिनके मार्ग-प्रदर्शन पर ही स्वतन्त्रता संग्राम चला। महात्मा गाँधी ने नेहरू जी को सबसे अधिक महत्व प्रदान किया। इन्हीं महापुरुषों के संघर्षों के फलस्वरूप १५ अगस्त, १९४७ ई० को भारत को स्वतन्त्रता मिली।

स्वतन्त्र भारत के निर्माता—स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के पश्चात् देश के शासन

की बागडोर नेहरू के हाथ में आई। अंग्रेजों से भारत पं० नेहरू को मिला। उसमें राजनीतिक उच्छृङ्खलता, सामाजिक भेद-भाव, आर्थिक विषमता और धार्मिक अन्ध-विश्वासों का बोलबाला था। सदियों की गुलामी और अशिक्षा ने भारत को दूषित बना दिया था। जाति-प्रथा, ऊँच-नीच, छुआछूत, बाल-विवाह आदि अनेक सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित थीं। अंग्रेजों ने विभिन्न धर्मावलम्बियों के पारस्परिक मतभेद को खूब बढ़ाया था। आर्थिक दृष्टि से भी देश की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। राजनीतिक दृष्टि से भारत अनेक रियासतों में बँटा था।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने सरदार पटेल के साथ देश की विभिन्न समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया। सरदार पटेल के प्रयत्न से विभिन्न रियासतें भारतीय संघ में सम्मिलित हुईं। पण्डित नेहरू ने भारत के आर्थिक विकास करने और अन्त-र्राष्ट्रीय जगत् में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयास किया। देश के आर्थिक उत्थान के लिए जो पंचवर्षीय योजनाएँ लागू की गईं, इनमें नेहरू का महत्वपूर्ण हाथ था। नेहरू आदर्शवादी राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने विज्ञान और टेक्नालाजी की शिक्षा पर विशेष बल दिया। वे रूढ़ियों और रूढ़िगत परम्पराओं के विरोधी थे। हिन्दू कोड बिल के द्वारा उन्होंने हिन्दुओं की बहुत-सी धार्मिक और सामाजिक असमानताओं को दूर करने का प्रयास किया।

नेहरू के जीवन-काल में दो ऐसी समस्यायें आईं जिन्होंने उन्हें विचलित कर दिया—एक थी काश्मीर की समस्या और दूसरी चीन का आक्रमण। इन दोनों ही समस्याओं का सामना पण्डित नेहरू ने बड़ी दृढ़ता के किया और न्याय के पथ को न छोड़ा।

अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भारत को उच्च स्थान दिलाने का श्रेय पं० नेहरू को ही है। उन्होंने तटस्थता की नीति का अनुसरण किया और वे पूँजीवादी और साम्य-वादी किसी भी गुट में सम्मिलित नहीं हुए। भारत की इस तटस्थ नीति से प्रेरणा पाकर अन्य देशों ने भी इस नीति को अपनाया। विदेशों में भारत के गौरव को बढ़ाने का श्रेय पं० नेहरू को प्राप्त है।

मानवतावादी नेहरू- -महापुरुष यद्यपि एक देश और एक काल में जन्म लेते हैं, परन्तु उनका स्वर सार्वकालिक, और सार्वभौमिक होता है। पं० नेहरू ऐसे ही महापुरुष थे। वे सच्चे अर्थों में मानवतावादी थे। युद्ध को बहुत बड़ा अभिशाप समझते थे और निःशस्त्रीकरण को आवश्यक मानते थे। कोरिया और इण्डोनेशिया के युद्धों को बन्द करवाने का श्रेय सम्पूर्ण रूप से नेहरू जी को ही है। बांदुंग सम्मेलन में शान्ति और मानवता का जो आदर्श पं० नेहरू ने संसार के सम्मुख रखा वही पीड़ित मानवता को श्रेयस्कर है। पंचशील के निर्माता पं० नेहरू के रोम-रोम में कराहती हुई मानवता के प्रति सहानुभूति थी। वह अपने जीवन-पर्यन्त शान्ति के लिये प्रयत्नशील रहे। उन्होंने सदैव न्याय का पथ पकड़ा चाहे उसमें उन्हें हानि ही उठानी पड़ी हो।

अनेक आलोचकों का मत है कि नेहरू की इस शान्तिप्रिय नीति के फलस्वरूप भारत को हानि भी उठानी पड़ी। उदाहरण के लिए उनकी इस शान्तिप्रिय नीति के लिये काश्मीर की समस्या सदैव के लिये उलझ गयी। परन्तु यह सोचना उनकी

संकीर्णता का परिचायक है। नेहरू के सम्मुख शान्ति और मानवता का जो आदर्श था, उसने उन्हें युग-युग तक अमर बना दिया। उनका कहना था कि जहाँ अनाचार और अन्याय होता है, वहाँ मानवता कराहती है। जहाँ कहीं भी उन्होंने अन्याय होते हुये देखा उसकी आलोचना करने में वे किंचित मात्र भी नहीं हिचकिचाये। न्याय के पथ पर चलने वाले व्यक्ति ही सच्चे मानवतावादी होते हैं और इन अर्थों में नेहरू का स्थान बहुत ऊँचा है।

साहित्यकार एवं भावुक नेहरू—नेहरू एक उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् अच्छे लेखक भी थे। उनकी **'आटोबायग्राफी'** (आत्मकथा) **'गिलम्प्सेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री'** (विश्व इतिहास की झलक), **'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया'** (भारत की खोज) आदि कृतियाँ अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। वे साहित्यिकता के गुणों से अलंकृत हैं। नेहरू अत्यन्त भावुक स्वभाव के थे। बच्चों से उन्हें विशेष प्रेम था। बच्चे उन्हें चाचा नेहरू कहते थे और प्रतिवर्ष उनके जन्म-दिवस पर बाल-दिवस मनाया जाता था और उनके दीर्घायु होने की कामना की जाती थी। अब इस दिन उस दिवंगत आत्मा से प्रेरणा प्राप्त की जाती है।

मृत्यु—भारत के स्वतन्त्र होने पर १७ वर्षों तक नेहरू हमारे बीच रहे। अपने जीवन का ७५ वाँ वर्ष व्यतीत होते-होते अकस्मात् २७ मई, १९६४ ई० को वह महान विचारक, साहित्यकार, शान्तिप्रेमी महापुरुष हमारे बीच से उठ गया और उसकी मृत्यु पर सारा संसार रो उठा। देश विदेश के प्रतिनिधि अपनी अन्तिम श्रद्धांजलि अर्पित करने और इस युग पुरुष के अन्तिम दर्शन करने भारत आये। २७ मई, १९६४ को शान्ति घाट पर जब इनके पार्थिव शरीर को चिता पर रख कर आग लगायी गयी तो उनका रोम-रोम जल-जल कर कह रहा था—शान्ति, शान्ति।

उपसंहार—नेहरू हमारे बीच में नहीं रहे परन्तु वह अपने क्रिया-कलापों रहन-सहन, अनाचार-विचार के द्वारा जो छाप छोड़ गये हैं वह है नेकी और ईमानदारी का जो बीज उन्होंने हमारे बीच बोया है वह पल्लवित होता रहेगा। वे भारत को उन्नत्ति के शिखर पर देखना चाहते। हम सब उनकी उन कामनाओं को पूर्ण करेंगे। वह पीड़ित मानवता को शान्ति और आनन्दमय देखना चाहते थे। हम इस कार्य को करने के लिए दृढ़ संकल्प हैं। उन्होंने हमारे लिये जो मार्ग प्रशस्त किया है उस पर चल कर हम अपना और सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण करेंगे। आधुनिक भारत नेहरू युग की उपलब्धियों का मानचित्र है।

●

१०७. आचार्य नरेन्द्रदेव

१—भूमिका, रेखाचित्र, २—जन्म और पारिवारिक पृष्ठभूमि, ३—जीवन और कार्य-कलाप, ४—व्यक्तित्व की विशेषताएँ, ५—उपसंहार।

भूमिका, रेखाचित्र—महान् सामाजिक विचारक, बहुभाषाविद्, राजनीतिक और असाधारण बुद्धिजीवी आचार्य नरेन्द्रदेव का जीवन अनेक दिशाओं में फैला हुआ था। वह एक असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे देश की स्वाधीनता की अगली पंक्ति के सेनानी थे। बौद्ध दर्शन के वे महान् विद्वान थे और एक असाधारण शिक्षाविद् भी। उनके सामाजिक चिन्तन के कारण ही उनको भारतीय समाजवाद का

जनक कहा जाता है। वास्तव में भारतवर्ष में समाजवाद की विचारधारा को सक्रिय रूप देने का श्रेय आचार्य नरेन्द्रदेव को है।

जन्म और पारिवारिक पृष्ठभूमि—आचार्य नरेन्द्रदेव का जन्म सन् १८८९ में सीतापुर के एक मध्यम वर्ग के खत्री परिवार में हुआ था। आगे चलकर यह परिवार फैजाबाद चला गया। फैजाबाद में उनका निवास जो फैजाबाद का आनन्द-भवन कहा जाता है, आज भी आचार्य जी को महान् स्मृतियाँ छिपाये हुए अपने विगत वैभव की कहानी कह रहा है। आचार्य जी की आरम्भिक शिक्षा घर पर, वैदिक भारतीय परम्परा के अनुरूप हुई। उन्हें वेद मन्त्रों की शिक्षा दी गई और वे शीघ्र ही संस्कृत में पारंगत हो गये। गीता और अमरकोष उनको कण्ठस्थ थे। संस्कृत के इसी असाधारण ज्ञान ने उन्हें आगे चलकर बौद्ध दर्शन और पालि साहित्य के अध्ययन की ओर प्रेरित किया।

आचार्य नरेन्द्रदेव एक अध्ययनशील छात्र थे और इस कारण अपने पर्यावरण की घटनाओं को बिना देखे नहीं गुजर जाने देते थे। उस समय बालगंगाधर तिलक को भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का अग्रणी समझा जाता था। आचार्य नरेन्द्रदेव भी उनके प्रशंसक बन गये।

प्रायः १० वर्ष की आयु में आचार्य नरेन्द्रदेव को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि वे कांग्रेस का अधिवेशन देखने गये। वहाँ के वाद-विवाद ने उनके मन पर एक असाधारण छाप छोड़ दी। इसके प्रभाव ने उनके जीवन को एक नयी दिशा प्रदान की। आरम्भिक शिक्षा सीतापुर और फैजाबाद में पूरी करने के पश्चात् आचार्य नरेन्द्रदेव म्योर सेण्ट्रल कालेज, प्रयाग अर्थात् इलाहाबाद विश्व-विद्यालय पढ़ने चले गये। वहाँ से उन्होंने एम० ए०, एल-एल० बी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं और फैजाबाद में वकालत करने लगे। वकालत वह केवल ५ वर्ष ही कर सके, इसके पश्चात् भारत माता की पुकार पर और गाँधीजी के आह्वान पर वे असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े। इसके पश्चात् राजनीति और शिक्षा उनके दो प्रिय विषय रहे।

क्रान्तिकारी विचारक—आचार्य नरेन्द्रदेव यद्यपि शारीरयष्टि से दुर्बल थे किन्तु विचार उनके उग्र और क्रान्तिकारी थे। यह बात उनके जीवन में आरम्भ से ही विद्यमान थी। यद्यपि वे बाल्यकाल से ही कार्यकलापों में रुचि रखते थे, और १९०६ में एक दर्शक के रूप में कलकत्ता कांग्रेस में हो आये थे, किन्तु जब कांग्रेस ने उग्र विचारधारा के लोगों को कांग्रेस से निकाल दिया तो आचार्य जी के मन से कांग्रेस का स्नेह जाता रहा। यही कारण था कि १९१० में आचार्य जी ने इलाहाबाद कांग्रेस के अधिवेशन में दर्शक के रूप से भी जाने का कष्ट नहीं किया, यद्यपि वे उस समय इलाहाबाद में पढ़ रहे थे। बालगंगाधर तिलक के प्रशंसक होने की चर्चा इसके पहले ही हो चुकी है और इसी से आचार्य जी की विचारधारा का आभास मिल जाता है। आचार्य जी अरविन्द घोष के क्रान्तिकारी और द्रष्टा के रूप के भी प्रबल प्रशंसक थे।

राजनीति में सक्रिय योगदान—शिक्षा समाप्त कर जैसे ही आचार्य जी ने अपनी वकालत शुरू की उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन भी आरम्भ कर दिया। १९१५ में वह फैजाबाद जिले की होम रूल लीग के मन्त्री बनाये गये।

काशी विद्यापीठ का आचार्य पद—आचार्य नरेन्द्रदेव का शिक्षा-प्रेम काशी विद्यापीठ वाराणसी का आचार्य पद ग्रहण करने के पश्चात और मुखर हुआ। वैसे वे मूलत: सामाजिक विचारक और शिक्षाशास्त्री थे। जब १९२१ में महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन के पश्चात देश में अनेक राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना की तो काशी विद्यापीठ, वाराणसी का दायित्व आचार्य नरेन्द्रदेव को सौंपा गया। इसके पश्चात् वे राजनीति और शिक्षा दोनों को साथ-साथ लेकर चले।

उद्‌भट विद्वान—आचार्य नरेन्द्रदेव भारतीय दर्शन, बौद्ध साहित्य एवं राजनीति के उद्‌भट विद्वान थे। रूसी साहित्य का भी उन्होंने गहन अध्ययन किया था। यह सब होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि १९१७ को रूसी क्रान्ति के पश्चात् प्राय: सभी क्रान्तिकारी विचारक रूस और उसके साहित्य की ओर आकृष्ट हुए थे। आचार्य नरेन्द्रदेव की विद्वता की सबसे बड़ी विशेषताएँ यह हैं कि जहाँ एक ओर वे भारतीय दर्शन, बौद्ध दर्शन और साहित्य के उद्‌भट विद्वान थे, वहाँ मार्क्सवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के भी वे गहन अध्येता थे। उनकी इस विद्वता ने उन्हें अपनी विचार-धारा के परिमार्जन में बहुत अधिक सहायता की। उनका सामाजिक दर्शन इन सभी साहित्यों और शास्त्रों की समवेत देन है। आचार्य नरेन्द्रदेव अरविंद घोष और उनके दर्शन से भी प्रभावित थे, यद्यपि वे उसे जीवन और समाज की समस्याओं का सफल साधन नहीं मानते थे।

कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना और समाजवादी विचारधारा का प्रजनन और प्रसार—आचार्य नरेन्द्रदेव को भारतीय समाजवाद का पिता कहा जाता है। वास्तव में भारत में समाजवाद के प्रचार और प्रसार का बहुत कुछ श्रेय आचार्य जी को ही है। उन्होंने ही सबसे पहले इस बात का प्रयास किया कि कांग्रेस के नेताओं को प्रभावित कर उन्हें समाजवाद की ओर लाएँ। १९३३ में पटना में समाजवादी विचारधारा के समर्थकों का एक अधिवेशन हुआ, जिसकी अध्यक्षता आचार्य नरेन्द्रदेव ने की। उनका अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण भारतीय समाजवाद की ऐतिहासिक महत्व की कृति है जिसने तत्कालीन सामाजिक जीवन में एक क्रान्ति पैदा कर दी थी। इसके पश्चात् आचार्य जी ने कांग्रेस के अन्दर रहकर उसकी नीतियों पर समाजवाद का रंग चढ़ाने की कोशिश की और जब सफल न हो पाये तो कांग्रेस छोड़कर बाहर चले आये और भारतीय समाजवादी दल को समाजवाद की स्थापना साधन का बनाया।

१९५२ के पहले आम चुनाव के पश्चात् आचार्य जी और देश के अन्य समाजवादी नेताओं ने यह अनुभव किया कि समाजवादी तत्व इधर-उधर बिखरे रहकर कोई प्रभावकारी काम नहीं कर सकते हैं। इस उद्देश्य से उन्होंने आचार्य कृपलानी की किसान मजदूर पार्टी से मिलकर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की। दुर्भाग्यवश आगे चलकर इस पार्टी में भी फूट पड़ गई। इससे कुछ लोगों ने अलग होकर सोशलिस्ट पार्टी बनाई। आचार्य नरेन्द्रदेव को इससे अधिक आघात लगा। अपनी रोग शैया से भी उन्होंने इसके प्रति अत्यधिक क्षोभ व्यक्त किया था।

गांधी जी का प्रभाव—आधुनिक भारत के अधिकांश राजनीतिक नेताओं को गाँधी जी ने प्रभावित किया। वास्तव में वह ऐसे वटवृक्ष की भाँति थे, जिसकी छाया में प्रत्येक प्राणी को किसी न किसी रूप में आना ही पड़ता था। काशी विद्यापीठ का

आचार्य पद ग्रहण करने के पश्चात् आचार्य नरेन्द्रदेव गाँधी जी के निकट सम्पर्क में आये और काफी समय तक उनके वर्धा आश्रम में भी रहे। गाँधी जी ने उनसे समाजवादी विचारधारा को समझने का प्रयास किया। सम्भवतः इसी विचारधारा के प्रभाव से गाँधी जी ने अपने 'हरिजन' में एक बार लिखा था "श्रम ही पूँजी है।" गाँधी जी आचार्य जी की विद्वता से इतना अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने उनको एक बार कांग्रेस का अध्यक्ष बनाये जाने का प्रस्ताव किया था। जवाहरलाल नेहरू तो उनको प्रगतिशील विचारक मानते ही थे। सुभाषचन्द्र बोस उनका सम्मान करते थे और उन्होंने अपनी कार्य समिति का सदस्य बनने का निमंत्रण उनको दिया था।

आदर्शवादी व्यक्ति—आचार्य नरेन्द्रदेव एक आदर्शवादी व्यक्ति थे। वह अपने आदर्शवाद को केवल अपने व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित नहीं रखते थे वरन् राजनीति और सार्वजनिक जीवन में भी उसको अनिवार्य मानते थे। जब समाजवादी दल ने कांग्रेस से अलग होने का फैसाल किया तो उसके साथ-साथ आचार्य नरेन्द्रदेव ने विधान सभा की सदस्यता से त्याग-पत्र देने का निश्चय किया। नैतिकता और आदर्शवाद का मार्ग यही था। आज एक दल के टिकट पर चुनकर आए हुए लोग दूसरे दल में सरलता से चले जाते हैं किन्तु आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने किसी राजनीतिक सहयोगी पर ऐसा कलंक लगने नही दिया।

उपकुलपति—आचार्य नरेन्द्रदेव जी काशी विद्यापीठ के उपकुलपति के अतिरिक्त लखनऊ विश्वविद्यालय और वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रहे। इन पदों पर रहकर विद्वता के साथ-साथ आदर्शों का पूर्ण निर्वाह किया। यद्यपि वे एक दल के नेता थे किन्तु उन्होंने कभी भी किसी विद्यार्थी एवं किसी शिक्षक को उस दल के समर्थन के लिये प्रेरित नहीं किया। उनका इन पदों पर कार्य आज भी स्मरण किया जाता है।

सामाजिक चिंतक के रूप में देन—आचार्य नरेन्द्रदेव ने इस देश को 'भारतीय समाजवाद' के रूप में एक में एक ऐसा सामाजिक दर्शन प्रदान किया है। जिसके द्वारा इस देश की पीड़ित और शोषित जनता का सच्चे अर्थों में कल्याण हो सकता है। मार्क्स के साहित्य का आचार्य नरेन्द्रदेव ने गहन अध्ययन किया था और उस अध्ययन की छाप उनके चिन्तन पर स्पष्ट है, किन्तु वह यह नहीं मानते थे कि मार्क्सवाद के ज्यों के त्यों ग्रहण करने का ही दूसरा नाम समाजवाद है। उन्होंने एक बार कहा था कि यदि मार्क्सवाद की व्याख्या करने का अधिकार स्तैलिन और अन्य लोगों को है तो जयप्रकाशनाराण आदि को भी तो है। मार्क्सवाद की सबसे बड़ी विशेषता है देश की सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल उसको परिवर्तित किये जाने की आशा। इसकी आज्ञा उसके जनक ने भी दी है। यह स्वीकृति उचित भी है। कोई भी विचारधारा जिसका जन्म एक देश में हुआ है, किसी अन्य देश में उसी रूप में लागू नहीं की जा सकती है।

भौतिक परिस्थितियों के अनुकूल उसके स्वरूप में परिवर्तन होना और किया जाना स्वाभाविक है। मार्क्सवाद को भारतवर्ष में ज्यों का त्यों लागू नहीं किया जा सकता है। इस देश की अपनी सामाजिक परम्परायें हैं और सांस्कृतिक रूढ़ियाँ हैं। इन रूढ़ियों की पूर्ण अवहेलना कर यदि किसी विचारधारा की स्थापना यहाँ की जाती है तो वह बहुत हद तक़ सफल नहीं हो पावेगी। आचार्य नरेन्द्रदेव इस दायित्व से

पूर्णत: परिचित थे और इसीलिए उन्होंने मार्क्सवाद से प्राप्त प्रेरणा को भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित कर उस पर बल दिया। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना के समय अध्यक्ष पद से दिया गया उनका भाषण और उसके पश्चात् समाजवादी एवं प्रजासमाजवादी दलों के सम्मेलनों में अध्यक्ष पद से दिये गये उनके भाषण उनकी समाजवाद की परिकल्पना को अधिक स्पष्ट करते हैं। वे समाजवाद की स्थापना के लिए जनतांत्रिक रीतियों को एकल साधन मानते थे। वे नहीं मानते थे कि समाजवाद की स्थापना के लिए हिंसा अनिवार्य है। गाँधी जी के निकट सम्पर्क में रहने के कारण और गाँधी जी के अहिंसा नामक अस्त्र की सफलता देखने के पश्चात् उनका इस प्रकार सोचना और विचार करना सर्वथा स्वाभाविक और उचित ही था।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने बौद्ध दर्शन का बड़ा ही गम्भीर अध्ययन किया था। उस गहन अध्ययन का प्रभाव भी उनके विचारों में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। बहुभाषाविद होने के कारण उन्हें अन्य साहित्यों के अध्ययन का भी सौभाग्य मिला था। इन सब बातों का उनके विचारों और उनके व्यक्तित्व पर स्पष्ट प्रभाव था। बौद्ध दर्शन पर लिखा गया उनका ग्रन्थ आज भी उस क्षेत्र में अपना सानी नहीं रखता। ऐसा माना जाता है कि उनका वह ग्रन्थ बौद्ध दर्शन की सबसे अधिक विश्वसनीय व्याख्या प्रस्तुत करता है।

आचार्य नरेन्द्रदेव राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन ने नैतिकता और शिष्टता के भी हामी थे। वे मानते थे कि राजनीतिक नैतिकता के अभाव में राक्षस नीति बन जाती है। इस बात पर उन्होंने अपने लेखों और वक्तव्यों दोनों में ही बल दिया है। उनकी विचारधारा में हमें राजनीति, शिष्टाचार और नैतिकता तीनों का अनुपम समन्वय देखने को मिलता है।

उनका व्यक्तिगत आचरण अनुपम रूप से शिष्ट और सुसंस्कृत था। यही बात उनके विचारों और चिन्तन के विषय में भी कही जा सकती है। उनके विचार सर्वथा सुसंस्कृत और स्पष्ट होते थे। उनके चिन्तन में कहीं भी अनिश्चितता की छाया देखने को नहीं मिलती है। इसलिए उनके समाजवाद की परिकल्पना बड़ी ही स्पष्ट थी। बह मानते थे कि समाजवाद की स्थापना के द्वारा समाज में शोषण और उत्पीड़न को समाप्त किया जा सकता है, समाज में उत्पत्ति और विनिमय के साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है और देश से अभाव और भेद को मिटाया जा सकता है। इस प्रकार की समाज की स्थापना के लिए जनतांत्रिक तरीकों से संघर्ष किया जा सकता है।

उपसंहार—इस देश का दुर्भाग्य है कि वह महान् विचारक अपनी पीढ़ी के लोगों के पहले ही इस संसार से विदा हो गया। उनका व्यक्तित्व इतना जाज्वल्यमान था और इतना सजीव था कि श्री रामानन्द तिवारी ने एक बार उनके विषय में लिखा था—

> **ओ विप्र तपस्वी बता अरे,**
> **इस दीप-शिखा का स्रोत कहाँ !**

अर्थात् उनकी शरीरयष्टि जितनी दुर्बल थी, उनकी संजीवनी शक्ति उतनी ही

प्रबल थी। उनके विषय में उनके अनन्य मित्र और सहयोगी यूसुफ मेहरअली ने ठीक ही लिखा है—

"उनका दिल को खींच लेने वाला आचरण, उनकी निष्कपट महान् विद्वत्ता उनके चरित्र तथा विचारों की सुन्दरता ने उन्हें हजारों का प्रेमभाजन बना लिया। उनका जीवन उस व्यक्ति का उदाहरण है जो आदर्श के लिए चिन्तित रहता है, जिसका एक विश्वास यह है कि समाज वर्गहीन बन जायेगा, जहाँ गरीबी, अज्ञानता और शोषण न रहेगा। उनकी आस्था आम ज़नता पर है कि उसमें क्रान्ति करने और नए समाज का निर्माण करने की आवश्यकता और इस तरह नये संसार का निर्माण हो सकता है। अपने जीवन को वह इतनी पवित्रता के साथ ध्येय की पूर्ति के लिए चलते हैं और उसमें इतनी सुन्दरता है कि जो भी उनके सम्पर्क में आता है वही महान् बनने लगता है और इस राजनीतिक जीवन में एक नया स्तर उपस्थित होता है।

१०८. डॉ० राममनोहर लोहिया

१—भूमिका, रेखाचित्र, २—पारिवारिक पृष्ठभूमि और शिक्षा, ३—**जीवनचरित्र और क्रिया-कलाप, ४—आजादी की लड़ाई में योगदान, ५—समाजवाद का सूरमा, ६—उपसंहार।**

भूमिका, रेखाचित्र—डा० राममनोहर लोहिया आज केवल भारत ही में नहीं वरन् विश्व में एक समाजवादी विचारक और शोषितों के हितैषी के रूप में विख्यात हैं। वह वास्तव में क्रांति की 'धूनी रमाने वाले' बिना कुटी के जोगी थे, जिन्होंने समाजवाद का सन्देश और शोषण के विरुद्ध आवाज दूर-दूर तक फैलाई। वह उन निर्भीक नेताओं में से थे जो अपने आदर्शों के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी कर सकते थे और बड़ी से बड़ी कठिनाइयाँ सहने को तैयार रहते थे। पीड़ितों, शोषितों और इस देश का दुर्भाग्य है कि वह महान् नेता इतनी जल्दी संसार से विदा हो गया। दुःख तो इस बात का है जब उनकी सबसे अधिक आवश्यकता थी तो वह हमारे बीच में नहीं रहे।

पारिवारिक पृष्ठभूमि—डा० राममनोहर लोहिया का जन्म २३ मार्च, १९१० को फैजाबाद जिले के एक गाँव के एक मारवाड़ी परिवार में हुआ था। निःसन्देह फैजाबाद जिले के लिए अत्यधिक सौभाग्य की बात है कि उसने देश को दो महान् समाजवादी चिन्तक और विचारक दिये। भारतीय समाजवाद के पिता आचार्य नरेन्द्र-देव फैजाबाद ही के थे। डा० राममनोहर लोहिया के पिता श्री हीरालाल स्वयं राष्ट्र-भक्त थे और गाँधी जी के विचारों से बहुत अधिक प्रभावित थे। इसका प्रभाव डा० राममनोहर लोहिया के विचारों और कार्य-कलापों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। मारवाड़ी परिवार में जन्म लेने के बावजूद डा० राममनोहर लोहिया सामाजिक परम्पराओं के विरोधी और आदर्शों के लिए प्राण दे देने वाले जीव थे। राष्ट्रीय वातावरण में जन्म लेने और राष्ट्र-भक्त पिता की सन्तान होने के कारण डॉ० राम-मनोहर लोहिया पर राजनीति में भाग लेने पर कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा। १४ वर्ष की आयु में डा० राममनोहर लोहिया ने गया कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया। इसके पश्चात् गौहाटी सम्मेलन में हिस्सा लिया। तभी की आजादी की ज्वाला उनके हृदय में भड़की।

शिक्षा—डा० राममनोहर लोहिया की आरम्भिक शिक्षा बम्बई और कलकत्ता में हुई। उसके पश्चात् वह उच्च शिक्षा के लिए जर्मनी गए। वहाँ से उन्होंने राजनीतिक दर्शन में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। राजनीति डा० लोहिया के लिए केवल एक अध्ययन का विषय नहीं था, वह उनके जीवन का अंग बन गया और जीवन के अन्त तक वह उसमें आकंठ निमग्न रहे। राजनीति के क्षेत्र में और समाज चिन्तन के क्षेत्र में उनकी देन अभूतपूर्व है।

देश के लिए समर्पित—डा० लोहिया का जन्म मातृभूमि की सेवा करने के लिए हुआ था। जब वे जर्मनी से लौटे तो उनको अनेक नौकरियों के निमंत्रण मिले, किन्तु उन्होंने उनमें से किसी को भी स्वीकार नहीं किया। लक्ष्मी के उपासक कुल में जन्म लेने वाले डा० राममनोहर लोहिया ने लक्ष्मी को ठुकरा दिया ताकि वह मातृभूमि की सेवा कर सकें। डा० लोहिया पर जब स्वयं जवाहरलाल नेहरू की नजर पड़ी तो उन्होंने उन्हें कांग्रेस के विदेश मामलों के विभाग का अध्यक्ष बनाया। अपने इस दायित्व को डा० लोहिया ने बड़ी योग्यता से निभाया और पंडित जवाहरलाल नेहरू के विश्वास को सर्वथा सार्थक सिद्ध किया। आजादी की प्राप्ति के पहले कांग्रेस की विदेश-नीति के निर्माण में लोहिया का योगदान स्मरणीय है। यहीं से डा० लोहिया का सार्वजनिक तथा राजनीतिक जीवन आरम्भ होता है। आगे चलकर इस व्यक्ति ने जितनी महत्ता प्राप्त की वह किसी से छिपी नहीं।

विदेशी भाषाओं के ज्ञाता एवं मैत्री-सम्पन्न व्यक्ति—डा० राममनोहर लोहिया तीन से अधिक यूरोपियन भाषाएँ जानते थे। अनेक भारतीय भाषाओं के वह पूर्ण ज्ञाता थे। विदेशों में अनेक लोगों से उनके प्रगाढ़ मैत्री सम्बन्ध थे। उनके इन सम्पर्कों ने कांग्रेस के विदेश मामलों में बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। देश के समाजवादी आन्दोलन के विकास में भी इन मैत्री सम्बन्धों ने बहुत ही अधिक योगदान किया। डॉ० राममनोहर लोहिया के सम्पर्क के फलस्वरूप यूरोप और अन्य देशों को यह ज्ञात हो सका कि कांग्रेस (आजादी के पूर्व) एक प्रगतिशील संस्था है।

काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के संस्थापक—डॉ० राममनोहर लोहिया के प्रत्येक कार्य में उन्नत चिन्तक और विचारक का रूप स्पष्ट झलकता है। वह काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के संस्थापकों में से थे। इस कार्य में उनके अन्य साथी थे—आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन इत्यादि। वास्तव में इस पार्टी का मूल्य उद्देश्य था काँग्रेस की विचारधारा को प्रभावित करना ताकि काँग्रेस समाजवाद को अपना लक्ष्य बना सके। आज वह परिकल्पना साकार हो गई है और काँग्रेस समाजवाद को पूर्ण लक्ष्य मानती है। यह बात अलग है कि डॉ० लोहिया ने कुछ समय पश्चात् यह मानना बन्द कर दिया था कि काँग्रेस समाजवाद का सार्थक यन्त्र एक साधन हो सकती है।

भारत की आजादी की लड़ाई में योगदान—भारत की आजादी की में डॉ० लोहिया का योगदान अनुपम है। १९३८ के पश्चात् उनको अनेक बार जेल जाना पड़ा। १९४२ में "भारत छोड़ो" आन्दोलन के समय उन्होंने एक आश्चर्यजनक भूमिका अदा की। उन्होंने आजाद हिन्द रेडियो, जो कि एक गुप्त रेडियो की स्थापना की और उस पर अनेक प्रसारण किये। भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड लिन-

लिथगो और उत्तर-प्रदेश के गवर्नर हैलेट को लिखे गये उनके खुले पत्र उस समय बहुत ही महत्वपूर्ण समझे जाते थे। वह भारत की आजादी की लड़ाई के महत्वपूर्ण दस्तावेज थे। १५ महीनों तक भूमिगत रहने के पश्चात् डॉ० राममनोहर लोहिया बन्दी बना लिये गये और उनको गिरफ्तार कर लाहौर के किले में बन्द किया गया। वहाँ उनको अमानवीय यातनाएँ सहनी पड़ीं। इंग्लैण्ड में लेबर पार्टी की सरकार बनने के पश्चात् प्रो० लास्की, अध्यक्ष, लेबर पार्टी को एक पत्र डॉ० राममनोहर लोहिया ने लिखकर उन अमानवीय यातनाओं का चित्रण किया था। यह पत्र ऐतिहासिक महत्व का माना गया।

महान व्यक्तिवादी और वार्ता-निपुण—डॉ० राममनोहर लोहिया महान व्यक्तिवादी थे। उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वह किसी अन्य के मातहत बहुत दिन तक कार्य कर सकें। इसी कारण सम्भवत: किसी दल का अनुशासन में बहुत दिनों तक बँधे नहीं रहते थे। अनेक राजनीतिक दलों से जो आपको सम्बन्ध-विच्छेद करना पड़ा, वह शायद इसी कारण था।

डॉ० राममनोहर लोहिया के वार्ता करने का ढंग बड़ा रोचक और आकर्षक था। वह अपनी बातचीत में लोगों को घण्टों उलझाये रख सकते थे। यदि वह एक साहित्यकार होते तो सम्भवत: डॉ० जानसन के बाद बातचीत करने के लिए विख्यात होते।

गोवा की आजादी के लिए योगदान—डॉ० राममनोहर लोहिया का योगदान केवल भारत की आजादी के लिए ही नहीं था, वरन् गोवा की आजादी के लिए भी था। उन्होंने भारत की आजादी प्राप्त होने के पश्चात् गोवा को आजाद करने के लिये भी जेहाद छेड़ दी। यद्यपि इसके फलस्वरूप उन्हें जेल जाना पड़ा, किन्तु कुछ समय पश्चात् गोवा आजाद हो गया। उनका यह योगदान गोवा-वासी आज भी श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं।

अथक क्रान्तिकारी—डॉ० रानमनोहर लोहिया एक अथक क्रान्तिकारी थे। वह जीवन-पर्यन्त संघर्ष करते रहे। देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता के पश्चात् उन्होंने देश की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयास किया। उनका विश्वास था कि समाजवाद को स्थापना के बाद ही देश को आर्थिक दासता से मुक्त किया जा सकता है।

शोषण के विरुद्ध सतत् संघर्षरत—डॉ० राममनोहर लोहिया शोषण के कट्टर विरोधी थे। उनका यह विरोध केवल उनके देश की सीमाओं में नहीं बँधा था, देश के बाहर भी वह न्याय के लिए संघर्ष करने में भी नहीं चूकते थे। अमेरिका में केवल गोरों के लिए सुरक्षित एक होटल में जबर्दस्ती प्रवेश कर उन्होंने वहाँ की रंगभेद की नीति का विरोध किया। इसके लिए उनको जेल जाना पड़ा। किन्तु साथ ही साथ अमेरिकी असलियत का भण्डाफोड़ संसार भर में हो गया और अन्त में अमेरिकी शासकों को डॉ० लोहिया से माफी माँगनी पड़ी।

महान विचारक एवं लेखक—डॉ० राममनोहर लोहिया एक महान विचारक और लेखक थे। राजनीति चिन्तन में उनकी बहुत बड़ी विशेषता थी। 'भूमि सेना' और 'एक घण्टा देश को दो' के नारे उनके मौलिक चिन्तन का स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। वह स्वयं 'मैनकाइन्ड' नामक अँग्रेजी और "जन" नामक हिन्दी पत्रिका

के सम्पादक थे। उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की, उनमें से संसार के मामलों में तीसरा खेमा', 'भारत की हिमालय सम्बन्धी नीति' 'इतिहास चक्र', 'विश्व मस्तिष्क के खंड' और 'मार्क्स, गाँधी और समाजवाद' प्रमुख हैं।

गाँधी जी का प्रभाव—डॉ० राममनोहर लोहिया को महात्मा गाँधी के सामीप्य का सौभाग्य मिला था। इसी का फल था कि डॉ० लोहिया पर गाँधी जी की मान्यताओं का प्रभाव था। उनकी समाजवाद की धारणा गाँधी जी की विचारधारा से बहुत हद तक प्रभावित है। गाँधी जी के प्रभाव ही के कारण डॉ० लोहिया इस बात के लिए कभी तत्पर नहीं होते कि नैतिकता का बलिदान कर दिया जाय।

महान समाजवादी और समानता का सूरमा—डॉ० राममनोहर लोहिया एक महान् समाजवादी थे। समाज के प्रत्येक क्षेत्र में समानता की स्थापना के लिए सब प्रकार के संघर्ष करना वे अपने जीवन का लक्ष्य समझते थे। भारत के प्रत्येक व्यक्ति की आय १६ पैसा है, उनका यह कथन राजनीतिक क्षेत्र में आज भी स्मरण किया गया है। उनके इस कथन को संसद में स्व० श्री जवाहरलाल नेहरू ने पसन्द नहीं किया था, किन्तु बाद में डॉ० लोहिया ने अपने तर्कों से उसे सिद्ध कर दिया।

रंगीन व्यक्तित्व—डॉ० राममनोहर लोहिया का बड़ा ही रंगीन व्यक्तित्व था। रंगीन से तात्पर्य उन विशेषताओं से नहीं है जिनमें विलास-प्रियता निहित हैं। रंगीन से तात्पर्य है उनके व्यक्तित्व का सतरंगीपन। जहाँ उनके अनेक प्रशंसक थे वहाँ उनका विरोध करने वालों की संख्या कम न थी। विरोधी भी उनकी विशेषताओं की सराहना करते थे।

संसद में योगदान—आजादी के पहले डॉ० राममनोहर लोहिया ने किसी भी असेम्बली में जाना पसन्द नहीं किया। आजादी की लड़ाई के बाद वे बहुत दिनों तक किसी संसद एवं विधान सभा में जाने से दूर रहे। अन्ततः उन्होंने पं० जवाहरलाल नेहरू की नीतियों के विरुद्ध प्रतीक स्वरूप उनके विरुद्ध संसद के लिए १९६० में चुनाव लड़ने का फैसला किया। वहाँ तो वे असफल रहे किन्तु १९६३ में एक उपचुनाव में फर्रुखाबाद से चुनकर संसद में आ गए। इसके पश्चात् १९६७ में वे पुनः संसद के लिए चुन लिए गए। संसद में उन्होंने अपने व्यक्तित्व की गरिमा को स्पष्ट रूप से मुखरित कर दिया।

हिन्दी के अनन्य उपासक—डा० राममनोहर लोहिया हिन्दी के अनन्य उपासक थे और शीघ्रातिशीघ्र इसको राष्ट्रभाषा का पद दिलाना चाहते थे। पद तो पहले ही मिल गया था, आवश्यकता थी उसकी गरिमा की प्रतिष्ठा की। इसलिए डा० लोहिया चाहते थे कि अंग्रेजी को दैनिक व्यवहार से समाप्त कर दिया जाय और उसके स्थान पर हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं का प्रयोग किया जाय।

सामाजिक विचारक के रूप में डा० राममनोहर लोहिया—सामान्यतः लोग उन्हें एक राजनीतिक नेता के रूप में ही जानते हैं किन्तु उनके सारे क्रियाकलापों के मूल में निहित था उनका सामाजिक चिन्तन। वे एक महान् सामाजिक चिन्तक थे। वे एक ऐसे दूरदर्शी नेता थे जो क्षितिज के पार देखने की क्षमता रखते थे। आज लोग पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता पर सन्देह व्यक्त करते हैं किन्तु डा० राममनोहर लोहिया ने यह बात बहुत पहले ही कह दी थी।

डा० राममनोहर लोहिया शक्ति के विकेन्द्रीकरण में विश्वास करते थे। वह चाहते थे कि पुलिस और विकास योजनाओं को पंचायतों के मातहत कर दिया जाय। श्रमदान और भूमि सेना की बात हम ऊपर ही कह चुके हैं। डा० लोहिया यह भी मानते थे कि तिब्बत की मुक्ति के लिए भी प्रयास करना चाहिए।

आज डा० लोहिया संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के संस्थापक के रूप में स्मरण किए जाते हैं किन्तु संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना तो उनके कार्यों की शृङ्खला की एक अन्तिम और महत्वपूर्ण कड़ी ही थी। इस पार्टी की स्थापना का मूल उद्देश्य था—समाजवाद की स्थापना। डा० लोहिया ने इससे पहले कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, प्रजा-सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना में भी योगदान किया।

डा० राममनोहर लोहिया चाहते थे कि इस देश में समाजवाद लाया जाए किन्तु रक्तपात द्वारा नहीं। वह उसकी स्थापना जनतांत्रिक ढंग से चाहते थे। यहाँ गाँधी जी का प्रभाव उन पर दिखाई देता है।

डा० लोहिया यह नहीं मानते थे कि समाजवाद मार्क्सवाद का ही रूप है। यद्यपि वह स्वीकार करते थे कि मार्क्सवाद ने समाजवादी चिन्तन के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, किन्तु यह भी स्वीकार करते थे कि प्रत्येक देश की आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप समाजवाद की विचारधारा में परिवर्तन किया जाना चाहिए। वह यह नहीं मानते थे कि समाजवाद केवल एक ही दल द्वारा लाया जा सकता है और उस दल के अधिनायकतन्त्र द्वारा ही समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। उनका विचार था कि समाजवाद की स्थापना सभी लोगों के मिले-जुले प्रयासों के फलस्वरूप हो सकती है। वह केवल किसी समाजवादी दल की बपौती नहीं है।

डा० लोहिया भूमि पर जोतने वालों का अधिकार चाहते थे। वह नहीं चाहते थे कि किसानों से कोई लगान लिया जाये। इसी प्रकार वह यह भी चाहते थे कि मजदूर को उसका हक मिले और उसे समाज का नियामक समझा जाये।

उपसंहार—यह इस देश का, इस समाज का और आधुनिक राजनीति का दुर्भाग्य है कि वह महान् विचारक इस संसार से इतनी जल्दी विदा हो गया। यदि वह चिन्तक कुछ दिन और जिन्दा रह जाता तो सम्भव था कि सामाजिक चिन्तन और समाज संगठन में कुछ नये मोड़ आ जाते। देश और भावी पीढ़ी डा० राम-मनोहर लोहिया को महान् सामाजिक चिन्तक और समाजवादी के रूप में तब तक याद करती रहेगी जब तक विश्व में समाजवाद का नाम जीवित रहेगा।

१०९. पुस्तक की आत्मकथा

१—भूमिका, २—पुस्तक का निर्माण, ३—उसकी आत्मकथा, ४—लाभ हानि, ५—उपसंहार।

भूमिका—दुनिया में हर साकार वस्तु की एक कहानी है। मैं भी साकार होने के कारण अपनी कहानी रखती हूँ। मैं सारी दुनियाँ की कहानी कहती हूँ, पर मेरी कहानी कहने की कृपा किसी ने भी नहीं की। मेरी सेवाओं का दुनिया ने लाभ तो

उठाया परन्तु मेरे निरन्तर चलते रहने पर किसी को भी दया नहीं आई। आ भी कैसे सकती है ? संसार तो अपने स्वार्थ में इतना लीन है कि वह दूसरों की बातें सोचने का समय ही नहीं पाता। देखिये न गाड़ी पर बैठकर आराम से लेटे-बैठे हर प्रकार के सुखों का अनुभव करते हुए आप यात्रा करते हुए कलकत्ता से दिल्ली पहुँच जाते हैं, किन्तु स्टेशन पर पहुँचे नहीं कि उसे छोड़ने की तैयारी कर देते हैं। फिर पीछे देखते भी नहीं हैं। जिससे मैंने आठ घण्टे आराम किया और १२०० मील के करीब यात्रा की, उसका क्या हाल है ? ठीक यही दशा मेरी भी है। लोग बड़े चाव से मुझे खरीदते हैं, और गोद में रखकर प्रेम से पढ़ते और ज्ञान प्राप्त करते हैं, पर ज्यों ही उनका काम निकला नहीं कि उठाकर फेंक देते हैं। बहुत से ऐसे सज्जन मिलते हैं, जो मुझे उस नीरस और हृदयहीन बनियों के हाथ में बेच देते हैं जो फाड़-फाड़ कर सौदा रख-कर ग्राहकों को दे दिया करता है। इस प्रकार से मेरी दुर्गति और उपेक्षा की जाती है। इन सारी बातों को दृष्टि में रखकर ही मैंने अपनी आत्मकथा स्वयं कहने की धृष्टता की है। मेरी आत्मकथा ही मेरी कहानी है।

निर्माण एवं सृजन—हाँ, तो मैं अपने निर्माण की कथा बता देना आवश्यक समझती हूँ। बाँस, एक प्रकार की घास तथा सन के फटे-पुराने टाट के टुकड़े आदि सब को दीन-हीन गरीब व्यवसायी एकत्रित करते हैं। वे मिल-मालिकों के हाथ इन सारी सामग्रियों को वेच देते हैं। आजकल मेरे शरीर के अवयवों को बनाने में बड़ी-बड़ी मशीनें काम करती हैं। इन सभी उपेक्षित पदार्थों को विभिन्न क्रियाओं द्वारा सड़ा-गलाकर और खूब मथकर बारीक और मुलायम लुग्दी बना ली जाती है। उसी लुग्दी को मशीनों में डालकर पकाया जाता है और फिर मशीनों की ही सहायता से कागज बनाया जाता है। उस कागज को एक बार काटकार निश्चित आकार दे दिया जाता है। यही मेरे शरीर का ढांचा बनाता है। कागज को प्रेस वाले खरीद लेते हैं। उनके पास छापे की अनेक प्रकार की मशीनें होती हैं। वे मेरे स्वल्प महत्व की साखियों पत्रिकाओं समाचार-पत्रों, पर्चियों आदि के लिये साधारणत: तथा मेरे लिये अच्छे कागज छांट लेते हैं और अलग रख देते हैं। यही मेरे निर्माण का प्रारम्भिक चरण है।

दूसरे चरण में मेरे शरीर के लिये आन्तरिक तत्व तैयार किये जाते हैं। उसका क्रम यह है कि मेरे पूर्वजों से ज्ञान प्राप्त किये हुये सरस्वती के भक्त अपने ज्ञान को फैलाने तथा उसे उपयोगी बनाने के लिये निराकार विचारों के भाषा-संकेत को आकार देना प्रारम्भ करते हैं। जड़ लेखनी का मुँह काला करके वे अपने भावो को शब्द चित्र के रूप में साकार करने लगते हैं। वे पूरे कथानक को विभिन्न भागों में विभाजित करके ठोस और गठित कथानक तैयार करते हैं। उनका संशोधन करके उसे अपनी इच्छा के अनुकूल तथा दूसरों के लिये आकर्षक और उपयोगी बनाते हैं। इस प्रकार अनेक बार काट-छाँट होती है तब जाकर कहीं मेरे आन्तरिक अवयव प्रेस में दिये जाते हैं। प्रेस का पाठक एक बार फिर मेरे नग्न रूप को सूक्ष्म दृष्टि से देखता है। वह भी कुछ संशोधन करता है। इसके बाद मेरा प्रारूप कम्पोजिटर के सामने जाता है, वह मेरे एक-एक वर्ण को सजाता है, पर वह भी मनुष्य होने के नाते गलती और भूल कर जाता है। फिर भी उसका किया हुआ कार्य मशीन पर चढ़ा दिया जाता

है और मेरे मुँह पर खूब गाढ़ी स्याही पोता जाती है। इसके बाद एक साधारण कागज पर मुझे छापा जाता है। फिर मेरा प्रारूप प्रूफ-रीडर महोदय के हाथों में पहुँचता है, और वे भी यथेच्छ काट-छाँट करते हैं। इसके बाद पुनः कम्पोजिटर महोदय संशोधन करते हैं तथा पूर्व-विधि से द्वितीय प्रूफ निकाला जाता है और पूर्ववत् उसका भी पुनः संशोधन किया जाता है। तीसरी बार फिर वही क्रिया होती है, तब कहीं जाकर मुझे अन्तिम रूप दिया जाने लगता है। अब तृतीय प्रूफ के अनुसार पहले निश्चित किये हुए कागज पर मैं आने लगती हूँ। इस प्रकार मेरा प्रारूप छापकर तैयार कर लिया जाता है। इस समस्त क्रिया में मुझे अत्यधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं।

इसके बाद मेरे समस्त अंगों को मिलाकर दफ्तरी के पास भेज दिया जाता है और हमारी पूरो सेना की गड्डी को ढेर के समान रख दिया जाता है। उस समय तक मेरा महत्व भी वहाँ, नहीं के बराबर रहता है। कई दिनों तक उसी दशा में रहना पड़ता है। इसके बाद दफ्तरी के आदमी एक-एक भाग को तोड़-मोड़कर मेरा निश्चित आकार बनाना शुरू करते हैं। इस मोड़-तोड़ की पीड़ा से मैं कराह उठती हूँ। पर कौन सुने ? खैर तोड़-मोड़ के बाद मेरे विभिन्न अंगों को सजाकर एक मशीन में रख दिया जाता है, और एक सुदृढ़ सुए से मुझे छेदा जाता है। उस छेदन में भी असह्य पीड़ा होती है। फिर निश्चित रूप से मेरे अंगों को दफ्तरी जोड़कर सिल देता है और हमारा ढाँचा तैयार होता है। इसके बाद दफ्तरी मुझे फिर एक मशीन में रखकर काटता है। इस काट-छाँट की वेदना इसीलिए सह्य हो पाती है कि इसके बाद जो रूप प्राप्त होगा वह सुन्दर और आकर्षक होगा। फिर हमें काटकर इकट्ठा रख दिया जाता है। तब हम सब पर आवरण और जिल्द चढ़ाई जाती है, इसके फलस्वरूप हमारा रूप आकर्षक बन जाता है। फिर भी हमारा अपमान होता ही रहता है। कभी-कभी हमको कुर्सी बनाकर दूकान वाले बैठ भी जाते हैं तथा कभी-कभी बड़ी निर्दयता से पटकते रहते हैं। खैर इसके बाद फिर पुस्तक विक्रेता की माँग के अनुसार हमारी विभिन्न स्थानों की यात्रा प्रारम्भ होती है। प्रकाशक के गोदाम से निकालकर बण्डल बाँधा जाता है, और बड़ी सतर्कता के साथ बाँधकर तैयार किया जाता है तथा ऊपर के वेष्ठन पर पाने वाले तथा भेजने वाले का नाम पता लिखा जाता है।

यात्रा—अब मेरा यात्रा शुरू होती है। यदि मेरा जन्म वाराणसी में होता है तो मुझे लखनऊ, दिल्ली आदि शहरों की सैर करनी पड़ती है। नवीन स्थान-दर्शन तथा यात्रा का हममें बड़ा उल्लास रहता है। स्टेशन पहुंचने पर हमारी गति तीसरे दर्जे में यात्रा करने वाले यात्रियों की सी हो जाती है। कुली बड़ी बेदर्दी के साथ उठा-उठाकर पटकते तथा लुढ़काते हैं। हम उस समय भी मौन नहीं रहतीं पर बेबस रहती हैं। उन मूर्खों को क्या पता कि हममें वह शक्ति है जो मनुष्य को देवता तथा सामान्य को विशेष बना सकती है। खैर पार्सल गाड़ी में पहुँचकर मुझे कुछ शांति मिलती है। फिर किसी प्रकार मेरी यात्रा समाप्त होने पर आती है, और गन्तव्य स्टेशन पर पुनः गत स्टेशन की तरह मेरी दुर्दशा दोहराई जाती है। मेरे आने की सूचना पाकर हम से लाभ की आशा रखने वाला बुकसेलर आता है और छुड़ाकर अपनी दुकान में ले जाता है। वहाँ हम कैद से बाहर निकाली जाती है और झाड़ पोंछकर रैकों में सजा दी जाती हैं। बिजली के पंखों की हवा में हमें विश्राम मिलता है। फिर हमारे ग्राहक-पाठक आते हैं और निर्धारित मूल्य देकर ले जाते हैं। वहाँ भी हमें अपने भाग्य के

अनुसार सहवास मिलता है। जो मेरे साथ जैसा व्यवहार करता है, मैं भी उसे वैसा ही फल देकर अपनी जीवन-लीला समाप्त करती हूँ। कुछ साथी ऐसे मिलते हैं जो खूब सँभाल कर रखते हैं, और अधिक लाभ स्वयं भी उठाते हैं और हमें भी सुख देते हैं; पर कुछ ऐसे सज्जन होते हैं जो मेरी धज्जी-धज्जी उड़ा देते हैं और न तो स्वयं यथेष्ठ लाभ उठाते हैं, न हमें आराम देते हैं।

उपसंहार—हमारी यह आत्मकथा पूर्ण तो नहीं कही जा सकती पर इतना अकाट्य सत्य है कि हम मूर्ख को चालाक, निरक्षर को विद्वान, साधारण को सम्मानित बना देती हैं। ठीक प्रकार से मेरा सहवास करने वाला कालान्तर में आनन्द की प्राप्ति करता है। मेरा सम्मान करने वाला सारे विश्व में सम्मान पाता है। मैं स्वयं एक दिन पुनर्जन्म की तैयारी में चल देती हूँ पर अपने भक्तों को अमर बना देती हूँ। यही संक्षेप में हमारी आत्मकथा है।

११०. व्यायाम का महत्व

१—भूमिका, २—व्यायाम के विविध रूप, ३—व्यायाम की आवश्यकता और उससे लाभ, (अ) व्यायाम का शरीर पर प्रभाव, (ब) व्यायाम का मानसिक स्थिति पर प्रभाव, ४—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य साकार होता है और जीव और शरीर दोनों ही उसके आवश्यक अंग हैं। मनुष्य का स्वस्थ रहना आवश्यक है, क्योंकि बिना स्वस्थ रहे वह अपनी चिर-अभिलषित वस्तु सुख को नहीं प्राप्त कर सकता। प्रत्येक मनुष्य सुख और आनन्द की प्राप्ति चाहता है तथा दुःख से बचाव। सुख भी मानसिक और शारीरिक होने के कारण आन्तरिक और बाह्य दो प्रकार का होता है। वैसे तो हर प्रकार के सुख-दुख का अनुभव मन ही करता है; पर उसे शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों का बहुत गहरा अनुभव होता है। जिस व्यक्ति का शरीर स्वस्थ नहीं रहता उसका मन कैसे स्वस्थ रह सकता है? मन तो इतना चंचल होता है कि स्वस्थ शरीर रहने पर भी अस्वस्थ हो जाया करता है। अतः मानसिक सुख को प्राप्त करने का मुख्य साधन है शारीरिक स्वास्थ्य। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए लोग अनेक उपाय करते हैं, पर उनमें सबसे अधिक सरल और सुगम उपाय व्यायाम है। जीवन व्यायाम के बिना कभी स्फूर्तिमय नहीं रहता। अतः व्यायाम का महत्व मानव-जीवन के लिए अत्यधिक आवश्यक है।

व्यायाम के विविध रूप—शारीरिक अंगों द्वारा समुचित ढंग से परिश्रम करने को व्यायाम कहते हैं। दण्ड-बैठक करना, विभिन्न प्रकार के खेल—हॉकी, फुटबाल, वालीबाल, क्रिकेट, कबड्डी आदि खेलना व्यायाम कहे जाते हैं। इन व्यायामों में शरीर के विभिन्न अंगों से समुचित काम लिया जाता है जिससे मांश-पेशियों में बल आता है और उनका विकास समुचित रीति से होता है। हड्डियों में मजबूती आती है तथा परिश्रम करने से पसीना अधिक निकलता है, जिससे रक्त का संचार ठीक ढंग से होता है और वह साफ हो जाता है।

ऐसा व्यायाम पहलवान लोग अधिकतर करते हैं। व्यायाम करने वालों के भोजन के लिए पौष्टिक पदार्थ—घी, दूध आदि बहुत आवश्यक होता है क्योंकि वे

लोग इतना अधिक व्यायाम करते हैं कि उनके शरीर के अंगों में अत्यधिक थकावट आ जाती है। इस थकावट को पूरा करने के लिए उन्हें स्निग्ध पदार्थों का भोजन आवश्यक होता है। कुश्ती लड़ने में शारीरिक श्रम अधिक करना पड़ता है, यही कारण है कि पहलवानों को अधिक पौष्टिक भोजन करना पड़ता है। व्यायाम का दूसरा रूप है अनेक प्रकार से अंगों का संचालन करना। इसमें इतना श्रम तो नहीं करना पड़ता, पर जितना भी श्रम किया जाता है उससे शरीर की व्यवस्थित उन्नति होती रहती है। हॉकी, फुटबाल, कबड्डी आदि में नियमित रूप स दौड़ना पड़ता है, जिसमें नाक द्वारा साँस ली जाती है। इसमें रक्त-संचार तेजी से होता है, और फेफड़ा और हृदय आदि आन्तरिक अंगों को काफी काम करना पड़ता है, जिससे वे अधिक शक्तिशाली बन जाते हैं। इस प्रकार व्यायाम के अनेक रूप हैं। एक योरोपीय शैली का भो व्यायाम होता है। इसी प्रकार योगाभ्यास आदि भी व्यायाम का ही एक रूप है।

व्यायाम शब्द का अर्थ शारीरिक श्रम से ही लगाया जाता है। बौद्धिक क्षेत्र में भी इसका प्रयोग सुना जाता है। जब किसी दुरूह कल्पना की बात कोई व्यक्ति करता है तो लोग कहते हैं कि यह तो बौद्धिक व्यायाम मात्र है। सोचने की समुचित प्रणाली को बौद्धिक व्यायाम की संज्ञा दी जाती है।

व्यायाम की आवश्यकता और उससे लाभ—प्राचीन काल से यह बात सुनी जाती है कि "तन्दुरुस्ती हजार न्यामत है", इसीलिए पहला सुख नीरोग काया ही माना गया है। शरीर को नीरोग रखने के लिए व्यायाम आवश्यक है। इससे शरीर सुडौल तथा अंग-संस्थान व्यवस्थित होता है। स्वभाव की गम्भीरता और प्रसन्नता के लिए भी व्यायाम आवश्यक होता है। जो लोग रोगी और कमजोर होते हैं, वे चिड़-चिड़े स्वभाव के होते हैं और कभी सुखी नहीं रह पाते। उनमें किसी प्रकार का तेज और आभा नहीं रहती। वे जीवन में भी कभी उन्नति नहीं कर पाते। यह भी प्रसिद्ध है 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क रहा करता है।' (Sound body in a sound mind) यही कारण है कि अस्वस्थ मनुष्य ज्ञान में पिछड़े पाये जाते हैं। स्वस्थ का अर्थ केवल मोटा नहीं होता। अनेक मोटे व्यक्ति अत्यन्त निर्बल और अक्ल में मोटे होते हैं। स्वस्थ मनुष्य की बुद्धि ठीक रहती है तथा अस्वस्थ मनुष्य की बुद्धि मन्द हो जाती है जिससे उसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाती है। स्मरण-शक्ति नष्ट होने से अनेक प्रकार की बुराइयाँ आ जाती हैं। अतः स्वस्थ रहने के लिए व्यायाम आवश्यक है। इसी प्रकार मानसिक उन्नति के लिए मानसिक व्यायाम आवश्यक है। पढ़ना, लिखना, चिन्तन-मनन आदि मानसिक व्यायाम हैं। इनके द्वारा मन और बुद्धि का समुचित विकास होता है। मन में प्रफुल्लता और स्फूर्ति आती है। अतः मन का अवसाद और आलस्य हटाने के लिए व्यायाम आवश्यक है। भ्रमण करना, शुद्ध हवा का सेवन करना, आदि भी एक प्रकार का व्यायाम है। अतः साधारणतया शरीर की स्वस्थता और मन की प्रसन्नता व्यायाम के लिए आवश्यक है।

प्रायः यह देखा जाता है कि बौद्धिक काम करने वाले लोगों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता, अतः उनके लिए व्यायाम की आवश्यकता अधिक रहती है। महात्मा गाँधी ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि वह पहले व्यायाम को व्यर्थ समझते थे,

किन्तु बाद में उन्होंने इसके महत्व को समझा और शेष जीवन में नित्य प्रातःकाल व्यायाम के रूप में भ्रमण करते थे। कहा भी गया है कि 'आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।'

व्यायाम का शरीर पर प्रभाव—आलस्य मनुष्य का शरीर में विद्यमान एक महान् शत्रु है। आलस्य मनुष्य के जीवन को शिथिल बना देता है, उसकी बुद्धि भी मन्द हो जाती है। शरीर और बुद्धि का सम्बन्ध अन्तरंग नसों और अंग-प्रत्यंगों से होता है। व्यायाम से शरीर के आन्तरिक अंगों में फुर्ती आती है और रक्त संचार में गति आती रहती है, जिससे मन प्रसन्न रहता है और शरीर स्वस्थ होता है। व्यायाम के बिना पाचन-क्रिया ठीक ढंग से नहीं होती, जिससे पेट के अनेक प्रकार के रोगों का सामना करना पड़ता है। व्यायाम से रोगों की उत्पत्ति नहीं हो पाती। इसका कारण यह है कि व्यायाम करने से रक्त में रहने वाले कीटाणु सबल हो जाते हैं और वे रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं को नष्ट कर देते हैं।

जो लोग सामान्यतया स्वास्थ्य-रक्ष के लिए व्यायाम करते हैं वे आजीवन स्वस्थ रहते हैं और वृद्धावस्था में भी उनमें कमजोरी नहीं आती और किसी प्रकार के रोग उन्हें नहीं सताते। हाँ जो लोग पहलवानी के लिए युवावस्था में बहुत अधिक व्यायाम करते हैं, उन्हें वृद्धावस्था में बहुत कष्ट होता और उनकी देह पूर्वी हवा में दर्द करती है। अतः व्यायाम भी सीमा के भीतर ही उपयोगी होता है। सभी वस्तुओं की सीमा अनिवार्य होती है। नियमित और संयमित रूप से व्यायाम करना ही श्रेयस्कर है अन्यथा शरीर को अत्यन्त कष्ट होता है।

स्वास्थ्य और व्यायाम को सभी लोग लाभकर मानते हैं, पर इसके साथ ही साथ यदि ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जाता तो व्यायाम भी हितकर नहीं हो पाता। ब्रह्मचर्य-रक्षा से ही आयु, यश, विद्या, बुद्धि आदि बढ़ते हैं, इसके बिना सभी प्रकार के व्यायाम व्यर्थ हो जाते हैं। यही कारण है कि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का नियमित पालन करते हैं उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है, उनकी बुद्धि प्रखर होती है, तथा उनके मुँह पर एक प्रकार का तेज व्याप्त रहता है। अतः व्यायाम के साथ ही संयम-नियम की आवश्यकता कम नहीं है।

आज के वैज्ञानिक युग में प्रायः सभी कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार के साधन और उपकरण बन गए हैं। व्यायाम के लिए साधनों और उपकरणों की कमी नहीं है। किन्तु शरीर के बाह्य और आन्तरिक संतुलन को स्थिर रखने के लिए अनेक प्रकार के आसन बनाए गए हैं। इन आसनों का अभ्यास करने से शरीर के विभिन्न अंगों को यथायोग्य श्रम करना पड़ता है तथा उसी क्रम से उनका विकास भी होता है। अतः इस प्रकार का व्यायाम अधिक कल्याणकारी है। व्यायाम के लिए खुली हवा और खुली जगह आवश्यक होती है ताकि श्वास लेने के लिए स्वच्छ वायु मिल सके।

उपसंहार—संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शरीर के लिए व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है। जीवन में अधिक उस समय तक सुखी और नीरोग रहने का एकमात्र साधन व्यायाम ही है।

१११. दीक्षांत समारोह

१—प्रस्तावना, २—दीक्षांत समारोह का महत्व, ३—प्राचीन काल में दीक्षांत समारोह, ४—किसी दीक्षांत समारोह का वर्णन।

प्रस्तावना—शिक्षा और दीक्षा का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना दीक्षा के शिक्षा अधूरी है। यही दीक्षा देने के लिए दीक्षांत समारोहों का आयोजन किया जाता है। आधुनिक युग में प्रत्येक विश्वविद्यालय और अनेक विद्यालयों में इस प्रकार के समारोह आयोजित किए जाते हैं। यह परम्परा केवल भारत में ही नहीं वरन् विदेशों में भी प्रचलित है। भारतीय विश्वविद्यालयों में स्नातकीय परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात् किसी विद्यार्थी को दीक्षांत समारोह में ही प्रमाण-पत्र दिया जाता है और तभी से वह विश्वविद्यालय का स्नातक माना जाता है।

दीक्षांत समारोह का महत्व और उद्देश्य—दीक्षांत समारोह का विशेष महत्व है। इसका उद्देश्य विद्यार्थी को जीवन के गृहस्थ क्षेत्र में अग्रसर होने की चेतना प्रदान करना है। आधुनिक विश्वविद्यालयों के दीक्षांत समारोहों में जब विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र दिए जाते हैं तो उन्हें भावी जीवन में कार्यरत होने के लिए कुछ उपदेश दिए जाते हैं जिससे अपने भविष्य का निर्माण करने के लिए वे एक स्थान पर एकत्रित होकर इन उपदेशों को ग्रहण कर अपने संगी-साथियों से विदा होकर जीवन के क्रिया क्षेत्र में पूरी लगन और निष्ठा-पूर्वक प्रवेश करते हैं। शैक्षिक जीवन की समाप्ति पर दिए गए उपदेश उनकी सम्पूर्ण जीवन की निधि बन जाते हैं। एक बार डा० राजेन्द्र-प्रसाद ने दीक्षांत समारोह के महत्व की चर्चा करते हुए कहा था कि दीक्षांत समारोह विद्यार्थियों को स्वप्नों की दुनियाँ से निकाल कर वास्तविक जगत में प्रवेश कराते हैं। इनमें दिए गए उपदेशों को ग्रहण करके विद्यार्थी अपने भावी जीवन का निर्माण करते हैं।

प्राचीन काल में दीक्षांत समारोह—दीक्षांत समारोह आधुनिक युग की ही देन नहीं। यह समझना कि पाश्चात्य देशों में प्रचलित 'कन्वोकेशन्स' (Convocations) की तरह ही भारत में इस प्रथा को लागू किया गया है, बहुत बड़ी भूल होगी। भारत में अति प्राचीन काल में भी जब विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त करते थे तो विद्यालय से विदा होते समय गुरु उनको उपदेश देते थे। वह उपदेश शिष्यों के बहुमुखी विकास में सहायक होते थे। उपदेश कुछ इस प्रकार के होते थे : 'तुम गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर रहे हो। तुम्हारे सम्मुख बड़ी-बड़ी समस्याएँ आएँगी। अब तक तुमने ब्रह्मचर्य जीवन बिताया है। अब तक तुम अर्थ और काम की भावना से कोसों दूर रहे। गृहस्थ जीवन में तुम अर्थ और काम का सेवन करोगे। परन्तु ध्यान रखना कि अर्थ और काम के सेवन में धर्म की अवहेलना न हो। अर्थ काम के समसेवन में ही तुम्हारा और जगत् का कल्याण है। ध्यान रखो कि धर्म-पूर्वक अर्थ और काम परम पद अर्थात् मोक्ष की ओर अग्रसर करता है।' इस प्रकार के अनेक उपदेश गुरु द्वारा शिष्यों को दिए जाते थे। प्राचीन काल के गुरुकुल विद्यार्थी को केवल सैद्धान्तिक शिक्षा ही नहीं प्रदान करते थे, वरन् उनके दृष्टिकोण को भी व्यावहारिक बनाते थे। नालन्दा और तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों में भी दीक्षांत समारोह की व्यवस्था की गई थी। कहा जाता है कि चाणक्य ने किसी अवसर पर

अपने विद्यार्थियों में राष्ट्रीयता की ज्योति जगाई थी और चन्द्रगुप्त जैसे प्रतिभाशाली शिष्यों को इस कार्य के लिए प्रेरित किया था कि वह आर्यावर्त की रक्षा के हेतु दृढ़ संकल्प हो जाँय।

किसी आधुनिक दीक्षांत समारोह का स्वरूप और वर्णन—आधुनिक विश्वविद्यालयों में दीक्षांत समारोह बड़े ठाट-बाट से मनाया जाता है। अधिकांश विश्वविद्यालयों में दीक्षांत समारोह सप्ताह भर होता है, जिसमें भाँति-भाँति के शिक्षेत्तर कार्य-क्रम आयोजित किए जाते हैं। मुझे भी एक बार लखनऊ विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। समारोह के सात दिन पूर्व से ही तैयारियाँ प्रारम्भ हो गईं। पूरे सप्ताह में अनेक कार्यक्रम प्रस्तुत किए गए जिनमें मुख्य थे कवि सम्मेलन, मुशायरा, नाटक और मूट कोर्ट। दीक्षांत समारोह के लिए विशाल मण्डप का निर्माण किया गया था और सभी लोगों के बैठने की समुचित व्यवस्था की गई थी। एक दिन पूर्व विद्यार्थियों को किस प्रकार से दीक्षांत समारोह में भाग लिया जाय उसकी शिक्षा दी गई। ठीक चार बजे विश्वविद्यालय के उपकुलपति ने काश्मीर के तत्कालीन मुख्य मन्त्री जिनको दीक्षा देने के लिए बुलाया गया था, का स्वागत करते हुए समारोह को प्रारम्भ किया। सबसे पहले उन विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र दिये गए जिन्होंने डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की थी। यह लोग लाल गाउन पहने हुए थे। इसके पश्चात् पी-एच० डी० और तब क्रम से एम० ए०, एम० एस-सी०, एम० काम० तथा बी० ए० बी० एस-सी०, बी० काम० के विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र दिए गए। सभी विद्यार्थी काला चोगा पहने हुए थे और प्रसन्न मुद्रा में थे। विशेष योग्यता प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को विशेष पुरस्कार भी प्रदान किए गए। अन्त में बख्शी जी का भाषण हुआ जिसमें उन्होंने कहा कि आपके कन्धों पर ही राष्ट्र का भार है। आप से आशा की जाती है कि आप पूरी निष्ठा और लगन से अपने कार्यों को पूरा करेंगे जिससे हमारा प्रजातन्त्र सफल हो सके। सम्पूर्ण राष्ट्र आपकी ओर निहार रहा है। आइए, तन मन धन से राष्ट्र सेवा के कार्यों में संलग्न हो जाइए। उन्होंने विद्यार्थियों में फैली अनुशासनहीनता की चर्चा करते हुए कहा कि यह एक ऐसी बीमारी है जो अगर बढ़ गई तो हमारे राष्ट्र की आधारशिलाओं को हिला देगी। सभी को धन्यवाद देते हुए उन्होंने अपना भाषण समाप्त किया।

दीक्षांत समारोह समाप्त हो गया परन्तु वह मेरे ऊपर एक अमिट छाप छोड़ गया। मैं बड़ी उत्कंठा से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब मैं भी स्नातकीय परीक्षा पास करने के पश्चात् दीक्षांत समारोह में भाग लेकर प्रमाण-पत्र प्राप्त करूँगा।

उपसंहार—इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में दीक्षांत समारोह की परम्परा निरन्तर चली आ रही है। विश्वास है कि भविष्य में भी इन दीक्षान्त समारोहों का आयोजन इस प्रकार किया जायगा कि यह समारोह विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त लाभदायक होंगे। कुछ लोगों का विचार है कि आधुनिक युग में इन दीक्षांत समारोहों को समाप्त कर देना चाहिए क्योंकि विद्यार्थियों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि सभी एक जगह एकत्रिक नहीं हो सकते। इसलिए कुछ स्थानों पर सम्पूर्ण विश्वविद्यालय का दीक्षांत समारोह एक साथ नहीं होता। सम्बन्धित विद्यालय अपने-अपने समारोह अलग-अलग करते हैं। संसार में परिवर्तन तो होता ही रहता है और

इस परिवर्तन से कोई हानि भी नहीं है परन्तु दीक्षांत समारोह होना अवश्य चाहिए क्योंकि उसका शैक्षिक महत्व तो है हो साथ हा साथ वह सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

११२. मनोविनोद के आधुनिक साधन

१—भूमिका, २—मानव जीवन में मनोविनोद का स्थान, ३—मनोविनोद के कुछ साधन, ४—मनोविनोद के लाभ, ५—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य सामाजिक और चेतन प्राणी है। उसमें विवेक-शक्ति है, धर्म-बुद्धि है तथा सहानुभूति की भावना है। उसकी इन्द्रियाँ जब काम करते-करते थक जाती हैं तब उन्हें विश्राम देना आवश्यक होता है। इसी विश्राम के लिए और शरीर की क्लान्ति मिटाने के लिए सोना आवश्यक होता है। मन को भी एक सूक्ष्म इन्द्रिय माना गया है, वह शरीर का वास्तविक संचालक है। वह जब एक ही प्रकार का बौद्धिक कार्य काफी देर तक करता है तो उसे थकावट को दूर करने के लिए ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता होती है, जिसमें उसे गम्भीर चिन्तन न करना पड़े। इससे उसकी क्लान्ति मिटती है और वह आनन्द का अनुभव करता है। इसके लिए वह अनेक साधन एकत्र करता है जिससे वह अपने को बहलाया करता है। मन बहलाव की यही क्रिया मनोविनोद कहलाती है। मन का प्रसाधन मनोविनोद है। अँग्रेजी भाषा में इसके स्थान पर तीन शब्द प्रयुक्त होते हैं—Entertainment, Amusement तथा Recreation; तीनों शब्दों का अर्थ विस्तार साधारणतः समान है, अर्थात् मनोविनोद या मनोरंजन। मनोविनोद के क्षणों में शरीर के तन्तु ढीले पड़ जाते हैं और आंतरिक शक्ति का संचय होने लगता है। जिन उपकरणों से यह क्रिया की जाती है उन्हें मनोविनोद के साधन कहते हैं।

जीवन में मनोविनोद का स्थान—जीवन में मनोविनोद का विशेष स्थान है। वर्तमान युग में वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव के लिए सभी प्रकार के साधन सुलभ कर दिये हैं। आज का मनुष्य, जीवन के हर क्षेत्र में परावलम्बी बन गया है। उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का सबसे अधिक शक्तिशाली साधन पैसा (धन) हो गया है। आज मनोविनोद के असंख्य साधन बन गए हैं। जिनसे मनुष्य अपने जीवन को सुखमय बनाने का स्वप्न देखता है। चूँकि वर्तमान काल में जीवन-प्रणाली यान्त्रिक बन गई है अतः हमारे चारों आर यन्त्रा का ही जाल बिछा है, और आज मनोविनोद के लिए भी यन्त्र-चालित साधनों को महत्व देते हैं। इन्हीं से मन-बहलाव किया करते हैं।

मनोविनोद के कुछ आधुनिक साधन—प्राचीनकाल में मनुष्य का मानसिक विकास कम हुआ था, अतः उसके मनोविनोद के साधन सरल और साहसिक होते थे। किन्तु वर्तमान युग में विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने अत्यधिक विकास कर लिया है। अतः उसके मनोविज्ञान के साधन भी आधुनिक काल में वैज्ञानिक तथा बुद्धिजनित होगये हैं।

सिनेमा अथवा चलचित्र—मनोविनोद के आधुनिक साधनों में सिनेमा का स्थान बहुत व्यापक है। सिनेमा मनुष्य के ऊपर छा गया है। हर शहर में तथा बड़े

कस्बे में सिनेमाघर देखे जाते हैं। इसमें चित्रपटों पर चलते-फिरते चित्र दिखाये जाते हैं। पूर्व निर्मित रीलों पर पर्दे के द्वारा विद्युत प्रकाश फेंका जाता है और वे चित्र पर्दे पर दिखाई पड़ते हैं। उनकी बातचीत का रिकार्ड ले लिया गया रहता है और रिकार्ड, जब खेल चलता रहता है तो बजाये जाते हैं। सारी कहानी में पात्रों के चि त्र और हावभाव इतनी स्वाभाविकता से दिखाये जाते हैं कि दर्शक उन्हें नाटक की तरह देखता रहता है। इससे दर्शकों का मनोविनोद होता है और उसके मन की क्लान्ति मिटती है। इससे अनेक लाभ और हानियाँ हैं। उनकी चर्चा का यहाँ अवसर नहीं है। फिर भी वे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक तो हैं ही। ज्ञान-बुद्धि, मनोरंजन तथा कालक्षेप आदि तो इससे अवश्य होते हैं पर आदत पड़ जाने पर मनुष्य रोटी की चिन्ता छोड़कर भी सिनेमा अवश्य देखता है। इस प्रकार बहुत से लोग बरबाद भी हो जाते हैं। आँखों पर भी सिनेमा देखने का बुरा प्रभाव पड़ जाता है। सिनेमा से संगीत कला तथा नृत्य-कला का स्तर गिरता जा रहा है।

रेडियो—रेडियो का प्रचार आजकल बहुत अधिक हो गया है। इस यन्त्र की सहायता से कमरे में बैठकर देश-विदेश के समाचार सुने जाते हैं। इलाहाबाद, काश्मीर, लंका आदि अनेक स्थानों पर होने वाले कार्यक्रमों को सुना जा सकता है। तनिक-स स्वीच घुमा देने पर दूसरी जगह का कार्यक्रम सुनाई पड़ने लगता है। यह यन्त्र का प्रकार का होता है। आजकल तो छोटे-छोटे ऐसे रेडियो भी चल गये हैं जिन्हें लेकई लोग सड़कों पर चलते हैं और रेडियो प्रोग्राम सुनते रहते हैं। मोटरों से यात्रा करर रहे हैं और रेडियो गा रहा है। पान, चाय, मिठाई आदि की दूकानों का ऊँचा स्तर बनाने के लिए लोग रेडियो लगा देते हैं। इस यन्त्र के सहारे मनुष्य अकेला या दो चार मित्रों के साथ बैठकर मनोविनोद किया करता है। हाँ यह सत्य है कि मनुष्य को अपनी इच्छा को रेडियो स्टेशनों के कार्यक्रम तक ही सीमित रखना पड़ता है। इस साधन में मन को वास्तविक आनन्द कम ही मिल पाता है। रेडियो वर्तमान युग में मनोविनोद का अच्छा साधन है।

विविध खेलकूद—आधुनिक युग में भाँति-भाँति के खेल प्रचलित हो गए हैं। प्राचीनकाल में आखेट, घुड़सवारी, मल्लयुद्ध, द्यूत-क्रीड़ा आदि ही मनोरंजन के साधन थे। आधुनिक खेलों में विविधता है। क्रिकेट, फुटबाल, वालीबाल आदि ऐसे खेल हैं जिन्हें बाहर मैदान में खेला जाता है जबकि शतरंज, ताश, कैरम आदि खेलों का आनन्द आप कमरे में बैठकर ही ले सकते हैं।

सरकस—सरकस भी आजकल मनोविनोद का अच्छा साधन माना जाता है। मनुष्य में अब भी कतिपय प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। वह अब भी साहसिक कार्य, बर्बर जंगली पशुओं की क्रीड़ाएँ आदि देखना चाहता है, पर अपने को आपत्ति से बाहर रखकर। सरकसों में शेर, हाथी, घोड़े, बकरे आदि अनेक बर्बर पशुओं के खेल दिखाये जाते हैं, जिससे लोगों का काफी मनोरंजन होता है। युवक और युवतियाँ अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ तथा व्यायाम दिखाते हैं। हाथियों का लकड़ी के कुन्दों से बने बेलन जैसे साइकिल का चलाना, शेर और बकरे का पास-ही-पास रहना आदि अनेक प्रकार के खेल इन सरकसों में दिखाये जाते हैं। शहरों में इनमें बराबर भीड़ लगी रहती है। किसी-किसी सरकस में मौत का कुआँ दो तरह से दिखाया जाता है।

एक तो लकड़ी की खड़ी पटरियों में बना हुआ कुएँ की तरह का स्थान होता है। इसका व्यास लगभग २५-३० फुट होता है और नीचे की सतह समतल होती है। अब एक व्यक्ति उनमें मोटर साइकिल चलाना आरम्भ करता है और क्रमशः उसे घुमाता हुआ अनेक चक्कर उसे खड़ी दीवार पर लगाता है। दूसरा कुआँ ऐसा होता है कि पानी की टंकी रहती है, जिसका व्यास लगभग ३०-४० फुट होता है और ऊँचाई लगभग २०-२५ फुट होती है। उसमें पानी भरा रहता है और पानी के ऊपर पेट्रोल डालकर उसमें आग लगा देते हैं और वह जलने लगता है। उससे उचित दूरी पर एक ७०-८० फीट ऊँची जगह बनाई गई रहती है। एक आदमी विशेष प्रकार का कपड़ा पहन कर उस पर पैट्रोल लगाकर उसमें आग लगा लेता है, तथा जलते हुये अंगारे की तरह ऊपर से उसी जलती हुई पानी की टंकी में कूद पड़ता है। इस प्रकार के कार्य भी सरकसों में होते हैं। इससे दर्शकों का कई दृष्टियों से लाभ होता है।

साहित्यिक क्रिया-कलाप—कवि सम्मेलन और गोष्ठियाँ मनोविनोद के लिये आयोजित की जाती हैं। इनमें शिक्षितों का समाज सम्मिलित होता है और उससे आनन्द और शिक्षा दोनों ही प्राप्त करता है। नाटक और साँस्कृतिक कार्यक्रम भी मनोविनोद के साधन बनाये जाते हैं। विद्वत् समाज का मनोविनोद ग्रन्थों का अध्ययन बताया गया है—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्
व्यसनेन च मूर्खाणाम् निद्रया कलहेन वा ॥

इस प्रकार यदि विद्वान का विनोद काव्यशास्त्र से होता है तो मूर्खों का विवाद और निद्रा द्वारा। इस प्रकार आधुनिक युग में मनोविनोद के अनेक साधन व्यक्ति के वर्ग विशेष के आधार पर उपभोग में लाये जाते हैं।

मनोरंजन के साधनों का मानव जीवन पर प्रभाव—मनोविनोद के आधुनिक साधनों का मानव जीवन पर कुछ विचित्र-सा प्रभाव पड़ रहा है। लोगों का जीवन इन यान्त्रिक साधनों के प्रभाव से एकांगी होता जा रहा है। मशीनों से सुने गये संगीत में कला की वास्तविकता नहीं रहती; फलतः लोगों में कला के प्रति उदासीनता आती जा रही है। अतः मनोविनोद के ये साधन कला के स्तर को गिराते जा रहे हैं। मनुष्य का ज्ञान बढ़ तो रहा है पर उसमें मनुष्य के व्यापक गुणों—दया, करुणा, सहानुभूति आदि का अभाव होता जा रहा है। सजीव कला के प्रति उदासीनता उत्पन्न होने के कारण कलाकारों का अभाव होता जा रहा है। फिर भी ये आधुनिक साधन मनोविनोद के क्षेत्र को बन्द कमरे से भी व्यापक बना देते हैं। मनोविनोद से जीवन में सुरुचि उत्पन्न होती है और नये कार्यों को प्रेरणा तथा शक्ति प्राप्त होती है।

उपसंहार—मनोविनोद के प्राचीन साधनों में मनुष्य की आंगिक गतिविधियों का महत्वपूर्ण स्थान होता था। उस समय गायकों, कवियों, नाटक मण्डलियों, शिकार के साधनों तथा अन्य उपकरणों की आवश्यकता पड़ती थी, किन्तु आधुनिक काल में कतिपय यन्त्रों द्वारा ही बराबर मनोविनोद होता रहता है। अतः समय की माँग के अनुसार ये साधन उपयोगी हैं।

११३. रिक्शावाला

१—भूमिका, २—रहन-सहन और पहनावा, ३—छोटा परन्तु महत्वपूर्ण कार्य, ४—बिना तेल और धुएँ के चलने वाला यन्त्र, ५—समाजवाद का पोषक, आदर्शमय जीवन, ६—गन्दी आदतें और उनका उत्तरदायित्व, ७—उपसंहार ।

भूमिका—ईश्वर की महिमा अपरम्पार है । उसने एक ओर हाथी बनाया है और दूसरी ओर गधा । एक ओर महिमा-मण्डित राजप्रसाद बनाये हैं तो दूसरी ओर गरीबों की झोपड़ियाँ । एक ओर दूध की नदियाँ बहती हैं तो दूसरी ओर भूखे बच्चे पेट पर हाथ धरे चिल्लाते हैं । एक ओर मोटर दन से निकल जाती है तो दूसरी ओर रिक्शा धीरे-धीरे घिसटता हुआ चला जाता है परन्तु ईश्वर की बनाई हुई सभी चीजों का अपना अलग महत्व है । हाथी का महत्व है परन्तु गधे का कम नहीं । राजप्रासाद अपने वैभव के लिये भले ही आकर्षण के केन्द्र हों, झोपड़ियाँ भी संस्कृति की नियामक हैं । जहाँ दूध की नदियाँ बहती हैं वे क्षेत्र भले ही आनन्द के भण्डार हों परन्तु जहाँ भूखे बच्चे चिल्लाते हैं उन क्षेत्रों का भी अपना अलग महत्व है । मोटर की तेज रफ्तार के सामने रिक्शा भी कम महत्व की वस्तु नहीं है और रिक्शा का चलाने वाला कहलाता है—'रिक्शावाला' जिसको आप 'ऐ रिक्शा' या 'ऐ रिक्शावाले' कहकर पुकारते हैं ।

रहन-सहन और पहनावा—रिक्शावाला भी अजीब ही व्यक्ति है । जाड़ा हो, गरमी हो या बरसात हो हर समय वह आपकी सेवा करने को तैयार रहता है । उसका पहनावा भी अजीब है और रहन-सहन भी अजीब है । फटी बनियाइन और फटी जाँघिया, सिर पर टोपी, पैर में टूटी चप्पल और आँखों में टूटा चश्मा चढ़ाये जिस समय वह रिक्शा चलाता है उस समय उसे देखकर आप चाहे कुछ कहें परन्तु वह अपनी धुन में मगन होता है । उसका एक काम है—आपकी सेवा करना और आपसे जो कुछ मिल जाय उससे अपना और अपने बच्चों का भरण-पोषण करना । किसी नाले के किनारे एक छोटी सी झोंपड़ी में उसका सारा परिवार रहता है । बच्चे मैले-कुचैले कपड़ों को पहने हुए जोर-जोर से किसी फिल्मी गीत को गुनगुनाते हुये ऐसे आनन्दित होते हैं जैसा आनन्द महात्मा बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्ति के बाद भी नहीं हुआ होगा । रिक्शावाला थका-मांदा आकर अपनी झोपड़ी में ऐसा सो जाता है कि मानो राजमहल की प्राप्ति उसे तुरन्त हुई हो ।

छोटा परन्तु महत्वपूर्ण कार्य—आप रिक्शेवाले के कार्य को भले ही हेय दृष्टि से देखें परन्तु उसका कार्य छोटा होने पर भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं । अभी आपके इकलौते बेटे के पेट में दर्द और आप किसी चिकित्सक के यहाँ जाने को बेचैन हैं, ऊबड़-खाबड़ रास्ते से और भीड़ को पार कर रिक्शावाला ही आपको वहाँ ले जाता है और आपकी चिन्ता को दूर करता है । रात का भीषण अन्धकार है, हाथ को हाथ नहीं सुझाई देता, बेचारी एक बुढ़िया गाड़ी से उतरी है और उसे लकड़ी के सहारे ३ मील का रास्ता नापना है । परन्तु उसके लिये चिन्ता की कोई बात नहीं है, रिक्शावाला उसकी सहायता करने को तैयार है । वह सकुशल उसको उसके गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देगा । किस लिए ? धातु के चन्द टुकड़ों के लिए । क्या रिक्शेवाले का यह कार्य किसी मन्दिर में बैठे हुए उपदेश देने वाले पुजारी से कम है ।

जिस मार्ग पर गगनचारी वायुयान, जलचारी जलयान और स्थलचारी रेलगाड़ी और मोटर का प्रवेश अकल्पनीय है वहाँ रिक्शावाला मस्ती से झूमता हुआ अपना रिक्शा ले जाता है। रिक्शेवाले के रिक्शे के तीन पहिये मानों जल, स्थल एवं नभ के विजयचक्र हैं और जब आप यह समझ जायेंगे तभी आप उसके महत्व को समझ सकेंगे। आँधी हो, पानी हो, कड़ी धूप हो, रात्रि का घना अन्धकार हो, सड़क पक्की हो या कच्ची, प्रकाश हो या न हो, रिक्शावाला सभी स्थानों पर जाने को तैयार है। उसे चन्द पैसे चाहिए और इन पैसों के लिए वह आपकी हर प्रकार की सेवा करने को तैयार है। आपके पास सामान है और सामान ढोकर आप नहीं चल सकते, रिक्शेवाले को बुलाइये वह आपकी सेवा के लिए आतुर है। उसका एक ही धर्म है और एक ही कर्म—आपकी सेवा करना और आपसे थोड़ा-सा पैसा पाकर अपना जीवनयापन करना।

बिना तेल और धुएँ के चलने वाले यंत्र—रिक्शेवाले का रिक्का भी क्या अजीब है ? संसार में विभिन्न प्रकार की गाड़ियाँ हैं परन्तु उन्हें चलाने के लिए पेट्रोल की आवश्यकता होती है, तेल की आवश्यकता होती है और उनमें धुँआ निकलता है। रिक्शेवाले पर एक ऐसा यन्त्र है जिसमें न पेट्रोल की आवश्यकता होती है और न धुँआ निकलता है। उसका लहू ही उसका तेल है और उसका पसीना ही उसका धुँआ। अपने शरीर को थकाता हुआ वह आपको आपके गन्तव्य स्थान तक ले जायगा, भले ही उसको कितनी ही कठिनाइयों का सामना क्यों न करना पड़े। वह गरीब अवश्य है परन्तु उसकी गरीबी में जनसेवा की अपार भावना छिपी हुई है। उसका काम छोटा अवश्य है परन्तु उस छोटे काम करने में ही वह आनन्द का अनुभव करता है। मन्दिरों में बैठे हुए गीता का पाठ करने वाले भक्तजनों को भी उस आनन्द की प्राप्ति नहीं हो पाती जो रिक्शेवाले को गुनगुनाते हुए अपना रिक्शा चला कर यह सोचने में होती है कि गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर ४० पैसे मिलेंगे। वह निष्ठा से अपने कार्य को पूरा करता है। उसे यह सोचने का अवकाश ही नहीं कि उसका कितना अधिक लहू रिक्शा को खींचने में सूख जाता है। उसका कार्य क्या किसी योगी के योगध्यान से कम है।

समाजवाद का पोषक—आधुनिक युग समाजवाद का युग है और सभी लोग समाजवाद की दुहाई देते रहते हैं। रिक्शावाला समाजवाद का सबसे बड़ा पोषक है। वह समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो अत्यन्त गरीब होते हुए भी हृदय से अत्यन्त विशाल है और सदैव दूसरों की सेवा में ही रत रहता है। मोटरों पर सवारी करने वाले चन्द इने-गिने रईस ही होंगे परन्तु रिक्शे पर बड़े से बड़ा धन्नासेठ और छोटे से छोटा किसान भी समभाव से बैठता है। कभी तो वह अपने रिक्शे पर एक बड़े रईस और एक छोटे से दुकानदार को साथ बैठाकर दुनियावालों को यह दिखाता है कि यदि कहीं समाजवाद देखना है तो मेरे रिक्शे पर देखो। "राजनीतिज्ञों और विद्वानों ! तुम समाजवाद का नारा ही बुलन्द करते रह जावोगे परन्तु मैं समाजवाद का सच्चा पोषक हूँ सबको समभाव से देखता हूँ और सबकी सेवा के लिए समान रूप से तत्पर रहता हूँ।"

आदर्शमय जीवन—रिक्शेवाला न लक्ष्मी का लाड़ला है और न सरस्वती का

कृपापात्र। वह यह जानता है सभी तरह की आग से दाहक-भयावह होती है पापी पेट की आग। इसीलिए तो उस आग को बुझाने के लिए वह जी तोड़ प्रयास करता है। उसका एक सबसे बड़ा आदर्श अपने पेट की आग को बुझाना है। उसकी इस-नस में बिजली की फुर्ती है। मांसपेशियाँ इतनी फौलादी हैं कि यदि वह एक बार जोर लगा दे तो पत्थर भी पानी बन जाय। उसने अपने पूर्वजों से सुना था कि एक कंगाल मोची के बेटे नैपोलियन ने संसार पर विजय प्राप्त करने का स्वप्न देखा और हब्शी की सन्तान वाशिंगटन ने अमेरिका का उद्धार किया। रिक्शेवाला भी उन्हीं स्वप्नों में खोया हुआ अपने कार्य को करता रहता है। उसका जीवन आदर्शमय है। भले ही आप उसके कार्य को छोटा समझें परन्तु वह महात्मा गाँधी के इस आदर्श को मानने-वाला है कि "संसार का कोई भी कार्य छोटा नहीं है, केवल उसे करने के लिए दृढ़ आस्था चाहिए। भंगी का कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना एक उच्चकोटि के कूटनीतिज्ञ का।" श्रम ही रिक्शेवाले का भगवान है और अपने कार्यों के प्रति निष्ठा ही उसकी आराधना है। मेहनत से वह घबराता नहीं, शर्म उसे है नहीं और हीनता का उसे बोध नहीं होता। बतलाइये कि उसका जीवन किसी आदर्शवादी से कम है?

गन्दी आदतें और उनका उत्तरदायित्व—यह तो रिक्शेवाले के जीवन का उज्ज्वल पक्ष हुआ। अब उसके जीवन के घृणित पक्ष पर आइये। वह अत्यन्त गन्दा रहता है, फटे कपड़ा पहनते हैं, शराब पीता है, जुआ खेलता है और सिनेमा देखता है। जीवन उसके लिए एक अजीब सी चीज है। उसका जीवन भी उसके रिक्शे की तरह है जो दूसरों के बोझ को उठाए हुए चला जाता है परन्तु अपना रेशा-रेशा धीरे-धीरे करके घिसता जाता है। साथ ही कभी उसमें तेल भी नहीं देता बल्कि मिट्टी ही उसके लिए तेल का कार्य करती है। रिक्शेवाला अपने स्वास्थ्य की परवाह नहीं करता, निरन्तर मेहनत करने के पश्चात् उसे जो पैसा मिलता है, उसे वह बुराइयों में व्यय कर देता है। गाढ़े पैसे की कमाई को वह सिनेमागृहों और वेश्यालयों में ऐसे खर्च कर देता है जैसे उसके लिए उसे कोई प्रयत्न ही न करना पड़ा हो। उसका फक्कड़ जीवन उसके लिए और उसके घरवालों की बरबादी का कारण है। ठीक है कि रिक्शेवाला इस प्रकार का जीवन व्यतीत करता है परन्तु इन गन्दी आदतों का उत्तरदायित्व कौन है? हम और आप जो दूसरों को मेहनत पर मौज उड़ाते हैं। समाज के वे ठेकेदार जो दूसरों को नसीहत देते हैं और स्वयं इस बात की चिन्ता नहीं करते कि उनकी शरीर रूपी लाश को कोई दूसरा ढोये चला आ रहा है। समाज के इन ठेकेदारों ने कभी भी दलित वर्ग के उत्थान का कोई भी प्रयास नहीं किया। रिक्शेवाला कब से रिक्शा चलता चला आ रहा है, पता नहीं। पहले वह नंगे पैर सड़क पर दौड़ता हुआ रिक्शा खींचता था और आज साइकिल रिक्शा चलाता है। अन्तर कोई नहीं। बस यह है कि उसकी मेहनत थोड़ी कम हो गई। परन्तु उसके जीवन को सुधारने के लिये कब, किस युग में और क्या किया गया है? सभी ने उसकी सेवा से लाभ उठाया परन्तु उसकी दीनता पर आँसू गिराने वाले इस संसार में दो चार ही होंगे। रिक्शे-वाला यदि गन्दी आदतों का शिकार है तो उसका उत्तरदायित्व उसका नहीं बल्कि समस्त समाज का है जिसने इस प्रकार की व्यवस्था को अपना रखा है कि एक लादता और दूसरा लादता है, एक मरता है और दूसरा मारता है।

उपसंहार—संसार में पता नहीं कितने रिक्शेवाले आये होंगे और चले गये

होंगे। कितने चल रहे हैं और चले जायेंगे। उनके पीछे आँसू बहाने वाला कोई भी नहीं। जो तपस्यामय जीवन वह व्यतीत करते हैं उसका गुणगान किसी भी देश के धार्मिक ग्रन्थों में नहीं हुआ। मन्दिरों के पूजा करने वाले पुजारी सदैव से ही पूजे जा रहे हैं। रिक्शेवालों का यह मेहनतकश वर्ग कब पूजा जाएगा, यह देखना है। मन्दिरों में घण्टे बजाकर तो सभी ईश्वर को देखने का प्रयास करते हैं परन्तु नर के रूप में नारायण की सेवा करने वाले ये आदर्श के पुतले कब तक यह दीन-हीन जीवन व्यतीत करते रहेंगे और कब तक मानव सभ्यता के लिये कलंक का विषय बने रहेंगे, इसका उत्तर न आप दे सकेंगे और न हम।

११४. एक भीषण बाढ़ का (काल्पनिक) दृश्य

१—भूमिका, २—बाढ़ का स्वरूप, ३—बाढ़ में ग्रामीण जनता में कष्ट, ४—भीषण बाढ़ से हानियाँ, ५—प्रभाव, ६—उपसंहार।

भूमिका—प्रकृति सदा से अजेय रही है। मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में निरन्तर प्रयत्नशील रहा है। यह बराबर इसी प्रयत्न में रहता है कि प्रकृति को अपने वश में कर ले। आज का मानव जल के ऊपर ही नहीं बल्कि अन्दर भी चल लेता है। अपने वायुयानों में बैठकर वह हवा में पक्षियों के समान उड़ लेता है। विद्युत शक्ति के सहारे भीषण गर्मी में भी शीतल मन्द समीर का आनन्द ले लेता है। भयंकर शीतकाल में भी वह मधुर गर्म वातावरण बना लेता है। आँधी, तूफान और वर्षा से अपनी रक्षा कर लेता है। आज मनुष्य के राकेट पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे हैं, वह चन्द्रलोक में प्रवेश कर चुका है फिर भी वह प्रकृति पर पूर्ण अधिकार नहीं कर पाया है।

बाढ़ और उसका स्वरूप—वर्षा ऋतु में पहाड़ों पर अधिक वर्षा होती है और ढालू चट्टानों से पानी की भीषण धाराएँ नदियों में मिलती हैं, फलतः कभी-कभी उस वर्षा के फलस्वरूप नदियों में अपार बाढ़ आती है। बाढ़ का दृश्य शहरों के पास कुछ भिन्न प्रकार का होता है तथा देहातों में इसका दूसरा ही रूप होता है।

बाढ़ का पानी जब बड़े वेग से चलता है और आगे जब स्थानीय वर्षा के पानी से भरे नाले और नदियाँ मिलते हैं, तो परिणामतः नदियों में पानी अधिक बढ़ जाता है और कछार की भूमि जलमग्न हो जाती है उस समय हाहाकार मच जाता है और चारों ओर बाढ़ के समाचार फैल जाते हैं। कविवर बिहारी के निम्न दोहे—

इक भीगे चहले पड़े बूड़े बहे हजार।
किते न अवगुण जग करै नब वय चढ़ती बार।

से बाढ़ का सार्थक रूप उपस्थित हो जाता है। जल की उस समय इतनी अधिकता हो जाती है कि चारों ओर पानी ही पानी दृष्टिगत होता है। नदी की बाढ़ कगारों को ढाहती हुई, पार्श्व प्रदेश की भूमि को प्लावित करती हुई, फसलों को नष्ट-भ्रष्ट करती हुई, किनारे के अनेक वृक्षों को गिराती हुई तथा अपनी धारा में बहाती हुई चली जाती है। बड़ी-बड़ी नदियों को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि मानो समुद्र ही चारों ओर, इन नदियों के मार्ग से पृथ्वी को आत्मसात् करने आ रहा है। उस समय नदी के किनारे गाँवों और शहरों में हाहाकार मच जाता है। सरकारी यन्त्र

शहरों को बचाने में दत्तचित हो जाता है और प्राणपण से रक्षा का उपाय करता है। नावों और स्टीमरों का प्रयोग किया जाता है। बाँधों की मरम्मत और देख-रेख सावधानी से की जाने लगती है। बाढ़ की भीषणता में नदियों के घाटों पर नावें कुछ समय के लिए बन्द कर दी जाती हैं। पानी का वेग इतना बढ़ जाता है कि वह किनारे के नगरों में प्रवेश करने को आतुर दीखता है। यद्यपि रोकने का प्राय: सफल प्रयत्न कर दिया जाता है, फिर भी प्रकृति की दुर्दमनीयता का अनुभव तो सभी को हो ही जाता है। कितने बाँध बह जाते हैं। कितनी जगहों पर सड़कें कट जाती हैं? कितने पुलों को क्षति पहुँचती है? ऐसे अवसर पर बड़ों बड़ों के हाथ पैर फूल जाते हैं। किसी की कुछ समझ में नहीं आता कि क्या किया जाय।

बाढ़ के परिणाम—खेतों में खड़ी फसलों को किसान जैसे भी बनता है काटने लगता है। यदि बाढ़ के समय तक कुछ भी अन्न मिलने की सम्भावना रहती है तो उसे बचाने का प्रयास किया जाता है। किन्तु यदि उस समय तक कुछ भी तैयार नहीं रहता तो भी हरी घास के रूप में ही अपनी फसल काटकर पशुओं को खिलाने लगता है, क्योंकि एकाएक बँधा हुआ पानी आता है जिससे जान बचाना भी कठिन हो जाता है। कछार के भी गाँव यद्यपि सामान्य सतह से काफी ऊँचे स्थान पर बसे होते हैं फिर भी ऐसी बाढ़ में अनेकों मकान गिर जाते हैं। सैकड़ों पशु और मनुष्य बाढ़ आने के कारण बह जाते हैं। कितने डूबकर मर जाते हैं, कितने विपन्नावस्था में निकाले जाते हैं। कितने प्राणी गाँवों को ऊंची भूमि पर पड़े हुए चारों ओर से अथाह जल से घिर जाते हैं। उस समय उनका सम्बन्ध शेष विश्व से कट जाता है। कैसा विचित्र दृश्य होता है वह कि सहायता पहुँचाने वालों को भी दो-दो, तीन-तीन दिन लग जाते हैं। खाने की कोई व्यवस्था नही रहती, पानी भी पीने योग्य नहीं मिलता, धन का सर्वनाश हो जाता है, जन समुदाय हर प्रकार से विपन्न रहता है। घर से निकल कर भागने तथा पशुओं को बचाने का कोई भी मार्ग नहीं दिखाई पड़ता। छोटी-बड़ी नावों के सहारे जो लोग और पशु बाहर लाये जाते हैं उन्हें ठिकाना नहीं मिलता, बेचारे सड़कों के किनारे किसी प्रकार से सूखी भूमि मात्र पाते हैं। भोजन के अभाव में मनुष्य और पशुओं की विचित्र दशा रहती है। पशुओं को यत्किंचित चराई की घास से सन्तोष करना पड़ता है तथा मनुष्य को सड़ा-गला जो भी अन्न मिलता है उसी पर जीवन-निर्वाह करना पड़ता है। धारा में जीवित और मृतक अनेक पशु और आदमी बहते दिखाई पड़ते है। इतना ही नहीं बड़े-बड़े विशाल वृक्ष भी उसी में बहते लुढ़कते आते हैं। प्राणियों के प्राण बड़े कष्ट से निकलते हैं। इतना कष्ट सहने तथा दो-दो, तीन-तीन दिन तक लगातार पानी में बहते रहने पर भी कितने ही प्राणी मूर्छित अवस्था में बाहर निकाले जाते हैं और यह पापी प्राण फिर भी नहीं निकलता और आगामी दु:ख यातना भोगने के लिए बच जाता है। आजकल बाढ़ में घिरे प्राणियों की रक्षा सैनिक शक्ति तथा वायुयान द्वारा भी की जाती है। पर विनाश की भयंकर बेला में भगवान के सिवाय दूसरा कोई भी सहारा नहीं रहता। उसी समय यह ज्ञात होता है कि प्रकृति कितनी अजेय है और मनुष्य कितना विवश और लाचार प्राणी है। ईश्वर जिसकी रक्षा करना चाहता है वह बच ही जाता है। भगवान की शक्ति का अनुभव उसी समय होता है। ऐसे अवसर पर बड़े से बड़ा नास्तिक भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने लगता है।

उस दृश्य में कभी-कभी पर्वतीय तथा जंगली प्रदेशों से बहकर भयकर विषधर तथा अन्य प्रकार के जीव-जन्तु वह आते हैं। कभी-कभी वे कितने प्राणियों के घातक बन जाते हैं तथा कभी-कभी स्वयं अपने प्राण गँवा देते हैं। सैकड़ों सर्प, बिच्छू आदि पानी से घिरे वृक्षों पर पड़े रहते हैं तथा इतने भयंकर बने रहते हैं कि नाव लेकर आते-जाते मल्लाहों को बहुत बचकर आना-जाना होता है। इस प्रकार बाढ़ की विभीषिका देखते ही बनती है। यदि कहीं एक ओर से पानी को गाँवों में पैठने का अवसर मिल जाता है तो कुछ क्षणों में ही सारा वातावरण बदल जाता है। मनुष्य अपने कठिन परिश्रम से प्राप्त सम्पत्ति का मोह छोड़कर प्राण-रक्षा के लिए आतुर हो जाता है। अपनी शक्ति भर बचाव का प्रबन्ध करता है पर प्राय: असमर्थ हो ईश्वर के भरोसे अपने कर्त्तव्य का पालन करता है।

उपसंहार—बाढ़ एक प्राकृतिक अभिशाप है। इसका प्रभाव बड़ा भयंकर होता है। फिर भी मनुष्य को अपनी जन्मभूमि से इतना मोह होता है कि वह ज्योंही अवसर पाता है त्योंही अपने स्थान की सुधि करता है। कितनी भी भयंकर बाढ़ क्यों न हो लेकिन वह १०-१५ दिन में घट जाती है और ऊँची भूमि सूख जाती है। पुन: लोग अपने-अपने घरों की खोज करते हैं और टूटे-फूटे मकानों को और बूड़ी बही खेती को फिर सम्भालने लगते हैं। यह दृश्य होता है बाढ़ का, जिसे दूर करने वाले भी नहीं सह पाते। बाढ़ के इस दृश्य को देखकर कठोर से कठोर व्यक्तियों के हृदय भी पिघल जाते हैं।

११५. जीवन की सबसे मनोरंजक घटना

१—भूमिका, २—जीवन की सबसे मनोरंजक घटना का सामान्य परिचय, ३—सबसे महत्वपूर्ण घटना का विवरण (पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध), ४—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य को महत्वपूर्ण घटनाओं का स्मरण अवश्य हो जाता है। हर व्यक्ति के जीवन में कभी-कभी ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं जो हृदय पर प्रभाव डालती हैं। कभी-कभी उनका रूप इतना मनोरंजक होता है कि वे कभी नहीं भूल सकतीं। ऐसी घटनाओं की एक अमिट रेखा मस्तिष्क में बन जाती है। जब कभी मनुष्य उन्हें याद करता है तभी वह हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता है। मेरे जीवन में वैसे तो अनेक ऐसी घटनाएँ घटी हैं जिन्होंने मुझे प्रभावित किया है परन्तु एक घटना ऐसी है कि जब भी मैं उसे स्मरण करता हूँ, उसी समय मेरे मन में एक अपूर्व गुदगुदी उत्पन्न हो जाती है तथा अवसाद से खिन्न मन भी प्रफुल्लित हो जाता है। वह घटना मेरे विद्यार्थी जीवन की है। उस समय मैं सम्भवत: इण्टरमीडिएट प्रथम वर्ष का विद्यार्थी था। उस स्वर्णिम काल में हम सभी मित्र विश्व की कठोर वास्तविकता से अपरिचित थे। कदाचित् किसी को भी यह अनुमान नहीं था कि भविष्य कहाँ जा रहा है। हाँ, तो उस घटना का सम्बन्ध हमारे मित्र आनन्द मोहन शर्मा तथा मुझसे ही मुख्य रूप से था। उसे हम 'काश सम्बन्ध स्थायी होता' की संज्ञा दे सकते हैं।

मनोरंजक घटना—मैं अपने मित्र सुरेश प्रसाद मिश्र के साथ एक बारात में जाने वाला था। हम दोनों उस समय क्रमश: इण्टरमीडिएट और हाई स्कूल की

परीक्षाएँ देकर घर पर ही ग्रीष्मावकाश व्यतीत कर रहे थे। हमें गोरखपुर जिले के देहात में सम्मानित एवं सम्पन्न ब्राह्मण जमींदार के घर जाना था। बारात में जाने की तैयारी में कपड़े गोरखपुर से धुलवाकर मँगाए गए थे। एक नौकर और भंडारी बुलाया गया तथा एक आदमी और साथ में चलने को तैयार कर लिया गया। वास्तव में हम लोगों की आर्थिक स्थिति साधारण थी, पर सम्मान अधिक था। सजधज के साथ हमारी टोली प्रातःकाल ४ बजे ही प्रस्थान करने वाली थी। इतने सर्वाङ्गपूर्ण बरातियों का साइकिलों पर जाना अशोभन समझकर हाथी का प्रबन्ध किया गया। महावत ने शाम को आने का वादा किया था पर ११ बजे तक प्रतीक्षा करने पर भी वह नहीं आया। प्रारम्भ में ही रंग में भंग पड़ने की नौबत आती दिखाई दी, अतः हम लोगों का मन उतर गया था। फिर भी अल्हड़ नींद आ ही गई। पूरब की मधुर वायु का हम लोग आनन्द ले ही रहे थे, कि लगभग ३ बजे प्रातः दरवाजे पर हाथी के आने की आहट मिली तथा मेरी चारपाई के बगल में हाथी खड़ा करके परिचित महावत 'कोरई' ने पुकारा, 'बाबू हम आ गए जल्दी तैयार हो जाओ।' हम लोग विचित्र मनोदशा में जाग गये। सारी तैयारी पूरी थी। लगभग ४ बजे प्राणियों की इस टोली ने प्रस्थान किया।

२४ मील की यात्रा से पश्चात् दिन की गर्मी को पीछे ढकेलते हुए ५ बजे सायंकाल हम लोग नियत स्थान पर पहुँच गए। स्नान-जलपान के पश्चात् बारात के प्रथम कार्यक्रम आगवानी की तैयारी प्रारम्भ हो गई। ५ हाथियों और ७ घोड़ों की गति-पटुता की जाँच होने लगी। लम्बे-चौड़े गेहूँ के समतल खेतों में लगभग एक घन्टे तक घुड़दौड़ होती रही। फिर भगदड़ मची और हाथियों की दौड़ प्रारम्भ हुई। लगभग दो फर्लांग की दौड़ में हमारा हाथी आगे निकल गया। घराती के द्वार पर वही पहले पहुँचा। परिणामतः हम लोग उस समय इतने प्रसिद्ध हो गए कि मानों हाथी हमारा निजी हो और वह हम लोगों का निजी माना भी गया क्योंकि वहाँ के लोग वास्तविकता नहीं जानते थे। स्त्रियों में कुछ विशेष चर्चा रही। कार्य समाप्त हुआ और हमारे आदमियों ने दूसरे रईस के दरवाजे पर रहने का प्रबन्ध कर लिया। उस ग्वाले और पांडे ने वहाँ खूब रंग जमाया और अच्छी भूमिका बनाकर वही बैठक को दखल कर लिया। वहाँ जान पर एक पन्द्रह वर्षीय सुन्दर बालक ने हम लोगों का बड़े प्रेम से स्वागत किया और हमारे जलपान का प्रबन्ध किया। उस स्वागत को देखकर मैं हैरान था कि कारण क्या है? कहाँ बरातियों को तो लोग आग भी जल्दी नहीं देना चाहते और यहाँ पर सम्मान मिल रहा है। फिर कौतूहल ने जिज्ञासा का बाना पहना और पूछने पर पता चला कि इस घर में वह लड़का, उसकी माँ तथा उसका अविवाहित चचेरी बहन, तीन ही प्राणी थे। जमींदारी अच्छी थी और १४ बैलों की सीर भी। शाम के समय स्थिर होने पर हमजोलियों में हम लोगों के सौभाग्य की चर्चा भी चलने लगी क्योंकि वह लड़का (कृष्ण मोहन) हमारे साथ ही बारात में भी गया और सदैव हमारे साथ रहा। देहात की बारात थी, अतः दोनों ओर से हास-परिहास होता रहा। हम विश्राम करने के लिए जब आये तो मैंने उस लड़के से मजाक कर दिया कि 'काश हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध स्थायी हो जाता।' इस वाक्य को उसकी माता ने सुन लिया। उसने हम लोगों का पूर्ण परिचय जानकर ही अपने दरवाजे पर टिकाया था, यह बाद में ज्ञात हुआ। कृष्ण जब घर

में गया तो उसकी माता ने उसे कुछ सिखा दिया । लड़का पान के आठ बीड़े लेकर आया, जिनसे सरस सुगन्ध बिखर रही थी । मुझे पान देते हुए उसने कहा, मिश्रजी ! यह सम्बन्ध स्थायी करने का बीड़ा है । जिसने इस बीड़े को लगाया है उसी की आत्मा इसके माध्यम से मध्यस्थ है ।' उस समय हमने हास्य का आनन्द लेते हुए उसके स्पन्दित हाथों से उस पान को लेकर मुँह में रख लिया । इस घटना को देखने वाले फाटक की आड़ में देखते रहे । विजया का सामान पूर्ण रूप से तैयार हुआ और उसे छानकर रात का आनन्द लेते हुए हम लोग निद्रा देवी की गोद में चले गये । इस प्रकार स्वर्गीय आनन्द में विभावरी गई, दिन आया और वह भी अपनी व्यस्त-लीला समाप्त करके चला गया । बाहर भोजन बनाने वाले अपनी चूल्हा लकड़ी के धन्धे में जुटे, पर हम लोगों के भोजन का प्रबन्ध कृष्ण बाबू के घर में हुआ था ।

समयानुसार हम दोनों मित्रों को सजे हुए चौके में भोजन के लिए बैठाया गया । वहाँ भीतर एक सौन्दर्य प्रतिमा भोजन तैयार करके परोस रही थी । लड़का थाल सामने रख रहा था । फिर हम तीनों भोजन करने बैठ गये तथा माताजी ने बात करना प्रारम्भ कर दिया, "बाबू आपने स्थायी सम्बन्ध की इच्छा की थी । जिसे आप से सम्बन्ध करना था उसने पान का बीड़ा दिया और उसी के संग में अपना हृदय भी । आपने उसे सहर्ष स्वीकार भी कर लिया । अब तो लौकिक उपचार शेष है ।" मेरे मित्र ने कहा, "माता जी स्पष्ट बात कहें, हमारे मित्र जी की बुद्धि में बातें तनिक देरी से आती हैं । वैसे तो ये क्वीन्स कालेज में श्रेष्ठ विद्यार्थी माने ही जाते हैं ।" उन्होंने उत्तर दिया, बात यह है आपकी शादी कहीं न कहीं होगी ही । मेरी भी लड़की जो आप लोगों को भोजन बनाकर परोस रही थी, कहीं जायेगी ही । पर मेरी राय में ये योग स्वर्ण और सुगन्धि का योग होगा । अब ऐसा अवसर न आपको मिलेगा न हमें । मैं अबला हूं, लड़का अबोध बालक है तथा आपका मुरीद भी हो चुका है । अब यह सम्बन्ध········'

घटना का प्रवाह—मेरी आँखों के सामने दुनियाँ चक्कर खाने लगी । इस सम्बन्ध में और भी आवश्यक बातें उन्होंने की । मैंने छोटा-सा यही उत्तर दिया कि "मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ ।" भीतर एक निश्वास आई जिसने पुरुषत्व को ललकारा । उन लोगों ने यह सुन रखा था कि लड़का स्वयं विवाह से इन्कार कर रहा है । भोजन क्रम समाप्त हुआ, सब लोग नृत्य गान का रस लेने चले गये । मित्र महोदय भी मेरी हँसी उड़ाकर चले गये । पर हम चार प्राणी वहीं रह गये । हम लोगों ने काफी बात-चीत की, पर मामला अनिश्चित ही रहा । मैंने कह दिया कि प्रातः चार बजे ही मैं जाने वाला हूँ अतः कदाचित् मैं मिल न सकूँगा । पर मैंने उन लोगों की भरसक सहायता का वायदा किया ।

उपसंहार—एक वर्ष का समय बीत गया । मेरे पिताजी ने विवाह पक्का कर लिया क्योंकि वे अपनी बीमारी से चिन्तित थे । वही लड़का और उसके मामा बरसात की रात में अपरिचित यात्री के रूप में आकर मेरे अशिक्षित किन्तु रईस पिताजी से परिचय कर गये थे । मुझे तिलक के दिन बुलाया । घर आने पर विवाह का समाचार ज्ञात हो गया पर दुःख था कि मैंने उन लोगों की सहायता वायदा करके भी नहीं कर रहा था पर मेरी सहमति के बिना विवाह ठीक हो गया था । कुछ भी

कहने में पिताजी के दुःखी होने का भय था अतः मौन रहा। यहाँ विभिन्न प्रकार की चर्चा चल रही थी। किन्तु तिलक का दिन आने के समय गोरे कृष्ण को देखकर आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इस साक्षात्कार के अवसर पर चरणों की ओर झुकते कृष्णकुमार को गले लगाकर मैंने कहा—'आज सम्बन्ध स्थायी हो गया।' उसने उत्तर केवल हाँ में कहकर हामी भरी। यही जीवन की सबसे मनोरंजक घटना है।

११६. किसी तीर्थस्थान का आँखों देखा वर्णन

१—भूमिका, २—तीर्थस्थान पुष्कर का मेला, ३—समय और स्थान, ४—पुष्कर मेले का वर्णन (पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध), ५—उपसंहार।

भूमिका—भारत चिरकाल से धर्म-प्रधान देश रहा है। यहाँ के वायुमण्डल में ही कुछ तत्व हैं कि यहाँ के पुष्पों में सुगन्ध होती है, फलों में मधुर रस होता है और मनुष्यों में प्रायः आध्यात्मिकता पाई जाती है। भारत भूमि के दार्शनिक विचारों का पूर्ण विकास हुआ। जीवन के सूक्ष्म दर्शन का यहाँ निरूपण किया गया है। भारत के ऋषियों ने यह अनुभव किया था कि कालान्तर में जनता में ज्ञान की न्यूनता हो जायेगी, या उन लोगों ने देखा कि साधारण जनता धर्म पर विश्वास करती है। वह प्रत्येक बात को तर्क के आधार पर नहीं देखती। अतः उन तत्वज्ञ ऋषियों ने जीवन की विभिन्न आवश्यक बातों को धार्मिक रूप दे दिया। तीर्थों का महत्व भी कुछ इसी प्रकार के महत्वपूर्ण उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर माना गया था। प्रत्येक तीर्थ-स्थान का अपना इतिहास है जिसके आधार पर उसका महत्व निर्धारित है। पुराणों में इन तीर्थों के विषय में महत्वपूर्ण वर्णन किया गया है। पौराणिक कथाओ पर अविश्वास करने वाले की बात तो नहीं की जा सकती, फिर भी साधारण जनता उन पर पूर्ण विश्वास करता है और उसी के अनुसार तीर्थों की यात्राएँ किया करता है।

तीर्थयात्रा—भारत के मुख्य तीर्थों में पुष्कर क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। इस तीर्थ का दृश्य मेले के अवसर पर बहुत ही आकर्षक हो जाता है। हर कार्तिक शुक्ल एकादशी से पूर्णिमा तक इस तीर्थ का मेला चलता है। इसकी स्थिति अजमेर शहर से पश्चिम में ७ मील दूर है। अजमेर से पुष्कर जाने वाली सड़क बीच में स्थित नाग पहाड़ को पार करती हुई जाती है। इस तीर्थस्थान को चारों ओर से पर्वत ने घेर रक्खा है और पर्वतों के आस-पास टीले और भूरे रेत की ऊँची-नीची भूमि है। इस स्थान से चारों तरफ सड़कें गई हुई हैं। इन सड़कों पर आजकल मोटर-बसें चला करती हैं। इस प्रकार से इन मोटरों द्वारा हजारों यात्री नित्यप्रति आते रहते हैं। कस्बा सामान्य है, न बहुत बड़ा है न छोटा—लगभग २०-२५ हजार वहाँ की जन-संख्या है। अधिकांश लोग ब्राह्मण हैं जो अधिकतर वहाँ के पण्डे हैं तथा कुछ लोग व्यवसाय करते हैं बहुत थोड़े व्यक्ति ऐसे हैं जो विभिन्न स्थानों में नौकरी करते हैं। इस छोटे से कस्बे में छोटे-बड़े कुल ५०० मन्दिर हैं, जिनमें ब्रह्मा जी का मन्दिर, रंगनाथ जी का मन्दिर, श्री रमा बैकुण्ठ मन्दिर तथा वाराह भगवान का मन्दिर मुख्य है। इनके सिवाय सावित्री जी तथा शाप-मोचिनी देवी के मन्दिर कस्बे में दो छोरों पर ऊँचे पहाड़ी टीलों पर बने हुए हैं। पूरा कस्बा पुष्कर झील को तीन ओर से घेर कर

बसा हुआ है और एक तरफ खाली जगह है जिधर गन्ना, जौ आदि विभिन्न वस्तुओं की खेती होती है। इसके अतिरिक्त यहाँ गुलाब के फूलों की खेती बहुत अधिक होती है। अनेक बगीचे हैं तथा पुष्कर की पवित्र झील के किनारे पर ही एक मस्जिद बनी हुई है जिसे किसी मुसलमान बादशाह ने बनवाया था। कस्बे में कतिपय मुसलमानों के घर भी हैं। इस प्रकार से विविधतापूर्ण यहाँ की बस्ती है। इस छोटे से नगर में लगभग एक दर्जन बड़ी-बड़ी धर्मशालायें हैं। यहाँ हर बड़े मन्दिर में कुछ यात्रियों के रहने का प्रबन्ध है। एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, राजकीय चिकित्सालय, पुलिस चौकी, पोस्ट आफिस, रेलवे की आउट एजेंसी, तथा दो संस्कृत महाविद्यालय हैं। प्राइमरी तथा मिडिल स्कूल भी है। यह वहाँ की रूपरेखा है :

तीर्थस्थल की महत्ता—ऐसे लोगों का विकास तथा पौराणिक कथानक है कि कार्तिक शुक्ल एकादशी से पूर्णिमा तक प्रायः सभी तीर्थों का निवास पुष्कर क्षेत्र में होता है। इन पाँच दिनों में वहाँ नाना तीर्थों का प्रभाव रहता है, जिसमें पूर्णिमा का महत्व सर्वाधिक है। एकादशी से ही पचासों बसें और पचासों टैक्सियाँ सवारियों को चारों दिशाओं से ढोकर लाने लगती हैं और कार्तिक शुक्ल १४ को पुष्कर में लाखों यात्री आ जाते हैं। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि स्थानों के यात्री विशेष रूप से वहाँ जाते हैं। अन्य स्थानों से भी बहुत यात्री वहाँ आते हैं। अजमेर स्टेशन पर ही पुष्कर के पण्डे यात्रियों को मिल जाते हैं और वे उन्हें पुष्कर ले जाते हैं। विधिवत् स्नान, दर्शन कराते हैं तथा उनके रहने का प्रबन्ध भी कर देते हैं। पुष्कर घाट पर स्नानोपरान्त उनसे दान कराते हैं, तथा यदि किसी पण्डे के यजमान से दूसरा पण्डा पूजा लेता है तो दोनों में अच्छा खासा वाग्युद्ध भी हो जाता है। कभी-कभी उनके झगड़ों का निर्णय उन बैरियों से होता है जो पीढ़ी दर पीढ़ी से चली आ रही हैं। कभी-कभी वे यजमानों को थोड़ा-बहुत तंग करके भी दान कराते हैं। उनमें से अधिकांश विजया छानते हैं। उनका कार्य यजमानों के पीछे घूमकर अपनी जीविका चलाना तथा मन्दिरों के उत्सवों में सहयोग देना होता है। देहात की स्त्रियाँ घाघरा पहने और लाल-पीली ओढ़नी ओढ़े झुण्ड की झुण्ड गाती हुई आती-जाती दिखाई पड़ती हैं। राजस्थान के देहात के ग्रामीण अपनी विभिन्न वेश-भूषा में लाल-सफेद फेंटे को सिर पर लपेटे इधर-उधर घूमते दिखाई पड़ते हैं। इस मेले के ९० प्रतिशत यात्री राजस्थान की वेश-भूषा में देखे जाते हैं। सब में धार्मिक भावना, पर्याप्त गन्दगी, काफी सीधापन तथा पूर्ण प्राचीनता दिखाई पड़ती है। कुछ नई सभ्यता के राजस्थानी भी धोती कमीज पर साफा बाँधे दीख पड़ते हैं। मन्दिरों में इन दिनों बहुत अधिक चहल-पहल हो जाती है। सभी कर्मचारी अपने काम में व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। मेले के अवसर पर मुख्य मन्दिरों में विशेष आयोजन किया जाता है। कहीं प्रवचन होता रहता है, कहीं कथाएँ होती रहती हैं, कहीं रसोई और ब्राह्मण भोजन की चहल-पहल रहती है। उन दिनों न जाने कहाँ-कहाँ से सहस्रों भिखमंगे जाकर सड़कों के दोनों किनारों पर डेरा डाल देते हैं उनमें हर प्रकार की कला से करुणा उत्पन्न करके भीख माँगने वाले देखे जाते हैं। लँगड़े, लूले, अन्धे, कोढ़ी, अपाहिज आदि विभिन्न प्रकार के भिखमंगे होते हैं। आजकल चमकते-चमकते कपड़ों में फुदकते सिंधियों और पंजाबियों की संख्या भी कम नहीं होती। लम्बी घूँघट वाली लहरिया ओढ़े मारवाड़िनी का दृश्य विचित्र ही होता है। प्रायः सभी यात्री मन्दिरों में श्रद्धा-

पूर्वक दर्शन करते हैं, प्रसाद लेते हैं और पुण्य लाभ का विश्वास रखते हैं। बड़ी शान्ति से उपदेश और कथावार्ता श्रवण करते हैं। ब्रह्मा जी के मन्दिर में तथा राम बैकुण्ठ मन्दिर में विशेष भीड़ होती है।

आकर्षक दृश्य—इसके अतिरिक्त लाखों बैल, ऊँट तथा सैकड़ों घोड़े आदि पशुओं का क्रय-विक्रय वहाँ होता है। उस मेले में जाने पर दुनियाँ का एक दूसरा ही दृश्य दिखाई पड़ता है। ऊँटों की परीक्षा अनेक प्रकार से लोग करते रहते हैं। उनकी दौड़ भी देखने योग्य होती है। इन पशुओं से सम्बन्धित अनेक प्रकार के उपकरण वहाँ बिकते है। गन्ने की बिक्री बहुत अधिक होती है। ऊँटों पर लाद-लादकर आस-पास के किसान गन्ना लाते हैं और बेचते हैं। प्रायः सभी यात्री गन्ना खरीदा करते हैं। इस प्रकार यह मेला अपना विशेष महत्व रखता है।

उपसंहार—बस्ती के किनारे साधुओं और संन्यासियों के पक्के आश्रम बने हुए हैं। उनमें भी गृहस्थ और त्यागी-बैरागी सभी तरह के यात्री आकर रुकते हैं। उन आश्रमों में एक अपूर्व शान्ति और आनन्द का वातावरण बना रहता है। उन आश्रमों में पुष्कर का महत्व भी बताया जाता है। वह यह है कि ब्रह्मा जी ने एक कमल छोड़ा जो उसी झील के पास गिरा। उसी के तट पर ब्रह्मा जी का यज्ञ हुआ। पर शंकर जी किसी कारणवश अप्रसन्न हो गये और उनके गणों ने विघ्न डालना आरम्भ किया। ब्रह्माजी के प्रार्थना करने पर भोले बाबा प्रसन्न हो गये, और यज्ञ समाप्त हुआ। तभी से यह सिद्ध पीठ माना जाने लगा। इस प्रकार की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। यह है भारत का तीर्थगुरु पुष्करराज।

●

११७. किसी प्राकृतिक वैभव-सम्पन्न स्थल का वर्णन

१—भूमिका, २—प्राकृतिक वैभव-सम्पन्न स्थान की स्थिति, ३—प्राकृतिक दृश्य का वर्णन, ४—विशेषता, ५—प्रभाव, ६—उपसंहार।

भूमिका—गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है—'जड़-चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार।' इस संसार का निर्माण ईश्वर ने विरोधी तत्वों के द्वारा किया है जहाँ-जहाँ जड़ पदार्थों की प्रचुरता है वहाँ चेतना प्राणी भी हैं। जहाँ गुण है वही दोष भी है। सृष्टि रचना में परमात्मा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य मनुष्य की रचना है। मनुष्य में उसने चेतन और विवेक का समन्वय कर दिया है। इन दोनों गुणों के प्रभाव से मनुष्य सदा सौन्दर्य की ओर आकर्षित होता रहता है। सौन्दर्य का महत्व भी सौन्दर्य-प्रेमियों से ही बढ़ाया जाता है। सौन्दर्य में एक ऐसी शक्ति होती है जो मन को हठात् अपनी ओर खींच लेता है। प्रकृति में यह शक्ति अधिक होती है। यह आकर्षण भी इतना सबल होता है कि मन की वृत्तियों को शेष विश्व से हटाकर अपने में रमा लेती है। इस जड़ प्रकृति के भी दो रूप होते हैं—एक रमणीय और आनन्ददायक वस्तुओं की ओर झुकता है और कष्टदायक वस्तुओं से दूर रहना चाहता है। यही कारण है कि प्राकृतिक वैभव-सम्पन्न स्थान हमारे मन को अपने में रमा लेते हैं और उनके स्मरण में भी हमें सुख का अनुभव होता है।

इस स्थान की स्थिति—राजस्थान में वैद्यनाथ का स्थान ऐसा ही मनोहर दृश्य है जहाँ मन रमे बिना नहीं रहता। अजमेर से लगभग दस मील पश्चिम में

पहाड़ियों से घिरा यह स्थान है। इस स्थान के चारों ओर ऊँची-ऊँची पर्वत श्रेणियाँ हैं, जिन पर पतली ऊबड़-खाबड़ और घुमावदार पगडंडियों से होकर चढ़ना पड़ता है। चारों ओर काँटेदार झाँड़ियाँ हैं और उन पर दिन में बकरियाँ तथा अन्य पशुओं को चरवाहे चराया करते हैं। नीचे बीच की ओर वह स्थान है। दो ऊँचे पहाड़ियों के बीच में छोटे-छोटे कुण्ड हैं जिनमें निरन्तर समीप के ऊँचे और दुर्गम शिखर से पानी का साधारण झरना गिरता रहता है। ग्रीष्म काल में वह स्थान तथा कुण्डों का पानी काफी शीतल रहता है। आस-पास दो-चार छोटे-छोटे पक्के मकान हैं जिनमें कुछ ब्रह्मचारी और साधु रहते हैं। यह स्थान बस्ती से लगभग एक मील दूर पहाड़ी के दूसरी ओर बसा हुआ है, वहाँ पर न तो कोई दुकान है न भीड़-भाड़ से युक्त बाजार। केवल दर्शनार्थी वहाँ भ्रमण के लिए आते हैं और अपने साथ सभी भोजन-सामग्री लाते हैं। वे या तो बना बनाया साथ में लाया हुआ भोजन करते हैं, या उस देश का प्रिय भोजन चूरमा, दाल, बाटी बनाकर भोजन करते हैं। कुण्ड में स्नान करके शंकर जी की पूजा करने तथा एकाग्र मन से प्रकृति की कला देखने में अत्यन्त आनन्द आता है।

विशेषताओं का वर्णन—स्थान और मन्दिर का निर्माण प्रसिद्ध व्यवसायी बाँगड़ा जी ने कराया है। मन्दिर साधारण किन्तु सुन्दर बना है। पार्श्ववर्ती पहाड़ियों पर पत्थरों की चट्टानें सर्वत्र बिखरी हुई हैं। उन पर चढ़ना कठिन है। बकरियाँ और गायें तथा कुछ दूसरे पशु वहाँ बच-बच कर चरते रहते हैं, पर वे दिन में दिखाई नहीं देते और उनसे भय नहीं रहता। हाँ रात्रि में वहाँ उन्हीं का शासन स्थापित हो जाता है। वे अपनी गुफाओं से निकलकर इतस्ततः घूमने लगते हैं, और अपने भोजन का प्रबन्ध भी करते हैं। वीरान चट्टानों पर कटीली झाड़ियों के सिवाय कुछ जामुन तथा अन्य जंगली वृक्ष भी हैं जो छायादार हैं। उन पर विविध प्रकार के रंग-बिरंगे पक्षी बराबर कलरव करते हुए चहचहाते रहते हैं। उन जीवों की उन्मुक्त प्रसन्नता देखकर एक बार उनसे ईर्ष्या हुए बिना नहीं रहती। रंग-बिरंगे पुष्पों के भार से मत वृक्ष-शाखायें, लटकती हुई पुष्पित लताओं से लिपटे हुए तरुवर, कुण्ड के जल का स्पर्श करने के लिए झुकी हुई डालियाँ, मन्द पवन के झोकों से हिलकर पुष्प वर्षा करती सी दिखाई पड़ती हैं। कुण्ड के निर्मल जल में उनका झुका हुआ प्रतिबिम्ब ऐसा जान पड़ता है मानो प्रकृति सुन्दरी दर्पण में अपना शृंगार देख रही हो। नवीन लोहित, झुके हुये किसलय कभी वायु के कारण या बन्दरों के ऊधम के कारण झुक कर जल के अत्यन्त निकट आकर फिर दूर चली जाती हुई डालियाँ, ऐसी जान पड़ती हैं कि मानों कोई मुग्ध दर्पण में अपनी ही सुन्दरता को देखकर उसका चुम्बन करने को अधर बढ़ाती हो, पर अचानक आते हुए किसी भिन्न व्यक्ति को देखकर लज्जावश एकाएक अपना मुँह हटा लेती हो। इस प्रकार के प्रकृति-वैभव को प्रातः साथ उदय और अस्त होती हुई स्वर्णिम रविरश्मियाँ और भी अधिक सुन्दरता प्रदान करती हैं। इस स्थान में साधारण समय से थोड़ी देर में सूर्योदय तथा नियत समय से कुछ पूर्व ही सूर्यास्त हो जाता है, क्योंकि यह स्थान प्रायः तीन दिशाओं से पर्वतों से आवृत है। उदीयमान सूर्य का बिम्ब ज्यो-ज्यों ऊपर उठता जाता है, त्यों-त्यों भीतरी भागों में प्रकाश बढ़ता जाता है और वह दृश्य मन को मुग्ध कर देता है। इसी प्रकार सायंकाल अस्त होते हुए सूर्य अपनी भव्य अरुणिमा से गगन-मण्डल को लोहित करता

हुआ विश्राम को जाता है। उसकी यह गति हृदय में अनेक प्रकार की भावनाओं को जगाती है। सूर्यदेव का इस प्रकार निरोहित होना यह सिद्ध करता है कि विधि की गति बलवान होती है। उत्थान के बाद पतन भी स्वाभाविक और अनिवार्य है।

दृश्य परिवर्तन—रात्रि अपनी काली चादर ओढ़े क्रमशः आने लगती है। पूरे उल्लासमय वातावरण में एक प्रकार का अवसाद छा जाता है। इस सन्ध्या को देखकर संस्कृत का पद्य स्मरण हो जाता है :—

'परिपतति पयोनिधौ पतंगः, उपवन तरु कोटरे बिहंगः।
सरसीरुहाणां उदरेषु मत्तभृंगः, युवति जनेषु शनैः-शनैः अनंगः।

तात्पर्य यह है कि सन्ध्या समय समुद्र में सूर्य भगवान गिर रहे हैं। उपवनों के वृक्षों के कोटरों में पक्षी छिपे जा रहे हैं। पंकज-कोश में भ्रमर बन्द होते जा रहे हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि मानों युवतियों में धीरे-धीरे क्रमशः कामदेव का प्रवेश हो रहा है। यही रूप सन्ध्या काल में वहाँ रहता है। हाँ रात्रि की भीषणता, नीरवता को चीरती हुई हिंसक पशुओं की गर्जन, सर्पों की फुँकार, मच्छरों और झींगरों की झनकार, सब मिलकर वहाँ भयानकता का सृजन करते हैं। कभी-कभी गीदड़ों के शब्द और विभिन्न वस्तुओं की ध्वनियाँ आकर सिहरन पैदा कर देती हैं। इस प्रकार यहाँ प्रकृति के दोनों रूप अपने पूर्ण विकास पर दिखाई पड़ते हैं। प्रकृति की इस क्रीड़ा-स्थली में आनन्द और विषाद की अपूर्व आँख मिचौनी देखी जाती है।

उपसंहार—प्रकृति के इस परिवर्तन से हृदय में यह भावना उत्पन्न होती है कि यह प्रकृति का शाश्वत नियम है कि सुख-दुख दोनों ही स्थायी हैं। इनका चक्रवत परिवर्तन होता रहता है। सुख दुख का क्रम ही दोनों के महत्व को बढ़ाता रहता है। अन्धकार से प्रकाश का महत्व बढ़ जाता है। वहाँ एक तरुण तपस्वी भी मिले, जिन्होंने प्रकृति में ईश-सत्ता का महत्व समझाया। उन्होंने यह भी प्रमाणित किया कि जीव तभी शुद्धता को प्राप्त कर पाता है जब उसे वातावरण अनुकूल मिलता है। उन्होंने यह भी बताया कि ऐसी जगहों का वातावरण चिन्तन, मनन, ध्यान, जप, तप के अनुकूल होता है। प्रातःकाल वहाँ सुनहली किरणों से बाण-वृष्टि करती हुई उषा आती और संध्या को स्वर्ण लुटाकर जाती है।

उस दृश्य में इतनी प्रेरणादायक शक्ति है और यह सिद्ध होता है कि प्रकृति ही मानव-जीवन की सबसे बड़ी पाठशाला है।

●

११८. रेल दुर्घटना का आँखों देखा वर्णन

१—भूमिका, २—रेल यात्रा का क्रम, ३—रेल दुर्घटना का समय, स्थान और कारण, ४—स्थिति का वर्णन, ५—घटनोत्तर कालीन उपचार, ६—प्रभाव, ७—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना विभिन्न स्थानों में जाना पड़ता है। इन यात्राओं को सम्पन्न करने के अनेक साधन हैं। प्राचीन-काल में पशु-कर्षित यानों में लोग चला करते थे तथा कभी पैदल यात्रा करते थे। वर्तमान युग में यात्रा और परिवहन के अनेक वैज्ञानिक साधन बन गये हैं। मोटरें, बसें, जलयान, साइकिलें तथा रेलगाड़ियाँ आदि। रेल-यात्रा स्थल यात्रा का सर्वाधिक

सुन्दर और सुगम साधन है। इसकी सहायता से मनुष्य थोड़े समय में लम्बी यात्रायें आराम से कर लेता हैं। रेलवे द्वारा माल का यातायात भी सरलता से थोड़े समय में हो जाता है। रेल-यात्रा में खतरा भी कम ही माना जाता है। रेलवे बोगी की कोठरियों में बेंचों पर बैठे हुए आराम से बातें करते हुए तथा पुस्तक पढ़ते या ताश खेलते हुए यात्रा करना वास्तव में आनन्ददायक होता है। रेलवे यद्यपि हमारे लिए अत्यधिक लाभदायक है तथापि कभी-कभी भयंकर हानि कर बैठती है। रेलवे दुर्घटना इसी प्रकार की हानियों में एक है। रेलवे दुर्घटना में अत्यन्त कारुणिक दृश्य उत्पन्न हो जाता है।

रेल यात्रा—रेलवे द्वारा यात्रा करने में यात्रियों को स्टेशन पर पहुँचकर गाड़ी जाने के पूर्व ही अपेक्षित किराया देकर टिकट कटा लेना आवश्यक होता है। उसके बाद गाड़ी में बैठकर यात्रा करने का वह वैधानिक अधिकारी हो जाता है। आजकल लोगों का जीवन बहुत अधिक व्यस्त हो गया है। आवागमन का कार्य बहुत अधिक होने लग गया है। सहस्रों बसें, बहुत ही लम्बी-लम्बी रेलगाड़ियाँ तथा अन्य सवारियाँ काम में लाई जा रही हैं, फिर भी रेलों में इतनी भीड़ न जाने कहाँ से रोज हुआ करती है। बड़े-बड़े स्टेशनों पर टिकट घर के सामने एकत्रित अपार भीड़ और धक्का-मुक्का देखकर ऐसा अनुमान होता है कि दुनियाँ के तीन चौथाई आदमी बराबर यात्रा ही किया करते हैं। घण्टों लाइन लगाने के बाद अत्यन्त कठिनाई से भीड़ में से होकर किसी प्रकार से खिड़की के पास तक पहुँचने की नौबत आती है और टिकट मिलता है। टिकट लेकर भीड़ से बाहर निकलते हुए कभी-कभी कुर्ता या कमीज फट जाती है तथा कभी पैरों में उँगलियाँ कुचल जाती हैं। गाड़ी आने पर तो प्लटफार्म पर मानों किसी मेले से भी अधिक भीड़ टूट पड़ती है। गाड़ी आती है और डिब्बे में भीड़ पिल पड़ती है। लेकिन कौन जानता है कि इस अदम्य-उत्साह से सवार होने वाले यात्रियों की यह मण्डली कभी किसी भावी दुर्घटना में ग्रस्त होकर अत्यन्त कारुणिक और निस्सहाय बन जायगी। हाल ही में डुमराव स्टेशन पर एक दुर्घटना हुई थी।

यात्रा का शुभारम्भ—उस दिन लखनऊ स्टेशन पर भीड़ कम न थी। मेल ट्रेन अपनी तूफानी चाल से लाइन पर कंकड़ों को अपनी गति-जनित वायु से उछालती हुई आ धमकी। गाड़ी प्रायः भरी थी, इधर स्टेशन का प्लेटफार्म भी यात्रियों के भार से पिसा जा रहा था। गाड़ी लम्बी थी, लोग इधर-उधर दौड़-भाग कर किसी-न-किसी कोठारी में लड़-झगड़कर बैठने का प्रयास कर रहे थे। कौन जानता था कि इतनी आतुरता से गाड़ी में बैठने वालों में कितने परलोक का टिकट लेकर बैठ रहे हैं, कितने अपने परिवार वालों के भाग्य से घायल होकर कटने के लिए बैठे रहे हैं, तथा कितने सदा के लिए विकलाँग और अपाहिज बनने के लिए यात्रा कर रहे हैं।

दुर्घटना—गाड़ी चल दी, पंजाब मेल की प्रसिद्ध गति से इंजन भाग रहा था। स्टेशनों को छोड़ती हुई तथा कतिपय मिनटों के लिए जिलों के स्टेशनों से विरमती हुई गाड़ी भागी जा रही थी। यथासमय उसे १२ बजकर १५ मिनट पर अर्द्धरात्रि में डुमराव स्टेशन पर पहुँचना था। समयानुसार ठीक चल रही थी। लाइन मैंन लाइन बदलने के लिए गया। गलती से उसने गाड़ी को एक ऐसी लाइन पर ले लिया जिस

पर पहले से ही एक मालगाड़ी दूसरी दिशा से आकर खड़ी हुई थी। इंजन घूम जाने पर ड्राइवर ने आश्चर्य के साथ थोड़ी ही दूर पर मालगाड़ी को खड़ी देखा। उसकी मेल ट्रेन भी उसी लाइन पर दौड़ रही थी। समीप आने पर उसने गाड़ी की चाल को कम कर दिया। लेकिन भावी टलती नहीं। दोनों इंजिन एक दूसरे से धड़ाके के साथ टकरा गये। परिणाम यह हुआ कि बहुत भयंकर शब्द हुआ और गाड़ी की गहरी टक्कर हो गई। उसके आधे से अधिक डिब्बे लाइन से उछल कर थोड़ी दूर पर जाकर गिरे। फिर उन डिब्बों के अधिकांश यात्रियों की ऐसी अपूर्व स्थिति हो गई कि उसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता।

दोनों गाड़ियाँ इतनी भीषणता ने टकराईं कि आगे के चार-पाँच डिब्बे दूर गिर कर चूर-चूर हो गये। उनमें स्थित यात्रियों का ढेर लग गया। कुछ तो तत्काल ही स्वर्गवासी हो गये तथा उनके अंगों के अवयवों का खोजने पर भी पता नहीं लग रहा था। कुछ इतनी गम्भीर चोट खा गये थे कि अन्तिम सांस के लिए संघर्ष करने लगे। कुछ ऐसे भी यात्री थे जो अपने स्थानों पर ही बैठे थे फिर भी उन सबकी दशा काफी खराब थी। कोई दस गज की दूरी पर गिरकर छिन्न-भिन्न पड़ा था, कोई कहीं मरा पड़ा था, किसी का कोई अंग नष्ट हो गया था, किसी का शव पहचाना जा सकता था, तो किसी का पहचाना भी नहीं जा सकता था। इतनी बड़ी गाड़ी में सहस्रों व्यक्ति विभिन्न प्रकार की यात्रा कर रहे थे, उनमें कितने मरे तथा कितने मरणासन्न थे तथा कितने घातक चोट खाकर मूर्छित पड़े थे, इसकी गणना असम्भव-सी हो गई थी। सम्भवत: कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं बचा था जिसको चोट न लगी हो। दुर्घटना होने के तत्काल बाद स्थानीय डाक्टरों का दल आ गया। सभी कर्मचारी भाग-दौड़ करने लगे। मृतकों के शवों को अलग किया गया तथा जिनकी साँस चल रही थी, उनके तात्कालिक उपचार का प्रबन्ध करके सरकार एम्बुलेन्स गाड़ियों में लादकर, उन्हें प्रधान रेलवे अस्पताल में भेज दिया गया। और भी जो घायल व्यक्ति थे, उन्हें उसके बाद अस्पताल भेजा गया। फिर मृतकों के शवों को गाड़ियों में लाद कर अस्पताल में पहुँचाया गया। अस्पताल में एक स्थान पर यह शव जाँच के लिये रख दिये गये। सबके सामानों की रखवाली पुलिस कर रही थी। जिन्हें हल्की चोट लगी थी वे लोग अपने-अपने स्थान पर चले गये। वहाँ सभी की प्रारम्भिक चिकित्सा का प्रबन्ध किया गया था। यह तो सामान्य विवरण रहा है साधारण यात्रियों का। इस विभीषिका का अनुमान उन डिब्बों को देखकर सहज ही में लगाया जा सकता है।

दुर्घटना के पश्चात् की स्थिति—उन डिब्बों की दशा यह थी कि आगे वाले पाँच डिब्बे चूर-चूर हो गये थे। उनका कोई भाग बिना विकृत हुए नहीं बचा था। पटरियाँ, तख्ते, फाटक, बैठने की बेंचे आदि सभी यत्र-तत्र बिखरे पड़े थे। लोहे के समान तक विकृत हो गये थे। इंजिन की दशा और भी खराब हो गई थी। उसके ड्राइवर और खलासी तथा कुली सभी रुई की तरह धुने जा चुके थे। उनके किसी भी अंग को पहचानना असम्भव-सा था। प्रथम श्रेणी में बैठकर चलने वाले टी० टी० लोगों के भी गम्भीर घाव लगे थे। गार्ड तक का सिर टूट गया था। पीछे के डिब्बों में बैठे लोगों में मरने वालों की संख्या कम थी; पर घायल होने वालों की गणना नहीं की जा सकती थी। यद्यपि समाचारों को प्रकाशित करने वाले समाचारपत्रों ने

तो मृतकों की संख्या कम ही बताई थी, फिर भी कई सौ आदमी अवश्य ही अकाल काल-कवलित हो गये थे। इस दुर्घटना को देखकर भाग्य और भगवान की शक्तिमता का स्पष्ट अनुभव सभी लोगों को हो गया। उसी में से दो बच्चे, जिनकी अवस्था एक वर्ष से कम रही होगी तथा एक बुढ़िया ऐसी भी निकली जिसे कदाचित् तनिक भी चोट नहीं लगी थी। इस प्रकार की दुर्घटनाएँ कभी-कभी घट जाया करती हैं।

उपसंहार—इस दुर्घटना ने यह सिद्ध कर दिया कि विज्ञान द्वारा बनाई गयी सुख-सुविधा की वस्तुएँ कितनी शीघ्रता से कितना विनाश कर सकती हैं कि इसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। प्राचीन काल का सीधा-सादा जीवन कितना आधुनिक सुन्दर था इसका भो आभास मिल जाता है। दर्शकों की भीड़ रोकने पर भी जमा हो गई थी। हर दर्शक यही कहते सुना जाता था, कि भगवान की कृपा है और अपना-अपना भाग्य जिसके अनुसार हर व्यक्ति को सुख दुख मिला करता है। रेलवे जैसी सुविधा-जनक वस्तु से इतनी हानि यदि हो सकती है तो वायुयान, जलयान, आदि की दुर्घटना से तो सर्वस्व नाश का ही दृश्य सामने आता है। इसका यही अर्थ निकला है कि जिस वस्तु से मानव-समाज का जितना ही कल्याण होता है, वही साधारण सी चूक से उसी सीमा तक हानिकारक भी होती है।

●

११९. एक रोचक कथा

१—भूमिका, २—यात्रा का समय और स्थान, ३—यात्रा का वर्णन तथा उसकी रोचकता, ४—उससे लाभ, ५—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य का जीवन वर्तमान युग में अत्यन्त व्यस्त तथा गतिशील हो गया है। आज के यथार्थवादी और वैज्ञानिक युग में आवागमन के साधनों का इतना विकास हो गया है कि मनुष्य कुछ ही घण्टों में सहस्रों मील की यात्रा करने में समर्थ हो गया है। उसका जीवन इतना परावलम्बी हो गया है तथा उसकी धन-लिप्सा इतनी बढ़ गयी है कि वह उसी के पीछे निरन्तर भाग दौड़ किया करता है। आज के युग में धन में (रुपयों में) वह शक्ति है कि उससे मनुष्य सभी कुछ प्राप्त कर सकता है। अत: आज पैसे का महत्व अधिकांश लोगों के लिये परमात्मा से भी अधिक हो गया है। भगवान तो मनुष्य को प्रत्यक्ष रूप से सुख-दुख या मोक्ष देता ही है, पर पैसा प्रत्यक्ष रूप से सब कुछ दिया करता है, जो सांसारिक जीवन में आवश्यक है। हर एक मनुष्य सुख और आनन्द का इच्छुक रहता है, और वह मानता है कि पैसे से सभी पदार्थ हमें मिल सकते हैं। अतः कुछ लोगों की यात्रा का लक्ष्य पैसा होता है, तथा कुछ लोग आनन्द और सुख के लिये यात्रा करते हैं किन्तु यात्रा सभी को करनी पड़ती है। यहाँ तक कि संसार से भी एक दिन जीव को महाप्रयाण करना पड़ता है। पर यहाँ पर इस निबन्ध में एक रोचक लौकिक यात्रा का ही वर्णन करना है जो एक स्थान से दूसरे स्थान में जाकर की जाती है। यात्रा रोचक तभी होती हैं जब उसमें कुछ रोचक घटनाएँ घटी रहती हैं। ऐसी ही एक यात्रा बनारस से गोरखपुर तक करने का अवसर मुझे भी मिला था।

यात्रा का समय और तैयारी—इस यात्रा का समय था आश्विन मास। किसी कार्यवश मुझे बनारस जाना पड़ा था और वहाँ से गोरखपुर आना था। सायंकाल

भोजनोपरान्त मैंने एकाकी स्टेशन के लिये प्रस्थान किया। निवास-स्थान से चलते समय आशा थी कि निकटस्थ चौराहे तक रिक्शा या इक्का मिल ही जाएगा। अतः समय का स्वल्प ध्यान था तथा विजया की तरंग में आवश्यकता से अधिक भोजन करके चला था। इससे आलस्य भी आ रहा था। चौराहे पर सवारी का पता न था और समीप की दुकान में टँगी घड़ी ने नौ बजने की सूचना दी। उस तरंग में मुझे गाड़ी छूटने का पुराना समय ६-४० ही याद आ गया। इच्छा न रहते हुए भी अलग पैरों को द्रुतिगामी बनने को बाध्य किया। सामान के नाम पर एक झोला मात्र था, जिसका भार तीन सेर से अधिक न था फिर भी उस दशा में वह काफी असुविधा-जनक प्रतीत हो रहा था। किसी प्रकार भगीरथ प्रयत्न करते हुये स्टेशन पर पहुँच गया किन्तु मार्ग में कहीं भी सवारी न मिली। एक बार तो मन में आया कि रुक जाऊँ पर रुका नहीं, यह सोचकर कि लौटने पर भाभी जी तथा और लोग हँसी उड़ायेंगे। हाँ तो स्टेशन पर टिकट खरीदने में भाग्यवश कठिनाई नहीं उठानी पड़ी। प्लेटफार्म पर जाने पर मालूम हुआ कि गाड़ी आने में पूरे एक घण्टे की देर है। मन में अपनी मूर्खता पर हँसी आयी कि समय की ठीक जानकारी करके क्यों न चला। बूटी का रंग भी गुलाबी होकर आलस्य उत्पन्न कर रहा था। स्टेशन पर स्वल्प परिचित एक सज्जन मिल गये, जिन्हें मित्रवत् मानकर अपना बना लिया। खूब घुल मिलकर प्रेम से बातें करने में समय बीत गया। उस दिन भी भीड़ आवश्यकता से अधिक जान पड़ती थी। खैर किसी प्रकार गाड़ी अपने नियत समय पर आ ही गई।

यात्रा आरम्भ—मैं और नवीन मित्र बाबू हृदयनाथसिंह गाड़ी पर चढ़ने के लिये तैयार हो गये। गाड़ी जब रुकी तो उसमें भी भीड़ थी। कुछ डिब्बों में फाटक बन्द किये हुये सूट-धारी सज्जन खिड़कियों पर खड़े होकर चढ़ने की आशा में आने वाले यात्रियों को बैरंग लौटाते जा रहे थे। लोग सहम कर चले जाते थे, मानो वे डिब्बे रिजर्व हों। हम लोग भी गये और एक स्थान से लौटा दिये गये। हृदयनाथ ने कहा कि 'पंडित जी कहीं बैठने की कोशिश करनी चाहिये।" किन्तु भीड़ का दृश्य, धक्का-मुक्की, गाली-गलौज, ठेला-ठेली देखकर पण्डित जी के देवता ही कूच कर गये थे। मैंने भी रुककर उत्तर दिया, 'मित्र! तो इस डिब्बे में मैं बैठूँगा या रुक जाऊँगा।" किन्तु मेरे मित्र का अपने बाहुबल पर भरोसा था, अतः वे मुझे ही कूच कर गये थे। ज्यों ही हम लोग एक फाटक में प्रवेश करने का उपक्रम करने लगे त्यों ही दो व्यक्तियों ने मित्र महोदय को धक्का देकर नीचे ठेल दिया। मैंने कहा, 'इसमें चढ़ना कठिन है और पूर्व स्थान का डौल भी नहीं जम पायेगा।' मित्रवर सम्भल कर नीचे से उस व्यक्ति के बाहर निकले मुँह पर दो चाँटे रसीद करके पीछे की ओर पैर बढ़ाने लौट चले। थोड़ी देर में पता चला कि पाँच बन्द डिब्बों में इलाहाबाद विश्वविद्यालत के छात्र हैं। मैंने कहा 'भाई, चलो उन्हीं की शरण में जाने पर काम चलेगा।' हम लोगों ने आकर कृपा की भीख माँगी और आकर्षक अस्वीकृति मिली। मैंने कहा, 'भाई! जब अपने भी पराये बन जाते हैं तभी मनुष्य की दुर्गति होती है और देखो वे सब हम लोगों को खोजते आ रहे हैं।' इस वाक्य ने उन लोगों के मन में कौतूहल उत्पन्न कर दिया और उन्होंने पूरा विवरण जानना चाहा। मैंने कहा, भाई भीतर आ जाने दीजिए ताकि वे दोनों व्यक्ति जब तक यहाँ आवें, तब तक हम लोग अन्दर पहुँच जाएँ।' यही हुआ, उन लोगों ने झोला ले

लिया और हम लोग खिड़की की राह से भीतर पहुँच गये। तब तक वे चपत खाये हुए महाशय भी अपने साथी के साथ हम लोगों को ढूँढ़ते हुए आ गए। चूँकि हम लोग भीतर थे फाटक बन्द था अतः वाक्युद्ध का ही मौका था। वाद-विवाद काफी गर्म चल रहा था और हमारा डिब्बा शायद अन्तिम था। इसी बीच गाड़ी चल दी और वे अगले स्टेशन पर देख लेने की धमकी देकर अपने-अपने डिब्बे की ओर क्रोधाविभूत दशा में दौड़े। गाड़ी पकड़ने के लिए दौड़ते हुए एक महाशय मिठाई वाले से टकरा गये और गाड़ी तेजी से आगे बढ़ने लगी। परिणाम यह हुआ कि वे लोग कैण्ट स्टेशन पर ही उतर गये।

रोचक घटनाएँ—अब विश्वविद्यालय के वे छात्र जो पर्याप्त स्थान रोक कर सोये थे बैठ गये, परन्तु हम लोग खड़े हुए ही अपनी शराफत का प्रमाण दे रहे थे। तब तक उन लोगों ने हम दोनों से बैठने का आग्रह किया तथा गत घटना को सुनकर आनन्द उठाया और पंडित जी मुझसे कोई संस्कृत का श्लोक सुनाने का आग्रह करने लगे। मुझे कुछ भी कहने में संकोच लग रहा था और संस्कृत के श्लोक याद भी न थे। हिन्दी की दो चार कविताएँ मैंने सुनाई। फिर वे लोग अपने एक मित्र को तंग करने लगे जो शायद 'बच्चन' जी का भक्त था। आखिर उसने बच्चन जी की 'इस पार उस पार' शीर्षक कविता बड़े ही सुन्दर और मधुर स्वर में सुनाई। यह क्रम लगभग सारी रात चलता रहा और हम लोग भी रसास्वादन करते हुए चले गए। भटनी स्टेशन से गाड़ी ब्रह्मपुर पहुँची और वहीं से सब का मार्ग भिन्न-भिन्न दिशा की ओर जाता था। बड़े स्नेह से मिलकर सब लोग अपने-अपने मार्ग पर चल पड़े। मैं फिर अकेला गोरखपुर जाने वाली गाड़ी में जाकर किसी तरह बैठ गया और नियत समय पर पहुँच गया। वहाँ से राजघाट तक तो कठिनाई नहीं पड़ी। पर राजघाट में सवारी की प्रतीक्षा तथा नित्य कर्म करने में दो घण्टे लग गए। फिर रिक्शा मिला और घर तक पहुँच गये। यही थी मेरी रोचक यात्रा।

उपसंहार—यात्रा में विभिन्न प्रकार के लोग मिलते हैं। यहाँ मनुष्य का अपना व्यवहार तथा तात्कालिक बुद्धि ही काम करती है। कभी-कभी राह के मित्र भी अभिन्न और वास्तविक मित्र बन जाते हैं। परिस्थितियाँ मनुष्य को विश्वास करने के लिए बाध्य कर देती हैं, किन्तु विश्वास ऐसे व्यक्तियों का करना चाहिए जिनके प्रति मन में सन्देह न उत्पन्न हो। मनुष्य के हृदय में देवता का वास होता है और वही ठीक निर्णय देता है। उसी का निर्णय कल्याणकारी होता है।

१२०. जीवन का सर्वाधिक सुखमय दिन

१—भूमिका, २—जीवन के सुखमय दिन की पहचान, ३—जीवन के सुखमय दिन का वर्णन, ४—उस दिन की स्मृति और प्रभाव, ५—उपसंहार।

भूमिका—मानव जीवन सुखों और दुःखों का इतिहास है। सुख और दुःख की परिभाषाएँ भी एक नहीं होतीं। दोनों परस्पर सापेक्ष अनुभूतियाँ हैं, यानी सुख का महत्व दुःख से होता है और दुःख की तीव्रता की कल्पना सुख से होती है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही नगण्य हो जाता है। मनुष्य के जीवन में दिन आते हैं और चले जाते हैं। उन्हीं दिनों में कुछ ऐसे दिन भी होते हैं, जिनकी स्मृतियाँ बराबर बनी

रहती हैं। सभी स्मृतियाँ सुखदायक नहीं होती हैं। फिर भी सुखमय दिनों की स्मृतियाँ अधिक आकर्षक होती हैं। जब भी उनका स्मरण होता है तभी हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी उत्पन्न हो जाती है। इन सुखमय दिनों में कौन-सा दिन सर्वाधिक सुखमय है, जानना सरल नहीं होता। जिस दिन की सुखद स्मृतियाँ अधिक से अधिक समय तक स्पष्ट और प्रेरणादायक बनी रहती है वही दिन सबसे अधिक सुखमय माना जाता है। उसका प्रभाव इतना गहन होता है कि हम कभी भी उस दिन को नहीं भूल पाते। उस दिन का स्मरण हृदय मे सदैव आनन्द का संचार किया करता है। इस प्रकार का भी एक दिन इस जीवन में आया था। वह दिन था—जिस दिन मैंने हाई स्कूल का परीक्षाफल सुना था। यही मेरे जीवन का सबसे अधिक सुखमय दिन था।

सर्वाधिक सुखमय दिन—सबसे अधिक सुखमय दिन की पहिचान यह है कि उससे अधिक सुख का दिन दूसरा न हो। सुख की चरम सीमा की पहचाना यह है कि उस सुख में मन इतना लीन हो जाये कि वह शेष बातों का ध्यान ही न रह कर सके तथा उसके मन में सात्विक सुख की अनुभूति जाग उठे। सुख की सात्विकता है—राग, द्वेष, ईर्ष्या, मोह, मद, क्रोध आदि का तिरोहित हो जाना। उस दिन जब मेरा चिर प्रतीक्षित परीक्षाफल आया तो मुझे कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ। मेरे मन में उस समय आनन्द के सिवाय कोई दूसरा भाव था ही नहीं उसी २० जून सन् १९४७ ई० को मैं अपने जीवन का सबसे अधिक सुखमय दिन मानता हूँ। इसकी स्मृतियाँ मेरे जीवन में सदैव नवीन रहा करती हैं। इसी दिन से मेरे जीवन का उत्कर्ष प्रारम्भ होता है। यही समय है जिसे मैंने अपने जीवन का भाग्यशाली दिन माना। इसी दिन मेरे विवाह का भी निश्चय हुआ। इसी दिन जितने काम मुझसे सम्बन्धित हुए वे सभी मेरे भावी जीवन को सुखमय बनाने के आधार बने हैं।

दिन सुखमय क्यों ?—परीक्षा के पूर्व मेरी दशा हर प्रकार से असन्तोषजनक थी। बुद्धि तो मेरी सदा अच्छी मानी जाती था, पर मेरी पढ़ाई का परिणाम सामान्य ही रहता था। हाई स्कूल में मेरे कुछ ऐसे साथी मिल गये जिनके साथ मैं अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाकर रंगा सियार बना घूमता था। मेरे व्यवहार से मेरे कृषक अभिभावक तंग आ गए थे। मेरे गुरुजन यह सोचकर दुःखी थे कि जितनी प्रतिभा मुझ में है उसके अनुरूप मैं कार्य नहा कर रहा हूँ। मेरे जैसे विद्यार्थी को जो बनना चाहिए वह बनने के लिए मैं प्रयत्नशील नहीं हूँ। मुझे खेलना कम ही आता था, पर खेलने में अपनी परिस्थिति से अधिक समय लगता था। घर से झूठ-सच बोलकर अशिक्षित माता-पिता से आवश्यकता से अधिक रुपये भी ले लेता था। इस प्रकार की परिस्थितियों में शहर के स्कूल में रहता था। खैर, परीक्षा की तैयारी के लिए महीने का अवकाश मिला। पितृ तुल्य स्नेही गुरु जी का आशीर्वाद तथा घर पर कुछ दिन रहकर तैयारी करने के बाद लखनऊ आकर रहने का अनुल्लंघनीय आदेश मिला। मैंने घर जाकर १५ दिन रह कर मनोयोग-पूर्वक अध्ययन किया और अपने किये पर रो-रो कर पश्चाताप किया। नियत समय पर जाकर गुरुजी के चरणों के दर्शन किये। उन्होंने कृपा की और देख-रेख करनी प्रारम्भ कर दी। वर्षों से चला आता हुआ क्रम बन्द हो गया था। मैंने शेष समय में तैयारी की और परीक्षा देकर सफलता का हार्दिक आशीर्वाद पाकर घर आया। तब से मेरे जीवन-क्रम में आमूल

परिवर्तन हो गया और नित्य एक घण्टे गुरुवर का एकलव्य के समान स्मरण करने लगा।

सुखमय दिन की विशेषता—दिन बीतते गये और अन्त में १० जून आ ही गया जब कि हाई स्कूल का परीक्षाफल प्रकाशित हो गया। देहात का विद्यार्थी थाड़े से शिक्षितों के बीच में भी विद्वान माना जाता था, जब कि वस्तुत: मैं मूर्ख था। दूसरे परीक्षार्थी अपना-अपना परीक्षाफल देखने गए। पर मुझे अपने पर विश्वास नहीं था अत: मैं नहीं गया। पिता जो कई बार कह चुके थे कि लल्लू को अब मैं आगे नहीं पढ़ा सकता चाहे पास हो चाहे फेल। वास्तव में उनकी स्थिति भी इतनी अच्छी न थी कि कालेज का खर्चा देते। मेरी विचित्र स्थिति थी। मैं अत्यन्त दु:खी था और निराश मन से उदासीन रहा, फिर भी कभी-कभी ऐसा जान पड़ता था कि गुरु जी मुझे उत्तीर्ण होने का आशीर्वाद दे रहे हैं। एक मिनट का समय एक वर्ष के समान बीत रहा था। यह मैं नहीं सोच पाता था कि मैं क्या करूँ! लगभग १० दिन में जगदीश आया और समाचार दिया कि गाँव के पाँच परीक्षार्थियों में केवल वही तीसरी श्रेणी में उत्तीर्ण हैं, शेष तीन फेल हैं। और मेरा रौल नम्बर उसे ज्ञात नहीं था। मेरा हृदय धड़क रहा था। मन बैठता जा रहा था, सासों के साथ कभी-कभी कलेजा मुँह तक आ जाता था। पर लाचारी थी करता ही क्या। भोजन के लिए भाभी ने बुलवाया। इच्छा न रहने पर भी आकर भोजन का फर्ज अदा किया। बराबर यही चाहता था कि कोई मुझसे कुछ न बोले। समय किसी की भी प्रतीक्षा नहीं करता। वह बीतता गया तब तक मेरा मन काफी खिन्न हो चुका था। समय काटने के लिए मैं बाग में चला गया; तब तक भाई साहब समाचारपत्र लेकर घर आये और यह समाचार दिया कि मैं द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हो गया। मेरा भतीजा उछलता-कूदता मेरे पास आया और बोला, 'काका पास हो गए' तथा ताली बजाकर नाचने लगा। मैं किंकर्तव्यविमूढ़ होकर देखता रहा। कहीं आध घण्टे बाद जगदीश के आने पर मुझे वास्तविकता का ज्ञान हुआ। फिर मैं घर आया और परिवार के आनन्दोत्सव में सम्मिलित हो गया तथा नम्रता से गुरुजनों के चरण स्पर्श किए। यह निश्चय किया कि कल गुरु जी के दर्शन अवश्य करूँगा। मेरे जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिलाषा उस दिन पूर्ण हुई थी।

यह भी एक संयोग ही था कि उसी दिन मेरे एक सम्बन्धी, एक अन्य सज्जन के साथ आए। मैं आगन्तुक सज्जन को बहुत कम जानता था। बात-चीत के क्रम में मुझे पता चला कि मेरी शादी तय हो रही है। कुछ सामान्य मोल-तोल के बाद बात पक्की हो गई। चूँकि अब मेरे स्कूल वाले विचार और ढंग बदल चुके थे अत: मैंने चुपचाप बड़ों की आज्ञा का पालन करना ही अपना कर्तव्य समझा। बाद में पता चला कि मेरी शादी उसी लड़की से हो रही थी जिससे बचपन में मामाजी के यहाँ मैं खेला करता था। पता नहीं क्या मेरे मन में उसके प्रति एक अजीब-सी भावना थी और मैं उसे अत्यधिक चाहता था। पर इस समय उसकी चर्चा नहीं की जा सकती थी अत: नहीं की गई, पर भाग्य ने हम लोगों को मिला ही दिया। यह भावना सत्य, दृढ़ और सच्ची थी, अत: पूरी हुई।

उपसंहार—आज भी उस दिन की स्मृतियाँ मेरे जीवन को प्रेरणा देती रहती

हैं। तभी से भाग्य और ईश्वर पर मेरा अटूट विश्वास हो गया। मैं समझता हूँ कि उससे अधिक सुखमय दिन मेरे लिए कोई भी नहीं हुआ जिसने मेरे भावी जीवन की सुख-सुविधाओं का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस सुख का कारण यह है कि मुझे अप्रत्याशित सुख समाचार मिला जिसके लिए मेरा हृदय अत्यधिक दुःखी हो चुका था। अधिक दुःख के बाद जो सुख मिलता है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। जिसे मैं सच्चे हृदय से जीवन संगिनी बनाना चाहता था उसी से मेरा सम्बन्ध हो। ये दोनों घटनाएँ आजीवन मुझे सुख देती रही हैं। इन सारी बातों के मूल में गुरुजी का आशीर्वाद रहा है। वही मेरे भाग्य विधाता बनकर मिले और उन्हीं की प्रेरणा से मुझे जीवन का सबसे अधिक सुखमय दिन देखने को मिला।

●

१२१ : हरिहर क्षेत्र का मेला

१—भूमिका, २—मेले का स्थान और उसके आयोजन का कारण, ३—मेले का वर्णन, ४—मेले की बुराइयाँ, ५—उपसंहार।

भूमिका—मानव स्वभाव से ही मनोरंजन का प्रेमी है। वह अपने मनोरंजन के लिये भाँति-भाँति के ढंग अपनाता है। मेला भी मानव के मनोरंजन का प्रमुख साधन रहा है। यही नहीं, इन मेलों ने मानव में मेल-मिलाप और सजातीय भावना भरने का भी प्रयास किया है। भारत में मेलों का महत्व अति-प्राचीन काल से रहा है। इस देश में विभिन्न अवसरों पर अनेक स्थानों पर मेलों का आयोजन किया जाता है। धार्मिक भावना से ओत-प्रोत भारतीय इन मेलों में जाकर अपनी धार्मिक भावना की पुष्टि तो करते ही हैं साथ ही ये मेले समाज के संगठन को दृढ़ बनाने में अत्यधिक लाभदायक सिद्ध होते हैं।

मेले का स्थान और उसके आयोजन का कारण—भारत में आयोजित होने वाले मेले में बिहार के हरिहर क्षेत्र के मेले का अपना अलग महत्व है। इस मेले के विषय में कौन नहीं जानता? हरिहर क्षेत्र का मेला बिहार राज्य का सर्वश्रेष्ठ मेला है। यह मेला उत्तर-पूर्व रेलवे के सोनपुर स्टेशन—जो अपने प्लेटफार्म के लिये विश्व-विख्यात है—के पूर्व में लगता है। सगर के पुत्रों का उद्धार करने वाली गंगा, गज-ग्राह की कथा सुनाने वाली गण्डकी और देवी सरस्वती के क्रीड़ा-स्थल शोणभद्र के संगम स्थल पर बसा हुआ यह पावन तीर्थ भारतीय जनता के लिये सदैव से ही आकर्षण का केन्द्र रहा है। कार्तिक पूर्णिमा के दिन संगम स्नान करके हरिहरनाथ मन्दिर में जल चढ़ाने के लिये लोगों की अपार भीड़ यहाँ एकत्रित होती है। लोग धार्मिक भावना से युक्त होकर प्रेम-मग्न होकर भगवान हरिहरनाथ के दर्शन करके लाभान्वित होते हैं, साथ ही मेले में आनन्दित होते हैं। बिहार का छोटा सा नगर आकर्षण का केन्द्र बन जाता है।

मेले का वर्णन—हरिहर क्षेत्र के मेले के अवसर पर सोनपुर के पूर्व का लग-भग तीन मील का घेरा अत्यधिक चहल-पहल से युक्त हो जाता है। वह स्थान जहाँ साल भर दिये टिमटिमाते रहते, बिजली की रोशनी से युक्त हो जाता है। जिस क्षेत्र में इधर-उधर लोगों की थोड़ी सी झोपड़ियाँ ही नजर आती थीं वहाँ अपार जनसमूह उमड़ पड़ता है। जहाँ खोजने-ढूँढ़ने पर १-२ बटोही मिल पाते थे वहाँ स्त्रियाँ और

पुरुषों, बूढ़े और बच्चों की कतारें दिखाई पड़ती हैं। जहाँ पेड़ों के झुरमुटों से कभी चिड़ियों की चहचहाने मात्र की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। लाउडस्पीकरों की अटूट ध्वमियाँ सुनाई पड़ती हैं। मेले के अवसर पर हरिहर क्षेत्र ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसे कलकत्ता के चौरंगी या बम्बई की चौपाठी के रूप में परिवर्तित कर दिया गया हो। कलकत्ता की चौरंगी और बम्बई की चौपाटो में भी वह चहल-पहल देखने को नहीं मिलती जो उस मेले के अवसर पर सदैव बीरान बने रहने वाले इस क्षेत्र में देखने को मिलती है।

हरिहर क्षेत्र का मेला मुख्य रूप से पशु मेला है। सभी तरह के पशु मेले में आते हैं और खरीदे व बेचें जाते हैं। कुछ समय पूर्व तक यहाँ के गाय, बैल, घोड़े और हाथी आकर्षण के प्रमुख केन्द्र थे। परन्तु जमींदारी प्रथा के समाप्त होने और मोटर गाड़ी के आविष्कार ने हाथियों के महत्व को कम कर दिया है और अब मेले में हाथियों की संख्या बहुत कम दिखाई पड़ती हैं। छोटे जानवर जैसे, बकरियाँ, कुत्ते आदि भी मेले में बिक्री के लिये आते हैं। विभिन्न प्रकार के जानवरों के समूह मेले में यंत्र-तंत्र बिखरे हुये देखे जा सकते हैं और इन जानवरों से युक्त मेलों का एक क्षेत्र विशेष अजायबघर प्रतीत होता है। कहीं घोड़े हिनहिनाते हुये और कहीं कुत्ते भोंकते हुये दिखाई पड़ते हैं और जानवरों की वजह से कोलाहल इतना अधिक हो जाता है कि कान पड़ी आवाज भी सुनाई नहीं पड़ती है।

यद्यपि हरिहर का क्षेत्र का मेला मुख्य रूप से जानवरों का ही मेला है परन्तु आधुनिक युग में इस मेले में जानवरों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की बिक्री भी अत्यधिक मात्रा में होती है। देश के कोने-कोने से विभिन्न प्रकार के साज-सामान बनकर इस मेले में बिक्री के लिये आते हैं। किसी क्षेत्र की मिट्टी की प्रसिद्ध मूर्तियाँ और किसी क्षेत्र की कमियाँ यहाँ प्रचुर मात्रा में देखी जा सकती है भाँति-भाँति के रंग-बिरंगे कपड़े, हाथ की कारीगरी से युक्त कसीदागीरी आदि के दर्शन भी मेले में होते हैं। फैशन की रंगबिरंगी वस्तुएँ लोगों को बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। एक समय था जबकि मेले में अधिकतर जानवरों का ही व्यापार होता था परन्तु आधुनिक युग में तो मेला फैशन का भी एक केन्द्र बनकर रह गया है। जहाँ कभी केवल बेचारे भोले-भाले अनपढ़ देहाती कन्धे पर लाठी लटकाये देखे जाते थे वहाँ अब इस मेले में देहातियों के साथ शहरी मनचले भी अत्यधिक संख्या में देखे जा सकते हैं। चाहे नगर के रहने वाले हों या देहात के बिहार के अधिकतर लोग हरिहर क्षेत्र के मेले को देखने के लिये आतुर रहते हैं।

मेले में मिठाइयों की सजी हुई दूकानें और बिसातियों की दूकानों में लगे हुये रंग-बिरंगे सामान बरबस आपको आकर्षित कर लेंगे। कौन सीं वस्तु ऐसी है जो इस मेले में नहीं मिलती। सूई से लेकर हाथी तक इस मेले में क्रय किया जा सकता है। सिनेमा और जादू का भी बाजार गरम रहता है। मेले के अवसर पर स्थायी तौर पर यहाँ सिनेमा का आयोजन किया जाता है। यह सिनेमा ग्रामीण जनता के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र होता है। कहीं सरकस हो रहा है, कहीं यमपुरी नाटक और कहीं बंगाल के काले जादू का खेल दिखलाया जाता है। बिहार राज्य के कोने-कोने से रेलगाड़ियों, बसों और बैलगाड़ियों से लदे हुए लोग इतनी अधिक संख्या में इस मेले

में आते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त राज्य ही सिमट कर इस मेले में आ गया हो। मेले में जिधर नजर उठाइये, उधर रंगीनी नजर आती है। धक्का-मुक्की का बाजार गर्म रहता है। सभी अपनी धुन में मस्त रहते हैं और थोड़े समय के लिये जीवन की अनेक कठिनाइयों को भूलकर इस मेले का आनन्द लेते हैं। मेले के अवसर पर जेबकतरों की बन आती है और उनकी आमदनी में भी मनमानी वृद्धि हो जाती है। आप किंचित मात्र भी असावधान हुए कि आपकी जेब साफ—इस मेले की अपनी विशेषता है।

मेले की बुराइयाँ—हरिहर क्षेत्र का मेला लोगों के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र रहता है और इस मेले में आकर लोग मनोरंजन करते हैं। परन्तु इस मेले की कुछ अपनी बुराइयाँ हैं। पशुओं के बाजार के फलस्वरूप आस-पास का वातावरण इतना गन्दा हो जाता है कि लोगों के लिए चलना दूभर हो जाता है। मेले में हाथ में लाठी लिए हुए इधर-उधर भटकने वाले लोग इतनी संख्या में आते हैं कि सुव्यवस्था बनाए रखना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो जाता है। यद्यपि यह ठीक है कि सरकार और विभिन्न सामाजिक संस्थाओं द्वारा मेले में सुव्यवस्था बनाए रखने के हेतु हर सम्भव प्रयास किया जाता है परन्तु फिर भी लोगों की जरा सी असावधानी से अत्यधिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। गन्दगी इतनी भीषण होती है कि अनेक प्रकार की बीमारियों के उत्पन्न होने का भय उत्पन्न हो जाता है। एक समय ऐसा था जब लोग मेले का एक दूसरे से मिलने का साधन बनाए हुए थे। उस समय लोगों के जीवन में शान्ति थी। उनके पास पर्याप्त समय था कि वे कई-कई दिन इस मेले में ठहर सकें। आज का भारतीय इतना अधिक व्यस्त हो गया है कि उसके पास कहीं ठहरने का समय नहीं है। फलस्वरूप हरिहर क्षेत्र का मेला भी आपसी मिलन का मेला न रहकर सिर्फ वैयक्तिक मनोरंजन का केन्द्र बनकर रह गया।

उपसंहार—भारत में आयोजित होने वाले विभिन्न मेलों में हरिहर क्षेत्र का मेला अपने ढंग का निराला है। एक बार इस मेले को देखने के बाद कोई भी व्यक्ति इसे भूल नहीं सकता। यह मेला मानव के मानस पटल पर अपनी छाप डालता है और भगवान हरिहरनाथ के दर्शन के लिए आयोजित किया जाने वाला यह मेला बिहार की जनता के लिए सदैव से ही आकर्षण का प्रमुख केन्द्र रहा है और आज भी बना हुआ है।

●

१२२. सान्ध्य-सौन्दर्य

१—भूमिका, २—सन्ध्या का स्वरूप और वर्णन, ३—सान्ध्य सौन्दर्य का निखरा रूप, ४. सन्ध्या का प्रभाव, ५—उपसंहार।

भूमिका—परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। प्रकृति अपना रूप क्षण-क्षण बदलती रहती है। प्रातःकाल घोर अन्धकार के बाद कालिमा घुलने लगती है और प्रकाश फैलने लगता है। पक्षियों के कलरव और शीतल-मन्द समीर के संचरण से ऊषा के आगमन की पूर्वपीठिका बनने लगती है। नक्षत्र-लोक मलीन होकर एक-एक करके तिरोहित होने लगता है। मरीचिमाली अपनी प्रारम्भिक रश्मियों से विश्व को जगाता है। उषा सुन्दर बालरवि का मंगल घट लेकर, क्षितिज में स्वर्ण-धूलि

उड़ाती हुई आती है और कुछ समय तक रुककर प्रस्थान कर देती है। सूर्य रश्मियों में धीरे-धीरे तेज बढ़ने लगता है। दिन के प्रारम्भ से ही संसार अपने विभिन्न कार्यों में व्यस्त हो जाता है। हर वर्ग के जीवन अपने-अपने जीवन-यापन के लिए व्यस्त हो जाते हैं। दोपहर के समय सूर्य की किरणों में प्रचण्डता आ जाती है। कभी-कभी दीर्घ-दीर्घ निदाघ के प्रताप से विश्व के प्राणी मात्र छाया और विश्राम के लिए विकल हो जाते हैं। यह समय धीरे से चला ही जाता है। नदी की बाढ़ के समान, हाथी के मद के समान गरमी का नशा भी उतर चलता है। इस उतार के साथ ही विश्व-प्रपंच भी सिमटने लगता है।

सन्ध्या आगमन—क्रमशः उषा के समान ही, पर भिन्न भावना व्यक्त करती हुई, सन्ध्या के आगमन की सूचना सी मिलने लगती है और विषादमय सौन्दर्य व्याप्त हो जाता है। यही सान्ध्य सौन्दर्य कवियों को अपने में लीन कर देता है।

सान्ध्य-स्वरूप का वर्णन करते हुए एक प्रसिद्ध श्लोक है—

"परिपतति पयोनिधौ पतंगः, उपवन तरुकोटरे विहंगः।
सरसं रुहाणां उदरेषु मतभृंगः, युवति शनैः शनै अनंगः।

सन्ध्या-काल में सूर्य अस्ताचल के समीपवर्ती समुद्र में गिरता-सा प्रतिभासित होता है और उपवनों के वृक्ष-कोटरों में पक्षियों का आना प्रारम्भ हो जाता है। सूर्य के अस्ताचल प्रस्थान के साथ ही साथ पंकज-पराग का पान करता हुआ भ्रमर कमल-दल के सिकुड़ने के कारण कमल-कोष में बन्द होता है। अनुरागवती सन्ध्या का विश्व के रंग-मंच पर उसी प्रकार प्रवेश होता है जिस प्रकार युवतियों में कामदेव का प्रवेश होता है। इस प्रकार सन्ध्या का रूप चित्रित होने लगता है।

सान्ध्य-वर्णन—सन्ध्या-काल में दिन भर की अनवरत यात्रा की शान्ति और क्लान्ति से खिन्न और थकित प्रभाकर लोहित वर्ण धारण करने लगता है। स्वर्णिमा करों को समेटते हुए भगवान भास्कर पश्चिमी क्षितिज की ओर बढ़ने लगते हैं। अस्ताचल को जाता हुआ सूर्य बड़ा रमणीय प्रतीत होता है। रविरश्मियों की आभ भू-पटल से उठकर तरु-वीथियों की चोटी पर विराजने लगती है। उस समय वृक्षों के नीले-पीले पत्तों पर पड़ती हुई कनक-किरणों का दृश्य बड़ा ही मनोहर जान पड़ता है। पशु-पक्षियों का झुण्ड अपने-अपने वासस्थान की ओर लौटने लगता है। फिर तरुलताओं के मुकुट को आभासित करने वाली किरणें पर्वत-शिखरों पर स्वर्ण-वर्षा करने लगती हैं और पृथ्वी के निचले भागों में निशाचरी माया की भूमिका बननी आरम्भ हो जाती है। वनों तथा गोचरों से गोरज उड़ाती हुई, थनों में दुग्ध भार को वहन करती हुई अपनी बिछुड़ों से मिलने को लालायित और वेग से जाती हुई गाय और भैंसों का समवेत स्वर सुनाई पड़ने लगता है। चरवाहों का बिरहा गान कर्ण-कुहरों में रस घोल देता है। खेतों में दिन भर कठिन श्रम करने वाले किसान और मजदूर अपने श्रमित पगों से मन्थर गति से गाँव की मलिन छाया में विलीन होते दिखाई पड़ते हैं। उनमें वय के अनुसार गति-विधियाँ भी देखी जाती हैं। वे अपनी मजदूरी लेकर घर जाते हैं और रात भर विश्राम के पूर्व किसी प्रकार रुखे-सूखे भोजन से पेट भरने का उपाय करते हैं।

दिन भर के अनवरत परिश्रम से श्रान्त प्रकृति सन्ध्या-काल में उदासीन हो

विश्राम के लिए आतुर हो जाती है। जड़-चेतन जगत् में अन्धकारमय अवसाद घिर जाता है। दिन की चहल-पहल और कार्यशीलता समाप्त होने लगती है। यह ऐसा समय होता है जब सभी प्राणी विश्राम-स्थल की ओर चल पड़ते हैं। उस समह गृही अपने घर पहुँचने की चिन्ता करने लगते हैं और परदेशी अपने निवास-स्थल की खोज करते हैं। आसन्न रात्रि की विभीषिका सभी को सुरक्षित रहने की सूचना देती है। सन्ध्या सौन्दर्य निश्चित प्राणियों को ही अधिक आकर्षित करता है। जिसका मन शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये चिन्तित रहता है उसके लिये प्राकृतिक सौन्दर्य भी चिन्तित और दुःखी दिखाई पड़ता है। मानव हृदय की यह स्वाभाविकता है कि वह प्रकृति को अपनी भावना के अनुकूल सुखी या दुखी देखना चाहता है। हिन्दी, संस्कृत या अन्य भाषाओं के काव्यों में वर्णित प्रकृति उद्दीपन रूप में ही प्रायः मिलती है।

सन्ध्या का प्रभाव—महाकवि 'हरिऔध' जी ने अपने महाकाव्य 'प्रियप्रवास' को सान्ध्य-वर्णन से ही आरम्भ किया है पर वह सन्ध्या-वर्णन अपने अन्तस्तल में भावी कृष्ण-वियोग की छाया का आभास देता है नित्य ही सन्ध्या सौन्दर्य ग्रामों की दुःखी और दरिद्र जनता को अवसाद का ही सन्देश देता है। किसानों और मजदूरों को काम और विश्राम के मध्यकाल में अपना व्यक्तिगत कार्य करना पड़ता है अतः वे बेचारे प्रकृति की रमणीयता का अनुभव ही नहीं कर पाते। उनकी मानसिक स्थिति ही ऐसी नहीं बन पाती कि वे अपनी दैनिक चिन्ताओं से मुक्त होकर इतर कार्य करें। अपने व्यापार में व्यस्त व्यवसायियों के लिये इस सान्ध्य सौन्दर्य का महत्व कौड़ी भर भी नहीं होता है। वे बेचारे नोटों की गड्डियों के हिसाब-किताब में, विभिन्न स्थानों के भावों की जानकारी में खरीदने-बेचने के चक्कर में, मँगाने भेजने की चिन्ता में तथा लाभ-हानि के खतियाने में इतने लीन रहते हैं कि उनके लिये सान्ध्य-सौन्दर्य की कौन कहे, स्वर्ग-सौन्दर्य का भी महत्व नगण्य है। वे ग्राहकों से धर्मादा लेते हैं, और अधिक धन एकत्र हो जाने पर बड़ी-बड़ी धर्मशालाएँ, विशाल विद्यालय, भव्य मन्दिर तथा अनाथालय अवश्य बनवाते हैं, पर उनके मन की स्थिति में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। मन्दिर में दर्शन करने जाते हैं परन्तु भगवान के स्थान पर उन्हें दिखाई देती हैं केवल लक्ष्मी जी। सम्भवतः यही कारण है कि लक्ष्मी की कृपा से ही सन्तुष्ट होकर रह जाते हैं। यही स्थिति प्रायः सभी भौतिकवादियों की होती है। प्रकृति का आनन्द तो वही उठा पाते हैं जिनके हृदय में प्रकृति के लिये स्थान होता है। गमले में छोटे-छोटे पौधों को लगवाकर प्रकृति-प्रेम का ढिंढोरा पीटने वाले लोग प्रकृति की मनोहर क्रीड़ा-स्थली को नष्ट करके मशीनों की दुनियाँ बसाने में नहीं हिचकते। जिन्होंने खुले आकाश में स्वच्छ हृदय से प्रकृति का अवलोकन नहीं किया वे प्रकृति सौन्दर्य के महत्व को क्या जानें ?

सान्ध्य सौन्दर्य आनन्द देता है कवियों को, दार्शनिकों को, हरि-भजन में लीन भक्तों को तथा भावुक साहित्यिकों को। जिनको हम सांसारिक व्यवहार से शून्य कह सकते हैं, उन्हीं का मन वहाँ रमता है। सान्ध्य-सौन्दर्य हमें यह शिक्षा देता है कि जिस प्रकार दिन भर की चहल-पहल के पश्चात् सान्ध्य-विश्राम आवश्यक है, उसी प्रकार जीवन के तीन चरणों की चहल-पहल से विश्राम लेने का समय है वृद्धावस्था, जबकि मनुष्य को सांसारिकता से हटकर शान्तिमय जीवन व्यतीत

करने का उपक्रम करना चाहिये तथा फिर शान्ति के लिए भगवद्भजन में समय बिताना चाहिए।

उपसंहार—सान्ध्य-सौंदर्य का अपना महत्व है। उसकी रमणीयता में मन-मोहकता रहती है, हृदय को आनन्दमय प्रेरणा देने की शक्ति होती है, तथा हृदय को प्रफुल्लित करने की क्षमता। यदि ध्यान से देखा जाय तो प्रकृति हमें सहानुभूति देती है तथा ईश्वरीय सत्ता का ज्ञान कराती है। सान्ध्य हमारा गुरु, मित्र तथा निर्देशक बनकर नित्य प्रति आता है। इसमें नियन्ता का विश्व-प्रेम तथा शक्ति व्याप्त रहती है। धन्य है यह सान्ध्य-सौंदर्य जो प्रतिदिन स्वर्ण लुटाकर जाता है।

१२३. 'करम प्रधान विश्व रचि राखा'

१—भूमिका, २—कर्म का रूप, ३—उसकी प्रधानता, ४—उसका प्रभाव, ५—उपसंहार।

भूमिका—कर्म ही जीवन है। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन के साधनात्मक विविध रूप चेतना की परिणत अवस्थिति, व्यावहारिक क्रिया-कलाप, शारीरिक स्पन्दन और बौद्धिक चिन्तन सभी कर्म की अवस्थाएँ हैं जो काल, स्थान और परिस्थिति भेद से विभिन्न रूप धारण करती हैं। अतः विश्व की वास्तविक स्थिति कर्ममय है। भारतीय विश्वास के आधार पर वर्तमान कर्मों की प्रेरणा भी पूर्व जन्म के कर्ममय शृंखला से आबद्ध रहती है। कहा गया है—

"पूर्व जन्मकृतं कर्म तद्दैवं इति कथ्यते" का आधार भी कर्म है।

कर्म के इस व्यापक स्वरूप की विश्लेषणात्मक भावना से प्रेरित होकर ही गोस्वामी जी ने "कर्म प्रधान विश्व रचि राखा" इस अर्धाली का प्रयोग किया। सृष्टि का अर्ण ही कर्म से संयुक्त है क्योंकि 'सृज्' धातु जिससे सृष्टि शब्द का निर्माण होता है कर्म की ही प्रतीकात्मक विवेचना है। अतः जब सृष्टि स्वयं कर्ममय है तो उसमें अवस्थित पशु-प्राणी, जीव-जन्तु यदि कर्ममय मार्गों का अनुसरण करें तो कोई विचित्र बात नहीं।

कर्म सृष्टि का आधार—सारी सृष्टि की अवस्थिति संत, रज और तम तीन गुणों के आधार पर है, और ये गुण ही प्रकृति में वर्तमान समस्त तत्वों के विधायक तथा विकास के कारण हैं। अतः कर्म के भी तीन रूप होते हैं। (i) तात्विक-वृत्ति प्रधान कर्म, (ii) राजसवृत्ति प्रधान कर्म, (iii) तामस-वृत्ति प्रधान कर्म। सात्विक वृत्ति प्रधान कर्मों को ही देवी सम्पदा भी कहा गया है। अतः करुणा, दया, क्षमा, तितिक्षा आदि सात्विक गुणों पर आश्रित कर्म जो होते हैं वे सात्विक वृत्ति प्रधान कर्म कहे जाते हैं। समाज के शान्तिमय और सर्व सुखमय वातावरण के निर्माण में इनका विशेष हाथ रहता है। आगे चलकर मोक्ष के साधन भी इन्हीं के द्वारा प्राप्त होते हैं अतः उत्तम कोटि के ये ही कर्म हैं।

राजस-कर्मों की स्थिति सात्विक और तामस के मध्य की होती है परन्तु अधिकतर सात्विक धर्मों की ही प्रधानता रहती है। करुणा, क्षमा, तितिक्षा आदि सात्विक भावों के साथ ही घृणा और क्रोध जैसे तामस भावों का भी इनमें सन्निवेश होता है। परन्तु राजस क्रोध और घृणा एवं तामस क्रोध और घृणा में अन्तर होता

हैं आधार का। एक तो न्याय पर आधारित होता है और दूसरा अन्याय पर। यही कारण है किसी समाज के व्यावहारिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए राजस वृत्ति प्रधान कर्मों को ही विशिष्टता प्रदान की जाती है।

तामस वृत्ति प्रधान कर्म घृणा, द्वेष, कलह, अन्याय, अत्याचार, क्रोध आदि कलुषित मनोभावों के परिणामस्वरूप उद्भूत होते हैं। ये समाज की अधोगति के कारण बनते हैं। समाज में इन कर्मों को सर्वदा हेय दृष्टि से देखा जाता है। हमारी पौराणिक कथाओं में जो राक्षसों के चित्र उपस्थित कर उनको निम्न श्रेणी में रखा गया है, उनके मूल में उनके कलुषित आचरण ही हैं। किसी भी देश में इस प्रकार के व्यक्ति घृणा के पात्र होते हैं। चोरी, डाका, व्यभिचार, परपीड़न आदि समाज-विरोधी तत्व इस कर्म के स्वरूप हैं। यही कारण है कि समाज की धारणा करने वाले तत्वों से समायुक्त धर्म की व्याख्या में इनका परिहार कर दिया जाता रहा है।

इस प्रकार के तीनों रूप ही विविध प्रकार से कल्पनावस्था, साधनावस्था और सिद्धावस्था में अवस्थित रहते हैं। सामान्य जीवन में भी हम देखते हैं कि हम जैसा कर्म करते हैं उसी प्रकार उनका फल भी प्राप्त करते हैं। यदि हमारा कर्म बुरा होता है तो उसका परिणाम सर्वदा बुरा होता है। भले ही कोई जब तक चोरी में पकड़ा नहीं जाता तब तक सुख की रोटी खा ले, किन्तु चोरी का परिणाम तो उसमें पकड़े जाने पर कारागार की चहारदीवारियों में प्राप्त होता। अतः यदि अच्छे कर्म यदि पहले अच्छे फलदायक न भी हों तो भी परिणाम शुभकारी होते हैं। किसी भी रोगी को खीर ज्वर में भले ही क्षण भर के लिए प्रसन्न बना दे परन्तु परिणाम में वह रोग की वृद्धि का कारण बनेगी। कड़वी औषधि का घूँट पहले कष्टदायी तो अवश्य होगा परन्तु अन्त में रोग-मुक्त भी कर देगा। अतः कर्म की विडम्बना पर विचार करना आवश्यक नहीं हैं। बल्कि कर्म करना आवश्यक है। गीता में भगवान कृष्ण ने इसीलिए कहा है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'

(कर्म ही करना चाहिए, फल की इच्छा नहीं करनी चाहिए)

कर्म सर्वदा इच्छा रूपी पावक में आहुति बनकर आता है अतः श्रेष्ठ कर्म वह है जिसमें इच्छा की निवृत्ति रहती है अर्थात् आसक्ति रहित कर्म ही श्रेयस्कर है। "योगः कर्मसु कौशलम्" वाक्य भी इसी ओर संकेत करता है।

कर्म का हमारे जीवन पर व्यापक प्रभाव है। कर्म-विहीन हमारा जीवन निष्क्रिय हो जाता है। हमको अपनी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियों के विकास के लिए कर्म आवश्यक है। कर्म के कारण ही जीवन की सारी सुविधाएँ जो आज प्राप्त हैं एकत्र हुई हैं। विज्ञान कर्म का साक्षात् प्रतीक है। हमारे यहाँ कर्म के महत्व का स्पष्ट करते हुये संस्कृत के नीतिकारों ने कहा था—

उद्योगेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुषुप्त सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥

अर्थात् सभी कार्य उद्योग करने से ही सिद्ध होते हैं, कोरे मनोरथ से सम्भव नहीं हो सकते, जिस प्रकार सोये हुए सिंह के मुख में अपने आप पशु प्रवेश नहीं करते।

कहने का यह अर्थ है कि कर्म हमारे जीवन की उन्नति का महान् साधन हैं। हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहने से किसी भी प्रकार से हम उन्नति नहीं कर सकते। अतः आवश्यक है कि हम कर्म करें। इनके साथ ही साथ यदि हम तनिक और ध्यान दें तो हमें ज्ञात होगा कि कर्म के कारण ही हम जीवन धारण करते है। यदि कर्म न होता तो हमारे लिये विभिन्न रूपों में उपलब्ध खाद्य सामग्री सम्भव नहीं होती और खाद्य सामग्री के अभाव में हम भूखों मर जाते। यदि संसार में कर्म का महत्व न होता तो संसार का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता। अतः कर्म का जीवन पर यह व्यापक और गहरा प्रभाव किसी भी अवस्था में उपेक्षणीय नहीं। जिस क्षण इसकी उपेक्षा होगी उसी क्षण हम समाप्त हो जायेंगे।

कर्म का एक और स्वरूप होता है जिसको कि साधना के क्षेत्र में निष्काम कर्म कहते हैं। इसका अर्थ हमें यह नहीं लगाना चाहिए कि कर्म करना श्रेयस्कर नहीं क्योंकि कर्म ही बन्धन का मूल कारण है। वास्तव में इसका अर्थ है कि कर्म बिना किसी आसक्ति के करना चाहिये। कर्म का त्याग किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं क्योंकि हमारे ऐन्द्रिक कर्म तो सर्वदा होते ही रहेंगे। इस प्रकार कर्म जीवन की प्रत्येक स्थिति का प्रमुख तत्व है।

उपसंहार—अतः हम यह कह सकते हैं कि कर्म हमारी जीवन पद्धति का व्यवस्थापक वह तत्व है जिसमें हमारे व्यावहारिक, शरीरिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक, काल्पनिक, मानसिक समस्त व्यापार अवस्थित पाते हैं कर्म ही जीवन-विकास का प्रधान कारण है। आज तक की सभ्यता का विकास, विज्ञान के विविध अन्वेषण, साधन के विविध पथों का निदर्शन, व्यवहार के विविध निर्माण सारी बातें ही कर्म की देन हैं। हमारे व्यक्तिगत और समष्टिगत सारे सम्बन्ध कर्मों के द्वारा ही निर्धारित होते हैं। व्यक्तित्व के विभिन्न तन्तु, वैचारिकता के आरोहावरोह, स्वागत के उत्थान पतन सभी में कर्म की हीं प्रधान स्थिति है। इस प्रकार कर्म वह सर्व-व्यापक सत्य है जिसमें सृष्टि, प्रलय, कारण, कार्य-सिद्धि, सुख-दुःख और उनकी उभय स्थिति एवं व्यक्ति विधान विनाश सभी का सार तत्व निहित है एवं निहित रहेगा। अतः गोस्वामी जी का यह वाक्य 'कर्म प्रधान विश्व रचि रखा, सर्वथा सत्य एवं श्रुत्य है।

●

१२४. "अपनी करनी पार उतरनी"

१—भूमिका, २—करनी की आवश्यकता, ३—स्वावलम्बन का साधन, ४—पार उतरने का वास्तविक अर्थ, ५—उपसंहार।

भूमिका—इस संसार को कर्मलोक कहा गया है। मनुष्य संसार में कर्म करने के लिए ही आता है। गोस्वामी जी ने कहा है—'करम प्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करे सो तस फल चाखा' अर्थात् विश्व में कर्म की प्रधानता है। संसार की सृष्टि के विषय में विभिन्न धर्मों के विभिन्न मत हैं, और प्रत्येक धर्म-ग्रन्थ अपने कर्म को सबसे प्राचीन मानते हैं। हर धर्म की मान्य पुस्तकों में सृष्टि-निर्माण का वर्णन मिलता है। सभी धार्मिक ग्रंथ इतना अवश्य मानते हैं कि मनुष्य कर्म करने के लिए ही संसार में आता है। दूसरी योनियां विगत जन्मों के कर्मों को भोगने के लिए अवतरित होती हैं ऐसा भारतीय सिद्धान्त है। सम्भवतः इसी कारण 'सबसे दुर्लभ मनुज सरीरा' कहा

गया है। मनुष्य अपने कर्मों के आधार पर अपने भावी जीवन का निर्माण करता है। उसका भावी जीवन उसके वर्तमान कर्मों के आधार पर प्राप्त होता है। साथ ही उसे सांसारिक आवागमन से मोक्ष भी अपने कर्मों के ही आधार पर प्राप्त होती है। इसी लिए कहा गया है कि 'अपनी करनी पार उतरनी'।

उक्ति का अर्थ और महत्व—'अपनी करनी पार उतरनी' वाक्य का तात्पर्य है कि मनुष्य के सांसारिक जीवन के कई क्षेत्रों में दूसरों की करनी का फल भी प्राप्त हो जाता है। पर इस भवसागर से पार उतरने के लिए केवल अपनी ही करनी आवश्यक होती है। मनुष्य जितना ही कर्म करता है उतना ही उसके मन का संस्कार होता जाता है, इस प्रकार से आध्यात्मिक कर्मों का संस्कार पुष्ट होने पर मनुष्य निष्काम कर्म करना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार उसके मन का संस्कार मिलने लगता है और कालान्तर में सांसारिक संस्कारों का अभाव हो जाता है तब उसका जीव शुद्धात्मा का रूप प्राप्त कर लेता है। फलतः वह मोक्ष या परमपद का अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति केवल अपने ही कर्मों से उत्पन्न हो सकती है। अतः 'अपनी करनी पार उतरनी' की उक्ति चरितार्थ हो जाती है।

कर्ममय विश्व—यही संसार कर्म-क्षेत्र माना गया है। पहले हम संसार में प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्राणीमात्र को कर्म करना पड़ता है। पशु-पक्षी भी अपनी जीवन यात्रा के लिए निरन्तर कर्म-निरत रहते हैं। प्रकृति स्वयं ही अविश्रान्त कर्म में लगी हुई है। नदियाँ निरन्तर बह रही हैं; झरने बराबर पर्वतों से झरा करते हैं, पवन की गति कभी बन्द नहीं होती, सूर्य-चन्द्र का कार्य-क्रम बराबर समयानुसार चला करता है—जाड़ा, गर्मी, बरसात हर वर्ष नियमित रूप से आते रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी जन्म के बाद से क्रमशः कर्म करना प्रारम्भ कर देता है। जीवन धारण करना ही कर्म के बिना असम्भव है। पर कर्म सामान्यतः उन कार्यों को कहते हैं जिनका संबंध मानव जीवन के विशेष क्रम से होता है। नित्य-कर्म से लेकर बड़े से बड़े काम को कर्म कहा जा सकता है। किन्तु 'करनी' शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण धार्मिक कार्यों के लिए किया जाता है। इसीलिए कहावत है, "जैसी करनी वैसी भरनी'। इस प्रकार के धार्मिक कार्यों के करने की नितांत आवश्यकता कही गई है। करनी में वे कर्म आयेंगे जिनमें परोपकार तथा 'बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय' की भावना मिलती है। इस प्रकार की करनी आवश्यक है, और ऐसे ही कार्यों से मनुष्य के जीवन का बेड़ा पार होने लगता है यदि मनुष्य अपनी करनी को उचित ढंग से करता रहे तो निश्चय ही कभी न कभी उसे सफलता मिलेगी। कर्म जिसे दृष्टि से किये जाते हैं उस दृष्टि से सफलता भी मिलती है। इसी प्रकार आध्यात्मिक कार्य का प्रभाव मनुष्य की आध्यात्मिक सफलता पर पड़ता है। अतः यदि मनुष्य यह चाहता है कि वह आवागमन के चक्र से छुटकारा पा जाय तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह तदनुकूल कर्म करे तथा अपनी आत्मा को शुद्ध करे।

स्वावलम्बन की भावना—इस उक्ति का दूसरा पक्ष यह है कि मनुष्य केवल अपने कर्तव्यों से सफल हो सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि परावलम्बी होने से मनुष्य का काम कभी नहीं चल सकता। उसे सदैव ठोकरें ही खानी पड़ती हैं। उसे निरंतर स्वावलम्बी होने का प्रयास करना चाहिए। स्वावलम्बी मनुष्य अपनी

कर्तव्यपरायणता से आधार पर अपना जीवन संसार में तो सफल बनाता ही है साथ ही साथ भावी जीवन के लिए भाग्य का निर्माण भी करता है। मनुष्य के कर्मों की तीन प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं—क्रियामाण, संचित तथा प्रारब्ध कर्म। यानी किए हुए कर्मों का तत्काल या कुछ समय के भीतर फल प्राप्त होता है। दूसरा संचित कर्म-फल होता है अर्थात् पूर्व जन्म में किये कर्मों के वे फल जिनका उस जन्म में भोग नहीं हो सकता है। तीसरा है आहार-फल यानी वे कर्म-फल जिनका ज्ञान नहीं है या जिनके विषय निश्चित नहीं हैं। इनमें दो अन्तिम प्रकार के कर्म-फलों को भाग्यवादी भाग्य में सन्निहित मानते हैं। अतः इसका तात्पर्य हुआ कि भाग्य भी मनुष्य के ही कर्मों से जो लोग पूर्व-जन्म में विश्वास करते हैं उनका मत है कि पूर्व-जन्म में किया गया कर्म ही भाग्य है। अतः भाग्य को मनुष्य स्वयं बनाता है। इस सिद्धान्त में पुनर्जन्म की मान्यता है। किन्तु सबका ध्येय संस्कारों से सम्बन्धित है: यही संस्कार प्रभाव है जो मनुष्य के कर्मों को नियन्त्रित करता रहता है। इसीलिए भारतीय दर्शनों ने निष्काम कर्म पर बल दिया है ताकि संस्कार न बन सकें। कारण यह कि यदि कर्म अच्छे होंगे तो उनका फल सुख के रूप में प्राप्त होगा यदि बुरे होंगे तो उनका फल दु:ख के रूप में प्राप्त होगा। इस प्रकार कर्म (करनी) की अच्छाई सदा वांछित रहती है।

कर्म के आधार पर मोक्ष-प्राप्ति—पार उतरने का वास्तविक अर्थ है भवसागर से पार उतरना अर्थात् आवागमन से मुक्त होना। इसी के साधनों की चर्चा पूर्व प्रसंग में की गई है। मोक्ष ही ऐसी अवस्था है जिसमें मनुष्य आवागमन से छुटकारा पाता है। स्वर्ग भी सुख-भोग के स्थान के रूप में कल्पित किया गया हैं, क्योंकि कहा गया है—'क्षीणे पुण्ये मृत्यु लोके विशन्ति' अर्थात् प्राणी पुण्य के क्षीण (समाप्त हो जाने पर फिर संसार में आ जाता है। अतः देह पार उतर नहीं पाता। इस प्रकार के पार उतरने का अर्थ मोक्ष प्राप्त करना ही मानना समीचीन है।

विश्व में असंख्य प्राणी हैं। प्रत्येक प्राणी अपने जीवनयापन से लिए निर्धारित विधान का पालन करता है। जैसे एक शेर की प्रकृति ही मांस खाने वाली बनाई गई है अतः वह माँस खाता है और इस हेतु उसे जीव हिंसा करनी पड़ती है। इसका पाप उसे नहीं लगेगा क्योंकि उसकी प्रकृति ही ऐसी बनी है, पर मनुष्य की प्रकृति ऐसी नहीं है, उसके भोजन के लिए प्रकृति ने असंख्य पदार्थों का निर्माण किया है अतः उसको जीव हिंसा नहीं करनी चाहिए। फिर भी यदि वह जीव-हिंसा करता है तो वह अवश्य ही पाप का भागी होगा। पाप पुण्य, सत्कर्म-दुष्कर्म आदि की सीमा भी समाज द्वारा ही निर्धारित की गई है। समाज ने बहुमत की प्रवृत्ति को देखकर ही अनेक प्रकार के विचारों का निर्माण किया है। समाज का अंकुश मनुष्य को ऐसे मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है जिससे अधिकांश लोगों का लाभ होता है तथा किसी के स्वाभाविक जीवन क्रम में बाधा नहीं उत्पन्न होती। धर्म का बन्धन भी मनुष्य इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्वीकार करता है।

उपसंहार—मनुष्य की विवेकशीलता और ज्ञान उसको समाज से स्वीकृत नियमों पर चलने की प्रेरणा देता है। वह अपने विवेक द्वारा यह निश्चय करता है कि कौन कार्य करने योग्य हैं और कौन से त्याज्य हैं? किन कर्मों का फल मानव-

जीवन को ऊपर उठाने वाला होता है तथा किन कर्मों का फल उसे गिराने वाला होता है ? इन सभी बातों का निर्णय धर्मशास्त्रों के आधार पर तथा मनुष्य के विवेक द्वारा होता है। जो मनुष्य अपने जीवन में इन बातों पर ध्यान नहीं दे पाता वह निश्चय ही मन की चंचलता का शिकार होकर पथभ्रष्ट हो जाता है। अत: उसकी करनी बन नहीं पाती। जिसकी करनी बिगड़ जाती है। उसका परिणाम कभी भी अच्छा नहीं हो पाता और न वह पार ही हो पाता है।

१२५. "हंसा बक एक रंग लखिय, चरै एक ही ताल। छीर नीर ते जानिए बक उघरै तेहि काल।"

१—भूमिका, २—व्याख्या, ३—उदाहरण द्वारा प्रतिपादन, ४—प्रभाव और लाभ, ५—उपसंहार।

भूमिका—संसार का चक्र विचित्र गति से चला करता है। इस विश्व में समता में विभिन्नता और विभिन्नता में कुछ-कुछ समता मिलती है। इस विश्व का विधाता चाहे जो भी हो पर उसकी रचना अपूर्व है। इस सृष्टि में इतने प्रकार के प्राणी हैं कि उनकी गणना करना असम्भव है। इन्हीं प्राणियों में मनुष्य भी एक है। चूँकि मनुष्य ज्ञानी और विवेकपूर्ण जीव है अत: वह किसी प्रकार सभी अन्य प्राणियों को अपने उपयोग में लाना चाहता है। जिनसे उसका कोई भी स्वार्थ सिद्ध नहीं होता उनसे भी वह शिक्षा ग्रहण करने का प्रयास करता है। एक ही स्थान में गुणी और निर्गुणी दोनों रहते हैं पर जब गुण के प्रयोग की स्थिति आती है तो दोनों का भेद खुल जाता है। इसी बात को यदि सीधे ढंग से कह दिया जाय तो बहुत से लोगों को बुरा लग सकता है तथा शिष्टाचार के अनुकूल भी नहीं पड़ता अतः ऐसी बातों को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने की शिष्ट प्रणाली व्यवहार में लाई जाती है। ऐसी सूक्तियों में से—

'हन्सा-बक एक रंग लखिय, चरै एक ही ताल।
छीर नीर ते जानिए, बक उघरै तेहि काल॥'

अत्यन्त उत्तम उक्ति है।

उक्ति का अर्थ—इसका अर्थ है—हंस और बगुला एक ही रंग (सफेद) के होते हैं तथा एक ही तालाब में दोनों चरते रहते हैं। अत: उनमें भेद करना कठिन होता है। किन्तु यदि उनसे छीर-नीर विवेक कराया जाता है तो तत्काल बगुला का भेद मालूम हो जाता है क्योंकि जल से दूध को अलग करना हंस ही जानता है।

यहाँ तात्पर्य उसके गुण की परीक्षा से है इसी प्रकार गुणी और निर्गुण एक ही स्थान पर रहते हैं। पर गुण परीक्षा के समय दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। यही इस सूक्ति का तात्पर्य है। इसके प्रमाण में लाखों उदाहरण दिए जा सकते हैं।

एक ही कक्षा में पचासों छात्र अध्ययन करते हैं। उनकी गति-वित्रि और सामान्य व्यवहार भी प्राय: समान ही होता है। सब को समान रूप से शिक्षा दी जाती है। कोई उनमें बहुत अच्छा होता है, कुछ सामान्य होते हैं तथा कुछ बहुत निकृष्ट होते हैं; परन्तु देखने वाले यह पता नहीं लगा सकते कि कौन किस सीमा तक पहुँचा है। सामान्य बातचीत से भी पता नहीं चल सकता। परन्तु सब की क्षमता, सबकी योग्यता

विभिन्न स्तर की है। अतः उनका वास्तविक स्तर मानस का मापदण्ड है। परीक्षा में जिस छात्र को जितने अङ्क प्राप्त होते हैं उसी के अनुसार उसका स्तर माना जाता है। यदि वह परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त करता है तो निश्चय ही वह प्रथम श्रेणी का माना जाता है, परन्तु यदि उसे परीक्षा में प्रथम श्रेणी के अङ्क प्राप्त नहीं हुए तो कोई उसे प्रथम श्रेणी का नहीं मान सकेगा। इसी परीक्षाफल पर उसका सारा कार्य-न आँका जाता है। यही वास्तविकता है इस दोहे की। यहाँ स्वाभाविक प्रतिभा और परिश्रम सभी कुछ उसी परीक्षा के आधार पर माने जाते हैं।

इसी प्रकार जब नौकरियों के लिए प्रार्थना-पत्र माँगे जाते हैं, तो उनके लिए कुछ योग्यताएँ अपेक्षित होती हैं और सभी प्रत्याशियों में वे योग्यताएँ समान रूप से होती हैं। अपने वस्त्राभूषणों में तथा बाह्य आकारों में सभी लगभग समान होते हैं पर उनमें से योग्यता कितने लोगों में है यह बात तो साक्षात्कार (इण्टरव्यू) के समय ज्ञात होती है। किसी रियासत का एक योग्य मन्त्री बूढ़ा हो गया था और उसके स्थान पर नये मन्त्री का चुनाव करना था। साथ-ही-साथ कुछ और अधिकारियों का भी चुनाव करना था। समाचारपत्र में प्रकाशित करा दिया गया कि अमुक राज्य के लिए एक मन्त्री का चुनाव होना है और सभी प्रत्याशियों को सूचना दी गई कि वे अमुक समय पर अपने सभी प्रमाणपत्रों के साथ साक्षात्कार के लिए उपस्थित हों। किन्तु यह नहीं बताया गया कि न्यूनतम योग्यता क्या होनी चाहिए। पद ऊँचा था; न्यूनतम योग्यता की कोई सीमा नहीं बताई गई थी, अतः अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिए अनेक प्रत्याशी विभिन्न प्रकार की वेश-भूषा में समयानुसार उपस्थित हुए। कोई अपने सजे सजाए सूट में पूरे यूरोपियन के समान थे, जिनकी हर गतिविधि से साहबीपन की गन्ध निकलती थी। वे समय के पाबन्द, रहन-सहन में चुस्त तथा बातचीत में निर्द्वन्द्व थे। उन्हें यह आशा थी कि दूसरे पिछड़े साधारण रहन-सहन वालों से वे ही अधिक उपयुक्त होंगे। कुछ दूसरे लोग थे, जिन्हें अपने रहन-सहन में संदेह होने लग गया था। बेचारे यह नहीं समझ पा रहे थे कि कैसा रहन-सहन यहाँ अपेक्षित होगा ? अतः उनकी वेश-भूषा में समयानुसार परिवर्तन होता रहता था। दूसरे वे लोग थे जिन्हें भारतीय वेश-भूषा में से प्रेम था, अतः वे धोती, कुर्ते को बड़े ढंग से पहनते थे। भारतीय संस्कृति की बातें करते तथा उसी ढंग से रहते थे। कुछ पंडित जी लोग भी थे जिन्हें अपनी चौबन्दी और साफे से प्रेम था। वे लोग प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर स्नान-ध्यान, चन्दन तिलक से लैस हो, बाहर आते थे। भागवत, रामायण, महाभारत, वेद पुराण, न्याय दर्शन की बातें बराबर करते थे। ईश्वर-जीव-जगत्-माया का निरूपण भी कभी-कभी करते थे तथा स्वयंपाकी भी थे। उनके समय का अधिकांश भाग नित्य कर्म में बीतता था। छूत से वे सब डरा करते थे और भेद-भाव भी रखते ही थे, उनके विचारों से संकीर्णता का आभास मिलता था। कुछ पायजामा अचकन तथा रोएँदार टोपी लगाये मौलाना लोग थे, जिनके तौर-तरीकों से अरबी-फारसी की झलक दिखाई पड़ती थी। उनकी उर्दू की हर ध्वनि में फारसीपन सुनाई पड़ता था। पूरा दल यथोचित रीति से आवास पा गया था। एक दिन कुछ लोगों ने खेल का प्रोग्राम बनाया। नगर से लगभग आधे मील की दूरी पर एक समतल सुन्दर मैदान था। वहीं जाने की तैयारी थी और बीच में एक नाला पड़ता था। नाले में पानी और कीचड़ था, तथा एक लकड़ी का लट्ठा थोड़ी दूर पर पड़ा था। पार जाने के

लिए सूखा मार्ग लगभग एक मील के घुमाव पर मिल सकता था। कुछ लोगों ने झंझट को बचाने के लिए और अपने कपड़ों की सुरक्षा के लिए घूमकर जाना उचित समझा अतः सैर और सुरक्षा के विचार से उन्होंने रास्ता बदल दिया। कुछ लोग धोती, पायजामा और पतलून निकालकर लंगोटा पहने पानी कीचड़ में घुसकर पार तो हो गए पर उधर हाथ-पैर धोने लायक स्थान के अभाव में ताकते रहे। पर दो-तीन ऐसे लोग थे, जिन्होंने उस लट्ठे को उठाया और उस नाले पर रख दिया पार उतर गये। गुप्त रूप से साथ रहने वाले गुप्तचरों ने विवरण लिख लिया। मैदान में पहुँचने पर लोगों ने विश्राम किया और ऐंठ के साथ लौटने लगे। इस बार उसी नाले में एक गाड़ीवान की लदी हुई गाड़ी फँसी थी। सब लोग निकलते जा रहे थे और गाड़ीवान कातर दृष्टि से सब की ओर देख रहा था।

कुछ लोग जब निकल गये तो उसी व्यक्ति ने जिसने लट्ठा लाने में पहले की थी, कीचड़ में घुस गया और गाड़ी को ठेलकर बाहर करा दिया, उसमें उसके एक साथी ने भी कुछ सहायता की, यह भी लिख लिया गया। दूसरे दिन मन्त्री महोदय ने अपना निर्णय सुना दिया कि अमुक व्यक्ति दीवान पद के लिए तथा दूसरे दो व्यक्ति दूसरे कार्यों के लिए चुन लिए गये। कुछ तर्कवादी लोगों ने इस चुनाव का कारण जानने की इच्छा प्रकट की, इस पर बूढ़े दीवान ने कहा, 'आप लोगों में योग्यता है पर उस योग्यता के उपयोग की क्षमता नहीं है। नाले पर आते-जाते समय ही परीक्षा हो गई। वह व्यक्ति जो समस्या सामने आने पर उपस्थित सामग्रियों के आधार पर उसके सफल समाधान का उपाय कर सकता है और ऐसा मार्ग निकाल सकता है, जिससे और लोग भी लाभ उठा सकें, वही व्यक्ति राष्ट्र की समस्याओं को सुलझा सकता है। दूसरी बात यह है कि एक अधिकारी को आपत्ति में पड़े दीनों की सहायता करनी चाहिए तथा उसमें सहानुभूति और दया होनी चाहिए, जिसके लिए गाड़ीवान की ओर में संकेत कर सकता हूँ। चुने हुए व्यक्ति में योग्यता तो बहुतों से कम हो सकती है पर क्षमता सर्वाधिक है। इसी कार्य-क्षमता के आधार पर यथायोग्य पद के लिए तीन व्यक्तियों का चुनाव कर लिया गया है।" क्योंकि—

> **"हंसा बक एक रंग लखिए, चरै एक ही ताल।**
> **छीर नीर ते जानिए, बक उघरै तेहि काल॥"**

उपसंहार—कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य की परीक्षा समय आने पर ही होती है। जो परीक्षा की घड़ी में अपने गुणों का परिचय देता है वही अपने को योग्य सिद्ध करता है।

१२६. वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे

१—भूमिका, २—इस वाक्य का तात्पर्य, ३—उदाहरणों द्वारा पुष्टि, ४—लाभ और प्रभाव, ५—उपसंहार।

भूमिका—परिहत—मनुष्य के सामाजिक जीवन में परस्पर सहयोग का महत्वपूर्ण स्थान है। इस भावना के विविध रूप हमें संसार में दिखाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं यह सहयोग स्वार्थ की भावना पर आधारित होता है, और कहीं धूर्तता और कूटनीतिक चालबाजी पर आधारित रहा है; कहीं परिस्थिति के ऊपर निर्भर

करता है। इस प्रकार इसके अनेक रूप होते हैं तथा सहयोग में बदले की भावना भी रहती ही है। इसका एक रूप उपकार के नाम से भी अभिहित किया जाता है। जो कार्य किन्हीं विशेष परिस्थितियों में किए जाते हैं उन्हें उपकार कहा जाता है, किन्तु जो कार्य बदले की भावना से अलग केवल परहित में किए जाते हैं, वे परोपकार कहे जाते हैं। परोपकार में स्वार्थ की भावना का अभाव रहता है। यदि उसमें स्वार्थ की भावना है तो वह परोपकार नहीं है। हृदय में दूसरे की दशा देखकर करुणा उत्पन्न होती है, तथा वह करुणा सहानुभूति को जन्म देती है, इससे परोपकार की प्रेरणा मिलती है।

मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है—परोपकार इसका अर्थ है दूसरे मनुष्य के लिए अपने स्वार्थों का त्याग करना। इसलिए कविवर मैथिलीशरण जी गुप्त ने कहा है कि 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे' इस उक्ति में मानवता का लक्ष्य बताया गया है।

मानवता का आदर्श—इसका तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य दूसरों के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करने को सदा तैयार रहता है और उसी (परोपकार) के लिए ही जीता मरता है, वही वास्तव में मनुष्य है। मनुष्य का अर्थ यहाँ उस मनुष्य से है जो मानवता के वास्तविक गुणों से विभूषित है। मनुष्य उसी को कहना चाहिए जो मानव कल्याण के लिए अपने प्राण तक न्यौछावर कर सकता है। प्रायः सभी महत्वाकांक्षी व्यक्ति मानव-कल्याण के लिए तैयार रहते हैं; किन्तु उनमें अधिकांश लोग साधारण सा कार्य करके बड़ा श्रेय प्राप्त करना चाहते हैं। पर वास्तविक मनुष्य वही है जो सार्वजनिक कल्याण हेतु आत्म-निछावर करने के लिए तैयार रहता है। ऐसे व्यक्तियों का जीना-मरना मानव-हित के लिए ही होता है।

मानवता क्या है ?—मानवता की विशेषता यह है कि इसमें प्रायः सभी मानवीय गुणों का समावेश हो जाता है। मानवीय गुण हैं—करुणा, दया, प्रेम, त्याग, परोपकार, वीरता, सहिष्णुता आदि। इन गुणों का पूर्णतया समावेश परोपकार तथा लोक-कल्याण की भावना में हो जाता है। इसीलिए मनुष्य के लिए मरने वालों को अथवा लोक-कल्याण के निमित्त आत्म-त्याग करने वालों को मनुष्य कहा गया है। इसको निम्न उदाहरण चरितार्थ करते हैं—

प्राचीन काल में शिवि नाम के एक अत्यन्त परोपकारी और दयावान राजा थे। वे किसी व्रत का अनुष्ठान किए हुए थे। उनकी धर्म-परीक्षा का उपाय इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं ने रचा। राजा बैठे हुए थे कि उनकी गोद में भयभीत और घायल कपोत आकर बैठ गया। राजा ने उसे प्यार से अपनी शरण में रख लिया। तत्काल ही एक बाज उसका पीछा करते हुए आया और कबूतर को राजा से माँगने लगा। राजा ने शरणागत कपोत को देना अस्वीकार कर दिया। इस पार बाज ने कहा, है राजन् ? आप धर्मात्मा राजा हैं और यह कबूतर मेरा आहार है। मैं कई दिनों का भूखा हूँ। अतः यदि आप इस कबूतर को नहीं देंगे तो मैं यहीं आपके सामने अपने प्राण त्याग दूँगा।' इस पर राजा ने उत्तर दिया, 'हे बाज यह भयभीत पक्षी मेरी शरण में आ गया है। देखो, यह किस प्रकार से काँप रहा है। यह कितना डरा हुआ है। यह शरणागत है, और शरणागत की रक्षा करना मेरा कर्तव्य

है, अतः मैं उसे कैसे त्याग सकता हूँ। इसीलिए तुम अपनी क्षुधा-तृप्ति के लिए दूसरा भोजन ले लो।' इस पर बाज ने फिर कहा, 'हे राजन्! आप मेरा वास्तविक भोजन मुझसे छीन रहे हैं, इस प्रकार आप एक प्राणी की रक्षा कर रहे हैं और दूसरे को क्षुधित रखकर प्राण त्यागने के लिए बाध्य कर रहे हैं।' इस पर राजा ने पुनः कहा, 'हे बाज! इस कबूतर को छोड़कर जैसे भी तुम्हारी भूख मिट सके, वह उपाय बताओ।' इस पर बाज ने उत्तर दिया, "महाराज! आप इस कबूतर के बराबर अपने शरीर का मांस यदि दें तो मेरा काम चल सकता है।' इस पर राजा सहर्ष तैयार हो गए और कबूतर को तराजू के एक पलड़े पर रखकर दूसरे पर अपने शरीर से काट-काट कर मांस रखने लगे। लगभग सारा मांस अपने शरीर से काट कर उस पर रख दिया फिर भी वह कबूतर के बराबर नहीं हो सका। तब राजा स्वयं तराजू पर चढ़ गये। तब जाकर कबूतर के भार के बराबर हो सका। यह देखकर इन्द्र और अग्नि जो कबूतर और बाज के रूप में आए थे, राजा की सराहना करने लगे तथा उन्हें वरदान देकर अन्तर्ध्यान हो गये। इस प्रकार धर्म-परायण राजा शरणागत पक्षी की रक्षा के लिए प्राण निछावर भी कर सकते थे। ऐसे धर्मपरायण राजाओं को वास्तव में मानव-रूप में देवता कहा जा सकता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं।

मनुष्यता का महत्व—मनुष्य यदि मनुष्य की सहायता नहीं कर सकता तो मनुष्य और पशु में अन्तर क्या? अपना पेट तो पशु भी भर लेते हैं। मनुष्य वही है जो दूसरों का पेट भरे और रोते हुए को हँसाए। हिन्दू-दर्शन तो समस्त जीवों की सहायता करने का सन्देश प्रदान करता है फिर मनुष्य तो समस्त जीवों में श्रेष्ठ है। यदि हम अपने बन्धुओं के लिए त्याग न कर सकें, उनके दुःख-सुख में हाथ न बटा सकें तो हमारी मानव-योनि व्यर्थ है और इस योनि में जन्म लेकर भी हम पशु हैं।

वर्तमान युग में महात्मा गाँधी, सुभाषचन्द्र बोस, पण्डित नेहरू आदि अनेक ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने लोक-कल्याण के लिए अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग किया है, अनेक प्रकार के कष्टों को झेला है। ऐसे लोगों को महान् व्यक्ति कहा जायेगा। मानव कल्याण की भावना से प्रेरित होकर महात्मा गाँधी ने पैदल नोआखाली के विषाक्त वातावरण में यात्रा की। वहाँ लोगों को सान्त्वना दी तथा शान्ति-स्थापना का प्रयास किया। भारत आकर भी वह वही कार्य करते रहे। उनके इन कार्यों का कुछ लोगों पर बुरा प्रभाव पड़ा तथा उनकी हत्या भी कर दी गई। फिर भी उन्होंने अपनी भावना को लोक-कल्याण के अनुसार रखा और अपने हत्यारे तक को क्षमा कर दिया। ऐसे लोगों को महात्मा या वास्तविक मानव कहा जाता है। इसी प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी दयानन्द आदि अनेक महात्माओं ने मनुष्यों के लिए आत्म-बलिदान किया है, ऐसे ही महानुभावों में वास्तविक मानवता के दर्शन होते हैं।

स्वतन्त्रता-संग्राम के सेनानियों में, शहीदों में, कौन-सी भावना थी, जिससे प्रेरित होकर उन लोगों ने तन-धन का त्याग किया है। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि स्वाभिमान और लोक-कल्याण की भावना का उनमें प्रबल प्रभाव था। इस प्रकार के महान् व्यक्तित्व का अब भी अभाव नहीं है जो मनुष्य के लिए जीते-मरते हैं। एक व्यक्ति को भी यदि वास्तविक लाभ पहुँचाया जा सका तो उसी में सफलता है।

जो मनुष्य दूसरों के लिए प्राण त्यागने को तैयार रहता है, उसके लिए भी त्याग करने वाले मिलते हैं। ऐसे लोगों के कार्यों की एक ऐसी परम्परा बन जाती है कि दूसरे उससे बराबर प्रभावित होते रहते हैं और इस प्रकार से समाज में ऐसा वातावरण बन जाता है कि किसी को भी विपत्ति में निराश्रयता का अनुभव नहीं होता। सभी न्याय के पथ पर चलने का प्रयास करते हैं, इससे समाज का स्वस्थ विकास होता है। मानवता की परख करने का यह एक सच्चा सिद्धान्त है।

उपसंहार—मानव-जीवन की सार्थकता है परोपकार में और परोपकार में मानवता से सम्बन्धित सभी गुणों का समावेश हो जाता है तथा उसमें मानवता का पूर्ण विकास माना जाता है अतः यह नितान्त सत्य और उचित है कि 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।' मनुष्य के लिए त्याग करना, परहित में जीना-मरना ही सबसे श्रेष्ठ मानवता है।

१२७. मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय।

१—भूमिका, २—प्रस्तुत उक्ति का तात्पर्य, ३—उदाहरण द्वारा प्रतिपादन, ४—काम और प्रभाव, ५—उपसंहार।

भूमिका—जीवन में मन का महत्व—मनुष्य के निर्माण में विधाता ने जिन तत्वों का प्रयोग किया है, उनसे मनुष्य की दसों इन्द्रियाँ, शरीर और मन बना है। इनमें मन का महत्वपूर्ण स्थान है। मन ही एक ऐसा तत्व है जो शरीर की सभी इन्द्रियों को कार्य करने का संकेत देता है। मन की प्रेरणा से शरीर के इतर अवयव गतिशील होते हैं। कदाचित् इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने कहा है—**मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयों** मन के द्वारा ही मनुष्यों को बन्धन से मोक्ष प्राप्त होता है। मन के संस्कार के अनुसार प्रवृत्तियाँ बनती हैं और प्रवृत्तियों की ही कृपा से मनुष्य की गति-विधि निर्धारित होती है। मन जितना ही अधिक सांसारिक बंधनों में उलझता जाता है, उतना ही यह सांसारिक होता जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसका सम्बन्ध संसार से घनिष्ठ होता जाता है। पर यदि वह सांसारिक माया-मोह से क्रमशः विरत होने का प्रयास करता है, तो धीरे-धीरे मोक्ष की ओर बढ़ता है। अर्थात् सम्बन्धों की घनिष्ठता का मूल कारण मन ही है। यही मन अपनी कार्य-कारिणी शक्ति के रूप में रुचि को बढ़ाता है। अतः 'मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय' की स्थिति का निर्माण होता है।

मन और रुचि—मन की रुचि शक्ति रूप में काम करती है। मन की रुचि का अर्थ यहाँ मन के आकर्षण से है, अतः मन का जिस ओर जितना ही अधिक आकर्षण होता है, उतनी ही उस ओर प्रवृत्तियाँ भी जाती हैं। प्रवृत्तियाँ आकर्षक वस्तु से लगाव बढ़ाने का कार्य करती हैं, तथा मन की चाह के अनुसार अभिलषित वस्तु से लगाव बढ़ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उस वस्तु के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है।

इस उक्ति के उदाहरण में अनेक घटनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। मुगल साम्राज्य के वैभव-विलासमय वातावरण में अनेक नरेश आनन्दमय जीवन व्यतीत करते थे। पर उसी युग में कतिपय ऐसे नरेश भी थे जिन्होंने अपने राज्य-सुख को

स्वतन्त्रता की वेदी पर न्योछावर कर दिया। जयपुर नरेश सवाई मानसिंह ने अपने रुचि को सांसारिक माया की ओर लगाया तथा सुख-विलासमय जीवन बिताने का प्रयत्न किया। उनकी रुचि स्वतन्त्रता की अपेक्षा छत्रछाया में रहकर सुखमय-जीवन व्यतीत करने में अधिक रमती थी, अत: उन्होंने सम्राट अकबर के संकेतो पर उत्साह पूर्वक कार्य किया। उनकी वीरता में, उनकी राजभक्ति में, उनकी युद्ध-कला में किसी को सन्देह करने का अवसर नहीं था, पर वे अपनी रुचि को एक दिशा में प्रेरित कर चुके थे। इसमें और भी परिस्थितिगत अनेक बातें कार्य कर रही थीं। फिर भी अपनी रुचि के अनुसार उन्हें सुख-सुविधा प्राप्त होती रही यद्यपि कभी-कभी परतन्त्रता जनित अपमान भी मिलता ही था।

इसके विपरीत महाराणा प्रताप का जीवन देखिए। महाराणा की रुचि सदा स्वाभिमान और स्वतन्त्रता की ओर झुकी रही अत: उनके लिए अधीन होकर सुख भोगने की कल्पना ही दुरूह थी। उनके सामने भी सम्भवत: वैसी ही राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं, उसी प्रकार की कूटनीतिक चाले थीं, पर उनके मन की रुचि अपनी स्वतन्त्रता में रमती थी। उसके लिए कष्ट सहन करना, उन्हें सरल ज्ञात होता था, वनों में मारे-मारे फिरना स्वीकार था, बच्चों को बिलखते देखना भी सह्य था, स्वजनों का बलिदान देखना भी उनके लिए कठिन न था, यहाँ तक कि प्राणों पर भी उनकी रुचि उतनी नहीं थी, जितनी स्वतन्त्रता पर थी। अत: वे स्वतन्त्रता के लिए सब कुछ सहने को सदैव तत्पर रहते थे। अपने जातीय गौरव को बचाने के लिए, अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के लिए उन्होंने संघर्ष किया। मान से भी एक प्रकार से विमुख ही रहे। वे जानते थे कि मुगलों के प्रतिरोध से भयंकर युद्ध होगा। उन्हें यह भी ज्ञात था कि हमारी छोटी-सी सेना मुगलों की अपार वाहिनी के समक्ष नगण्य सिद्ध होगी फिर भी उनकी मन की रुचि में स्वाभिमान और स्वतन्त्रता का इतना महत्व था कि वे उसके लिए सब कुछ सहन करने को तैयार थे। दु:खद घटनाएँ घटीं, भयंकर आक्रमण हुआ, राणा की सेना ने डटकर सामना किया, युद्ध की भीषणता ने अशेष चित्तौड़ को बरबाद किया, बड़े-बड़े सेनानी युक्त में काम आए, भाई शक्तिसिंह का विरोध सहना पड़ा फिर भी उनकी रुचि परतन्त्रता के सुखमय जीवन की ओर न जा सकी, अत: उस ओर उनका आकर्षण न हो सका। घास की रोटी के लिए बच्चे रोते रहे, महारानी को वनों में भटकना पड़ा, चेतक जैसा अश्व मारा गया, फिर भी उनकी रुचि नहीं बदली।

रुचि का जीवन में महत्व—इस प्रकार को कठिनाइयों को झेलने की शक्ति किसने दी? इस प्रकार की दृढ़ता उन्हें कहाँ से मिली? उनका अनुराग स्वतन्त्रता और स्वाभिमान की ओर किसने लगाया? उनकी वीरता को कौन-सा अभेद्य कवच प्राप्त था? इन सभी प्रश्नों का उत्तर मन की रुचि में सिमटा हुआ है। मनुष्य की रुचि मानव जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करती है। इन ऐतिहासिक उदाहरणों के अतिरिक्त दृढ़ रुचि का वर्तमान उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत है।

प्रत्यक्ष कथानक है कि बनारस के राजकीय संस्कृत कालेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल पं० गोपीनाथ कविराज थे। वे महामहोपाध्याय, एम० ए० आदि महान् योग्यताओं से विभूषित थे, और दर्शन शास्त्र पर उनका विशेष अधिकार था। कदाचित उन्हें भी

अपनी पद-प्राप्ति में उतना ही श्रम करना पड़ा होगा जितना साधारणतया एक प्रत्याशी को करना पड़ता है। लगभग १२ वर्षों तक उन्होंने अपने पद के उत्तरदायित्व का पूर्ण रीति से निर्वाह किया किन्तु इसी बीच उनके मन की रुचि योग-शास्त्र की ओर हो गई और उन्हें योग सम्बन्धी क्रियाओं में आनन्द आने लगा। यह क्रम इतना बढ़ा कि कालेज की नौकरी से उन्हें अरुचि होने लगी। उस समय उनकी पेन्शन में कई वर्षों की अवधि बाकी थी। फिर भी उन्होंने अकारण केवल मन की रुचि के कारण त्याग-पत्र भेज दिया। इस विषय पर लगभग ६ महीने तर्क-वितर्क, रोक-थाम का प्रयास होता रहा फिर भी उन्होंने कालेज की सेवा को आगे चलाने में असमर्थता प्रकट की। निदान एक दिन की उनकी बग्गी सारे दिन की प्रतीक्षा के बावजूद भी नहीं आई और उसके स्थान पर पत्र आया, जिसमें यह निश्चित रूप से घोषित किया गया था—अब मैं कालेज में प्रिन्सिपल की हैसियत से न आऊंगा। अर्थात् उन्होंने अपने मन की रुचि के अनुसार पर्याप्त हानि सहनकर भी कार्य कर ही डाला। अब तक वे बनारस में ही थे। अभी हाल में ही उन्हें संस्कृत विश्वविद्यालय का उप-कुलपति बनाया जा रहा था पर उन्होंने उसे अस्वीकृत कर दिया। यह मन की रुचि का ही प्रभाव है। अब वे इस संसार में नहीं रहे, अर्थात् परलोकगामी हो गए।

हम देखते हैं कि अनेक संभ्रांत परिवार के व्यक्ति निम्न जाति की लड़कियों के प्रेम में पड़कर बहुत कुछ सह लेते हैं, फिर भी उसे त्याग नहीं पाते। अपमानित होते हैं, समाज से त्याग दिए जाते हैं, सम्पत्ति से वंचित कर दिए जाते हैं, घर से बेघर हो जाते हैं, बन्धु-बान्धव, परजन-परिजन, सम्बन्धी-मित्र सभी छूट जाते हैं पर वे मन की रुचि को नहीं त्याग पाते। ऐसे लोगों में और कुछ हो या न हो पर दृढ़ता अवश्य होती है। स्वाभाविक है कि मन की रुचि ही अन्य वस्तुओं में रुचि उत्पन्न करती है। अतः सत्य ही है कि—'मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होय।' किसी अंग्रेजी कवि ने भी कहा है—

> Stone-walls do not a prison make.
> Nor the Iron bars a cage.
> It is the attitude of the mind
> That takes it to be a hermitage."

अर्थात् पत्थर की दीवारें किसी कारागार का निर्माण नहीं कर सकतीं। लौह-शलाकाओं से बन्दीगृह का निर्माण नहीं हो सकता। मन बन्दीगृह को एक आश्रम मान सकता है।

●

१२८. 'विरह प्रेम की जागृत गति है और सुषुप्ति मिलन है।'

१—भूमिका, २—उक्ति का वास्तविक तात्पर्य, ३—व्याख्या और प्रमाण, ४—प्रभाव, ५—उपसंहार।

भूमिका—कामेषणा प्राणी मात्र की प्राकृतिक भूख है। जड़, चेतन-अशेष सृष्टि में स्त्रीतत्व और पुरुषतत्व का ही साम्राज्य है। सृष्टि-निर्माण ही दोनों के समुचित योग का परिणाम है। पुरुष और प्रकृति या ब्रह्म और माया सृष्टि-निर्माण के मूल कारण हैं। ब्रह्म अपनी माया की शक्ति से सृष्टि-निर्माण का कार्य करता है अतः

ज्ञानियों ने अशेष विश्व को माया माना है। प्राणी मात्र की सृष्टि मैथुनी सृष्टि मानी जाती है। इसके लिए स्त्री तत्व और पुरुष तत्व बनाए गए और प्राणियों का निर्माण क्रम से चलने लगा। चूँकि मानव जीवन ज्ञान और विवेक से सम्बन्धित है अतः उसके प्रत्येक कार्य में बुद्धि और भावना का योग होता है। मनुष्य ब्रह्म की सर्वश्रेष्ठ सृष्टि है अतः उसकी भावनाओं का व्यक्तित्व और सामाजिक दोनों प्रकार का महत्व है चूँकि मनुष्य भावनामय और अनुभूतिमय प्राणी है, अतः उसके हृदय में विभिन्न प्रकार की भावनाएँ रहा करती हैं।

जीवन में प्रेम का महत्व—इस असंख्य भावनाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भावना प्रेम की है। प्रेमभाव के दो पक्ष होते हैं: संयोग पक्ष—जिसमें दो प्रेमी एक साथ और अनुकूल मनोवृत्ति से रहते हैं तथा वियोग—जिसमें दोनों प्रेमी एक दूसरे से अलग रहते हैं। यह वियोग शरीर तथा मन दोनों से सम्बन्धित हो सकता है। जिसमें मन की ही सत्ता महत्वपूर्ण है। मन की ही स्मृति-प्रवणता के कारण विरह प्रेम की जागृत गति से कहा गया है और मिलन को सुषुप्ति कहा गया है।

प्रेम और वियोग विरह प्रेम की जागृत गति है और सुषुप्ति मिलन है—इसका तात्पर्य यह हुआ कि विरह की दशा में प्रेम हृदय और मन को पूर्ण रूप से व्याप्त किए रहता है। इस दशा में दोनों शरीर या मन से किसी कारणवश अलग रहते हैं, पर उनमें प्रेम के कारण आंतरिक और अटूट सम्बन्ध बना रहता है तथा वे न चाहते हुए भी एक दूसरे को बराबर स्मरण करते रहते हैं। दोनों के हृदयों में प्रेम निरन्तर पल्लवित होता रहता है। दोनों प्रेम से अभिभूत रहा करते हैं। इस प्रकार विरह की अवस्था में प्रेम जागता रहता है। मिलन प्रेम की सुषुप्ति कहा जाता है। मिलन की दशा में दोनों प्रेमी एक साथ रहते हैं। अतः उनमें हास-परिहास, बातचीत का क्रम इतना लम्बा होता है कि उन्हें प्रेम का अनुभव नहीं हो पाता। मिलन-काल में प्रेम का रंग थोड़े ही समय के बाद फीका पड़ जाता है। दोनों के बराबर साथ रहने के कारण उनमें अन्यमनस्कता आ जाती है और एक दूसरे के महत्व को कम जानते हैं। उनमें प्रेम का भाव सुप्तावस्था में ही विद्यमान रहता है। इसलिए मिलन को प्रेम की सुषुप्ति कहा गया है।

प्रेम और वियोग की संस्कृति—प्रेम हृदय की वह वृत्ति है जो इच्छित वस्तु या व्यक्ति के प्रति एक प्रकार का आकर्षण उत्पन्न करती है। प्रेम में प्रिय के लिए एक चाह होती है। प्रेमी के मन में प्रिय के साथ रहने तथा उस पर एकाधिपत्य पाने का लोभ रहता है। प्रेमी सदा यह आशा रखता है कि उसका प्रिय भी उससे उसी तरह प्रेम करे जिस प्रकार से वह प्रेम करता है। अतः प्रेम दोनों ओर से होता है। वह प्रतिदान चाहता है। इसका प्रभाव दोनों ओर समानुपात में पड़ता है। प्रेम पूर्णतः अनुभूति प्रधान भावना है। प्रेम की तीव्रता के साथ ही हृदय की व्याकुलता बढ़ती है। प्रेम यह नहीं चाहता कि जिसको मैं प्यार करता हूँ उसे और भी लोग प्रेम करें तथा वह अनेक का होकर रहे। अतः प्रेम में एकान्तता अपेक्षित होती है। यदि एक ही व्यक्ति से अनेक प्रेम करने लगते हैं तो स्वभावतया किसी से भी उसकी अनन्यता नहीं हो पाती। प्रेम में दोनों पक्ष एक दूसरे के सुख से सुखी रहते हैं। हर प्रेमी अपने प्रिय को अनिष्ट की आशंका से बचाना चाहता है। वास्तविक प्रेमी की सबसे बड़ी पहिचान

यह है कि वह वियोग में निरन्तर बढ़ता है तथा पुनर्मिलन में नवीन रूप धारण कर लेता है। यदि प्रेम क्षणिक या स्वार्थमय है तो वह प्रेम की परिभाषा में नहीं आ पायेगा। यह कतिपय विशेषताएँ प्रेम में पाई जाती हैं। विरह में प्रेमतत्व किसी न किसी प्रकार से सक्रिय रहता है तथा मिलन में वे तत्व अधिकांश सुप्तावस्था में रहते हैं। जैसे मान लिया कि हम दो प्रेमी एक साथ हैं; तो वहाँ अनिष्ट की शंका नहीं उठेगी, जो अलग रहने पर अस्तित्व-हीन होने पर भी अनुमान में स्थान पा जाती है। मिलन की अवस्था सांसारिक कार्यक्रमों मे ही हम इतने व्यस्त रहते हैं कि मशीनवत कालक्षेप करते जाते हैं अतः प्रेम की सुषुप्ति बनी रहती है।

साहित्यकारों की सृष्टि में वियोग का महत्व—अब कवियों और साहित्यकारों की ओर थोड़ा-सा ध्यान देना आवश्यक है। विश्व साहित्य का प्रेममय भाग अधिकांश में विरह गाथाओं में भरा पड़ा है। संयोग शृंगार पर वियोग शृंगार की अपेक्षा बहुत ही कम लिखा गया है। वियोग का सम्बन्ध करुणापूर्ण दुःखात्मक भावनाओं से है और उसमें अनुभूतियाँ तीव्र हो जाती हैं तथा सहानुभूति में व्यापकता आ जाती है। कदाचित् इसीलिए महाकवि भवभूति ने 'एको रसो करुणएवं निमित्त भेदात्' कह दिया। तात्पर्य यह है कि करुणा रस ही प्रधान रस है तथा दूसरे रस इसके भेद के निमित्त आते हैं। विरह में करुण की निराशा के स्थान पर मिलन की सम्भावना बनी रहती है। किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रेम की जागृति और सुषुप्ति की दोनों अवस्थाएँ शृंगार में पायी जाती हैं। शृंगार के ही दो पक्ष विरह और मिलन हैं।

साहित्यकारों ने विरह को ही अधिक महत्व दिया है। विश्व के प्रत्येक साहित्य में संयोग की अपेक्षा वियोग को महत्व प्रदान किया गया है। श्रीमद्भागवद में विरह-वर्णन का प्रसंग बहुत लम्बा-चौड़ा है। रामायण में बालमीकि ऋषि ने बड़ी विशदता से राम-सीता के विरह-वर्णन में अधिक रुचि ली है। महात्मा सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, जायसी, विहारी, देव आदि सभी कवियों ने विरह का विशद वर्णन किया है। विरह में प्रेम का निखरा हुआ रूप दिखाई पड़ता है। विरह में भावनाएँ अधिक जागृत रहती हैं और प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। दूसरी बात यह है कि विरह में प्रेम अपने विविध रूपों में सामने आता है और संयोग-काल की घटनाएँ विरह में नवीन रूप धारण करके स्मृति-पथ में निरन्तर आती रहती हैं। इस प्रकार विरह में प्रेम निरन्तर जागता रहता है।

मिलन (संयोग शृंगार) का वर्णन कवियों ने कम ही किया है। जो वर्णन संयोग शृङ्गार सम्बन्धी किए गये हैं उनमें अधिकांश एकरूपता रहती है। भावनाओं का विकास सीमित रूप से होता है। होली, गो-दोहन, क्रीड़ा, रासलीला आदि वर्णन इसी प्रसंग में आते हैं। संयोग काल में प्रेम का रूप शान्त ही रहता है। मिलन में प्रेम विविधता नहीं प्राप्त करता। वियोगावस्था में प्रेम जागृत हो जाता है। यथा—

'इत उत जग में दीवानी सी फिरति रही,
कौन बदनामी जौन सीस पै लई नहीं।
त्रास गुरु लोगन कै आस कै अनेक सह्यों
कब बहु भाँतिन के ताप से तई नहीं।
'हरिचन्द्र गिरि-बन कज जहाँ जहाँ सुन्यों,
कह उठि धाय कै तहाँ तहाँ गई नहीं।
होनी अनहोनी कीनि सबहि तिहारे हेतु,
तऊ प्राण प्यारे भेट तुम ते भई नहीं॥

इसमें प्रेम का सजग रूप स्पष्ट हो गया है। परन्तु—

'नासा मारि नचाय दृग करी कका की सौंह।
काँटे-सी कसकति हिए, बड़ी कटीली भौंह।

में मिलन है और भाव-भंगिमाओं की कला है पर प्रेम का जागृत रूप नहीं है। जिनमें भावात्मक अनुभूति कम है अतः प्रेम की सुप्तावस्था ही मिलन में रहती है। उनकी जागृतावस्था तो वियोग ही में है।

१२९. "जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना"

१—भूमिका, २—सुमति का स्वरूप और महिमा, ३—सुमति द्वारा सम्पत्तियों की प्राप्ति, ४—सुमति के न होने से हानि, ५—उपसंहार।

भूमिका—संसार के समस्त जीवों में मनुष्य श्रेष्ठ है, इसका कारण है उसकी बुद्धि और जीवों की अपेक्षा वह अधिक बुद्धिमान है। वह केवल वर्तमान की ही नहीं सोचता, वरन् भविष्य के विषय में भी विचार करता है। वह अपनी ही नहीं सोचता दूसरों के सम्बन्ध में भी विचार करता है। मनुष्य में उचित और अनुचित का ज्ञान कराने वाली बुद्धि का निवास है। वह बुद्धि ज्ञान और अज्ञान से ग्रस्त तदनुरूप कार्यों में प्रवृत्त करती है। अतएव बुद्धि के दो पक्ष हैं सुबुद्धि और दुर्बुद्धि। जिन मनुष्यों की बुद्धि अज्ञान के अन्धकार से ग्रस्त होती है उनकी बुद्धि को दुर्बुद्धि कहते हैं। इसे ही कुमति पुकारा जाता है। जो बुद्धि ज्ञान के प्रकाश से युक्त होती है उसे सुबुद्धि कहते हैं। उसे सुमति भी कहा जाता है।

सुमति का स्वरूप और महिमा—संसार में यों तो प्रत्येक जीव के पास बुद्धि है परन्तु जो अपनी बुद्धि को उचित कार्यों में लगा देता है उसे ही हम बुद्धिमान कहते हैं और कहते हैं कि वह बड़ा सुबुद्धि वाला है। सुबुद्धि की बड़ी महिमा है। जब हम किसी को अनुचित कार्य करते देखते हैं तो हम कहते हैं कि भगवान उसे सुमति दे। अतः सुमति का अर्थ है कि सुन्दर मति, ऐसी मति जो हमें उचित कार्यों में लगाती है। इसलिए हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह हमें सुमति दे। जब तक मनुष्य में सुमति रहती है तभी तक वह अच्छे कार्यों में संलग्न रहता है। जहाँ कुमति आ जाती है वहाँ सुमति दूर हो जाती है। वह अनुचित कार्यों में संलग्न हो जाता है। कहा गया है।

'कुमति कुज तिन जेहि घर व्यापै सुमति सुहागिन जाय बिलाय।'

सुमति सुहागिन के हटते ही कुमति कुलच्छिन मनुष्यों को ऐसे कार्यों के लिए प्रेरित करती है जो मनुष्य को दुख देने वाले होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—

जाको विधि दारुन दुख देई, ताकी मति पहलेहिं हरि लेई।

अर्थात् विधाता जिसको अत्यधिक कष्ट देता है उसकी बुद्धि को पहले ही हर लेता है। उसमें सुबुद्धि के बाद कुबुद्धि आ जाती है। सुखों की प्राप्ति के लिए सुमति की ही आवश्यकता है। यही सुमति की महिमा है।

सुमति द्वारा सम्पति की प्राप्ति—सुमति द्वारा सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। सम्पत्ति हैं—धन, स्त्री, पुत्र और सुख। इन सभी की प्राप्ति विवेक अथवा सुबुद्धि द्वारा ही सम्भव है। कहा गया है।

'सहसा विदधांत न क्रियां, अविवेकः परमापदां पदं।
वृणते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धः स्वयेव सम्पदः ।।

अर्थात् किसी कार्य को अचानक नहीं करना चाहिए, क्योंकि अविवेक बहुत बड़ी-बड़ी मुसीबतों का स्थान है। गुणों पर मोहित रहने वाली सम्पत्तियाँ विचार करके कार्य करने वाले का स्वयं वरण करती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ सुमति का साम्राज्य होता है वहाँ सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। सुमति के अभाव में व्यक्ति सोच-विचार कर कार्य नहीं करता और फलस्वरूप उसे अनेक कष्टों को उठाना पड़ता है—

'बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछिताय।'

सुमति के द्वारा ही धन-दौलत की प्राप्ति होती है। जब लोग मिल-जुलकर कार्य करते हैं तो लक्ष्मी की कृपा अवश्य होती है। जिस देश में सुमति का साम्राज्य है और एकता है वहाँ धन-धान्य का अभाव नहीं रहता। सुमति ही दरिद्रता के बन्धनों को काट देती है।

सुमति के द्वारा ऐश्वर्य सुख की भी प्राप्ति होती है। उसके द्वारा शक्ति आती है और चारों ओर गौरव फैल जाता है। जिस देश, जिस जाति और जिस परिवार के लोग सुमति का आश्रय लेकर प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए तत्पर रहते हैं, वही देश, वही जाति और वही परिवार उन्नति करता है। उन्हीं लोगों का सर्वत्र आदर होता है। सुमति ही सफलता की जननी है। जीवन में वही व्यक्ति सफल होता है जो कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी अपनी बुद्धि पर भरोसा रखता है और विचार करके कार्य करता है। दुर्जनों का आदर करना, बड़ों के प्रति अप्रिय न बोलना और सबसे नम्र और उदार बने रहना आदि गुण सुमति के द्वारा ही आने हैं। जिनमें सुमति नहीं है, जो हठी और अभिमानी हैं वह इन गुणों ने वंचित रह जाते हैं।

सद्बुद्धि के द्वारा हम पर नियंत्रण रहता है। हम भावावेश में कोई अनुचित कार्य नहीं करते हैं। उच्छृंखलता की मूल्य कुमति होती है। इसलिए हमें सदैव विचार-पूर्वक कार्य करना चाहिए। उससे हमें प्रत्येक क्षेत्र में सुख और सम्पत्ति को प्राप्ति होती है।

सुमति ही विद्यारूपी धन की दात्री है। जिन व्यक्तियों की बुद्धि में अच्छी बातें नहीं आती हैं वे गुणवान और बुद्धिमान नहीं बन सकते। विद्या ही वह धन है जिसे न चोर चुराता है और न आग जलाती है। इन धन की प्राप्ति सुमति द्वारा ही होती है।

जीवन में समस्त प्रकार के सुख चाहे वह पारिवारिक क्षेत्र में हों अथवा सामाजिक क्षेत्र में सुमति द्वारा ही प्राप्त होते हैं। वैयक्तिक जीवन में पति-पत्नी भी सुखपूर्वक तभी तक रह सकते हैं जब तक वे विचार करके कार्य करें। जिनमें बुद्धि नहीं होती है वे स्त्री-पुरुष अपने जीवन के समस्त सुखों को क्षणभर में खो बैठते हैं।

सुमति के अन्य लाभ—मनुष्य में सुमति का न होना उसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। जहाँ सुमति नहीं है, वहाँ दम्भ, दर्प, क्रोध और अधैर्य का साम्राज्य होता है। मनुष्य गर्व में अन्धा हो जाता है और ऐसे कार्यों को करने में नहीं हिचकिचाता जो उसके और समाज के दोनों के लिए ही हानिकारक होते हैं। सुमतिहीन लोगों से

सम्पत्ति सदैव दूर रहती है। सम्पत्ति का सम्बन्ध सुमति से होता है और जब सुमति के न होने पर कुमति अपना जाल फैला देती है तो सम्पत्ति वैसे ही चली जाती है जैसे घर आया हुआ साधु उचित सम्मान न मिलने पर वापस चला जाता है।

कुबुद्धि के फलस्वरूप लोग दूसरों से संघर्ष मोल लेते हैं, कुमार्ग पर पैर रखते हैं, मनमाना आचरण करते हैं, दूसरों को कष्ट देते हैं और जीवन में जितने भी अनाचार होते हैं वे करने में नहीं हिचकिचाते। कुबुद्धि के प्राबल्य में विपत्तियाँ मनुष्य का साथ नहीं छोड़तीं।

वास्तव में सुमति के द्वारा प्रेम और एकता का संचार होता है। प्रेम और एकता शक्ति और समृद्धि की जननी हैं। अँग्रेजी उक्ति है—United we stand, divided we fall.'' अर्थात् एकता में शक्ति है और फूट में पराजय।

डॉ० मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है—

घटे न हेल-मेल हाँ! बढ़े न भिन्नता कभी,
अतर्क्य एक पन्थ के सतर्क पान्थ हों सभी।

उपसंहार—आधुनिक युग में मनुष्य को सबसे अधिक आवश्यकता सुबुद्धि की है। इस संसार में जहाँ चारों ओर भ्रष्टाचार, उच्छृंखलता, अनर्गलता और अनुत्तरदायित्व की भावना व्याप्त है तथा द्वेष एवं घृणा अपना साम्राज्य फैलाये बैठे हैं, मनुष्य को उस सद्बुद्धि की आवश्यकता है जो उसे विचारशील बनाये। मनुष्य अन्याय के मार्ग को त्यागकर न्याय के मार्ग को अपनाए और नैतिकता का विकास करें। आज संसार में चारों ओर संघर्ष के बादल मंडरा रहे हैं। मनुष्य अपने भाई को ही खाये जा रहे हैं। अनैतिकता अपने नग्न रूप में विद्यमान है। इस सबका कारण क्या है—सुबुद्धि का अभाव। इसके अभाव के फलस्वरूप ही हमारा पतन होता जा रहा है। यदि मनुष्य सुबुद्धि का आश्रय ले, तो संसार में प्रेम और सौन्दर्य का साम्राज्य स्थापित हो जायगा। स्वार्थ की भावना दूर होगी और सम्पत्तियाँ स्वयं आवेंगी, क्योंकि बाबा तुलसीदास की उक्ति पूर्णतया सत्य है।

"जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना, जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।"

●

१३०. "हानि-लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ"

१—भूमिका, २—हानि लाभ विधि हाथ, ३—यश-अपयश विधि हाथ, ४—जीवन मरण विधि हाथ, ४—उपसंहार।

भूमिका—मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है। वह चाहे तो आकाश के तारों तोड़ ले, चाहे तो पृथ्वी के वक्षस्थल को तोड़कर पाताल लोक मे प्रवेश कर जाय, और चाहे तो प्रकृति को खाक बनाकर उड़ा दे। उसका भविष्य उसकी मुट्ठी में है। प्रयत्न के द्वारा वह क्या नहीं कर सकता? यह समस्त बातें हम अतीत काल से सुनते चले आ रहे हैं और इन्हीं बातों को सोचकर कर्मरत होते हैं परन्तु अचानक ही मन में यह विचार आ जाता है कि क्या हम जो कुछ करते हैं वह हमारे वश की बात है? क्या निरन्तर प्रयत्न करने पर हम जो चाहे वह होता है? उत्तर है नहीं। हम कर्म

करते हैं परन्तु फल कहीं और होता है। कार्य हम करते हैं और फल ईश्वर देता है। यह भाग्यवादी विचारधारा कही जाय या आस्तिक विचारधारा परन्तु इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं कि बड़े-बड़े नास्तिक भी एक दिन ऐसा आता है जब भाग्यवादी बन जाते हैं। जब काल अपना विकराल मुख फाड़े हुए सामने आता है तो करोड़ों व्यक्तियों को मौत के बन्धन से बचाने वाला डाक्टर भी उसके आगे नतमस्तक हो जाता है। यह विधि का विधान नहीं तो और क्या है? निरन्तर मौत पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने वाला जीव-शास्त्री एक दिन स्वयं मौत के पंजे में पड़ जाता है। यह ईश्वर का ही तो खेल है।

जीवन में लाभ-हानि का महत्व—हमें जीवन में कब हानि होगी और कब लाभ होगा, हम नहीं जानते। कब किसको मृत्यु होगी, यह कोई नहीं जानता। किसको यश मिलेगा और किसको अपयश, इस बारे में किसी को ज्ञात नहीं। यह सब बातें विधि के हाथ में हैं। जो उसने हमारे लिए निर्धारित कर दिया है वही हमें मिलेगा। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। हमारी बात तो जाने दीजिए बड़े-बड़े महापुरुष भी एक समय ऐसा आता है, जब हतप्रेम, निरुपाय और किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। उन्हें यह ज्ञात होता है कि सभी साधन उपलब्ध होते हुए भी हम कुछ नहीं, बल्कि विधाता के हाथ की कठपुतली हैं।

हानि-लाभ-विधि-हाथ—हम नहीं जानते कि किस कार्य के करने में हमें कब हानि होगी और कब लाभ। महापुरुष राम जिनके सीता जैसी पत्नी और लक्ष्मण जैसा भाई है, जिनके राज-तिलक की तिथि वशिष्ठ जैसे ज्ञानियों ने बहुत सोच-समझकर निकाली है, वही राम विधि की विडम्बना से क्षण भर में ही अपने राज्य को खो देते हैं। वह नवयुवक जिसे राज-सिंहासन प्राप्त होने वाला था, बनवासी बन जाता है। सीता जैसी सुकुमारी को बन में विचरण करना पड़ता है, लाभ होने के बजाय उन्हें यह हानि उठानी पड़ती है। कहा भी गया है—

"करम गत टारे नाहिं टरी"

कब हमें लाभ होगा, इस विषय में भी हम कुछ नहीं कह सकते। लोगों की घर बैठे लाटरी निकल आती है, यह भाग्य ही का तो खेल है। पानी छिड़कने वाला एक भिश्ती एक दिन अकस्मात बादशाह हुमायूँ की रक्षा करता है और १ दिन के लिए भारतवर्ष का बादशाह बन जाता है। विधि का यह अजीब विधान है। इस विधान को देखकर मानव स्वयं सोचने लगता है कि उसके पास क्या शक्ति है। उसके तो प्रत्येक कार्य में भाग्य आगे चल रहा है।

यश और अपयश का जीवन में महत्व—यश और अपयश विधाता की मुट्ठी में बन्दी है। वह जब चाहता है, यश देता है और जब चाहता है अपयश। इन्द्र ने पता नहीं कितनी बार अपना सिंहासन खोकर अपयश पाया परन्तु आज भी इन्द्र ही है। गौतम की पत्नी अहिल्या के प्रेम में पड़कर उनकी बड़ी छीछालेदर हुई परन्तु फिर भी आज भी वह देवराज इन्द्र कहलाते हैं। बचपन में महात्मा गांधी को देखकर कौन कह सकता था कि वह दुबला-पुतला साधारण बुद्धि वाला बालक एक दिन राष्ट्र-पिता कहलाएगा। उसकी जय-जयकार होगी और सब उसे 'बापू' के नाम से सम्बोधित करेंगे।

आइए अब अपयश के क्षेत्र में विधाता की करनी पर दृष्टिपात करें। रूस को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाला स्टालिन अपनी मृत्यु के पश्चात् अपयश का भागी हुआ। परन्तु धीरे-धीरे आज फिर उसका सम्मान होता जा रहा है। इन्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्णों के जीवन की कहानी एक अजीब ही कहानी है। एक समय ऐसा था जब सुकर्णों स्वतन्त्रता की लड़ाई का नेता समझा जाता था और इण्डोनेशिया के स्वतन्त्र होने के पश्चात वह वहाँ का राष्ट्रपति बना। चारों ओर उसकी जय-जयकार होती थी। परन्तु भाग्य की एक ठोकर ने उसे अपयश का भागी बना दिया। आज इण्डोनेशिया में प्रेसीडेण्ट सुकर्णों को कोई पूछता नहीं। अतः यश और अपयश विधि के हाथ में है।

जीवन और मरण तथा उसका महत्व—जीवन और मरण भी विधाता के हाथ में है। कोई नहीं जानता कि कब किसको जीवन मिलेगा और कब किसकी मृत्यु होगी। अनेक व्यक्ति कठिन से कठिन परिस्थितियों में जीवित बच जाते हैं। प्रह्लाद को मारने के लिए क्या-क्या प्रयत्न नहीं किए गए। उसे पहाड़ से गिराया गया, हाथियों के पैरों तले फेंक दिया गया, चिता में जीवित जलाया गया, परन्तु उसका बाल बाँका न हुआ। अन्त में हिरण्कश्यपु ही का बध हुआ। उसके सारे बरदान धरे रह गए और वह मौत के घाट उतार दिया गया। अभी कुछ समय पूर्व समाचारपत्रों में एक समाचार प्रकाशित हुआ था कि चलती गाड़ी के एक डिब्बे के शौचालय में एक स्त्री ने बालक को जन्म दिया। बालक गिरकर पटरियों के बीच जा पड़ा। सारी गाड़ी इस नन्हीं सी जान के ऊपर से निकल गई परन्तु उसका कुछ न हुआ। कहा गया है—

"जाको राखे साइयाँ, मार सकै न कोय।
बाल न बाँका कर सकै, जो जग बैरी होय॥"

अब मरण की बात लीजिए। आपने ऐसी अनेक घटाएँ सुनी होंगी कि लोग सोते सोते मर गए, चलते-चलते मर गए, खाते-खाते मर गये। अपनी मृत्यु का हमें कुछ पता नहीं कि वह कब आ जाय। भारत के प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री श्री अयूब खाँ से बातचीत करने रूस गये। दोनों में वार्तालाप हुआ और ताशकन्द के प्रसिद्ध समझौते पर हस्ताक्षर हुए। किसे पता कि इतना महत्वपूर्ण कार्य करने के पश्चात् शास्त्रीजी काल के ग्रास में समा जायेंगे। किसको मालूम था कि भारत के इस सपूत की मिट्टी ही भारत आयेगी। प्रार्थना भवन से चलते समय किसने सोचा था कि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी पुनः प्रार्थना करने कभी नहीं आयेंगे। यह सब भाग्य की विडम्बना नहीं तो और क्या है? स्थिति को देखकर नियति मुस्कराती है और कहती है कि क्षुद्र मानव तू अपने को बड़ा शक्तिशाली समझता है। तुमसे भी अधिक शक्तिशाली एक तेज है। वही है तेरा नियन्ता, तेरा विधि विधान, उसके आगे तेरी एक नहीं चलती।

उपसंहार—इन समस्त बातों से यही ध्वनि निकलती है, मनुज बली नहिं होत है समय होत बलवान' और 'करम गति टारे नाहि टरी'। जीवन में सुख-दुख, हानि-लाभ, यश-अपयश आदि सभी बातें विधाता के हाथ में हैं और मनुष्य विधि के हाथों का एक खिलौना मात्र है। परन्तु इसके अर्थ यह नहीं कि हम इतने भाग्यवादी हो जायें कि कायरों की भाँति निष्क्रिय होकर बैठ जायें। हमें हानि और लाभ, फला-फल के द्वन्द्व से रहित होकर निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए। कहा भी गया है।

कर्म मात्र का तू अधिकारी है, फल का नहीं तुझे अधिकार!

अपभ्रंश या सिद्धकाव्य—अपभ्रंश से पूर्व हिन्दी का प्राचीनतम रूप तांत्रिक सिद्धों की रचनाओं में सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में मिलता है। जिस प्रकार 'गाथा' या 'गाहा कहने से प्राकृत का बोध होता था, उसी प्रकार 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश का। हिन्दी की सबसे प्राचीन कविता सरहपा सिद्धाचार्य (८०० वि०) की प्राप्त हुई है, जिसका उदाहरण निम्न प्रकार है—

जहि मन पवन न सँचरइ, रवि शसि नाह प्रवेश।
तहि घट चित्त विश्राम करु सरहे कहिअ उवेश॥

[जहाँ मन और पवन संचार नहीं करता, जहाँ रवि-शशि का प्रवेश नहीं है, उसी घट में हे चित्त विश्राम कर। सरह ने यह उपदेश कहा।]

इस दोहे में आठवीं शताब्दी की हिन्दी का स्वरूप मिलता है। यह भाषा भारत के पूर्वी भाग में बोली जाती थी। दूहा भी हिन्दी का ही छन्द है। विक्रम शीला के महा पंडित ताडपाड (११ वीं शताब्दी) की निम्न रचना में हिन्दी के दर्शन अपभ्रंश के अन्तर्गत होते हैं—

अपणों नाहि सो काहेरि शंका।
ता महा मूदेरी टूटि गेली कंखा॥

[अपना मन जल नहीं रहा, तब शंका किस बात की। उस महामुद्रा की कांक्षा भी टूट गई।]

उक्त कविता में बिहारीपन है। कुछ समय तक अपभ्रंश-गर्भित हिन्दी का प्रयोग कविता में होता रहा। हेमचन्द्र के 'कुमारपाल चरित्र' में अपभ्रंश के पद मिलते हैं। जैनाचार्य मेरुतुंग के प्रबन्धकाव्य 'चिन्तामणि' में भी अपभ्रंश का सौन्दर्य मिलता है। शारंगधर के 'हम्मीर रासो' में अपभ्रंश का बहुत प्रयोग हुआ है। साहित्यिक दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ काव्य है।

वीरगाथा-काव्य—सम्राट हर्ष की मृत्यु के पश्चात् भारत छोटे-छोटे भूभागों में विभाजित हो गया। देश की अखंडता नष्ट हो गई। राजपूत पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष के कारण युद्ध करते थे। चारों ओर युद्ध की विभीषिका उपस्थित थी और शस्त्रों की झंकार सुनाई पड़ती थी। संगठन और एकता के अभाव में हिन्दू राज्य पराजित हो रहे थे। अतः ऐसे संघर्षमय समय में ओजस्वी वीर भावों की कविता होना ही संभव था। अतः चारणों और बन्दीजनों ने योद्धाओं तथा अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ लिखकर उत्साह का संचार किया। ये चारण कवि अपने आश्रयदाता के साथ युद्ध में भी भाग लेते थे। वीरोत्साह के साथ-साथ विलास की भावना भी राजपूत राजाओं में प्रबल थी। प्रायः कोई न कोई राजकुमारी या सुन्दरी ही युद्ध का कारण बन जाया करती थी। **"जेहि की बिटिया सुन्दर देखी, तेहि पर जाय धरे हथियार"** का वातावरण राजपूत समाज में था। अतः चारण काव्य में वीर-रस के साथ में शृंगार-रस को भी स्थान मिला है।

वीर-गाथात्मक काव्यों को 'रासो' नाम दिया गया है, जो कि 'रसायन' शब्द से बना है। 'रसायन' शब्द किसी रस विशेष का बोध कराता है। ये रासो तत्कालीन भाट कवियों ने अपने-अपने आश्रयदाताओं के शौर्य और विजय के उपलक्ष में रचे हैं।

वीरगाथाओं के प्रकार—वीरगाथाएँ (१) प्रबन्धकाव्य और (२) वीर गीतों

के रूप में मिलती हैं। दलपति विजय का 'खुमान रासो, (८७०-६०० वि०) वीर-काव्य में प्राचीनतम है, जिसमें चितौड़ के सबल खुदान द्वितीय के पराक्रम का वर्णन है। इसके अतिरिक्त 'हम्मीर रासो', परमाल रासो' और चन्दवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो', प्रबन्धात्मक वीर-काव्य के उदाहरण हैं। नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' और जगनिक का 'आल्हाखंड' गीति काव्य का उदाहरण है।

'पृथ्वी रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है और इसके रचियता चन्दवरदाई हिन्दी के प्रथम कवि कहे जाते हैं। रासो की प्रामाणिकता में विद्वानों ने सन्देह व्यक्त किया है। यद्यपि इसका अधिकांश भाग प्रक्षिप्त माना जाता है। तथापि कुछ अंश-प्राचीन भी हैं। 'पद्मावती' समय से एक उदाहरण लीजिए—

दूहा—पूरब दिसि गढ़ गढ़पति, समुद सिखर अति दुग्ग।
तह जु विजय सुर राजपति, जादी कुलह अभग्ग॥

जगनिक ने 'आल्हाखंड' में महोबा के दो वीर आल्हा और ऊदल की वीरता का गान किया है। यह ग्रन्थ आज अपने मूल रूप से प्राप्त नहीं है। अपने परिवर्तित रूप में इसके गीत उत्तरी भारत के गाँव-गाँव में प्रचलित है।

वीरगाथात्मक काव्य में ऐतिहासिकता संदिग्ध है, किन्तु इनका साहित्यिक सौष्ठव अनुपम है। इसमें प्राया 'डिंगल' भाषा का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश तथा देशज भाषा का प्रयोग ही इन ग्रन्थों में होता रहा।

वीरगाथा काल में वीर-रस के साथ में धार्मिक, लौकिक एवं मनोरंजन की दृष्टि से भी कुछ रचनाएँ हुईं। मुल्ला दाउद, अमीर खुसरो तथा विद्यापति ने अपनी-अपनी स्वतन्त्र रचनाएँ कीं। दाउद ने प्रेम-कथा लिखी; खुसरो ने मुकरियाँ और पहेलियाँ तथा मैथिल कोकिल विद्यापति ने राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं को मधुर पदों में मुखरित किया। खुसरो की कविता में आधुनिक खड़ी बोली का भी रूप मिलता है। निम्न उदाहरण में देखिए—

मेरा मोसे सिंगार करावत,
आगे बैठ के मान बढ़ावत।
वासे चिक्कन न कोउ दीसा,
ऐ सखि साजन न सखि सीसा।

अमीर खुसरो जनता के मनोरंजक साहित्य के सर्वप्रथम कवि के रूप में सदैव चिरस्मरणीय रहेंगे। काव्य-भाषा के विकास की दृष्टि से विद्यापति की पदावली का एक उदाहरण देखिए।

सरस बसन्त समय भल पाओलि,
दछिन पवन बह धीरे।
सपनहु रूप बचन एक भाषिय,
मुख से दुरि करु चीरे॥

वीरगाथा काल के काव्य की विशेषताएँ—१. वीरकाव्य में आश्रयदाताओं की प्रशंसा है।

२. वीर रसात्मक काव्य लिखे गये; जिनमें शृंगार-रस का भी पुट मिलता है।

३. युद्धों का सजीव वर्णन मिलता है।

४. 'रासो' तथा वीर गीतों की रचना हुई ।
५. सिद्ध साहित्य, नाथ-साहित्य और जैन साहित्य का प्रभाव रहा ।
६. अपभ्रंश मिश्रित तथा डिंगल काव्य का प्रयोग हुआ ।
७ वीरगाथात्मक काव्यों की ऐतिहासिकता संदिग्ध है ।
८. काव्य में कल्पना की अतिरंजना की प्रचुरता है ।

भक्तिकाल

उदय की परिस्थितियाँ—भक्तिकाल का उदय हिन्दू-जीवन के नैराश्य से हुआ । सं० १४०० के आस-पास मुसलमान साम्राज्य की स्थापना हो गई थी । राजनैतिक पराजय से देश की काया पलट गई थी । राजपूतों की शक्ति नष्ट हो गई थी । अत: अब वीर गाथाएँ लिखने का अवसर नहीं था । धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए हिन्दू जन-जीवन करुणामय भगवान की भक्ति की ओर झुका । दक्षिण भारत से भक्ति का एक प्रबल स्रोत फूट पड़ा, जिसने शीघ्र ही समस्त देश को आप्लावित कर दिया । भक्तिकाल का विभाजन निम्नलिखित प्रमुख शाखाओं में किया जा सकता है ।
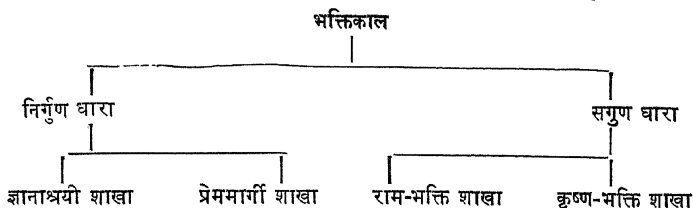
निर्गुण धारा—निर्गुण पंथी कवियों का ध्येय निराकार की साधना से मुक्ति प्राप्त करना था । उन्होंने योगसाधन और ब्रह्म-ज्ञान को अपनी कृतियों में प्रधानता दी । धार्मिक उन्माद और आडम्बर का विरोध कर उन्होंने मन की पवित्रता, सदाचार और समता पर बल दिया । सन्तों के कई पंथ प्रचलित हुए । ये सन्त प्राय: निम्न वर्ग के थे । अत: उन्होंने जाति-पाँति को तिलाँजलि देकर सबके लिए भक्ति का मार्ग खोल दिया । इन ज्ञानामार्गी भक्त कवियों पर नाथपंथी हठयोगियों एवं सूफियों का विशेष प्रभाव पड़ा था । इस शाखा के प्रमुख कवि कबीर, रैदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादूदयाल, सुन्दर-दास और मलूकदास हुए । कबीर ने अपना अलग पंथ चलाया और जन-साधारण की सरल भाषा में अपने विचार अभिव्यक्त किये । उन्होंने निर्गुण उपासना रखते हुए भी 'नाम' को प्रधानता दी और हिन्दी काव्य में ज्ञान-मार्ग की धारा बहाई । उन्होंने निर्गुण-वाद को शृंगारिक रूप भी दिया ।

प्रेममार्गी शाखा—सन्तों की वाणी में खंडन-मंडन की प्रधानता थी । उसमें हृदय को स्पर्श करने वाली सरसता न थी । प्रेमकाव्य का प्रारम्भ भौतिक प्रेम से ही होता है । परन्तु वह प्रेमी-प्रेमिकाओं का ईश्वर और जीव के प्रेम का उदाहरण बनकर 'सूफी मत' के द्वारा आध्यात्मिक रहस्यवाद की ओर प्रवृत्त होता है । प्रेम-मार्गी शाखा के कवि प्राय: मुसलमान थे । इन कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समझौते का प्रयत्न किया । इन्होंने हिन्दुओं की वाणी में उनके घंटों की प्रेम पीर से सनी प्रबंधात्मक दोहा-चौपाइयाँ लिखीं । कहानी के पात्र आध्यात्मिक रूप से आत्मा-परमात्मा और माया के

प्रतीक रहते थे। इन प्रेममार्गी कवियों ने किसी सम्प्रदाय विशेष का खंडन मंडन न करके प्रेमगाथाओं के द्वारा प्रेम की कोमल अभिव्यंजना द्वारा हृदय को स्पर्श करने का प्रयत्न किया है।

सगुण धारा

राम-भक्ति शाखा—भारत में बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् शंकराचार्य का वेदान्तवाद प्रचलित हो गया था। किन्तु उसमें ज्ञानवाद की शुष्कता थी। अतः वह जन-जीवन को आकर्षित न कर सका। जनता के हृदय की भूख की तुष्टि न हुई। सूफी कवि प्रेम-मार्ग का पोषण कर जनता के हृदय को कुछ सरसता दे सका। परन्तु उनके काव्य पर विदेशीपन तथा इस्लाम का अधिक प्रभाव था। अतः यह भारतीय जनता के परम्परा सिद्ध आदर्शों के अनुकूल न थी। हिन्दू धर्म में वेदान्त के विरोध में विशिष्टाद्वैत एवं अन्य वैष्णव सम्प्रदायों का उदय होने लगा था। भक्तिकाव्य की रामभक्ति शाखा में ब्रह्म की व्यावहारिक सत्ता का आधार स्वामी रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद था। समस्त जगत् के प्राणी चिदचिद्दृष्टि ब्रह्म के ही अंश हैं। वे उसी से उत्पन्न होते हैं, वे उसी में लीन हो जाते हैं। अतः प्राणी मात्र को उसका सानिध्य प्राप्त करना चाहिए। विशिष्टाद्वैत के अनुयायी स्वामी रामानन्द ने मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम की भक्ति का अधिकार शूद्र-द्विज, नर-नारी सबको दिया। रामभक्ति शाखा के कवियों ने राम-भक्ति का गुणगान किया, गोस्वामी तुलसीदास के रामकाव्य और रामोपासना का सम्यक् विकास हुआ।

कृष्ण भक्ति शाखा—कृष्ण भक्ति शाखा के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य थे। शंकराचार्य का मायावाद और विवर्त्तवाद की दृढ़ नींव ढहाने में कृष्णोपासक वल्लभा-चार्य का प्रमुख हाथ रहा। आचार्य वल्लभ ने कृष्ण को ही परब्रह्म पुरुषोत्तम कहा और उसी सच्चिदानन्द रूप में अलौकिक आनन्द का आविर्भाव सिद्ध किया। कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग, चैतन्यदेव का गौड़ीय सम्प्रदाय, निम्बार्काचार्य का निम्बार्क सम्प्रदाय और स्वामी हरिदास का हरी सम्प्रदाय (सखी-सम्प्रदाय) मुख्य हैं। ये सभी सम्प्रदाय भगवान के लीलामय मधुर रूप के उपासक हैं।

भक्तिकाल की विशेषताएँ—१. साकार ब्रह्म की उपासना।

२. ब्रह्म के लोक-रक्षक एवं लोक-रंजक रूप की स्थापना।

३. कृष्ण-भक्ति-शाखा में माधुर्य काल का उपासना।

४. रहस्यवादी कविता का प्रारम्भ।

५. व्यक्तिगत साधना और लोक-साधना का महत्व।

६. आध्यात्मिकता और सदाचार की प्रेरणा।

७. लोक-कल्याण के पथ पर काव्य का चरमोत्कर्ष।

८. प्रबोध, मुक्तक तथा खण्ड-काव्य की रचना हुई।

९. प्रकृति-सापेक्ष्य वर्णन।

१०. दोहा, चौपाई और पदों का विशेष प्रयोग।

११. ब्रज और अवधी दोनों भाषा में काव्य-रचना।

१२. समस्त काव्य-शैलियों का प्रयोग।

ज्ञानाश्रयी शाखा और उसके कवि

इस शाखा के सभी कवि संत कहलाए। सभी ने ज्ञान की चर्चा की। मुसलमानी एकेश्वरवाद, भारतीय ब्रह्मवाद, सूफी और वैष्णवों के अहिंसा-वाद से संत सम्प्रदय का निर्माण हुआ।

विशेषताएँ—(१) सभी निर्गुणोपासक होने के कारण नाम की उपासना पर अधिक जोर देते थे।

(२) गुरु को भगवान से भी अधिक मानते थे।

(३) धर्म के आडम्बरों का खण्डन कर साधारण मनुष्य-जाति के धर्म को मानते थे।

(४) अहिंसा, सदाचार और साधना के अनुयायी थे।

(५) जाति-पाँति के बन्धन को नहीं मानते थे।

(६) भाषा साहित्यिक न होकर 'सधुक्कड़ी' थी।

(७) परमात्मा को पुरुष और आत्मा को स्त्री मानकर रहस्यवाद का निरूपण किया है।

प्रसिद्ध कवि—ज्ञानाश्रयी शाखा में सबसे श्रेष्ठ महात्मा कबीर ही गिने जाते हैं। काव्य की दृष्टि से भी आप उच्चकोटि के कवि कहे जा सकते हैं। रहस्यवाद की प्रथम झाँकी आपके काव्य में ही होती है। आपका चलाया हुआ मार्ग कबीर-पंथ कहलाया। जीवन के विषय में आपका पूर्ण वृतान्त विदित नहीं। कहा जाता है कि सं० १४५५ विक्रमी में आप किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए और जुलाहा दम्पत्ति के द्वारा पोषित किए गए। आपकी विधिवत शिक्षा नहीं हुई थी। कुछ भी हो कवि होने के साथ कबीर दार्शनिक भी थे। उनकी कविता के तीन भाग हैं—रमैनी, सवद और साखी। रमैनी और सवद पदों में हैं और साखी दोहों में लिखी है। कबीर की भाषा पंचमेल की 'सधुक्कड़ी' है। साधारण मात्रा आदि की भूलें भी मिलती हैं। कुछ भी हो, कबीरदासजी ने रामानन्द से अहिंसा, भक्ति-भावना शंकराचार्य से मायावाद और अद्वैतवाद, नानकपंथियों से हठयोग और सूफी कवियों से प्रेम लेकर कबीर पंथ का निर्माण किया।

इनके पश्चात् रैदास और धर्मदास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। रैदास रामानन्द के शिष्य और चमार जाति के थे। यही मीराबाई के गुरु बताए जाते हैं। इन्होंने रैदास सम्प्रदाय की स्थापना की। धर्मदास तो कबीर के शिष्य थे। रैदास और धर्मदास दोनों ही कवियों के पद भावपूर्ण और सरस हैं।

गुरु नानक सिक्ख सम्प्रदाय के जन्मदाता थे। इनका जन्म सं० १५२६ विक्रमी में तिलवंडी में हुआ। अधिक पढ़े-लिखे न होते हुए भी नानकजी की प्रारम्भ से ही भक्ति में रुचि थी। इनकी वाणी 'गुरु ग्रन्थ' साहब में संग्रहीत है। दादू दयाल का नाम भी हिन्दी-साहित्य में विशेष स्थान रखता है। आपका जन्म सं० १६०१ विक्रमी में अहमदाबाद में हुआ। इनका पंथ दादू-पंथ कहलाया। इनकी वाणी भी बड़ी गम्भीर है। गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी में भी इनके पद मिलते हैं। सुन्दरदास और मलूकदास भी इतिहास प्रसिद्ध सन्त हैं। सुन्दरदासजी का जन्म सं० १६५३ और मृत्यु १७४६ विक्रमी में हुई। इनकी जन्मभूमि जयपुर के राज्य द्यौसा में बताई जाती है।

यह दादू के शिष्य थे। पूर्ण शिक्षा प्राप्त करने के कारण इनके 'सुन्दर विलास' ग्रन्थ में कविता के सभी गुण मिलते हैं। मलूकदास जी का जन्म सं० १६३१ और मृत्यु सं० १७३९ विक्रमी माने जाते हैं। इनकी जन्मभूमि इलाहाबाद के पास कड़ा नामक गाँव बताया जाता है। इन्होंने दूर-दूर तज अपनी गद्दियों की स्थापना की। 'रत्न बोध' और 'ज्ञान बोध' इनके रचित ग्रन्थ हैं। आपका दोहा—

'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम॥

अति प्रचलित एवं प्रसिद्ध है।

अक्षर अनन्य (सं० १७१०) प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। इन्होंने योग और वेदान्त पर कई ग्रन्थ लिखे और 'दुर्गा सप्तसती' का हिन्दी अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त धारी साहब, चरनदास, जगजीवनदास, सहजोबाई, तुलसी साहब, पलटू साहब, आदि अठाहरवीं शताब्दी के सन्त कवि हैं।

ज्ञानाश्रयी शाखा के मुख्य कवि निम्नलिखित हैं :—

कबीर, दादू, रैदास, धर्मदास, नानक, सुन्दरदास और मलूकदास।

प्रेमाश्रयी शाखा और उसके कवि

प्रेमाश्रयी शाखा के कवि 'सूफी' थे। वे सफेद ऊन के वस्त्र धारण करते थे इसलिये सूफी कहलाए। वे 'अनहलक' (सोऽहं) के मानने वाले थे। वे सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्त के पोषक थे। उसके कथनानुसार मुक्ति प्रेम द्वारा मिल सकती है। प्रेम की साधना के लिये गुरु का सहयोग अनिवार्य है। उनकी रचनाएँ अपनी निजी विशेषताएँ रखती हैं। वे फारसी की मसनवियों की शैली लेकर लिखी गई हैं। रचना का प्रारम्भ, ईश्वर वन्दना, फिर पैगम्बर की आराधना, तत्कालीन बादशाह की वन्दना और फिर गुरु की वन्दना करके किया गया है। सभी कथाएँ हिन्दू जीवन से सम्बन्धित प्रचलित कहानियाँ हैं। इन सभी रचनाओं में अलौकिक प्रेम की व्यञ्जना है। जीव और ब्रह्म का अतिशय प्रेम प्रदर्शित किया गया है। सभी रचनाएँ दोहा-चौपाइयों में अवधी भाषा में लिखी गई हैं। प्रबन्धकाव्य के रूप में आत्मा को पति और परमात्मा को पत्नी मानकर लौकिकता और प्रेम का सुन्दर निरूपण हुआ है। इन सभी रचनाओं में किसी विशेष सम्प्रदाय का खण्डन अथवा मण्डन नहीं किया गया है। संक्षेप में सभी रचनाएँ हृदय को स्पर्श करने वाली हैं।

प्रेमाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं। ये गाजीपुर में जन्म लेकर जायस में जाकर रहे। इसलिये इनका नाम जायसी पड़ा। इनकी तीन रचनाएँ हैं—पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम। पद्मावत में पद्मावती और राजा रत्नसिंह का वर्णन है। अखरावट में दार्शनिक चौपाइयाँ और आखिरी कलाम में प्रलय का दृश्य है। पद्मावत की रचना, कहा जाता है, सं० १५४७ में विक्रमी में हुई। भाषा जायसी जी की अवधी है। पद्मावत का नागमती का बारहमासा के रूप में वियोग वर्णन साहित्य की अलौकिक निधि है। इस प्रकार प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि जायसी जी हैं। यद्यपि जायसी जी से पूर्व दो कवि और हो चुके थे। प्रथम जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के दरबारी कवि कुतबन जिन्होंने 'मृगावती' की रचना की द्वितीय 'माधुमालती' के रचयिता मंझन। हाजी बाबा में शिष्य, शेख, हुसेन के पुत्र, उसमान

का नाम भी प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों में उल्लेखनीय है। इन्होंने 'चित्रावली' की रचना की जिसमें लौकिक वर्णन के साथ-साथ आध्यात्मिक पुट भी है। इनके पश्चात् कासिम नूरमुहम्मद, फाजिलशाह भी प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

संक्षेप में प्रेमाश्रयी शाखा में कवि मुसलमान हुए। इन्होने ज्ञान के विपरति प्रेम की पयस्विनी बहाकर अध्यात्मवाद में एक आकर्षण उत्पन्न किया। ज्ञानाश्रयी शाखा के सभी कवि हिन्दू थे। उन्होंने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया। ज्ञान की शुष्क बातें जनता के हृदय को स्पर्श न कर सकीं। किन्तु प्रेमाश्रयी शाखा के सन्तों ने हिन्दू घरों की कहानियाँ लेकर अलौकिक आनन्द की वर्षा की। अतः इस शाखा के उल्लेखनीय कवि निम्नलिखित हैं—

कुतवन, मंझन, जायसी, उसमान, कासिम, नूरमुहम्मद, फाजिलशाह।

कृष्ण-भक्ति शाखा और उसके कवि

निर्गुण भक्ति हिन्दू-जनता के हृदय में साहस एवं आशा का संचार न कर सकी। उन्हें यह विश्वास न हो सका कि निराकार भगवान उनकी कैसे सहायता कर सकता है। उन्हें तो ऐसे भगवान की आवश्यकता थी जो उनके दैनिक कार्यों में आकर सहायता कर सके। इस प्रकार साकार भगवान के दो रूप सामने आये। राम और कृष्ण, जिन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम का गुणगान किया, वे रामभक्ति के उपासक कहलाए और जिन्होंने भगवान कृष्ण के गीत गाये, वे कृष्णभक्त कहलाये। इस प्रकार स्वामी रामानुज का मत लेकर स्वामी रामानन्दजी ने रामभक्ति का प्रचार किया और स्वामी वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ आदि ने कृष्णभक्ति का। कृष्णभक्ति के प्रारम्भ में हमें चार स्वामी मिलते हैं। माध्वाचार्य ब्रह्म सम्प्रदाय के संस्थापक थे। इनका मत द्वैतवाद का पोषक था। इनमें कृष्ण को ब्रह्म माना गया। दूसरे रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक शुद्धाद्वैतवाद के अनुयायी विष्णुस्वामी थे। तीसरे सनकादि सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी निम्बकाचार्यजी थे। इनका मत द्वैताद्वैत सिद्धान्त को लेकर चला था। स्वामी वल्लभाचार्य जी पर विष्णु स्वामी का प्रभाव अधिक पड़ा। उनका मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाया इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने कृष्ण के वात्सल्य भाव और साँख्य भाव की ओर अधिक ध्यान दिया। इस मार्ग के अष्टछाप के कवि इतिहास-प्रसिद्ध हैं—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्द, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास, नन्ददास।

कृष्णाश्रयी शाखा के कवियों की विशेषताएँ ये हैं कि उन्होंने सर्वप्रथम कृष्ण भगवान की लीलाओं का ही गान किया। दूसरे वात्सल्य रस और शृंगार रस की ही प्रमुखता है, तीसरे समूचा काव्य मुक्तक गीतिकाव्य ही है। चौथे, काव्य ब्रजभाषा में लिखा गया है। पाँचवें इन कवियों की भक्ति सांख्य भाव से हुई है।

प्रमुख कवि—कृष्णाश्रयी शाखा के प्रमुख सूरदासजी कहे जाते हैं। इनका जन्म सं० १५४० विक्रमी में आगरा, मथुरा की सड़क पर रुनकता गाँव में हुआ था। इन्होंने 'सूरसागर' नामक एक विशाल ग्रन्थ की रचना की है। वात्सल्य और विप्रलम्भ शृंगार के तो यह सम्राट कहे जाते हैं। नन्ददास इनके समकालीन थे। इनके विषय में तो एक उक्त प्रसिद्ध हैं, "नन्ददास जड़िया और कवि गढ़िया"। इसका 'भ्रमर गीत' साहित्य की अमर कृति है। इसके अतिरिक्त अष्ट-छाप के उपर्युक्त अन्य कवियों ने भी कृष्ण भक्ति के गीत गाकर जनता में भगवान कृष्ण का प्रचार किया।

इनके अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे सम्प्रदाय चल उठे। राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंशजी ने 'हित चौरासी' में राधा की उपासना को महत्व दिया। हरी सम्प्रदाय के संस्थापक हरिदासजी ने संगीत लहरी द्वारा कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। गौड़िया सम्प्रदाय के प्रमुख कवि गदाधर भट्ट ने भी कृष्णभक्ति का ही गुणगान किया। गोपाल की सेविका मीराबाई का नाम तो कृष्ण भक्ति में अमर रहेगा। इनके रचे चार ग्रन्थ नरसी का मायरा, गीति गोविन्द की टीका, राम गोविन्द और राम सोरठ के पद प्रसिद्ध हैं। रसखान के प्रेम वाटिका' और 'सुजान रसखान' एवं नरोत्तमदासजी का 'सुदामा चरित्र' कृष्ण साहित्य की अमर निधि हैं।

रामाश्रयी शाखा और उसके कवि

कृष्णभक्ति की भाँति राम भक्ति का आरम्भ भी भगवान के साकार रूप को लेकर हुआ। इसके प्रचारक स्वामी रामानन्द जी ही कहे जा सकते हैं। इन्होंने राम और सीता को ही भगवान मानकर दास्यभाव से ही सेवा की। महात्मा गोस्वामी आदि इसी सिद्धान्त को लेकर अवतरित हुए। इस काल की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

विशेषताएँ १—ज्ञान और कर्म के आगे भक्ति को उच्च माना गया।

२—स्वामी और दास का भाव लेकर भगवान की भक्ति की गई।

३—लोकमर्यादा और वर्णव्यवस्था को श्रेष्ठ समझा गया।

४—अनेक प्रकार की शैलियों को अपनाकर मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनाएँ की गईं।

५—वेद, शास्त्र के विचारों को प्रधानता दी गई।

इस शाखा के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदासजी हैं। इनके जन्म के विषय में मतभेद है। कुछ आचार्यों के अनुसार इनकी भूमि सोरों है और कुछ के कथनानुसार राजापुर। कहा जाता है कि गोस्वामीजी का जन्म सं० १५५४ विक्रमी के लगभग और मृत्यु सं० १६८० विक्रमी में हुई। मृत्यु के विषय में तो एक दोहा प्रसिद्ध है—

"संवत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥"

महात्मा गोस्वामीजी का विवाह भी हुआ किन्तु उनको लौकिक प्रेम से एकदम विरक्ति हो गई और इस प्रकार वह वैराग्य ले, कभी अयोध्या, कभी काशी इत्यादि में रहे। उन्होंने बहुत से ग्रन्थों की रचना की, जिनके कारण वह हिन्दी साहित्य के ग्रन्थों में प्रथम स्थान रखते हैं। उनके ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

(१) रामलला नहछू, (२) वैराग्य सन्दीपनी, (३) बरवै रामायण, (४) रामाज्ञा प्रश्न, (५) पार्वती मंगल, (६) जानकी मंगल, (७) रामचरित मानस, (८) गीतावली, (९) कृष्ण गीतावली, (१०) कवितावली, (११) पत्रिका आदि।

तुलसीदास जी ने ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं में रचना की। प्रचलित सभी शैलियों को अपनाया। सभी रसों का सुन्दर चित्रण किया। भक्ति ज्ञान आदि का पूर्ण चित्रण किया। इसीलिए वह कलापक्ष, भावपक्ष, भक्ति-पक्ष आदि की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कवि कहे जाते हैं।

इनके अतिरिक्त नाभादासजी रामाश्रयी शाखा के प्रसिद्ध कवि हैं, जिन्होंने 'भक्त-

माल' की रचना की। प्राणचन्द चौहान का 'रामायण महानाटक' और हृदयरामजी का 'हनुमन्नाटक' प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। रीवा के नरेश विश्वनाथसिंह और रघुराजसिंह ने भी राम-भक्ति का ही गुणगान किया। केशवदासजी की रामचन्द्रिका भी रामभक्ति के अन्तर्गत है और हिन्दी-साहित्य में अपनी समानता नहीं रखती है।

सगुणोपासक अन्य कवि

राजा भोज और विक्रमादित्य के दरबारी कवियों की भाँति ही मुगल दरबार के कवि भी प्रसिद्ध हैं। अब्दुलरहीम खानखाना की बरवै साहित्य में अपना निजी स्थान रखती है। यह बैराम खाँ के पुत्र थे। दान के लिए यह अति प्रसिद्ध हैं। मानव प्रकृति की रहीमजी को अच्छा ज्ञान था रहीम जैसा अनुभव प्रत्येक कवि को होना असम्भव है। उनके दोहे अब भी प्रत्येक जिह्वा पर अङ्कित हैं। देखिए—

"रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर
जब नीके दिन आइ हैं, बनत न लगिहै देर ।।"

गंग भी रहीम की भाँति अकबर के दरबारी कवि थे। रहीम ने इनके एक दोहे से प्रसन्न होकर छत्तीस लाख रुपये पुरस्कार रूप में दिये थे। किसी ने इनकी काव्य रचना से मुग्ध होकर तुलसी को इसके समान माना है।

'तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार।
जिनके काव्यन में मिलै भाषा विविध प्रकार ।।'

सेनापतिजी के विषय में भी यह कहा जाता है कि इनका सम्बन्ध अकबरी दरबार से था। रीतिकालीन कवियों से टक्कर लेते हुए भी यह भक्तिकाल के कवि भी कहे जाते हैं। यह अनूपशहर के रहने वाले थे। इनका जन्म सम्वत् १६४६ के लगभग बताया जाता है। राम-भक्ति का वर्णन भी इनका अति सुन्दर है। प्रकृति चित्रण में तो इनकी कोई समता नहीं रखता है।

इनके अतिरिक्त नरहरि बन्दीजन, बीरबल और टोडरमल प्रसिद्ध कवि हैं। ये सभी कवि मुगल दरबार से ही सम्बन्धित बताये जाते हैं। टोडरमल की नीति विषयक कवित्त प्रसिद्ध है।

इस काल के अन्य कवि छीहल, मनोहर, होलराल, बनारसीदास पुट्टकर आदि भी प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

रीतिकाल

रीतिकाल सम्वत् १७०० से १६०० तक माना जाता है।

विशेषताएँ १—इस काल में काव्य में शृंगार रस की प्रधानता रही।

२—काव्य के साथ-साथ काव्य गों जैसे—रस, अलंकार और छन्दों का पूर्ण रूप से विवेचन हुआ।

३ ४—मुक्तक कविता होने के कारण कवित्त, सवैया, दोहे आदि छन्दों को कवियों ने अधिक अपनाया।

४—कवि अधिकतर राजा के आश्रित होते थे। इसलिए उस काल में मौलिकता का अभाव रहा।

५—कविता की भाषा ब्रजभाषा के समीप अधिक थी। फारसी, अरबी के शब्दों

का प्रयोग भी हुआ। अनुप्रास एवं अन्य शब्दालंकारों के प्रयोग से भाषा अधिक आकर्षक प्रतीत होती थी।

रीतिकाल के प्रवर्तक तथा अन्य कवि—रीतिकाल के प्रवर्त्तक सर्वप्रथम आचार्य होने का श्रेय केशवदास जी को ही है। इनका जन्म सं० १६१२ और मृत्यु सं० १६७४ मानी जाती है। ये राजा इन्द्रजीतसिंह के आश्रित कवि थे। संस्कृत के बड़े विद्वान गीता, रतन बावनी, जहाँगीर जसचन्द्रिका, वीरसिंह, देवचरित, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। रामचन्द्रिका में अलंकारों का चमत्कार और छन्दों की छटा अवलोकनीय है। यों तो केशव के भी पहले कृपाराम, गोप, करनेस आदि ने इस ओर अलंकारों पर छोटी-छोटी रचनाएँ की थीं। परन्तु काव्यांगों का सम्यक् निरूपण केशव के द्वारा 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में ही किया गया। किन्तु केशव अलंकारवादी थे। इसलिए इनका प्रभाव परवर्ती कवियों पर नहीं पड़ा। आचार्य शुक्ल रीतिकाल का प्रारम्भ केशव से न मानकर चिन्तामणि से मानते हैं। चिन्तामणि रसवादी थे। इनका प्रभाव रीतिकाल के परवर्ती कवियों पर पड़ा।

राजनीतिक परिवर्तन के कारण राजा-महाराजा मुगल-सम्राटों के सामन्त बन गये थे। राज-सभाएँ मनोरंजन तथा विलास का अखाड़ा बन गई थीं। प्रायः सभी राजाओं के आश्रय में कोई न कोई कवि रहता था जो उनके कानों में काम मकरध्वज की पिचकारियाँ मारा करता था। अब वीर-गाथाएँ तो सुनी नहीं जा सकती थीं, यदि लिखी भी जातीं तो सुनता ही कौन ?

इस समय दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दीखती हैं। एक तो आचार्यत्व-विहीन व शृंगार-वादी काव्य, जिसे—रस काव्य कहते हैं। इसमें नायिका के नख-शिख का वर्णन, षट ऋतुओं अथवा बारहमासा का वर्णन प्रमुख था। इसमें अलङ्कारों तथा सूक्तियों की छटा का चमत्कार होता था। दूसरी प्रवृत्ति आचार्यत्व के साथ थी। इसे हम रीतिवादी काव्य कह सकते हैं। इस काल में देव और बिहारी दो प्रमुख कवि हैं।

रीतिकालीन प्रवृत्ति अन्तःसलिला की तरह संस्कृत साहित्य से ही चली आ रही थी। प्राकृत और अपभ्रंश में भी इसका प्राचुर्य मिलता है। कुछ लोग रीतिकाल को भक्ति काव्य की प्रतिक्रिया मानते हैं, जो ठीक ही। कुछ स्थूल बातें ऐसी हैं जो प्रकट हैं करती हैं कि रीतिकाल भक्ति-काल का विकृत रूप था। अधिक स्पष्ट करने के लिए निम्न तथ्यों पर दृष्टि डाली जा सकती है—

भक्ति काव्य और रीतिकाव्य की तुलना

भक्ति-काव्य	रीति-काव्य
(१) भक्ति-काव्य कृष्ण भगवान को नायक मानता है।	(१) रीतिकाव्य नायक को कृष्ण मानता है।
(२) भक्ति-काव्य नायक को भगवान मानता है।	(२) रीति-काव्य नायक को मनुष्य मानता है।
(३) भक्ति-काव्य सम्प्रदाय और आन्दोलन का परिणाम है।	(३) रीति-काव्य असाम्प्रदायिक तथा स्वाभाविक है।

(४) भक्ति-काव्य प्रेम को दिव्य भावावेश का रूप देता है ।	(४) रीति-काव्य प्रेम को स्त्री पुरुष के साधारण प्रेम के रूप में स्वीकार करता है ।
(५) भक्ति-काव्य प्रेम को भोग्य ब्रह्म सपर्पणीय मानता है ।	(५) रीति-काव्य प्रेम को भोग्य और स्वतन्त्र विषय मानता है ।
(६) भक्ति-काव्य सिद्धान्त तथा दर्शन के आधार पर खड़ा है ।	(६) रीति-काव्य जीवन को किसी ऐसे आधार पर नहीं देखना चाहता ।
(७) भक्ति-काव्य विषय और वस्तु को महत्व देता है ।	(७) रीति-काव्य शैली और रूप को महत्व देता है ।
(८) भक्ति-काव्य में उपयोगिता है ।	(८) रीति-काव्य कला है ।
(९) भक्ति-काव्य प्रबन्धात्मकता की ओर आकृष्ट है ।	(९) रीति-काव्य सर्वथा मुक्तक है ।

इस प्रकार और भी तुलना के विषय मिल जायेंगे । अतः रीति-काव्य भक्ति-काव्य की प्रतिक्रिया है ।

इस काल के प्रमुख शृंगारी कवियों में जिन्होंने रीति निरूपण भी किया है—केशवदास, चिन्तामणि, मतिराम, देव, रसलीन प्रतापसिंह और पद्माकर प्रमुख हैं । जसवन्तसिंह, श्रीपति, भिखारीदास और रसिक गोविन्द आचार्यत्व की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं । रीति का निरूपण करने वाले कवियों में बिहारी का प्रमुख स्थान है । इस काल में कुछ ऐसे भी शृंगारी कवि हुए जिन्होंने रीतिनिरूपण नहीं किया और न जिनकी रचनाएँ रीति को ध्यान में रखकर रची गईं । उनकी कविता शुद्ध प्रेम को अभिव्यक्ति करती हैं । ऐसे कवियों में घनानन्द, आलम, ठाकुर और बोधा प्रमुख हैं ।

भूषण इस काल में वीर रस के महान् कवि हुए । सौभाग्य से महाराज शिवाजी और छत्रशाल जैसे उन्हें नायक भी मिल गये ।

कविता में सवैया और दोहा इस काल के कवियों के प्रिय छन्द रहे । काव्य की प्रमुख भाषा ब्रजभाषा रही ।

आधुनिक काल और उसकी काव्य धाराएँ

भारतेन्दु-युग—भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो जाने से हिन्दी कविता ने नई मोड़ ली । राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों ने रूढ़िवाद को दूर किया । रीति-कालीन काव्य परम्पराएँ विलीन होने लगीं । सन् १८५७ के विद्रोह ने राष्ट्रीयता की तीव्र लहर फैला दी । नये विचार, नई शैली और नई भाषा का आन्दोलन चल पड़ा । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नई कविता के प्रवर्त्तक थे । उन्हीं से हिन्दी कविता का वर्तमान युग प्रारम्भ होता है । काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही रही, किन्तु उसमें नूतन विचारों का समावेश हो गया । भारतेन्दु ने समाज-सुधार और देश-भक्ति का स्वर फूंका । अकाल; भुखमरी, टैक्स, अदालत की लूट-खसोट, सामाजिक अन्धविश्वास, मातृभाषा का महत्व आदि पर कविताएँ लिखी जाने लगीं । भारतेन्दु तथा भारतेन्दु-मण्डल के कवियों में राष्ट्रीय और देश-प्रेम का तीव्र स्वर सुनाई पड़ता है । इस समय शृंगारमयी कविताएँ भी लिखी गईं और युगानुकूल सामाजिक और राष्ट्रीय रचनाएँ भी हुईं । भारतेन्दु-युग के कवियों में अंबिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी और बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन प्रमुख हैं ।

द्विवेदी-युग—द्विवेदी-युग के काव्य में राष्ट्रीयता और सामाजिकता की प्रवृत्ति अधिक तीव्र रही। ब्रजभाषा के स्थान पर काव्य में खड़ीबोली सुशोभित हो गई। खड़ी बोली के आदि आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और श्रीधर पाठक हैं। द्विवेदी-युग में भाषा की कर्कशता आ गई। किन्तु वह विकास के पथ पर बढ़ती गई। द्विवेदीजी ने संस्कृत छन्दों का प्रयोग किया। द्विवेदी युग की कविता पर स्वतन्त्रता-आन्दोलन और गाँधी-विचारधारा का विशेष प्रभाव पड़ा। 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' इस युग के प्रमुख महाकाव्य हैं। इस युग के प्रथम कवि मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रीय कवि हैं।

गुप्तजी के अतिरिक्त पं० श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, लोचन प्रसाद पांडेय, ठा० गोपालशरणसिंह, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, रामनरेश त्रिपाठी आदि द्विवेदी-युग के प्रमुख कवि हैं।

वर्तमान-युग—द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता रही। इसके परिणामस्वरूप ही छायावाद और रहस्यवाद हिन्दी काव्य-क्षेत्र में आया। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी का नाम इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय है। छायावादी युग में प्रकृति को आलम्ब रूप में ग्रहण किया गया और गीतिकाव्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। छायावादी कवियों ने कविता को छन्द के नियमों से मुक्त किया। 'कामायनी' छायावादी-धारा का प्रमुख काव्य है। आधुनिक काल में सत्यनारायण कविरत्न, जगन्नाथ-दास रत्नाकर और वियोगी हरि ने ब्रजभाषा में सरस काव्य रचनाएँ कीं।

वर्तमान काव्य-धारा में विभिन्न प्रवृत्तियाँ, भाव-धारायें और वाद देखने को मिलते हैं। राष्ट्रीयता, आंतरिकता मानव-गौरव, समाज सुधार; समाजवादी व्यवस्था, छायावाद, रहस्यवाद, प्रयोगवाद और वर्तमान काव्य-धारा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। किसान और मजदूरों की समस्याओं के समाधान में कविगण रूसी-साहित्य से भी प्रभावित हैं। राजनीति का साम्यवाद ही साहित्य में प्रगतिवाद बन गया है। कवि प्रमुख प्रगतिवादी। नागार्जुन, रामेश्वर शुक्ल अंचल, शिवमंगल सिंह आदि हैं। 'अज्ञेय' के नेतृत्व में प्रयोगवाद की नवीनतम धारा भी काव्य-क्षेत्र में प्रवाहित हुई। इसके प्रमुख कवि गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, भवानीप्रसाद मिश्र आदि हैं। राष्ट्रीय विचारधारा के कवियों में पं० माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि प्रमुख हैं।

आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ

आज की हिन्दी काव्य-सरिता विभिन्न काव्यधाराओं को अपने में समेटे हुए अविराम गति से प्रवाहित हो रही है। प्रमुख काव्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

यथार्थवाद—आधुनिक काव्य में यथार्थवाद की प्रधानता है। भारतेन्दुजी देश की दयनीय दशा का यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

"रोवहु सब मिलि भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।

भारतेन्दुजी ने अपने काव्य के द्वारा जनतंत्र का लक्ष्य प्रकट किया। १६ वीं शताब्दी में प्रबन्ध-काव्य और गीति-काव्य के प्रति उदासीनता रही। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक उत्थान से ही महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रेमाख्यान काव्य, नीति-काव्य आदि की रचना विस्तार से होने लगी। हिन्दी-भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का विकास हुआ।

व्यक्तिवाद, गीति-तत्व, प्रबन्ध एवं अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से प्रकृति में मानवीकरण आदि का सम्मिश्रण वर्तमान महाकाव्य में हुआ। नक्षत्रों के प्रति पन्तजी कहते हैं—

ऐ अज्ञात देश के नाविक,
ऐ अनन्त के हृत्कम्पन।
नभ प्रभात के प्रस्फुट अंकुर,
निद्रा के रहस्य कानन।

आधुनिक काव्य ने रूढ़ियों और प्राचीन परम्पराओं का विरोध करते हुए जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाया :—

"मुरझा तन था निश्चय मन था,
जीवन ही केवल धन था,
मुसलमान हिन्दूपन छोड़ा,
बस निर्मल अपनापन था।"

—एक भारतीय आत्मा

ज्वलंत वेदना, अनन्त निराशा, सर्वोदयवाद आदि तत्व काव्य के दार्शनिक पक्ष के मूलभूत अंग हो गये। कलात्मक चित्रण, संगीत, रंग और ध्वनि का सामंजस्य नए रूप में काव्य को प्राप्त हुआ। प्रसादजी का निम्न गीत देखिए :—

बीती विभावरी जागरी।
अम्बर पनघट में डुबो रही,
तारा-घट ऊषा नागरी।

'हरिऔध, जी के महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' में कृष्ण महापुरुष और राधा लोकसेविका एवं परोपकारनिरता के रूप में आई हैं। मैथिलीशरण गुप्तजी ने राम, कृष्ण आदि में विश्वास प्रकट करते हुए उनके अलौकिक रूप की व्यंजना नहीं की। साधारण देवी-देवताओं के प्रति तो ये कवि उदासीन ही रहे। राष्ट्र की वेदी पर बलिदान होने वाले सत्याग्रही वीरों पर भी रचनाएँ हुईं। मध्ययुग के वीरों को काव्य का विषय बनाया गया। कृषक, मजदूर, भिखारिन विधवा आदि के प्रति तीव्र संवेदना हिन्दी-कवियों में जाग्रत हुई।

छायावाद—रीति-काल के बन्धनों से मुक्त होकर कविता नये आदर्शों की खोज में आगे बढ़ी, किन्तु वह राजनीतिक निराशा के कारण छायावाद और रहस्यवाद की ओर मुड़ गई। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् देश की आशा पर तुषारापात हुआ। आतंकवादियों के षड्यंत्र विफल हो रहे थे। अतः हिन्दी-काव्य में निराशा की वेगवती धारा प्रवाहित हो उठी। उसमें करुणा और कसक समा गई। राजनीति में आध्यात्मिक शक्ति को महत्व दिए जाने के साथ ही काव्य में कवियों की प्रकृति अन्तर्मुखी हो गई। अपनी अतृप्त लालसाओं तथा टूटे हुए सपनों को लेकर अनेक कवि काल्पनिक जगत् में तन्मय हो गये। वस्तुतः छायावाद और रहस्यवाद का मूल धरातल यही है। कुछ समय के पश्चात् कवियों ने अपनी भावनाओं को कलात्मक रूप देने के लिए उन पर दार्शनिक आवरण चढ़ा दिया।

छायावादी कवि विश्व के सम्पूर्ण तत्वों में प्राणों की छाया देखता है। आशा-

निराश, पीड़ा-अवसाद से उनकी कविता भरी रहती है और कवि का व्यक्तिवाद उभर आता है। महादेवी वर्मा की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"मेरे हँसते अधर नहीं,
जग की आँसू लड़ियाँ देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत,
मुरझाई कलियाँ देखो।"

—महादेवी वर्मा

छायावादी कवि प्रकृति को चेतन रूप में देखता है। छायावादी कविता पर संस्कृत काव्य की वक्रोक्ति प्रणाली, लाक्षणिकता, रविन्द्र की कविता एवं पाश्चात्य स्वच्छन्तावादी कविता का प्रभाव पड़ा, परन्तु उसका अपना मौलिक चिन्तन भी है।

रहस्यवाद—छायावाद जब आध्यात्मिक अवगुंठन डाल लेता है, तब वह रहस्यवाद बन जाता है। छायादवाद में जहाँ जीवन का प्रकृति तथा जीव का जीव से संयोग होता है, वहाँ रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के साथ सन्निवेश होता है। छायावाद में जहाँ लौकिक अभिव्यक्ति रहती है; वहाँ रहस्यवाद में अलौकिक अभिव्यक्ति रहती है। रहस्यवाद में अनन्त के साथ सम्बन्ध की भावना मुख्य बन जाती है। इसमें व्यक्त से अव्यक्त की ओर संकेत किया जाता है। उस अव्यक्त के प्रति जिज्ञासा, अद्वैत-भावना, उत्सुकता आदि की व्यापकता रहती है। महादेवी की कविता के निम्न अंश देखिए—

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी,
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी।

छायावाद से ही आधुनिक काव्य की कलात्मक-सौष्ठव और रूप-सज्जा प्राप्त हुई।

आधुनिक कवियों ने छायावाद को एक फैशन बना दिया। चिन्तन और अनुभूति से अधिक उन्होंने कल्पना को प्रधानता प्रदान की। वह अमूर्त भावों के लिए ललचाया, किन्तु उसके मन को सन्तोष न हुआ। वह जग से असन्तोष निम्न प्रकार व्यंजित करने लगा—

चाहता है यह पागल प्यार,
अनोखा एक नया संसार॥

\+ + + +

ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे।

जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्चल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी, रे।

जीवन की विषमताओं से छायावादी कवि समझौता न कर सका। कहीं उसने 'जलने में विश्राम माना' तो कहीं 'मिटने में निर्वाण उसको मिला' तथा कहीं उसका असन्तोष आशा में व्यक्त होता है। बीच-बीच में हालावादी कवि मन्दिर-मस्जिद की

राह छोड़कर मधु-सिंचित डगर में पाँव रखता था, जहाँ बुलबुल सन्देश सुनाती है। परन्तु भारतीय आदर्श के समक्ष हालावाद का प्रलोभन ठहर न सका।

प्रगतिवाद—जिस प्रकार छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था, कहा जाता है कि इसी प्रकार प्रगतिवाद स्थूल का सूक्ष्म के प्रति विद्रोह बनकर सामने आया। प्रगतिवाद का बीज राजनैतिक जागरण है। किसानों और श्रमिकों ने सुधार के लिए प्रगतिवादी साहित्य को केन्द्र बनाया गया। आर्थिक वैषम्य और राष्ट्रीयता ने प्रगतिवादी विचारधारा को प्रोत्साहन दिया। प्रगतिवाद मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखता है। वह सर्वहारा वर्ग की प्रमुखता और उन्नति की हिमायत करता है। प्रगतिवाद का मुख्य लक्ष्य साहित्य को जीवन के समीप लाना है। सन् १९४२ के आन्दोलन से भी प्रगतिवाद को बल मिला। सन् १९४३ के अकाल ने पुराने छायावादी कवियों को झकझोर डाला। वे भी प्रगतिवाद की ओर आ गये।

समानता, क्रांति, दुर्भिक्ष, हँसिया, हथौड़ा, हड़ताल, किसान, मजदूर आदि प्रगतिवाद के प्रमुख विषय हैं। समाज का संगठन उसका उद्देश्य है। ईश्वर और धर्म की वह हँसी उड़ाता है। वह मानव-सत्ता पर अधिक विश्वास करता है। साथ ही उसने परम्परागत उपमाओं और प्रतीकों का भी तिरस्कार किया है। मुक्त छन्दों में प्रगतिवाद की शैली प्रस्फुटित हुई।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रगतिशील विचारधारा के दो वर्ग हो गये—

१. सर्वोदयवादी वर्ग
२. समाजवादी वर्ग।

प्रथम वर्ग का प्रगतिवादी साहित्यकार गाँधीजी की विचारधारा को आदर्श बताता है। समाजवादी, गाँधीवादी और साम्यवादी विचारधारा के बीच का प्रगतिवादी का मार्ग विशुद्ध लेनिनवाद और कभी-कभी माओवाद भी हो जाता है।

जन-मंगल की भावना प्रगतिवाद का सराहनीय अंग है, किन्तु उसमें वर्गवाद की भयंकर मनोवृत्ति है। जीवन-शक्ति का भी अभाव है। क्योंकि बुद्धि से तो वे शोषित वर्ग के हिमायती हैं, किन्तु उनका हृदय विलासिता का केन्द्र है। न तो वह किसान के जर्जरित जीवन में रहना चाहता है और न पूंजीवाद का ही वह सम्मान छोड़ना चाहता है। इस विषम स्थिति में वह ऐन्द्रिक विलास आदि की बहुत तीव्र व्यंजना भी कर जाता है। अतः जनता को लिखी जाने वाली बहुत सी प्रगतिवादी रचनाएँ जनता से दूर हैं।

प्रयोगवाद—अंग्रेजी-साहित्य के सम्पर्क से ही टी० ए० इलियट और कीट्स के अनुसरण पर भी जो कलात्मक कविता प्रचलित हुई वह हिन्दी-काव्य की आधुनिकतम प्रवृत्ति प्रकृतिवाद के रूप में सामने आई। प्रकृतिवाद में राजनीति का उग्र समावेश और रागात्मकता का कुछ अभाव था। ऐसी स्थिति में हिन्दी-काव्य एक नया रूप-विधान और नई शैली लेकर उपस्थित हुआ। शिल्पी की भाँति नए प्रयोगों का जो समावेश काव्य में हुआ, उस प्रवृत्ति को प्रयोगवाद कहा जाने लगा। प्रयोगवाद में पुरानी परिपाटी के अलंकारवाद की झलक है। पुराने कवि चित्र-काव्य आदि की रचना करके जिस प्रकार कौतुक खड़ा करते थे, उसी प्रकार प्रयोगवाद भी नए प्रयोगों से विस्मय भरे हुए साहित्य का सृजन करता है।

प्रयोगवाद एक नई रचना-विधान है। अभी इसकी रूपरेखा उभरी नहीं है। इसे विशेष में कभी-कभी नई कविता की कहा जाता है। साधारणतया प्रयोगवादी की भाषा सरल, छोटे-छोटे वाक्यों, अंग्रेजी शब्दों और मुहावरों से पूर्ण होती है।

"जिसके बालों में बनावटी कर्ल्स नहीं है,
जिसकी आँखों में न गहरी चटक चोखी है,
थर्मामीटर के पारे सी अनायास भावनाएँ जिसमें चढ़ती-उतरती हैं।"

कभी-कभी प्रयोगवाद नूतनता का पर्यायवाची होता है। प्रयोगवादी की अभिव्यक्ति प्राय: विचित्र और असाधारण सी होती है। उसकी कल्पनाएँ अधूरे संकेतों तक सीमित हैं। जीवन की सुकुमारता के स्थान पर स्थूलता और अनगढ़पन की प्रमुखता प्रयोगवाद में व्याप्त है। 'कंकरीट के पोर्च, पैरों में हकलाती चप्पल', 'रेडियम घड़ी' आदि उपेक्षित वस्तुओं का उपभोग काव्य में वैचित्र्यवर्धक मात्र है।

निष्कर्ष—आज ऐसे भी कहाकवि हैं जो वादों के जाल से मुक्त रहकर मन की तीव्र उमंग में काव्य-रचना करते हैं। उनके काव्यों में युग-चिन्तन और शाश्वत जीवन मिलता है। मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, 'दिनकर' आदि को ऐसे कवियों में लिया जा सकता है। उनकी वाणी भारत की सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय-चेतना को मुखरित करती है।

●

रस

रस की परिभाषा—'रस' आस्वादजन्य आनन्द को कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है 'आस्वादन करना, अथवा 'चखकर आनन्द प्राप्त करना'। इसकी व्युत्पत्ति 'रसते इति रसा:' की गयी है, जिसका तात्पर्य यह है कि जिसे चखा जाय अथवा आस्वादन किया जाय वही रस होता है। प्राय: यह कहा जाता है कि 'अमुक की बातों में बड़ा रस है' तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उसकी बातों में मधुरता एवं मिठास है। इसी प्रकार किसी सुन्दर प्राकृतिक दृश्य को देखकर जब यह कहा जाता है कि 'यहाँ पर बरस रहा है' तो रस का अर्थ नेत्र को आनन्द देने वाले पदार्थों से होता है। इसी प्रकार फलों में विभिन्न प्रकार के रस होते हैं, जिनसे जिह्वा को आनन्द प्राप्त होता है। विधि की सृष्टि में षट रस होते हैं—खट्टा, मीठा, खारा कडुआ, तीखा एवं कषाय जिन्हें प्राय: सभी लोग जानते हैं। वैद्यक-शास्त्र में भी रस होते हैं, जिनका तात्पर्य रासायनिक क्रियाओं से तैयार की गयी औषधियों से है। 'रसो वैस:' के अनुसार वेद में ईश्वर को भी रस माना गया है। रस प्राय: तरल पदार्थों को कहते हैं, इसीलिए जल को भी रस कहा गया है। रस शब्द का प्रयोग उपर्युक्त विभिन्न अर्थों में किया जाता है।

रस का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में भी किया जाता है। साहित्य में रस को काव्य का अनिवार्य अंग माना गया है। दूसरे शब्दों में काव्य को रसयुक्त होना अनिवार्य माना गया है। रसों में काव्य के आस्वादजन्य आनन्द का वर्णन रहता है। इस आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' (ब्रह्मानन्द सहोदर रस:) कहा गया है। यही काव्य की आत्मा माना गया है। साहित्य में रस से तात्पर्य अलौकिक चमत्कारपूर्ण उस आनन्द विशेष से

है, जिसकी अनुभूति श्रोता अथवा पाठक के हृदय को तन्मय शरीर को पुलकित एवं वाणी को गद्-गद् कर देती है। काव्य का ध्येय यही लोकोत्तर आनन्द है। किसी काव्य को पढ़कर अथवा सुनकर या किसी नाटक को देखकर पाठक, श्रोता अथवा दर्शक इतने तन्मयं हो जाते हैं कि उन्हें अपने पराए का ध्यान नहीं रहता। यही स्थिति उस लोकोत्तर आनन्द की परिचायक होती है। उसकी रस दशा है।

रस की निष्पत्ति—रस की निष्पत्ति के विषय में नाटय-शास्त्र के प्रणेता भरत-मुनि ने यह सूत्र दिया है :

विभावानुभावव्यंभिचारी संयोगात् रसनिष्पत्तिः ।

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यमिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने इस सूत्र की व्याख्या निम्न श्लोक के द्वारा की है :

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणियानि च ।
रत्यादेःस्थायिनो लोके तानिचेन्नाट्यकाव्योः ।
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैविभावाद्यः स्थायी भावो रसामृतः ।

लोक में रति आदि के स्थायी भावों के जो कारण कार्य एवं सहकारी होते हैं, वही नाटक एवं काव्य में विभाव, अनुमाव तथा व्यमिचारी क्रम से आते हैं। इन विभावादि की सहायता से जो स्थायी भाव व्यक्त होते हैं, वही रस कहा जाता है।

इस प्रकार रस की निष्पत्ति को समझने के लिए हमें स्थायी भाव, विभाव, अनुमाव तथा संचारी अथवा व्यमिचारी भावों के विषय में जानना आवश्यक है। यही रस के अंग कहलाते हैं।

मन के किसी विचार को भाव कहते हैं। मानव हृदय में कुछ भाव अज्ञात रूप से सदैव वर्तमान रहते हैं तथा अनुकूल अवसर प्राप्त हाने पर (किसी काव्य में श्रवण करने अथवा अभिनय के देखने से) वे जागरित हो उठते हैं। इनको संज्ञा स्थायी भाव है। दूसरे शब्दों में, स्थायी भाव उस भाव को कहते हैं, जिसकी स्थिति हृदय में अधिक स्थायी हो अर्थात् जो मुख्य भाव हो, जिसके साथ अन्य चलें तथा उसकी पुष्टि करें, उसको बदल न सकें। इस स्थायी भाव के विषय में नाट्य-शास्त्री भरतमुनि का कथन है कि :

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्व भावनां भावः स्थायी महानिहः ॥

जिस प्रकार मनुष्यों में राजा और शिष्यों में गुरु श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार सब भावों में स्थायी भाव श्रेष्ठ होता है।

इन भावों के विरुद्ध मन में अस्थायी भाव भी रहते हैं, परन्तु वे क्षण-क्षण में बदलते हैं, परन्तु रस की निष्पत्ति में इनका भी काफी हाथ रहता है।

यद्यपि हृदय की सभी भावनाओं को निश्चित करना कठिन कार्य है, फिर भो कुछ ऐसी स्थायी मनोवृत्तियां हैं, जिनके नाम निश्चित कर दिए गए हैं। रसों की संख्या नौ मानी गई है—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत एवं

शान्त—और इनके स्थायी भाव क्रमशः रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा, आश्चर्य एवं निर्वेद या वैराग्य हैं। इन भावों के पुष्ट होने पर ही उक्त रसों की निष्पत्ति होती है।

विभाव

स्थायी भावों के उत्पन्न होने के कारणों को ही विभाव कहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन विभाव तथा उद्दीपन विभाव।

महाराज जसवन्तसिंह ने अपने भाषा-भूषण में इनके लक्षण निम्नलिखित दिए हैं :

जो रस को दीपति करै, उद्दीपन है सोइ।
सो अनुभाव जो ऊपजै, रस कौ अनुभव होइ॥

अर्थात् जिनका आलम्बन करके स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं, वे आलम्बन विभाव कहलाते हैं—जैसे नायक, नायिका।

रति आदि स्थायी भावों को जो उद्दीपन कहते हैं, वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं, यथा—श्रृंगार रस में सुन्दर वेश-भूषा उपवन, चन्द्रिका आदि।

एक उदाहरण से यह विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए कोई व्यक्ति रात्रि के समय अकेला वन में जा रहा है। उस समय उसे अचानक सिंह के गर्जने की आवाज सुनाई देती है और वह भयभीत होकर काँपने लगता है। यहाँ पर :

भय का विषय सिंह है, जिसे आलम्बन कहा जायगा और उसकी गर्जना उद्दीपन होगी, क्योंकि उसी के कारण हृदय में भय का संचार होता है।

आलम्बन दो प्रकार का होता है—एक तो आश्रय कहलाता है, अर्थात् वह जिसके हृदय में भाव उत्पन्न होता है; दूसरा वह जिसके प्रति भाव उत्पन्न होता है अर्थात् विषय। उपर्युक्त उदाहरण में भयभीत व्यक्ति आश्रय होगा तथा सिंह उसके भय का विषय।

इसी प्रकार उद्दीपन भी दो प्रकार के होते हैं। एक आश्रयगत चेष्टाएँ, जैसे सिंह की गर्जना सुनकर भयभीत व्यक्ति का काँपना पसीना आदि आना; दूसरे वे कार्य अथवा पदार्थ जिनका सम्बन्ध आलम्बन की शारीरिक चेष्टाओं से सम्बन्ध नहीं रखता। जैसे सिंह की गर्जना में रात्रि का अन्धकार, निर्जनता आदि जो उसके भय को और भी अधिक दीप्त करते हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो भाव साधारण रूप से वासना के रूप में आश्रय के हृदय में छिपे रहते हैं वे किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा परिस्थिति को पाकर जागरित हो उठते हैं। इन भावों को जागरित करने वाले व्यक्ति, वस्तु आदि आलम्बन कहलाते हैं, तथा उनकी बातें चेष्टाएँ, देशकाल की स्थिति आदि उद्दीपन कहे जाते हैं।

अनुभाव

जो विभावों के बाद उत्पन्न होते हैं अथवा जिनके द्वारा रति आदि भावों का अनुभव होता है वे अनुभाव कहलाते हैं। 'अनुभावयन्ति इति अनुभावाः' तथा 'अनुभावो भाव बाधक' आदि उपरोक्त कथन की पुष्टि करते हैं 'अनुभाव आन्तरिक भावों के बाह्य व्यंजक होते हैं यथा—क्रोध में नथने आदि फूलना कटाक्ष, भ्रू पात आदि।

ये प्रायः दो प्रकार के माने जाते हैं—कायिक तथा सात्विक। कुछ ऐसी शारी-

रिक चेष्टाएँ अथवा विकार होते हैं, जिनकी उत्पत्ति पर आश्रय का अधिकार रहता है। वे उसकी इच्छा पर ही निर्भर रहते हैं। इनको कायिक अनुभाव कहते हैं। यथा परशु-राम की बातें सुनकर :

माषे लखन कुटिल भई भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें ॥

यहाँ भौंहों का टेढ़ा होना, ओठों का फड़कना, नेत्रों का लाल होना आदि लक्ष्मण के क्रोध से उत्पन्न रौद्र रस की अनुभूति कराते हैं।

अथवा ग्राम बंधुओं के सीताजी से यह पूछने पर कि 'साँवरे से सखि रावरे को हैं, सीताजी की चेष्टाएँ :

बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चित भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि ॥

कायिक अनुभाव के अन्तर्गत आएँगी।

दूसरे प्रकार की वे चेष्टाएँ अथवा कार्य होते हैं, जिनकी उत्पत्ति पर आश्रय का अधिकार नहीं रहता। वे अन्तःकरण की वृत्ति से उत्पन्न होने के कारण शरीर की स्वाभाविक क्रिया से होते हैं। जैसे किसी भयदायक वस्तु को यकायक सामने देखकर दर्शक की घिग्घी बँध जाती है और चेष्टा करने पर भी वह कुछ नहीं पाता तथा अपने बचाव के लिए भागने की भी चेष्टा नहीं करता। इस प्रकार के व्यापार अपने आप शरीर के द्वारा हो जाते हैं। इसके लिए आश्रय की चेष्टा अपेक्षित नहीं होती। इसीलिए इन्हें सात्विक अनुभाव कहते हैं।

सात्विक अनुभाव आठ होते हैं :

(१) **स्तम्भ**—(प्रसन्नता, लज्जा, व्यथा आदि से शरीर की चेष्टाओं का अपने आप रुक जाना।)

(२) स्वेद—(श्रम, अनुराग, विस्मय आदि के कारण पसीना छूटना)।

(३) रोमांच—(हर्ष, श्रम, भय, क्रोध आदि से शरीर के रोयों का खड़ा हो जाना)।

(४) स्वर-भंग (श्रम, हर्ष, क्रोध, भय आदि के कारण घिग्घी बँध जाना अथवा शब्दों का ठीक प्रकार से न निकलना अथवा चुप सा हो जाना।)

(५) कंप (श्रम, क्रोध, भय, आनन्द आदि के कारण शरीर का काँपने लग जाना)।

(६) **वैवर्ण्य अथवा विवर्णता** (क्रोध, लज्जा, भय, श्रम, मोह आदि के कारण चेहरे का रंग उड़ जाना अथवा शरीर का रंग बदल जाना)।

(७) अश्रु (भय, शोक, आनन्द, क्रोध आदि के कारण आँखों से आँसुओं का बहना)।

(८) **प्रलय** (श्रम, मोह, निद्रा मूर्च्छा मद आदि के कारण सुध-बुध का खो जाना अथवा चेतनाशून्य हो जाना।

यहाँ पर हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि आश्रय की चेष्टाएँ ही अनुभाव मानी जायँगी, आलम्बन की नहीं।

संचारी अथवा व्यभिचारी भाव

ऊपर बताया जा चुका है कि स्थायी भाव प्रधान मानसिक क्रियाएँ हैं। इनके साथ ही साथ कुछ ऐसे भाव होते हैं जो थोड़े समय तक रहते हैं, वे स्थायी भावों के सहायक मात्र होते हैं। वे सभी रसों में यथासम्भव संचार करते हैं, इसीलिए उन्हें संचारी कहते हैं। इन भावों को व्यभिचारी भी कहा गया है, क्योंकि वे किसी एक ही रस से नहीं टिकते। वे कभी किसी के साथ दिखायी देते हैं और कभी किसी के साथ। इस व्यभिचार वृत्ति के परिणामस्वरूप ही उन्हें व्यभिचारी की संज्ञा दी गयी है।

संचारी अथवा व्यभिचारी के विषय में एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। कोई भाव संचारी अथवा व्यभिचारी उसी समय कहा जा सकता है, जब वह स्थायी भाव के कारण उत्पन्न हो और उसके साथ ही रहे। परन्तु यदि वह किसी भी प्रधान भाव के अधीन रहकर स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होता है तो उसे संचारी अथवा व्यभिचारी भाव नहीं कहा जायगा, वह भाव ही माना जायगा।

उदाहरण के लिए सपत्नी के प्रति नायक का प्रेम देखकर नायिका के मन में जो ईर्ष्या का भाव होगा, वह संचारी भाव माना जायगा, क्योंकि वह नायक के प्रति उसके प्रेम-भाव में बाधक होने के कारण ही उत्पन्न होगा। परन्तु किसी भी महान् व्यक्ति की उन्नति देखकर अथवा सुनकर जो ईर्ष्या उत्पन्न होगी उसे संचारी भाव नहीं माना जायगा। क्योंकि वह किसी स्थायी भाव की साधक अथवा बाधक न होगी। इसलिए उसे भाव ही माना जायगा।

संचारी भाव तैंतीस कहे गये हैं। महाराज जसवन्तसिंह ने अपने भाषाभूषण में उनका निम्न प्रकार से वर्णन किया है :

निर्वेदौ, शंका, गरब, चिंता, मोह विषाद।
दैन्य, असूया, मृत्यु, मद, आलस, स्रम उन्माद॥
प्रकृति-गोपन, चपलता, अपसमार, भय ग्लानि।
व्रीड़ा, जड़ता, हर्ष, धृति, मति, आवेग बखानि॥
उत्कंठा, निद्रा, स्वप्न, बोध, उग्रता, भाय।
व्याधि, अमर्ष, वितर्क स्मृति ये तैंतीस गनाय।

अर्थात् निर्वेद (उदासीनता), शंका, गर्व, चिन्ता, मोह, विषाद, दैन्य, असूया, मृत्यु, मद, आलस्य, श्रम, उन्माद, प्रकृति-गोपन, चपलता, अपस्कार, भय, ग्लानि, व्रीड़ा, जड़ता, हर्ष, धृति, मति, आवेग, उत्कण्ठा, निद्रा, स्वप्न, बोध, उग्रता, व्याधि, उमर्ष वितर्क तथा स्मृति—ये तैंतीस संचारी (व्यभिचारी) भाव माने गये हैं।

(१) **निर्वेद (उदासीनता)**—साधारणतः सांसारिक पदार्थों की असारता जान-कर उनके प्रति जो उदासीनता उत्पन्न तो जाती है, उसे 'निर्वेद' कहते हैं, यही भवाना संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न करती है। परन्तु इस अर्थ में 'निर्वेद' शान्त रस का स्थायी भाव होता है। परन्तु किसी प्रिय वस्तु के वियोग, दारिद्रय, अपमान, व्याध्रि के कारण अपने आपको कोसने अथवा धिक्कारने को भी निर्वेद कहा जाता है। इस अर्थ में यह संचारी भाव होता है। इस संचारी भाव में दीनता, चिन्ता अश्रुपात आदि अनुभव होते हैं। इस प्रकार निर्वेद स्थायी भाव तथा संचारी भाव दोनों ही हो सकता है।

(२) **शंका**—किसी प्रकार के अनिष्ट की सम्भावना अथवा इष्ट हानि की

सम्भावना को शंका कहते हैं। इसमें स्वर-भंग, मुख का रंग बदलना, कम्प आदि अनुभाव होते हैं।

(३) गर्व—रूप, विद्या, धन, शक्ति आदि के अभिमान को गर्व कहा जाता है। अविनय, अनादर, उपेक्षा आदि इसके अनुभाव होते हैं।

(४) चिंता—अनिष्ट की आशंका अथवा इष्ट वस्तु की प्राप्ति में विघ्न पड़ने से चिन्ता होती है। नीचे मुख करना, मन का सूनापन, दुःख आदि इसके अनुभाव होते हैं।

(५) मोह—दुःख, चिन्ता, भय वियोग आदि के कारण चित्त के विक्षिप्त हो जाने को मोह की संज्ञा दी जाती है। चेतनाहीन होना, ज्ञान का नष्ट हो जाना, भ्रम उत्पन्न होना आदि इसके अनुभाव हैं।

(६) विषाद—असफलता, इच्छित वस्तु की हानि के कारण उत्साह भंग एवं अनुताप का होना विषाद कहलाता है। पश्चाताप, व्यग्रता, दीर्घ उच्छ्वास आदि इसके अनुभाव होते हैं।

(७) दैन्य—दुःख दारिद्रय आदि से उत्पन्न हुई मन की अवस्था को ही दैन्य की संज्ञा दी जाती है। इसमें हीनता, मलिनता आदि होते हैं।

(८) असूया—दूसरे के ऐश्वर्य, सौभाग्य, उत्कर्ष आदि को देखकर जलन करने तथा उसे हानि पहुँचाने की भावना को असूया कहते हैं। इसमें दूसरे की निन्दा, तिरस्कार, दोष-कथन आदि अनुभाव होते हैं।

(९) मृत्यु—मरण के समास कष्ट का अनुभव करना ही मृत्यु कहलाता है। प्रायः काव्य में इस प्रकार का वर्णन नहीं होता, अतएव मरणासन अवस्था के द्वारा ही मृत्यु की व्यंजना कर दी जाती है।

(१०) मद—मोह के साथ आनन्द के मिश्रण को मद कहा जाता है। यह अवस्था मद्य-पान के कारण उत्पन्न होती है। इसमें नेत्रों का लाल होना, अनर्गल प्रलाप, विशेष प्रकार की मुसकान आदि वर्तमान रहते हैं।

(११) आलस्य—जागरण तथा श्रम आदि के कारण शरीर में उत्साह हीनता अथवा कार्य न करने की भावना को आलस्य कहते हैं। एक ही स्थान पर पड़े रहना, जम्हाई लेना आदि इसके अनुभाव हैं।

(१२) श्रम—कोई कार्य करने, रास्ता चलने, व्यायाम आदि के कारण उत्पन्न हुई थकावट को श्रम कहा जाता है। थक जाना, अँगड़ाई लेना, दीर्घ श्वास हो जाना आदि इसके अनुभाव हैं। गोस्वामीजी ने 'कवितावली' में 'पुरतें निकसी रघुवीर वधू' में सीताजी के श्रम की बहुत सुन्दर व्यंजना की है।

(१३) उन्माद—काम, क्रोध, भय, शोक आदि के कारण चित्त के भ्रमित होने का नाम ही उन्माद होता है। अपने आप बात कहना, हँसना, रोना बड़-बड़ाना आदि इसके अनुभाव हैं।

(१४) प्रकृति-गोपन (अवहित्थ)—लज्जा, श्रम, गौरव आदि के कारण हर्षादि भावों को अथवा किसी बात को छिपाने का नाम अवहित्थ है। बात बदलना, दूसरी ओर देखना, मुँह नीचा कर लेना आदि इसके अनुभाव होते हैं।

(१५) **चपलता**—अनुराग, ईर्ष्या-द्वेष आदि के कारण उत्पन्न होने वाली चित्त की अस्थिरता को चपलता कहते हैं। कठोर शब्द कहना, मनमाना उच्छृंखल आचरण करना आदि इसके अनुभाव होते हैं।

(१६) **अपस्मार** (मिरगी)—किसी विशेष कारण अथवा मानसिक संताप की अधिकता के कारण चित्त के विक्षिप्त हो जाने को अपस्मार कहते हैं। पृथ्वी पर गिर जाना, हाथ पैर पटकना, मुँह से झाग आना आदि इसके अनुभाव होते हैं।

(१७) **भय** (त्रास)—किसी अहित की आशंका से उत्पन्न हुई चित्त की व्यग्रता को भय अथवा त्रास कहते हैं। आशंका, कम्प आदि इसके अनुभाव होते हैं।

(१८) **ग्लानि**—शारीरिक श्रम, भूख प्यास अथवा मानसिक अवस्था से उत्पन्न अंगों की शिथिलता अथवा मन की खिन्नता का नाम ग्लानि है। श्रम तथा ग्लानि में कुछ अन्तर होता है। श्रम परिश्रम के कारण उत्पन्न होने वाली थकावट का नाम है, परन्तु ग्लानि प्रायः मानसिक कष्ट एवं शारीरिक श्रम आदि के कारण उत्पन्न होती है।

(१९) **व्रीड़ा**—प्रिय के दर्शन से उत्पन्न लज्जा अथवा संकोच का होना, पराजय, प्रतिज्ञा-भंग, अनुचित कार्य करने आदि के कारण लज्जित होने को व्रीड़ा कहते हैं। सिर को नीचा कर लेना, आँखों का छिपाना, संकोच आदि इसके अनुभाव हैं।

(२०) **जड़ता**—विवेक-शून्यता अथवा किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का नाम ही जड़ता है। मौन हो जाना, टकटकी लगाकर देखते रहना आदि इसके अनुभाव हैं।

(२१) **हर्ष**—इच्छित वस्तु की प्राप्ति के कारण उत्पन्न होने वाले आनन्द का नाम ही हर्ष है। प्रसन्नता, गद्‌गद् हो जाना, पुलकावलि आदि इसके अनुभाव हैं।

(२२) **धृति**—ज्ञान, साहस, सत्संग आदि के प्रभाव से भय, चिन्ता आदि मनोविकारों को शान्त करने वाली बुद्धि धृति होती है। चित्त की दृढ़ता, संतोष, धैर्य आदि इसके अनुभाव हैं।

(२३) **मति**—शास्त्र आदि से प्राप्त ज्ञान के आधार पर किसी बात का निश्चय कर लेना ही मति है। इसे ही निश्चात्मक बुद्धि कहा जाता है। संतोष धैर्य, आनन्द आदि इसके अनुभाव हैं।

(२४) **आवेग**—किसी आकस्मिक भय आदि के कारण उत्पन्न होने वाली चित्त की घबराहट को आवेग कहा जाता है। विस्मय, स्तम्भ, कंप, हर्ष, शोक आदि इसके अनुभाव हैं।

(२५) **उत्कंठा** (उत्सुकता)—इच्छित वस्तु की प्राप्ति में विलम्ब न सहना उत्कंठा कहलाता है। आतुरता, व्याकुलता, निःश्वास आदि इसके अनुभाव हैं।

(२६) **निद्रा**—शारीरिक श्रम, थकावट, मद्यमान आदि से उत्पन्न चित्त के बाह्य विषयों से निवृत्ति का नाम ही निद्रा है। आँख बन्द करना, अँगड़ाई लेना आदि इसके अनुभाव हैं—

(२७) **स्वप्न**—सुप्तावस्था में जागृत अवस्था की भाँति आचरण करने के अनुभव का नाम ही स्वप्न है। श्रम, आवेग, ग्लानि, सुख-दुःख, क्रोध आदि इसके अनुभाव हैं।

(२८) **बोध** (विबोध)—निद्रा का त्याग अथवा अज्ञान के नष्ट होने के उपरान्त

चेतना प्राप्त करने का नाम ही विबोध है। जम्हाई, अँगड़ाई, शान्ति आदि इसके अनुभाव हैं।

(२९) **उग्रता**—अपमान दुर्व्यवहार आदि के कारण उत्पन्न होने वाली निर्दयता का नाम ही उग्रता होता है। घुड़की देना, मारपीट करना इसके अनुभाव होते हैं।

(३०) **व्याधि**—रोग, वियोग आदि के कारण उत्पन्न होने वाले मनस्ताप का नाम ही व्याधि है। पृथ्वी पर गिर पड़ना, व्याकुलता, कम्प, मूर्च्छा आदि इसके अनुभाव हैं।

(३१) **अमर्ष**—किसी अनुचित व्यवहार आदि से उत्पन्न हुई असहनीयता अथवा असहिष्णुता को ही अमर्ष कहते हैं। नेत्रों का लाल होना, भौंहों का कुटिल होना, प्रतिकार के उपाय आदि इसके अनुभाव होते हैं।

(३२) **वितर्क**—सन्देह अथवा अनिश्चय के कारण मन में अनेक प्रकार के विचारों का उठना ही वितर्क है।

(३३) **स्मृति**—पूर्व-अनुभूति वस्तुओं के स्मरण को स्मृति कहते हैं चंचलता, भौंहों का चढ़ाना आदि इसके अनुभाव हैं।

स्थायी भाव

जैसा कि इससे पहले कहा जा चुका है स्थायी भाव उस भाव को कहते हैं, जिसकी स्थिति में अधिक स्थायी होती है—दूसरे शब्दों में, जो मुख्य भाव होता है, जिसके साथ अन्य भाव चलते हैं तथा उसकी पुष्टि करते हैं, परन्तु उसको बदल नहीं सकते। स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों की सहायता से रस की उत्पत्ति करता है। इस प्रकार वह आस्वाद का मूल आधार होकर रहता है तथा रस-रूप में परिणत होकर अलौकिक आनन्द प्रदान करता है।

स्थायी तथा संचारी भाव में प्रधान अन्तर यह है कि स्थायी भाव निरन्तर बना रहता है तथा अन्त में रस की अवस्था तक पहुँच जाता है, परन्तु संचारी भाव स्थायी भाव को पुष्ट करने में केवल सहायता करने के लिए कभी प्रकट तथा कभी लुप्त होते रहते हैं। स्थायी भाव तो उत्पन्न एवं उद्दीप्त होकर रसानुभूति तक मौजूद रहते हैं, परन्तु संचारी भाव रस-सिद्धि तक नहीं रहते। फिर संचारी भावों को स्थिति स्थायी भावों के कारण ही होती है। जिस प्रकार समुद्र के कारण लहरों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार संचारियों की उत्पत्ति भी होती है तथा जिस प्रकार लहरें उठकर समुद्र में ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार इनका भी उदय एवं पर्यवसान होता रहता है। इस व्यभिचार-वृत्ति के कारण ही उन्हें व्यभिचारी की संज्ञा दी जाती है।

स्थायी भाव नौ होते हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि। आश्चर्य और निर्वेद—जो क्रमशः श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत तथा शान्त रसों के स्थायी भाव हैं।

(१) रति—प्रिय वस्तु में मन के प्रेमपूर्ण उन्मुखी भाव को रति कहते हैं। जैसे :

चितवत चकित चहूँ दिसि सीता।
कहँ गए नृप किसोर मन चीता॥
लता ओट तब सखिन लखाए।
स्यामल गौर किसोर सुहाए॥

देखि रूप लोचन ललचाने।
हरषे जनु निज निधि पहुँचाने।।

उपर्युक्त पंक्तियों में राम के प्रति सीताजी के प्रेम (रति) की व्यंजना की गयी है।

(२) हास—विचित्र वचन-चातुरी, कार्य अथवा विनोदपूर्ण रचना के कारण उत्पन्न हुए आनन्दपूर्ण मनोविकार को हास संज्ञा दी जाती है :

जैसे—रामायण में नारद मोह के प्रसंग में गोस्वामी ने इसका सुन्दर उदाहरण दिया है :

काहु न लखा सो चरित विसेखा।
सो सरूप नृप कन्या देखा।।
मर्कट वदन भयंकर देही।
देखत हृदय क्रोध भा तेही।
जेहि दिसि नारद बैठे फूली।
सो दिसि तेहिं न बिलोकी भूली।

यहाँ पर नारदजी का बन्दर सा मुख हर गणों के हास का कारण है।

(३) शोक—प्रिय वस्तु के वियोग, मृत्यु अथवा वैभव आदि के नाश के कारण होने वाली व्याकुलता को शोक कहा जाता है। जैसे :

मेरो सब पुरषारथ थाको।
विपति बँटावन बन्धु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको।।

आदि पद में लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम के शोक का वर्णन किया गया है।

(४) क्रोध—अपमान, हानि आदि के कारण मन की उत्तेजना को क्रोध कहते हैं। जैसे :

माषे लखनि कुटिल भई भौंहैं।
रदपुट फरकत नयन रिसौंहैं।।

यहाँ पर जनक की गर्वपूर्ण बातों को सुनकर लक्ष्मण जी के क्रोध का वर्णन किया गया है।

(५) उत्साह—शूरता, दान, दया आदि के प्रसंग में हृदय में उत्पन्न हुई प्रबल इच्छा को उत्साह कहते हैं। जैसे :

जो हौं अब अनुशासन पावौं।
तौ चन्द्रमहि निचोरि चैल ज्यौं आनि सुधा सिर नावौं।
कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृतकुण्ड महि लावौं।
भेदि भुवन करि भानु बाहिरी तुरत राहु दे तावौं।
विबुध-वैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं।
पटकौं मीचु नीच मूषक ज्यौं सबहि का पापु बहावौं।

इन पँक्तियों में हनुमानजी के उत्साह का वर्णन किया गया है।

(६) भय—सिंह, सर्प आदि भयंकर जीवों के देखने से अथवा प्रबल शत्रु आदि के कारण जो मन में व्याकुलता होती है, उसे भय कहते हैं :

एक ओर अजगरहि लखि एक ओर बनराइ।
बिकल बटोही बीच ही परयो मूरछा खाइ।

यहाँ पर अजगर एवं सिंह को देखने पर पथिक के भय का वर्णन किया गया है।

(७) ग्लानि—किसी घृणित वस्तु को देखने अथवा छूने अथवा किसी घृणित व्यक्ति की बात सुनने के कारण जो घृणा उत्पन्न होती है, उसे ग्लानि अथवा जुगुप्सा कहते हैं। जैसे :

कहुँ लागत कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जात, एक की राख बहाई।।
विविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गन्धनि महकति।
कहुँ चरबी सो चटपटति कहुँ-दह दह दहकति।।

यहाँ श्मसान का वर्णन है, जो सुनने पर घृणा की भावना उत्पन्न करता है।

(८) आश्चर्य (विस्मय)—किसी अलौकिक वस्तु को देखने अथवा वर्णन सुनने से जो भाव उत्पन्न होता है उसे आश्चर्य अथवा विस्मय कहते हैं। जैसे :

नटवर, है अनुपम, तब माया।
सकल चराचर एक सूत्र में तूने बाँध नचाया।

यहाँ ईश्वर की रचना पर आश्चर्य प्रकट किया है।

(९) निर्वेद (शम)—ज्ञान की प्राप्ति हो जाने से सांसारिक विषयों से जो वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, उसे निर्वेद कहते हैं। गोस्वामी जी की विनय-पत्रिका में इस भाव के द्योतक अनेक पद हैं।

दोष

परिभाषा—अग्निपुराण में काव्यास्वाद में उद्वेग उत्पन्न करने वाली वस्तु को दोष कहा गया है (उद्वेगजन को दोषः)। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के शब्दार्थ द्वारा रस के अपकर्ष को दोष माना है। मम्मटाचार्य ने मुख्य अर्थ के अपकर्ष को दोष कहा है। वामनाचार्य गुणों के विरोधियों को दोष कहते हैं। इन सब सम्मतियों के आधार पर हम कह सकते है कि मुख्य अर्थ की प्रतीति में बाधा पहुँचाने वाले कारण ही दोष होते हैं। जिस प्रकार किसी श्रेष्ठ पुरुष के चरित्र में थोड़ा-सा भी दोष आने से उसकी उत्तमता प्रायः नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार काव्य में थोड़ा सा भी दोष उसके सौन्दर्य का नष्ट करके उससे प्राप्त होने वाले आनन्द में बाधक हो जाता है। किसी भी रचना के लिए यह आवश्यक है कि वह निर्दोष होनी चाहिए, चाहे उसमें सरसता एवं अलंकारों की भले ही कुछ कमी हो जाय। यह नियम केवल काव्यकारों के लिए ही नहीं वरन साधारण पुरुषों के लिए भी है। उन्हें भी यथासम्भव अपने वाक्यों को दोष से बचाना चाहिए। इसलिए आचार्यों ने गुणों के साथ ही साथ दोषों का भी विवेचन किया है।

काव्य-दोष तीन प्रकार के होते हैं :

(१) शब्द-दोष, (२) अर्थ-दोष, (३) रस-दोष।

श्रुति-कटुत्व—कानों को अप्रिय लगने वाली कठोर शब्दों की रचना श्रुति कटुत्व कही जाती है। इसलिए जहाँ पर कठोर वर्णों का प्रयोग होता है, वहाँ पर श्रुति-कटुत्व दोष होता है।

यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में ही इस प्रकार के कठोर शब्दों का प्रयोग दोष माना जायगा, परन्तु रौद्र, भयानक आदि कठोर रसों में वह गुण माना जायगा : उदाहरण :

भर्त्सना से भीत हो वह बाल तब चुप हो गयी।

यहाँ 'भर्त्सना' शब्द कर्ण-कटु है।

कार्तार्थी तब होऊँगी, मिलि हैं प्रीतम आय।

यहाँ वियोग शृंगार जैसे कोमल रस में 'कार्तार्थी' शब्द श्रुति-कटु मालूम होता है। अतएव इन दोनों उदाहरणों में श्रुति-कटुत्व दोष है।

च्युत-संस्कृति—जहाँ कोई शब्द अपने शुद्ध रूप में नहीं आया हो, अर्थात् जहाँ पर व्याकरण की अवहेलना करके शब्द को मनमाने रूप में लिखा गया हो, वहाँ च्युत-संस्कृत दोष होता है। उदाहरण :

सीता जू के रूप देवता कुरूप को हैं,
रूपही के रूपक तो वारि-वारि डारिए।

'देवता' शब्द हिन्दी व्याकरण के अनुसार पुंल्लिग है, परन्तु यहाँ पर केशवदास जी ने उसका प्रयोग देवनारियों के अर्थ में स्त्रीलिंग में किया है, जो ठीक नहीं है।

इसी प्रकार गोस्वामी जी के :

मर्म बचन सीता जब बोला।
हरि प्रेरित लछमन मति डोला।

मैं 'बोला एवं डोला' के स्थान पर 'बोली और डोली' होना चाहिए था, क्योंकि सीता एवं मति दोनों स्त्रीलिंग हैं।

अप्रतीत्व—जहाँ किसी ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाय जो किसी शास्त्र आदि में ही प्रसिद्ध हो। उदाहरण :

आशय मेरा करो नाश हे हरि ! सुखदाई

'आशय' शब्द योगशास्त्र में 'वासना' के अर्थ में आता है, परन्तु यह अर्थ लोक में अप्रसिद्ध है। अतः यहाँ पर अप्रतीतत्व दोष है।

अथवा

'पुत्रजन्म उत्सव समय स्पर्श कीन्ह बहु गाय।'

हिन्दी में 'स्पर्श' शब्द का अर्थ छूना होता है, परन्तु संस्कृत में इसका अर्थ 'दान-देना' भी होता है, जैसा कि अमरकोश में दिया गया है। अतएव इस शब्द का प्रयोग यहाँ पर उचित नहीं हुआ है।

क्लिष्टत्व—जहाँ पर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय। जिससे अर्थ के समझने में कठिनाई हो, वहाँ पर क्लिष्टत्व दोष होता है। उदाहरण :

कुम्भज-पान-कुमारी-सहोदर आनन देखि लजात तिहारो।

यहाँ पर साधारण अर्थ यह है कि नायिका का मुख देखकर चन्द्रमा लज्जित हो जाता है, परन्तु यह अर्थ बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है।

कुम्भज (अगस्त्य), उनका पान अर्थात् समुद्र उसकी कुमारी (लक्ष्मी) उसका भाई (चन्द्रमा)।

यह दोष प्रायः कूट पदों में मिलता है, जिसके उदाहरण सूरदास में काफी मिलते हैं।

मन्दिर अरध अवधि हरि बद गए हरि अहार चलि जात।

मन्दिर-अरध = पक्ष या पाख। हरि-अहार = मास = महीना।

यहाँ पर गोपियाँ कहती हैं कि भगवान कृष्ण हमें एक पखवारे की अवधि दे गये थे और अब एक महीना हो गया, वे वापस नहीं आये। परन्तु इस अर्थ को निकालने में काफी कठिनाई होती है। इसीलिए यहाँ क्लिष्टत्व दोष है।

अक्रमत्व—जिस पद के बाद जो उचित हो, उस पद के क्रमशः प्रयोग न करने में अक्रमत्व दोष होता है। उदाहरण :

समय सबल निरबल करत कहत मनहुँ यह बात।

× × ×

विश्व में लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी।

प्रथम उदाहरण में 'यह बात मनहूँ कहत' होना चाहिए तथा दूसरे उदाहरण 'मानवी' शब्द 'लीला' से पहले होना चाहिए।

न्यूनपदत्व—जहाँ पर अभीष्ट अर्थ के वाचक शब्द को छोड़ दिया जाय, वहाँ पर न्यूनपदत्व दोष होता है। उदाहरण :

कृपावलोकनि होय तो सुरपति सों का काम।

यहाँ पर 'आपकी' पद अवश्य होना चाहिए नहीं तो मालूम यह करना कठिन हो जाता है कि किसकी कृपा दृष्टि होय।

उत्तम, मध्यम, नीच गति, पाहन, सिकता, पानि।
प्रीति परीच्छा तिहुँन की, बैर वितिक्रम जानि॥

यहाँ पर 'लकीर' पद न होने से अर्थ करने में कठिनाई होती है।

अधिकपदत्व—जहाँ काव्य में अनावश्यक शब्दों का प्रयोग किया जाय, वहाँ पर अधिक पदत्व दोष होता है। उदाहरण :

लपटी पुहुप पराग पट, सनी स्वेद मकरन्द।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायु गतिमन्द॥

'पराग' से तात्पर्य पुष्पों के पराग से ही होता है, अतएव यहाँ पर 'पुहुप' शब्द अधिक है।

दुष्क्रमत्व—जहाँ लोक अथवा शास्त्र के विरुद्ध क्रम होता है, वहाँ पर दुष्क्रमत्व दोष होता है। उदाहरण :

मरुतनन्दन मारुत को मन को खगराज को वेग लजाओ।

इस वाक्यांश में दुष्कमत्व दोष है, क्योंकि 'मन' को सबके बाद आना चाहिए उसका वेग सबसे अधिक होता है। वास्तव में खगराज से मारुत तथा मारुत से मन का वेग अधिक होता है।

अलंकार

अलंकार की परिभाषा—मनुष्य स्वभाव से सौन्दर्योपासक प्राणी है और उसकी इस भावना ने ही ललित कलाओं को जन्म दिया है। किसी भी वस्तु की उपयोगिता से ही मनुष्य संतुष्ट नहीं हो जाता, वरन् वह उसको सुन्दर बनाने का भी प्रयास करता है। जिस प्रकार शरीर के सौन्दर्य की वृद्धि के लिए उसने भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणों का प्रयोग आरम्भ किया तथा उसमें उत्तरोत्तर उन्नति की, उसी प्रकार उसने भाषा को भी सुन्दर बनाने के लिए अलंकारों की योजना की। अपनी बात को प्रभाव पूर्ण बनाने के लिए आवश्यक होता है कि उसमें कुछ चमत्कार अथवा रमणीयता हो। यही चमत्कार अथवा रमणीयता अलंकार कही जाती है और यही काव्य को सुन्दरता प्रदान करती है।

अलंकार शब्द का अर्थ है अलंकृत करने वाला। इस शब्द की व्याख्या करते हुए वामनाचार्य ने कहा है—'अलंकारोतीति अलंकार:' अर्थात् किसी वस्तु की शोभा प्रदान करने वाला गुण अलंकार कहलाता है। आचार्य दण्डी ने इसकी निम्न प्रकार से व्याख्या की है :

काव्यशोभाकरान्धर्मागलंकाराप्रचक्षते

अर्थात् काव्य के बाह्य सौन्दर्य को बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं।

'साहित्य दर्पण' के रचयिता विश्वनाथ कविराज ने इसके विषय में निम्न प्रकारव से लिखा है :

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा: शोभातिशायिन:
रसादीनुपकुर्वतोऽलंकारास्ते....................

अर्थात् शोभा की वृद्धि करने वाले, रस, भाव आदि की उत्कृष्टता को अधिक करने वाले शब्द और उनके अस्थिर धर्म को अलंकार कहते हैं।

अलंकारों का काव्य में स्थान—काव्य की रमणीयता बढ़ाने वाले उपादान ही अलंकार कहे जाते हैं जिस प्रकार सुन्दर वस्त्राभूषणों से किसी सुन्दर स्त्री की शोभा में अधिक वृद्धि हो जाती है उसी प्रकार वाक्य में अलंकारों की योजना से रमणीयता आ जाती है, उसके सौन्दर्य की वृद्धि हो जाती है। परन्तु आचार्यों ने अलंकारों को अस्थिर धर्म बताया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आभूषणों से रहित सुन्दर स्त्री सुन्दरी हो मानी जायगी, उसी प्रकार सुन्दर कविता के लिए अलंकारों की योजना अनिवार्य नहीं है। यदि भाव सुन्दर हैं तो अलंकारों के बिना भी काव्य सुन्दर हो जायगा। इसका कारण यह है कि काव्य की आत्मा तो भाव ही होती है, अलंकार तो उसके बाह्य रूप से ही सम्बन्ध रखते हैं। इस विषय में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। जिस प्रकार किसी सुन्दरी को यदि बहुत अधिक आभूषणों से लाद दिया जाय, तो उसकी सुन्दरता बढ़ने के स्थान पर और भी कम हो जायगी, उसी प्रकार काव्य में भी अलंकारों का आधिक्य उसकी स्वाभाविक कोमलता एवं सौन्दर्य में कमी कर देते हैं तथा उसके वास्तविक उद्देश्य को एक प्रकार से निरर्थक ही कर देते हैं। महाकवि केशव की उक्ति :

भूषण बिन न विराजहीं कविता, वनिता मित्त।

कुछ हद तक ही ठीक मानी जा सकती है। अलंकार, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, काव्य के बहिरंग से ही सम्बन्ध रखते हैं, अतएव उनसे सहायक का ही काम लेना चाहिए। उनको प्रमुख स्थान देना काव्य की आत्मा का हनन करना है। वैसे यदि कविता में भाव है तो वह बिना अलंकार के ही चित्ताकर्षक एवं प्रभावशालिनी हो जाती है। अतएव अलंकार उपयुक्त ही होने चाहिये। वास्तव में अलंकार भाव एवं भाषा के भूषण होते हैं। उनका प्रधान कार्य भावों को सजीवता एवं भाषा को चमक देना है। यदि वे अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में सफल न हो सकें तो वे अनावश्यक आभूषणों की भाँति भारस्वरूप ही माने जायेंगे।

प्रमुख अलंकार

अनुप्रास—अनुप्रास का शब्दार्थ है बार-बार वर्णों अथवा शब्दों का आना। अर्थात् इसमें वर्णों की सुन्दर सजावट की ओर ही विशेष ध्यान रखा जाता है इसके दो भेद माने गये हैं—वर्णानुप्रास तथा शब्दानुप्रास। जहाँ निरर्थक वर्णों का आवृत्ति हो वहाँ पर वर्णानुप्रास तथा जहाँ सार्थक वर्णों की आवृत्ति हो वहाँ शब्दानुप्रास होता है।

इसके पाँच भेद हैं—छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, श्रुत्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास।

यमक—'यमक शब्द को फिर स्रवन, अर्थ जुदा सो जानि'

जहाँ पर एक ही शब्द अथवा शब्द-समूह का एक से अधिक बार प्रयोग हो तथा उसका अर्थ प्रत्येक बार भिन्न हो वहाँ पर यमक अलंकार होता है। जैसे :

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाए बौराय जग, या पाये बौराय ॥

एक कनक का अर्थ सोना और दूसरा धतूरा है।

श्लेष—जहाँ एक ही पद अथवा पद-समूह के दो अथवा अधिक अर्थ निकलते हैं वहाँ श्लेष अलंकार होता है। यह दो प्रकार का होता है—अभंग-पद श्लेष तथा सभंग-पद श्लेष।

अजौं तरयौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक रंग।
नाक-वास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतनु के संग ॥

यहाँ पर 'तरयौना' पद में सभंग श्लेष है। एक पक्ष में तो उसका अर्थ कान का आभूषण है तथा दूसरे पक्ष में उसके दो टुकड़े करने से तरयौ+ना अर्थात् तरा नहीं, यह अर्थ होता है।

वक्रोक्ति—यदि कोई किसी से कुछ कहे, और सुनने वाला परिहास आदि के लिये उसके कथन का दूसरा ही अर्थ लेकर कुछ वैसा ही उत्तर दे तो वक्रोक्ति अलंकार होता है। वक्रोक्ति का अर्थ है—वक्र = टेढ़ी; उक्ति = कथन। वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है—श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु-वक्रोक्ति। जैसे :

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू ?
तुमहिं उचित तप मोकहँ भोगू ॥

यहाँ पर सुकुमार, बन जोगू, तप भोगू आदि शब्दों के उच्चारण में वक्रोक्ति की ध्वनि मिलती है।

उपमा—जहाँ एक-से धर्म, स्वभाव, शोभा तथा दशा वाले दो पदार्थों की तुलना की जाती है, वहाँ उपमा अलंकार होता है।

रूप, रंग, गुण काहु को, काहू के अनुसार।
ताकों उपमा कहत हैं, जे सुबुद्धि आगार॥

उपमा के चार अंग होते हैं :

उपमेय—प्रस्तुत अथवा वर्ण्य-विषय (अर्थात् जिसकी किसी अन्य वस्तु से तुलना की जाय)।

उपमान—अप्रस्तुत अर्थात् जिस वस्तु से समता दी जाय।

समान धर्म—उपमान तथा उपमेय का एकसा गुण।

वाचक—वे शब्द जो समान धर्म को प्रकट करते हैं।

उदाहरण—'हरिपद कोमल, कमल से।'

उपरोक्त उदाहरण में—

हरिपद = उपमेय।

कमल = उपमान।

कोमल = समान धर्म।

से = वाचक।

उपमा के दो भेद होते हैं—पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा।

पूर्णोपमा—जहाँ पर उपमा के उपरोक्त चारों अंग वर्तमान रहते हैं जहाँ पर पूर्णोपमा होती है। ऊपर का उदाहरण पूर्णोपमा का है। एक और उदाहरण देखिए :

रह्यौ ऐंचि अन्त न लह्यो, अवधि दुशासन वीर।
आली बाढ़त बिरह ज्यों, पांचाली को चीर॥

प्रतीप—प्रतीप का अर्थ उल्टा होता है। अतएव जहाँ उपमेय का कथन उपमान के रूप में तथा उपमान का उपमेय के रूप में कहा जाता है वहाँ प्रतीप होता है।

इसके पाँच भेद होते हैं :

(१) जहाँ पर प्रसिद्ध उपमान को उपमेय तथा उपमेय को उपमान बताया जाता है वहाँ पर प्रथम प्रतीप होता है। जैसे :

'लोयन से अंबुज लसे, मुख सो चन्द्र बखानु।'

साधारण रूप से कमल से नेत्रों की उपमा दी जाती है तथा चन्द्र से मुख की, परन्तु यहाँ पर कमल को नेत्रों के समान तथा चन्द्रमा को मुख के समान बताया गया है। अतएव यहाँ पर प्रथम प्रतीप है।

(२) जहाँ पर उपमेय का तिरस्कार किया जाय, वहाँ पर दूसरा प्रतीप होता है। जैसे :

'गरब करति मुख को कहा चन्दहि नीकै जोइ।'

यहाँ पर उपमान चन्द को उपमेय बना कर वर्णनीय उपमेय मुख का अनादर किया गया है।

(३) जहाँ पर उपमान का उपमेय द्वारा निरादर किया जाता है, वहाँ पर तीसरा प्रतीप होता है। जैसे :

'तीछन नैन कटाच्छ तें मन्द काम के बान।'

यहाँ पर उपमेय नैन कटाक्षों के द्वारा उपमान काम के वाणों का निरादर किया गया है।

(४) जहाँ पर उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य बताया जाय वहाँ पर चौथा प्रतीप होता है। जैसे :

'अति उत्तम दृग मीन से कहे कौन विधि जाहिं।

अर्थात् आँखों की मीन से किस प्रकार उपमा दी जा सकती है ? यहाँ पर उपमान मीन को उपमेय आँखों के अयोग्य बताया गया है।

(५) जहाँ उपमेय के आगे उपमान को व्यर्थ बताया जाय वहाँ पर पंचम प्रतीप होता है। जैसे :

'दृग आगे मृग कछु न ये।'

अर्थात् कामिनी के नेत्रों के सामने मृग के नेत्र तुच्छ हैं। यहाँ पर कामिनी के नेत्रों के सामने उपमान मृग के नेत्रों को अनावश्यक बताकर उनका अनादर किया गया है।

रूपक—उपमा में उपमेय तथा उपमान दोनों का अस्तित्व अलग-अलग रहता है, परन्तु रूपक में दोनों में एक-रूपता हो जाती है। जैसे :

राम-कथा सुन्दर करतारी।
संशय विहँग उड़ावन हारी॥

यहाँ पर राम-कथा तथा कर-तारी (हाथ की ताली) क्रमशः उपमेय तथा उपमान है, परन्तु चौपाइयों में इन दोनों में इतनी समता दिखा दी गई है कि वे दोनों एक-रूप हो गई हैं। अतएव यहाँ पर रूपक हैं। फिर इस एक-रूपता में संशय एवं विहंग के द्वारा और भी अधिक सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है।

रूपक के दो भेद होते हैं—अभेद रूपक तथा तद्रूप रूपक।

अभेद रूपक—जहाँ पर उपमेय तथा उपमान में कोई भेद नहीं रह जाता, वहाँ पर अभेद होता है। जैसे 'साकेत' की निम्न पंक्तियाँ :

सखि ! नील नभस्सर में उतरा,
यह हँस अहा तरता तरता।

यहाँ नीचे आकाश में सरोवर का इस प्रकार आरोप किया गया है कि दोनों में बिलकुल भेद नहीं दिखाई देता। नीचे आकाश रूपी सरोवर में यह हंस (सूर्य) तैरता दिखाई देता है।

'विद्रुम-अधर अतीव मनोहर' यहाँ पर विद्रुम (उपमान) तथा अधर (उपमेय) में अभेद मान लिया गया है। इस प्रकार इन दोनों उदाहरणों में अभेद रूपक है।

तद्रूप रूपक—जहाँ पर उपमेय को उपमान का दूसरा रूप कहा जाय वहाँ पर तद्रूप रूपक होता है। इसमें ऊपर की भाँति अभेद नहां होता, वरन् उपमेय को उपमान के से गुण, कर्म आदि में मिलते-जुलते कहा जाता है। मैंने केशव के दशरथ महिमा वर्णन सम्बन्धी निम्न पंक्ति में बताया गया है।

दीपति दिपति अति सातों दीप दीपियतु,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिण को बल है।

यहाँ पर उपमेय राजा दशरथ को 'दूसरो' शब्दों द्वारा उपमान दिलीप से भिन्न कहते हुए भी दोनों में एकरूपता आरोपित की गई है। अतएव यहाँ पर तद्रूप रूपक है।

अभेद रूपक तीन प्रकार का कहा जाता है—सावयव अथवा सांग रूपक निर-वयव अथवा निरंग रूपक तथा परम्परित रूपक।

सावयव अथवा सांग रूपक—जहाँ पर उपमान के विविध अंगों का आरोप उपमेय के विविध अंगों पर किया जाता है, वहाँ पर सावयव अथवा सांग रूपक होता है। जैसे :

उदित उदय-गिरि मंच पर, रघुवर बाल पतंग।
विगसे सन्त सरोज सब, हरषे लोचन भृंग॥

यहाँ पर उपमेय राम पर बाल-पतंग उपमान के विविध अंगों का आरोप किया गया है। दूसरे शब्दों में उपमान से सम्बन्ध रखने वाले अंगों—उदयगिरि, सरोज तथा भृंग—का क्रमशः उपमेय से सम्बन्धित मंच, सन्त, तथा लोचन पर किया गया है। 'रामचरित मानस' में सांगरूपक के अनेक सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं।

निरवयव अथवा निरंग रूपक—यहाँ पर उपमेय पर उपमान का अव-यवों रहित आरोप होता है, वहाँ पर निरवयव अथवा निरंग रूपक होता है। इसमें उपमा को किसी विशेषता का आरोप मात्र होता है, उसके अंगों का नहीं जैसे :

छिनु-छिनु प्रभु-पद कमल बिलोकी।
रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी॥

यहाँ पर पद उपमेय में कमल उपमान का आरोप मात्र है, उसके अंगों का नहीं। अतएव यहाँ पर निरवगव अथवा निरंग रूपक है।

परम्परित रूपक—जहाँ पर एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, वहाँ पर परम्परित रूपक होता है। जैसे :

तुम बिनु रघुकुल-कुमुद-विधु सुरपुर नरक समान।

भ्रान्तिमान—जहाँ भ्रम के कारण किसी-किसी वस्तु को अन्य वस्तु मान लें, वहाँ पर भ्रान्तिमान अलंकार होता है। जैसे :

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से।

देख उसको ही हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है।

सन्देह—जहाँ किसी वस्तु को देखकर शादृश्य के कारण उसके वास्तविक रूप का निश्चय न हो सके।

भ्रान्तिमान में एक वस्तु को दूसरी वस्तु मान लिया जाता है, परन्तु सन्देह में यह निश्चय नहीं हो पाता। जैसे :

दायां हाथ लिये था सुरभित,
चित्र विचित्र सुमन माला।
टांग धनुष की कल्पलता पर,
मनसिज ने झूला डाला।

उत्प्रेक्षा—जहाँ पर उपमेय में उपमान से भिन्नता होते हुए भी उसमें (उपमेय में) उपमान की सम्भावना की जाती है, वहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

उपमा में उपमेय तथा उपमान की समता बताई जाती है, रूपक में उपमेय तथा उपमान की एकरूपता दिखाई जाती है तथा उत्प्रेक्षा में दोनों की समानता की सम्भावना मात्र रहती है। दूसरे शब्दों में उपमा में दोनों—उपमेय तथा उपमान—अलग-अलग रहते हैं, रूपक में दोनों अभेद हो जाते हैं, परन्तु उत्प्रेक्षा में वह भिन्नता कम हो जाती है। जैसे कमल से नेत्र (उपमा) कमल ही नेत्र (रूपक) तथा कमल मानों नेत्र हैं (उत्प्रेक्षा)।

उत्प्रेक्षा के तीन भेद हैं :

वस्तूत्प्रेक्षा—जहाँ एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में सम्भावना की जाय, वहाँ वस्तूत्प्रेक्षा होती है। जैसे :

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलौने गात।
मनो नीलमनि सैल पर, आतप परयो प्रभात॥

यहाँ पर पीताम्बर ओढ़े हुए भगवान कृष्ण के श्याम शरीर (उपमेय) में प्रातः-कालीन सूर्य की किरणों से सुशोभित नीलमणि पर्वत (उपमानीक) सम्भावना कर ली गई है।

हेतुत्प्रेक्षा—जहाँ-अहेतु में अर्थात् जो कारण न हो उसमें हेतु की सम्भावना की जाती है, वहाँ पर हेतुत्प्रेक्षा होती है। जैसे :

पावकमय ससि स्रवत न आगी।
मानहु मोहि जानि हतभागी॥

चन्द्रमा में अग्नि नहीं होती, परन्तु वियोगियों को उसकी शीतलता अग्नि के समान मालूम होती है। अतएव यहाँ पर सीताजी चन्द्रमा से जो अग्नि माँगती है। यहाँ पर चन्द्रमा में अग्नि की सम्भावना की गई है।

फलोत्प्रेक्षा—अफल में फल की सम्भावना की जाने को फलोत्प्रेक्षा कहते हैं।

स्पष्टीकरण—जो फल का उद्देश्य नहीं होता, उसको फल का उद्देश्य मान लिया जाता है :

मानहु विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज ।
दृग-पग पोंछन को किए, भूषण पायंदाज ।।

भूषण पुरुषों की दृष्टि को पोंछने के लिये पायदाज का काम नहीं करते। स्त्रियाँ उनको सम्भावत: धारण करती हैं, परन्तु यहाँ इस फल के लिये इनकी सम्भावना मात्र करने से फलोत्प्रेक्षा है ।

दीपक—जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) तथा अप्रस्तुत (उपमान) दोनों का एक धर्म कहा जाता है, वहाँ दीपक अलंकार होता है । जैसे :

देखैं ते मन न भरै, तन की मिटै न भूख ।
बिन चाखे रस न मिलै, आम, कामिनी, ऊख ।।

यहाँ पर कामिनी उपमेय तथा आम और ऊख उपमान का एक धर्म 'बिन चाखे रस न मिले' कहा गया है ।

परिसंख्या—जहाँ किसी वस्तु का दूसरे स्थानों में निषेध कर किसी एक विशेष स्थान पर होना कहा जाय, वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है । जैसे :

अति चंचल जहँ चलदलें, विधवा बनी न नारि ।
मन मोह्यो रिसिराज को, अद्‌भुत नगर निहारि ।।

यहाँ पर अवधपुरी में चंचलता केवल पीपल के पत्तों में ही पाई जाती है, अन्यत्र नहीं ।

अर्थान्तरन्यास—जहाँ पर किसी सामान्य बात का विशेष अथवा विशेष बात का सामान्य से साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा समर्थन किया जाता है, वहाँ पर अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है । जैसे :

दान दीन को दीजिये, हरै दरिद्र की पीर ।
औषधि ताको दीजिये, जाके रोग शरीर ।।

यहाँ पर दरिद्र को दान देना चाहिए इस सामान्य कथन को रोगी को दवाई देने के विशेष कथन से पुष्ट किया गया है :

कैसे फूले देखियत, प्रात कमल के गोत ।
दास मित्र उद्दोत लखि, सबै प्रफुल्लित होत ।।

यहाँ पर 'प्रात:काल' कमल फूलते हैं, इस विशेष उक्ति का समर्थन 'मित्र की उन्नति से सभी प्रसन्न होते हैं' साधारण कथन द्वारा किया गया है ।

अन्य उदाहरण

रहिमन नीच कुसंग सौं लगत कलंक न काहि ।
दूध कलारी कर लखै, को मद जानैं नाहि ।।
माँगे घटत रहीम पद, कितौं करौ बड़ काम ।
तीन पैग वसुधा करी, तऊ बामनैं नाम ।।

दृष्टान्त—जहाँ उपमेय तथा उपमान वाक्यों तथा उनके साधारण धर्म का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है । इस अलंकार में दो

वाक्य होते हैं—उपमान वाक्य तथा उपमेय वाक्य। इन दोनों के धर्म पृथक होते हैं, परन्तु फिर भी दोनों में साम्य दिखाई देता है अर्थात् दोनों का साधारण अर्थ भिन्न होते हुये भी उनमें समता सी दिखाई देती है।

अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त में कुछ अन्तर होता है। प्रथम में तो, सामान्य बात का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है, परन्तु दृष्टान्त में दो वाक्यों को इस प्रकार से कहा जाता है कि वे समान मालूम होते हैं।

उदाहरण

रहिमन अति सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि, अँखियन को सुख होत॥
दुसह दुराज प्रजान के, क्यों न बढ़े दुख द्वन्द्व।
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रवि चन्द॥
कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ।
उड़ी जात कितहूँ गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ।

उपरोक्त दोहों के प्रथम वाक्य तथा द्वितीय वाक्य में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हैं, जो वाचक शब्द द्वारा प्रगट नहीं किये गये हैं। अतएव यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

अपन्हुति—उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना किये जाने पर अपन्हुति होती है।

स्पष्टीकरण—अपन्हुति का अर्थ है छिपाना। उसमें किसी सत्य बात को छिपाकर किसी असत्य बात की स्थापना की जाती है जैसे :

"वह मनुष्य नहीं देवता है।" में मनुष्य सत्य को हटाकर देवता का आरोप किया गया है। अपन्हुति के निम्न भेद हैं :

शुद्धापन्हुति—उपमेय का निषेध करके उपमान का होना कहे जाने पर शुद्धापन्हुति होती है। जैसे :

धुरवा होइ न अलि उठ्यो, धुवाँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम प्रयोद॥

यहाँ बादल उपमेय का निषेध करके अग्नि के धुएँ (उपमान) की स्थापना करने से शुद्धापन्हुति है।

हेत्वापन्हुति—उपमेय का निषेध करके उपमान का होना कारण-सहित कहने पर हेत्वापन्हुति होती है। जैसे :

हीतल शीतल होत निहारत, नैनन को अति ही सुखदाई।
नाँहिन चन्द्र कि चाँदनि चारु, अहै मम प्राण-प्रिया सुघराई।

यहाँ प्रिया की सुन्दरता को देखकर कहा गया है कि चन्द्र की चाँदनी नहीं सुघराई है और इसका कारण भी दिया गया है कि इससे हृदय शीतल हो रहा है।

पर्यस्तापन्हुति—किसी वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के धर्म का आरोप करने के लिए उस दूसरी वस्तु के धर्म का निषेध करने को पर्यस्तापन्हुति कहते हैं। जैसे :

शीतलता शसि में नहीं, शीतलता मुख-चन्द्र।

यहाँ चन्द्र में से शीतलता का निषेध करके मुखचन्द्र में आरोप किया गया है।

छेकापन्हुति—गुप्त बात प्रगट हो जाने पर उसे मिथ्या समाधान से छिपाने को छेकापन्हुति कहते हैं :

अधराति व्यतीत भये सजनी, सजिके ढिग में मोंहि आइ निहारी।
चौंकि पड़ी छवि देखत ही, उन औचक ही मोरि लाज उघारी।।
हिय-सागर माँझ तरंग उठी, संग देखत ही प्रिय प्राण-विहारी।
न सखि साजन, चन्द्र सुहावन, साँची कहौं अलि सौंह तिहारी।।

यहाँ नायिका सखी से नायक मिलन का वर्णन कर रही है फिर उसी को छिपाने के लिए असत्य बात बनाकर कहने लगती है कि सखि ! तेरी सौगन्ध मैं तो प्रियतम की बात न कहकर चन्द्रमा की बात कह रही हूँ।

कैतवापन्हुति—मिस, काज, बहाना आदि शब्दों के द्वारा उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थिति कथन होने से कतवापन्हुति होती है। जैसे :

मुख के मिस देखउ उयो, यह निकलंक मयंक।

यहाँ पर 'मिस' के द्वारा उपमेय सुख का निषेध करके निकलंक (उपमान) की स्थिति का कथन होने से कैतवापन्हुति है।

भ्रान्तापन्हुति—उपमान का निषेध करके उपमेय का होना कथन करने से भ्रान्तापन्हुति होती है। जैसे :

आनन है अरविन्द न फूले, अलीगन भूले कहा मंडरात हौ।
कीर कहा तुम्हें बाइ भई, भ्रम बिम्ब के ओठन को ललचात हौ।।
दास जू व्याली न बेनी रची, तुम पापी कलामी कहा इतरात हौ।
बोलति बाल न, बाजत बीन, कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ।।

यहाँ पर आनन, ओठ, नायिका की वेणी और वाणी की स्थिति कमल, बिम्बाफले सांपनि, वीणावाद उपमानों का निषेध करके दिखाने से भ्रान्तापन्हुति है।

अन्योक्ति—अप्रस्तुत से प्रस्तुत का कथन होने से अप्रस्तुत प्रशंसा होती है।

स्पष्टीकरण—प्रस्तुत उसे कहते हैं, जिसका कि वर्णन करना अभीष्ट हो। अप्रस्तुत उसे कहते हैं जो प्रसंग का विषय नहीं होता; परन्तु जो प्रस्तुत के समान होता है। इसमें अप्रस्तुत का कथन किया जाता है; पर उससे प्रस्तुत का अर्थ निकलता है।

उदाहरण

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सौं बिन्ध्यो, आगे कौन हवाल।।

यहाँ प्रस्तुत भौंरे के बहाने प्रस्तुत राजा जयसिंह को उपदेश देने में अप्रस्तुत प्रशंसा या अन्योक्ति है।

असंगति—कारण कहीं और कार्य अन्यत्र वर्णन होने पर असंगति अलंकार होता है। जैसे :

दृगन लगत, वेधत हियो, विकल करत अंग आन।
प्यारी ये तेरे कठिन, ईछन तीछन बान।

यहाँ नायिका के नेत्र-वाण नायक के नेत्रों में लगते हैं किन्तु व्याकुल अंग को करते हैं।

दृग उरझत, टूटत कुटुम्ब, जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति।।

यहाँ उरझने का कारण दृगों में उपस्थित होता है और अन्यत्र कुटुम्ब टूटने का कार्य होता है, चतुरों के चित्त जुड़ने का कारण कहीं होता है तथा दुर्जनों के हृदय में गाँठ पड़ने का कार्य अन्यत्र होता है।

व्यतिरेक—व्यतिरेक में उपमेय में उपमान से अधिक गुण का कथन होता है। जैसे—चन्द्रमा से मुख में यह विशेषता है कि वह मीठे वचन भी बोलता है।

उदाहरण—

जन्म सिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलंक।
सीय मुख समता पाव किमि, चन्द्र बापुरो रंक।।

अनन्वय—उपमेय की समता के लिए उपमान न मिलने पर उपमेय का स्वयं ही उपमान हो जाने पर अनन्वय अलंकार होता है जैसे :

राम से राम सिया सी सिया,
विधि ने रचि के निज हाथ सँवारे।

स्पष्टीकरण—यहाँ राम और सीता की अन्यत्र समता न मिलने पर राम की समानता राम से और सीता की समानता सीता से की गई है। अतः अनन्वय अलंकार है।

निदर्शना—उपमेय और उपमान वाक्यों के अर्थ-भेद होते हुए भी दोनों का एक दूसरे में एक प्रकार आरोप किये जाने पर कि वे एक से जान पड़े निदर्शना होती है। जैसे :

कहाँ अल्प मेरी मति, कहाँ काव्य मत गूढ़।
सिन्धु-तरण लघु नाव सों, चाहत हौ मति मूढ़।

स्पष्टीकरण—निदर्शना में वाक्यार्थ असम्भव-सा प्रतीत होता है, परन्तु उपमा की परिकल्पना से उसकी पूर्ति हो जाती है। ऊपर दिये गये उदाहरण में 'मैं काव्य रचना करने वाला' वाक्य का सम्बन्ध 'लघु नाव सों सिन्धु तरण' से है, परन्तु यह सम्बन्ध असम्भव है। ग्रन्थ लिखना और बात है, तथा सागर तरना दूसरी बात। इस सम्बन्ध को बताने के लिये उपमा की परिकल्पना करने से अर्थ होगा—"मुझ छोटी बुद्धि वाले से काव्य-रचना का कार्य उतना ही कठिन है, जितना कि लघु नाव से समुद्र पार करना।" इस प्रकार वाक्यार्थ सिद्ध हो जाने से निदर्शना अलंकार हो जाता है।

उदाहरण—सामान्य रूप से कही हुई बात को भली प्रकार समझाने के लिये उसका एक अंश कहकर विशेष रूप से उदाहरण की रीति से समझाने पर उदाहरण अलंकार होता है। जैसे :

मन मलीन तन सुन्दर कैसे।
विष-रस भरा कनक-घट जैसे।

स्पष्टीकरण—उदाहरण अलंकार में 'इव', 'यथा' 'जैसे' आदि उदाहरण सूचक शब्द रहते हैं। ऊपर दिये गये उदाहरण में 'कैसे', 'जैसे' उपमावाचक शब्दों के द्वारा पृथक कथन का उदाहरण प्रस्तुत होने के कारण उदाहरण अलंकार है।

अप्रस्तुत प्रशंसा—अप्रस्तुत से प्रस्तुत का कथन होने पर अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है। जैसे :

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

स्पष्टीकरण—प्रस्तुत उसे कहते हैं, जिसका कि वर्णन करना अभीष्ट हो। अप्रस्तुत उसे कहते हैं, जो प्रसंग का विषय नहीं होता, परन्तु जो प्रस्तुत के समान होता है। इसमें अप्रस्तुत का कथन किया जाता है, परन्तु उससे प्रस्तुत का अर्थ निकलता है। ऊपर दिये गये उदाहरण में अप्रस्तुत भौंरे के बहाने प्रस्तुत राजा जयसिंह को उपदेश देने में अप्रस्तुत प्रशंसा या अन्योक्ति है।

उल्लेख—एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखे जाने अथवा वर्णन किये जाने पर उल्लेख अलंकार होता है।

उल्लेख दो प्रकार का होता है—

१. प्रथम उल्लेख २. द्वितीय उल्लेख

प्रथम उल्लेख—अनेक व्यक्तियों द्वारा एक वस्तु या एक व्यक्ति का भिन्न-भिन्न प्रकार से देखे जाने पर या वर्णन करने पर प्रथम उल्लेख होता है। जैसे :

जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ वीर-रस धरे सरीरा॥
रहे असुर छल छोनिप वेषा। तिन प्रभु प्रकट काल सम देखा॥
विप्रन प्रभु विराटमय दीसा। बहुभुज कर-पग लोचन सीसा॥
हरि भक्तन देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव सम सब सुखदाता॥

यहाँ अनेकों व्यक्ति राम को अनेक रूपों में देख रहे हैं।

द्वितीय उल्लेख—एक ही पदार्थ का विषय-भेद से एक ही व्यक्ति के द्वारा अनेक प्रकार से देखा जाने या वर्णन करने में द्वितीय उल्लेख होता है। जैसे :

तू रूप है किरण में,
सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में,
बिस्तार है गगन में।

यहाँ ईश्वर का अनेक रूपों में वर्णन है।

अतिशयोक्ति—लोक-मर्यादा के विरुद्ध किसी बात का अत्यन्त बढ़ा चढ़ा कर वर्णन होने में अतिशयोक्ति अलंकार होता है। जैसे :

पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास ।
नित प्रति पून्यौई रहत, आनन ओप उजास ।

स्पष्टीकरण—अतिशयोक्ति का अर्थ अतिशय उक्ति है अर्थात् किसी बात का बढ़ा चढ़ाकर वर्णन करने में अतिशयोक्ति होती है। ऊपर दिये गये उदाहरण में नायिका के मुख के सौन्दर्य का इतना बढ़ाकर वर्णन किया गया है, जो लोक-सीमा से परे की वस्तु है ऐसी कोई भी सुन्दरी नहीं मिलेगी, जिसके मुख के प्रकाश से नित्य-प्रति पूर्णमासी बनी रहे और पड़ोसियों को तिथि जानने को पत्रा देखना पड़े।

अतिशयोक्ति के भेद निम्नलिखित हैं—

रूपकातिशयोक्ति—उपमेय का लोप करके उपमान के कथन द्वारा ही उपमेय का बोध कराया जाता है। जैसे :

कनक लता पर चन्द्रमा धरे धनुष द्वै बाण ।

में शरीर, मुख, भृकुटी, कटाक्ष आदि उपमेयों का लोप करके लता, चन्द्रमा, धनुष, वाण, उपमानों से नायिका के अंगों का बोध कराया गया है।

भेदकातिशयोक्ति—उपमेय में उपमान से कोई भेद (अनोखापन) कथन होता है। अन्य आदि शब्दों के द्वारा यह भेद दिखाया जाता है। जैसे :

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान ।
वह चितबनि औरैं कछू, जेहि बस होत सुजान ॥

यहाँ 'औरैं' शब्द के द्वारा उपमेय को उपमान से भिन्न कहा गया है।

सम्बन्धातिशयोक्ति—दो वस्तुओं में सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध कथन किया जाता है। जैसे :

फहरहिं महलन उच्च निशाना ।
जिन्ह महँ उरझहिं विबुध विमाना ।

यहाँ झण्डे और विमानों में सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध कहा गया है।

असम्बन्धातिशयोक्ति—दो वस्तुओं में सम्बन्ध होने पर भी असम्भव वर्णन कथन होता है। जैसे :

उरोज-फल तेरे अली,
क्षण-क्षण अधिक हैं बढ़ रहे ।
युग-बाहु की लितकानि में,
एरी न ये हैं समा रहे ॥

उरोजों का दोनों भुजाओं के बीच में होने का सम्बन्ध स्पष्ट है। फिर भी उरोजों का अति विस्तार दिखाकर असम्बन्धन कथन किया गया है।

चपलातिशयोक्ति—कारण के पश्चात् तुरन्त ही कार्य का होना वर्णन किया जाता है। जैसे :

तब सिव तीसर नैन उघारा ।
देखत काम भयो जरि छारा ॥

यहाँ नैन उघारने के तुरन्त बाद ही काम के जलने का वर्णन होने से चपलातिशयोक्ति है।

अक्रमातिशयोक्ति—कारण और कार्य एक साथ घटित होते हैं। जैसे :

प्रिय परदेश प्रयाण संग, तजे विरहिनी प्राण।

यहाँ प्रिय का परदेश प्रयाण और वियोगिनी का प्राण-त्यागन साथ-साथ हुआ है।

अत्यन्तातिशयोक्ति—कारण से पहले कार्य का होना वर्णित होता है। जैसे :

हनूमान की पूँछ में लगन न पाई आग।
लँका सिगरि जरि गई गये निशाचर भाग॥

यहाँ जलने का कारण आग लगने से पहले ही लंका जलने का कार्य हो गया।

तद्गुण—एक वस्तु का अपना गुण छोड़कर समीपवर्ती वस्तु का गुण ग्रहण कर लेना वर्णित होने पर तद्गुण अलंकार होता है। जैसे :

अधर धरत हरि के परत, ओठ डीटि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष सी होति॥—बिहारी

स्पष्टीकरण—यहाँ हरे बाँस की वंशी ओठ, नेत्र और पीताम्बर के रंगों को ग्रहण कर इन्द्र धनुष का रंग ग्रहण कर रही है।

अतद्गुण—जब एक वस्तु दूसरी वस्तु के सम्पर्क में आकर भी उसके गुणों को ग्रहण न करे, तब अतद्गुण अलंकार होता है। जैसे :

चन्दन विष व्यापत नहीं,
लिपटे रहत भुजंग।

स्पष्टीकरण—यहाँ चन्दन के वृक्ष में सर्प के लिपटे रहने पर भी उसका विष व्याप्त नहीं होता, अतः अतद्गुण अलंकार है।

मीलित—सादृश्य से कारण दो वस्तुओं का एक होना वर्णन होने पर मीलित अलंकार होता है। जैसे।

पान पीक अधरान में, लाली लखी न जाइ।
कजरारी अँखियान में, कजरा हूँ न लखाइ॥—बिहारी

स्पष्टीकरण—यहाँ ओठों की लालिमा में पान की लालिमा छिप गई है और कजरारी आँखों में काजल भी ऐसा मिल गया है कि दिखाई नहीं पड़ता।

उन्मीलित—सादृश्य होने पर भी जहाँ कारण विशेष से भेद प्रतीत हो जाय, वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है : जैसे :

मिलि चन्दन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाइ।
ज्यों-ज्यों मद लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघरत जाय॥—बिहारी

स्पष्टीकरण—चन्दन की बेंदी गौर वर्ण के कारण मिल गई है, परन्तु मद-लाली चढ़ने के कारण भेद प्रकट हो जाता है।

व्याजनिन्दा—स्तुति के बहाने निन्दा होने पर व्याज-निन्दा होती है। जैसे :

सेमर तू बड़ भाग है, कहा सराहौ जाय।
पँछी करि फल आस तोहि, नित प्रति सेवहिं आय ॥

स्पष्टीकरण—व्याजनिन्दा व्याजस्तुति के ठीक विपरीत होता है। यहाँ सेमर की स्तुति के बहाने उसकी निन्दा की गई है।

मुद्रा—प्रस्तुत अर्थ के शब्दों या पदों द्वारा सूचनीय अर्थ की सूचना दिये जाने पर मुद्रा अलंकार होता है। जैसे :

कविकुल विद्याधर सकल कलाधर,
राज-राज वर वेष बने।
गणपति सुखदायक, पशुपति लायक,
सूर सहायक कौन गने।
सेनापति बुधजन, मंगल, गुरुजन,
धर्मराज मन बुद्धि घनी।
बहु शुभ मनसाकर, करुणामय,
अरु सुर तरंगिनी शोभ सनी ॥ —केशव

स्पष्टीकरण—जिस प्रकार मुहर 'मुद्रा' से किसी व्यक्ति का सम्बन्ध सूचित होता है, उसी प्रकार मुद्रा अलंकार से प्रासंगिक वर्णन में सूचनीय अर्थ की सूचना मिलती है। उक्त उदाहरण में प्रस्तुत अयोध्यापुरी के वर्णन में 'कविकुल', 'विद्याधर', 'गणपति', 'पशुपति', 'बुध' आदि शब्दों के साथ इन्द्रपुरी की भी सूचना मिल जाती है।

विभावना—कारण के बिना कार्य का होना वर्णन होने पर विभावना अलंकार होता है। जैसे :

बिनु पग चलै सुने बिनु काना
कर बिन कर्म करै विधि नाना। —तुलसीदास

स्पष्टीकरण—विभावना के कई भेद होते हैं। प्रथम विभावना में प्रसिद्ध कारण के बिना कार्य का होना वर्णन होता है। जैसे :

सखि इन नैनन ते घन हारे।
बिन ही रितु बरसत निसि-वासर सदा मलिन दोउ तारे ॥

यहाँ प्रसिद्ध कारण बिना 'वर्षा ऋतु' के ही नेत्र बरसने का कार्य हो रहा है। द्वितीय विभावना में अपूर्ण कारण से कार्य होने का वर्णन होता है। जैसे :

काम कुसुम धनु सायक लीन्हें,
सकल भुवन अपने बस कीन्हें ॥

यहाँ 'कुसुम धनु' अपूर्ण कारण है, जिससे समस्त भुवनों को वश में करने का कार्य हो रहा है। तृतीय विभावना में प्रतिबन्धक कारण होने पर भी कार्य का होना दिखाया जाता है। जैसे :

लाखन ओट करौ किन घूंघट,
चंचल नैन छिपैं न छिपाये।

यहाँ घूंघट प्रति-बन्धक कारण है। चतुर्थ विभावना में भिन्न कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे :

देखो नील कमल से कैसे,
तीखे तीर बरसते हैं।

'नील कमल' भिन्न कारण से 'तीखे तीर' बरसने का कार्य हो रहा है। पंचम विभावना में विरुद्ध कारण से कार्य का होना दिखाया जाता है। जैसे :

कारे-कारे घन अँगारे बरसाते हैं।

यहाँ 'कारे-कारे घन' विरोधी कारण हैं। छठी विभावना में कार्य से कारण का उत्पन्न होना वर्णन किया जाता है। जैसे :

कमल जुगल से निकलता,
देखो निर्मल नीर।

यहाँ कमल रूपी कार्य से जल रूपी कारण की उत्पत्ति हो रही है।

विरोधाभास—वास्तव में विरोध न होने पर भी विरोध का आभास वर्णन होने पर विरोधाभास अलंकार होता है। जैसे :

१. शीतल ज्वाला जलती है,
ईंधन होता दृग जल का। —प्रसाद

२. या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यों-ज्यों बूड़े श्याम रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होइ॥ —बिहारी

३. लोचन लोल विसाल विलोकनि,
को न विलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं,
मीठी लगै अँखियान लुनाई। —राकेश

स्पष्टीकरण—उक्त उदाहरण में से प्रथम में "शीतल ज्वाला जलती है" ज्वाला शीतल नहीं होती, परन्तु उसे शीतल कहा गया है। दूसरे उदाहरण में श्याम रंग में डूबने से उज्ज्वल होना कहा गया है और तीसरे उदाहरण में लुनाई मीठी लग रही है। इन सब में वास्तव में विरोध न होकर विरोध का आभास मात्र है।

पर्यायोक्ति—पर्यायोक्ति वहाँ होती है जहाँ चेष्टा, कार्य अथवा कथन से अभिप्राय: स्पष्ट हो जाय परन्तु जिसके प्रति अभिप्राय: प्रकट किया गया हो उसको छोड़कर और कोई न समझ सके। जैसे :

न्हाय पट झट कियो, बेंदी मिस परनाम।
दृग नचाय घर को चली, विदा किये घनस्याम॥

गुण

परिभाषा—"काव्य में गुण उन्हें कहते हैं, जो रस के धर्म एवं उत्कर्ष के कारण हैं और जिनकी रसे के साथ स्थिर स्थिति रहती है।"

स्पष्टीकरण—कोष के अनुसार गुण का अर्थ है—उच्चतम, विशेषता, आकर्षक अथवा शोभाकारी धर्म-दोषों का अभाव। जिस प्रकार वीरता आदि चेतन आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार माधुर्य, ओज आदि गुण काव्य की आत्म रस के धर्म हैं, इसीलिए

इनको रस के धर्म कहा गया है। गुण रस के साथ नित्य रहने वाले हैं। जहाँ रस की स्थिति रहती है, वहाँ गुण रस का उपकार करते हैं। गुण नीरस काव्य में नहीं रहते।

गुण-अलंकार

सर्वप्रथम आचार्य भरत ने गुणों का उल्लेख किया। उन्होंने गुणों की परिभाषा देते हुए लिखा है।

"एत एव विपर्यस्तता गुणा काव्येषु कीर्तिताः।"

वह परिभाषा अभावात्मक है। दण्डी ने गुण को काव्य की समृद्धि का कारण माना वे गुणों को भरत की तरह अभावात्मक न मानकर भावात्मक मानते हैं—

"काव्ये दोषा गुणाश्चैव विज्ञा तथा विचक्षणैः;
दोषा विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तेय यथा।"

परन्तु दंडी की अलंकार की परिभाषा इतनी व्यापक थी कि अलंकार में ही गुण का अन्तर्भाव हो गया—

"काव्य शोभाकरान् धर्मालंकरान् प्रचक्षते।"

आचार्य वामन ने गुणों को स्वतन्त्र सत्ता प्रदान की। उन्होंने गुण को काव्य की शोभा के कारण मूल तत्व के रूप में स्वीकार किया :

"काव्य शोभायः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।"

आनन्दवर्द्धन ने गुणों को रस के आश्रित माना परवर्ती ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों ने भी गुण की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी। आचार्य मम्मट ने गुणों का स्वरूप विश्लेषण करते हुए कहा है—

"वे रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इधात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्तेस्युरचल स्थितयो गुणाः॥

जिस प्रकार शरीर में प्रधान रूप से वर्तमान आत्मा के शौर्य आदि गुण आत्मा के साथ अपृथक भाव से रहते हैं और उसी की श्रीवृद्धि करते हैं, उसी प्रकार काव्य में प्रधान रूप से विद्यमान रस के साथ अपृथक अथवा नियमित रूप से अवस्थित जो धर्म उसके उत्कर्ष में सहायक होते हैं, उनको गुण कहते हैं।

विश्वनाथ ने भी आचार्य मम्मट की मान्यता को स्वीकार किया। पंडित जगन्नाथ ने रस को काव्य की आत्मा अवश्य माना, परन्तु उसे गुण शून्य बतलाया उन्होंने गुण को शब्दार्थ के धर्म के रूप में स्वीकार किया।

अतः 'गुण' और अलंकार दोनों की परिभाषा करते हुए उनको काव्य का शोभाकारक धर्म कहा गया। उद्‌भट ने दोनों के सूक्ष्म भेद का सुन्दर निरूपण किया है, आनन्दवर्द्धन ने अलंकार को रस के सौन्दर्य को साधन और गुण को अंगी माना है। वामन के अनुसार काव्य का शोभाकारक धर्म गुण है और गुणों के उत्कर्ष में वृद्धि करने वाले तत्वों का नाम अलंकार है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अलंकार पूर्ण रूप से बाह्य धर्म है और आभ्यान्तर अलंकार किसी बात को चमत्कार पूर्ण बना देते हैं, तब वह उत्पन्न चमत्कार गुण है।

गुणों की संख्या

आचार्य भरतमुनि ने निम्नलिखित दस गुण बतलाये हैं :

१. माधुर्य, २. ओज, ३. प्रसाद, ४. श्लेष, ५. समता, ६. सुकुमारता, ७. अर्थ व्यक्ति, ८. उदारता, ९. कान्ति एवं १०. समाधि । दण्डी और वामन ने दस दोष गुण ही माने परन्तु वामन ने शब्द और अर्थ के आधार पर प्रत्येक के दो भेद करके उनकी संख्या २० तक पहुँचा दी । भोज ने "सरस्वती कंठाभरण" में गुणों की संख्या चौबीस बतलाई । 'अग्निपुराण' में १९ गुण माने गये हैं । भामह और मम्मट ने माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुण स्वीकार किये । प्राय: सभी उत्तरकालीन आचार्यों ने इन तीन गुणों को ही स्वीकार किया । यथार्थ में इन तीन गुणों के अन्तर्गत अन्य गुण भी आ जाते हैं ।

गुण के भेद

१. माधुर्य । २. प्रसाद । ३. ओज ।

माधुर्य गुण

परिभाषा—"कोमल एवं सानुनासिक वर्णों से युक्त रचना जो अपनी सरसता और मधुरता से द्रवित कर देती है, उसमें माधुर्य गुण होता है ।" जैसे—

१. "रस सिंगार मंजन किये, कंजन भंजन देन ।
अंजन, रंजन, हूँ बिना, खंजन, गंजन, नैन ।।" —बिहारी

२. "कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि ।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि ।।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं ।
मनसा विश्व विजय कहँ कीन्हीं ।।" —तुलसीदास

३. "जिय सूधि चितौनि कि साध रही,
तुम बातन में अनखाइ रहे ।
हँसि कै हरिचन्द न बोले कतहूँ,
करि कैसो कठोर सुभाइ रहे ।
नहि नैकु दया उर आनत हौ,
मुख देखन कौ तरसाइ रहे ।
सुख कौन सों प्यारे दियो पहिले,
जेहि बदले हो रिसाइ रहे ।। —भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

४. "ललचाये लालचि नैना,
जागें रजनी गिन तारे ।
बन चन्द्र-किरण आ जाना,
उर आँगन बीच हमारे ।। —राकेश

स्पष्टीकरण—शृंगार, करुण, शांत जैसे कोमल रसों में माधुर्य गुण रहता है । सरस और मधुर वर्णों से युक्त शब्दावली हृदय को द्रवीभूत कर देती है । माधुर्य गुण

युक्त काव्य में 'ट' वर्ग आदि के कठोर वर्ण, लम्बे समास-युक्त शब्द और 'र' के संयोग नहीं होता है।

ओज गुण

परिभाषा—"जिस काव्य के सुनने से हृदय की भावनाएँ उद्दीप्त हों और मन में ओज (तेज, उत्साह) उत्पन्न हो, वहाँ ओज गुण होता है। जैसे—

१. बज्र को अखर्व गर्व गंज्यो जेहि पर्वतारि,
जीत्यो है सुपर्व सर्व भागे लै लै अंगना।

२. भये क्रुद्ध युद्ध विरुद्ध रघुपति, त्रोण सायक कसमसे।
कोदण्ड धुनि सुन चण्ड अति मनुजाद भय मारुत ग्रसे।
मन्दोदरी उर कंप कंपिन कमठ भू भूधर धँसे।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि देखि कौतुक सुर हँसे।

स्पष्टीकरण—ओज गुण के द्वारा वीर, रौद्र, भयानक वीभत्स रस में अधिक उद्दीप्त होती है। ओज गुण मे द्वित्व, संयुक्त, अर्द्ध 'र' कार वर्णों के साथ 'ट' वर्ग के कठोर वर्णों का प्रयोग होता है। ओज गुण में लम्बे-लम्बे समासों और कठोर वर्णों की अधिकता रहती है।

प्रसाद गुण

परिभाषा—"सरल, सरस तथा सीधे-सादे शब्दों की रचना में प्रसाद गुण होता है।" जैसे—

"या अनुराग के फाग लखौ,
जहँ रागत राग किसोर किसोरी॥
त्यों पद्माकर घाली धनी अति,
लालहिं लाल अबीर की झोरी॥
जैसि कि तैसि रही पिचकी कर,
काहू न केसरि रंग में बोरी॥
गोरिन के रंग बूड़ि गो सांवरो,
साँवरे के रंग बूड़ि गई गोरी॥ —पद्माकर

●

१३२. समाजवाद और भारत

१—भूमिका, २—समाजवाद किसे कहते हैं? ३—समाजवाद और उसकी विशेषताएँ ३—भारत में समाजवाद की महत्ता और उपयोगिता, ४—समाजवाद से हानि और लाभ, ५—उसंहार।

समाजवाद किसे कहते हैं—'समाजवाद' शब्द 'समाज'+'वाद' से मिलकर बना है। यह अंग्रेजी शब्द 'सोसिलिज्म' का हिन्दी पर्याय है। समाजवाद एक राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था है, जिसमें उत्पादन और विनिमय के सिद्धान्तों पर समाज का नियन्त्रण होता है। यह एक राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था है

जिसके द्वारा गरीब और अमीर के भेद को मिटाकर गरीबों को सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

समाजवाद की विशेषताएँ—समाजवाद का सूत्रपात अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। बीसवीं और विशेषकर १९१७ की रूसी क्रान्ति के बाद उसका महत्व संसार में प्रतिष्ठित हो गया। क्रान्ति के द्वारा यह सिद्ध हो गया कि संसार में ऐसी व्यवस्था की भी स्थापना की जा सकती है, जिसके द्वारा गरीब और अमीर के भेद को मिटाकर सभी लोगों को व्यक्तित्व के विकास और जीवन-निर्वाह की समान सुविधाओं को दिलाया जा सकता है।

रूसी क्रान्ति के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय जगत को विविध राजनैतिक विचार-धाराओं में समाजवाद को एक सम्मानजनक और प्रतिष्ठाजनक स्थान उपलब्ध हो गया। इस विचारधारा को अपना लक्ष्य मानकर अनेक विचारकों ने एक ऐसे राज्य और समाज की परिकल्पना की जिसमें सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक विविधताओं को मिटाकर समानता और स्वतन्त्रता के आधार पर एक वर्गविहीन समाज की स्थापना सम्भव हो सकती थी।

कुछ लोग समाजवाद और साम्यवाद को पर्याय मानते हैं किन्तु मूलरूप से इसमें अन्तर है। साम्यवाद के आदि जनक कार्लमार्क्स ने समाजवाद को साम्यवाद की पहली सीढ़ी माना है। उनका विचार है कि जब साम्यवाद की स्थापना स्वतः हो जाती है तो राज्य जैसे तत्व के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। समाज समृद्ध सम्पन्न बन जाता है। फलस्वरूप लोग स्वयं अपने ऊपर शासन करना सीख जाते हैं। इसीलिए उनके ऊपर किसी राजनैतिक नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं होती। उसके पहले की व्यवस्था समाजवादी व्यवस्था कहलाती है जिसमें देश के उत्पादन और वितरण के साधनों पर समाज का नियन्त्रण हो जाता है और राज्य सर्वहारा वर्ग के हित में सारे साधनों का उपयोग करता है। इस प्रकार साम्यवाद की पहली सीढ़ी समाजवाद है।

सामाजिक समाजवाद की परिकल्पना की जाती है, उसमें ऐसा समझा जाता है कि उसकी स्थापना जनतांत्रिक पद्धति से भी हो सकती है। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण योरोप के स्केन्डिनेवियन देश हैं। वैसे इसके पहले जर्मनी में भी इस दिशा में प्रयास किया गया किन्तु वह बहुत हद तक सफल नहीं हो सका। स्केन्डिनेवियन देश के अतिरिक्त नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क में जनतांत्रिक ढंग ने समाजवाद की स्थापना की गई। वहाँ के लोगों का जीवनयापन स्तर संसार के सर्वाधिकार सम्पन्न देशों के नागरिकों से भी ऊँचा है।

भारत में जिस समाजवाद की परिकल्पना की गई है वह इसी भूमि की देन है। उसके आदि जनक आचार्य नरेन्द्रदेव कहे जाते हैं। वैसे उसको वर्तमान स्वरूप देने में भारत के प्रधान मन्त्री स्व० पण्डित जवाहरलाल नेहरू, स्वर्गीय डा० सम्पूर्णानन्द, श्री जयप्रकाश नारायण, डा० राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता, आदि का कम श्रेय नहीं हैं। भारत में समाजवाद की स्थापना के लिए १९३१ में ही कांग्रेस के अन्दर समाजवादी दल का निर्माण किया गया। इस दल का निर्माण पंडित नेहरू की प्रेरणा से हुआ था और कांग्रेस को समाजवाद के मार्ग पर ले जाने की दिशा में

आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाशनारायण, राममनोहर लोहिया, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसके पश्चात् एक समय ऐसा आया कि सभी समाजवादियों को कांग्रेस से अलग होना पड़ा। इसका अर्थ यह नहीं था कि काँग्रेस से समाजवादी अलग हो गये। बहुत से समाजवादी काँग्रेस में रह गये किन्तु अधिकाँश उससे अलग हो गये। इसका प्रभाव काँग्रेस संगठन पर अच्छा नहीं पड़ा। समाजवादियों द्वारा खाली किए गए स्थानों को दूसरे लोगों द्वारा पूरा करने का प्रयास किया गया और उन लोगों ने संगठन पर अपना अधिकार जमा लिया। इसी का परिणाम था कि काँग्रेस द्वारा अर्नाकुलम अधिवेशन में, नासिक अधिवेशन में स्पष्ट रूप से समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित करने के बाद भी उस दिशा में सक्रिय प्रयास नहीं किया गया।

भारत के संविधान में जिस भेदभावहीन समाज को स्थापना की परिकल्पना की गई है, वह समाजवादी समाज है, यद्यपि संविधान में शुद्ध प्रयोग नहीं किया गया। आज देश के अधिकांश राजनैतिक दल इस बात को मानकर चलते हैं कि देश में समाजवाद की स्थापना द्वारा ही गरीब और अमीर के भेद को दूर किया जा सकता है।

समाजवाद से लाभ—भारत के लिए समाजवाद के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता ही नहीं है। हम लोग ऐसा मानकर चलते हैं कि भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, और भारतीय मान्यताओं और समाजवाद में कुछ विरोध है। बात ऐसी नहीं है। भारत की धार्मिक मान्यताओं में भी ऐसी बातों का उल्लेख है, जिसके आधार पर सम्पत्ति का और राष्ट्रीय साधनों का बराबर बँटवारा सम्भव है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत के आदि ऋषियों और विचारकों ने समाजवाद में जिस बात की परिकल्पना की थी, भले ही अपने विचारों और अपने सिद्धान्तों को समाजवाद का नाम नहीं दे सके हों, लेकिन जिस समता और समानता और विश्वबन्धुत्व और दानशीलता की बात भारतीय संस्कृति में कही गई है, उसका मुख्य उद्देश्य है ऐसे समाज की संरचना करना, जिसमें किसी प्रकार का भेदभाव विद्यमान न हो।

भारतवर्ष में अधिकांश जनता गरीब है। गरीबी तभी मिटाई जा सकती है जब राष्ट्रीय साधनों पर समाज का नियन्त्रण हो। यदि उत्पादन और विनिमय के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का नियन्त्रण नहीं होता और कुछ व्यक्तियों को उसका स्वामित्व प्रदान कर दिया जाता है तो सहज परिणाम यह होता है कि कुछ लोग लखपती से करोड़पती हो जाते हैं और शेष लोग उनके आश्रित बन जाते हैं। व्यक्तिगत स्वामित्व सामान्यतः लाभ की प्रेरणा से ही कार्य करता है। वह समाज के हित की बात नहीं सोचता। यदि ऐसा हुआ होता तो अमेरिका तथा अन्य पूँजीवादी व्यवस्था वाले देश में धन का समान वितरण हो गया होता, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। इस देश के लिए तो समाजवाद अनेक रोगों का उपचार है। यदि पूँजी कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है तो सामाजिक मान्यताओं और धारणाओं के अनुरूप वह लोग राज्य के तन्त्र पर भी अपना अधिकार जमा लेते हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि उत्पादन और विनिमय के साधनों पर व्यक्तियों के स्वामित्व को हटाकर समाज का स्वामित्व स्थापित किया जाय। आज हम देखते हैं कि जीवन की आवश्यकताएँ

पूरा नहीं होतीं। सामग्री के उपलब्ध होने पर भी उनका विधिवत् बँटवारा नहीं हो पाता। यह इसलिए होता है कि उत्पादन और वितरण के साधनों पर कुछ व्यक्तियों का स्वामित्व है। यदि समाज का स्वामित्व उन पर हो जाय तो इस प्रकार की कोई कठिनाई जनता के समक्ष न आये।

सामान्यत: समाजवाद के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ ही स्वार्थी हैं। वे व्यक्तिगत हित की बात अधिक सोचते हैं। ऐसी स्थिति में समाजवादी व्यवस्था में वह सामान्य जन की सोचेंगे। उनकी व्यक्तिगत प्रोत्साहन और प्रेरणा की भावना (Incentive) समाप्त हो जायगी और वे कुशलतापूर्वक कार्य न कर सकेंगे। हम मनुष्य को जिस रूप में बनाते हैं वह उसी प्रकार बनता है। यदि हम किसी व्यक्ति को स्वार्थी बनाते हैं तो वह बनता है। युगों से पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत रहने के कारण मनुष्य में यह प्रवृत्ति बन गई है कि वह अपने हित की बात अधिक सोचता है, समाज की कम। यदि समाजवादी व्यवस्था को मान्यताओं पर उसे शिक्षा दी जाय और उसके व्यक्तित्व का निर्माण उसकी मान्यताओं के अनुरूप किया जाय तो इसमें दो मत नहीं हो सकते कि वह उनको अपने जीवन का अंग बना लेंगे और इन्हीं के अनुरूप कार्य करने का प्रयास करेंगे। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उन मान्यताओं के आधार पर सारे ढाँचे का निर्माण किया जाय।

समाजवाद की स्थापना से कुछ हानि का उल्लेख कुछ लोग करते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि यदि समाजवाद आ जायगा तो व्यक्ति की अपनी महत्ता समाप्त हो जायगी। इसके साथ ही साथ यह भी कहा जाता है कि व्यक्ति अपनी पूँजी और अपने परिवार को खोकर बहुत अधिक समाज के हित में सभी कुछ अर्पित करने को तैयार नहीं होता। यह बात, सम्भव है, सही हो किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी बात कही जाती है कि इस प्रकार की विचारधारा भी हमारी समाजवादी मनोवृत्ति की द्योतक है।

समाजवाद की स्थापना से होने वाली एक हानि की ओर संकेत करते हुए कुछ लोग कहते हैं कि भारत एक धर्मपरायण देश है और समाजवाद में धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है। उनकी आशंका यह भी है कि समाजवाद की स्थापना से धर्म समाप्त हो जायगा। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। धर्म और समाजवाद का कोई बैर नहीं है। धर्म एक व्यक्तिगत निष्ठा और आस्था की बात है। समाजवाद एक व्यापक सामाजिक हित की बात है। समाजवाद की स्थापना के बाद भी व्यक्ति को अपनी मान्यताओं, अपनी आस्थाओं और अपने विश्वासों को सुरक्षित रखने का अधिकार होगा। विशेषकर भारत में जिस समाजवाद की स्थापना की बात कही जाती है, उसमें तो धर्म और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को पूरा-पूरा स्थान है। भारत में जनतांत्रिक ढंग से समाजवाद की स्थापना का प्रयास किया जा रहा। इतने बड़े देश में इस प्रकार का प्रयास निराला प्रयास है किन्तु अनेक दृष्टियों से बहुत ही महत्वपूर्ण भी है। जब लोगों की सहमति से किसी सिद्धान्त की स्थापना की जाती है तो वह सिद्धान्त स्थायी होकर प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अंग बन जाता है। जनतन्त्र द्वारा स्थापित समाजवाद, सम्भव है, विलम्ब से स्थापित हो किन्तु जब वह एक बार

स्थापित हो जायगा तो वह स्थायी होकर आयेगा और प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का एक अंग बन जायगा।

उपसंहार—समाजवाद आज का युग धर्म है। यदि वह जनतांत्रिक ढंग से स्थापित नहीं होता तो अन्ततोगत्वा किसी न किसी रूप से स्थापित अवश्य होगा। जनतांत्रिक प्रणाली के अभाव में, सम्भव है, उसकी स्थापना हिंसक ढंग से हो। वह इस देश के लिए और सम्पूर्ण संसार के लिए बड़ा ही दुखद और कष्टप्रद होगा। गरीब और अमीर का भेद मिटाना ही होगा। इस भेद को मिटाने का उपाय समाजवाद ही है। सम्भव है उसे कुछ लोग समाजवाद का नाम न देना चाहते हों। झगड़ा नाम का नहीं है, झगड़ा है जीवन प्रणाली और सामाजिक प्रणाली की स्थापना का। वे लोग जो देश और समाज में गरीब और अमीर का भेद मिटाकर एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें सभी लोगों को समान सुविधाएँ उपलब्ध हों और सभी लोगों से यथाशक्ति कार्य लिया जायगा तो उन्हें किसी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की दिशा में सक्रिय प्रयास करना होगा।

●

१३३. लाटरी

१—भूमिका, लाटरी किसे कहते हैं ?, २—लाटरी और उसकी विशेषतायें, ३—लाटरी से लाभ और हानियाँ, तथा ४—उपसंहार।

भूमिका—लाटरी किसे कहते हैं ? लाटरी शब्द मूलत: अँग्रेजी का है। इसकी भी व्युत्पत्ति अँग्रेजी के (लाट) शब्द से हुई है। इसका अर्थ भाग्य होता है। सामान्यत: लाटरी का प्रयोग पर्ची निकाल कर अथवा किसी भाग्य के आधार पर किसी बात का फैसला करने से तात्पर्य होता है।

प्राचीन काल में परम्परा यह थी कि जब मनुष्य शक्ति द्वारा अथवा निश्चित उपाय द्वारा किसी बात का फैसला नहीं कर पाता तो उसका फैसला भाग्य के आधार पर कर सकता था। इस प्रकार का फैसला पत्र लिखकर अथवा किसी और चिह्न के आधार पर किया जाता था। इसी प्रवृत्ति को लाटरी डालना अथवा लाटरी कहा जाता था।

आधुनिक युग में लाटरी शब्द का एक और भी अर्थ हो गया है। इसमें किसी निर्धारित वस्तु अथवा राशि को प्राप्त करने के लिए दाँव लगाते हैं। वे उस वस्तु की प्राप्ति के लिए टिकट खरीदते हैं अथवा एक निर्धारित राशि जमा करते हैं। उनमें से जिस व्यक्ति के नाम वह वस्तु निकल आती है वह उसे प्राप्त हो जाती है। लाटरी का वर्तमान रूप किसी निर्धारित राशि की प्राप्ति के लिए ही उपयोग में लाया गया है। अब से २० वर्ष पहले इस प्रकार का कार्य कुछ स्थानों पर अथवा कुछ योजनाओं के लिए होता था।

लाटरी का वह रूप जिसकी चर्चा प्रत्येक व्यक्ति की जबान पर है, पिछले कुछ ही वर्षों के अन्दर की देन है। इस बार लाटरी का व्यापार स्वयं सरकार ने धन संग्रह के लिए और कुछ योजनाओं को पूरा करने के लिए चलाया है। इस योजना के अन्तर्गत भारत सरकार की स्वीकृति से कुछ राज्यों ने अस्पतालों तथा अन्य समाज-कल्याण और लोक-कल्याण सम्बन्धी कार्यों के लिए धन एकत्र करने का निश्चय किया है।

सइ धन को एकत्र करने के लिए कुछ टिकट छापे गये और उनका एक मूल्य निर्धारितकिया गया। यह भी घोषणा की गई कि एक निर्धारित धनराशि का पुरस्कार और कुछ अन्य पुरष्कार कुछ भाग्यशाली टिकट खरीदने वालों को मिल सकें। टिकटों के नम्बरों को निकालने की एक यान्त्रिक योजना तैयार की गई है। इसका निरीक्षण कुछ सम्मानित व्यक्ति और टिकट खरीदने वाले दर्शको में से कुछ चुने हुए लोग करते हैं। यह व्यवस्था इसलिए की गई है ताकि किसी प्रकार के पक्षपात और बईमानी की सम्भावना न रह जाय।

विविध राज्यों ने लाखों की धनराशि पुरस्कार के रूप में निर्धारित की है। प्रथम पुरस्कार कई लाख रुपये को संख्या में उपलब्ध होता है। द्वितीय, तृतीय और अन्य पुरस्कार लाखों और हजारों की संख्या में उपलब्ध होते हैं। इसके बदले में टिकटों की बिक्री करोड़ों रुपयों की होती है। इस प्रकार जिस व्यक्ति को धन उपलब्ध होता है उसे कुछ लाख रुपये प्राप्त होते हैं किन्तु राज्य को, समाज के हित के लिए करोड़ों रुपये की धनराशि उपलब्ध हो जाती है।

क्या लाटरी नैतिक है ?—लाटरी के विषय में सामान्यतः यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या इस प्रकार सरकारों द्वारा धन संचित करना नैतिक है ? इसके साथ-साथ इस सन्दर्भ में यह भी प्रश्न पूछा जाता है कि इस प्रकार धन संचित करना कि योजनाओं के फलस्वरूप लोगों के अन्दर जुआ खेलने की प्रवृत्ति में वृद्धि न हो सके। साथ ही साथ यह भी कहा जाता है कि वह सरकार को जुआ खेलने को नियमतः दण्डनीय मानती है, क्या इस प्रकार लोगों को जुआ खेलने के लिए प्रोत्साहित नहीं करती न स्वयं उसके लिए सुविधाएँ नहीं सँजोती। जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है, बहुत हद तक सही है। किन्तु साथ में यह भी सही है कि मनुष्य में जुआ खेलने और कम से कम परिश्रम करके अधिक से अधिक धन प्राप्त करने की लालसा निरन्तर विद्यमान रहती है। लाटरी की योजना इन्हीं दो भावनाओं का लाभ उठाने के लिए तैयार की गई है। यह निश्चित है कि यह प्रश्न समाज-कल्याण और लोक-कल्याण के उद्देश्य के आगे फीका पड़ जाता है, यद्यपि गाँधीवादी विचारधारा के अनुसार इस प्रकार प्राप्त किया गया धन कदापि शुभ कार्य में नहीं लगाया जा सकता। गाँधीजी ने नशेबन्दी का विरोध इसलिए किया था क्योंकि उसमे होने वाली आय कभी-कभी शिक्षा पर भी व्यय की जाती थी, और उनका यह मत था कि इस प्रकार जो शिक्षा दी जायगी वह किसी भी दशा में जनता और देश के लिए कल्याणकारी और अच्छी नहीं होगी।

लाटरी से लाभ—लाटरी से लाभ और हानि दोनों ही हैं। सामान्यतः इसके लाभ निम्नलिखित है :—

(१) लोगों को जुआ खेलने का एक विकल्प मिल जाता है और इस प्रकार जिस धन का उपयोग वह सम्भवः जुआ खेलने के लिए लगाता, उसका वह लाटरी में लगाने का अवसर पा जाता है।

(२) राज्य सरकारों को कुछ हितकर और जनकल्याणकारी कार्यों के लिए धन संग्रह का अवसर मिल जाता है।

(३) सरकारें लोगों को कम से कम परिश्रम करके अधिक से अधिक धन प्राप्त करने की प्रवृत्ति का उचित ढंग से लाभ उठाकर उनकी प्रवृत्ति को किसी पुण्य कार्य के लिए नियोजित कर सकती है।

(४) लाटरी के धन्धे ने अनेक लोगों को कुछ काम दिला दिया है। विभाग में कुछ लोगों को नौकरी मिली ही है, साथ-साथ बेचने वालों और एजेण्टों को भी इससे धन्धा मिल गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लाटरी ने इस देश में बेरोजगारी की समस्या का भी समाधान कुछ हद तक किया है।

(५) इसके काले धन के उजले बनने की सम्भावना हो गई है। अनेक ऐसे लोग जो लाखों की धनराशि काले धन के रूप में अपने पास संजोये हुए है, सामान्यत: टिकट जीतने वाले से टिकट खरीद लेते हैं और इस धनराशि को स्पष्ट रूप से व्यापार में लगा देते हैं। इससे वह धन जो हमारी अर्थ-व्यवस्था को असंतुलित बनाये हुये हुए है, कुछ उपयोग में आ जाता है।

लाटरी से हानियाँ—यद्यपि लाटरी से कुछ लाभ भी हैं किन्तु इसके साथ-ही साथ यह भी सम्भव है कि इससे अनेक हानियाँ हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है :—

(१) इससे लोगों में जुआ खेलने की प्रवृत्ति नहीं बढ़ती है।

(२) इसके साथ-साथ लोगों में कम से कम परिश्रम करके अधिक से अधिक धन प्राप्त करने की प्रवृत्ति को भी प्रश्रय मिलता है।

(३) अनेक क्षेत्रों में इसके फलस्वरूप काले धन्धे का बाजार गर्म हो जाता है। एक ओर तो लोग लाटरी के टिकट को बढ़े दाम पर बेचते हैं, दूसरी ओर पुरष्कृत टिकटों का मूल्य खरीदने वालों के लिए बहुत अधिक बढ़ जाता है। सामान्यत: ५ लाख की धनराशि के पुरस्कृत टिकट काले धन से सम्पन्न लोगों के लिए इसके ऊपर ज्यादा धनराशि पर बिकता है। इससे जहाँ एक ओर एक स्थान से काला धन बाहर आता है वहाँ दूसरी ओर जमा भी हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि भी होती है और आर्थिक संतुलन और मुद्रा स्फीति जैसे तत्वों की वृद्धि हो जाती है।

उपसंहार—लाभ और हानियाँ दोनों होते हुए भी इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि लाटरी एक प्रचलित धन्धा है। इसका उपयोग राज्य सरकारें विविध समाज-कल्याण और जन-कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिए कर रही हैं। इससे सुलभतापूर्वक धनराशि संचित हो जाती है और उसका उपयोग जनता के कल्याण के लिए किया जा सकता है।

●

१३४. काला धन

१—काला धन, २—काले का दुष्परिणाम, ३—काले धन का जाल, ४—नैतिकता का पतन, ५—सरकार की जिम्मेदारी, ६—अर्थ-व्यवस्था में नियन्त्रण, ७—काला धन का चक्र।

आज भारत के सामाजिक व आर्थिक जीवन में काला धन की समस्या बहुत भीषण रूप धारण कर चुकी है। काले धन का आज कितना बोलबाला है, यह जीवन के हर क्षेत्र में पग-पग पर अनुभव किया जा सकता है। देश की राष्ट्रीय पूंजी और विभिन्न व्यापारों में लगे धन के अलावा इतने बड़े परिमाण में काला धन सर्वत्र बिखर ा

है जिसका ठीक-ठीक अन्दाज भी लगाया जाना अत्यधिक कठिन है। वास्तव में व्यापार की गाड़ी तो आज काले धन के सहारे चल रही है। हर व्यापार में दिखावे की असली रकम कुछ और व्यवहार में काले धन की रकम कुछ और ही है।

काला धन कितना प्रभावशाली हो गया है, हमारे आज के जीवन में, और हमारे आर्थिक व्यवहार में उसका कितना बड़ा हाथ है, इससे तरह-तरह के अनुमान लगाये जाते हैं। एक अर्थशास्त्री के अनुसार तो हमारा आधा आर्थिक व्यापार इस काले धन के बल पर ही चल रहा है। यह बात तो सच है कि हमारे आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर इस काले धन ने बड़ा ही अनिष्टकारी प्रभाव डाल रखा है और सबसे भयानक दुष्परिणाम यह है कि इसके कारण सरकार की तमाम नीतियाँ निष्फल होती जा रही हैं।

शुद्ध व्यापार का सीधा नियम है कि अधिक उत्पादन हो तो अधिक आय भी होगी। लेकिन काला-धन कमाने के लिए अधिक उत्पादन की आवश्यकता नहीं होती। आज की स्थिति कुछ ऐसी है कि उत्पादन बढ़ा कर यदि अधिक आय की जाय या सफेद धन कमा लिया तो उसका बहुत बड़ा भाग कर के रूप में छिन जाता है। सफेद धन जो परिश्रम से कमाया जाता है, उसका अधिकांश भाग करों और आज के बढ़े हुए मूल्यों के कारण हाथ से निकल जाता है और बचत के नाम पर कुछ नहीं बचता। इसके विपरीत काला धन आसानी से कमाया जाता है और इसे आसानी से छिपा भी लिया जाता है और उस पर कर देने का प्रश्न भी नहीं उठता। इसका परिणाम यह होता है कि एक ओर बचत घट रही है दूसरी ओर उत्पादन की कमी हो रही है। लोग काला धन कमा कर छोटे मकानों की जगह बड़े मकान बनवा कर धन को जड़ बना देते हैं या जो धन देश की समृद्धि के लिए व्यापार बढ़ाने या मशीनें आदि खरीदने में लगना चाहिए उससे लोग हीरे-जवाहरात खरीद कर छिपा लेते हैं। इस प्रकार धन का चक्र जिसे अँग्रेजी में रोटेशन कहते हैं, दिन प्रतिदिन संकुचित होता जा रहा है। धन व्यवहार-चक्र में लगा रहे तो बढ़े लेकिन जब वह ईंट-गारे में तथा छिपी सम्पत्ति में बदल जाता है तब उसका उपयोग सीमित हो जाता है। इससे देश की अत्यधिक क्षति हो रही है।

काले धन से एक और अनिष्टकारी प्रभाव पड़ रहा है। समाज का अधिकांश आर्थिक कारोबार सरकार की आँखों से छिपा कर किया जा रहा है और सरकार को बचे-खुचे संकुचित क्षेत्र पर ही अपना कड़ा नियन्त्रण बनाये रख कर संतोष करना पड़ा है। हमारा सामाजिक जीवन भी इस काले धन ने खोखला कर दिया है। जिन सामाजिक गुणों से हमें प्रेरणा लेनी चाहिए, वे गुण ही नष्ट होते जा रहे हैं और जिन असामाजिक तत्वों की रोकथाम होनी चाहिए, वे दिन दूने रात चौगुने बढ़ते जा रहे हैं।

आज व्यापारी परिवार भी अनैतिकता का उदाहरण हो गया है। देखा जाता है कि एक व्यापारी परिवार का हर सदस्य केवल काला धन कमाने और उसे छिपाने में ही व्यस्त रहता है। पति-पत्नी, भाई-बहन, बाप-बेटे सभी इस चोरी में सहायक हैं और कुटुम्ब जैसे चोरों का गिरोह बन गया है। हर व्यापार में ऊपरी आमदनी का महत्व बढ़ गया है। ऊपरी आमदनी की डींग हाँकने में ही बड़ाई समझी जाती है।

हमारा तरुण वर्ग इस ऊपरी आमदनी के लिए अपने अन्दर चालाकियाँ पैदा करना ही श्रेयस्कर समझता है। यहाँ तक देखा गया है कि भूमि-सीमा से बचने के लिए अनेक पति-पत्नी अदालत में खड़े होकर तलाक ले रहे हैं और दिखावे के रूप में तलाक लेकर भूमि-सीमा को बढ़ा लेते हैं और अपना नियमित दाम्पत्य जीवन बिताते हैं। यह स्थिति कितनी भयानक है!

काले धन के इस देशव्यापी रोग के लिए सरकार की नीतियाँ और कार्य पद्धति ही मुख्य रूप से जिम्मेदार हैं। सफेद धन वाले का धन कर के नाम पर छीन लेना और काले धन वाले पर हाथ भी न लगा सकना कितनी असमर्थता की स्थिति है। आए दिन नोटों और सिक्कों की चलन की मात्रा के घटने-बढ़ने का असर हमारे आर्थिक कारोबार पर पड़ता है। सरकारी काम के ढंग और नियम कुछ ऐसे हैं कि सरकारी फाइलों की गति बराबर धीमी पड़ती जा रही है। यदि ऊपरी आमदनी के असंतोष के कारण सरकारी दफ्तर का कोई छोटा सा कर्मचारी भी निश्चय कर ले कि उसे कोई काम नहीं करना है तो वह ऐसे-ऐसे अड़ंगे लगा सकने में समर्थ होता है कि फाइल की गति इतनी मंद पड़ जाती है कि सम्बन्धित व्यक्ति उस कर्मचारी को खुश करने को विवश हो जाता है। यही खुश करना ही रिश्वत को जन्म देता है। सरकारी नियम ऐसे हैं कि अब आदमी को अनाज, चीनी जैसी आवश्यक वस्तुओं के लिए सरकारी परवाने-परमिट की आवश्यकता पड़ती है और इसे प्राप्त करने के लिए रिश्वत देना अनिवार्य हो जाता है। इसी से काला धन अपना क्षेत्र बढ़ाने में समर्थ होता है।

काला धन और रिश्वत का घनिष्ठ रिश्ता है। रिश्वत के बल पर आय पर लगने वाले कर से बचा जा सकता है। इस प्रकार मूलधन बढ़ता है और दबाया जाता है। यदि यही बचाया हुआ, चुराया हुआ, काला धन सफेद धन होता तो आर्थिक विकास में सहायता मिलती। लेकिन ऐसा आज की व्यवस्था में सम्भव नहीं हो रहा है। सरकार को इस भयावह स्थिति को समझ कर उचित कदम उठाना चाहिए। भारी कर थोप कर, नियंत्रण लगा कर अथवा राष्ट्रीयकरण करके काले धन की समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता।

अर्थ-व्यवस्था माँग और पूर्ति की संतुलन बनाए रखती है। अनियंत्रित अर्थ व्यवस्था में कीमतों की बढ़ती व घटती से यह संतुलन अपने आप बना रहता है। माँग बढ़ी ओर पूर्ति न हो सकी तो कीमतें बढ़ ही जाती हैं। कीमतें बढ़ीं और माँग घटी, माँग घटी तो पूर्ति बढ़ी और कीमतें घटीं। कीमतें घटीं कि फिर माँग बढ़ी। यही प्राकृतिक चक्र सतुलन बनाए रहता है। लेकिन नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था ने इस प्राकृतिक चक्र को प्रभावहीन कर दिया है। हमारे देश में अनाज का अभाव रहता ही है और इसीलिए अनाज के दाम बढ़ जाते हैं। गरीब अनाज खरीद नहीं पाता। इसीलिए सरकार नियंत्रण लगाती है। ऐसे नियंत्रणों के पीछे जो भावना काम करती है वह उचित है लेकिन परिणाम यह होता है कि किसी वस्तु पर नियंत्रण लगा कि उसका उत्पादन रुका। अनाज का उदाहरण ही लें। जब भी सरकार ने नियन्त्रण लगाया कि पूर्ति कम हुई। सरकार ने निर्धारित कीमतें बढ़ाईं और नियंत्रण ढीला किया कि उत्पादन बढ़ा। चीनी के विषय में तो यह बराबर होता रहता है।

यही स्थिति काले बाजार और काले धन को प्रोत्साहन देती है। सरकार इस

स्थिति में कुछ नहीं कर पाती। सरकार को अपने देश की आर्थिक स्थिति को अच्छी तरह समझ कर तब नियम व नियंत्रण लगाना चाहिए ताकि काले धन को पनपने का अवसर न मिले। लेकिन ऐसा नहीं हो पा रहा है। सरकार अपनी असमर्थता छिपाने के लिए कभी-कभी जल्दबाजी के कदम उठा कर स्थिति को और भी उलझा देती है। अत: सरकार को कर व नियन्त्रण समझ-बूझ कर लगाना चाहिए। और काला धन सफेद धन बन सके इस सम्बन्ध में भी कुछ सोचना चाहिए। क्योकि यदि सरकार इस दिशा में सतर्कता से काम न लेगी तो सफेद धन धीरे-धीरे काला धन बनता जाएगा और यह स्वाभाविक है कि एक बार जो सफेद धन काला धन बन जायगा वह फिर कभी सफेद धन नहीं बन सकेगा और इस प्रकार राष्ट्रीय क्षति बढ़ती ही जायगी।

●

१३५. जीवन बीमे का महत्व

१—भूमिका, २—जीवन बीमे से लाभ—(अ) व्यक्तिगत, (ब) राष्ट्रीय, ३—जीवन बीमे के विरोध में दिये जाने वाले तर्क और उनकी आलोचना, ४—भारत में जीवन बीमे की स्थिति और उनके प्रयास, ५—उपसंहार।

भूमिका—मानव एक विवेकशील प्राणी है। वह अपने वर्तमान के साथ ही अपने भविष्य की भी चिन्ता करता है। मानव और पशु में यही अन्तर है कि पशु केवल अपने लिए ही जीता है और वर्तमान को ही सोचता है किन्तु मानव अपने साथ ही दूसरों की भी सोचता है और अपने वर्तमान को उज्ज्वल बनाने के साथ ही भविष्य को भी उज्ज्वल बनाने का प्रयास करता है। जीवन बीमा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने भविष्य से निश्चिन्त हो जाते हैं। हमारे द्वारा जमा किया गया धन वृद्धावस्था में हमारे काम आ सकता है और यदि दुर्भाग्यवश हमारी मृत्यु हो जाती है तो हमारे परिवार वालों को उस धन से लाभ हो सकता है। मनुष्य के व्यक्तिगत और पारिवारिक के लाभ को दृष्टि में रखते हुए भारत में जीवन बीमे का व्यापक प्रचार करने का प्रयास किया जा रहा है।

जीवन बीमे से लाभ—जीवन बीमा हमारे लिए अत्यधिक उपयोगी है। हमारे व्यक्तिगत जीवन के लिए तो जीवन बीमा लाभदायक है ही, साथ ही राष्ट्रीय हित के लिए भी जीवन बीमा आवश्यक है। हमारे व्यक्तिगत जीवन में जीवन बीमा का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यदि हम अपना बीमा करवा लेते हैं तो हम अपने परिवार की ओर से निश्चित हो जाते हैं। बहुधा यह देखा जाता है कि मनुष्य इसी चिंता में लीन रहता है और यही सोचता है कि यदि दुर्भाग्यवश उसकी मृत्यु हो गयी तो उसके परिवार वालों का क्या होगा? मनुष्य के जीवन का कोई भी भरोसा नहीं है। इस दुर्घटना की आशंका से ही मनुष्य अपने जीवन का बीमा कराता है। यदि दुर्घटनावश किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो बीमा निगम उसके द्वारा नियुक्त किये गये व्यक्ति को वह धन देता है जितने का उसने बीमा करवाया होता है। जीवन बीमा से दूसरा लाभ यह है कि हम अपनी वृद्धावस्था की आर्थिक कठिनाइयों की ओर से निश्चित हो जाते हैं। जब तक हमारा स्वास्थ्य अच्छा है, हम अधिक से अधिक मेहनत कर धन कमा सकते हैं, परन्तु वृद्धावस्था में जब हमारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेगी और हमारी धमनियों के रक्त का प्रवाह तीव्र नहीं होगा तो हमारे लिए कड़ी मेहनत

करना और अधिक धन का उपार्जन करना कठिन हो जायगा; इस स्थिति में बीमा द्वारा प्राप्त धन ही हमारे काम आयेगा। इस भावना से प्रभावित होकर भी बहुत से लोग अपना बीमा करवाते हैं। बहुधा यह देखा जाता है कि अधिकतर व्यक्ति अपने बीमे की अवधि इस प्रकार रखते हैं कि उनको धन ५० या ६० वर्ष की अवस्था में प्राप्त हो।

जीवन बीमे से लाभ—जीवन बीमे से यह लाभ तो होता है कि हम अपने भविष्य और अपने परिवार की ओर से बहुत कुछ निश्चित हो जाते हैं परन्तु इसके साथ ही जीवन बीमा से कुछ अन्य लाभ भी हैं। बहुत से ऐसे व्यक्ति देख जाते हैं जो भविष्य की चिन्ता अधिक नहीं करते और कहते हैं कि हमारी मृत्यु के बाद धन हमें तो मिलेगा नहीं, यदि हमारे पास युवावस्था में धन होगा तो हम उसका अधिक से अधिक उपभोग कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए भी जीवन बीमा वरदान ही सिद्ध होता है। प्रतिमास या प्रतिवर्ष धन की एक निश्चित राशि वे जमा करते हैं और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उनकी बचत हो जाती है। इस धन को जब वे चाहते हैं तब बीमा कम्पनी से ऋण के रूप में ले लेते हैं। बीमा कम्पनी बहुत कम सूद धन देती है। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति ने आज से १० वर्ष पूर्व अपना बीमा करवाया था और वह निश्चित धनराशि नित्यप्रति जमा करता रहा है तथा उसे आज धन की आवश्यकता है तो ऐसी परिस्थिति में बीमा कम्पनी उसके द्वारा जमा किए गये धन का बहुत बड़ा भाग उसको ऋण के रूप में दे देगी। इस ऋण पर ब्याज की दर भी बहुत कम होगी। यही नहीं जीवन बीमा निगम कुछ अन्य सुविधाएँ भी प्रदान करता है। मकान आदि बनवाने के लिए भी जीवन बीमा निगम ऋण देता है और इस ऋण पर भी बहुत कम ब्याज लिया जाता है।

व्यक्तिगत जीवन में तो जीवन बीमा उपयोगी है ही साथ ही राष्ट्रीय हित में भी जीवन बीमा आवश्यक है। जो धन हम अपने बीमे के रूप में जीवन बीमा निगम को देते हैं उस धन का उपयोग राष्ट्र हित के कार्यों में होता है। हमारी पंचवर्षीय योजना की सफलता में हमारे देश का उज्ज्वल भविष्य छिपा हुआ है। इन पंचवर्षीय योजनाओं पर व्यय करने के लिए हमें बहुत अधिक धन की आवश्यकता होती है। जीवन-बीमा निगम बीमा करने वाले लोगों द्वारा प्राप्त किया गया धन सरकार को भी देता है और वह धन हमारे देश के विकास कार्यों में लगाया जाता है।

इस प्रकार बीमा कराकर हम अपना तो हित करते ही हैं साथ ही देश के नव-निर्माण में भी सहयोगी होते हैं।

जीवन बीमा के विरोध में दिये जाने वाले तर्क और उनकी समीक्षा—भारत में ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं है जिनका दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित है और वे स्वयं तो अपना बीमा कराते ही नहीं, साथ ही अपने मित्रों को भी यह सलाह देते हैं कि जीवन-बीमा से लाभ नहीं है। ये लोग यह प्रदर्शित करते हैं कि वे चार्वाक के अनुयायी हैं। वे कहते हैं कि जब हम ही मर जायेंगे तो हमारे द्वारा जमा किया गया धन किस काम का ? हमारे बच्चे और स्त्री आदि तभी तक हमारे हैं जब तक कि हम हैं और 'जब मुँद गयी आँखें तो लाखों के ही काम की'। यदि दार्शनिक दृष्टि से देखा जाय तो इन लोगों का कथन सत्य ही प्रतीत होता है, परन्तु इस सम्बन्ध में स्मरण रखना चाहिए कि 'अधिक ज्ञान बघारना सत्यानाश की जड़ है'। यदि इनको

निगाह से देखें तो संसार के समस्त कार्य ही व्यर्थ हैं। जब हम अपने पुत्रों और परिवार वालों के लिए कुछ नहीं कर सकते तो हमारे जीने से क्या लाभ ? मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या रहा ? संसार का यह जो चक्र चलता रहता है, इसके मध्य सुचारु रूप से जीवनयापन करते रहना और आने वाली संतति के लाभ के लिए प्रयत्न करते रहना ही मानव का सबसे बड़ा कर्तव्य है। थोथा ज्ञान व्यर्थ है।

बीमा विरोधियों का एक अन्य तर्क यह है कि भारत में रुपये की कीमत दिन प्रतिदिन गिरती जा रही है, आज से २० वर्ष पूर्व जो रुपये की कीमत थी वह आज नहीं है और जो कीमत आज है वह आज से २० वर्ष बाद नहीं रहेगी। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि मुद्रा की कीमत घटने या बढ़ने की बात तो समय पर निर्भर करती है। यह ठीक है कि आज से २० वर्ष पहले जिन्होंने दो हजार रुपये का बीमा कराया होगा और उनकी जो धनराशि आज मिली होगी उसे देखते हुए उन्हें विशेष आर्थिक लाभ नहीं हुआ होगा परन्तु यह सोचना ठीक नहीं है कि रुपये की कीमत जो आज है आज से २० वर्ष बाद उससे भी कम हो जायेगी। यदि कम हो भी जाय तो इसकी चिन्ता व्यर्थ है। जो धन आज हम अनिवार्य रूप से जमा नहीं करेंगे उसे हम अवश्य ही खर्च कर डालेंगे। इसलिए जीवन बीमा यह सोचकर न करवाना कि रुपये की कीमत घट जायेगी, उचित नहीं है।

जीवन बीमा के विरोधी एक तर्क यह प्रस्तुत करते हैं कि जीवन बीमा निगम हमारे द्वारा जमा किए गए धन पर जो ब्याज देता है वह अन्य स्थानों से मिलने वाले ब्याज की अपेक्षा बहुत कम है। यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्तिगत उद्योग के लिए कुछ धन ऋण पर दे तो उस पर जीवन बीमा निगम में जमा करने वाले धन की अपेक्षा अधिक ब्याज मिलेगा। बीमा के विरोधियों का यह तर्क भी ठीक नहीं है। यह तो ठीक है कि बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ हमारे धन पर अधिक ब्याज मिल सकता है परन्तु यह भी हो सकता है कि हमारा धन ही डूब जाय और हमें आगे चलकर कुछ भी न मिले। जीवन-बीमा हमारे जीवन की सुरक्षा की भी गारण्टी लेता है जो अन्य कोई भी संस्थान जहाँ कि हम धन देंगे, लेने को तैयार नहीं होगा। कौन सा ऐसा मिल मालिक होगा जो हम से २० रुपये प्रतिमाह लेने के बाद यह कहे कि दुर्भाग्यवश दो वर्ष में आपकी मृत्यु हो जायगी तो आपके घर वालों को हम ५ हजार रुपये देंगे। यह कार्य तो केवल जीवन-बीमा निगम ही कर सकता है। अतएव यह सोचकर कि जीवन-बीमा निगम हमारे धन पर हमें बहुत कम सूद देता है, बीमा न कराना उचित नहीं है।

भारत में जीवन बीमा निगम की स्थिति और उसके प्रसार के लिए प्रयास— जीवन बीमा के महत्व और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ही हमारे देश में बीमे को अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है। आज से कुछ वर्ष पूर्व लोग बीमा कराने में अधिक विश्वास नहीं करते थे परन्तु प्रसन्नता की बात है कि आज स्थिति बदल गयी है और लोग प्रसन्नता से बीमा कराते हैं। सरकारी कर्मचारियों और बहुत से शिक्षकों आदि के लिए जीवन-बीमा अनिवार्य कर दिया गया है। इसके साथ ही अनेक ऐसी संस्थाएँ हैं जहाँ अनिवार्य रूप से जीवन बीमा का नियम है। परन्तु अभी जीवन बीमा के क्षेत्र में हम अन्य देशों के मुकाबले बहुत पीछे हैं। हमारी अशिक्षित ग्रामीण जनता जीवन-बीमा से लाभ नहीं उठा पाती। इसके लिए

आवश्यकता इस बात की है कि जीवन-बीमा के महत्व को समझाने के लिए अधिक से अधिक प्रयास किया जाय। गाँव में बहुत अधिक प्रचार करने की आवश्यकता है और इसलिए हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए। इस बात की भी आवश्यकता है कि जीवन-बीमा निगम प्रति वर्ष अपने द्वारा जमा किये गये और व्यय किये गये धन के आँकड़े जनता के सन्मुख रखे जिससे कि बीमा कराने वालों को इस बात का संतोष हो सके कि उनका धन उचित रूप में व्यय हो रहा है। जीवन बीमा निगम को बीमा कराने वालों को और अधिक सुविधाएँ देनी चाहिये। जीवन बीमा निगम मकान आदि बनवाने के लिए तो ऋण देता है परन्तु इसके साथ ही अन्य क्षेत्रों में भी ऋण देने की व्यवस्था की जानी चाहिये।

उपसंहार—जीवन-बीमा हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी और लाभदायक हैं। हमारा देश एक प्रजातान्त्रिक देश है और हमारी सरकार ऐसे कार्यों को करने के लिए दृढ़ संकल्प है जिनसे कि जनता का अधिक से अधिक हित हो सके। यदि हम जीवन बीमा कराते हैं तो अपने भविष्य से तो निश्चित होते ही हैं साथ ही देश के नवनिर्माण में भी योगदान करते हैं। इसलिए हम सबका कर्तव्य हैं कि हम जीवन-बीमा को प्रोत्साहन दें।

१३६. हिप्पी और उनका पंथ

हिप्पियों की बढ़ती हुई संख्या और महिमा को देखकर हमें गोस्वामी तुलसीदास द्वारा निरूपित कलियुग की सहज ही याद आ जाती है जिसमें उन्होंने यह बताया है कि कलियुग में जो व्यक्ति जितने उल्टे-सीधे काम करेंगे, उनकी उतनी ही अधिक महिमा होगी—

असुभ भेस भूसन धरें भक्षाभक्ष जे खाँय।
जे जोगी ते सिद्ध नर पूज्यते कलिजुग माँहि।

मतलब स्पष्ट है। कलियुग में जो व्यक्ति उलटा सीधा खाते हैं, उल्टे सीधे कपड़े पहनते हैं, वे ही मान्य हैं, उन्हीं को योगी और सिद्ध पुरुष समझा जाता है। ये हिप्पी लोग हमारे विचार से ऐसे ही योगी और सिद्ध पुरुष हैं, जिसके पीछे हमारे भावी कर्णधार बने हुए झूमते हुए दिखाई देते हैं।

विज्ञान ने हमारे जीवन को खतरों से भर दिया है। इनके आगे हम भय से ग्रस्त हैं; संकटों में त्रस्त हैं और जीवन के प्रति शंकालु हो गए हैं। हमारे जीवन में अनेक कुण्ठाएँ और सन्देह समा गए हैं। मशीनों की गड़गड़ाहट के सामने हम अपने पड़ोसी की बात सुन नहीं सकते हैं। ऐसा लगता है कि हम अन्दर से खाली हैं और बाहर से बे-सहारे हैं। इन सब स्थितियों का समग्र रूप से यह परिणाम हुआ है कि हम निराशावादी और पलायनवादी बन गए हैं। हमको परलोक की बातों में विश्वास नहीं है परन्तु फिर भी हम इस लोक को छोड़कर एक नई दुनियाँ बसाना चाहते हैं। मृत्यु से हम आतंकित हैं और जीवन के प्रति आश्वस्त नहीं रहे हैं। जीवन और जगत की यह निस्सारता ही वस्तुतः हिप्पीवाद की जननी है।

आज से लगभग २५ वर्ष पूर्व फ्रांस के विचारक जीन पौल सार्त्र ने जीवन को

इस घुटन की अनुभूति को और उसके आधार पर अपने जीवन-दर्शन-अस्तित्ववाद का उद्घोष किया। उसने बताया कि भोग और त्याग दोनों में ही निराशा हाथ लगती है। इसलिए निराशा ही हमारे जीवन का सर्वस्व है। निराशा में ही हमको जीवन के वास्तविक मूल्य प्राप्त हो सकते हैं। सार्त्र के अनुसार मृत्यु जीवन की अपेक्षा अधिक गहरा सत्य है, हमारा जीवन नागफनी की भाँति चारों ओर से प्रताड़ित है, मानो समस्त समाज हमारा शत्रु है। आश्चर्य यह है कि हम जीवित हैं।

अस्तित्ववादी विचारधारा के साथ निराशावादी और पलायनवादी जीवन-दर्शन का बोलबाला हो गया। समस्त शुतरमुर्गों ने समझ लिया कि हम रेत में सिर गाड़ कर आने वाली आँधी से अपनी रक्षा कर सकते हैं। निराश प्रेमियों ने सोच कि हम क्षितिज के परे दुनियाँ बसाकर चैन से रह सकते हैं और मनचले शौकीन कवियों ने सोचा कि वे अपने दिमाग में भरे हुए प्याज के छिल्कों को उतारकर जीवन का सार ग्रहण कर सकते हैं। दुस्साहसी कामुक वीरों के देश अमरीका में विश्व संस्कृति परिषद् की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य ऐसी संस्कृति का प्रचार करना था जिसका न जन्म हुआ और न जिसका नामकरण हुआ था।

कुण्ठाओं और निराशा के समुद्र में हाथ-पैर पटकने वाले अकर्मण्य युवकों को तिनके का सहारा मिल गया और उन्होंने पागलों की खाल ओढ़कर समझदार होने का दावा किया। उन्होंने अपने आपकों जूते का तल्ला, रिरियाता पिल्ला, बागडबिल्ला और न मालूम क्या-क्या कहना शुरू कर दिया। इनके बारे में हम इतना ही कह सकते हैं ऐसे लोगों का अल्लाह ही बेली है।.

बस, अब क्या था। पागलपन की नकल करने वाले अनेक आन्दोलन आरम्भ हो गये। पहले बीटल्स आये, फिर बीटनिक्स आये। उनकी नंगी-भूखी पीढ़ी आई और साथ में आई इंगलैंड की क्रोधित युवा पीढ़ी। इन्हीं के वजन पर अमरीका में हिप्पी-वाद का आन्दोलन आरम्भ हो गया। हिप्पीवाद किसी प्रकार गम गलत करके इस दुनियाँ से पीछा छुड़ाने की कल्पना करता है। इनका हाल उन विक्षिप्त व्यक्तियों की भाँति जो ईंटों की आवाज में सारंगी का संगीत सुनते हैं।

हिप्पीवाद के अनुयायी अपने जीवन से परेशान हैं। जिस देश में ये रहते हैं, उस देश की सरकार इनसे परेशान है। हमारे भारत का उदार हृदय सबका स्वागत करता। यह वह चिड़ियाघर है जिसमें सब प्रकार के जीव-जन्तु एवं पशु-पक्षी पलते हैं। इस देश की मिट्टी ही सब प्रकार के पागलों को प्रश्रय देती है। जो भी हो, अमरीका के ये निराश युवक भारत आते हैं और इस प्रकार की वेष-भूषा में घूमते हैं कि यहाँ के कौतूहल प्रिय निवासी उन्हें एक तमाशा समझें। वास्तव में होता ही यह है। हमारे देशवासी उन्हें देखने के लिए ऐसे दौड़ते हैं मानो किसी गाँव में नया-नया ऊँट आ गया हो। ये हिप्पी ऐसी धज धारण करते हैं जो सहज ही कुतूहल उत्पन्न करती है। वे ऐसे बाल रखते हैं जिन्हें देखकर नर और नारी तथा योगी-भोगी का भेद मिट जाता है। ये चरस और गांजे की दम लगाते हैं तथा उनका तस्कर व्यापार करते हैं। कई स्थानों पर तो ये सोने का तस्कर व्यापार भी करते हुए पकड़े जा चुके हैं। लोग इन्हें तमाशा समझते हैं। ये सबका तमाशा बनाते हैं।

ये हिप्पी अपने घर से बहुत थोड़े से पैसे-टके लेकर चल पड़ते हैं और यहाँ

जैसे-तैसे अपना काम चलाते हैं, कभी-कभी अवांछनीय साधनों द्वारा धनोपार्जन करते हैं। इनमें न मालूम कितने ऐसे हैं जो जासूसी का काम करते हैं और आस्तीन के साँप की तरह देश के लिए खतरा बने हुए हैं।

हिप्पीवाद के समर्थकों का कहना है कि अधिकांश हिप्पी भले घरों के लड़के लड़कियाँ हैं और उनके घरों से इनके लिए खर्च आता रहता है। बहुत सम्भव है कि कुछ हिप्पी सच्चे हिप्पी हों। परन्तु प्रश्न यह नहीं है कि ये हिप्पी कहाँ से आते हैं और ये कौन हैं ? मूल प्रश्न यह है कि ये करते क्या हैं ? ये जीवन से निराश व्यक्ति है और हमारे युवक समाज में कुण्ठा, निराशा और तस्करी का प्रचार करते हैं। हमारे देश की सदाचार सम्बन्धी मान्यता से इनका तीन और छः का सम्बन्ध हैं। हमें आश्चर्य हैं कि हमारा समाज इन्हें किस प्रकार और किस हेतु सहन कर रहा है ? सबसे बड़ी विडम्बना तो यह कि हमारे देश में रहने वाले कतिपय कुबुद्ध व्यक्ति यह सोचने लगे हैं कि क्या हिप्पीवाद हमारे समाज के लिए उपयोगी हो सकता है ? हमारे विचार से हिप्पीवाद हमारे लिए इसी स्थिति में उपयोगी हो सकता है, जब हम मान लें कि चरस और गाँजा पीकर मदहोश बनने वाले व्यक्ति हमारे देश की नैया के खेवैया बन सकते हैं। हमारे विचार से हिप्पीवाद को उपयोगी मानना वैसा ही जैसा कि नये जन्म की तमन्ना में खुदकुशी कर लेना। ये हिप्पी लोग चारों ओर बेकाम बेमतलब घूमा करते हैं। ऐसा लगता है कि न ये किसी के हैं और न कोई इनका है। वे बेसरो-सामान, बेनाम, बेपता और बेमकान हैं इनका न कोई ठिकाना है और न इन्हें किसी पर भरोसा है। इनके प्रति उन्हीं को भरोसा हो सकता है जिन्हें न अपने ऊपर भरोसा है और न भगवान पर भरोसा है। हिप्पीवाद हमारे लिए किसी भी दशा में उपयोगी नहीं हो सकता। इसको तो जितनी ही जल्दी इस देश की सीमाओं के बाहर निकाल दिया जाये, उतना ही हमारे लिये श्रेयस्कर होगा। हिप्पीवाद हमारी संस्कृति को मिटाने के लिये आया है। इसको बहिष्कृत करके ही हम भारतीय संस्कृति की रक्षा कर सकेंगे। हमारे जीवन में इसके लिये कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

●

१३७. ओलम्पिक और उनका महत्व

१—खेल प्रतियोगिताएँ, २—ओलम्पिक की समस्या, ३—राष्ट्रीय महत्व, अशोभनीय घटनाएँ, ५—ओलम्पिक की प्रगति, ६—अन्तर्राष्ट्रीय समिति, ७—परम्परा, ८—विश्व-बन्धुत्व।

खेल को जीवन का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। मनोरंजन के साथ व्यायाम, मानसिक उत्फुल्लता के साथ शारीरिक निर्माण। प्राचीन युग से आज तक बराबर खेल का महत्व रहा है और किसी न किसी रूप में समाज में खेलकूद प्रतियोगिताएँ बराबर होती रही हैं। यद्यपि समय-समय पर खेलों के रूपों में परिवर्तन होता रहा है लेकिन उनका अस्तित्व सदा बना रहा है। बड़े पैमाने में होने वाली प्रतियोगिता को ओलम्पिक कहते हैं। अब विश्व में ओलम्पिक का बहुत प्रचलन हो गया है। प्रतिवर्ष विभिन्न देशों में कई-कई प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता है।

ओलम्पिक का महत्व बढ़ने के साथ-साथ इसकी समस्याएँ भी लगातार बढ़ती जा रही हैं। बल्कि यह कहा जाय तो गलत न होगा कि ओलम्पिक खेलों का आयोजन

विश्व व्यापी सद्भावना व राष्ट्रों की मैत्री हेतु किये जाने के बजाय अब आपसी दुर्भावना, हिंसा, विनाश और राजनीति, राष्ट्रीय संघर्ष का कारण बन गया है जैसा कि सन् १९७२ के म्यूनिख ओलम्पिक में हुआ।

प्राचीन काल में ग्रीस में होने वाले ओलम्पिक के समय के लिए चल रहे युद्ध भी टाल दिए जाते थे और दुश्मन फौजें भी बड़ी प्रसन्नता, सद्भावना और बिना किसी भय से भाग लेती थीं। जब फ्रांस के बैरां पीरे डि कौबरटीन ने सन् १८९६ में एथेन्स (ग्रीस) में आधुनिक युग के ओलम्पिक की नींव डाली तो प्राचीन खेल सम्बन्धी सद्भावना का एक बार फिर से जन्म हुआ। डि कोब टीन ने विश्व को तभी यह नारा दिया था—जीवन जीतने के लिए नहीं, अच्छी तरह लड़ने के लिए है।

ओलम्पिक का जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव दुनिया पर पड़ा वह था प्रतियोगिता में भाग लेने वाले खिलाड़ी की व्यक्तिगत हार व जीत को राष्ट्र की हार या जीत माना गया। यानी लोगों की विचारधारा व्यक्ति से उठकर राष्ट्र-व्यापी हुई। जब अबाब बिकिला माराथन में विजयी हुआ तो उसे बिकिला का व्यक्तिगत गौरव कम लेकिन इथोपिया का राष्ट्रीय गौरव अधिक माना गया। १९२० के ओलम्पिक ने भी विश्वव्यापी युद्ध के तनावपूर्ण वातावरण को खतम करने में सहायता दी थी। अब तो ओलम्पिक का मैदान ही विश्व में वह एकमात्र स्थल है जहाँ भाग लेने वाले सभी राष्ट्रों के राष्ट्रीय गीत वहाँ एक समय में गाये जाते हैं।

१९६० में रोम में हुआ ओलम्पिक बहुत महत्वपूर्ण माना गया। इस ओलम्पिक में लगभग सभी राष्ट्रों ने राष्ट्रीय स्तर पर ओलम्पिक की तैयारी में भाग लिया। इसका श्रेय फेडरेशन, इण्टरनेशनल फुटबाल एसोसिएशन के अध्यक्ष पर स्टेनली रोजे को है।

सरकारी स्तर पर ओलम्पिक की तैयारी में मदद देना और ओलम्पिक में भाग लेना 'राष्ट्रीय' और 'राजनीतिक' स्तर पर बहुत महत्वपूर्ण है। इससे दूसरे राष्ट्रों से सद्भावना बढ़ती है और साथ ही राष्ट्रीय गौरव की भावना भी दृढ़ होती है। लेकिन कभी-कभी इस भावना की हत्या करने वाली घटनाएँ भी घटती रहती हैं और बड़ा ही शर्मनाक दृश्य उपस्थित हो जाता है। जैसे सन् १९३६ में बर्लिन ओलम्पिक में अपने को उच्चतम आर्य कहने वाले हिटलर ने नीग्रो खिलाड़ी ओवेन से हाथ मिलाने में इन्कार कर दिया था। और अभी कल की ही तो बात है—१९७२ में हुए म्यूनिख ओलम्पिक में पाकिस्तान के हाकी के खिलाड़ियों ने अभद्र व्यवहार का प्रदर्शन किया। दूसरे देशों के राष्ट्रीय ध्वजों का उन्होंने अपमान किया, ओलम्पिक ध्वजों और पदकों का अपमान किया। यह सब उन्होंने फाइनल खेल में पश्चिमी जरमनी से हार जाने पर प्रतिक्रिया रूप में किया। फलस्वरूप पाकिस्तान को विश्वव्यापी निन्दा का शिकार होना पड़ा। यह सच है कि ऐसी घटनाएँ ओलम्पिक भावना के विरुद्ध हैं लेकिन यह घटनाएँ कभी-कभी स्वाभाविक रूप से घट ही जाती हैं जिन्हें जल्दी भूल जाना ही उचित व श्रेयस्कर है।

जैसे ऊपर कहा जा चुका है कि आधुनिक ओलम्पिक की परम्पर सन् १८९६ में एथेन्स में प्रारम्भ हुई। इस एथेन्स ओलम्पिक में सन् १८९६ में आठ देशों ने भाग लिया था। खेलों की संख्या १२ थी और उनमें ९ में अमरीका विजयी हुआ था और २ में ब्रिटेन और एक में रोम।

विश्व व्यापी सद्भावना व राष्ट्रों की मैत्री हेतु किये जाने के बजाय अब आपसी दुर्भावना, हिंसा, विनाश और राजनीति, राष्ट्रीय संघर्ष का कारण बन गया है जैसा कि सन् १९७२ के म्यूनिख ओलम्पिक में हुआ।

प्राचीन काल में ग्रीस में होने वाले ओलम्पिक के समय के लिए चल रहे युद्ध भी टाल दिए जाते थे और दुश्मन फौजें भी बड़ी प्रसन्नता, सद्भावना और बिना किसी भय से भाग लेती थीं। जब फ्रांस के बैरा पीरे डि कौबरटीन ने सन् १८९६ में एथेन्स (ग्रीस) में आधुनिक युग के ओलम्पिक की नींव डाली तो प्राचीन खेल सम्बन्धी सद्भावना का एक बार फिर से जन्म हुआ। डि कोब टीन ने विश्व को तभी यह नारा दिया था—जीवन जीतने के लिए नहीं, अच्छी तरह लड़ने के लिए है।

ओलम्पिक का जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव दुनिया पर पड़ा वह था प्रतियोगिता में भाग लेने वाले खिलाड़ी की व्यक्तिगत हार व जीत को राष्ट्र की हार या जीत माना गया। यानी लोगों की विचारधारा व्यक्ति से उठकर राष्ट्र-व्यापी हुई। जब अबाब बिकिला माराथन में विजयी हुआ तो उसे बिकिला का व्यक्तिगत गौरव कम लेकिन इथोपिया का राष्ट्रीय गौरव अधिक माना गया। १९२० के ओलम्पिक ने भी विश्वव्यापी युद्ध के तनावपूर्ण वातावरण को खतम करने में सहायता दी थी। अब तो ओलम्पिक का मैदान ही विश्व में वह एकमात्र स्थल है जहाँ भाग लेने वाले सभी राष्ट्रों के राष्ट्रीय गीत वहाँ एक समय में गाये जाते हैं।

१९६० में रोम में हुआ ओलम्पिक बहुत महत्वपूर्ण माना गया। इस ओलम्पिक में लगभग सभी राष्ट्रों ने राष्ट्रीय स्तर पर ओलम्पिक की तैयारी में भाग लिया। इसका श्रेय फेडरेशन, इण्टरनेशनल फुटबाल एसोसिएशन के अध्यक्ष पर स्टेनली रोजे को है।

सरकारी स्तर पर ओलम्पिक की तैयारी में मदद देना और ओलम्पिक में भाग लेना 'राष्ट्रीय' और 'राजनीतिक' स्तर पर बहुत महत्वपूर्ण है। इससे दूसरे राष्ट्रों से सद्भावना बढ़ती है और साथ ही राष्ट्रीय गौरव की भावना भी दृढ़ होती है। लेकिन कभी-कभी इस भावना की हत्या करने वाली घटनाएँ भी घटती रहती हैं और बड़ा ही शर्मनाक दृश्य उपस्थित हो जाता है। जैसे सन् १९३६ में बर्लिन ओलम्पिक में अपने को उच्चतम आर्य कहने वाले हिटलर ने नीग्रो खिलाड़ी ओवेन से हाथ मिलाने में इन्कार कर दिया था। और अभी कल की ही तो बात है—१९७२ में हुए म्यूनिख ओलम्पिक में पाकिस्तान के हाकी के खिलाड़ियों ने अभद्र व्यवहार का प्रदर्शन किया। दूसरे देशों के राष्ट्रीय ध्वजों का उन्होंने अपमान किया, ओलम्पिक ध्वजों और पदकों का अपमान किया। यह सब उन्होंने फाइनल खेल में पश्चिमी जरमनी से हार जाने पर प्रतिक्रिया रूप में किया। फलस्वरूप पाकिस्तान को विश्वव्यापी निन्दा का शिकार होना पड़ा। यह सच है कि ऐसी घटनाएँ ओलम्पिक भावना के विरुद्ध हैं लेकिन यह घटनाएँ कभी-कभी स्वाभाविक रूप से घट ही जाती हैं जिन्हें जल्दी भूल जाना ही उचित व श्रेयस्कर है।

जैसे ऊपर कहा जा चुका है कि आधुनिक ओलम्पिक की परम्पर सन् १८९६ में एथेन्स में प्रारम्भ हुई। इस एथेन्स ओलम्पिक में सन् १८९६ में आठ देशों ने भाग लिया था। खेलों की संख्या १२ थी और उनमें ९ में अमरीका विजयी हुआ था और २ में ब्रिटेन और एक में रोम।

१८९६ के एथेन्स ओलम्पिक के बाद ओलम्पिक खेलों का क्रम इस प्रकार चला

सन् १९०१ में पेरिस में,
सन् १९०४ में सेंट लुई में,
सन् १९०८ में लंदन में,
सन् १९१२ में स्काटहोम में,
सन् १९२० में आन्तेवर्प में,
सन् १९२४ में पेरिस में,
सन् १९२८ में एम्स्टर्डम में,
सन् १९३२ में लास एंजेल्स में,
सन् १९३६ में बर्लिन में,
सन् १९४८ में लंदन में,
सन् १९५२ में हेल्सिकी में,
सन् १९५७ में मेलबोर्न में,
सन् १९६० में रोम में,
सन् १९६४ में टोकियो में,
सन् १९६८ में मैक्सिको में और,
सन् १९७२ में म्यूनिख में।

(सन् १९१६, ४० और ४४ में विश्वव्यापी युद्धों के कारण ओलम्पिक नहीं हुए।)

इन ओलम्पिकों में विश्व के हर राष्ट्र के खिलाड़ी आमंत्रित किये जाते हैं और लगभग सभी भाग भी लेते हैं। इनके प्रबन्ध व संचालन के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति संयोजित व संगठित की जाती है। इस समिति में प्रत्येक राष्ट्र के एक से तीन तक प्रतिनिधि व सदस्य रहते हैं। यही समिति खेलों के लिए स्थान का चुनाव देख-रेख, व्यवस्था और हिसाब की देख-रेख भी रखती है। दो सप्ताह से अधिक चलने वाले इस खेल-पर्व का खर्च, अपने देश के खिलाड़ियों का व्यय-भार अपनी सरकारें उठाती हैं।

खेल के प्रारम्भिक प्रथम दिवस को एक परेड आयोजित की जाती है जिसमें सभी प्रतियोगी देशों के खिलाड़ी अपनी विशेष वेषभूषा में अपने देश का राष्ट्रीय ध्वज लेकर चलते हैं। इसके बाद खेल का उद्घाटन होता है। ओलम्पिक ध्वज का ध्वजारोहण होता है। ओलम्पिक ध्वज सफेद कपड़े का होता है जिस पर पाँच रंगीन गोले आपस में गुँथे हुए दिखाई देते हैं। उद्घाटन समारोह तोपों की सलामी के साथ होता है। हजारों कबूतर उड़ाये जाते हैं। सामूहिक राष्ट्र गीत गये जाते हैं। तत्पश्चात् सभी प्रतियोगी यह शपथ ग्रहण करते हैं—"हम शपथ लेते हैं कि इस स्वस्थ प्रति-स्पर्द्धा की भावना से ओलम्पिक खेलों के नियमों का आदर करते हुए अपने देश के

सम्मान और खेलों की प्रतिष्ठा के लिए सच्चे अर्थों में खेल की भावना से ओलम्पिक खेलों में भाग लेंगे।"

इसके बाद खेल प्रारम्भ होते हैं।

जब तक खेल चलता है—ओलम्पिक मशाल जलती रहती है और ध्वज फहराता रहता है। खेल के अन्तिम दिन आगामी खेल का स्थान घोषित होता है।

ओलम्पिक खेलों से स्वस्थ-प्रतियोगिता की भावना पैदा होती है और इससे भी बढ़कर विश्व-बन्धुत्व की भावना बढ़ती है। इस खेल के द्वारा विश्व भर के खिड़ाड़ियों का आपसी सम्पर्क बढ़ता है और खेल एक परिवार बन जाता है।

●

१३८. परमाणु-युद्ध निषेध समझौता

१—भूमिका, २—समझौते की आवश्यकता, ३—ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर, ४—समझौते का महत्व, ५—समझौते की सफलता में आवश्यकता, ६—समझौते के बाद किये जाने वाले कार्य, ७—उपसंहार।

भूमिका—संसार में परमाणु-शक्ति की खोज के फलस्वरूप बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। एक ओर इस परमाणु-शक्ति का उपयोग जहाँ शान्तिप्रिय कार्यों के लिये किया गया है, दूसरी ओर यही परमाणु-शक्ति समस्त मानव-जाति के लिये अत्यन्त दुःखदायी सिद्ध हुई है। द्वितीय महायुद्ध के समय हीरोशिमा और नागासाकी पर फेंके गये ऐटमबमों की याद किसके हृदय को नहीं दहला देती। द्वितीय विश्वयुद्ध में इस परमाणु-शक्ति का जो विध्वंसकारी रूप दिखलाई पड़ा उससे संसार के सभी देशों के लोग इस सम्बन्ध में चिन्तित हो उठे। संयुक्त राष्ट्र संघ में समय-समय पर यह बात उठाई गई कि परमाणु शस्त्रों पर रोक लगा दी जानी चाहिए। परन्तु उसके बाद भी परमाणु आयुधों की दौड़ कम न हुई। यह संसार के लिए अत्यन्त चिन्ता का विषय बना रहा। जब-जब इस सम्बन्ध में आवाज उठाई गई, समस्त विश्व की शान्तिप्रिय जनता ने इसका स्वागत किया परन्तु विरोधी गुटों के आपसी संघर्ष के कारण बहुत समय तक यह सम्भव न हो सका।

समझौते की आवश्यकता—इधर कुछ वर्षों से इस प्रकार के समझौते की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था कि कम से कम संसार की महाशक्तियाँ आपस में परमाणु-युद्ध न करने के सम्बन्ध में ही समझौता कर लें। काफी समय तक रूस और अमेरिका दो महाशक्तियों के सम्बन्ध काफी खराब रहे और शस्त्रास्त्रों की दौड़ में दोनों एक दूसरे से बाजी मार ले जाने का प्रयास करते रहे। ब्रिटेन, फ्रान्स और चीन आदि ने उनका अनुकरण किया और ये शक्तियाँ भी परमाणु शस्त्रों की दौड़ में आगे बढ़ने का प्रयास करती रहीं।

परन्तु विश्व का जनमत सदैव इस दौड़ की भर्त्सना करता रहा। गत ३ वर्षों से परिस्थिति में कुछ परिवर्तन आया। विशिष्ट राजनीतिक कारणों के फलस्वरूप रूस और अमेरिका एक दूसरे के निकट आये। अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रिचर्ड निक्सन ने रूस की यात्रा की और दोनों के मध्य सद्भावना का वातावरण बढ़ा। यह मानव-जाति के लिये आशा की एक किरण थी। शनैः शनैः दोनों देश इस बात के लिये

प्रयत्नशील होते गये कि किसी तरह से परमाणु शस्त्रों की दौड़ कम हो जाय और समय-समय पर दोनों ने कुछ समझौते किये। परन्तु इसके बाद भी जनता की आवाज बनी रही कि दोनों देश यह निश्चय करें कि वे अपनी परमाणु-शक्ति का प्रयोग युद्ध के समय नहीं करेंगे। वियतनाम की युद्ध की समाप्ति के बाद यह आशंका हो चली थी कि यह देश एक दूसरे के और निकट आने के लिये शायद इस प्रकार का कोई समझौता करने के हेतु तत्पर हो जायँ, परन्तु उसके लिये कोई बाधक नहीं बन पाया। इस प्रकार के समझौते की आवश्यकता बहुत समय पहले से ही थी। जब-जब संसार के किन्हीं भी दो देशों के मध्य आपस में झपड़ होती थी तो यह डर बना रहता था कि कहीं रूस और अमेरिका अपने समस्त आणविक शस्त्रों के साथ युद्ध में न कूद पड़ें और तृतीय विश्व-युद्ध न छिड़ जाय। बहुत समय से यह प्रयास किया जा रहा था कि दोनों देश इस प्रकार का कोई आपसी समझौता कर लें। परन्तु अभी तक यह सम्भव न हो सका था। इधर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने कुछ इस प्रकार का मोड़ लिया कि यह ऐतिहासिक समझौता सम्भव न हो सका।

ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर—जून १९७३ में सोवियत कम्युनिष्ट पार्टी के महामन्त्री श्री लियोनिड ब्रेझनेव अमेरिका की यात्रा पर गये और वहाँ उन्होंने अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रिचर्ड निक्सन से विचार-विमर्श किया। काफी समय तक विचार-विमर्श के बाद २२ जून, १९७३ को दोनों नेताओं ने परमाणु-युद्ध न करने से सम्बन्धित ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते में दोनों देशों ने न केवल सोवियत रूस और अमेरिका के मध्य बल्कि किसी तीसरे देश के साथ भी परमाणु युद्ध को रोकने के लिए कोर कसर न उठा रखने का संकल्प किया। आठ सूत्री इस समझौते में सोवियत रूस और अमेरिका ने यह भी संकल्प किया कि विश्व में किसी भी समय परमाणु युद्ध का भय उत्पन्न होने की स्थिति में इस भय को समाप्त करने के उद्देश्य से दोनो देश तत्कालीन बात-चीत प्रारम्भ करेंगे। यह महत्वपूर्ण समझौता हस्ताक्षर होने के तुरन्त बाद लागू कर दिया गया। समझौते के अन्तर्गत सोवियत रूस और अमेरिका ने परमाणु युद्ध के खतरे को समाप्त करने और परमाणु आयुधों के प्रयोग को रोकने को अपने-अपने देश की नीतियों के रूप में स्वीकार किया। समझौते में यह कहा गया कि सोवियत रूस और अमेरिका का दूसरे के विरुद्ध आणविक शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे, जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कोई खतरा उत्पन्न न हो। समझौते के अंतर्गत परमाणु आयुधों के प्रयोग को रोकने के सम्बन्ध में दोनों देशों ने समान नीति अपना ली। समझौते की भूमिका में कहा गया कि सोवियत संघ और अमेरिका के मध्य सम्बन्धों का विकास अन्य देशों और उनके हितों के विरुद्ध न होगा। अमेरिकी राष्ट्रपति के सलाहकार डा० किसिंगर ने यह कहा कि इस समझौते पर हस्ताक्षर करने के पूर्व अमेरिका ने उत्तरी अटलांटिक सन्धि संगठन के देशों से भी परामर्श लिया था। परमाणु युद्ध न करने का समझौता असीमित अवधि के लिए किया गया और इस प्रकार से इस समझौते के फलस्वरूप समस्त मानव जाति को राहत सी मिली।

समझौते का महत्व—रूस और अमेरिका के मध्य परमाणु युद्ध न करने का समझौता अवश्य ही एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समझौता है और यह संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की भावनाओं के पूर्णतया अनुकूल है। संसार के सभी शान्तिप्रिय राजनीतिज्ञों

ने इस समझौते का स्वागत किया। श्री ब्रेझनेव और श्री निक्सन के शिखर सम्मेलन की इस उपलब्धि को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक सम्मेलन में अभूतपूर्व सफलता मिली है। सोवियत रूस और अमेरिका दोनों ही संसार के प्रथम श्रेणी के सर्वशक्तिमान देश हैं और उनके सम्बन्धों में सुधार हो जाने की सम्भावना बढ़ गई है। और यह आशा हो चली है कि समस्त मानवजाति को महायुद्धों की विकराल विभीषिका का सामना नहीं करना पड़ेगा। यही नहीं दोनों देशों का यह दृढ़ निश्चय कि वह अन्य देशों को भी परमाणु युद्ध रोकने के लिये बाध्य करेंगे, इस बात का द्योतक है कि अमेरिका और रूस दोनों ही तृतीय विश्वयुद्ध की आशंका से चिंतित रहे हैं। अब निश्चय ही इस प्रकार के कार्य हागे कि कहीं पर भी परमाणु शक्ति का प्रयोग विध्वंसकारी कार्यों में न किया जाय। संसार के सभी देशों की जनता ने इस समझौते का स्वागत किया। वियतनाम समस्या और पश्चिमी एशिया की समस्या को लेकर जो तनातनी का वातावरण बना हुआ था परमाणु युद्ध की जो आशंका बनी हुई थी वह इस समझौते के फलस्वरूप कम हो गई है, इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं है।

समझौते की सफलता में आशंका—इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं है कि रूस और अमेरिका के मध्य परमाणु युद्ध न करने और अन्य देशों के समस्त मानव जाति के लिये एक वरदान सिद्ध हो सकता है यदि सभी राष्ट्र इसका हृदय से स्वागत करें। परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि इधर कुछ दिनों से फ्रांस और चीन में जो कुछ हो रहा है उससे समझौते की सफलता पर आशंका होने लगी है। विश्व न्यायालय ने आस्ट्रेलिया की ओर से दायर मुकदमे पर फैसला देते हुए फ्रांस की प्रशांत महासागर में अपना परमाणु परीक्षण न करने का निर्देश दिया परन्तु फ्रांस ने इस निर्देश को ठुकरा दिया। चीन भी अणु बमों का परीक्षण निरन्तर करता आ रहा है और उसने इस प्रकार के किसी भी समझौते पर किसी देश के साथ हस्ताक्षर नहीं किये हैं। इन दोनों के रवैये से ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं यह समझौता कागजी समझौता न बनकर रह जाय। यह ठीक है कि रूस और अमेरिका इधर कुछ वर्षों से एक दूसरे के निकट आये हैं परन्तु अमेरिका और चीन के संबंध भी सुधरे हैं, इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं। फ्रांस तो पहले से ही अमेरिका के साथ एक गुट में था। इस स्थिति में यह आशंका होती है कि कहीं दोनों महाशक्तियाँ गुटबाजी के चक्कर में आकर इस समझौते को पुनः निरस्त न कर दें। यह आशंका अवश्य है परन्तु यह अधिक चिन्ता का विषय नहीं है। विश्व का जनमत अब जाग गया है। संसार के देशों में शांति के लिये आवाजें उठाई जा रही हैं और एक बार शांति का यह समझौता कर लेने के बाद विश्व जनमत के भय से कदाचित यह दोनों शक्तियाँ इस प्रकार का कदम उठाने का साहस नहीं करेंगी। साथ ही फ्रांस और चीन की जो भर्त्सना हो रही है वह भी इस बात की साक्षी है कि अब वह समय नहीं रहा कि आयुधों की दौड़ में संसार का जनमत चुप होकर बैठा रहे। फिर भी यह अवश्य स्वीकार किया जायेगा कि इन दो राष्ट्रों के क्रिया-कलापों से समझौते के सम्बन्ध में कुछ आशंका अवश्य उत्पन्न कर दी हैं।

समझौते के बाद किये जाने वाले कार्य—रूस और अमेरिका ने जिस ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किये हैं उसके महत्व को कम करना किसी भी स्थिति में उचित नहीं है। यह एक अवश्य ही अच्छी दशा में उठाया गया अच्छा

कदम है। परन्तु इस समझौते पर हस्ताक्षर-मात्र से विश्व युद्ध की आशंका को समाप्त नहीं किया जा सकता। जैसा कि हमने पहले ही उल्लेख किया है कि सभी देशों को अणु शस्त्रास्त्रों की दौड़ से दूर रहना चाहिए। फ्रान्स और चीन को इस सम्बन्ध में अपनी नीति पर पुनर्विचार करना चाहिए। साथ ही विभिन्न देशों में अमेरिका और रूस जो अपने शस्त्रास्त्रों को भेज रहे हैं, उनको इस नीति को छोड़ देना चाहिए। संसार में तनातनी कम करने के लिए आवश्यक है कि बड़े देश छोटे देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करें अमेरिका बहुत बड़ी मात्रा में ईरान, सऊदी अरेबिया, जार्डन, तर्की, पाकिस्तान और इजराइल आदि को शस्त्रास्त्र देता है। इन शस्त्रास्त्रों की जखीरेबाजी महज प्रदर्शनी लगाने के लिए नहीं की जाती वरन् इनके फलस्वरूप आस-पास के देशों में उत्तेजना का वातावरण बना रहता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस परम्परा को समाप्त किया जाय। दो विश्व शक्तियों ने आपस में अणु युद्ध न करने के लिए जो समझौता किया है वही पर्याप्त नहीं है। उन्हें यह भी निश्चय करना चाहिए कि वे किसी भी अन्य देश के आन्तरिक मामलों में किसी भी प्रकार का कोई भी हस्तक्षेप नहीं करेंगे और अपने शस्त्रास्त्रों के बल पर दूसरे देशों को दबाये रखने का प्रयास नहीं करेंगे एवं संसार के पिछड़े देशों के आर्थिक विकास की दिशा में पूरे जी जान से जुट जायेंगे। यदि दोनों देश सचमुच विश्व-शान्ति के संकल्प पर दृढ़ रहें तो निश्चय ही संसार के सभी देशों में विशेष रूप से विकासशील देशों में आर्थिक विकास की गति को तेज किया जा सके और समस्त ससार से गरीबी दूर करने के अभियान को भलीभांति चलाया जा सके।

उपसंहार—रूस और अमेरिका के मध्य अणु आयुधों का प्रयोग न करने से सम्बन्धित समझौता विश्व-शान्ति को दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है और इसके महत्व को किसी भी स्थिति में कम नहीं किया जा सकता। परन्तु अब आवश्यकता इस बात की है कि ऊपरी दिखावों को छोड़कर संसार के सभी देशों के लोग हृदय से एक दूसरे के साथ मिल जायें इसमें अमेरिका ओर रूस आदि बड़े देशों का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व निभाना है यदि वे राजनीतिक गुटबन्दियों से ऊपर उठकर समस्त मानव-मात्र के कल्याण की दिशा में अग्रसर हों तो निश्चय ही वे सब के हृदयों पर राज्य कर सकते हैं। दोनों अत्यन्त समृद्ध देश हैं और सत्य तो यह है कि शस्त्राओं पर व्यय किये जाने वाली धनराशि में से यदि आधी धनराशि भी वे पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास के लिये दे दें तो मानव-जाति का बहुत बड़ा कल्याण हो सकता है। विश्वास है कि इस ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर करते समय जो सद्बुद्धि दोनों देशों के राष्ट्रपतियों में जागृत हुई है वह बनी रहेगी और वे निश्चय ही मानव-कल्याण की दिशा में अग्रसर होंगे। यदि यह कार्य नहीं किया जाता तो दोनों देशों के प्रयास अधूरे ही माने जायेंगे।

१३६. भारत एक आणविक-शक्ति के रूप में

१—भूमिका, २—अणुशक्ति वाले विभिन्न देश, ३—भारत द्वारा आणविक शक्ति के विकास का प्रयास, ४—प्रथम आणविक विस्फोट, ५—आणविक विस्फोट का महत्व, ६—अणु विस्फोट पर विभिन्न प्रतिक्रियाएँ, ७—आणविक शक्ति के क्षेत्र में भारत का भविष्य, ८—उपसंहार।

भूमिका—आधुनिक युग परमाणु-युग है । सर्वत्र अणुशक्ति की चर्चा है । सबसे पहले अमेरिका ने जापान के दो नगरों हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराकर अपनी परमाणु शक्ति का परिचय दिया । हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराकर द्वितीय महायुद्ध में विजय प्राप्त कर अमेरिका ऐसा राष्ट्र बन गया जिसकी ओर सभी देशों की निगाहें लग गईं । आधुनिक युग में स्थिति यह है कि विभिन्न देशों में अणुशक्ति के विकास की होड़ सी लगी हुई है । इस अणुशक्ति का प्रयोग केवल विध्वंसकारी कार्यों में ही नहीं बल्कि शान्तिमय कार्यों में भी किया जाता है ।

अणुशक्ति वाले विभिन्न देश—अमेरिका द्वारा अणु-शक्ति का जो विकास हुआ उसकी दौड़ में अनेक देश चल पड़े । सोवियत रूस अमेरिका से बाजी मारने का प्रयास करने लगा । आधुनिक युग में कई देश ऐसे हैं जहाँ अणुशक्ति का विकास हो चुका है । इन देशों में अमेरिका, सोवियत रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं । इन सभी देशों में अणु-शक्ति के विकास की होड़ लगी हुई है और सभी एक दूसरे से आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं । अणु-शक्ति के विकास के फलस्वरूप इन देशों ने ऐसे शस्त्रास्त्र तैयार कर लिये हैं कि आधुनिक संसार ऐसे ज्वालामुखी पर बैठा है जिसमें यदि जरा सी भी आग लग गई तो समस्त संसार ही नष्ट हो जायेगा । परन्तु जहाँ अणुशक्ति का यह विध्वसकारी रूप है वहाँ उसके अनेक लाभ भी हैं । इस अणु-शक्ति का प्रयोग मानव-जाति के उत्थान में भी किया जा रहा है । अणुसंचालित बिजली-घरों द्वारा सभी स्थानों पर रोशनी की जा रही है तथा बड़ी-बड़ी मशीनें निरन्तर कार्य कर रही हैं । यह अणुशक्ति का ही परिणाम है कि संसार के अणुशक्ति वाले देश संसार के विभिन्न देशों में अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाये हुए हैं । संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के ये अणुशक्ति वाले पाँच देश स्थायी सदस्य हैं और संसार में अपनी मान-मर्यादा अलग से बनाये हुए हैं ।

भारत द्वारा आणविक शक्ति के विकास का प्रयास—भारत एक शांतिप्रिय देश है और वह सदैव ही परमाणु बमों के निर्माण एवं शस्त्रास्त्र की दौड़ का विरोधी रहा है । संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य स्थानों में उसने यह घोषणा की है कि शस्त्रास्त्र मानव-जाति के लिए कलंक बने हुए हैं और उन्हें नष्ट कर देना ही उचित है । उसका कथन है कि आणविक शक्ति का प्रयोग शान्तिप्रिय कार्यों में ही किया जाना चाहिए । यदि आणविक शक्ति संसार से गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी आदि को दूर करने में सफल होती है तब तो इसका महत्व है अन्यथा नहीं । इन शान्तिप्रिय कार्यों में अणुशक्ति के प्रयोग में भारत निरन्तर प्रयास करता रहा है । भारत में एक अणुशक्ति आयोग का भी गठन किया गया है जिसका उद्देश्य इस देश में अणुशक्ति का विकास कर उसे शान्तिमय कार्यों में लगाना है । पिछले दो वर्षों से भारत सरकार संसद और उसके सलाहकारों समितियों में बराबर यह वक्तव्य दे रही थी कि अणुशक्ति आयोग अणु का शान्तिपूर्ण प्रयोग—जैसे पृथ्वी से यूरेनियम और ताँबा जैसे खनिजों को निकालने का अध्ययन कर रहा है । भाभा अणु अनुसंधान केन्द्र इस क्षेत्र में निरन्तर प्रयत्नशील रहा है और काफी समय से इस देश में अणुशक्ति के विकास का प्रयास होता रहा है ।

प्रथम सफल आणविक विस्फोट—१८ मई, १९७४ का दिन भारत के वैज्ञा-

निक इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा। इस दिन भारत ने शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए पहला सफल आणविक विस्फोट किया और इसके साथ ही वह विश्व के अणुशक्ति वाले देशों की श्रेणी में आ गया।

आणविक परीक्षण पृथ्वी के अन्दर सौ से अधिक मीटर की गहराई में किया गया। घोषणा में यद्यपि परीक्षण स्थल का नाम नहीं लिया गया है किन्तु ऐसे संकेत मिले कि यह विस्फोट राजस्थान में किसी स्थान पर प्रातः ८·०५ पर किया गया।

आणविक विस्फोट के इस सफल परीक्षण की सूचना अणुशक्ति आयोग ने सर्वप्रथम प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को, जो अणुशक्ति मामलों की मंत्री भी थी दी जो मंत्रिमण्डल की राजनीतिक मामलों की समिति की बैठक में भाग ले रही थीं। उन्होंने तत्काल पहले तो इस समिति को और बाद को पूरे मंत्रिमण्डल को देश की इस ऐतिहासिक उपलब्धि से अवगत कराया।

अणुशक्ति आयोग की घोषणा के अनुसार यह परीक्षण आणविक विस्फोट के जरिये उत्खनन और मिट्टी खिसकाने का कार्य कर सकने के प्रयासों की एक कड़ी है।

घोषणा में स्पष्ट कहा गया है कि इस सफलता का प्रयोग आणविक बम बनाने के लिए नहीं किया जायेगा। परन्तु, उसमें यह संकेत अवश्य जरूर किया गया है शान्तिपूर्ण अणु विस्फोट और आणविक बमों के उत्पादन की प्रक्रिया में कोई फर्क नहीं है।

सहसा आणविक विस्फोट का समाचार पाकर देश भर में हर्ष की लहर दौड़ गयी। विशेषज्ञों के दल ने हेलीकोप्टर पर सवार होकर १० मीटर की ऊँचाई से परीक्षण स्थल का हवाई सर्वेक्षण किया और पाया कि वहाँ कोई महत्वपूर्ण विकिरण नहीं है। विस्फोट के ४ घण्टे बाद भाभा अणु अनुसंधान केन्द्र के निदेशक डा० रमन्ना के नेतृत्व में वैज्ञानिकों का एक दल परीक्षण के मुख्य स्थल से करीब २०० मीटर दूर क्षेत्र में पहुँचा और परीक्षण का समाचार देने वाली व्यवस्था की जाँच की।

आणविक शक्ति विभाग ने परीक्षण के विभिन्न पहलुओं को जिसमें विकिरण भूकम्प सम्बन्धी प्रभाव और दबाव शामिल है ज्ञात करने के लिए अनेक सचल दलों का तैनात कर रखा है।

यह आणविक आविष्कार अतः विस्फोट की टेक्नीक से प्लूटोनियम से बनाया गया है। भारतीय अणुशक्ति आयोग के चेयरमैन डा० एच० एन० सेठना ने पत्रकारों को बताया कि परीक्षण प्रारम्भिक दृष्टि ये पूरी तरह सफल रहा लेकिन विस्तृत विवरण बाद में ज्ञात हो सकेगा।

उन्होंने कहा कि यह परीक्षण पूरी तरह भारतीय था तथा इसमें केवल भारतीय सामान का ही प्रयोग किया गया था। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों के अन्दर ही अणुविस्फोट किया है। यद्यपि उसने १६६१ में मास्को में हुई परीक्षण विरोधी सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे लेकिन अणु-प्रसार विरोधी सन्धि पर उसने हस्ताक्षर नहीं किये थे।

शान्तिपूर्ण अणुविस्फोट को सूचना भारतीय अणु शक्ति आयोग ने बिना किन्हीं विवरण के १ बजे दोपहर को जारी की। शाम को डा० सेठना और डा० रमन्ना ने

जल्दी में बुलाये गये संवाददाताओं को इस विस्फोट के बारे में कुछ विवरण बताया। भारत ने जिस अणु आविष्कार का विस्फोट किया वह आकार में उस अणु बम से कुछ छोटा था जो १९४४ ई० में हिरोशिमा पर गिराया गया था। हिरोशिमा वाले बम का आकार करीब २२ किलो टन था। यही आकार चीन के बम का भी था जिसका उसने पहला विस्फोट १९६४ ई० में किया था। भारतीय अणु आविष्कार का आकार १० और १५ किलो टन के बीच में है।

आणविक विस्फोट का महत्व—भारत ने जो सफल भूगर्भीय आणविक विस्फोट किया उसका अत्यधिक महत्व है। अब भारत की इस क्षेत्र में संसार में अन्य देशों का मुँह नहीं देखना पड़ेगा। यद्यपि यह ठीक है कि भारत ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी है कि वह अपने अणु-शक्ति का विकास बमों आदि के निर्माण में नहीं करेगा परन्तु संसार के वे राष्ट्र जो इन अस्त्रों को रखने के कारण भारत को निरन्तर चुनौती दे रहे हैं, अब ऐसा करने का साहस नहीं कर सकेंगे। अपने आणविक शक्ति का प्रयोग भारत शान्तिमय कार्यों में करेगा। अणुशक्ति द्वारा संचालित बिजलीघरों के द्वारा भारत के गाँव-गाँव में बिजली पहुँच सकेगी ऐसा हमारा विश्वास है। खनिजों को निकालने और अन्य शान्तिपूर्ण कार्यों को सम्पन्न करने में यह प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होगा इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं है।

अणु विस्फोट पर विभिन्न प्रतिक्रियाएँ—भारत द्वारा जो विस्फोट किया गया उस पर देश-विदेश में अनेक प्रतिक्रियाएँ हुईं। देश की जनता खुशी से नाच उठी। दिल्ली में सार्वजनिक सभा में विस्फोट की जानकारी जब जनता को दी गई तो वह करतल ध्वनि से नाच उठी। भारतीय वैज्ञानिकों को इस महान सफलता के लिए उत्साहपूर्वक बधाइयाँ दी गईं। ससद सदस्यों, राजनीतिज्ञों, बुद्धिजीवियों और आम जनता ने इस समाचार का स्वागत किया। भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने इस सफल विस्फोट पर टिप्पणी करते हुये कहा कि वैज्ञानिकों का अनुसंधान और विकास के क्षेत्र में यह महत्वपूर्ण कदम है। प्रधान मन्त्री ने पुन: इस बात को दोहराया कि परमाणु-शक्ति का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए ही किया जायेगा। वर्तमान विदेश मंत्री श्री अटलबिहारी बाजपेयी ने कहा कि इस विस्फोट के लिए मैं परमाणु शोध कार्य में लगे भारतीय वैज्ञानिकों की भूरि-भूरि प्रशंसा करना चाहता हूँ। देश के राजनीतिक नेतृत्व को अब तय करना है कि वह आणविक अस्त्र बनायेगा या नहीं। सोशलिस्ट पार्टी के महा-मन्त्री श्री सुरेन्द्र मोहन ने कहा कि भारतीय वैज्ञानिकों को उनके इस कार्य के लिए बहुत-बहुत बधाई। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्री ए० के० गोपालन ने विश्वास व्यक्त किया कि भारत परमाणु शक्ति का प्रयोग केवल शान्ति के लिए ही करेगा। सोसलिस्ट नेता श्री एन० जी० गोरे ने कहा कि इस अन्तर्विस्फोट से देश को नई उपलब्धियाँ होंगी।

संसार के अन्य देशों में भी भारत के परमाणु विस्फोट के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार व्यक्त किये गये। लन्दन के बी० बी० सी० ने कहा कि भारत इस विस्फोट के बाद विश्व का छठा अणुशक्ति वाला देश बन गया है। उसने कहा कि इससे भारत ने अपनी प्रतिष्ठा बढ़ा ली है। रेडियो आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैण्ड, वायस ऑफ अमेरिका आदि ने भी अपने प्रसारणों में भारत में अणु विस्फोट को प्रथम

स्थान दिया। जापान ने परमाणु विस्फोट के प्रति विरोध प्रकट किया परन्तु और आशा व्यक्त की कि यह भारतीय भूखण्ड के राष्ट्रों के मध्य समझौते में बाधक सिद्ध न होगा। सोवियत समाचार समिति 'तास' ने भारत द्वारा परमाणु विस्फोट के समाचार को तत्काल प्रसारित किया और इस बात पर बल दिया कि यह विस्फोट शान्तिपूर्ण उद्देश्यों से ही किया गया है। कनाडा ने भारत द्वारा अणु-विस्फोट की निन्दा की और साथ ही यह भी कहा कि इस क्षेत्र में भारत को जो सहायता कनाडा दे रहा था वह समाप्त कर दी जायेगी। भारत में जो आणविक विस्फोट हुआ उसकी सबसे तीखी प्रतिक्रिया पाकिस्तान में हुई। पाकिस्तान ने इस विस्फोट की अत्यन्त कड़ी निन्दा की और कहा कि इससे इस भूखण्ड की शान्ति को खतरा उत्पन्न हो गया। उसने अमेरिका से अपने देश में अणुशक्ति के विकास में सहायता देने के लिए कहा। पाकिस्तान ने भारत से चलने वाली वार्ता को भी भंग कर दिया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ भारत और उसके मित्र राष्ट्रों में इस अणु-विस्फोट के फलस्वरूप प्रसन्नता की लहर दौड़ गई वहाँ संसार के ऐसे राष्ट्र भी हैं जो भारत के इस प्रयोग पर इस दृष्टि से संदेह कर रहे हैं कि कहीं भारत भी परमाणु बमों की दौड़ में सम्मिलित न हो जाय। कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जो हमारी प्रगति से डाह कर रहे हैं। यही कारण है कि भू० पू० प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कहा कि मैं स्पष्ट शब्दों में घोषणा करना चाहती हूँ कि भारत अपनी अणु-शक्ति का प्रयोग विध्वंसकारी कार्यों में कभी नहीं करेगा, परन्तु जो देश हमें यह कहकर सहायता नहीं देना चाहते हैं कि हमारे यहाँ अणुशक्ति का विकास हो गया है, उनकी रवैया उचित नहीं है। किसी प्रगतिशील देश को इसलिए सहायता न देना कि उसने कुछ प्रगति कर ली है उसके साथ विश्वासघात करना है।

आणविक शक्ति के क्षेत्र में भारत का भविष्य—संसार के विभिन्न देश भारत के विस्फोट पर अपनी चाहे जो कुछ प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करें उसका असर भारत पर पड़ने वाला नहीं है। यदि ससार के कुछ देश भारत को केवल इसलिए सहायता नहीं देना चाहते कि वहाँ अणु-शक्ति का विकास हो गया है तो वे भारत के प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करने का प्रयास अवश्य करेंगे, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलेगी। भारतीय वैज्ञानिकों ने अनेक बार यह घोषणा की है कि इस देश में अणु-शक्ति के विकास का भविष्य उज्ज्वल है और शीघ्र ही इस अणु-शक्ति का विकास करके हम अपने देश की गरीबी और भुखमरी आदि को दूर करने का प्रयास करेंगे। भारत में कुछ राजनीतिक दल जैसे जनसंघ आदि यह माँग करते रहे हैं कि भारत को अणु-बमों आदि के बनाने में हिचकना नहीं चाहिए और शीघ्र ही शास्त्रास्त्रों की दौड़ में सम्मिलित हो जाना चाहिए परन्तु भारत सरकार सदैव ही इसका विरोध करती रही है। भारतीय वैज्ञानिक भी यही कहते रहे हैं कि अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ लगाना उचित नहीं है। भारत जैसे गरीब परन्तु प्रगतिशील देश के लिए आर्थिक दृष्टि से भी यह उचित नहीं है कि वह अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ में सम्मिलित हो। जो राष्ट्र अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ में सम्मिलित हैं वे स्वयं इसके भयंकर परिणाम को जानते हैं और इसलिए इस दौड़ में सम्मिलित होने से कोई भी लाभ नहीं है। परन्तु इतना अवश्य कहा जायेगा कि अणु-शक्ति के विकास की दृष्टि से हमारा भविष्य उज्ज्वल है और इस सफल विस्फोट के द्वारा विश्व के राष्ट्र समुदाय में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ी है।

उपसंहार—वास्तव में संसार में अणु-शक्ति का विकास अत्यन्त आवश्यक है परन्तु इस अणु-शक्ति का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए ही किया जाना चाहिए। संसार के जो राष्ट्र इस शक्ति का प्रयोग विध्वंसकारी कार्यों के लिए करने की बात हैं वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। भारत द्वारा इस शक्ति का प्रयोग जिन शान्ति प्रिय कार्यों के लिए किया जायेगा वह संसार के अन्य देशों के लिए आदर्श बनेगा इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं है। भारत सदैव से ही विश्व-शान्ति और सह-अस्तित्व का समर्थक रहा है और हमारा पूर्ण विश्वास है कि उसका यह सफल प्रयोग भी इस दिशा में सहायक ही सिद्ध होगा, बाधक नहीं।

१४०. गाँधी-विचार की आधुनिक युग में व्यावहारिक उपयोगिता

आज समस्त विश्व गाँधीजी के सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान कर रहा है और उनकी जन्म शताब्दी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाई जा रही है। परन्तु हम गाँधीजी के सिद्धान्तों को ठीक प्रकार से नहीं समझ पा रहे हैं, इतना ही नहीं हम उनके प्रति शंकालु और सन्देहशील होकर यहाँ तक कह बैठते हैं कि गाँधी-विचारधारा को गहरे गड्ढे में सदा सर्वदा के लिए गाड़ देना चाहिए। लोगों का कहना है कि गाँधी-विचार द्वारा समाज का न अब तक कुछ भला हो सका है और न भविष्य में उसके द्वारा कुछ भला होने की सम्भावना है। इसी मनोवृत्ति को लक्ष्य करते हुए यह लोकोक्ति चल पड़ी है कि—मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी है।

गाँधीवादी विचारधारा को ठीक तरह से समझने का प्रयत्न बहुत कम लोगों ने किया। भारतवर्ष में तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इनके प्रति उपेक्षा का वातावरण ही बन गया है और उसको व्यवहार में लाने का बहुत कम प्रयत्न किया गया है। गाँधीवाद हमें जीवन के कुछ मूल्य ही नहीं देता है, बल्कि व्यावहारिक जीवन का तर्कपूर्ण एवं न्यायसंगत मार्ग भी बताता है। उसको अपनाना या न अपनाना हमारे ऊपर निर्भर है।

अन्य जीवन दर्शन परिधि से केन्द्र की ओर जाना चाहते हैं जबकि गाँधीवादी जीवन केन्द्र से परिधि की ओर जाता है। अर्थात् उसकी मान्यता यह है कि समाज को सुखी बनाने के लिए व्यक्ति को सुखी बनाना होगा। सुखी होने के लिए व्यक्ति को अपना सुधार अथवा आत्म-विकास करना होगा। व्यक्ति के विकास को ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने 'सत्य और अहिंसा' पर आधारित अपने जीवन दर्शन-गाँधीवाद का प्रतिपादन किया था।

भय से मुक्ति और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए मानव सदा संघर्ष करता चला आया है। गाँधीवाद भय से मुक्ति और मानसिक स्वतन्त्रता का सन्देश देता है।

गाँधीवाद सत्यानुभव पर आधारित है और जीवनमात्र में शुद्ध-बुद्धि आत्मा का दर्शन करता है और जीवन में आध्यात्मिकता एवं नैतिकता को सब कुछ मानता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी 'सत्य' है और उसको जीवन में ढालना उसका धर्म है। सत्यानुभूति पर आधारित आचरण का नाम 'अहिंसा' है। इस प्रकार गाँधीवाद हमको निर्भय होकर धर्माचरण का सन्देश देता है। हम यदि यह समझते हैं कि विश्व में सत्य-अहिंसा, प्रेम, अपरिग्रह, मैत्री, मानवता आदि उदात्त गुणों की आवश्यकता है

तो हम सहज ही यह स्वीकार करते हैं कि विश्व को गाँधीवाद की आवश्यकता है और उसका भविष्य सर्वथा उज्ज्वल है।

विपक्षी में आत्म-तत्व का दर्शन करके सर्वथा सद्भावनापूर्ण बना रहना साधना का विषय है। यह साधना कायरों का नहीं, कष्ट सहिष्णु वीरों का धर्म है। अन्त तक कष्टों को हँसते हुए झेलते रहना और मन को मैला न होने देना सच्ची वीरता है। इसी कारण गाँधीजी प्रायः कहा करते थे कि सत्याग्रही की कभी हार नहीं होती है। अहिंसा और कायरता का कोई मेल नहीं, सच्ची अहिसा युद्ध निर्माता के बिना असम्भव है। विध्वंसकारी एटम बम्ब के युग में जबकि युद्ध का दानव अपनी चरम सीमा को प्राप्त हो चुका है, विश्व वंद्य बापू का सत्य-अहिंसा का सन्देश ही हमें शान्ति प्रदान करता है और यही मार्ग विश्व-मानव को भयमुक्त कर सकता है। गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सत्य-अहिंसा के मार्ग पर चल कर हम न्यूक्लिअर अस्त्रों और उनके कुप्रभावो के भय से मुक्त हो सकते हैं। गाँधीजी की अहिंसा के बिना लोकतन्त्र की सुरक्षा असम्भव है। सत्य और अहिसा से रहित लोकतन्त्र का भविष्य सर्वथा सुरक्षित ही समझना चाहिए। इसी सत्य एवं अहिंसा के मार्ग पर चलने वाले नीग्रो गाँधी मार्टन लुथर किंग नीग्रो समाज को अधिकार दिलाने में सफल हुए थे—भले ही वह स्वयं इस प्रयत्न में शहीद हो गए। उनका यह विश्वास आज भी अमर है—
"We shall overcome some day."

अणुबम के इस युग में लोग गाँधीजी की अहिंसा को सशंक दृष्टि से देखने लगते हैं। मेरा विचार है कि वे यदि अहिंसा शब्द की व्यापकता को समझने का प्रयत्न करें, तो वे निराश नहीं होंगे। अहिंसा जीव हिंसा अथवा माँस भक्षण तक सीमित नहीं है। अहिंसा का अर्थ है हम मन, वचन अथवा कर्म द्वारा किसी को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाएँ। हम मन से किसी का अहित न सोचें, वाणी द्वारा किसी। से कोई अप्रिय बात न कहें तथा हाथ-पाँव द्वारा किसी को शारीरिक कष्ट न पहुँचाएँ में ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो एक ऐसे समाज की स्थापना न करना चाहेगा जिस सब लोग परस्पर प्रेम-प्रीति का व्यवहार करें और किसी को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाएँ।

अत्यधिक वैज्ञानिक उन्नति एवं सुख-सुविधाओं के साधनों को देखकर हम भारतवासी भ्रमित हो गए हैं, वैज्ञानिक चकाचौंध को देखकर हम समझने लगे हैं कि भौतिक विकास ही सब कुछ है। परन्तु यदि हम उन देशों की ओर देखें जिन्हें हम उन्नत और विकासशील मानते हैं तो हमारी समझ में आ जाए कि भौतिकवाद हमको सुख-शान्ति नहीं दे सकता है। आजकल अमरीका में हमें भौतिक उन्नति चरम सीमा पर दिखाई देती है। वहाँ की आधुनिक सभ्यता का विकास प्रायः हमारी ईर्ष्या का विषय बन चुका है। वहाँ की 'Press button civilizations' को देखकर हम अमरीका को आदर्श देश और वहाँ की सभ्यता को आदर्श सभ्यता मानने लगे हैं। परन्तु हम भूल जाते हैं कि वहाँ के निवासी अपने जीवन में एक प्रकार की घुटन और बेचैनी अनुभव करने लगे हैं। वहाँ के जागरूक व्यक्तियों का एक बहुत बड़ा वर्ग इसके विरुद्ध विद्रोह कर उठा है। बीटल्स, बीट्निक्स, हिप्पीज, हरे राम हरे कृष्ण आदि आंदोलन इसी असंतोष एवं विद्रोह को प्रकट करते हैं। इन्हें देखकर हम सहज ही समझ सकते हैं कि मानव के लिए भौतिक सुख-समृद्धि ही सब कुछ नहीं है, वह इसके

अतिरिक्त भी कुछ चाहता है, और यह है आत्मिक-सुख संतोष। गाँधीवादी चिन्तन हमें सहज रूप से आत्मिक-सुख और शांति प्रदान करता है। अतः यह स्पष्ट है कि आज के वैज्ञानिक और भौतिकता प्रधान युग में गाँधीवाद की जैसी आवश्यकता है वैसी पहले कभी नहीं थी।

गाँधीजी ने राजनीति में नैतिकता का समावेश किया और हृदय परिवर्तन द्वारा शत्रु पर विजय प्राप्त करने की नीति अपनाई। उन्होंने अंग्रेजों के प्रति अहिंसा का व्यवहार करते हुए उनका विरोध किया। यह एक ऐसा प्रयोग था जिसको देखकर विश्व चकित है। गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सत्य को अपनाकर हम समस्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को शीघ्र ही सुलझा सकते हैं। यदि विश्व-मानव सत्य के मार्ग पर चले तो विभिन्न देशों में होने वाले संघर्षो की उग्रता बहुत कुछ अपने आप कम हो जाए और वसुधैव कुटुम्बकम का स्वप्न साकार प्रतीत होता हुआ दिखाई देने लगे।

सत्य और अहिंसा पर आधारित गाँधीजी का शासनतन्त्र राम राज्य की स्थापना का स्वप्पन देखता है। उनकी मान्यता थी कि "That governmet is the best which governs the least." आधुनिक राजनीति की शब्दावली में जिसे कल्याणकारी राज्य (welfare state) कहते हैं, वही गाँधीवाद का राम राज्य है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त होंगी, सब सुख-संतोषपूर्वक रहेंगे और परस्पर प्रेम व्यवहार का जीवन व्यतीत करेंगे। शासक और शासिदल अपने दृष्टिकोण में थोड़ा सा परिवर्तन करके सर्वकल्याणकारी समाज की सहज ही स्थापना कर सकते हैं। इसी आदर्श को व्यावहारिक रूप देने के लिए गाँधीजी ने सर्वोदय आन्दोलन चलाया था। व्यक्ति और समाज की सर्वतोमुखी उन्नति ही सर्वोदय है। सर्वोदय का अर्थ है सप्त प्रकार की उन्नति—स्वास्थ्य, सम्पत्ति, साहित्य, सभ्यता, संस्कृति, सद्बुद्धि और सद्भावना। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो इस प्रकार सप्तपर्णी उन्नति की कामना नहीं करेगा, ऐसा कौन सा देश अथवा काल होगा जब सर्वोदयी सुख-समृद्धि को स्पृहा की दृष्टि से नहीं देखा जाएगा?

आज अनेक देशों में मद्य-निषेध एवं जीवहिंसा के विरुद्ध आन्दोलन हो रहे हैं। मद्य-निषेध सम्बन्धी कानून लागू किए जा रहे हैं, तथा इन आन्दोलनों के प्रति विश्वास उत्पन्न करने के लिए सत्याग्रह द्वारा हृदय परिवर्तन का मार्ग अपनाया जा रहा है। लन्दन में 'School of nonviolence' के निर्देशक और प्रसिद्ध गाँधीवादी विद्वान रेवरेन्ड कालेन हैजैट्स मद्य निषेध के लिए सराहनीय कार्य कर रहे हैं। उनका कहना है कि "तीस-तीस वर्ष से अभ्यस्त शराबियों को दो वर्ष में मद्य-निषेधी बना देना अहिंसा से ही सम्भव है।" दुनियाँ के लोगों को विश्वास हो चला है कि हिंसा के द्वारा प्राप्त अधिकार और स्वतन्त्रता अस्थायी रहते हैं और वे प्रतिशोध की भावना उत्पन्न करते हैं। परन्तु अहिंसा एवं हृदय परिवर्तन द्वारा प्राप्त किए जाने पर वे ही स्थायी बन जाते हैं और परस्पर मैत्री-भाव उत्पन्न करते हैं।

अर्थशास्त्र में भी उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार आर्थिक शोषण से बचने का एक ही उपाय है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को कम करे और प्रत्येक हाथ को काम मिले जिससे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति क्रम से कम परावलम्बी रह जाए।

गाँधीजी का चरखा उनकी अर्थनीति का प्रतीक है। उनका कहना था कि हमारे उद्योग मानव प्रधान होने चाहिए, न कि मशीन प्रधान। मशीनों के द्वारा उत्पादन की मात्रा तो बढ़ती है, परन्तु मानव श्रम का महत्व कम होता है। गाँधी जी चाहते थे कि मानव की कदर मानव के रूप में हो। इसी कारण वह मानव को Commercial न मान कर एक Spiritual animal मानते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि—"Today machine merely helps a few to ride on the back of million. The impetus behind it all is not the philanthropy to save labour but greed."

औद्योगिक विकेन्द्रीकरण को लक्ष्य करके उन्होंने ग्रामोत्थान का आन्दोलन चलाया और कुटीर उद्योग-धन्धों की अर्थ नीति पर बल दिया। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार उत्पादन करे तो आर्थिक शोषण और बेकारी की समस्या स्वयं हल हो जाए। जापान का उदाहरण हमारे सामने है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन करता है, परिणाम यह हुआ है कि जापान स्वयं भी समृद्ध हो गया और औद्योगिक जगत पर छा गया है।

कुछ लोग रूस के समाजवाद का उदाहरण देकर राष्ट्रीयकरण की नीति का समर्थन करते हैं। वे भूल जाते हैं कि भारतवर्ष रूस की भाँति एक कम्यूनिष्ट राष्ट्र नहीं है अतः यहाँ पर लक्ष्मण रेखाएँ खींचकर उत्पादन और विकिरण का विभाजन सम्भव नहीं है। और फिर हमें यह भी जान लेना चाहिए कि रूस के शासक ने साइबेरिया में बेगार लेने वाले अनेक कैम्प खोल रखे हैं जिनमें आदमियों के साथ आनवरों से भी अधिक बुरा व्यवहार हो रहा है। गाँधीजी का समाजवाद वस्तुतः भारतवर्ष के ऋषियों द्वारा प्रतिपादित समाजधर्म का ही एक नवीन संस्करण है, जिसमें पूँजीपति सम्पत्ति का स्वामी न होकर संरक्षक मात्र हो। गाँधी जी के अर्थ शास्त्र में प्रत्येक प्राणी के पूर्ण हित का ध्यान रखा जाता है जबकि आधुनिक युग के श्रेष्ठतम अर्थशास्त्रीय greatest good of the greatest number की सीमा से आगे नहीं सोच सके हैं। गाँधी जी की अर्थनीति मे सम्पत्ति और सत्ता के केन्द्रीकरण के लिए कोई स्थान नहीं है।

अन्य देशों में समाजवाद के असफल प्रयोग देखने के पश्चात् भी हमारी समझ में यह बात आ जानी चाहिए कि गाँधीजी की अर्थनीति ही सुखी समाज की रचना कर सकती है। यदि हमारा प्रत्येक गाँव आर्थिक दृष्टि से एक स्वतंत्र इकाई बन जाए और उत्पादन विकेन्द्रीकृत हो जाए तो वर्ग संघर्ष, हड़ताल, तालेबन्दी, मुकद्दमेबाजी आदि के अभिशापों से हमारा सहज छुटकारा हो जाये। इसी आधार पर गाँधी जी ग्राम-पंचायतों को शक्तिशाली बनाना चाहते थे। वह चाहते थे कि गाँव की समस्याएँ गाँव वालों द्वारा गाँव में निबटा देनी चाहिये।

गाँधी जी के आदर्श पर चल कर हम विभिन्नता में अभिन्नता का दर्शन करके एकता के सूत्र में बँधे रह सकते हैं। साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने और छूआछूत मिटाने का रास्ता हमें गाँधीवाद ने ही दिखाया है। इस दिशा में जो मार्ग दर्शन गाँधीवाद करता है, वह हमारी राष्ट्रोन्नति के लिये अत्यन्त उपयोगी है। इतना ही नहीं गाँधी जी ने समस्त धर्मों की एकता बताई और वह मूलमंत्र दिया कि धर्म व्यक्ति-

गत मामला है। इस बात पर बल देकर हम पारस्परिक मतभेदों को सहज ही दूर कर सकते हैं।

गाँधीवाद जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हृदय परिवर्तन द्वारा स्थायी विकास का मार्ग दिखाता है और मानवीय मूल्यों के आधार पर प्रत्येक समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। वह नवीन व्यक्ति और नवीन समाज के निर्माण का जीवन दर्शन है। मार्क्सवादी क्रान्ति से बचने का एक ही उपाय है कि गाँधीवाद विकासशील क्रान्ति का मार्ग अपनाएँ।

मानव एकता एवं समानता का संदेश देने वाली गाँधीवादी चिन्तन पद्धति आधुनिक युग में हमारे कल्याण का मार्ग प्रस्तुत करती है। यदि हम वास्तविकता की दृष्टि से देखें तो इस तथ्य में किसी को संदेह नहीं होगा कि गाँधी जी के सिद्धांतों एवं आदर्शों के पालन में ही विश्वहित निहित है।

●

१४१. भारतीय बेरोजगारी और उसका निवारण

१—भूमिका, २—बेरोजगारी के कारण, ३—बेकारी को दूर करने के महत्वपूर्ण सुझाव, ४—बेरोजगारी को दूर करने हेतु पंचवर्षीय योजनाओं में उठाये गये कदम, ५—उपसंहार।

भूमिका—भारत में बेरोजगारी की समस्या एक भीषण समस्या है। यद्यपि यह समस्या काफी पुरानी है परन्तु गत कुछ वर्षों से इसने अत्यन्त ही गम्भीर रूप धारण कर लिया है। दूसरे महायुद्ध के काल में श्रम सेवा की माँग बढ़ने के फलस्वरूप यह समस्या अस्थामी रूप से समाप्त हो गयी थी परन्तु युद्धोतर काल में यह निरन्तर विकट रूप धारण करती गई। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की योजनाओं और विकास कार्यक्रमों को अपनाने के बाद भी बेरोजगारी की समस्या हल नहीं हुई है। यद्यपि इन योजनाओं में काफी व्यक्तियों को रोजगार दिया गया परन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या के फलस्वरूप बेरोजगारी की समस्या का निवारण न हो सका।

भारत में बेरोजगारी के दो पहलू हैं। बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो पूर्ण रूप से बेकार हैं परन्तु बहुत से ऐसे हैं जो वर्ष के अधिकांश भाग में बेकार रहते हैं। गांवों में बेकारी का स्वरूप सामान्यतया अर्द्ध बेकारी है। भारत का मुख्य उद्यम कृषि है। भारतीय किसान वर्ष में काफी दिनों तक बेकार बैठा रहता है। दूसरी ओर शहरों में अर्द्ध बेकारी के स्थान पर पूर्ण बेकारी के भयंकर रूप के दर्शन होते हैं। आकड़ों में अभाव में ये बताना कठिन है कि भारत में कितने लोग बेकार हैं परन्तु एक अनुमान के अनुसार यह कहा जा सकता है कि इस समय देश में सभी प्रकार के बेकारों की संख्या 4 करोड़ के ऊपर होगी। बेरोजगारी की यह समस्या अत्यन्त भीषण है वास्तव में यह एक राष्ट्रीय बरबादी है और यदि इस समस्या का शीघ्र समाधान न किया गया तो हमारी सारी प्रगति धारी रह जायेगी।

बेरोजगारी के कारण—भारत में जनसंख्या की तीव्रगति से वृद्धि हो रही है बेरोजगारी का प्रमुख कारण बढ़ती हुई जनसंख्या ही है। विगत दशाब्दी में जनसंख्या की बढ़ौती 2·2 प्रतिशत रही। परिणाम यह हुआ कि पंचवर्षीय योजनाओं में रोजगार के अनेक साधन उपलब्ध होने के बाद भी बेरोजगारी की समस्या का समाधान न हो

सका। श्रीमती सचेता कृपलानी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"रोजगारी की सुविधाओं में काफी वृद्धि होने के बावजूद हम बढ़ती हुई जनसंख्या की बराबरी नहीं कर सके हैं।"

हमारे देश में प्राकृतिक साधनों की सम्पन्नता है परन्तु हम अभी तक इन साधनों का उचित उपयोग नहीं कर सके हैं जिसके परिणामस्वरूप देश की जनसंख्या को रोजगार देने के हेतु समुचित साधनों की उपलब्धि नहीं हो सकी है। ब्रिटिश सरकार की नीति के फलस्वरूप भारतीय कुटीर उद्योगों का बड़ी तीव्र गति से पतन हुआ। कुटीर उद्योगों के पतन के फलस्वरूप बहुत से दस्तकार बेकार हो गये और इनके हेतु रोजगार की सुविधा उपलब्ध नहीं हो सकी।

एक ओर जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है और दूसरी ओर हमारे औद्योगिक विकास की गति अत्यन्त मन्द हो रही है। यदि देश में औद्योगिक प्रगति की गति तीव्र होती तो बेकारी का विकराल रूप देखने को न मिलता।

हमारे देश में 75 प्रतिशत जनसंख्या आज भी कृषि पर निर्भर है। यहाँ की कृषि वर्षा पर निर्भर है। वह मानसून का जुआ है। परिणाम यह है कि हमारे कृषक वर्षा पर निर्भर हैं। 4-6 महीने बेकार बैठे रहते हैं।

बचत और विनियोग की नीची दर भी हमारे देश की बेरोजगारी की समस्या का एक प्रमुख कारण है। देश में उद्योग-धन्धों को चलाने के लिये पर्याप्त मात्रा में पूँजी का अभाव रहा है। पूँजी का यह अभाव ही बेरोजगारी का एक अन्य कारण है।

हमारे देश की वर्तमान शिक्षा प्रणाली अत्यन्त दूषित है। विद्यार्थी जो शिक्षा ग्रहण करते हैं उससे जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारी शिक्षा प्रणाली आज तक कार्यालय के कर्णिक, लिपिक उत्पन्न कर रही है। शिक्षित व्यक्ति शारीरिक श्रम से घृणा करते हैं और यही कारण है कि शिक्षित बेकारी हमारे लिये बहुत बड़ा सर दर्द बन गई है।

हमारे देश में अधिकतर श्रमिक अकुशल हैं एवं साथ ही अप्रशिक्षित भी है। कुशल श्रमिकों के अभाव के फलस्वरूप भी बेकारी की समस्या है। यदि श्रमिक कुशल हो तो बेरोजगारी की यह समस्या न रहे। अकुशल और अप्रशिक्षित श्रमिकों में बेकारी अधिक मात्रा में देखने को मिलती है।

हमारे देश में विगत कई वर्षों से वस्तुओं का उत्पादन व्यय अधिक हो गया है परन्तु उसके हिसाब से मूल्यों में वृद्धि नहीं होने पाई है। मूल्यों और लागतों में समायोजन न होने के फलस्वरूप बाजार में वस्तुओं का जमाव होता जाता है और कारखानों के मालिक कम उत्पादन करने लगते हैं। इससे श्रमिकों में बेरोजगारी बढ़ जाती है।

दूसरे महायुद्ध के बाद से खाद्य पदार्थों के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि हुई है। इस मूल्य में वृद्धि के साथ ही नागरिकों की क्रय-शक्ति दिन प्रति दिन कम होती जा रही है। जहाँ एक ओर बाजार में वस्तुओं की अधिकता है तो दूसरी ओर व्यक्तियों के पास वस्तुओं को क्रय करने के लिये पैसा नहीं है। इस बात का प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पादन और रोजगार पर पड़ता है तथा बेरोजगारी की समस्या बढ़ती जाती है।

1947 ई० में भारत का विभाजन हो जाने के परिणामस्वरूप बहुत से

शरणार्थी पाकिस्तान से भारतीय क्षेत्र में चले आये। राज्य सरकारों के सम्मुख इन शरणार्थियों को बसाने की अत्यन्त भीषण समस्या उत्पन्न हो गई है। देश की श्रम-शक्ति में वृद्धि हुई और बेकारों की संख्या बढ़ती ही गयी।

इसके अतिरिक्त हमारे देश में कुछ ऐसी प्रथाएँ हैं जी बढ़ा रही है। बहुत से व्यक्ति परिवार नियोजन को पाप समझते हैं और इस कारण जनसंख्या में वृद्धि हो जाती है और बेरोजगारों की संख्या बढ जाती है। जनसंख्या में होने वाली वृद्धि अवश्य ही बेरोजगारी का कारण बन जाती है।

बेकारी को दूर करने के महत्वपूर्ण सुझाव—भारत में बेरोजगारी को दूर करने के लिये विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न सुझाव दिये हैं। भारत में बेरोजगारी को दूर करने के लिये सबसे अधिक आवश्यक है कि जनसंख्या की वृद्धि को रोका जाय। इसके हेतु परिवार-नियोजन कार्य-क्रम को व्यापक रूप प्रदान करने की अतीव आवश्यकता है।

कृति उत्पादन में वृद्धि के हेतु या आवश्यकता है कि छोटे पैमाने पर गहरी खेती को प्रोत्साहन दिया जाय। यांत्रिक कृषि को प्रोत्साहन देने के बजाय सहकारी अच्छी खेती बेरोजगारी को समाप्त करने में अधिक सहायक सिद्ध होगी। इसके अति-रिक्त बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने के लिये देश का व्यापक स्तर पर औद्योगीकरण होना चाहिए। देश में विशाल स्तरीय उद्योगों के स्थान पर विकेन्द्रित एवं लघु उद्योगों को महत्व प्रदान किया जाना चाहिये।

बेकारी की ससस्या को दूर करने के लिये शिक्षा प्रणाली भी इस प्रकार की होनी चाहिए कि हम केवल क्लर्क ही न उत्पन्न करें बल्कि ऐसे पढ़े-लिखे व्यक्तियों को उत्पन्न करें जिनमें शारीरिक श्रम के प्रति उत्साह हो और जो अधिक से अधिक तक-निकी ज्ञान प्राप्त करने को उत्सुक हों।

बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिये राष्ट्रीय निर्माण के विभिन्न कार्यों को तेजी से किया जाना चाहिये। इन कार्यों में प्रमुख है—सड़कें बनाना, बाँध बनाना, रेल परिवहन का विकास, भू-रक्षण, भवन निर्माण आदि। इसके साथ ही भारत अभी तक शिक्षा, चिकित्सा एवं अन्य सामाजिक सेवाओं की दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ है। इन सुविधाओं का विस्तार करके देश में रोजगार के साधनों में वृद्धि की जा सकती है।

देश में घरेलू बचतों और विनियोग की दर को बढ़ाकर भी बेरोजगारी की समस्या का समाधान किया जा सकता है। इसके साथ ही हमें देश के सामाजिक ढाँचे में भी परिवर्तन करना होगा। देश में जाति-प्रथा, अल्प आयु में विवाह आदि की जो विभिन्न कुरीतियाँ हैं उनको दूर करने के हेतु हर सम्भव कदम उठाने होंगे।

बेरोजगार व्यक्तियों को पर्याप्त संख्या में काम दिलाने के लिये देश में काफी संख्या में रोजगार कार्यालयों का खोला जाना भी आवश्यक है। इन रोजगार कार्या-लयों को मालिकों और मजदूरों के बीच अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिये भी प्रयत्नशील होना चाहिये और यह ध्यान रखना चाहिए कि श्रमिक की भर्ती अन्य तरीकों से न की जाय।

पंचवर्षीय योजनाओं में बेरोजगारी को दूर करने हेतु उठाये गये कदम—भारत

में पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश का तेजी से आर्थिक विकास करके बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिये अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना का रोजगार सम्बन्धी अध्याय सुनियोजित नहीं था और बेरोजगारी की समस्याओं और उनके उपचार पर गहराई से अध्ययन नहीं किया गया था। प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ होने तक युद्धोत्तर दशाएँ विद्यमान थीं, अतएव रोजगार सम्बन्धी भीषण समस्या देखने को नही मिल रही थी। पहली पंचवर्षीय योजना में ३०९ करोड़ रुपये बेकारी को दूर करने के लिये खर्च करने का प्राविधान किया गया था।

१९५३ ई० तक युद्धोत्तर दशाएँ समाप्त होती गईं और बेरोजगारी की समस्या बढ़ती हुई प्रतीत होने लगी ११ अतएव इस वर्षा के अन्त में रोजगारी के अवसरों को बढ़ाने के लिये एक ११ सूत्री कार्यक्रम अपनाया गया, जो इस प्रकार था—सिंचाई एवं विद्युत योजना केन्द्रों के समीप प्रशिक्षण कैम्प स्थापित करना। व्यक्तियों व उनके लघु समूहों को लघु-उद्योग एवं व्यवसाय स्थापित करने में सहायता प्रदान करना। जिन कार्यों मे श्रम शक्ति का अभाव है उनमें प्रशिक्षण सुविधायें प्रदान करना।

सरकारी विभागों एवं लघु उद्योग द्वारा निर्मित माल का "स्टोर करो नीत" के अन्तर्गत खरीदना। यथासम्भव अधिक से अधिक कस्बों में व्यावसायिक स्कूलों एवं ग्रामों में एक शिक्षक स्कूल खोलने का प्रबन्ध करना। गन्दी बस्तियों के उन्मूलन एवं शहरों में अल्प आय वाले व्यक्तियों के लिये भवन निर्माण का व्यापक रूप प्रदान करना। सड़क यातायात का विस्तार करना। व्यक्तिगत भवन-निर्माण कार्यों को प्रोत्साहित करना। शरणार्थियों को बसाने के हेतु नगरों का निर्माण करना एवं सहायता देना। राष्ट्रीय प्रसार सेवा का तेजी से विस्तार करना। रोजगार के कार्यक्रमों को प्राथमिकता देना। प्रथम पंचवर्षीय योजना में 50 लाख व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से रोजगार प्राप्त हुआ परन्तु विभिन्न कार्यक्रमों को अपनाने के बावजूद भी बेकारों की संख्या में कमी नहीं हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में बेकारी की समस्या अत्यन्त विकट रूप से विद्यमान थी। पहली योजना के अंत तक 53 लाख व्यक्ति बेकार थे (20 लाख ग्रामीण क्षेत्र में और 25 लाख शहरी क्षेत्र में)। इसके साथ ही यह भी आशा थी कि 100 लाख व्यक्ति श्रम शक्ति में बढ़ेंगे। इस प्रकार इस योजना में 153 लाख व्यक्तियों के लिये काम की व्यवस्था करनी थी किन्तु योजना आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि 5 सालों की अल्प अवधि में इतने लोगों के लिये रोजगार की व्यवस्था नहीं की जा सकती। अतएव बेकारी की समस्या को पूर्णतया हल करने के लिये जनसंख्या की वृद्धि में तीव्रता से कमी का प्रयास किया जाना चाहिये। फलस्वरूप द्वितीय पंचवर्षीय योजना में जनसंख्या की वृद्धि में कमी करने के लिये भी कुछ कार्य किये गये। योजना-काल में 80 लाख व्यक्तियों को रोजगार देने की बात कही गई।

वास्तव में इस योजना में 65 लाख व्यक्तियों को रोजगार दिया गया और लगभग 90 लाख व्यक्ति बेकार रहे क्योंकि 20 लाख व्यक्ति इस योजना में अनुमान से अधिक बढ़े। अर्द्ध-रोजगार वालों की संख्या 150 से 180 लाख के बीच थी।

अनुमान था कि तृतीय योजना में श्रम शक्ति में 170 लाख व्यक्ति बढ़ेंगे इसमें

से एक तिहाई वृद्धि शहरी क्षेत्र में होगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में 90 लाख व्यक्ति बेकार थे। इस प्रकार तृतीय योजना में 260 लाख व्यक्तियों को रोजगार देना था। तीसरी योजना में १४० लाख व्यक्तियों को रोजगार देने की व्यवस्था की गई। इस बात का प्रयास किया गया कि पहले के मुकाबले रोजगार का लाभ अधिक लोगों को और समान रूप से प्राप्त हो। गावों में लघु उद्योगों का तेजी से विस्तार किया गया और गावों में निर्माण कार्यों को चालू किया गया जिसका लक्ष्य था कि २५ लाख व्यक्तियों को वर्ष में औसतन 100 दिन अवश्य काम मिले।

तृतीय योजना में बेकारी और अर्द्ध बेकारी की समस्या को हल करने के लिए अनेक कदम उठाये गये परन्तु रोजगार संबधी जो लक्ष्य थे वह पूरे न हो सके। एक अनुमान के अनुसार रोजगारों में कुछ वृद्धि हुई परन्तु जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ी उस तेजी से लोगों को रोजगार नहीं मिल सका। यह भी अनुमान है कि इस योजना के अन्त तक ८० लाख से १०० लाख तक व्यक्ति बेकार रहे। इस योजना के अन्त में अपूर्ण बेकारी वाले व्यक्तियों की संख्या लगभग १६० लाख थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के पश्चात चतुर्थ पंचवर्षीय योजना को कुछ आर्थिक कठिनाइयों के कारण स्थगित करना पड़ा और १९६६-६७, १९६७-६८ और १९६८-६९ में ३ वार्षिक योजनायें चलाई गयीं। इन वार्षिक योजनाओं में भी लोगों को रोजगार देने के लिए कुछ प्रयत्न किये गये परन्तु बेरोजगारी की समस्या का समाधान नहीं हो सका।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिये अनेक कार्यक्रम अपनाये गये। श्रमहीन कार्य-क्रमों पर काफी बल दिया गया—जैसे श्रमिक लघु सिंचाई, भू-संरक्षण और विद्युतीकरण की ओर ध्यान दिया गया। परन्तु चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में बिजली की कमी और प्रकृति के प्रतिकूल होने के फलस्वरूप वांछित सफलता प्राप्त न हो सकी। ग्रामीण रोजगार के लिये अप्रैल, १९७१ में शीघ्र-गामी योजना भी बनायी गयी। देहातों में बेकारी व अल्प रोजगार स्थिति का मुकाबला करने के लिये देश के सभी क्षेत्रों में श्रम गहन प्रोजेक्ट संचालित करने की नीति अपनायी गयी। १९७२-७३ और १९७३-७४ में इस कार्यक्रम में प्रतिवर्ष १०० करोड़ की धनराशि व्यय हेतु रखी गई और इस बात की व्यवस्था की गई कि प्रत्येक जिले में प्रत्येक परिवार के कम से कम एक व्यक्ति को अवश्य काम दिया जाय।

देश में फैली हुई गरीबी व बेकारी की समस्याओं का समाधान करने के लिये पाँचवीं योजना से दृष्टिकोण सम्बन्धी प्रपत्र में रोजगार बढ़ाने के हेतु न्यूनतम आवश्यक कार्य-क्रम और ग्रामीण निर्माण कार्यों पर पाँचवीं योजना में १०.५०० करोड़ रुपया से ११.५०० करोड़ रुपये की धनराशि व्यय करने की बात कही गई थी। रोजगार बढ़ाने के हेतु इन क्षेत्रों के विकास को आवश्यक बतलाया गया। लघु सिंचाई भू-संरक्षण क्षेत्रीय विकास पशु पालन एवं दुग्ध व्यवसाय, वन, मछली पालन लघु उद्योग आदि। साथ ही न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के कार्य-क्रम में यह कार्य-क्रम सुझाया गया—प्राथमिक शिक्षा सार्वजनिक स्वास्थ्य ग्रामीण जल-पूर्ति भूमिहीनों के लिये मकान ग्रामीण विद्युतीकरण और शहरों में गन्दी बस्तियों में सुधार आदि। जनवरी १९७३ में प्रकाशित 'एप्रोच आफ् दि फिफ्त प्लान' में फिर पाँचवीं योजना में रोजगार बढ़ाने

की आवश्यकता पर बल दिया गया। उत्पादक रोजगार के अवसरों के विस्तार, तीव्र विकास और असमानता को घटाने के विचार से आवश्यक माना गया।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष में बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिए जो प्रयास किये गये हैं वे इतने नहीं हैं कि इस समस्या का समाधान किया जा सके। वास्तव में जनसंख्या में वृद्धि इतनी तेजी से हुई है कि सबको रोजगार देना एक अन्यन्त दुष्कर कार्य हो गया है। १८ मार्च १९६६ ई० को अपने रेडियो भाषण में तत्कालीन केन्द्रीय श्रम रोजगार एवं पुनर्वास मंत्री श्री जगजीवन राम ने कहा था कि पहले पाँच वर्षों में जो रोजगार के अवसर हुए थे वे कुछ सीमा तक बढ़ती हुई जनसंख्या में समा गये और इसे देखते हुए आगामी वर्षों में बेकारी की समस्या को हल करने के लिए कटिबद्ध होकर काम करना पड़ेगा परन्तु नियोजन की अवस्था तक पहुँचने में अभी बहुत परिश्रम व समय लगेगा।

बेरोजगारी की समस्या जनसंख्या के साथ जुड़ी हुई है। एक ओर हम रोजगार के साधनों को बढ़ावें और दूसरी ओर जनता की वृद्धि को भी रोकें तभी इस भीषण एवं बढ़ती हुई समस्या का समाधान सम्भव हो सकता है।

१४२. बन्दे-मातरम्

१—भूमिका, २—गीत के रचयिता और उनका संक्षिप्त जीवन परिचय, वन्दे-'मातरम्' गीत लिखने की प्रेरणा, ३—रचना-काल, ४—स्वतन्त्रता संग्राम और 'वन्दे-मातरम्' गीत का महत्व, ५—उपसंहार।

भूमिका—प्रत्येक राष्ट्र में अनेक गीत लिखे जाते हैं, स्मरण किये जाते हैं, और भुलाये जाते हैं। कुछ ही गीत ऐसे होते हैं जो राष्ट्र के जन जीवन पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। कुछ ही गीत ऐसे होते हैं जो सदैव अमर हो जाते हैं और किसी राष्ट्र का इतिहास बना देते हैं। 'वन्दे मातरम्' गीत उन गीतों में से एक है जिसने स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व लाखों भारतवासियों में अपनी मातृ-भूमि के प्रति मर मिटने की भावना उत्पन्न की। यह वह गीत है जिसे गाते हुए हजारों देश-प्रेमियों ने मातृ-भूमि पर अपना जीवन न्यौछावर कर दिया। यह वह गीत है जिसने राष्ट्र की मृत जनता में जान फूँक दी। आज स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग ३० वर्ष उपरान्त भले ही इस गीत को सुनकर या गाकर हमारी भुजाओं का रक्त गरम न हो उठता हो परन्तु स्वतंत्रता के पूर्व जब यह गीत गाया जाता था तो देश के नौजवानों के रक्त का प्रवाह बढ़ जाता था। देश पर मर-मिटने की अभिलाषा सुदृढ़ हो जाती थी। आज भी यह गीत हमारे लिये प्रेरणा-स्रोत बना हुआ है।

गीत के रचयिता और उनका संक्षिप्त जीवन परिचय—'बन्दे मातरम्' के प्रसिद्ध गीत के रचयिता बंगला कवि एवं लेखक श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी थे। बंकिम बाबू का जन्म बंगाल में १८३८ ई० में हुआ था। उनका स्थायी निवास बंगाल के काटनपारा ग्राम में था। उनके परिवार में सभी लोग शिक्षित थे तथा उनमें अनेक प्रकाण्ड पंडित माने जाते थे। बंकिम बाबू प्रथम भारतीय स्नातक थे। यद्यपि वह

सरकारी नौकरी में थे परन्तु उसके बाद भी उन्हें साहित्य-सेवा करने का पर्याप्त समय उपलब्ध हो जाता था। साहित्य में उनकी विशेष अभिरुचि थी और जब भी अपने कार्य से समय मिलता, वह इस क्षेत्र में लग जाते। 'आनन्दमठ' बंकिम बाबू का सर्व-श्रेष्ठ उपन्यास है।

'बन्दे मातरम्' गीत लिखने की प्रेरणा—यहाँ यह प्रश्न बरबस उठता है कि बंकिम बाबू को 'बन्दे-मातरम्' गीत लिखने की प्रेरणा कब और किस प्रकार प्राप्त हुई। इस सम्बन्ध में विभिन्न लोगों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोगों का कथन है कि एक बार वह रेल से यात्रा कर रहे थे और अपनी मातृभूमि के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर उनके मुँह से इस गीत की पंक्तियाँ निकल गई थीं। अन्य लोगों का मत है कि उन्होंने यह गीत अपनी पुत्री की जिद पर लिखा था। उनकी पुत्री ने उनसे मातृ-भूमि के विषय में कुछ बतलाने को कहा था और उसी समय बंकिम बाबू के मुखारबिन्द से 'बन्दे-मातरम्' की पंक्तियां निकली थीं। एक अन्य मत यह है कि इस 'गीत के बोल बंकिम बाबू के मुँह से तब निकले जब वह सो रहे थे और उनके भतीजे ने उन बोलों को लिपि-बद्ध कर लिया। इनमें से कौन सा मत सत्य है, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। मेरे विचार से इनमें से कोई भी मत पूर्णतया सत्य नहीं है। वास्त-विकता यह है कि इस प्रकार का गीत तब तक नहीं लिखा जा सकता जब तक कि हृदय में मातृ-भूमि के प्रति अपार प्रेम और मर मिटने की भावना न हो। बंकिम बाबू ने १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम को स्वयं अपनी आँखों से देखा था और इस घटना ने अवश्य ही उनमें अपनी मातृ-भूमि के लिए कुछ करने की भावना उत्पन्न की होगी। इस क्षेत्र में उन्हें पंडित प्रवर जैराम जो एक महान विद्वान थे, से अत्यधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। बंकिम बाबू जब सरकारी नौकरी में थे तो प्रत्येक रविवार को अपने ग्राम काटनपारा जाते थे जहाँ पंडित प्रवर जैराम ने उन्हें संस्कृत भाषा का ज्ञान कराया था। बंकिम बाबू बहुधा कहा करते थे 'जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादिप गरीयसी'। कदाचित यही भावना थी जिसने उन्हें 'बन्दे-मातरम्' जैसे अमर गीत लिखने के हेतु प्रोत्साहित किया।

रचना-काल—१९१४ ई० के पूर्व इस गीत की रचना काल के सम्बन्ध में विभिन्न मत थे परन्तु अब लगभग सभी विद्वान उससे सहमत हैं कि बंकिम बाबू ने इस गीत की रचना ३७ वर्ष की अवस्था में १८७५ ई० में की थी। यह गीत सबसे पहले 'बंग-दर्शन' में प्रकाशित हुआ था जो बंकिम बाबू के प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्द-मठ' को धारावाहिक रूप में प्रकाशित कर रहा था। गीत १८८० ई० में 'बंग दर्शन' में प्रका-शित हुआ था।

स्वतंत्रता संग्राम और 'बन्दे मातरम्' गीत—जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया है कि 'बन्दे मातरम्' गीत एक ऐसा गीत है जिसने लोगों को अपनी मातृभूति की बलिवेदी पर मर मिटने के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रसिद्ध गीत में कवि ने अपनी मातृभूमि की महिमा का गुणगान किया है। मातृ-भूमि से महान इस संसार में कुछ भी नहीं है। वह पूज्यनीय है, बन्दनीय है। स्वतंत्रता से पूर्व देशवासियों ने मातृ-भूमि के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए इस गीत को अपना आदर्श बनाया और वास्तव में यह गीत भारतवर्ष का दूसरा राष्ट्रगीत बन गया।

'बन्दे मातरम्' का नारा ७ अगस्त, १९०५ ई० को कलकत्ते की एक सभा में बुलन्द किया गया था। इस नारे के पूर्व कांग्रेस के पास अन्य कोई नारा न था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक ऐसा राजनीतिक दल था जो देश की स्वतंत्रता के हेतु पूरी तरह से समर्पित था और जिसके प्रयासों से देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई, ने 'बन्दे मातरम्' के नारे को अपनाकर बंकिम बाबू को ही गौरवान्वित नहीं किया बल्कि देश की अपार जनसंख्या को एक ऐसा नारा दिया जिसमें कि उसमें प्रेरणा का संचार किया। १९०५ ई० के बाद 'बन्दे मातरम्' के नारे के साथ ही 'बन्दे मातरम्' गीत स्वतंत्रता सेनानियों का मुख्य प्रेरणा स्रोत रहा। पता नहीं कितनी माताओं ने इस गीत का गाते-गाते अपने लालों को मातृभूमि पर मिटने के लिए भेज दिया। पता नहीं कितनी भारतीय नारियों ने इस गीत का गाते-गाते अपने माथे के सिन्दूर को पुछवा दिया। पता नहीं कितने भारतीय बच्चों ने इस गीत को गाते-गाते अपने माता-पिता को खो दिया और पता नहीं मातृ-भूमि के कितने सपूतों ने इस गीत को गाते-गाते अपने सीनों पर संगीनों और गोलियाँ सहीं तथा अपने प्राणों को उत्सर्ग कर दिया। 'बन्दे मातरम्' गीत की कहानी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की कहानी है। १९०५ ई० के बाद भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को 'बन्दे मातरम्' गीत से अलग नहीं किया जा सकता। हर राष्ट्र-प्रेमी की जिह्वा पर यह गीत निरन्तर गूँजता रहता था। कांग्रेस के हर अधिवेशन में यह गीत अत्यन्त उच्च-स्वर से गाया जाता था। जब यह गीत गाया जाता था तो जनता में अपार साहस का संचार हो जाता था। यह गीत हमारी राष्ट्रीय विचारधारा से पूरी तरह से घुल-मिल गया था। मातृ-भूमि की महिमा का जो गुणगान इस गीत में किया गया उसने देश के स्त्री-पुरुषों, बच्चों, वृद्धों सभी में नई उमंगों का संचार किया। हँसते-हँसते इस गीत को गाते हुए अपने प्राणों को उत्सर्ग करना भारतीय नौजवानों के प्रति एक आम बात बन गई। कारावास ने कठोर सीखचों के बोच भी यह गीत उच्च स्वर में गूँजता रहा। विदेशी शासक देश के रण-बांकुरों से उनके प्राण माँग सकता था परन्तु उनके मुखारबिन्दु से गीत के बोल नहीं बन्द करवा सकता था।

आधुनिक युग में 'बन्दे-मातरम्' गीत का महत्व—'वन्दे-मातरम्' गीत हमारे राष्ट्रीय स्वतंत्रता की थाती है। इस गीत का महत्व आज भी उतना ही अधिक है जितना कि स्वतंत्रता के पूर्व था। जब कोई भारतवासी इस गीत को गाता है तो उसके सामने स्वतंत्रता की बलिवेदी पर मर मिटने वालों का चित्र बन जाता था। इस गीत में उन लाखों लोगों की यादगारें छिपी हैं जो मातृ-भूमि के लिये उत्पन्न हुए, और मातृ-भूमि के लिए ही हँसते-हँसते मर गए। उन्हें यह गीत उतना ही प्रिय था जितनी कि अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता प्रिय थी। यही कारण है कि आज भी भारतवासियों के हृदय में 'वन्दे मातरम्' गीत के प्रति अपार सम्मान और श्रद्धा है। राष्ट्र के जन-जीवन में कोई भी गीत इतना अधिक व्यापक प्रभाव नहीं डाल सका है जितना अधिक यह मधुर गीत। मातृ-भूमि के प्रति कुछ कर देने की भावना जितनी अधिक इस गीत ने उत्पन्न की है उतनी अधिक किसी अन्य गीत ने नहीं। इस गीत का इतिहास हमारी स्वतन्त्रता का इतिहास है। इसमें हमारे मातृ-भूमि के प्रति अपार श्रद्धा छिपी हुई है और इसलिए यह गीत हमें आज भी प्रिय है। यह हमारे लिए आज भी उतना ही बन्दनीय है।

उपसंहार—अभी कुछ समय पूर्व 'बन्दे-मातरम्' गीत का शताब्दी महोत्सव मनाया गया। अनेक स्थानों पर विभिन्न उत्सवों का आयोजन किया गया तथा इस गीत और उसके रचयिता के प्रति भारतीय जनता ने श्रद्धा व्यक्त की। आवश्यकता इस बात की है कि इस गीत का पाठ भारत के प्रत्येक विद्यालय में प्रतिदिन किया ही न जाय बल्कि विद्यार्थियों को इस गीत के इतिहास से परिचित कराया जाय। इस गीत में अपनी मातृ-भूमि के प्रति जो अपार प्यार, आस्था और गौरव की गाथा है, उसे जानने और नवयुवकों में मातृभूमि के लिए मर मिटने की भावना उत्पन्न करना हम सभी का कर्तव्य

१४३. जनता पार्टी

१—भूमिका, २—जनता पार्टी का उदय एवं उद्देश्य, ३—आम चुनाव की घोषणा और विरोधी दलों के नेताओं की मुक्ति, ४—छठा आमचुनाव और जनता पार्टी की सफलता, ५—सत्तारूढ़ होने के पश्चात् जनता पार्टी का कार्य-कलाप, ६—उपसंहार।

भूमिका—संसार का चक्र निरन्तर चलता रहता है। परिवर्तन ही जीवन है। समयानुसार संसार की मान्यताओं में भी परिवर्तन होता रहता है। एक युग ऐसा था जब समस्त संसार में राजतन्त्रात्मक शासन का बोलबाला था। लोग राजा की जी-हुजूरी करने में अपना जीवन सफल मानते थे। फिर वह समय आया जब राजतन्त्रात्मक व्यवस्था का स्थान सामन्तवादी व्यवस्था ने ले लिया तथा सामन्तों ने शासन की बागडोर अपने हाथों में सम्भाल ली। परन्तु यह सामन्तवादी व्यवस्था भी अधिक न चली और शनैः-शनैः संसार में यह विचार दृढ़ होने लगा कि लोकतन्त्रात्मक विचार-धारा ही सर्वोत्तम विचारधारा है। १९वीं और २०वीं शताब्दी में लोकतन्त्रात्मक मान्यतायें सुदृढ़ हुईं और आज तो संसार के सभी सभ्य देश यह मानने लगे हैं कि लोकतन्त्र शासन ही सर्वोत्तम है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् लोकतन्त्र की आधार-शिला को दृढ़ बनाने का संकल्प लिया गया। हमारे संविधान में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया कि भारत एक पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रीय गणराज्य रहेगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद स्वतन्त्रता संग्राम में महान् योगदान देने वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सत्तारूढ़ हुई और पण्डित जवाहर लाल नेहरू देश के प्रथम प्रधानमन्त्री बने। उनके बाद इसी दल के श्री लाल बहादुर शास्त्री और श्रीमती इन्दिरा गाँधी पद पर आसीन हुए। छठे आमचुनाव के पूर्व तक केन्द्र में सदैव अखिल भारतीय काँग्रेस का ही शासन रहा। राज्यों में यत्र-तत्र विरोधी दलों की सरकारें अवश्य बनती और बिगड़ती रहीं किन्तु कोई भी विरोधी दल संगठित रूप में चुनाव में कांग्रेस के सम्मुख न ठहर सका।

जनता पार्टी का उदय एवं उद्देश्य—जून १९७५ ई० में भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने देश में आपातकालीन स्थिति की घोषणा कर दी और विरोधी दलों के हजारों नेताओं को जेल के सीखचों में डाल दिया। श्री जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में विरोधी दलों ने जो समग्र-क्रान्ति का नारा दिया था उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप श्रीमती गाँधी ने यह कदम उठाया था। उस समय तक भारत

में कोई भी ऐसा राजनीतिक दल न था जो काँग्रेस के सम्मुख ठहर सकता। यद्यपि भारतीय जनसंघ, संगठन काँग्रेस, भारतीय लोकदल, समाजवादी दल, एवं साम्यवादी आदि अनेक राजनीतिक दल थे परन्तु उनमें एकता का अभाव था और फलस्वरूप श्रीमती इंदिरा गाँधी ने जब विरोधी दलों के हजारों नेताओं को कारावास में डाल कर यह घोषणा की कि यह कार्य लोकतंत्र की रक्षा के लिये किया गया है तो भारत की जनता ने भले ही अपने मन के अन्दर यह कहा हो कि यह लोकतंत्र की रक्षा नहीं बल्कि लोकतंत्र की हत्या है परन्तु आतंक एवं भय के फलस्वरूप जनता की भावना उभर कर सामने न आ सकी। समाचार-पत्रों पर सेन्सर लगाये जाने के परिणामस्वरूप देश में क्या हो रहा है, यह साधारण जनता जान भी न सकी। परन्तु आपात्कालीन स्थिति में हुये अत्याचारों के फलस्वरूप देश की जनता यह समझ अवश्य गई कि भारत-सुरक्षा-कानून आदि का प्रयोग करके इस देश में एक दल की तानाशाही स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है। सम्भव है कि देश से लोकतंत्र सदैव के लिये बिदा हो जाय। भारतीय जनमानस के विचारों को जेल के सीखचों में बन्द विरोधी दल के नेता समझते थे और उन्होने कारावास में ही एक दल का गठन किया तथा यह निश्चय किया कि यदि अवसर आया तो वे मिल-जुलकर काँग्रेस का मुकाबला करेंगे तथा देश में स्वस्थ लोकतंत्रात्मक परम्पराओं को पुन: डालने का प्रयास करेंगे। चूँकि वे स्वयं मुक्तिभोगी थे अत: उनकी मान्यता थी कि लोकतंत्र पर प्रहार करके कोई भी व्यक्ति प्रगति का कैसा ही मार्ग क्यों न दिखाए, देश के उत्थान में योगदान नहीं दे सकता। जनता पार्टी के नेताओं ने अपना यह उद्देश्य निश्चित किया कि वे किसी भी भाँति देश में लोकतन्त्र को पुनर्जीवित करने का प्रयास करेंगे तथा ऐसी व्यवस्था का निर्माण करेंगे जिससे इस देश से लोकतन्त्र की जड़ें कभी भी उखड़ने न पावें। उन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्रेस की स्वतन्त्रता को अक्षुण्य बनाये रखने का भी संकल्प लिया और यह निश्चय किया कि आपात्कालीन स्थिति को पूर्ण रूप से समाप्त करने का प्रयास भी वे करेंगे।

आमचुनाव की घोषणा और विरोधी दलों के नेताओं की मुक्ति—जिस समय देश में तानाशाही के काले बादल मंडरा रहे थे और ऐसा आभासित हो रहा था कि जैसे लोकतन्त्र इस देश से सदैव के लिये बिदा हो गया है, उसी समय अचानक दैवी प्रेरणा से देश की प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने जनवरी, १९७७ में यह घोषणा की कि देश में आमचुनाव मार्च १९७७ में होंगे। आमचुनाव की घोषणा के साथ ही विरोधी दल के नेताओं को धीरे-धीरे करके छोड़ा जाने लगा और फरवरी तक कुछ को छोड़कर सभी विरोधी दलों के नेता कारावास से मुक्त कर दिये गये। श्रीमती गाँधी ने यह समझा था कि कारावास से मुक्त होने के बाद विरोधी दलों के नेताओं के पास इतना समय नहीं रहेगा कि वे मिल जुलकर एक संगठित दल का निर्माण कर सकेंगे और आम चुनाव में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का सामना कर सकेंगे। उन्हें इस बात की पूरी आशा थी कि वह भारतीय जनता का विश्वास प्राप्त करने में पूर्णरूप से सफल हो जायेंगी और संसार को यह दिखला सकेंगी कि भारत में लोकतन्त्र अभी जीवित हैं।

छठा आमचुनाव और जनता पार्टी की सफलता—विरोधी दलों के नेताओं को कारावास से इस विश्वास के साथ मुक्त किया गया था कि वे संगठित हो ही नहीं

सकेंगे और या तो चुनाव में भाग ही नहीं लेंगे तथा यदि चुनाव में भाग लेंगे तो उन्हें भारी पराजय का मुँह देखना पड़ेगा । श्रीमती इंदिरा गाँधी को यह विश्वास था कि विरोधी दल आपस में नहीं मिल सकेंगे, परन्तु उन्हें कदाचित यह नहीं पता था कि विरोधी दल के नेता कारावास से ही यह संकल्प लेकर आये थे कि यदि अवसर मिला तो वे मिल-जुलकर श्री जयप्रकाश नारायण के आर्शीवाद को प्राप्त कर श्री मोरार जी देसाई के नेतृत्व में एक जुट होकर सत्तारूढ़ दल का सामना करेंगे । कारावास से मुक्त होते ही विरोधी दल के नेताओं ने अपने संकल्प के अनुसार कार्य किया और जनता पार्टी के चारों घटकों—संगठन कांग्रेस, भारतीय जनसंघ, भारतीय लोक दल और समाजवादी दल ने यह घोषणा की कि वे जनता पार्टी के रूप में मिल-जुलकर भारतीय लोकदल के चुनाव चिन्ह 'हल लिये हुये किसान' को अपना कर चुनाव में भाग लेंगे । उन्होंने यह भी निश्चित किया कि वे अन्य विरोधी दलों जैसे मार्क्सवादी साम्यवादी दल तथा अकाली दल आदि के साथ भी चुनाव में तालमेल करेंगे । यह एक महान कार्य था जो स्वतंत्रता प्राप्ति के ३० वर्ष पश्चात् पूरा हुआ । विभिन्न विरोधी दलों ने एक मन्त्र पर संगठित रूप में एकत्रित होकर सत्तारूढ़ दल को चुनौती दी थी । उन्हें श्री जयप्रकाश नारायण और आचार्य कृपलानी जैसे मूर्धन्य नेताओं का आशीर्वाद भी प्राप्त था । आमचुनाव के कुछ ही दिन पूर्व जगजीवन बाबू के नेतृत्व में काँग्रेस के एक बहुत बड़े वर्ग ने काँग्रेस से अलग होकर लोकतांत्रिक काँग्रेस के गठन की घोषणा की और स्पष्ट रूप में कहा कि यदि काँग्रेस पुनः सत्तारूढ़ हो गई तो देश से लोकतन्त्र सदैव के लिये विदा हो जायगा । लोकतांत्रिक काँग्रेस ने जनता पार्टी के साथ चुनाव में तालमेल किया और यह भी आश्वासन दिया कि चुनाव के बाद लोकतांत्रिक काँग्रेस जनता पार्टी में विलीन हो जायगी ।

जैसे-जैसे छठे आमचुनाव की तिथियाँ निकट आती गई जनता का उत्साह बढ़ता गया । भारत की वह निरीह जनता जो आपात्कालीन स्थिति में अपने मनोभावों को दबाये हुये चुपचाप बैठी थी एक साथ खड़ी हुई और आमचुनाव में देश की जनता ने जनता पार्टी को विजयी बनाया । उत्तरी भारत में तो कांग्रेस का सफाया सा हो गया परन्तु दक्षिणी भारत में कांग्रेस की जड़ें जमी रहीं । उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हरियाणा और उड़ीसा आदि जो कि कांग्रेस के गढ़ माने जाते थे, वहाँ कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता धाराशायी हो गये और जनता पार्टी के वे व्यक्ति भी भारी मतों से विजयी हुये जिन्हें आमचुनाव के पूर्व अनेक मतदाता जानते भी नहीं थे और जिनका नाम कभी भी बड़े समाचारपत्रों में देखने को न मिला था । आश्चर्य तो तब हुआ जब रायबरेली चुनाव क्षेत्र में स्वयं प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को भारी मतों से पराजय का मुँह देखना पड़ा । लोकसभा में बहुमत मिलने के बाद जनता पार्टी ने श्री मोरार जी देसाई को सर्वसम्मति से अपना नेता चुना और देश में पहली बार केन्द्र में गैर कांग्रेसी सरकार के मन्त्रिमण्डल का गठन हुआ ।

सत्तारूढ़ होने के पश्चात जनता पार्टी के कार्यकलाप—मार्च 1977 में केन्द्र में सत्तारूढ़ होने के बाद जनता पार्टी ने जनता के सम्मुख किये गये अपने वायदों को पूरा करने का निश्चय किया और उन वायदों के अनुरूप कार्य करना प्रारम्भ किया । सभी संसद सदस्यों ने महात्मा गांधी की समाधि पर जाकर यह शपथ ली कि वे जनता के हित में ही कार्य करेंगे । शपथ-ग्रहण समारोह में श्री जयप्रकाश नारायण,

श्री आचार्य कृपलानी और श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित जैसे मूर्धन्य नेता विद्यमान थे। उसके बाद श्री मोरार जी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार ने अपने पूर्व घोषणा-पत्र के अनुसार आपात्कालीन स्थिति को तुरन्त समाप्त किया तथा हिंसात्मक कार्यवाहियों में भाग लेने वाले कुछ व्यक्तियों को छोड़ कर शेष सभी उन व्यक्तियों को रिहा कर दिया गया जो भारत-सुरक्षा-कानून के अन्तर्गत बन्द किये गये थे। जनता पार्टी की सरकार ने अत्यन्त स्पष्ट रूप में घोषणा की कि लोकतंत्र की रक्षा के लिये प्रेस की स्वतन्त्रता अनिवार्य है और इस कारण प्रेस सेन्सरशिप को समाप्त कर दिया गया। कांग्रेस सरकार ने संसदीय कार्यवाही को न छापने देने का जो प्रतिबन्ध लगाया था उसे समाप्त कर दिया गया और यह भी घोषणा की गई कि आकाशवाणी और दूरदर्शन पर विरोधी दलों को भी अपने प्रचार करने का समान अवसर मिलेगा। जनता पार्टी की सरकार ने यह भी घोषणा की कि भारत गुट निरपेक्षता की नीति को अपनाये रखेगा और संसार के सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करेगा। कांग्रेस के अनेक नेताओं का यह कहना था कि जनता पार्टी अमेरिका के हाथ का खिलौना बनी रहेगी परन्तु उनका यह विचार भी ठीक नहीं उतरा क्योंकि जनता पार्टी ने रूस के साथ भी अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध बनाये रखने की घोषणा की। रूस के विदेश मन्त्री श्री ग्रोमथिको भारत आये और उनके साथ एक समझौता किया। जनता पार्टी की सरकार ने नागरिक स्वतन्त्रता की पुर्नस्थापना की और यह घोषणा की कि किसी को भी अकारण बन्दी नहीं बनाया जायगा। वे राज्य जिनमें छठे आम-चुनाव में कांग्रेस का पूरी तरह से सफाया हो गया था, की विधान सभाओं को भंग किया गया और वहाँ पुर्ननिर्वाचन की व्यवस्था की गई। जनता पार्टी की सरकार ने यह भी अपील की कि आपात्कालीन स्थिति की समाप्ति के बाद सभी को मिल-जुलकर कार्य करना चाहिये और राष्ट्र के उत्थान में योगदान देना चाहिये। भारत के प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने व्यापारियों से यह अपील की कि वे बढ़ती हुई मँहगाई को रोकने के लिये योगदान दें और मुनाफाखोरी एवं जमाखोरी की प्रवृत्ति से दूर रहें।

उपसंहार—जनतापार्टी को सत्तारूढ़ हुये अभी कुछ ही समय हुआ है परन्तु इतने अल्प समय में ही, इस पार्टी के नेताओं ने जनता के सम्मुख जो वायदा किया था, उन्हें पूरा करने का प्रयास किया है। यह ठीक है कि अभी उसके सम्मुख अनेक समस्यायें हैं और उनमें सबसे बड़ी समस्या बढ़ती हुई मँहगाई को रोकने की है परन्तु इस पार्टी के नेताओं को पूर्ण विश्वास है कि वे मिल-जुल कर सभी समस्याओं का समाधान करने में सफल हो जायेंगे। जन-मानस में जनता पार्टी की सफलता में आशंकायें भी जन्म लेने लगी हैं। यह पार्टी अपने उद्देश्यों की पूर्ति में कहाँ तक सफल होगी यह भविष्य ही बतायेगा, परन्तु इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं है कि यदि यह दल बढ़ती हुई मँहगाई को रोकने और बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने में सफल हो जाता है तो भारतीय जनता इसे काफी समय तक अपनाये रखेगी। दूसरी ओर यदि उसे उसमें सफलता नहीं मिलती तो भारतीय जनता इस दल को भी ठोकर लगाने में किंचित मात्र भी हिचकिचायेगी नहीं।

१४४. छठा आमचुनाव और भारतीय लोकतन्त्र

भूमिका—भारत संसार का सबसे बड़ा लोकतन्त्रात्मक शासन वाला देश है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संविधान निर्माताओं ने जिस संविधान का निर्माण किया उसमें सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर विशेष ध्यान दिया गया था। इस संविधान के द्वारा यह व्यवस्था की गई थी कि यहाँ जनता के द्वारा, जनता की, जनता के लिये सरकार का गठन होगा। संविधान के अनुसार यह भी व्यवस्था की गई थी कि यहाँ संघ राज्य की व्यवस्था होगी जिसमें केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के अलग-अलग अधिकार होंगे। भारत की जनता के द्वारा चुनी गई एक संसद होगी जिसे देश के हेतु कानून बनाने का अधिकार होगा। उसी प्रकार राज्यों की विधायिकायें अलग होंगी। कार्यपालिका पर विधायिका का नियन्त्रण होगा और न्यायपालिका कार्यपालिका के हस्तक्षेप से मुक्त होगी। न्यायपालिका को विधायिका द्वारा बनाये गये किसी कानून को असंवैधानिक कह कर रद्द कर देने का अधिकार होगा। इस प्रकार भारतीय लोकतन्त्र संवैधानिक सर्वोच्चता को स्वीकार करता है। इसी संविधान के अनुसार देश में पाँच आमचुनाव हुए तथा सभी आम चुनावों में जनता ने निर्भयतापूर्वक मत-दान करके भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस को सत्तारूढ़ बनाया। जहाँ भारत के पड़ोसी देशों में लोकतन्त्रात्मक सरकारें एक के बाद एक करके गिरती गईं, वहाँ भारतीय लोकतन्त्र सदैव फलता-फूलता रहा और इस देश में कभी भी लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था को भय नहीं उत्पन्न हुआ।

आपातकालीन स्थिति की घोषणा और लोकतन्त्र—जून, 1975 में अचानक देश में आपातकालीन स्थिति की घोषणा कर दी गई। हजारों की संख्या में राज-नीतिक नेताओं को बन्दी बनाया गया। शान्ति भंग की आशंका के नाम पर सभी प्रकार के आन्दोलनों पर रोक लगा दी गई। साथ ही, भारत सुरक्षा अधिनियम और मीसा के अन्तर्गत बहुत से लोग बन्दी बना लिये गये। यह कहा गया कि भारतीय लोकतन्त्र का पहिया पटरी से उतर गया है और इसे पुनः पटरी पर प्रतिस्थापित करने के लिये आपातकालीन स्थिति की घोषणा की गई है। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा न हुआ। यदि विपक्ष द्वारा आन्दोलन का भय और शान्तिभंग की आशंका थी तो उसका सामना सामान्य कानूनों से किया जा सकता था। आपातकालीन स्थिति लागू करने की कोई भी आवश्यकता नहीं थी। परन्तु इसे लागू किया गया, जो न केवल जनता के लिये उत्पीड़क सिद्ध हुआ वरन् लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था पर कुठाराघात बनकर आया। आपात्काल का दुरुपयोग किया गया। लाखों राजनीतिक विरोधियों को आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत जेल में बन्द कर दिया गया। स्वयं सत्तारूढ़ दल कांग्रेस के अन्दर विरोधियों को भी छोड़ा नहीं गया। समाचार-पत्रों पर कड़े सेन्सर लागू किये गये। यह भी पता न चला कि कब कौन और कहाँ गिरफ्तार किया गया और किसे कितना सताया गया। प्रसिद्ध सोशलिस्ट नेता और डायनामाइट केश के अभियुक्त

फर्नान्डीस के भाई पर पुलिस ने पाशविक अत्याचार किये। अधिकारियों एवं पुलिस ने इतने अधिक अत्याचार किये कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। जनता की शिकायतें सुनने का मार्ग बन्द कर दिया गया। शिकायतें न तो समाचार पत्रों में छप सकती थीं और न अधिकारियों के पास लाई जा सकती थीं और न तो जनता की अपीलें न्यायालय ही सुन सकते थे। समाचार-पत्रों पर सेन्सर लगा कर लोकतंत्र की हत्या कर दी गई। समस्त नागरिक अधिकार छीन लिये गये और न्यायालयों को भी यह अधिकार न रहा कि नागरिकों को उनके अधिकार दिला सके। बन्दी बनाये जाने का न तो कारण जाना जा सकता था और न उसके विरुद्ध न्यायालय की शरण में ही जाया जा सकता था। बन्दी-प्रत्यक्षीकरण अधिकार लुप्त हो गया, न्यायपालिका के अधिकार समाप्त कर दिये गये। अन्याय के विरुद्ध भाषण, लेखन, सभा और जलूसों आदि सभी पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। मजदूरों के वैध सामूहिक सौदेबाजी के अधिकार निलम्बित कर दिये गये। नसबन्दी के नाम पर लड़कों और बूढ़ों तक की नसबन्दी कर दी गई और भारतीय लोकतंत्र कराहता रहा। 42वें संविधान संशोधन अधिनियम ने संविधान की सर्वोच्चता को समाप्त कर दिया और संसद सर्वोच्च बन गई। संविधान में दिये गये मूलाधिकारों में परिवर्तन कर दिया गया और उसकी आत्मा को पूरी तरह से मार दिया गया। लोकतन्त्र की मान्यता है, "मैं तुम्हारे विचारों से घृणा करता हूँ, तुमसे नहीं" परन्तु आपातकालीन स्थिति में विचारों नहीं, व्यक्तियों से घृणा की गई। ऐसी स्थिति में भी यह ढिंढोरा पीटा गया कि भारत में लोकतंत्र की रक्षा के लिये यह सब किया जा रहा है। 19 महीने का आपातकाल देश के स्वतंत्रोत्तर इतिहास का अंधकार काल था जिसमें भारत का लोकतंत्र तानाशाही के नीचे दबता हुआ दिखलाई पड़ा।

आम चुनाव की घोषणा और उसके परिणाम—18 जनवरी, 1977 को भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने आमचुनाव कराने की घोषणा की। उन्होंने। कहा कि संसार के सबसे बड़े लोकतंत्र देश के आमचुनाव मार्च, 1977 में होंगे। किन परिस्थितियों में प्रधानमंत्री चुनाव कराने के लिये तैयार हुईं, यह आज भी रहस्यमय बना हुआ है। जैसे ही आमचुनाव की घोषणा हुई, जनता ने कुछ राहत की साँस ली परन्तु अब भी भय इतना था कि कोई बोलने का नाम तक नहीं ले रहा था। चुनाव की घोषणा के 4 दिन के अन्दर ही 4 विपक्षीदलों—भारतीय जनसंघ, लोकदल, संगठन कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी ने मिलकर एक नई पार्टी (जनता पार्टी) बनाई तथा कोई नया चुनाव चिन्ह न मिलने के कारण भारतीय लोकदल के चुनाव चिन्ह पर चुनाव लड़ने का निर्णय लिया। इन दलों के कार्यकर्ता जैसे-जैसे जेल से छुट कर आने लगे, चुनाव की सरगर्मी जोर पकड़ती गई। जयप्रकाश बाबू के वरद् हस्त के नीचे जनता पार्टी में उत्साह बढ़ता गया। इसी समय बाबू जगजीवन राम ने जो भारत सरकार में कृषि मंत्री थे, अचानक ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से त्यागपत्र देकर लोकतांत्रिक कांग्रेस का गठन करने का निश्चय किया और घोषणा की कि जनता पार्टी एवं लोकतंत्रीय कांग्रेस मिलकर चुनाव लड़ेंगी। जगजीवन बाबू ने कहा कि उन्होंने यह कदम देश में तानाशाही को समाप्त करने और लोकतंत्र की रक्षा के लिये उठाया है। इससे जनता का भय दूर हुआ और जनता में खुलकर बोलने का

साहस आया। जनता पार्टी की कोई तैयारी नहीं थी परन्तु श्री जगजीवन राम के कथनानुसार यह चुनाव जनता पार्टी ने नहीं लड़ा बल्कि स्वयं जनता ने लड़ा। ज्यों-ज्यों चुनाव नजदीक आते गये, जनता में उत्साह का संचार होता गया। भारी संख्या में मतदान हुआ और जो चुनाव परिणाम सामने आया उनके फलस्वरूप जनता पार्टी एवं लोकतंत्र कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। देश की प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गाँधी, उनके पुत्र श्री संजय गाँधी एवं अन्य केन्द्रीय मन्त्री चुनाव में पराजित हुये। देश के उत्तरी भाग से तो कांग्रेस का सफाया ही हो गया एवं देश के हृदय उत्तरप्रदेश से कांग्रेस को एक भी सीट नहीं मिली। बिहार, मध्यप्रदेश, हरियाणा, पंजाब, बंगाल, दिल्ली में भी कांग्रेस की स्थिति बड़ी दयनीय रही। दक्षिणी भारत ने अवश्य कांग्रेस एवं उसके सहयोगी दलों का साथ दिया। जो चुनाव परिणाम आये उनके फलस्वरूप लोकसभा में विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थिति निम्न प्रकार थी—कुल स्थान—542, जनता पार्टी—260, कांग्रेस—153, लोतांत्रिक कांग्रेस—28 साम्यवादी मार्क्सवादी—22, अन्ना डी० एम० के०—19, अकाली दल—8, साम्यवादी दल—7, डी० एम० के०—1 और निर्दलीय एवं अन्य—31। चुनाव परिणामों की घोषणा के बाद श्रीमती इंदिरा गाँधी ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और जनता पार्टी एव लोकतांत्रिक कांग्रेस ने मिलजुल कर श्री मोरार जी देसाई के नेतृत्व में सरकार बनाई।

नई सरकार और भारतीय लोकतंत्र—भारत में जनता पार्टी की जो सरकार बनी है उसने अपने चुनाव घोषणापत्र में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि 42वें संविधान संशोधन अधिनियम में फिर परिवर्तन किया जायगा और लोकतंत्र पर जो कुठाराघात हुआ है, उसे दूर किया जायगा। इसके लिये हिंसा का मार्ग अपनाने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान सत्ता परिवर्तन किसी बड़ी क्रान्ति से कम नहीं है। जनता पार्टी की सरकार ने चुनाव के समय जो आश्वासन दिया था, उन्हें सत्तारूढ़ होते ही पूरा करना प्रारम्भ कर दिया। श्री मोरारजी देसाई ने अपने प्रथम प्रेस सम्मेलन में ही घोषणा की कि समाचार-पत्रों से सभी प्रकार के प्रतिबन्ध उठा लिये जायेंगे। उन्होंने हँस कर कहा कि अब आप निष्पक्षतापूर्वक समाचार छाप सकते हैं और संसदीय कार्यवाही प्रकाशित कर सकते हैं।' इसके लिये किसी को बन्दी नहीं बनाया जायगा। देश में भारत-रक्षा अधिनियम और आन्तरिक सुरक्षा-अधिनियम के अन्तर्गत जो हजारों व्यक्ति बन्द थे, उन्हें जेल से रिहा कर दिया गया। जिन संगठनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, उस प्रतिबन्ध को उठा लिया गया। सभी को भाषण देने, लिखने, सभा और जुलूस निकालने की स्वतंत्रता पुनः प्राप्त हो गई। आपात्कालीन स्थिति हटा ली गई तथा देश में पहले जैसा वातावरण व्याप्त हो गया। संसार के सभी देशों के समाचार-पत्रों ने यह प्रकाशित किया कि भारतवर्ष में तानाशाही प्रवृत्तियाँ समाप्त हो गई हैं और यहां लोकतंत्र की आधारशिला पुनः दृढ़ हो गई है।

उपसंहार—यह ठीक है कि छठे आमचुनाव में सत्तारूढ़ दल कांग्रेस के पराजित होने के पश्चात् भारत में तानाशाही प्रवृत्तियाँ समाप्त हुई हैं और लोकतंत्र को दृढ़ आधार प्राप्त हुआ है परन्तु यह 'नहीं भूलना चाहिये कि हमारा लोकतंत्र आज भी नवजात है। इस बात का प्रयास किया जाना चाहिये कि कालान्तर में कभी भी इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न न हो, जैसी स्थिति प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी के शासनकाल

में उत्पन्न हुई थी। 19 महीने की आपातकालीन स्थिति भारतीय इतिहास का सबसे अधिक अंधकारमय युग था जब न लिखने की न पढ़ने की, न बोलने की, न हँसने की ओरन रोने की स्वतंत्रत थी। लोकतंत्र की सबसे बड़ी मान्यता यह है कि सभी को भाषण, लेखन, एवं संगठन की स्वतंत्रता हो। विश्वास है कि नई सरकार इस प्रकार के कदम उठायेगी कि कभी भी सत्तारूढ़ दल अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये लोकतंत्रात्मक संस्थाओं पर कुठाराघात न करने पावे और जनता के मूलाधिकार अक्षुण्य बने रहें। न्यायपालिका पूर्णरूप से स्वतंत्र हो ओर कार्यपालिका पर विधायिका का पूर्ण अंकुश हो एवं विधायिका जनहित में निर्भयतापूर्वक कार्य करती रहे।

जयप्रकाश नारायण

भूमिका—महान क्रान्तिकारी, उद्‌भट देशभक्त और उत्कृष्ठ समाज-सुधारक बाबू जयप्रकाश नारायण देश की उन महान विभूतियों में हैं जिन पर प्रयेक भारतवासी को गर्व होगा और उनके सम्मुख प्रत्येक देशवासी का मस्तक आदर से झुक जायगा। वे भारत के राजनीतिक गगन पर चमकने वाले उन सितारों में से एक हैं, जिनकी आभा कभी मलिन नहीं होगी। वह उन महान विभूतियों में से हैं जो सेवा को ही धर्म और निष्पृह रूप से कार्य को ही कर्म मानते हैं। उनके सम्बन्ध में भारतीय समाज-वादी आन्दोलन के भीष्म पितामह आचार्य नरेन्द्र देव के द्वारा कहे गए ये शब्द नितान्त सत्य हैं, "जयप्रकाश बाबू एक अत्यन्त संवेदनशील और भावुक, ईमानदार, कर्मठ और निष्पृह व्यक्ति हैं। उनके लिये 'आधुनिक भारतीय राजनीति के चाणक्य' शब्दों का प्रयोग किया जाय अथवा 'समाजवादी समाज के निर्माता' शब्दों का प्रयोग किया जाय अथवा 'निष्पृह कर्मयोगी, आदि शब्दों का प्रयोग किया जाय, सभी कुछ सत्य है।

प्रारम्भिक जीवन—श्री जयप्रकाश बाबू का जन्म बिहार के छपरा जिले के सिताब दियरा ग्राम में, जो अब उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में है, 11 अक्तूबर, 1902 ई० को दस्रू बाबू के कायस्थ परिवार में हुआ था। आरम्भ से ही बालक जयप्रकाश अत्यन्त संवेदनशील एवं राष्ट्रीयता के विचारों से ओत-प्रोत थे। छात्र जीवन से ही जयप्रकाश बाबू स्वतंत्रता आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। उनका विवाह अत्यन्त अल्पावस्था में ही बिहार के प्रसिद्ध गांधीवादी बाबू बृज किशोर की पुत्री प्रभावती देवी से हुआ। 1921 ई० के असहयोग आन्दोलन में 19 वर्ष की अल्पावस्था में अपनी पढ़ाई छोड़कर वह कूद पड़े। 1923 ई० में जयप्रकाश बाबू उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये अमेरिका गये जहाँ वे 1928 ई० तक रहे। उन्होंने अमेरिका में समाजशास्त्र की परीक्षा उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण की। अपनी शिक्षा पूरी करते समय उन पर मार्क्सवादी समाजवाद का प्रभाव पड़ा और वे पक्के वैज्ञानिक समाजवादी हो गये।

भारत-वापिसी और सक्रिय राजनीति में प्रवेश—1929 ई० में जयप्रकाश बाबू भारत वापिस आये। कुछ समय तक वह श्री घनश्याम बिड़ला के निजी सचिव रहे परन्तु पंडित जवाहरलाल नेहरू, जो उस समय अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे, ने जयप्रकाश के गुणों को पहचान कर उन्हें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की श्रम-समिति का मंत्री नियुक्त किया। 1930 ई० व 1931 के असहयोग आन्दोलन के अवसर पर जयप्रकाश बाबू ने कांग्रेस का एक गुप्त संगठन संचालित किया और मद्रास में उन्हें पारसी की वेषभूषा में गिरफ्तार किया गया। यहां से वह नासिक जेल भेजे गये जहाँ उनकी भेंट श्री मीनू मसानी, नानाजी गणेश गोरे एवं सदाशिव माधव जैसे समाजवादी विचारधारा के युवकों से हुई।

समाजवादी विचारधारा का प्रसार—1934 ई० में पटना में कांग्रेस अधिवेशन के समय कांग्रेस के समाजवादी विचारधारा के लोगों ने कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना की। इस पार्टी का सम्मेलन आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में किया गया और उस समय जयप्रकाश बाबू नई पार्टी के महासचिव बनाये गये। उस समय से 1954 ई० तक जब उन्होंने सर्वोदय आन्दोलन के लिये जीवन-दान का व्रत लिया, जयप्रकाश बाबू कांग्रेस समाजवादी आन्दोलन के सर्वमान्य नेता रहे।

1936 ई० में जब पंडित जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के दूसरी बार अध्यक्ष चुने गये तो उन्होंने समाजवादी सिद्धान्तों का प्रबल समर्थन किया। उस समय राजगोपालाचारी, सरदार पटेल, जे० बी० कृपलानी आदि नेहरू की समाजवादी नीति के आलोचक थे। जयप्रकाश बाबू ने अत्यन्त स्पष्ट रूप में उस समय नेहरू का साथ दिया। फैजपुर कांग्रेस अधिवेशन के बाद भी नेहरू जी जयप्रकाश बाबू और अन्य समाजवादी नेताओं को कांग्रेस समिति में रखना चाहते थे परन्तु वह उसमें सफल नहीं हुए।

जयप्रकाश बाबू और स्वतन्त्रता-आन्दोलन—1935 ई० में जयप्रकाश बाबू की कांग्रेस समाजवादी पार्टी ने मन्त्रि-मंडल में भाग लेने का विरोध किया। 1938 ई० के हरिपुरा अधिवेशन में श्री सुभाष बोस कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये जिनका रुख वामपन्थी था। 1939 ई० में जब श्री सुभाष बोस दुबारा वामपन्थी शक्तियों के समर्थन से अध्यक्ष चुने गये तो टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई। उस समय यूरोप में युद्ध के बादल मंडरा रहे थे। जयप्रकाश बाबू और उनकी कांग्रेस समाजवादी पार्टी ने ऐसे अवसर पर कांग्रेस की एकता को दृढ़ बनाने और स्वतंत्रता संग्राम के हेतु उद्यत रहने के लिये आवाहन किया। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय स्वतंत्रता आन्दोलन को पूरे वेग से चलाने के लिये जयप्रकाश बाबू की कांग्रेस समाजवादी पार्टी ही पूरी तरह से तैयार थी। युद्ध प्रारम्भ होते ही जयप्रकाश ने स्वातंत्र्य आन्दोलन को तीव्र करने का आवाहन किया। फलस्वरूप उन्हें बन्दी बना लिया गया। बीच में उन्हें कुछ समय के लिये छोड़ा गया परन्तु शीघ्र ही पुनः गिरफ्तार करके देवली जेल भेज दिया गया। इस अवसर पर ब्रिटिश सरकार ने जयप्रकाश पर यह झूठा आरोप लगाया कि वह हिंसक क्रान्ति के समर्थक हैं। देवली जेल से वह हजारीबाग जेल भेजे गये। 1942 ई० के आन्दोलन प्रारम्भ होने के बाद नवम्बर माह में दीवाली की रात को जयप्रकाश बाबू जेल की दीवारों को फाँदकर भाग निकले और उसके बाद उन्होंने देश के गुप्त स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया। नेपाल की तराई में उन्हें पुनः गिरफ्तार

कर लिया गया परन्तु क्रान्तिकारी युवकों ने उन्हें जबरन रिहा करा लिया और जयप्रकाश बाबू अत्यन्त दृढ़तापूर्वक देश में स्वतन्त्रता की ज्योति जलाते रहे। 1942 ई० के स्वतन्त्रता आन्दोलन पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर यह पता चलेगा कि यह आन्दोलन उन्हीं क्षेत्रों में अधिक सफल रहा, जहाँ जयप्रकाश बाबू और उनकी कांग्रेस समाजवादी पार्टी का प्रभाव था।

1944 ई० में जयप्रकाश बाबू पुन: गिरफ्तार किये गये और उन्हें लाहौर जेल में अनेक यातनायें दी गईं। 1945 ई० में वह पंडित नेहरू के साथ रिहा हुये। उस समय देश में यह विचार प्रचलित था कि स्वतंत्रता क्रान्ति के द्वारा ही मिलेगी परन्तु 1946 ई० में अन्तरिम सरकार बन जाने पर यह स्पष्ट हो गया कि समझौते द्वारा ही यह कार्य सम्पन्न हो जायगा जब संविधान सभा बनी तो जयप्रकाश बाबू ने उसका बहिष्कार किया।

जयप्रकाश और स्वातंत्रोत्तर समाजवादी आन्दोलन—स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जयप्रकाश बाबू ने देश में समाजवादी आन्दोलन को तीव्र करने का बीड़ा उठाया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही काँग्रेस से समाजवादियों को बाहर निकालने के प्रयास किये जाने लगे। फलस्वरूप 1948 ई० में कानपुर अधिवेशन में काँग्रेस समाजवादी पार्टी ने अपने नाम से काँग्रेस शब्द हटा दिया। 1949 ई० में काँग्रेस ने इस पार्टी को निकाल-बाहर किया। तभी से जयप्रकाश बाबू काँग्रेस से अलग हो गये। उन्हीं दिनों जयप्रकाश बाबू ने समाजवादी आन्दोलन में लोकतांत्रिक समाजवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसका मूलाधार लोकतंत्र, धर्म-निरपेक्षता और समाज की एकता कहा गया। 1952 ई० के आम चुनाव में जब समाजवादी दल को केवल 11 प्रतिशत मत प्राप्त हुये और कृषक मजदूर प्रजा पार्टी को 8 प्रतिशत मत मिले तो दोनों ने एक में मिल कर एक शक्तिशाली संगठन बनाने का बीड़ा उठाया और जयप्रकाश बाबू ने समाजवाद की सिद्धान्तवादिता का तिरष्कार कर दिया। उनकी आलोचना हुई और 1953 ई० में जयप्रकाश बाबू ने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। उसी समय जयप्रकाश बाबू देश के संविधान और संसदीय व्यवस्था के आलोचक बने और 1954 ई० में ही उन्होंने अपने विचार एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाया। जय प्रकाश बाबू ने अनेक ऐसे विचार भी व्यक्त किये जिन्हें काँग्रेस ही नहीं बल्कि अन्य विरोधियों ने भी स्वीकार नहीं किया।

सर्वोदय आन्दोलन और जयप्रकाश—1954 ई० से सक्रिय राजनीति से विलग होने के पश्चात् जयप्रकाश बाबू ने 1954 ई० तक एकनिष्ठ भाव से सर्वोदय एवं भूदान आन्दोलन में भाग लिया। वह आचार्य विनोबा के साथ देश के गांव-गांव में घूम कर सर्वोदय और भूदान का नारा बुलन्द करते रहे और समाज के दलित वर्ग के उत्थान का प्रयास करते रहे।

सक्रिय राजनीति में पुनः लाने का प्रयास—जयप्रकाश बाबू को सक्रिय राजनीति में लाने के हेतु अनेक प्रयास किये गये और उनके कुछ आलोचकों ने तो उन्हें पलायनवादी तक कह दिया। परन्तु जयप्रकाश बाबू एकनिष्ठ भाव से अपने कार्य में रत रहे। 1971 ई० के संसदीय चुनाव के पश्चात् जयप्रकाश बाबू को राष्ट्रपति बनाने का प्रयास किया गया परन्तु जयप्रकाश बाबू इन सभी पदों से दूर रहे। हाँ, यह अवश्य

है कि सक्रिय राजनीति में भाग न लेने के बाद भी समय-समय पर राजनीतिक एवं आर्थिक मामलों पर अपने विचार व्यक्त किये। 1972 ई० के आमचुनाव के अवसर पर जयप्रकाश बाबू ने चुनाव के शुद्धीकरण का आन्दोलन चलाया।

युवा-शक्ति के प्रेरक और देशभक्त—1973 ई० में गुजरात में विधानसभा भंग करने का आन्दोलन जब नवयुवकों ने शुरू किया तो जयप्रकाश बाबू श्रीमती प्रभावती देवी के निधन के पश्चात् एक वर्ष तक राजनीति से बिलकुल तटस्थ रहे परन्तु उनमें नवीन भावुकता का प्रादुर्भाव हुआ और 1974 ई० में बिहार में उन्होंने इस प्रकार के आन्दोलन का आवाहन किया। सत्य तो यह है कि उस समय देश के राजनीतिक वातावरण में जो घुटन आ गई थी, जयप्रकाश बाबू जैसे भावुक व्यक्ति उसे सह न सके और उन्होंने युवा-शक्ति को नई प्रेरणा प्रदान की। देश में नवयुवकों का आन्दोलन जोर पकड़ता गया। जयप्रकाश के आवाहन पर आयोजित किये गये 'पटना मार्च' में ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया कि सत्तारूढ़ दल की आँखें चौंधियाने लगीं। उसके बाद नई-दिल्ली में विशाल प्रदर्शन किया गया। जयप्रकाश जी ने सम्पूर्ण क्रान्ति का आवाहन किया।

जयप्रकाश और आपातकालीन स्थिति की घोषणा—जयप्रकाश बाबू की सम्पूर्ण क्रान्ति के आवाहन पर देश में जो नई युवा-शक्ति उभर कर आई उससे सत्तारूढ़ दल में खलबली मच गई। उन्होंने आन्दोलन का जो नारा दिया उससे भयभीत होकर समस्त देश में संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर दी गई। समाचार पत्रों पर सेन्सर लगा दिया गया, जनता के मौलिक अधिकारों को समाप्त कर दिया गया और न्यायालयों की स्वतन्त्रता छीन ली गई। 26 जून, 1975 को जयप्रकाश बाबू को नजरबन्द कर दिया गया। नवम्बर, 1975 में वे बीमारी के कारण पैरोल पर छोड़े गये। नवम्बर, 1976 ई० में उन्हें रिहा कर दिया गया। उस समय तक जयप्रकाश बाबू की हालत काफी खराब हो गई थी और वह चलने-फिरने से पूरी तरह से लाचार हो गये थे।

जयप्रकाश और कांग्रेस-शासन का अन्त—फरवरी, 1977 में जब देश की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने आम चुनाव की घोषणा की तो जँगले में बन्द किया गया यह बूढ़ा शेर फिर से हुँकार उठा। श्रीमती गांधी को यह विश्वास था कि विरोधी दल आपस में मिल ही नहीं सकते और वह आसानी से चुनाव जीत लेंगी। परन्तु जयप्रकाश बाबू की प्रेरणा से संगठन कांग्रेस, भारतीय लोकदल, जनसंघ और समाजवादी दल ने मिलकर जनता पार्टी के रूप में संगठित होकर चुनाव लड़ने का निर्णय लिया। चुनाव के कुछ समय पूर्व बाबू जगजीवन राम, जो आपातकालीन स्थिति को समाप्त करने के लिये निरन्तर कहते आ रहे थे, ने भी कांग्रेस छोड़ कर लोकतांत्रिक कांग्रेस की स्थापना की और जयप्रकाश के नेतृत्व में जनता पार्टी के साथ गठबन्धन करके वह भी चुनाव में कांग्रेस विरोध में कूद पड़े। जयप्रकाश बाबू ने विभिन्न विरोधियों को एक ही मंच पर खड़ा करके देशवासियों के भय को दूर भगा दिया और इस बात का आवाहन किया कि देश में तानाशाही लाने वाली प्रवृत्तियों का समूल नाश किया जाय। जयप्रकाश बाबू अपने इस आवाहन में पूरी तरह सफल हुए और उन्हीं के प्रयासों से फरवरी, 1977 के आम चुनाव में देश में पहली बार केन्द्र में

कांग्रेस को भारी पराजय का मुँह देखना पड़ा और जनता पार्टी एवं लोकतान्त्रिक कांग्रेस की मिली-जुली सरकार गठित हुई। इस प्रकार जयप्रकाश बाबू अपनी वृद्धावस्था में 'भारतीय राजनीति के चाणक्य' के रूप में उदित हुए। उन्होने श्री मोरार जी देसाई को भारत का प्रधान मंत्री बनवाकर एक वैसा ही कार्य किया जैसा कि महात्मा गांधी ने पंडित जवाहर लाल नेहरू को प्रधानमन्त्री बनवाकर किया था।

एक अजीबो गरीब व्यक्तित्व—जयप्रकाश बाबू के समस्त जीवन पर दृष्टिपात करने पर वह हमारे सम्मुख एक अजीबो-गरीब व्यक्तित्व के रूप में आते हैं। अपने आरम्भिक राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ में वह वैज्ञानिक समाजवादी के रूप में आये, फिर भारतीय समाजवादी, फिर सर्वोदयवादी ओर तत्पश्चात् विभिन्न विचारधाराओं के संगम के रूप में उदित हुए। जयप्रकाश बाबू पर जहाँ एक ओर महात्मा गांधी और आचार्य विनोबा भावे का प्रभाव है, वहीं दूसरी ओर मानवेन्द्रनाथ राय के 'नवमानववाद' और दलहीन राजनीति का भी प्रभाव है। इन दोनों ही प्रकार के सिद्धान्तों ने जहाँ एक ओर लोकतन्त्र को वास्तविक अर्थ देने की बात पर बल दिया है वहीं उसके साथ ही संसदीय लोकतन्त्र की सीमाओं और उसकी असंगतियों की भी आलोचना की गई है। जयप्रकाश बाबू समय-समय पर ऐसा करते भी आये हैं। उनका आज भी यह विश्वास है कि भारतीय समाज में आमूल-चूल परिवर्तन राज्यशक्ति से नहीं, लोक-शक्ति से ही हो सकता है। इस लोक-शक्ति का स्वरूप क्या हो ? इस सम्बन्ध में भी उन्होंने अपने विचार समय-समय पर व्यक्त किये हैं। सत्य तो यह है कि जयप्रकाश बाबू के विचारों ने समय-समय पर उनके आलोचकों की संख्या में वृद्धि की, परन्तु यह नही भूलना चाहिये कि आलोचना तो गांधी जी की भी गई थी। जयप्रकाश बाबू के प्रबलतम विरोधी भी यह स्वीकार करते हैं कि उनके जैसा अनोखा व्यक्तित्व उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के न तो किसी राजनीतिक नेता का रहा है और न रहेगा।

उपसंहार—जयप्रकाश बाबू त्याग और निष्पृहता की प्रतिमूर्ति है। निर्भीकता उनमें खूट-खूटकर भरी है। वह गाँधीवादी विचारधारा के इस मूल मन्त्र को भलीभाँति याद किये हुए हैं कि "युद्ध बुरे से नहीं बुरे की बुराई से है।" भारतीय समाज के उत्थान के लिये वह निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं। राजनीति में वह नैतिकता के प्रबल समर्थक रहे हैं तथा जनता-जनार्दन में उनका असीम विश्वास है। मशीनों पर चलने वाले इस महान समाजसेवी, विचारक और राजनीतिज्ञ ने भारतीय लोकतन्त्र को पुनः जीवित कर दिया है, इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं है। ईश्वर उन्हें चिरायु दे।

१४६. भारत के प्रधानमंत्री—श्री मोरार जी देसाई

भूमिका—कर्मठ गांधीवादी नेता श्री मोरार जी देसाई संसार के सबसे बड़े गणराज्य भारत देश के चौथे प्रधानमंत्री हैं। उनका राजनीतिक जीवन अनुशासन, अपराजेय निष्ठा एवं अदम्य साहस की रोमांचक कथा है। उनके व्यक्तित्व में इन सद्‌गुणों का जैसा मणिकांचन समन्वय प्राप्त होता है वह देश के सभी नेताओं के मध्य उन्हें विशेष स्थान प्रदान करने में सक्षम है। भारत के प्रधानमंत्री के सर्वोच्च पद पर उनका पहुँचना उनके दीर्घ राजनीतिक जीवन की चरम परिणति है, यद्यपि सत्ता उनका जीवन-लक्ष्य नहीं है बल्कि अपनी नीति एवं कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करने एवं जनता की सेवा करने का एक माध्यम है।

जीवन परिचय—श्री मोरार जी भाई रणछोड़ भाई देसाई का जन्म 29 फरवरी, 1896 ई० को गुजरात से वुल्सर नामक स्थान के निकट भदेली में हुआ। उनके पिता एक विद्यालय में अध्यापन का कार्य करते थे। श्री मोरार जी भाई अपने 8 भाई-बहनों में सबसे बड़े थे। उनके विवाह के 3 दिन पूर्व उनके पिता ने आत्म-हत्या कर ली परन्तु उसके बाद भी उन्हें विवाह में सम्मिलित होना पड़ा। 15 वर्ष की अवस्था में उनके कन्धों पर नववधू, वृद्ध दादी, 3 भाइयों एवं 4 बहनों का भार आ पड़ा। जिस समय उनका विवाह हुआ उस समय उनकी पत्नी की आयु केवल मात्र 11 वर्ष की थी।

हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मोरार जी भाई ने विल्सन कालेज में प्रवेश लिया जहाँ उन्हें भावनगर के महाराजा द्वारा दी गई छात्र-वृत्ति मिलती थी। मोरारजी निःशुल्क छात्रावास में रहते थे। स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के एक वर्ष बाद श्री मोरार जी देसाई पी० सी० एस० हो गये और 1918 ई० में डिप्टी कलेक्टर बनाये गये। कालान्तर में गांधी जी के प्रभाव में आकर उन्होंने 1930 ई० में सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया तथा राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। सर्वप्रथम वह गुजरात प्रदेश के कांग्रेस सदस्य की हैसियत से 'कर न दो', आन्दोलन के दौरान गिरफ्तार किये गये। स्वतन्त्रता संग्राम में उन्होंने खुलकर भाग लिया और अपना पूरा जीवन मातृभूमि की सेवा में लगा दिया।

गांधी-इरविन समझौते के पश्चात् मोरारजी गुजरात प्रदेश कांग्रेस के महामंत्री बनाये गये। कालान्तर में श्री खेर मन्त्रिमंडल में सम्मिलित हुए। इस स्थिति में उन्होंने भूमि-सुधार के कार्य में महान योगदान दिया एवं न्यायपालिका और कार्यपालिका को अलग कराया। 1952 ई० में श्री खेर के अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् मोरार जी भाई बम्बई प्रदेश के मुख्य मन्त्री बने। 3 वर्ष पश्चात् मुख्य मन्त्री के पद से त्याग-पत्र देने के बाद वह केन्द्रीय सरकार में सम्मिलित हुए। श्री देसाई को तत्कालीन प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने आरम्भ में वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री बनाया। श्री

टी० टी० कृष्णमचारी के त्याग-पत्र के पश्चात् श्री देसाई वित्त मंत्री बनाये गये । 1963 ई० में कामराज योजना के अन्तर्गत मोरारजी भाई ने भी मंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया । पंडित जवाहर लाल नेहरू की मृत्यु के पश्चात् वह प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार बने परन्तु उन्हें सफलता न मिली । 1965 ई० के लाल बहादुरशास्त्री के मन्त्रि-मंडल में वह मंत्री न रहे बल्कि 'प्रशासनिक सुधार आयोग' के अध्यक्ष बनाये गये । श्री लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद श्री देसाई ने पुन: प्रधान मंत्री बनने का असफल प्रयास किया परन्तु 1967 ई० में उन्हें उप-प्रधानमन्त्री बनाया गया । 1969 ई० में कांग्रेस में विघटन के समय वह संगठन कांग्रेस के साथ रहे और तब से निरन्तर संगठन कांग्रेस में ही कार्य करते रहे । 1975 ई० में श्री मोरार जी देसाई ने गुजरात में विधान सभा को भंग करने एवं पुनः चुनाव कराने के हेतु अनशन किया जिसमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई । देश में आपातकालीन स्थिति की घोषणा के बाद मोरार जी भाई को तुरन्त गिरफ्तार कर लिया गया ।

व्यक्तित्व एवं चरित्र—मोरार जी भाई एक अनूठे व्यक्तित्व वाले व्यक्ति हैं । उनका जीवन 'सादा जीवन उच्च विचार' वाली कहावत चरितार्थ करता है । वह गांधी जी के विचारों के दृढ़ अनुयायी हैं । गांधी जी का प्रादुर्भाव इस देश की राजनीति को शुद्ध करने एवं धर्म-परायण बनाने हेतु हुआ था । गांधी जी सिद्धान्त की पवित्रता पर बल देते थे । मोरार जी भाई ने अपने जीवन में गांधी जी के उन सिद्धान्तों को पूरी तरह से उतारा है । अपने सम्पूर्ण जीवन में जब वे सरकारी नौकर थे, जब स्वतन्त्रता संग्राम में रत थे, बम्बई प्रदेश के मंत्री अथवा मुख्य मंत्री थे, केन्द्रीय सरकार में मंत्री थे, तो उन्होंने गाँधी जी के इन सिद्धान्तों को पूरी तरह से अमल में लाने का प्रयास किया । श्री मोरार जी भाई के जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आये । कभी वह अत्यन्त शक्तिशाली बने तो कभी सत्ता उनसे पूरी तरह से बिछुड़ गई, परन्तु श्री मोरार जी भाई ने उसकी कभी भी चिन्ता नहीं की । वह कभी भी उत्तरदायित्व से भागे नहीं परन्तु सत्ता के पीछे कभी दौड़े नहीं । मोरार जी भाई अपने विरोधियों और अपने से मतभेद रखने वालों के प्रति सदैव आदर का भाव रखते हैं । उनका समस्त जीवन गीता के अनासक्ति योग पर एक भाष्य परिलक्षित होता है । वह सदैव अपने विचारों पर दृढ़ रहने वाले व्यक्ति हैं । जो बात उन्हें पसन्द नहीं है, उसे स्पष्ट रूप से कह देने के आदी हैं । जब नए बम्बई प्रदेश का गठन हुआ तो मोरार जी भाई ने उसका मुख्य मंत्री पद ग्रहण करना केवल इसलिये स्वीकार किया कि वहाँ उनका एक भी विरोधी न हों । उस समय मोरार जी भाई के एक मात्र प्रतिद्वन्दी श्री हीरे थे जो मोरारजी भाई के पक्ष में बैठ जाने को तैयार थे, यदि मोरार जी भाई उन्हें अपने मंत्रि-मंडल में सम्मिलित करने का पूर्व संकेत देने को तैयार होते, परन्तु मोरारजी भाई ने इसे प्रलोभन समझा और मैदान से हट गये तथा मुख्य मंत्री पद के हेतु श्री यशवन्त राव बलवन्त राव चह्वाण का समर्थन किया । श्री मोरार जी भाई भाषा के आधार पर प्रथक गुजरात और महाराष्ट्र राज्य बनाने के विरोधी थे । अपने इस विरोध को कभी उन्होंने छिपाया नहीं । परिणाम यह हुआ कि वृहद् महाराष्ट्र समिति तथा वृहद् गुजरात समिति दोनों का ही कोप-भाजन श्री मोरार जी भाई को बनना पड़ा । परन्तु मोरार जी भाई अपने विचारों पर दृढ़ रहे और उन्होंने अपनी लोकप्रियता को खतरे में डालकर किसी प्रकार का कोई समझौता नहीं किया ।

मोरार जी भाई को छल-कपट और असत्य की राजनीति से घृणा है और बड़े से बड़े पद को भी असत्य के मार्ग से प्राप्त करना वह अनुचित मानते हैं। अपने विरुद्ध फैसला होने पर भी न तो उनके मन में कभी क्षोभ हुआ और न कभी आक्रोश। गाँधी जी के प्रति उनके मन में सदैव असीम श्रद्धा रही परन्तु गाँधी जी के विचारों से भी मतभेद प्रकट करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। 1942 ई० के स्वतंत्रता आन्दोलन के समय में उनका गाँधी जी के विचारों से मतभेद था। उन्होंने अपने विचार अत्यन्त स्पष्ट रूप में गाँधी जी के सम्मुख रखे। परन्तु इस सम्बन्ध में जब गाँधी जी का निर्णय हो गया तो उन्होंने पूरी शक्ति एवं तन्मयता से उसका पालन किया।

मोरार जी भाई एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनमें विषम परिस्थितियों में और सम स्थिति में कभी कोई अन्तर नहीं था। 1963 ई० में जब कामराज योजना के अन्तर्गत वह मन्त्री-परिषद से हट गए तो न तो उनके मन में कोई क्षोभ था और न कोई विवाद। नेहरू मंत्रि-मंडल के विरुद्ध जब डॉ० लोहिया ने अविश्वास का प्रस्ताव रखा तो मोरार जी भाई ने ही सरकारी पक्ष को प्रस्तुत करने का भार अपने ऊपर लिया एवं अत्यन्त दृढ़ता एवं योग्यता के साथ उन्होंने सरकारी पक्ष प्रस्तुत किया। यह उनके चारित्रिक महत्ता को प्रकट करता है।

मोरार जी भाई की लोकतांत्रिक पद्धति में गहन आस्था है और वह अत्यन्त उच्च-कोटि के संसदीय मामलों के ज्ञाता हैं। नेहरू मंत्रि-मंडल में कामराज योजना के अन्तर्गत जब वे अपने पद से हटे थे तो इंग्लैंड के पत्रों में यह टिप्पणी छपी थी कि कैसी विडम्बना है कि भारतीय संसद का सबसे योग्यतम व्यक्ति जो मन्त्रि-मंडल में नहीं था, सरकारी नीतियों का सबसे बड़ा समर्थक है।

मोरार जी भाई ने अपने सिद्धान्तों से समझौता करना सीखा ही नहीं। सिद्धान्त के नाम पर वह बड़ी कुरबानी देने के लिये सदैव तैयार रहे हैं। श्री लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद जब प्रधानमंत्री के पद के लिये श्रीमती इन्दिरा गाँधी और श्री मोरार जी भाई में चुनाव हुआ तो पराजित होने के बाद भी मोरार जी भाई के चेहरे पर स्वाभाविक प्रसन्नता, स्थिरता, समता और तुष्टि की भावना दिखलाई पड़ी। वह राष्ट्र-हित में उपप्रधान मन्त्री बनने को भी तैयार हो गये। 1969 ई० में जब राष्ट्रपति के चुनाव को लेकर काँग्रेस का विभाजन हुआ तो मोरार जी भाई अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहे। सत्ता के बाहर रह कर भी उन्होंने अपनी सिद्धान्तवादिता को नहीं छोड़ा और गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित संगठन काँग्रेस की नीतियों एवं कार्यक्रम का समर्थन करते रहे।

मोरार जी भाई के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने क्षणिक लोकप्रियता के हेतु कभी भी अपने विचारों को प्रकट करने में हिचकिचाहट नहीं दिखलाई। सोने पर नियंत्रण का निश्चय पंडित नेहरू की सरकार का था परन्तु उस निर्णय के विरुद्ध सारा 'आक्रोश तथा विरोध को मोरार जी भाई ने अपने ऊपर ले लिया। मोरार जी भाई अत्यन्त मिताहारी, और अनुशासन-प्रेमी व्यक्ति हैं। यही कारण है कि 81 वर्ष की अवस्था में भी उनमें युवकों जैसी स्फूर्ति और कार्य करने की क्षमता है। वह भारतीय संस्कृति के एक सुन्दर पुष्प हैं और उनका जीवन उनके आदर्शों का सन्देश प्रसारित करता है।

मोरार जी भाई का हिन्दी प्रेम—हिन्दी भाषा से मोरार जी भाई को असीमा प्रेम है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने में मोरार जी भाई का बहुत बड़ा योगदान है। गुजरात विद्यापीठ में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने कत साहसपूर्ण कार्यक्रम मोरार जी भाई द्वारा ही उठाया गया। मोरार जी भाई ने समस्म देश में अपने भाषणों में मुख्यतः हिन्दी को ही अपने विचारों के प्रसार का माध्यी बनाया। उनका यह दृढ़ वश्विास है कि देश की विभिन्न भाषाओं की प्रगति होनी चाहिये परन्तु हिन्दी ही देश की राष्ट्रभाषा होनी चाहिये। विदेशी भाषा दासता क परिचायक है और उससे मुक्ति प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

मोरार जी भाई और नव-भारत का निर्माण—नव-भारत के निर्माण में मोरार जी भाई का महान योगदान रहा है। गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण मोरार जी भाई का यह दृढ़ मत है कि भारत की भारतीय ग्रामों की प्रगति पर निर्भर है। कुटीर उद्योगों के विकास में उनकी गहन आस्था है। मोरार जी भाई अत्यन्त अनुशासन प्रेमी हैं और अनुशासन को देश की प्रगति में सबसे बड़ा साधक मानते हैं परन्तु उनका विश्वास आत्मानुशासन में है, बाह्य अनुशासन में नहीं। नवीन भारत के निर्माण में वह सभी वर्गों का सहयोग आवश्यक मानते हैं। समय-समय पर मोरार जी भाई के विरुद्ध 'पूँजीपतियों का दलाल' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है परन्तु मोरार जी भाई इससे कभी भी विचलित नहीं हुये। उनका विचार है कि श्रम और पूँजी के समुचित उपयोग द्वारा ही देश का निर्माण सम्भव है।

अहिंसा में उनकी गहन आस्था है और गाँधीवादी उपायों से लोकतंत्रीय शासन में प्रगति को ही उन्होंने अपने जीवन का मूल मन्त्र स्वीकार किया है। उनका विचार है कि जब तक अभाव और भय रहेगा, समाज का समुचित विकास नहीं हो सकता एवं गाँधी जी का सपना पूरा नहीं होगा। मोरार जी भाई उस स्वप्न को साकार के लिये कृत-संकल्प हैं।

उपसंहार—भारतवर्ष में आपातकालीन स्थिति की घोषणा के बाद जो अधि-नायकवादी प्रवृत्ति पनपी थी, मोरार जी भाई के प्रधान मंत्री बनने के बाद वह समाप्त हो गई है। देश के सम्मुख जो समस्यायें हैं उनसे मोरार जी भाई भलीभाँली परिचित हैं। भारतीय संस्कृति और गाँधीवादी विचारों में गहन आस्था रखने वाला यह महान व्यक्ति उन समस्याओं के समाधान में सफल होगा, ऐसा हमारा त्रिश्वास है। मोरार जी भाई के व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए श्री अटल बिहारी बाजपेयी ने गुजरात की एक सभा में कहा था कि मुझे तो प्रथम दर्शन से ही उनसे प्यार हो गया है। मोरार जी भाई प्रधान मन्त्री के पद को काँटों का ताज मानते हैं परन्तु उन्हें उस काँटे के ताज को पहनना आता है। प्रधानमंत्री के पद पर रहकर स्वाभाविक अडिग निष्ठा से देश और देशवासियों की सेवा वे करते रहें, यही हमारी कामना है।

१४७. 10+2+3 की नवीन शिक्षा-प्रणाली

-किसी भी देश प्रगति में वहाँ की शिक्षा-प्रणाली का महत्वपूर्ण योगदान होता है। भारत की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली ब्रिटिश काल की देन है और फलस्वरूप उसमें देश में होने वाले क्रान्तिकारी परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढालने की क्षमता नहीं है। देश की परंपरागत शिक्षा-प्रणाली के फलस्वरूप बेरोजगारों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है और शिक्षण-स्तर दिनों-दिन गिरता जा रहा है। इस प्रणाली के फलस्वरूप 70 प्रतिशत नागरिक निरक्षर एवं जाहिल हैं और उसका लाभ केवल 30 प्रतिशत नागरिकों को ही प्राप्त हुआ है। फलस्वरूप देश की शिक्षा-प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन करने की बात पर्याप्त समय से की जा रही है। स्वर्गीय डा० राधाकृष्णन् ने कहा था, "जब तक देश की शिक्षा-प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किये जाते, तब तक हमारा उत्थान सन्दिग्ध ही रहेगा।"

नवीन शिक्षा-प्रणाली क्यों—आज से लगभग 4 दशक पूर्व महात्मा गाँधी ने स्वतन्त्रोत्तर प्रगति के हेतु शिक्षा की एक स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की थी। गाँधी जी का ऐसा विचार था कि इस शिक्षा-व्यवस्था को अपनाकर हम आत्म-निर्भर हो सकेंगे। यदि गाँधी जी की बेसिक शिक्षा-प्रणाली को हमने पूरी तरह से अपना लिया होता तो आज 10+2+3 की नवीन शिक्षा-प्रणाली की आवश्यकता ही नहीं होती परन्तु दुर्भाग्यवश उसे पूरी तरह से नहीं अपनाया गया। स्वतन्त्र भारत में भी अंग्रेजी शासन से विरासत में मिली हुई किताबी पढ़ाई ही चलती रही। हमने प्राथमिक शिक्षा की अपेक्षा कालेज और विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा को अधिक महत्व दिया। स्वतंत्रता के बाद की शिक्षा-प्रणाली जो अब तक चल रही है, उसका आधार विश्वविद्यालय स्तर की ही शिक्षा है। यही कारण है कि भारत में प्रति हजार व्यक्तियों के पीछे स्नातकों की संख्या इङ्गलैंड, अमेरिका जैसे विकसित देशों की तुलना में अधिक है जबकि देश के लगभग 70 प्रतिशत बालक निरक्षर ही बने हुए हैं। प्राथमिक पाठशालाओं में प्रवेश लेने वाले अधिक से अधिक विद्यार्थी कक्षा 4 के बाद ही विद्यालय छोड़ देते हैं। प्राथमिक शिक्षा आयोग ने यह मत व्यक्त किया था कि देश की शिक्षा-प्रणाली मूल रूप से परीक्षा के हेतु छात्रों को तैयार करने पर आधारित है। परिणाम यह हुआ है कि परीक्षाओं में नकल करने वाले छात्रों की संख्या तेजी से बढ़ी है।

भारत में शिक्षा-विषयक पहला महत्वपूर्ण आयोग 1917-1919 ई० में बैठा जो कि सैडलर आयोग के नाम से जाना जाता है। इस आयोग ने 10 वर्षीय स्कूली शिक्षा, 2 वर्षीय इन्टर कालेज शिक्षा और 3 वर्षीय डिग्री शिक्षा की सिफारिश की थी। 1929 ई० में हटाँङ्ग समिति ने स्कूलों की शिक्षा के बाद छात्रों को औद्योगिक एवं व्यापारिक विधाओं में भेजने का सुझाव दिया था। 1934 ई० में सप्रू समिति ने माध्यमिक स्तर की शिक्षा के बाद शिक्षा को दो भागों में बाँटने का सुझाव दिया था। (1) विश्वविद्यालयी शिक्षा और (2) व्यावसायिक शिक्षा। स्वतन्त्र भारत में 1948

ई० में डॉ० राधा कृष्णन आयोग ने 12 वर्षों को हेतु विद्यालयी अध्ययन और 3 वर्षों के लिये विश्वविद्यालय अध्ययन की सिफारिश की। 1953 ई० में माध्यमिक शिक्षा आयोग ने 11 वर्षों की स्कूली पढ़ाई, 1 वर्ष की प्राक् विश्वविद्यालय पढ़ाई और 3 वर्ष की डिग्री पढ़ाई का सुझाव दिया। 1962 ई० के अखिल भारतीय उपकुलपति सम्मेलन, 1968 ई० का अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद, 1964 ई० में प्रदेशों के शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन मे यह मांग की गई कि 12 वर्षों की विद्यालयों की शिक्षा के बाद प्रथम डिग्री के हेतु 3 वर्ष की शिक्षा अनिवार्य है। इन सब सुझाओं को ध्यान में रखते हुए कोठारी आयोग ने प्रारम्भिक शिक्षा-प्रणाली के हर पहलू का गम्भीर अध्ययन किया और भारत मे 15 वर्ष की एक समरूप शिक्षा-प्रणाली (10+2+3) का सुझाव दिया। शिक्षा आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि भारतीय समाज की निर्धनता का निवारण करने और उसे अभाव से मुक्ति दिलाने के हेतु मानवीय ज्ञान और दृष्टिकोणों में गम्भीर परिवर्तन किया जाना चाहिये।

नवीन शिक्षा-नीति की स्वीकृति—आयोग की सिफारिश को लोकसभा मे 1968 ई० में राष्ट्रीय नीति के रूप में स्वीकार किया गया और इस प्रकार 10+2+3 की नवीन शिक्षा-प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। कोठारी आयोग के प्राविधानों को स्वीकार करने और राष्ट्रीय शिक्षा नीति का निर्धारण करने के पश्चात् भी नवीन शिक्षा-प्रणाली को सभी राज्यों में लागू नहीं किया जा सका और देश में शिक्षा का वही ढाँचा गत वर्ष तक सभी राज्यों में किसी न किसी रूप में चल रहा था। कुछ राज्यों ने नवीन शिक्षा-प्रणाली को अपनाया तो गया परन्तु अनेक राज्य अब भी उसे नहीं अपनाये हुए हैं। जिन राज्यों न इस प्रणाली को अपनाया है, वहाँ भी अनेक कठिनाइयों का अनुभव किया जा रहा है।

नवीन शिक्षा प्रणाली का स्वरूप—नवीन शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत पहली कक्षा से स्नातक स्तर तक की शिक्षा में कुल 15 वर्ष का समय लगेगा। इन 15 वर्षों के समय को 8 स्तरों में बांटा गया है। विद्यालयी अध्ययन के हेतु 12 वर्ष रखे गये हैं जिनमें 10 वर्ष तक छात्रो को सामान्य शिक्षा प्रदान की जायगी और शेष 2 वर्षों में उन्हें मुख्य रूप से व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त होगी। विज्ञानी एवं गणित को 10 वर्ष की सामान्य शिक्षा में अनिवार्य रूप से पढ़ाया जायगा और विद्यालयी शिक्षा में कार्य-अनुभव के अन्तर्गत हाथ से काम करने एवं सीखने की शिक्षा का प्रथम अवयव होगा। 12 वर्षों के पश्चात् स्नातक स्तर के हेतु 3 वर्ष लगेंगे। 10 वर्ष की सामान्य शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन्हीं विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने दिया जायगा जो अच्छा ग्रेड प्राप्त करेंगे शेष को उनकी रुचि के अनुसार व्यावसायिक शिक्षण हेतु भेज दिया जायगा। नवीन शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत छात्र यदि 10 विषयों में एक विषय में फेल हो जाता है तो उसे पूर्णरूप से असफल नहीं माना जायगा बल्कि यह माना जायगा कि वह 9 विषयों में पारंगत है परन्तु एक विषय में असफल है। अंकों के आधार पर छात्रों का मूल्यांकन नहीं होगा बल्कि ऊँचे ग्रेड दिये जायेंगे। असाधारण बालकों को प्रथम ग्रेड, बहुत अच्छे बालकों को द्वितीय ग्रेड, अच्छे बालकों को तृतीय ग्रेड और ठीक-ठीक बालकों को चतुर्थ ग्रेड तथा कमजोर बालकों को पाँचवा ग्रेड दिया जायगा। यदि कोई विद्यार्थी किसी विषय में अच्छा ग्रेड नहीं

प्राप्त कर सकेगा तो उसे असफल कह कर कलंकित नहीं किया जायगा बल्कि उसे पुनः उस विषय में अच्छा ग्रेड प्राप्त करने की सुविधा दी जायगी ।

नवीन शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत पाठ्य विषयों का चयन इन प्रकार किया गया है कि 10 वर्ष तक विद्यार्थी को लगभग सभी सामान्य बातों की जानकारी प्राप्त हो जाय । मातृ-भाषा के साथ ही अन्य भाषाओं के अध्ययन पर भी बल दिया गया है । आठवें स्तर तक प्रत्येक विद्यार्थी को 3 भाषायें सीखनी होंगी ओर पाठ्य-क्रम में कार्य-अनुभव को विशेष महत्व प्रदान किया गया है । किताबी ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक अनुभव पर अधिक ध्यान दिया जायगा । बागबानी, बिजली का काम, रेडियो-मरम्मत, पशु-पालन, जिल्दसाजी, नृत्यकला, सिलाई कटाई-बुनाई, टंकन विद्या, प्लास्टिक का काम, नर्सिंग, शिशु देख-भाल आदि विषयों को कार्य-अनुभव के अन्तर्गत स्थान दिया गया है । यदि छात्र इन कार्यों में से किसी कार्य को सीखना पसन्द नहीं करेगा तो उसे अनिवार्य रूप से सामुदायिक विकास के ऐसे कार्यों से सम्बद्ध रहना होगा जिसमें शारीरिक श्रम की महत्ता को प्राथमिकता दी जाती है एवं व्यक्ति आत्म-निर्भर होता है ।

परीक्षा-विधि में भी क्रांतिकारी परिवर्तन करने की योजना रखी गई है । लम्बे-लम्बे प्रश्नों के स्थान पर छोटे-छोटे प्रश्नोत्तरों को प्राथमिकता दी जायगी । प्रश्न-पत्र तैयार करने वाले शिक्षकों के हेतु विशेष ट्रेनिंग की व्यवस्था की जा रही है और प्रत्येक विषय में ऐसे प्रश्नों का भंडार बनाया जा रहा है जिससे परीक्षा में विद्यार्थी का सही मूल्यांकन हो सके ।

नवीन शिक्षा-प्रणाली का स्वागत—देश के लगभग सभी शिक्षाशास्त्रियों ने 10+2+3 की शिक्षा-प्रणाली का स्वागत किया और यह आशा व्यक्त की कि यह शिक्षा-प्रणाली देश की बहुमुखी प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान देगी और उसके द्वारा समस्त देश में शिक्षा का एक जैसा ढाँचा होगा । विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के महत्व में वृद्धि होगी, और हम आर्थिक विकास की ओर तेजी से बढ़ेंगे । एक शिक्षाविद् ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "10+2+3 शिक्षा प्रणाली आर्थिक विकास की ओर एक कदम है । हम सधे हाथ, सुलझे दिमाग और सतर्क नागरिक देश को देंगे । अगर देश उसका उपयोग न कर पाये तो यह हमारा दुर्भाग्य ही होगा ।"

नई शिक्षा-प्रणाली के द्वारा देश के विभिन्न राज्यों की पुस्तकों में जो विरोधाभास दिखलाई पड़ता है, वह समाप्त हो जायगा । शिक्षा का सीधा सम्बन्ध राष्ट्रीय उत्पादन से होगा और छात्रों में मानवीय गुणों के समावेश के साथ ही उनका सर्वाङ्गीण विकास होगा । शिक्षा के क्षेत्र से अनुशासनहीनता की समस्या का पूरी तरह से समाधान हो जायगा ।

नवीन शिक्षा-प्रणाली के प्रति आशंका—जहाँ बहुतांश शिक्षाशास्त्रियों ने 10+2+3 शिक्षा-प्रणाली का स्वागत किया है—वहीं अनेक आशंकायें भी व्यक्त की गई हैं । वास्तव में देश के सभी आदर्शवादी विचारकों ने इसका स्वागत किया परन्तु विद्यालयों में इसको लागू करने पर अनेकों कठिनाइयों का भी अनुभव किया गया है । कुछ विचारकों ने यह आशंका व्यक्त की कि देश के सभी राज्यों में इस शिक्षा प्रणाली को सुचारु रूप से लागू नहीं किया जा सकता । इस शिक्षा-प्रणाली

के लागू करने पर अध्यापकों की छटनी की आशंका अत्यन्त भीषण रूप में उठ खड़ी होगी। कुछ लोगों ने यह मत व्यक्त किया कि यह एक कोरी आदर्शवादी व्यवस्था है और यथार्थ की पृष्ठभूमि पर खरी नहीं उतरेगी।

योजना का क्रियान्वयन—10 + 2 + 3 की नवीन शिक्षा-प्रणाली को कुछ राज्यों ने लागू कर दिया और देश के अन्य राज्य भी इसे लागू करने की बात कर रहे हैं। परन्तु जिन राज्यों में इसे लागू किया गया है वहाँ काफी कठिनाइयों का अनुभव हो रहा है। कारण यह है कि सभी विद्यार्थी स्कूल के बाद कालेज में जाना पसन्द करते हैं और जब तक उन्हें व्यावसायिक शिक्षा की महत्ता को नहीं बताया जायगा, तब तक उन्हें 10 + 2 + 3 की प्रणाली के लिये प्रेरित करना कठिन होगा। साथ ही इस शिक्षा-प्रणाली को लागू करने से शिक्षकों के सम्मुख काफी कठिनाइयाँ आ जाती हैं। कुछ आलोचकों का यह भी मत है कि जिस ढंग से इसे लागू किया जा रहा है वह कार्य बड़े अव्यवस्थापूर्ण वातावरण में हो रहा है। कालेज के शिक्षकों को अपने को नवीन शिक्षा-प्रणाली के अनुरूप ढालने में कठिनाइयों का अनुभव हो रहा है। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि 3 भाषायें पढ़ाना छात्रों के ऊपर अत्याचार करना है।

उपसंहार—वास्तव में 10 + 2 + 3 की शिक्षा प्रणाली के द्वारा देश की अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है और हम परम्परागत शिक्षा-प्रणाली के अनेक दोषों से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रणाली में निपुणता और मूल्यांकन के अपार गुण हैं परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उसके सभी पहलुओं पर भली भाँति विचार करके ही इसे सभी राज्यों में समान रूप से लागू किया जाय। निश्चित योजना के अभाव में इस बात की आशंका है कि कहीं यह व्यवस्था पूरी तरह से बैठ न जाय।